पाठकों से दो शब्द

आज के युग में केवल राजनीति के विद्यार्थी के लिए ही नहीं बल्कि सामान्य व्यक्ति के लिए भी, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का उतना ही महत्व है जितना स्थानीय अथवा पारिवारिक घटनाओं का। राजनीति जीवन का सूत्र बन चुकी है और अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति के प्रभाव से कोई मुक्त नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में घटित होने वाली घटनाओं का प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर किसी भी अच्छे ग्रन्थ का प्रणयन स्वतः ही आवश्यक एवं वांछनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रथम महायुद्ध के बाद से द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और क्रिया-कलापों का चित्र प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के किसी भी चित्र में जिन बातों का समावेश करना चाहिए—उन्हें, पुस्तक के कलेवर के अनुरूप, समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है। चूंकि पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय अन्तर्राष्ट्रीय ऐतिहासिक घटनाक्रमों, राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों आदि के व्यावहारिक रूप का दिग्दर्शन कराना है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत नहीं किया गया है—आवश्यकतानुसार प्रासंगिक रूप में यथास्थान निर्देश कर देने का ध्यान जरूर रखा गया है।

यह प्रयास किया गया है कि वर्णन पूर्ण स्पष्ट और आलोचनात्मक हो। विषय-सामग्री विविध और बहुल है। फिर भी यह पूरी चेष्टा की गई है कि पुस्तक पाठकों के लिए बोझिल न बन कर रोचक बनी रहे। विषय पूरी तरह बोधगम्य रहे, भाषा दुरुह न हो, आवश्यक प्रसंग छूटे नहीं—इन बातों का विशेष ध्यान रखा गया है।

पुस्तक के प्रणयन में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लिखे गये सभी प्रसिद्ध विद्वानों के ग्रन्थों से पूरा लाभ उठाया गया है। उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

पुस्तक के प्रणयन व प्रकाशन में जिन मित्रों ने सहयोग दिया है उनका मैं कृतज्ञ हूं।

—लेखक

पाठकों से दो शब्द

आज के युग में केवल राजनीति के विद्यार्थी के लिए ही नहीं बल्कि सामान्य व्यक्ति के लिए भी, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का उतना ही महत्व है जितना स्थानीय अथवा पारिवारिक घटनाओं का। राजनीति जीवन का सूत्र बन चुकी है और अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति के प्रभाव से कोई मुक्त नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में घटित होने वाली घटनाओं का प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर किसी भी अच्छे ग्रन्थ का प्रणयन स्वतः ही आवश्यक एवं वांछनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रथम महायुद्ध के बाद से द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और क्रिया-कलापों का चित्र प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के किसी भी चित्र में जिन बातों का समावेश करना चाहिए—उन्हें, पुस्तक के कलेवर के अनुरूप, समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है। चूंकि पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय अन्तर्राष्ट्रीय ऐतिहासिक घटनाक्रमों, राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों आदि के व्यावहारिक रूप का दिग्दर्शन कराना है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत नहीं किया गया है—आवश्यकतानुसार प्रासंगिक रूप में यथास्थान निर्देश कर देने का ध्यान जरूर रखा गया है।

यह प्रयास किया गया है कि वर्णन पूर्ण स्पष्ट और आलोचनात्मक हो। विषय-सामग्री विविध और बहुल है। फिर भी यह पूरी चेष्टा की गई है कि पुस्तक पाठकों के लिए बोझिल न बन कर रोचक बनी रहे। विषय पूरी तरह बोधगम्य रहे, भाषा दुरुह न हो, आवश्यक प्रसंग छूटे नहीं—इन बातों का विशेष ध्यान रखा गया है।

पुस्तक के प्रणयन में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लिखे गये सभी प्रसिद्ध विद्वानों के ग्रन्थों से पूरा लाभ उठाया गया है। उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

पुस्तक के प्रणयन व प्रकाशन में जिन मित्रों ने सहयोग दिया है उनका मैं कृतज्ञ हूं।

—लेखक

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

प्रथम विश्व-युद्ध की राजनयिक पृष्ठभूमि

[DIPLOMATIC BACKGROUND OF THE FIRST WORLD WAR]

सृष्टि के आरम्भ-काल से ही युद्ध मानव-इतिहास का एक निर्णायक तत्व रहा है। युद्ध की तूलिका ने संसार के इतिहास का एक बड़ी सीमा तक चित्रण किया है। यह मानव के विकासमयी इतिहास का वह आवश्यक अङ्ग रहा है जिसे पार करके ही इतिहास आगे बढ़ा है और बढ़ता जा रहा है। सन् १९१४ से १९१८ तक लड़े गये विनाशकारी प्रथम महायुद्ध ने भी मानव-इतिहास के निर्माण की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी जोड़ी। इसने इतिहास को एक नया मोड़ दिया और सृष्टि के इस रंग-मंच पर नये-नये खेल दिखाये। यह मानव-इतिहास का प्रथम युद्ध था जिसमें संसार के लगभग सभी देशों ने अपनी भूमिका अदा की।

प्रथम महायुद्ध तत्कालीन यूरोपीय देशों और उनसे सम्बन्धित राष्ट्रों की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का विस्फोट था। यह उपनिवेशों के बंटवारे के लिये साम्राज्यवादियों के मध्य एक संघर्ष था जिसमें अनेक छोटे राष्ट्र उसी तरह पिस गये जिस तरह गेहूं के साथ घुन पिस जाते हैं। इन मूल-भूत कारणों की आड़ में और भी अनेक छोटे-मोटे ऐसे कारण उपलब्ध किये गये जिन्होंने युद्धाग्नि के प्रज्वलित होने में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता दी।

यूरोप का क्षुब्ध एवं साम्राज्यवादी वातावरण

प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने से काफी समय पूर्व यूरोप में पांच महाशक्तियां विद्यमान थीं—आस्ट्रिया, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, प्रशिया और रूस। कुछ समय पश्चात् इटली का एकीकरण हो जाने के परिणामस्वरूप वह छठी शक्ति बन गया और जर्मन साम्राज्य का एकीकरण हो जाने पर प्रशिया का स्थान जर्मनी ने ले लिया। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इन राज्यों की

शक्ति में सन्तुलन बना रहा, किन्तु इसके बाद यह सन्तुलन पहले शनैः शनैः और फिर तेजी से बिगड़ने लगा।

यूरोप का इतिहास सन् १८७० से १९१४ अर्थात् प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने तक सशस्त्र क्रांति और साम्राज्य-निर्माण के पृष्ठों से भरा पड़ा है। इस युग में सभी देश अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने और भविष्य में अनेक सुविधाएं प्राप्त करने की आशा में परस्पर होड़ लगाये हुए थे। ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रांति और यूरोप के अन्य देशों में हुए औद्योगिक विकास के कारण साम्राज्य निर्माण की महत्वाकांक्षा पुष्पित-पल्लवित होती गई। एक ओर तो कच्चे माल के स्रोत तलाश करना आवश्यक हो गया, और दूसरी ओर कारखानों में निर्मित माल को बेचने के लिये बाजारों की आवश्यकता अनुभव हुई। चूंकि कच्चे माल के स्रोत और निर्मित माल की बिक्री के लिये बाजार सीमित थे, अतः उन पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये यूरोपीय राज्यों के बीच होड़ होना स्वाभाविक था। यूरोप के अतिरिक्त शेष संसार औद्योगिक एवं तकनीकी दृष्टि से बड़ा अविकसित और पिछड़ा हुआ था। वह इतना सक्षम न था कि सम्पन्न एवं समृद्ध तथा आधुनिक सभ्यता के प्रतीक पश्चिमी राष्ट्रों का मुकाबला कर सके। इन परिस्थितियों में नतीजा यह निकला कि यूरोप के शक्तिशाली देशों ने एशिया एवं अफ्रीका के अधिकांश देशों को अपना गुलाम बना लिया। अब संघर्ष इन गुलाम देशों के पुनर्विभाजन का था और यह पुनर्विभाजन केवल युद्ध द्वारा ही सम्भव हो सकता था। स्पष्ट है कि सन् १९१४ में होनेवाले भयानक विस्फोट की आग सम्पूर्ण यूरोप में पहले से ही भड़क रही थी।

यूरोप का वातावरण नाना विषम कारणों से निरन्तर क्षुब्ध होता जा रहा था। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यूरोप में केवल ऊपर-ऊपर शांति थी, अन्यथा वास्तविकता यही थी कि सभी राष्ट्र एक भावी विशाल और व्यापक युद्ध की सम्भावना से आशंकित थे। आत्म-रक्षा के लिये गुट बना रहे थे और सैनिक साधनों का तेजी से विस्तार किया जा रहा था। विचारशील लोग जानते थे कि युद्ध दूर नहीं है। शासक लोग विशेष त्रस्त थे और सैनिक लोगों में इसकी हमेशा चर्चा रहा करती थी।

यूरोप के राष्ट्र अपनी शक्ति संगठित करने के लिए व्याकुल थे। आस्ट्रिया हंगरी के अन्दर और बाहर रहनेवाले दक्षिणी स्लाव्ज (South Slavs) एक राज्य में संयुक्त होना चाहते थे। पोलिश जनता जो आस्ट्रिया, रूस और जर्मनी में बसी हुई थी, अपना एक नया पोलैण्ड स्थापित करना चाहती थी। मैकियावली ने इटली की जिस एकता का स्वप्न देखा था वह एकता सन् १८७० में इटली को प्राप्त हो गई थी। किन्तु **इटली को अपने**

एकीकरण से ही सन्तोष न था। उसके मस्तिष्क में प्राचीन रोमन साम्राज्य की स्मृतियां गूंज रही थीं, उसकी आत्मा में शक्ति की प्यास बेतहाशा जाग उठी थी। यहां के नवयुवकों को सिखाया जाता था कि वे महान् विजेता जूलियस सीजर के उत्तराधिकारी हैं, अतः उनमें इस संसार को विजय करने की भावना होनी चाहिये।

फ्रांस एक बार फिर प्रशिया से टक्कर लेना चाहता था। क्योंकि वह अपनी पिछली पराजय को भुला नहीं सका था। १८७० के युद्ध में जर्मनी ने फ्रांस से खनिजों के भण्डार ऑल्सेस-लोरेन को छीन लिया था। यह फ्रांस की राजनीतिक और आर्थिक पराजय थी। जर्मनी यह जानता था कि फ्रांस इस हार को भूलेगा नहीं, इसी कारण उसने फ्रांस के चारों ओर के देशों को मित्र बनाने के लिये सन्धियां की और वह स्वयं को सैनिक दृष्टि से समृद्ध बनाने में जुट गया।

जर्मनी ने सैनिक दृष्टि से अपने को सबसे अधिक सबल बनाया। स्कूलों और कॉलेजों में विद्यार्थियों को यह सिखाया जाने लगा कि जर्मन सबसे उन्नत देश है और सबसे अधिक बलवान है। जर्मनी के नवयुवकों में यह भावना भरी गई कि जर्मनी के अतिरिक्त अन्य सब देश अयोग्य और हीन हैं। वास्तव में जर्मन लोगों का यह सिद्धान्त बन गया था कि शांति कोरा स्वप्न है जबकि युद्ध एक आवश्यक तत्व है जिसके न होने पर संसार गंदले पानी की भांति सड़ने लगेगा। जर्मनी में सैनिक प्रदर्शन हुआ करते थे। कभी नौ सेना प्रदर्शन करती थी तो कभी स्थल सेना। जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय के स्वभाव में ही सैनिकता थी। सन् १८९५ में उसने घोषणा कर दी थी कि जर्मनी विश्व शक्ति है और अब इसके भविष्य का निर्माण समुद्र पर होगा। सन् १९०० के जर्मन नौ-सेना अधिनियम की प्रस्तावना में स्पष्टतः घोषित किया गया कि—**"जर्मनी का नौ-सैनिक बेड़ा इतना शक्तिशाली होगा कि यदि सब से अधिक बलशाली नौ-सैनिक शक्ति भी उससे संघर्ष करेगी तो उसकी महानता के लिये खतरा उत्पन्न हो जायगा।"** अपने को सशक्त बनाने की दृष्टि से जर्मनी ने अनेक सन्धियां भी की जिनमें विशेष उल्लेखनीय "तिहरी मैत्री' (Triple Alliance) है। यह सन्धि सन् १८८२ में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के मध्य हुई। इसके अनुसार यह तय किया गया कि यदि फ्रांस इटली पर आक्रमण करेगा तो जर्मनी उसे अवश्य सहायता देगा। यह मैत्री सन् १८८७, १८९१ और १९०२ में विस्तारित होती रही। १८९० में इंगलैण्ड के साथ एक सन्धि करके भी जर्मनी ने अपने अनेक मतभेद सुलझाने की चेष्टा की थी, यद्यपि वह इस बात से अवगत था कि उसे यूरोप में अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये ब्रिटेन से ही टक्कर लेनी है।

ब्रिटेन भी कम चौकन्ना न था। ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति अधिकतर नाविक थी, अतः जर्मन नौ-सेना के विस्तार से उसका सशंकित हो उठना स्वाभाविक था। ब्रिटेन ने अपनी सुरक्षा के लिये यौद्धिक-शक्ति के विकास के साथ-साथ सैनिक सन्धियां करनी भी आरम्भ कर दी। सन् १९०२ में जापान के साथ और १९०४ में फ्रांस के साथ सन्धियां की गईं। सन् १९०७ में इंगलैण्ड ने फ्रांस और रूस के बीच होनेवाली १८९३ की संधि पर भी हस्ताक्षर कर दिये। सन् १९०७ की यह सन्धि 'त्रिराष्ट्र मैत्री' (Triple Entente) के नाम से जानी गई।

बाल्कन अन्तरीप के छोटे–छोटे राज्यों में भी साम्राज्यवाद आने लग गया था। बाल्कन की राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता ने बहुराष्ट्रीय आस्ट्रिया और हंगरी राजतन्त्र के लिए भय उत्पन्न कर दिया था। बाल्कन राज्यों में सर्बिया नामक राज्य एक मुख्य समस्या बन रहा था क्योंकि वह समस्त सर्ब या स्लाव जाति को एक राज्य में संगठित करना चाहता था। बल्गेरिया नरेश फर्डिनेण्ड ने जार की उपाधि धारण करली थी और यूनान पुनः यूनानी साम्राज्य के स्वप्न देखने लगा था। यहां भी विद्यार्थियों को सिखाया जाता था कि एक समय यूरोप और एशिया में यूनान का बहुत बड़ा साम्राज्य था। बाल्कन प्रदेश का धार्मिक और जातीय पहलू एक बहुत बड़ी समस्या था। प्रायः द्वीप के राजा इसाई थे जो मुसलमान टर्की के नेतृत्व को उखाड़ फेंकना चाहते थे। उनकी सहायता के लिए पहले रोम और बाद में आस्ट्रिया तथा हंगरी तैयार थे। परन्तु, इसके बहाने रूस भी भू-मध्य सागर की ओर बढ़ना चाहता था जो अंग्रेजों को असह्य था। आस्ट्रिया को भी रूस का आगे बढ़ना नापसंद था। इधर आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच भी मनमुटाव था। **रूस म भी साम्राज्यवाद की भावना बड़ी प्रबल थी।** वह ट्रांससाइबेरियन रेलवे बनाकर जापान के पड़ौस में पहुंच गया था और अन्त में हारकर वापस लौटा था। रूस निकट–पूर्व तथा बाल्कन क्षेत्रों में जर्मनी एवं आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध अपना प्रभाव बढ़ाने को प्रयत्नशील था।

यूरोप से हटकर शेष जगत को देखें तो **संयुक्त–राज्य अमेरिका मुनरो-सिद्धांत से चिपका हुआ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थ बैठा था।** उसकी शक्ति कम नहीं थी, लेकिन वहां साम्राज्यवाद बहुत प्रबल नहीं था। आर्थिक दृष्टि से वह बहुत समृद्ध था। यूरोप के सभी राष्ट्र उससे शस्त्र खरीदक अपने को शक्तिशाली बनाने की चेष्टा कर रहे थे। अमेरिका में कोई विदेश विभाग नहीं था और न वहां पर कोई राजदूतों की संस्था थी। गुप्त संधिय कोई नहीं की जाती थीं। उसने अब तक कोई ऐसे देश नहीं जीते थे ज उसके साथ नहीं घुल–मिल सकते हों और न उसने कोई उपनिवेश ही कायम

किये थे। अमेरिका की यह नीति बन गई थी कि वह संसार के झगड़ों में नहीं पड़ेगा और संसार को अपने मामले में भी हस्तक्षेप नहीं करने देगा। फिलिपाइन्स के टापू पहले स्पेन के अधिकार में थे और फिर अमेरिका के अधिकार में आ गये थे। परन्तु राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि उनको यथा–सम्भव शीघ्र से शीघ्र स्व–शासन का अधिकार दिया जायेगा और जिस दिन वहां लोग यह कह देंगे कि उन्हें अब अमेरिका के शासन की आवश्यकता नहीं है, उसी दिन अमेरिका वहां से चल देगा। अमेरिका शक्ति सम्पन्न होते हुए भी यूरोप के शक्ति–संतुलन को भंग नहीं करना चाहता था। उधर सुदूर–पूर्व एशिया में जापान एक नई शक्ति के रूप में उदित हो रहा था।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से प्रकट है कि चारों ओर शंका, प्रतिस्पर्धा और युद्ध का वातावरण बनता जा रहा था। २०वीं शताब्दी के प्रथम दशक में ऐसा प्रतीत होता था मानो यूरोपीय देश किसी ज्वालामुखी पर्वत पर बैठे हुए हों। सब को भय था कि न जाने किस समय यह पहाड़ धधक उठे और इसमें न जाने कौन भस्म हो जाय और कौन बच जाय। इस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता में अफ्रीका और एशिया का कोई स्थान न था। परस्पर सन्देह करने वाले या डरने वाले और लड़ने के लिए तैयार होने वाले सब यूरोपीय देश थे। इनमें से हरएक देश सारे संसार पर अपना आधिपत्य कायम करना चाहता था और इसीलिए इनमें परस्पर संघर्ष था। साम्राज्य और व्यापार–लिप्सा के कारण इनमें प्रपंच और कूटनीति चला करती थी जो कभी-कभी लड़ाई का रूप धारण कर लेती थी। यद्यपि अभी कोई बड़ी लड़ाई नहीं हुई थी लेकिन एक विशाल बारूद घर बन चुका था जो एक चिनगारी से ही धधक उठने वाला था। यह चिनगारी भी २८ जून १९१४ को इसमें लग गई जिससे ऐसा धड़ाका हुआ कि सारा संसार थर्रा उठा।

प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ

इस दिन अर्थात् २८ जून १९१४ को आस्ट्रिया के सम्राट का भतीजा आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेण्ड (Archduke Franz Ferdinand) अपनी पत्नी सहित बोसनिया (Bosnia) की राजधानी सराजीवों (Sarajevo) में एक शानदार घोड़े–गाड़ी में बैठकर बाजार में निकला और उसका वध कर दिया गया। वध करनेवाला युवक सर्बिया की एक आतंकवादी पार्टी 'ब्लैक हैण्ड' (Black Hand) का सदस्य था। इस घटना से सारा आस्ट्रिया सर्बिया के विरुद्ध रोष से भर उठा। आस्ट्रिया हंगरी सरकार ने सर्बिया के सामने इस हत्याकांड के सम्बन्ध में कुछ मांगें युद्ध की अन्तिम चेतावनी के रूप में रखीं। सर्बिया ने युद्ध रोकने का पूर्ण प्रयास किया और इस प्रश्न को

हेग न्यायाधिकरण में अथवा महान् शक्तियों के समक्ष रखना चाहा। रूस के विदेश मन्त्री ने सर्बिया को अपनी सहायता देने का आश्वासन दिया। उधर जर्मनी ने आस्ट्रिया हंगरी का साथ देने का निश्चय करते हुए उसकी सैनिक कार्यवाही को उपयुक्त समझा। वास्तव में आस्ट्रिया की अपेक्षा सर्बिया बहुत निर्बल था और इसीलिए वह उससे युद्ध करने के लिए तुला हुआ था। फिर जर्मनी जैसी विशाल शक्ति का बड़ा प्रोत्साहन भी उसे प्राप्त हो चुका था।

अन्त में, आस्ट्रिया ने फर्डिनेण्ड की हत्या के ठीक एक मास बाद २८ जुलाई १९१४ को सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर ही दी और दो ही दिन में बेलग्रेड (Belgrade) पर अधिकार कर लिया। २९ जुलाई को रूस ने सर्बिया के पक्षमें युद्ध संचालन का आदेश दे दिया। उधर जर्मनी ने, जो युद्ध के अवसर की ताक में ही था, १ अगस्त को रूस के विरुद्ध, ३ अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध तथा ४ अगस्त को बेल्जियम के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। बेल्जियम एक तटस्थ देश था जिसके विषय में यह अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो चुका था कि न तो उसको किसी देश से युद्ध करना चाहिये था और न अन्य किसी देश को उससे युद्ध करना था। इस समझौते पर इंगलैण्ड, फ्रांस, प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस ने हस्ताक्षर किये थे और पिछले ८० वर्षों से इसका पालन होता आ रहा था। लेकिन जब जर्मनी ने बेल्जियम की स्वतन्त्रता का अन्त करना चाहा तो इंगलैण्ड उदासीन न रह सका। बढ़ता हुआ सैनिक जर्मनी उसकी सुरक्षा के लिए भी एक खतरा था। फलतः बेल्जियम के सम्राट की प्रार्थना पर ४ अगस्त को इंगलैण्ड ने जर्मनी पर आक्रमण कर दिया। कुछ सप्ताह में जापान और मान्टेगरी मित्र राष्ट्रों में मिल गये और ऑटोमन साम्राज्य जर्मनी तथा आस्ट्रिया–हंगरी में मिल गये। युद्ध–क्षेत्र का तेजी से विस्तार होता गया और शीघ्र ही सारे संसार में युद्ध की ज्वाला धधकने लगी। युद्ध–क्षेत्र में विश्व के सभी प्रमुख राष्ट्र आ गये और अन्तिम विश्लेषण में वे निम्नलिखित रूप से पंक्तिबद्ध हो गये—

(i) **मित्र तथा संयुक्त–राष्ट्रों (Allied and Associated Powers)** में इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस, सर्बिया, जापान, पुर्त्तगाल, इटली, संयुक्तराष्ट्र, रूमानिया, यूनान, स्याम, लाइबेरिया, चीन, क्यूबा, पनामा, ब्राजील, ग्वेटेमाला, नाइकरगुआ, कोस्टारिका, हेटी, होंड्रस (England, France, Russia, Serbia, Japan, Portugal, Italy, The United States, Rumania, Greece, Siam, Liberia, China, Cuba, Panama, Brazil, Guatemale, Nicargua, Costa Rica, Haiti, Honduras) आदि थे।

(ii) **केन्द्रीय शक्तियों (The Central Powers)** में जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गेरिया और टर्की (Germany, Austria–Hungary, Bulgaria and Turkey) थे।

संसार के इतिहास में यह प्रथम युद्ध था जिसने आधुनिक उद्योग के अपार साधनों को सम्पूर्णतः एकत्रित किया, जिसमें पहली बार वायुयानों, टैंकों, विषैली गैसों और पनडुब्बियों का प्रयोग हुआ। इस युद्ध में प्रचार और कूटनीति के समस्त यन्त्र काम में लाये गये। अपनी प्रचण्डता, व्यापकता तथा भीषणता, मानवीय और भौतिक साधनों, राष्ट्रीय स्वार्थों का समावेश और समाज के समस्त वर्गों की सेवा के उपयोग में प्रथम विश्वयुद्ध अपूर्व सिद्ध हुआ।

EXERCISES

1. Discuss the diplomatic situation on the eve of the first world war.

   प्रथम महायुद्ध के पूर्व की कूटनीतिक परिस्थिति की विवेचना कीजिए।

2. "Europe as a whole was perhaps never so well prepared to wage-war as in summer of 1914". Discuss.

   "सम्पूर्ण यूरोप युद्ध के लिए सम्भवतः पहले कभी इतना सन्नद्ध न था जितना कि १९१४ के ग्रीष्म में।" विवेचना कीजिए।

द्वितीय अध्याय

शान्ति-समझौता

[१९१९ से १९२२ तक की शान्ति-सन्धियां और विश्व-समस्याओं के समाधान में उनकी अकुशलता]

[PEACE SETTLEMENT]

(The Peace treaties of 1919-1922 and their inadequacy in solving world Problems)

"इस संधि (वर्साय की) की धाराएं युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गई हैं, परमात्मा का आदेश पालन करना हम सब का इस समय का कर्त्तव्य है। जो लोग इस लड़ाई में प्रवृत्त हो गये हैं हमें उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।"

—लायड जार्ज

युद्ध का अन्त, युद्ध के परिणाम और शान्ति समझौता

युद्ध का अन्तः—२८ जुलाई, १९१४ से प्रारम्भ होनेवाले महायुद्ध का अन्त मित्र और साथी राष्ट्रों की विजय में हुआ। ३० सितम्बर १९१८ को आस्ट्रिया और बल्गेरिया के पतन के बाद जर्मन-जनरल लुडेनडर्फ (The German-General Ludendorff) ने जर्मन सम्राट कैसर (Kaiser) को मित्रराष्ट्रों के साथ शान्ति कर लेने की सलाह दी। ६ अक्टूबर १९१८ को जर्मनी ने शान्ति की अपील की। ५ नवम्बर १९१८ को मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और ११ नवम्बर १९१८ को युद्ध-विराम-सन्धि पर जर्मन प्रतिनिधियों तथा मित्रराष्ट्रों की सेनाओं के जनरल मार्शल फौच (Marshall Foch) द्वारा हस्ताक्षर कर दिये जाने पर ११ बजे दिन में 'युद्ध-बन्द' की घोषणा कर दी गई।

साक्षात् काल से भी अधिक भयानक इस युद्ध की समाप्ति के समाचार से अखिल विश्व ने सन्तोष और आनन्द की एक गहरी सांस ली। लोगों को अपार हर्ष था कि आखिर १,५६५ दिन के बाद रणभेरी की आवाज

स्तब्ध हो गई है और निरीह मानवता के नृशंस हत्याकाण्ड पर परदा गिर गया है। सचमुच संसार इस सुखद घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था क्योंकि अब तक इतिहास में इससे अधिक जन-धन का भीषण विनाश और किसी युद्ध में नहीं हुआ था। विश्व-इतिहास के इस भयानकतम प्रथम महायुद्ध में भाग लेनेवाले दोनों पक्षों के साढ़े छः करोड़ सैनिकों में से १ करोड़ ३० लाख काल का ग्रास बने थे। इस प्रकार प्रति पांच सैनिकों में से लगभग एक सैनिक लड़ते हुए मारा गया था। घायल सैनिकों की संख्या २ करोड़ २० लाख थी जिनमें से ७० लाख व्यक्ति तो एकदम पंगु और बेकार हो गये थे। दूसरे शब्दों में प्रति तीन सैनिकों में से एक आहत हुआ था। हताहतों की यह संख्या यूरोप में १७९० ई० से १९१३ ई० तक होने वाले सभी छोटे-मोटे युद्धों के हताहतों की संख्या के दुगुने से भी अधिक थी। सैनिकों का तो यह भीषण नर-संहार हुआ ही था किन्तु नागरिक जन-संख्या का विनाश तो इससे भी कहीं अधिक हुआ था। वास्तव में अपनी विकरालता और नृशंसता की तुलना में इस महायुद्ध ने इतिहास के सभी पूर्ववर्ती युद्धों को बच्चों की पटाखेबाजी की तरह नगण्य बना दिया।

आर्थिक दृष्टि से भी यह युद्ध बड़ा व्ययसाध्य और विध्वंसक था। उभयपक्ष ने युद्ध के संचालन में २ खरब ७० अरब डालर व्यय किये थे। इस धन-हानि की विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि ३५ करोड़ व्यक्तियों में इस धन-राशि का विभाजन किया जाता तो प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में लगभग पौने चार हजार रुपये आते।

युद्ध के परिणामः—लगभग सवा चार वर्ष चलनेवाले इस भीषण युद्ध ने संसार की परिस्थिति की एक प्रकार से काया ही पलट दी। यह कहने में संभवतः कोई अतिशयोक्ति न होगी कि यूरोप और मध्य-पूर्व के रणक्षेत्रों में एक युग का देहावसान ही हो गया। इस युद्ध ने प्राचीन युग के स्थान पर एक नवीन युग को जन्म दिया, मानव मस्तिष्क में एक शुभ जीवन-स्थापन की आशा का संचार किया लेकिन यह आशा चिरस्थाई न बन सकी। अन्तः में संसार की बहुसंख्यक जनसंख्या के लिए यह आशा दुराशा ही प्रमाणित हुई। इस युद्ध के कुछ विलक्षण किन्तु स्वाभाविक परिणाम निकले। ये परिणाम निम्नलिखित रूप में संसार को दृष्टिगोचर हुए—

(i) इस महायुद्ध ने सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया। जीवन के प्राचीन आदर्श अपना महत्व खो बैठे और उनके स्थान पर नवीन एवम् सर्वथा भौतिक तथा स्वार्थमय प्रतीकों की स्थापना हुई।

(ii) युद्ध के पहले यूरोप का प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त उदारतावाद का था। युद्ध के बाद गेथॉर्न हार्डी (Gathorne Hardy) के शब्दों में,

द्वितीय अध्याय

शान्ति-समझौता

[१९१९ से १९२२ तक की शान्ति-सन्धियां और विश्व-समस्याओं के समाधान में उनकी अकुशलता]

[PEACE SETTLEMENT]

(The Peace treaties of 1919-1922 and their inadequacy in solving world Problems)

"इस संधि (वर्साय की) की धाराएं युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गई हैं, परमात्मा का आदेश पालन करना हम सब का इस समय का कर्त्तव्य है। जो लोग इस लड़ाई में प्रवृत्त हो गये हैं हमें उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।"

—लायड जार्ज

युद्ध का अन्त, युद्ध के परिणाम और शान्ति समझौता

युद्ध का अन्तः—२८ जुलाई, १९१४ से प्रारम्भ होनेवाले महायुद्ध का अन्त मित्र और साथी राष्ट्रों की विजय में हुआ। ३० सितम्बर १९१८ को आस्ट्रिया और बल्गेरिया के पतन के बाद जर्मन-जनरल लुडेनडर्फ (The German-General Ludendorff) ने जर्मन सम्राट कैसर (Kaiser) को मित्रराष्ट्रों के साथ शान्ति कर लेने की सलाह दी। ६ अक्टूबर १९१८ को जर्मनी ने शान्ति की अपील की। ५ नवम्बर १९१८ को मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और ११ नवम्बर १९१८ को युद्ध-विराम-सन्धि पर जर्मन प्रतिनिधियों तथा मित्रराष्ट्रों की सेनाओं के जनरल मार्शल फौच (Marshall Foch) द्वारा हस्ताक्षर कर दिये जाने पर ११ बजे दिन में 'युद्ध-बन्द' की घोषणा कर दी गई।

साक्षात् काल से भी अधिक भयानक इस युद्ध की समाप्ति के समाचार से अखिल विश्व ने सन्तोष और आनन्द की एक गहरी सांस ली। लोगों को अपार हर्ष था कि आखिर १,५६५ दिन के वाद रणभेरी की आवाज

स्तब्ध हो गई है और निरीह मानवता के नृशंस हत्याकाण्ड पर परदा गिर गया है। सचमुच संसार इस सुखद घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था क्योंकि अब तक इतिहास में इससे अधिक जन-धन का भीषण विनाश और किसी युद्ध में नहीं हुआ था। विश्व-इतिहास के इस भयानकतम प्रथम महायुद्ध में भाग लेनेवाले दोनों पक्षों के साढ़े छः करोड़ सैनिकों में से १ करोड़ ३० लाख काल का ग्रास बने थे। इस प्रकार प्रति पांच सैनिकों में से लगभग एक सैनिक लड़ते हुए मारा गया था। घायल सैनिकों की संख्या २ करोड़ २० लाख थी जिनमें से ७० लाख व्यक्ति तो एकदम पंगु और बेकार हो गये थे। दूसरे शब्दों में प्रति तीन सैनिकों में से एक आहत हुआ था। हताहतों की यह संख्या यूरोप में १७९० ई० से १९१३ ई० तक होने वाले सभी छोटे-मोटे युद्धों के हताहतों की संख्या के दुगुने से भी अधिक थी। सैनिकों का तो यह भीषण नर-संहार हुआ ही था किन्तु नागरिक जन-संख्या का विनाश तो इससे भी कहीं अधिक हुआ था। वास्तव में अपनी विकरालता और नृशंसता की तुलना में इस महायुद्ध ने इतिहास के सभी पूर्ववर्ती युद्धों को बच्चों की पटाखेबाजी की तरह नगण्य बना दिया।

आर्थिक दृष्टि से भी यह युद्ध बड़ा व्ययसाध्य और विध्वंसक था। उभयपक्ष ने युद्ध के संचालन में २ खरब ७० अरब डालर व्यय किये थे। इस धन-हानि की विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि ३५ करोड़ व्यक्तियों में इस धन-राशि का विभाजन किया जाता तो प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में लगभग पौने चार हजार रुपये आते।

युद्ध के परिणाम:—लगभग सवा चार वर्ष चलनेवाले इस भीषण युद्ध ने संसार की परिस्थिति की एक प्रकार से काया ही पलट दी। यह कहने में संभवतः कोई अतिशयोक्ति न होगी कि यूरोप और मध्य-पूर्व के रणक्षेत्रों में एक युग का देहावसान ही हो गया। इस युद्ध ने प्राचीन युग के स्थान पर एक नवीन युग को जन्म दिया, मानव मस्तिष्क में एक शुभ जीवन-स्थापन की आशा का संचार किया लेकिन यह आशा चिरस्थाई न बन सकी। अन्तः में संसार की बहुसंख्यक जनसंख्या के लिए यह आशा दुराशा ही प्रमाणित हुई। इस युद्ध के कुछ विलक्षण किन्तु स्वाभाविक परिणाम निकले। ये परिणाम निम्नलिखित रूप में संसार को दृष्टिगोचर हुए—

(i) इस महायुद्ध ने सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया। जीवन के प्राचीन आदर्श अपना महत्व खो बैठे और उनके स्थान पर नवीन एवम् सर्वथा भौतिक तथा स्वार्थमय प्रतीकों की स्थापना हुई।

(ii) युद्ध के पहले यूरोप का प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त उदारतावाद का था। युद्ध के बाद गेथोर्न हार्डी (Gathorne Hardy) के शब्दों में,

"वास्तव में उदारतावाद अपनी मृत्यु-शैय्या पर सो गया।"[1] उदारतावाद के सिद्धान्तों से सहानुभूति रखते हुए भी इंग्लैण्ड के अधिकांश व्यक्तियों ने निर्वाचन में उदार-दल (Liberal Party) के पक्ष में मतदान इसलिए नहीं किया क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया कि उदार-दल को दिया जानेवाला मत एक शव को दिया गया मत होगा। न केवल इंग्लैण्ड में बल्कि यूरोप के अन्य भागों में इसी प्रकार की मनोवृत्ति पनपने लगी। अब अधिकांश लोग समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए।

(iii) युद्ध ने चारों ओर बेकारों की एक विशाल फौज खड़ी कर दी। भयंकर बेकारी ने अधिकांश लोगों के जीवन के आशा-दीपों को बुझाकर उनमें निराशा का अंधकार फैला दिया। परिणामस्वरूप एक ऐसा वातावरण बना जिसने उदारतावाद और प्रजातंत्र को डगमगा दिया।

(iv) युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व यूरोप में ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मन, आस्ट्रिया-हंगरी, रूस और इटली छः महान् राष्ट्र थे। किन्तु शान्ति-समझौते के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया और हंगरी एक तरह से लुप्त हो गये। जर्मनी और रूस शान्त पड़ गये। इटली भी महत्वहीन देश हो गया। स्वतन्त्र पोलैण्ड की स्थापना हुई। बाल्टिक में एस्टोनिया (Estonia), लेटविया (Latvia), लिथुआनिया (Lithuania), और फिनलैण्ड (Finland) जैसे छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। जर्मनी से अलग आस्ट्रिया एक छोटा-सा राज्य हो गया। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के विनाश के परिणामस्वरूप अनेक नये तथा नये बढ़े हुए (Newly enlarged) राज्यों का निर्माण हुआ। चेकोस्लोवाकिया (Czechoslovakia) एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। सर्बिया (Serbia), जिसका अब नया नाम युगोस्लाविया (Yugoslavia) हो गया था, बहुत बढ़ा हुआ (Greatly enlarged) राज्य हो गया। रूमानिया का राज्य-क्षेत्र भी पर्याप्त रूप से बढ़ गया। इस युद्ध ने बहुत से राजतन्त्रों (Monarchies) को भी समाप्त किया।

(v) युद्धकाल में स्त्रियों का सराहनीय योगदान रहा था, अतः युद्धोपरान्त नारी-मताधिकार के प्रति सहानुभूतिपूर्ण वातावरण व्याप्त हो गया।

(vi) युद्धकाल में औद्योगिकरण की प्रक्रिया के तीव्रतर हो जाने के फलस्वरूप विश्व-राजनीति में प्रगतिशील मजदूर वर्ग ने पदार्पण किया। युद्धकाल में ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना यह घटित हुई कि रूस में

---

1. "Yet in fact, liberalism was on its death bed."
—*Gathorne Hardy*, A Short History of International Affairs, 4th Ed. Page4.

सन् १९१७ में जार को मारकर समाजवादी सरकार की स्थापना कर दी गयी। जर्मनी में तो समाजवादी शासन स्थापित होकर ही रह गया, पनप नहीं सका। लेकिन रूस में साम्यवादी शासन दृढ़ एवं पुष्ट हो गया और यहां से साम्यवाद का विचार सारे संसार में फैलने लगा। बोल्शेविक क्रांति की वेदना में पड़ा रूस आचार-नीति, अर्थ-व्यवस्था, राजनीति तथा तकनीक आदि उन सभी वातों के क्षेत्र में चुनौती वन गया जिनका प्रतिनिधि पश्चिम था। वह शीघ्र ही एक अत्यन्त वलवान अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति वन गया। वास्तव में साम्यवादी विचारधारा आज इतनी प्रवल हो चुकी है कि सम्पूर्ण संसार दो राजनीतिक दलों में विभक्त है। एक दल पूंजीवाद का है और दूसरा साम्यवाद का।

(vii) युद्ध के वाद वड़े परिमाण में संसार के **शक्ति-संतुलन का स्थानान्तरण हो गया**। इस कारण विभिन्न देशों के सापेक्षित महत्त्व में निश्चित परिवर्तन हुआ। संयुक्त-राज्य-अमेरिका, जो १९ वीं सदी में यूरोप का अन्न भंडार था, अब उसका महाजन वन गया। १९१४ में वह यूरोप का ऋणी देश था, १९१९ में वह उसका ऋणदाता वन गया और विश्व-नेतृत्व के क्षेत्र में उसने ब्रिटेन को गम्भीर चुनौती दी। अमेरिका की सहायता से ही युद्धकाल में मित्र-राष्ट्र शत्रुओं का दमन कर सकने में समर्थ हुए थे, अतः युद्ध के वाद शांति-सम्मेलन में अमेरिका ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(viii) युद्ध के परिणाम-स्वरूप एशिया में जापान एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में उदित हुआ जिसने कालान्तर में पश्चिम के साम्राज्यवादियों को एक गम्भीर चुनौती दी।

शान्ति-समझौताः—युद्ध तो समाप्त हो गया था किन्तु परेशानियों का अभी अन्त नहीं हुआ था। विजयी राष्ट्रों के विजयोल्लास में भी चिन्ता के अस्फुट स्वर सुनाई पड़ते थे। युद्धकाल की परेशानी नहीं थी लेकिन **अब सबसे वड़ा और जटिल प्रश्न शान्ति की स्थायी व्यवस्था करना था।** शांति की व्यवस्था किस प्रकार हो, यही एक वड़ा प्रश्न-चिन्ह वना हुआ था। इस प्रकार युद्धोत्तर वातावरण हर्ष और विषाद दोनों से रंगा हुआ था। जो युद्ध में हार चुके थे, उन्हें तो हार का गम था किन्तु जो विजयी होकर निकले उन्हें भी विजयोपरान्त व्यवस्था करने की तीव्र उत्कण्ठा चिन्तित कर रही थी। स्थायी शांति की व्यवस्था करने का काम युद्ध के संचालन की अपेक्षा कहीं कठिन था। मनुष्यों को भेड़-वकरी की तरह मार डालना वड़ा आसान है, किन्तु शांति के साथ उनके रहने का प्रवन्ध करना वड़ा कठिन है। इस प्रश्न की जटिलता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि

जहां युद्ध सवा चार वर्ष में समाप्त हुआ था, वहां विभिन्न देशों के साथ शांति-संधियां करने में पांच वर्ष का समय लगा। मित्र और साथी राष्ट्रों (Allied & Associated Powers) ने २८ जून १६१६ को जर्मनी के साथ वर्साय (Versailles) की संधि, १० सितम्बर १६१६ को आस्ट्रिया के साथ सेन्ट-जर्मेन (St. Germain) की संधि, २७ नवम्बर १६१६ में बलगेरिया के साथ न्यूइली (Neuilly) की संधि, ४ जून १६२० को हंगरी के साथ ट्रियनो (Trianon) की संधि, १० अगस्त १६२० को टर्की के साथ सेव्र (Sevres) की संधि तथा २३ जुलाई १६२३ को लोसाने (Lausanne) की संधि सम्पन्न की। यह संधि ६ अगस्त, १६२४ को अमल में आयी और उसके बाद ही सारे संसार में पुनः विधिवत् शांति स्थापित हो सकी। इसी बीच प्रशान्त-महासागर में हित रखने वाले राष्ट्रों का एक सम्मेलन १६२१–२२ के शीतकाल में वाशिंगटन में हो चुका था। इस सम्मेलन में आने वाले राष्ट्रों ने सुदूरपूर्व में शांति स्थापित रखने के लिए कुछ संधियां की। **१६१६ में की गई वर्साय की संधि से लेकर बाद में की गयी उपरोक्त सभी संधियां अपने संयुक्त रूप में "शांति-समझौता" (Peace Settlement) कहलाती हैं।** १६१६ के बाद २० वर्ष तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ काल के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर जितनी भी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटित हुई, उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन शांति-संधियों के साथ गहरा सम्बन्ध है। अतः यह उचित एवम् आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन आरम्भ करते समय इन विभिन्न संधियों का ज्ञान प्राप्त करें। यह उल्लेखनीय है कि इन संधियों को सम्पन्न कराने का प्रधान श्रेय पेरिस के शांति-सम्मेलन (Peace Conference) को है।

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन और इसके कर्णधार

युद्ध समाप्त होने पर फ्रांस की राजधानी पेरिस को शांति-सम्मेलन के लिए उपयुक्त स्थान चुना गया क्योंकि फ्रांस ने युद्ध में काफी भाग लिया था और जर्मनी के आक्रमणों का प्रतिरोध करने में बहुत अधिक शौर्य प्रदर्शित किया था। इस शांति-सम्मेलन में केवल मित्र-राष्ट्रों को ही आमंत्रित किया गया। जो राष्ट्र इस युद्ध में पराजित हुए थे, उन्हें नहीं बुलाया गया। उनको केवल उसी समय जरूरत समझी गयी जब शांति-संधियों पर हस्ताक्षर कराने का अवसर आया। सोवियत रूस लाल हो चुका था और धुरी-राष्ट्रों से उसने समझौता भी किया था, अतः उसको प्रतिनिधित्व करने का अवसर नहीं दिया गया। सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन (Plenary Session) १८ जनवरी १६१६ को प्रारम्भ हुआ। इसमें भाग

लेने के लिए ३२ राज्यों के ७० प्रमुख प्रतिनिधि आये जिनमें विश्व के विशिष्ट राजनीतिज्ञ तो थे ही, साथ ही स्वयं अमेरिकन राष्ट्रपति, ११ प्रधानमंत्री और १२ विदेशमंत्री भी थे। प्रत्येक देश ने अपने प्रतिनिधि मण्डल के साथ अनेक सचिव, सहायक और परामर्शदाता भेजे थे। अनेक प्रतिनिधि-मण्डलों की संख्या सैकड़ों की थी जिनमें सुशिक्षित कूटनीतिज्ञ, सैनिक, नवसैनिक, नागरिक-प्रशासनकर्त्ता, विधि-विशेषज्ञ, वित्त और आर्थिक-विशेषज्ञ, श्रमिक नेता, राज्यमंत्री, संसद-सदस्य और सभी प्रकार के पत्रकार तथा प्रचारक थे।

शांति-सम्मेलन अपना काम एकदम आरम्भ नहीं कर सका। इसका **प्रथम कारण** यह था कि स्थायी शांति की व्यवस्था करने से पहले यह जरूरी था कि युद्ध काल में उत्पन्न हुई दुर्भावनाओं का शमन हो जाय। **द्वितीय कारण** *यह था कि भविष्य की व्यवस्था करने से पूर्व यह आवश्यक* माना गया कि नव-निर्मित राज्यों को भली प्रकार जड़ें जमाने के लिए समय मिलना चाहिए। **तृतीय और अन्तिम कारण** यह था कि क्रांति द्वारा रूस में जो समाजवादी सरकार स्थापित हुई थी वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर क्या रुख रखती है, इसकी जानकारी अथवा इसका संकेत शांति-सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को मिल जाय।

शांति-सम्मेलन की प्रारम्भिक कठिनाइयां:—शांति-सम्मेलन का कार्य जब प्रारम्भ हुआ तो उसके समक्ष समस्याओं का अम्बार लगा था। शांति-निर्माण करने वाले पेरिस में केवल शांति-निर्माण के लिए ही एकत्रित नहीं हुए थे बल्कि उनका उद्देश्य शांति को स्थिरता देना, विभिन्न समस्याओं को सुलझाना, विश्व को प्रजातंत्र के लिए सुरक्षित बनाना और संसार के गुलाम राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार देना था। **डा० लैंगसम (Langsam)** के शब्दों में—

"पेरिस की सभा का आयोजन केवल ऐसे शान्ति-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ही नहीं किया गया था जिनसे कि कम से कम २३ मित्र-राष्ट्रों में से अधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों को संतुष्टि मिलती और 'राष्ट्रसंघ' की स्थापना के लिए सहमति मिलती जो कि ४० व ५० राष्ट्रों (विशेषकर जो मित्र नहीं थे) को स्वीकार हो बल्कि इसे केन्द्रीय एवं पूर्वी यूरोप के लाखों भूखों की क्षुधा-शांत करनी थी, अतृप्त विजयी सेनाओं को वश में करना था, जनता की आन्तरिक मूर्छित आवाजों को संतुष्ट करना था और प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर छोटे-२ युद्ध करने वाले दर्जनों राष्ट्रों में शान्ति की स्थापना करना था। पोल (Poles) और यूक्रेनियन (Ukranians), रूमानियन और हंगरी वाले, यूनानी और तुर्क, सर्ब (Serbs) और मोन्टेनेग्रिन (Mon-

tenegrins), चैक और जर्मन, रूसी तथा अमेरिकन, इटालियन और यूगोस्लावियन (Yugoslavas)—ये सभी युद्ध में संलग्न थे। सबसे ऊँचा युद्ध संयुक्त राष्ट्र के विल्सन के आदर्श और युद्धकाल में आवश्यकीय रूप से भिन्न-भिन्न यूरोपीय देशों में होनेवाली गुप्त संधियों के बीच में था। महान् शक्तियां स्वयं नीति और दृष्टिकोणों में इतनी विषमतापूर्ण थी और उनके स्वार्थों में इतनी भिन्नता थी कि वर्साय की संधि अपने अन्तिम रूप में नहीं हो सकती थी यदि जर्मनी के स्वार्थों की रक्षा करनेवाला कोई दूसरा बिस्मार्क अथवा Talleyrand होता।"

निस्संदेह सम्मेलन को अपना कार्य आरम्भ करने में अनेक विषम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। संक्षेप में ये कठिनाइयां निम्नलिखित थीं—

सर्वप्रथम, बैठक आरम्भ होने पर यह समस्या उठ खड़ी हुई कि **संधि प्रारम्भिक होनी चाहिए अथवा अन्तिम**। मार्शल फौच (Marshall Foch) तथा कुछ अन्य लोग प्रारम्भिक संधि पसन्द करते थे। यह संधि स्पष्ट एवं आरोपित संधि होती जिसमें सैनिक, क्षेत्रीय तथा क्षति-पूर्ति के ही उपबन्ध होते। इसके बाद दूसरी संधि होती। यह संधि शांतिपूर्वक और प्रतिष्ठानुकूल समझौते के आधार पर विजेता एवं विजितों के बीच होती जिसमें आर्थिक पुनर्निर्माण, निःशस्त्रीकरण एवम् राष्ट्र संघ की समस्याओं की चर्चा की जाती। ऐसा लोग इसलिए सोच रहे थे कि किसी भी नई व्यवस्था का सूत्रपात क्रोध भरे वातावरण में संभव नहीं होता। अतः जब प्रारम्भिक और अन्तिम संधि के अभ्यन्तर काल में क्रोध के निशान मिट जाते, तब सही संधि हो पाती। लेकिन तत्कालीन वातावरण और जनमत बड़ा अधीर हो रहा था। प्रतिनिधियों में इतना धैर्य नहीं था कि वे दो सम्मेलनों में भाग लेते। कर्नल हाउस (Colonel House) जैसे लोगों का विश्वास था कि छोटी-छोटी बातों पर विवाद करने की अपेक्षा शान्ति-स्थापना के लिए अविलम्ब पूर्ण संधि की जाना अच्छा था। शुरू में राष्ट्रपति विलसन भी प्रारम्भिक संधि के पक्ष में थे, किन्तु अन्त में वह भी बदल गये। अब वह प्रत्येक पराजित राष्ट्र के साथ अलग-अलग एक ही संधि चाहने लग गये।

दूसरे, सम्मेलन में भाग लेने के लिए इतने **अधिक प्रतिनिधि आये थे कि सम्मेलन के कार्य का सुचारु संचालन करना संभव न था**। विशाल संख्या में प्रतिनिधि एक साथ बैठकर किसी समस्या पर शांतिपूर्वक विचार नहीं कर सकते थे। अतः इस कठिनाई का निवारण करने के लिए और सम्मेलन का कार्य शांतिपूर्वक चलाने के लिए **'दस की परिषद्' (Council of Ten)** बनायी गयी। इस परिषद् में संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और

जापान के दो-दो प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि कार्य–संचालन और गोपनीयता की दृष्टि से यह दस-सदस्यीय-परिषद् भी बहुत बड़ी है। अतः मार्च १९१९ में यह घोषणा की गयी कि भविष्य में सम्पूर्ण कार्य का सम्पादन **'चार व्यक्तियों की परिषद्' (Council of Four)** करेगी। ये चार व्यक्ति अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन (Wilson), ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉयड जार्ज (Lloyd George), फ्रैन्च प्रधानमंत्री क्लेमेन्सो (Clemenceau) और इटली के प्रधानमन्त्री आरलैण्डो (Orlando) थे। इन्हें **'चार बड़े' (Big Four)** कहा जाता था। जब अप्रैल १९१९ में इटली के प्रधान मंत्री आरलैण्डो राष्ट्रपति विल्सन से नाराज होकर वापिस लौट गये तो सम्मेलन के सम्पूर्ण महत्वपूर्ण निर्णयों का भार विल्सन, लॉयड जार्ज और क्लेमेन्सो—इस 'त्रिमूर्ति' पर आ पड़ा।

तीसरे, इस सम्मेलन के लिए पेरिस का चुनाव किंचित दुर्भाग्यपूर्ण था, क्योंकि शांतिवार्ता के लिए वहां का वातावरण एकदम अनुपयुक्त और प्रतिकूल था। युद्ध की ज्वालाएं पेरिस के समीपस्थ क्षेत्र को ध्वस्त कर चुकी थीं। डा० कीन्स (Dr. Keynes) के कथनानुसार **"पेरिस एक पिशाच था और वहां पर प्रत्येक अस्वस्थ था। सम्पूर्ण वातावरण असंतोष, घृणा, प्रतिशोध, उन्माद और द्रोह से उबल रहा था।"**[1] पेरिस के समाचार–पत्रों में और वहां की जनता के प्रदर्शनों में केवल एक ही नारा ध्वनित होता था—"पराजित शत्रु के साथ दया का बर्ताव मत करो।" वास्तव में पेरिस वह स्थान था जहां पर जर्मनी का दोष स्वयं सिद्ध सत्य था। पेरिस पर पड़े बमों के आघातों ने सभी प्रतिनिधियों की शिराओं पर कुप्रभाव डाला था। स्पष्टतः इस वातावरण में स्थायी शान्ति की व्यवस्था संभव न थी। शान्ति–वार्ता के लिए स्विटज़रलैण्ड जैसे तटस्थ देश का जेनेवा (Geneva) जैसा कोई नगर अधिक उपयुक्त रहता।

चौथे, पेरिस का शान्ति सम्मेलन तो एक 'विजेतागोष्ठी' (Victors Club) था। जहां वियना सम्मेलन में विजित और विजेता दोनों राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था वहां पेरिस–सम्मेलन की कार्यवाही में पराजित राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को भाग नहीं लेने दिया गया। उन्हें निमन्त्रण केवल तभी दिया गया जब संधि की शर्तों पर उनके हस्ताक्षर कराये जाने थे।

---

1. "Paris was a mightmare and everyone there was morbid. The entire atmosphere was seething with the spirit of discontent, hatred vengeance, cynicism and spi'e."
—*Keynes* : Essays in Persuation, (London, Macmillan, 1933)

वास्तव में लोसाने की संधि (Treaty of Lausanne) को छोड़कर अन्य सभी संधियां पराजित राष्ट्रों पर थोपी गयी थीं।

पांचवें, पेरिस के शान्ति-संस्थापकों का सिद्धान्त वियना के शान्ति-संस्थापकों की भांति क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने की अपेक्षा विशेष रूप से उन आकांक्षाओं को संतुष्ट करना था जिन्हें उन्होंने स्वयं ही जगाया था। साथ ही जहां वियना सम्मेलन ने अपना कार्य परम्परागत कूटनीतिक प्रथाओं के वातावरण में सम्पन्न किया था वहां पेरिस-सम्मेलन के राजनीतिज्ञों पर अनुत्तरदायी जनमत का प्रभाव छाया हुआ था। उन्हें अपने कार्यों से अपने-अपने देशों के निर्वाचक मण्डलों को, जो प्रतिशोध की भावनाओं के वशीभूत थे, संतुष्ट करना था।

छठे, सम्मेलन के सामने ऐसी **कोई निश्चित एवं सुस्पष्ट योजना नहीं थी** जो प्रतिनिधियों के पारस्परिक विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित कर सकती। यद्यपि लड़ाई के दौरान ही युद्धोत्तर पुर्ननिर्माण के सम्बन्ध में विस्तृत वाद-विवाद हुआ था, किन्तु फिर भी कोई ठोस योजना नहीं बनाई जा सकी थी। डी० सी० सोमरवेल (D. C. Somervell) के शब्दों में—

"प्रारम्भ से अन्त तक यह सब के विरुद्ध सब का मामला था, एक गड़बड़ झाला और छीना-झपटी थी जो निरन्तर बढ़ती हुई अव्यवस्था के एक ऐसे विश्व में की जा रही थी, जो इस अविलम्ब ज्ञान से संचालित हो रहा था कि एक अविलम्ब शान्ति एक श्रेष्ठ शान्ति से श्रेष्ठतर होगी।"[1]

सातवें, **सम्मेलन का संगठन इतना दोषपूर्ण था और कार्यपद्धति इतनी अपूर्ण थी कि सम्मेलन से किसी कार्य के सफल निष्पादन की आशा नहीं की जा सकती थी।** सम्मेलन के सभी महत्वपूर्ण निर्णय 'त्रिमूर्ति' (विलसन, क्लेमेन्सो, लॉयड जार्ज) द्वारा किये जाते थे। पूर्ण सम्मेलन का कार्य इन के निर्णयों पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाने तक सीमित रह गया था। छोटे राष्ट्र, सम्मेलन के निर्णयों को प्रभावित करने के अवसर से वंचित रह गये थे। वे केवल परामर्श-दात्री समितियों में ही अपने विचार व्यक्त कर सकते थे। पूर्ण सम्मेलन के अधिवेशन भी केवल छः बार हुए थे। यद्यपि विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए ५६ विशेषज्ञ समितियों की रचना की गयी थी किन्तु यह सब कुछ बड़ी देर से हुआ था। साथ ही इन समितियों में केवल विशेषज्ञों को स्थान दिया गया था जो स्वाभाविक रूप से किसी भी प्रश्न पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार नहीं कर सकते थे। विलम्ब से संगठित किये जाने और सदस्य विशेषज्ञों के संकुचित दृष्टिकोण के कारण ये समितियां बहुत उपयोगी कार्य नहीं कर सकीं।

1. *D. C. Somervell*; Between the wars, Page 12.

आठवीं और अन्तिम कठिनाई थी वैयक्तिक तत्व (Personal element) । विल्सन, लॉयड जार्ज, क्लेमेन्सो तथा आरलैण्डो—इन चार जन-नायकों अथवा कर्णधारों के बीच किसी भी प्रकार की समानता नहीं पायी जाती थी और इन्हीं के निर्णयों का मूल्य था । पेरिस-सम्मेलन के इन कर्णधारों में राजनीतिक दूरदर्शिता और कूटनीतिक योग्यता के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान नहीं थे । इनके पारस्परिक विरोधी व्यक्तित्व और स्वभाव ने शान्ति-सन्धियों पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला और सम्मेलन में नाना-व्यवधान प्रस्तुत किये । ये अपने व्यक्तित्व और अपनी प्रकृति में एक दूसरे से कितने विपरीत थे इसका अनुमान उनके संक्षिप्त परिचय से लगाया जा सकता है ।

विल्सन (Wilson) :—संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन का व्यक्तित्व अनोखा था । वह पेरिस-सम्मेलन का सर्वोच्च पुजारी था जिसने सम्मेलन के प्रारम्भ में बहुत ऊंची प्रतिष्ठा प्राप्त की । उस समय उसे वस्तुतः शांति का देवता और हजरत मूसा और ईसा की भांति एक नया मसीहा समझा जाता था जिसमें एक नयी दुनिया बसाने की लगन थी । निकल्सन (Nicholson) ने लिखा है कि वह स्वयं को मानव-जाति की नयी व्यवस्था करने वाला पैगम्बर मानता था । विल्सन के परम मित्र कर्नल हाउस के अनुसार "**वह अपने प्रभाव और अपनी सत्ता के उत्कर्ष काल में सबसे प्रभावशाली व्यक्ति था, क्योंकि वह दुनिया की नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का प्रवक्ता था ।**" यूरोप में उस समय यह भावना विद्यमान थी कि केवल विल्सन ही ऐसा व्यक्ति है जो विभिन्न राष्ट्रों के राग-द्वेष और उनकी ईर्ष्या-भावना से ऊपर उठा हुआ तथा मानवता का रक्षक है । अतः जब यह दार्शनिक राजा हाथ में अपने सिद्धान्तों की पुस्तिका लेकर सैनिक-शक्ति से लैस संधि की शर्तें निर्धारित करने आया तो यूरोप की जनता ने उसके सम्मान में हृदय खोल दिया । सभी देशों में उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ । जब वह पेरिस पहुंचा तो फ्रैन्च उसे देखकर आनन्द-विभोर हो उठे । गलियों में अपार जन-समूह ने उसकी अर्चना की और अखबारों ने उसके गुणगान गाये । वास्तव में सभी की आशाएं उसकी ओर लगी थीं । विजयी न्याय की आशा करते थे, विजित दया की और सामान्य जन-शांति की ।

प्रिन्सटन में राजनीति-दर्शन का यह भूतपूर्व प्रोफेसर एक प्रतिभाशाली वक्ता तथा आदर्शवादी विचारक था । वह कठोर विश्वासों का व्यक्ति था जिसमें राजनीतिक दूरदर्शिता तो उच्चकोटि की थी, लेकिन इतनी कूटनीतिक योग्यता नहीं थी कि वह अन्य प्रतिनिधियों को पराजित राष्ट्रों के साथ उदार व्यवहार के लिए तैयार कर सकता, यद्यपि, स्टेनार्ड बेकर के

कभी हिम्मत नहीं हुई कि वह विलसन के समक्ष अथवा उसकी पीठ–पीछे भी उसकी था उसकी सहनशीलता, शक्ति अथवा साहस की निन्दा या अप्रशंसा करने का साहस करे।" विलसन का यह विश्वास था कि राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना से ही मानव-जाति की रक्षा हो सकती है, अतः वह इसे सब शांति-सन्धियों का अनिवार्य अंग बनाना चाहता था। किन्तु चूंकि वह मानसिक दृष्टि से लॉयड जार्ज तथा क्लेमेन्सो के समान कुशाग्र और तीव्र नहीं था और अपने पूर्व–निर्धारित विचारों पर विशेष रूप से भरोसा रखता था, अतः कूटनीति के क्षेत्र में और राजनीतिक सौदे–बाजी में नौ–सिखिया सिद्ध हुआ। उसके आदर्शवाद और राष्ट्रसंघ की स्थापना के अत्यधिक उत्साह का दूसरे देशों ने पूरा लाभ उठाया। अन्य देश राष्ट्रसंघ के निर्माण की बात मान लें इसके लिए विलसन सब कुछ त्यागने के लिए तैयार था। यहां तक कि राष्ट्रसंघ के लिए वह अपने १४ सूत्रों के अनेक सिद्धांतों की अवहेलना करने के लिए भी तैयार हो गया। पॉल बर्डसल (P. Birdsall) के कथनानुसार क्षति–पूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य सभी प्रश्नों पर ब्रिटेन, फ्रांस और जापान विलसन से राष्ट्रसंघ के नाम पर प्रायः अपनी अधिकांश बातें मनवाने में सफल हुए। चीनी जनता द्वारा बसा हुआ शाण्टुंग का प्रदेश विलसन के आत्म–निर्णय के सिद्धांत के आधार पर चीन को मिलना चाहिए था किन्तु विलसन ने राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए अन्य महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की अभिलाषा से इसे जापान को देने का निर्णय किया। यह निर्णय स्वयमेव विलसन द्वारा अपने सिद्धांतों पर कुठाराघात था। फिर भी, पेरिस–सम्मेलन में यदि पराजितों के साथ थोड़ी नर्मी बरती गई तो वह विलसन के कारण ही। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि विलसन सम्मेलन में न होता तो लॉयड जार्ज और क्लेमेन्सो न जाने क्या से क्या कर देते। विलसन ही उनकी असीम आकांक्षाओं पर अंकुश लगाता रहा। यदि विलसन न होता तो फ्रांस जर्मनी का नामोनिशान मिटाकर ही दम लेता।[1]

कुछ लोगों का विचार है कि विलसन ने पेरिस में स्वयं आकर एक भारी भूल की। यदि वह वाशिंगटन में रह कर ही अमेरिकन प्रतिनिधियों को आदेश देता रहता तो यह बहुत संभव था कि उसका प्रभाव अधिक व्यापक होता। पर विलसन को सर्वाधिक चिन्ता राष्ट्रसंघ की थी और उसकी अभिलाषा थी कि विश्व-संस्था के विधान का निर्माण वह स्वयं करे। लेकिन वास्तव में यह बड़े दुर्भाग्य और दुख की बात हुई कि जहां सम्मेलन में उसकी उपस्थिति स्वयं सम्मेलन के लिए हितकर न रही, वहां अपने देश

---

1. *P. Birdsall* : Versailles—Twenty Years After, p. 295.

से दूर होकर वह अमेरिकन जनता से सम्पर्क स्थापित न रख सका जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उसके द्वारा पोषित राष्ट्रसंघ को उसके स्वयं के देश ने अस्वीकार कर दिया। अमेरिकन सीनेट ने विल्सन के राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रस्ताव को नहीं माना। १९१८ में काँग्रेस के चुनावों में विल्सन विरोधी रिपब्लिकन दल को काँग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त हो गया और सीनेट ने राष्ट्रसंघ के विधान एवं वर्साय की संधि को स्वीकार करने के मसविदे को रद्द कर दिया। यह मानवता के एक महान् पैगम्बर का दुखमय पराभव था।

लॉयड जार्ज (Lloyd George):—ब्रिटेन के प्रतिनिधि मण्डल का नेता ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज एक यथार्थवादी, सावधान, तेज और चतुर कूटनीतिज्ञ था। उसे विस्तार से दुराव था। जो त्रुटियां उससे होती थीं उनके प्रति वह उदासीन रहता था। उसमें अपने सहयोगियों का उपयुक्त उपयोग करने का निश्चित गुण था। दूरदर्शी, सजग और आकर्षक लायड जार्ज को ६-७ कुछ ऐसे ज्ञान प्राप्त थे जो एक साधारण व्यक्ति में नहीं पाये जाते। इनमें चरित्र-निरीक्षण का ज्ञान, स्वभाव जानने और मन की गहराइयों तक पहुंचने के ज्ञान प्रमुख थे। लॉयड जार्ज की अनथक कार्य-शक्ति, चातुर्यपूर्ण कूटनीति, दूसरों की दुर्बलताओं से लाभ उठाने की सामर्थ्य और विनोदप्रियता बड़ी विलक्षण थी। जे० डिल्लोन के मतानुसार उसके अधिकांश निर्णय कल्पना और अन्तर्दृष्टि (Intuition) के आधार पर होते थे और उसके निकटतम साथी भी कई बार कूटनीति में उसकी अगली चाल का अनुमान लगाने में असफल रहते थे।[1] पहले सम्मेलन में उसकी सफलता का एक कारण यह था कि उसे जो अच्छी सलाह दी जाती थी वह उसे मान लेता था।

यद्यपि लॉयड जार्ज और उसकी राष्ट्रीय सरकार ने १९१८ का निर्वाचन 'जर्मनी से पूर्ण हर्जाना लो,' 'शिलिंग के बदले शिलिंग, टन के बदले टन,' ('Make Germany pay', 'Shilling for Shilling and Ton for Ton'), 'कैसर को फांसी पर लटकाओ' जैसे नारों के आधार पर जीता था, किन्तु उसने पेरिस-सम्मेलन में जर्मनी के साथ फ्रांस की अपेक्षा अधिक मृदु और उदार व्यवहार पर बल दिया क्योंकि वह जानता था कि ब्रिटिश व्यापार के पुनरुत्थान और रूसी साम्यवाद के प्रसार के विरोध के लिए एक सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था वाले जर्मनी का होना आवश्यक था। लॉयड जार्ज फ्रांस की भांति जर्मनी को पूर्णतः कुचलने का पक्षपाती नहीं था। जर्मनी के क्रमशः उत्थान में ब्रिटिश-व्यापार की उन्नति की कल्पना

---

1. *Albjerg and Albjerg*: Europe from 1914 to the Present. P. 60.

उसने की थी। लेकिन इसके साथ ही उसमें शीघ्र शांति-स्थापना की तीव्र अभिलाषा भी थी। वह जानता था कि ब्रिटिश व्यापार की उन्नति की दृष्टि से शांति की शीघ्र स्थापना जरूरी है। इसीलिए वह फ्रेन्च प्रधान-मन्त्री क्लेमेन्सो के जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार के प्रस्तावों का विशेष रूप से तीव्र विरोध नहीं कर सका, हाँ यह अवश्य हुआ कि ७ मई १९१९ को प्रारूप-संधि (Draft Treaty) की प्राप्ति के बाद जब जर्मनी ने संधि की शर्तों को अत्यधिक कठोर तथा अन्यायपूर्ण बताया तब लॉयड-जार्ज ने संधि की शर्तों में संशोधन कर उसे अधिक उदार बनाने का प्रयास किया। लेकिन यह प्रयास एक विलम्बित अर्थात् देर से किया गया प्रयास था जो क्लेमेन्सो के विरोध से टकरा कर धराशायी हो गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि शर्तों को उदार बनाने के इस प्रयास की असफलता से लॉयड जार्ज के प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति को कोई क्षति नहीं पहुंची। शान्ति सम्मेलन के इस महान् कूटनीतिज्ञ के सामने तीन प्रमुख उद्देश्य थे—प्रथम, वह जर्मनी का एक नाविक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सर्वनाश कर देना चाहता था; द्वितीय, वह फ्रान्स को इतना शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहता था कि यूरोप का शक्ति-संतुलन बिगड़ जाये; और तृतीय, वह ब्रिटेन के लिए लूट के माल में अधिकाधिक हिस्सा प्राप्त करना चाहता था। लॉयड जार्ज ने इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

क्लेमेन्सो (Clemenceau):—फ्रान्स का प्रधानमन्त्री और शान्ति सम्मेलन का प्रधान क्लेमेन्सो प्रतिष्ठा में लॉयड जार्ज से किसी भी प्रकार कम नहीं था। उसे 'शेर' (Tiger) का नाम दिया गया था। सम्मेलन में वह एक वयोवृद्ध व्यक्ति की बुद्धि लेकर आया था। ७७ वर्ष के इस बूढ़े ने १८७० में जर्मनी द्वारा फ्रांस के लज्जापूर्ण पराभव को अपनी आँखों से देखा था। १९१८ में फ्रांस महायुद्ध का एक विजयी राष्ट्र था, अतः वह जर्मनी से पिछली पराजय का पूर्ण प्रतिशोध लेने के लिए आतुर था। जर्मनी को कुचलने और फ्रान्स को सब प्रकार के भावी आक्रमणों से सुरक्षित बनाने की आकांक्षा रखने वाला क्लेमेन्सो ऐसे सम्मेलन को धोखे की टट्टी समझता था जिसमें जर्मनी को सैनिक दृष्टिकोण से अक्षम बनाने की योजना न हो, उस पर कठोर प्रकार के हरजाने न आरोपित किये जायं, राइनलैण्ड में स्थायी कब्जे की बात न हो और न सीमान्त राज्यों के संगठनों की चर्चा हो। यह कठोर व्यक्ति (Tough figure) हमेशा फ्रान्स का हित-चिन्तन करता था और फ्रान्स की रक्षा के लिए दिलेर की तरह तैयार रहता था। जर्मनी को क्षीण बना देने की उसमें कितनी उत्कट अभिलाषा थी, इसका अनुमान कर्नल हाउस (House) के इन शब्दों से लगाया जा सकता है—

"उसे इस बात का दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता । उसका एक मात्र उद्देश्य जर्मनी का इतना दमन करना था कि वह फिर कभी फ्रान्स के लिए संकट न बन सके ।"

लॉयड जार्ज ने भी कहा था—"क्लेमेन्सो भयानक है। वह जर्मनों से जहर की भांति घृणा करता है और यदि उसका वश चले तो वह सारे जर्मनों को कुचल कर रख दे ।"[1]

क्लेमेन्सो में फासिस्टवादी प्रवृत्ति कूट–कूट कर भरी थी । वह युद्ध को समाज का—विशेषकर यूरोपीय समाज का—शाश्वत ढंग समझता था और शान्ति को अन्य माध्यम से जारी किये गये युद्ध की संज्ञा देता था या उसे शक्तियों का संतुलन समझता था । उसका कहना था कि जर्मनों और फ्रान्सीसियों में संघर्ष अनिवार्य है और यह वर्षों से चला आ रहा है । इस बार जब जर्मनी बुरी तरह हारा है तो उसे पूर्णतः कुचले बिना छोड़ देना एक महान् भूल होगी । शक्ति–संतुलन का पुजारी क्लेमेन्सो बिस्मार्क की राजनीति का समर्थक था । उसे आदर्शवाद से चिढ़ थी । विल्सन के चौदह सूत्रों (Fourteen Points) पर व्यंग करते हुए वह कहा करता था कि 'ईसा मसीह केवल दस आज्ञाओं से संतुष्ट थे, लेकिन श्री विल्सन चौदह आज्ञाओं पर बल देते हैं ।'[2] एक अन्य अवसर पर उसने कहा था कि "लॉयड जार्ज तो अपने को नेपोलियन समझता है परन्तु विल्सन अपने को ईसा मानता है ।"

शांति-सम्मेलन के प्रधान के रूप में क्लेमेन्सो की भूमिका निश्चय ही महत्वपूर्ण थी । अपने व्यंगात्मक वाक्यों, प्रवाहपूर्ण भाषण और उग्रता के बल पर वह सब विरोधों को दबा देता था । अमेरिका के राज्यमन्त्री लैनसिंग (Lansing) ने उसकी सफलता का रहस्य बतलाते हुए लिखा है कि "वह यह जानता था कि कब विरोध करना चाहिए और कब समझौता । उसे आदर्शवाद के सही मूल्य का और इस बात का ज्ञान था कि विभिन्न देश इसका उत्साहपूर्ण समर्थन उस समय तक ही करते हैं जब तक कि इससे उनके स्वार्थों को कोई हानि नहीं पहुंचती ।"

---

1. "Clemenceau is terrible. He hates the Germans like poison and would destroy the whole of them if he could."
—*Lloyd George*, Quoted in Lansing: The Big Four and Others of the Peace Conference, p. 87.

2. "Even God was satisfied with Ten Commandments, but Mr. Wilson insists on Fourteen."
—*Clemenceau.*

आरलैण्डो (Orlando):—उपरोक्त 'त्रिमूर्ति' के अतिरिक्त इटली के प्रधानमन्त्री ऑरलैण्डो की गणना भी 'चार बड़ों' में होती थी। वह बहुत ही विद्वान, भाषणप्रिय और कुशल कूटनीतिज्ञ था जो कानून का अध्यापक रह चुका था। उसके आने का एकमात्र उद्देश्य 'लंदन-संधि' (१६१५) की पूर्ति करवाना था। वह इटली युद्ध में सम्मिलित भी इसी उद्देश्य से हुआ था। उसकी यह भरपूर चेष्टा रही कि वह कुछ भी इटली के लिए प्राप्त कर सके। राष्ट्रसंघ से संबंधित एक प्रश्न के उत्तर में उसने कहा था, "हां, हम राष्ट्रसंघ में विश्वास करते हैं, परन्तु हम चाहते हैं कि पहले फ्यूम (Fiume) नगर का प्रश्न हल कर लिया जाय।" उसका यह उत्तर उसके सम्पूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिनिधि था। ऑरलैण्डो को अंग्रेजी का उत्तम ज्ञान न था। अतः वह शांति-सम्मेलन की कार्यवाही पर अपना विशेष प्रभाव नहीं डाल सका।

शांति सम्मेलन उपरोक्त **'चार बड़ों' (Big Four)** के अतिरिक्त अमेरिका से लैनसिंग तथा कर्नल हाउस, इंगलैंड से बालफोर और बोनरला, फ्रान्स से पिशोन और काम्बो, इटली से सोन्नियो, बेल्जियम से हाइमैन्स, दक्षिण अफ्रीका से जनरल स्मट्स व बोथा तथा पोलैण्ड से दमोवस्की और पादरेफस्की शामिल हुए थे। पेरिस के इस शांति-सम्मेलन में 'चार बड़ों' में समान दृष्टिकोण का नितान्त अभाव रहा। इसमें आदर्शवाद और भौतिकवाद का संघर्ष हुआ। चूंकि ऐसे वातावरण में किसी एक पक्ष की पूर्ण विजय सम्भव न थी, अतः दोनों पक्षों ने ही समन्वय की भावना अपनायी। फिर भी विल्सन के आदर्शवाद की अपेक्षा क्लेमेन्सो का भौतिकवाद अधिक विजयी हुआ।

शान्ति-सम्मेलन के मूल आधार

शान्ति सम्मेलन की बैठक प्रारम्भ होने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि शान्ति-रचना अथवा विभिन्न शान्ति-संधियों का क्या आधार हो। चूंकि सम्मेलन पर एक ओर तो विल्सन के आदर्शवाद का प्रभाव था और दूसरी ओर यूरोपीय राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय हितों को मान्यता देकर राजनीतिक यथार्थवाद का प्रतिपादन करने पर तुले हुए थे, अतः ऐसे वातावरण में शान्ति-रचना के एक से अधिक आधारों ने अपनी-अपनी भूमिका अपने-अपने ढंग से अदा की। शान्ति-रचना के ये मूल आधार, जिन्होंने शान्ति-निर्माताओं के निर्णयों को प्रभावित किया, छः थे—

(क) अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन और जर्मनी का यह मत था कि शान्ति-संधियों का आधार वे सिद्धान्त होने चाहिये जो विल्सन ने युद्ध-काल में प्रतिपादित किए थे। युद्ध काल में विल्सन ने चार बार साथी राष्ट्रों

के युद्धोद्देश्यों की व्याख्या की थी। पहली बार ८ जनवरी १९१८ को कांग्रेस के समक्ष भाषण करते हुए उसने अपने चौदह-सूत्री कार्यक्रम को पेश किया था। इसके बाद ११ फरवरी १९१८ को कांग्रेस के ही सामने उसने अपने चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसके उपरान्त ४ जुलाई १९१८ को उसने ४ लक्ष्यों की घोषणा की और फिर २७ सितम्बर को ५ व्याख्याओं की स्थापना की।

(ख) इंगलैण्ड, फ्रान्स, इटली आदि मित्र राष्ट्र युद्ध के समय की गई गुप्त-संधियों के आधार पर शान्ति-समझौते की रूप-रेखा प्रस्तुत करना चाहते थे।

(ग) शान्ति-निर्माताओं के निर्णयों को रूस की क्रान्ति ने भी बड़ा प्रभावित किया। वे रूस को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से वहिष्कृत मानते थे। सम्मेलन के प्रत्येक निर्णय पर रूसी क्रान्ति का अज्ञातमय भय अंकित था।

(घ) राष्ट्रीयता की भावना का स्वतन्त्रता के लिए विकसित होना भी समझौते का आधार रहा। राष्ट्रीयता की भावना ने इस सम्मेलन के अनेक निर्णयों को प्रभावित किया।

(ङ) अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स और इटली के राष्ट्रीय स्वार्थों ने सम्मेलन पर निश्चित रूप से अपनी अमिट छाप छोड़ी।

(च) अंत में, ब्रेस्ट लिटोवस्क (Brest Litovsk) की संधि का भी पेरिस सम्मेलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

शान्ति-सम्मेलन के उपरोक्त मूल आधारों की अब हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

(क) विल्सन के सिद्धान्त : चौदह शर्तें (Fourteen Points):— संयुक्त राज्य अमेरिका ने युद्ध में उस समय प्रवेश किया था जब मित्र राष्ट्रों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। अतः स्वाभाविक था कि शान्ति-रचना के महान् कार्य पर अमेरिका का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़े। अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने से पहले और बाद में राष्ट्रपति विल्सन ने बार-बार इस बात पर बल दिया था कि युद्ध के बाद शान्ति की व्यवस्था तथा स्थापना कतिपय निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर होनी चाहिये। उसने यह चेतावनी दी कि ऐसा न होने पर शान्ति-संधि का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं होगा क्योंकि ऐसी संधि विजेता पक्ष द्वारा पराजित पक्ष पर बलपूर्वक थोपी हुई संधि होगी। पराजित पक्ष इस संधि को विवशता में स्वीकार किया हुआ अपमान समझेगा। इस तरह की आरोपित शान्ति-संधि के मूल में असन्तोष और कटुता का वह सागर छिपा रहेगा जो अन्त में शान्ति की किसी भी व्यवस्था को अपने में डुबो लेगा। युद्धोत्तर शान्ति-व्यवस्था बालू पर बनी दीवार

की भांति अस्थिर न सिद्ध हो, यह भावना हृदय में लिये हुए २ अप्रेल १९१७ को, युद्ध में प्रवेश करते समय, शान्ति के पैगम्बर राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिकन कांग्रेस के समक्ष यह घोषणा की कि—

"संसार को प्रजातन्त्र के लिए एक सुरक्षित स्थान बनाने की आवश्यकता है। उसकी शान्ति का निर्माण राजनीतिक स्वतन्त्रता के सुपरीक्षित आधारों पर होना चाहिये। हमें अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति नहीं करनी है। हमें किसी विजय अथवा प्रदेश की आकांक्षा नहीं है। हम अपने लिये युद्ध का कोई हरजाना भी नहीं चाहते और न अपने त्यागों के लिये किसी प्रकार की क्षति-पूर्ति की ही इच्छा रखते हैं। हम तो केवल मानव जाति के अधिकारों का समर्थन करने वालों में एक हैं।"[1]

इन अधिकारों की विस्तृत व्याख्या विल्सन ने ८ जनवरी, १९१८ को कांग्रेस के समक्ष भाषण करते हुए की। अपने भाषण में उसने यह कहा कि यदि भावी शान्ति की समुचित व्यवस्था करनी है तो निम्नलिखित १४ शर्तों का पालन किया जाना चाहिए—

(१) शान्ति के सभी समझौते सार्वजनिक और खुले वार्तालाप द्वारा निश्चित किये जायं। गुप्त कूटनीतिक वार्तायें न हों।

(२) युद्ध और शान्ति दोनों में ही सभी राष्ट्रों को प्रादेशिक जलीय सीमाओं से परे के समुद्रों पर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। केवल किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा अर्थात् समझौते या निर्णय के लागू होने पर ही इस स्वतन्त्रता को स्थगित किया जायेगा।

(३) सब देशों में व्यापारिक परिस्थितियों की समानता को स्थापित करने के लिये सब प्रकार के आर्थिक प्रतिबन्धों को हटा दिया जावे।

(४) आन्तरिक सुरक्षा के लिये ही राष्ट्र आवश्यक शस्त्रास्त्र रखेंगे अर्थात् सभी राष्ट्र इस बात का आश्वासन देंगे कि वे राष्ट्रीय शस्त्रों को घटा कर इस सीमा तक ले आयेंगे कि उनकी केवल घरेलू शान्ति के लिये आवश्यकता हो।

---

1. "The world must be made safe for democracy. Its peace must be planted upon the tested foundations of political liberty. We have no selfish ends to serve. We desire no conquests, no dominion. We seek no indemnities for ourselves, no material compensation for the sacrifices we shall freely make. We are but one of the champions of the rights of mankind."

(५) जनता की इच्छा और हितों का पूरा ख्याल रखते हुए उपनिवेश सम्बन्धी समस्याओं का उचित और निष्पक्ष फैसला किया जाय।

(६) रूस के प्रदेशों को खाली कर दिया जाय, और अपने राजनीतिक विकास तथा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण की उसकी स्वाधीनता को मान्यता दे दी जाय।

(७) बेल्जियम को खाली कर दिया जाय, उसके तटस्थीकरण को मान लिया जाय और उसकी प्रभुसत्ता को सीमित करने का प्रयास नहीं किया जाय।

(८) संपूर्ण फ्रेन्च प्रदेश को स्वतन्त्र कर दिया जाय। उसके वे प्रदेश, जिन पर विदेशियों का अधिकार हो, लौटा दिये जायं। १८७१ में अल्सेस-लोरेन (Alsace-Laurain) लेकर उसके साथ जो अन्याय हुआ था उसको समाप्त कर दिया जाय।

(९) इटली की सीमाओं की पुनर्व्यवस्था राष्ट्रीयता के स्पष्ट मान्य सिद्धान्त के आधार पर की जावे।

(१०) आस्ट्रिया-हंगरी के लोगों को इस बात का खुला अवसर दिया जाय कि वे स्वायत्त-शासन का विकास कर सकें।

(११) रूमानिया, सर्बिया और मान्टीनिग्रो से विदेशी फौजें हटा दी जायं। उनके जिन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया है, वे उन्हें वापिस लौटा दिये जायं। सर्बिया को समुद्र तट तक पहुंचने की सुविधा दी जाय। ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर बाल्कन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित किया जाय।

(१२) आटोमन साम्राज्य के तुर्क भागों को सुरक्षित प्रभुसत्ता दी जाय। तुर्क साम्राज्य में रहने वाली अन्य जातियों को भी स्वतन्त्र विकास के लिये पूर्ण-स्वतन्त्रता दी जाय। दर्रे दनियाल और बासफोरस जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय समभौते के अनुसार सब देशों के जहाजों और व्यापार के लिये खोल दिये जायं।

(१३) पोल लोगों द्वारा बसे असंदिग्ध पोल प्रदेशों से स्वतन्त्र पोलैण्ड का निर्माण किया जाय तथा इस राज्य को समुद्र तक पहुंचने का स्वतन्त्र एवं सुरक्षित मार्ग दिया जाय।

(१४) निश्चित समभौते के अनुसार सभी राष्ट्रों का एक सामान्य संगठन स्थापित किया जाय, इसका उद्देश्य बिना किसी भेदभाव के सभी छोटे-बड़े राज्यों को प्रादेशिक अखण्डता और राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का अवसर देना हो।[1]

---

1. "(1) Open Covenants of Peace, openly arrived at;

इन चौदह सूत्रों पर भाषण करते हुए निष्कर्ष रूप से विल्सन ने कहा—"जिस कार्यक्रम को मैंने प्रस्तुत किया है उसमें एक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से निहित है। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को चाहे वह सबल हो या दुर्बल, समान रूप से न्याय मिलना चाहिये और स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा की समान शर्तों पर उन्हें जीवित रहने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये।"

विल्सन ने अपनी उपरोक्त शर्तों को सर्वप्रथम जर्मनी सरकार के समक्ष व्यक्तिगत रूप से प्रस्तुत किया। अमेरिकन कांग्रेस के द्वारा इन शर्तों को स्वीकार कर लेने के पश्चात् इन्हें मित्रराष्ट्रों की सरकारों के पास भेज दिया गया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने इन शर्तों को निम्नलिखित दो संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया—

---

(2) Freedom of the Seas;

(3) Free International Trade;

(4) Reduction of National Armaments to the lowest point consistent with national safety;

(5) A just colonial policy;

(6) Evacuation of Russian territory and leaving Russia free to determine her political development;

(7) Evacuation and restoration of Belgium without attempting to limit her sovereignty;

(8) Evacuation of invaded French territory and cession of Alsacehorraine to France;

(9) Readjustment of the frontiers of Italy along clearly recognizable lines of nationality;

(10) Autonomous development of the peoples of Austria-Hungary;

(11) Evacuation and restoration of Rumania, Serbia and Monte-negro, Serbia being accorded free access to the sea.

(12) Autonomous development for the nationalities in the Turkish Empire, the Turkish provinces being assured a secure sovereignty;

(13) An independent Poland with a free and secure access to the sea;

(14) A general association of nations under specific covenants affording guarantee to all states."

—*S. N. Dhar :* International Relations and World Politics since 1919, Pages 3-4

(i) पहले संशोधन के अनुसार उन्होंने सामूहिक स्वतन्त्रता के विषय में अपने को पूर्णतः स्वतंत्र रखा।

(ii) दूसरा संशोधन सातवीं और आठवीं शर्तों के विषय में था जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता को और उसकी सम्पत्ति को जर्मन आक्रमण द्वारा पहुंची क्षति के लिये हरजाना देगा। यह संशोधन वस्तुतः बड़ा महत्वपूर्ण था।

चार सिद्धान्त (The Four Principles):—११ फरवरी १९१८ को अमेरिकन कांग्रेस के समक्ष दिये गये अपने एक भाषण में अपनी १४ सूत्री योजना को स्पष्ट करते हुए विलसन ने शांति-समझौते के आधारभूत चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

(१) अन्तिम समझौते का प्रत्येक अंश न्याय पर आधारित किया जाए ताकि शान्ति स्थाई रह सके।

(२) राष्ट्र और प्रांतों को एक प्रभुसत्ता से दूसरी प्रभुसत्ता को खेल के मोहरों की भांति नहीं बदला जा सकता।

(३) इस युद्ध से संलग्न प्रत्येक प्रादेशिक निर्णय उससे सम्बन्धित जनता के हित और लाभ के लिये होना चाहिये, केवल दूसरे देशों के दावों को पूरा करने के लिये नहीं।

(४) सभी सुस्पष्ट राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं की अधिकतम पूर्ति व सन्तुष्टि होनी चाहिये ताकि यूरोप और विश्व की शांति में स्थायित्व आ सके।

अपने इसी भाषण में विलसन ने यह भी कहा कि "अब किसी प्रदेश को किसी दूसरे राज्य में शामिल नहीं किया जायगा और किसी से क्षतिपूर्ति के लिये हरजाना नहीं लिया जायगा।"

चार लक्ष्य (The Four Aims):—४ जुलाई १९१८ को विलसन ने माउण्ट बर्नन के भाषण में शान्ति-समझौते के चार लक्ष्य घोषित किये—

(१) ऐसी प्रत्येक निरंकुश शक्ति को विनष्ट करना जो अकेले-अकेले अपनी मरजी से विश्व की शांति भंग करने की क्षमता रखती हो, और यदि वह शक्ति पूर्णतः विनष्ट न की जा सके तो कम से कम उसे इतना दुर्बल अवश्य बना दिया जाय कि वह लगभग अपंग बन जाए।

(२) प्रदेश, संप्रभुता, आर्थिक व्यवस्था अथवा राजनीतिक सम्बन्धों से सम्बद्ध हर प्रश्न का समाधान हितबद्ध जनता की स्वीकृति के आधार पर होना चाहिये न कि किसी राष्ट्र अथवा जाति के भौतिक हितों या लाभ के आधार पर जिन्हें वह अपने बाह्य प्रभाव अथवा स्वामित्व के कायम रखने के लिए चाहता हो।

(३) राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य कानून (Common Law) के प्रति आदर के उन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित होने चाहिये जो किसी भी सभ्य समाज में नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। अतः प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि वह सभी प्रतिज्ञाओं और शर्तों को निभाये, किसी प्रकार के गुप्त षड्यंत्र की रचना न करे, निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी पर आघात न करे और प्रत्येक के अधिकार की स्वीकृति के आधार पर पारस्परिक विश्वास की स्थापना करे।

(४) शांति के लिये एक ऐसे संगठन की स्थापना की जाए जो प्रत्येक आक्रमण का निराकरण कर सकने में सक्षम हो।

पांच व्याख्यायें (Five Interpretations):—२७ सितम्बर १९१८ को न्यूयार्क में विल्सन ने अपने एक भाषण में विश्व में शांति स्थापित करने के विषय में अपनी सरकार के कर्तव्यों के सम्बन्ध में पांच व्याख्याओं की घोषणा की—

(१) शांति-व्यवस्था के लिये बिना किसी भेदभाव के निष्पक्ष न्याय का व्यवहार होना चाहिये, अधिकारों की समानता में पक्षपात नहीं होना चाहिये और न ही किसी स्तर का ध्यान रखा जाना चाहिये।

(२) किसी एक राष्ट्र या देश के विशेष हित को किसी समझौते का आधार तब तक नहीं बनाया जा सकता जब तक कि यह हित अन्य सब लोगों के सामान्य हित के अनुकूल न हो।

(३) राष्ट्रसंघ के भीतर कोई संघ-मैत्री या विशेष प्रसंविदा या समझौता नहीं होना चाहिये।

(४) राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कोई स्वार्थपूर्ण आर्थिक मेल नहीं होना चाहिये। राष्ट्रसंघ केवल वही आर्थिक दण्ड लगा सकता है जिससे आर्थिक क्षेत्र में अनुशासन और नियंत्रण रहे।

(५) सम्पूर्ण विश्व को सभी अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों तथा संधियों से अनुगत होना चाहिये।

विल्सन के ...भाषणों में सन्निहित उपरोक्त सिद्धान्तों का सार स्पष्टतः यही है कि शांति-व्यवस्था oir करते हुए लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता, आत्मनिर्णय तथा राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का reig पालन किया जाना चाहिये। विल्सन का यह निश्चित मत था कि शान्ति ent के लिए सबसे महान् संकट स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन है। यदि soc निरंकुश शासन की जगह जनता द्वारा नियंत्रित ...त्मक शासन-व्यवस्था ing की सर्वत्र स्थापना कर दी जाए और बड़े राज्यों के आक्रमणों से छोटे Dhai राज्यों की रक्षार्थ राष्ट्रसंघ का निर्माण हो जाए विश्व में स्थाई शान्ति की ics प्रस्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

५ अक्टूबर १६१८ को जर्मनों ने विल्सन से उसके १४ सूत्रों और ६ बाद के सिद्धांतों के आधार पर उन्हें शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना की। ८ अक्टूबर को विल्सन ने जर्मनी से तीन प्रश्नों का उत्तर चाहा—(i) क्या जर्मनी ने १४ सूत्रों को स्वयं ही संधि का आधार माना है ? (ii) क्या जर्मनी अपनी फौजों को तुरन्त ही विदेशी भूमि से हटा लेगा ? (iii) क्या जर्मन सरकार यह विश्वास दिला सकती है कि वर्तमान तथा भावी जर्मन शासन वास्तविक लोकतन्त्रात्मक आधार पर बनेगा ? १२ अक्टूबर को जर्मनों ने इन सभी प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर दिया। १४ अक्टूबर को विल्सन ने जर्मन सरकार को यह लिखा कि प्रथम तो कोई ऐसा युद्ध-विराम समझौता नहीं हो सकता जिससे कि मित्र राष्ट्रों की संयुक्त सेना को वर्तमान सैनिक आधिपत्य की स्थापना की पूर्ण संतोषप्रद सुरक्षा न मिले; और द्वितीय, पनडुब्बी युद्ध अविलम्ब बन्द किया जाए। यह भी कहा गया कि "जर्मनी में एक प्रजातन्त्र सरकार की स्थापना की जाएगी।" २० अक्टूबर को जर्मनी द्वारा ये सभी शर्तें स्वीकार कर ली गईं। तत्पश्चात् मित्रराष्ट्रों का समर्थन प्राप्त किया गया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने दो संशोधनों के साथ, जिनका उल्लेख विल्सन के १४ सूत्री कार्यक्रम के सन्दर्भ में किया जा चुका है, विल्सन के प्रस्तावों को मान लिया और तब ११ नवम्बर को युद्ध-विराम समझौता सम्पन्न हो गया।

विल्सन के विश्व-शान्ति के कार्यक्रम की आलोचना (Criticism of Wilson's Programme of World Peace):—विल्सन ने जिन शर्तों अथवा सूत्रों को प्रस्तुत किया उनके आधार पर वास्तविक शांति-संधि का सम्पन्न किया जाना कठिन था। **प्रथम,** प्रस्तावित संकेतों में अधिकांश अस्पष्ट एवं आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी थे, अतः अपने पूर्णरूप में उनकी पूर्ति की जाना संभव नहीं था। **दूसरे,** ये संकेत अथवा सूत्र अधिकांशतः प्रचार (Propaganda) की दृष्टि से प्रतिपादित किये गये थे। **तीसरे,** प्रस्तावों की प्रभावकारिता अधिकांशतः युद्ध के लूट के माल, कूटनीतिक कुशलता और राज्यों के नेतृत्व पर निर्भर करती थी। **चौथे,** युद्धकाल में की गयी गुप्त-संधियां विल्सन के प्रस्तावों के विरोध में पड़ती थीं। अतः अनेक राज्यों के लिए यह कठिन था कि वे विल्सन के प्रस्तावों से पूर्णतः सहमत हो जायं और अपने निजी हितों का खयाल छोड़ दें।

फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि विल्सन के कार्यक्रम ने शांति-समझौते को निश्चित रूप से प्रभावित किया। **प्रथमतः,** विल्सन राष्ट्रसंघ नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए विशेषरूप से आतुर था। वह अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में कानून के शासन (The

Rule of Law) की स्थापना द्वारा अन्तिम शांति-समझौते की कमियों को सुधारने की संभावना में विश्वास करता था। उसके प्रस्तावों का अनुसरण करते हुए ही राष्ट्रसंघ का निर्माण किया गया, भले ही यह बात अवश्य हुई कि राष्ट्रसंघ ने आशानुरूप सफलता-पूर्वक कार्य नहीं किया। दूसरे, विल्सन की योजना के आधार पर ही विश्व निःशस्त्रीकरण (World-disarmament) के लिए सर्वोच्च प्रयास किये गये, यद्यपि इन प्रयत्नों की वास्तविक सफलता संदिग्ध ही रही। तीसरे, सार (Saar), राइनलैण्ड (Rhineland), डेंजिग (Danzing), आदि के बारे में पहली बार आत्मनिर्णय (Self-determination) का सिद्धांत समुचित रूप से लागू किया गया। पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया आदि नये राज्यों के निर्माण में तथा अल्पसंख्यकों (Minorities) के विषय में सम्पन्न की गयी संधियों तक में आत्मनिर्णय का सिद्धान्त प्रयुक्त किया गया। चौथे, मित्रराष्ट्रों का लड़ाकू-व्यवहार विल्सन के उदारवादी सिद्धान्तों के कारण ही विनम्र बनाया जा सका। जापान की विदेश-नीति के मामले में भी विल्सन के उदारवाद ने सफलता अर्जित की।

(२) गुप्त-संधियां और वचन (Secret Treaties and Promises):— विल्सन के पूर्व-चर्चित सिद्धान्तों के अतिरिक्त पेरिस की शांति-व्यवस्था का दूसरा बड़ा आधार मित्रराष्ट्रों द्वारा की गयी वे सन्धियां और प्रतिज्ञाएं थीं जो उन्होंने युद्धकाल में परस्पर एक दूसरे से की थीं। न्यायपूर्ण शान्ति चाहने वाले कूटनीतिज्ञ राष्ट्रीय-परम्परा से सिक्त थे। पामर एण्ड परकिन्स (Palmer and Perkins) के अनुसार पेरिस में सम्मिलित ये कूटनीतिज्ञ **"अपने पारस्परिक प्रणों से जिनके बिना विजय संभव न थी, अपने युद्ध-उद्देश्यों के निश्चयपूर्ण कथनों से, अपनी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं के उत्साह से, नीतियों के अपने पवित्र विश्वास से, रूसी क्रांति की विक्षुब्धकारी उलझनों से एवं अन्य असंख्य नियंत्रणकारी तथा बाधक प्रभावों से परिचित अथवा भिज्ञ (Aware) थे। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वचनों और तथ्यों के संयोग 'पेरिस की शान्ति' का पूर्व निश्चय कर सके थे।"**[1]

---

1. They were aware "of their pledges to each other. without which there might have been no victory; of their solemn statements of war-aims; of their own encouragement of national aspirations; of the ancient grudges smouldering within Europe; of the sacred trust of their government's national policies; of the disturbing implications of the Russian Revolution and of countless other restraining

जर्मनी ने जब विलसन से विराम-संधि की प्रार्थना की तो उसने (विलसन ने) यह घोषणा की कि वह अपने भाषणों में प्रतिपादित सिद्धान्तों और प्रमुखतः चौदह शर्तों के आधार पर सन्धि-वार्ता करने को तैयार है। किन्तु मित्रराष्ट्रों द्वारा तटस्थ राज्यों को अपने साथ करने के लिए अथवा रूस जैसे निरुत्साही देश को उकसाने के लिए अथवा शत्रु के साम्राज्य में विद्रोह भड़काने के लिए की गयी गुप्त-सन्धियों में जो प्रतिज्ञाएं परस्पर की थीं वे ऐसी चट्टान प्रस्तुत करती थीं जिनसे विलसन के आदर्शवाद के जहाज का टकराकर चूर हो जाना सुनिश्चित था। मित्रराष्ट्र अपनी गुप्त-सन्धियों के कारण विलसन के चौदह–सूत्री कार्यक्रम एवं अन्य सिद्धान्तों से बन्धना नहीं चाहते थे। लेकिन विलसन ने उन्हें यह धमकी दी कि यदि वे अपनी हठ पर कायम रहे तो अमेरिका न केवल जर्मनी के साथ एक पृथक सन्धि कर लेगा बल्कि उन्हें (मित्रराष्ट्रों को) आर्थिक सहायता देना भी बन्द कर देगा। अब मित्रराष्ट्रों को विवश होकर बेमन से विलसन की चौदह शर्तों को पूर्ववर्णित संशोधनों के साथ सन्धि-चर्चा का आधार स्वीकार करना पड़ा। फिर भी इन गुप्त-सन्धियों का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं रहा। अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी शान्ति समझौते में इन सन्धियों को स्थान दिया गया। जब कभी इन सन्धियों और विलसन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त में संघर्ष की स्थिति पैदा हुई तो इन सन्धियों को मान्यता मिली और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का बलिदान कर दिया गया। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इन संधियों की कार्यान्विति सदैव पराजित राष्ट्रों की कीमत पर हुई। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि संयुक्त राज्य अमेरिका इन गुप्त-संधियों में सम्मिलित नहीं था और इसलिए इनसे बन्धा हुआ भी नहीं था।

शांति-समझौते पर जिन गुप्त-संधियों ने अपनी छाप छोड़ी उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) **लंदन पैक्ट (२६ अप्रैल, १९१५)**:—यह संधि इटली तथा ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के मध्य हुई थी। इसका उद्देश्य इटली को प्रलोभन देकर उसे मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित करना था। इस संधि के द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने इटली को यह वचन दिया कि आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के बदले युद्ध के बाद उसे ये प्रदेश दिये जायंगे—ट्रेन्टिनो (Trentino), दक्षिणी ट्रिरोल (Southern

---

limiting influences. It is not too much to say that the combination of the commitments and hard facts pre-determined the Peace of Paris."

—*Palmer and Perkins* : International Relations, Page 458

Tryrol), ट्रीस्ट (Trieste), उत्तरी डालमेशिया (Northern Dalmatia), डालमेशियन टापू (Dalmatian Islands), वेलोना (Valona), और रोड्स टापू (Rhodes Islands)। इसी संधि के द्वारा इटली को यह भी आश्वासन दिया गया कि यदि युद्ध के उपरान्त टर्की का विभाजन हुआ तो उसे भी कुछ रियायतें दी जायंगी और यदि ब्रिटेन तथा फ्रान्स ने जर्मनी की कीमत पर अपने साम्राज्यों का विस्तार किया तो उसे भी उस लूट में से कुछ हिस्सा दिया जायेगा। इटली को यह भी आश्वासन मिला कि पोप से झगड़ा होने पर उसे मित्रराष्ट्रों से सहायता मिलेगी। इस संधि द्वारा इस्ट्रिया और डालमेशिया का शेष भाग युगोस्लाविया को देना निश्चित हुआ। यह उल्लेखनीय है कि जब थोड़े दिन बाद इस संधि का भण्डा फूट गया तो युगोस्लाविया में भारी असंतोष पैदा हुआ। समूचे डालमेशिया में स्लाव जाति के लोग रहते थे, अतः उसके एक बड़े भाग का इटली को दिया जाना युगोस्लाविया कभी पसन्द नहीं कर सकता था। युद्ध के बाद विल्सन ने इस सन्धि की व्यवस्था को मानने से इन्कार कर दिया।

(२) **कुस्तुनतुनिया की सन्धि (१८ मार्च, १९१५)**:—युद्ध के अन्त में टर्की साम्राज्य का परस्पर रूस, फ्रान्स और इंगलैण्ड में विभाजन के लिए १८ मार्च १९१५ को एक गुप्त समझौता हुआ। इसमें यह व्यवस्था की गयी कि कुस्तुनतुनिया और एशिया माइनर का एक भाग रूस को दे दिया जायेगा, फारस और मेसोपोटामिया को ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्रों की मान्यता दी जायेगी तथा रूस, फ्रांस की इन राइन नदी के पश्चिम तक की गयी प्रादेशिक मांगों का समर्थन करेगा।

(३) **रूमानिया से सन्धि (अगस्त, १९१६)**:—रूमानिया ने मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल होने के पुरस्कार स्वरूप बुकोविना (Bukovina) और ट्रान्सिलवेनिया (Transylvania) के प्रदेश मांगे। मित्रराष्ट्रों ने एक गुप्त समझौते द्वारा उसे ये प्रदेश देना स्वीकार किया।

(४) **साइक्स-पिको समझौता (१६ मई, १९१६)**—इस दिन इंगलैण्ड के सर मार्क साइक्स (Sir Mark Sykes) और फ्रांस के जार्ज पिको (Georges Picot) के मध्य एक गोपनीय संधि हुई जिसे बाद में रूस की सरकार ने भी मान लिया। इसके अनुसार ओटोमन साम्राज्य का बहुत सा भाग फ्रांस और इंगलैंड में बंट गया। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इस शर्त पर अरब को स्वतन्त्र राज्य माना कि उन्हें उसके विभिन्न भागों में विशेष अधिकार प्राप्त रहें। इस संधि के अन्तर्गत फ्रांस को पूरा सीरिया, लेबनान, मोसल विलेयत (The Mosul Vilayet) और सिलीसिया (Cilicia) एशिया माइनर में प्राप्त हुए। ब्रिटेन को ईराक का बचा हुआ भाग, फिली-

स्तीन का हाइफा एकेर (The Haifa–Acre district of Palestine) तथा वर्तमान ट्रान्सजोर्डन राज्य (The present State of Transjordan) मिला।

(५) **इटली के साथ संधि (१६ अप्रेल, १६१७)**—जब इटली को साइक्स–पिको गुप्त समझौते का पता चला तो उसने भी टर्की साम्राज्य के विभाजन में अपना हिस्सा चाहा। फलस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने इटली के साथ सेण्ट जीन डी मोरिने (St. Jean De Maurcinne) की गुप्त संधि की। इस संधि के द्वारा समर्ना (Smyrna) का जिला इटली को दिया जाना निश्चित हुआ। बाद में मित्रराष्ट्रों ने इस जिले को यूनान को देने का निश्चय किया।

(६) **ग्रेट ब्रिटेन और जापान की संधि (फरवरी, १६१७)**—जापान और ब्रिटेन के मध्य हुई इस गुप्त संधि में जापान द्वारा ग्रेट–ब्रिटेन को समुद्री बेड़े की सहायता इस शर्त पर दी गई कि ब्रिटेन बदले में शाण्टुंग (Shantung) में जर्मन अधिकारों और प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित जर्मन टापुओं पर, जिनको जापानियों ने अपने अधिकार में कर लिया था, जापानी दावों का समर्थन करे।

(७) **फ्रांस और रूस का समझौता (मार्च, १६१७)**—इस समझौते के अनुसार रूस ने फ्रांस के अल्सेस–लोरेन, सारघाटी तथा राइन प्रदेश के दावों में सहायता देने का वचन दिया और फ्रांस ने भी रूस के प्रादेशिक दावों को (जर्मनी और आस्ट्रिया के साम्राज्यों के कुछ प्रदेश) प्राप्त करवाने का वचन दिया।

इस तरह स्पष्ट है कि उपरोक्त विभिन्न गुप्त संधियों द्वारा विभिन्न राज्यों ने एक दूसरे को ऐसे आश्वासन दिये कि जिनके अनुसार अन्तिम समझौते के समय एक दूसरे की साम्राज्य लिप्सा को तृप्त होने में सहायता देना था। इन गुप्त संधियों में विभिन्न राष्ट्रीय स्वार्थ प्रतिबिम्बित हुए थे, अतः शांति–समझौता इनसे किसी भी रूप में अप्रभावित नहीं रह सकता था।

(३) **रूस की बोलशेविक क्रांति (Bolshevic Revolution in Russia)**—युद्ध काल में ही सन् १६१७ में रूस में महान् बोलशेविक क्रांति हुई और युद्ध के बाद पेरिस में आयोजित शांति सम्मेलन के प्रत्येक निर्णय पर इस क्रांति का भूत छाया रहा। पूंजीवादी दर्शन, मूल्यों और संस्थाओं के लिए रूस की यह नवीन व्यवस्था एक गम्भीरतम चुनौती थी जिसकी अवहेलना कर सकना पेरिस के शांति-निर्माताओं के लिए सम्भव न था। २२ मार्च, १६१६ को कर्नल हाउस ने अपनी डायरी में लिखा था, "बोलशेविज्म सभी जगह शक्ति प्राप्त कर रहा है। हंगरी का अभी पतन हो चुका है। हम बारूद के खले

ढेर पर बैठे हुए हैं जिसे एक ही चिनगारी उड़ा सकती है।" पेरिस सम्मेलन में किये गये विचार-विमर्शों पर रूसी क्रांति की चुनौती का कितना प्रभाव अंकित रहा, इसे व्यक्त करते हुए अमेरिकन प्रतिनिधि मंडल के एक सदस्य रे स्टेनार्ड बेकर (Ray Stannard Baker) ने लिखा है—"हर समय, बातचीत के हर मोड़ पर अव्यवस्था का एक भूत उठ खड़ा होता था, ऐसा लगता था जैसे पूर्व से एक काला बादल उठकर सम्पूर्ण संसार पर आच्छादित हो रहा हो और उसे निगल जाने की धमकी दे रहा हो।"

पेरिस के शांति सम्मेलन पर रूसी क्रांति का विभिन्न रूपी प्रभाव पड़ा जो संक्षेप में इस प्रकार है—

(i) क्रांति के फलस्वरूप रूस शांति-सम्मेलन में प्रविष्ट नहीं हुआ और विजित प्रदेशों के बंटवारे में उसको उसके हिस्से से वंचित कर दिया गया।

(ii) क्रांति के फलस्वरूप रूसी साम्राज्य में से कुछ नवीन राज्यों की रचना सम्भव हुई और रूमानियां की सीमाओं का विस्तार किया जा सका।

(iii) रूसी क्रांति ने जर्मनी के प्रति मित्रराष्ट्रों के दृष्टिकोण में एक परिवर्तन किया। पेरिस के शांति निर्माता यह सोचने के लिए विवश हो गये कि ऐसा कोई काम न किया जाए अथवा जर्मनी को कुचलने की इतनी चेष्टा न की जाये कि वह बोल्शेविज्म को अपनाने के लिए लालायित होने लगे। लॉयड जार्ज ने स्पष्ट रूप से कहा कि **"यदि जर्मनी में समाजवादी व्यवस्था कायम हो गई तो सम्पूर्ण यूरोप बोल्शेविक प्रभाव में चला जाएगा और जर्मन जनरलों व हथियारों से संयुक्त लाल सेना यूरोप पर एक नये आक्रमण का सूत्रपात कर देगी।"**[1] क्रांति ने मित्रराष्ट्रों में यह भावना पैदा की कि जर्मनी को एक ओर तो इतना दुर्बल बना दिया जाये कि वह भविष्य में उनका गम्भीर प्रतिन्दी न बन सके, परन्तु साथ ही दूसरी ओर उसके प्रति इतना बुरा व्यवहार भी न किया जाय कि वह साम्यवादी बनकर उनके लिये फिर से सिरदर्द बन बैठे। वे यह जानते थे कि केवल जर्मनी ही क्रांतिकारी रूस के प्रभाव और विस्तार को रोक सकता था।

---

1. "Within one year of Germany's embracing communism the currents of Bolshevic Revolution would traverse the whole of Europe and the Red Army well equipped with German generals and German Weapons would begin a fresh attack upon Europe."

—*Lloyd George*

(iv) क्रांति से आतंकित पेरिस सम्मेलन के शांति-निर्माताओं ने यह निश्चय किया कि क्रांति का दमन करने के लिये उन्हें प्रत्येक सम्भव तरीका अपनाना चाहिये। अपने इस निश्चय के अनुरूप उन्होंने रूस के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति का समारम्भ किया। रूस की नाकेबन्दी की गई। यह नाकेबन्दी इतनी कठोर की गई कि उसे डाक्टरी एवं रेडक्रास सम्बन्धी मानवीय सहायता से भी वंचित कर दिया गया।

(v) क्रांति से आतंकित शांति के कर्णधार श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये प्रयत्नशील हुए, परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की स्थापना हुई।

(४) **राष्ट्रीयता का प्रश्न (Question of Nationalism)**—युद्ध के उपरान्त राष्ट्रीयता का प्रश्न विशेष गम्भीरता लेकर प्रस्तुत हुआ। चार-विशाल साम्राज्यों के पतन, रूस में बोल्शेविक क्रांति, विल्सन के आत्म-निर्णय के सिद्धांत आदि ने राष्ट्रीयता के प्रश्न को एक नया मोड़ दिया और हर कहीं साम्राज्यों की दासता में जकड़े हुये लोग अपने स्वयं के राष्ट्रीय राज्यों की मांग करने लगे। युद्ध काल में स्वयं मित्रराष्ट्रों ने पराधीन देशों को अपने उत्पीड़कों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊंचा करने के लिये भड़काया था। उदाहरणार्थ अंग्रेजों ने अरब राष्ट्रों को टर्की के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये बड़ा प्रोत्साहन दिया था। अतः राष्ट्रीय भावना के उदय ने पेरिस-सम्मेलन के निर्णयों को निश्चित रूप से प्रभावित किया। सम्मेलन में यह प्रश्न उठा कि जिन चार साम्राज्यों का पराभव हो चुका है उनकी कब्र पर नवीन राज्यों की रचना किस प्रकार की जाय। सम्मेलन ने अपनी सुविधा के अनुसार राष्ट्रीयता के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की। **प्रथमतः** आत्मनिर्णय के सिद्धांत के आधार पर टर्की, रूस और आस्ट्रिया तथा हंगरी के साम्राज्यों में से पोलैंड, चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, एस्टोनिया (Estonia), लिथुआनिया (Lithuania), लेटविया (Latvia) आदि के नवीन राज्यों की स्थापना हुई। **द्वितीय**, जहां आत्मनिर्णय का सिद्धांत लागू नहीं किया जा सका, वहां इन नये राज्यों में अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा के लिये पृथक प्रबन्ध किये गये। **तृतीय**, अनेक मामलों में राष्ट्रीयता की मांगों तथा मित्रराष्ट्रों द्वारा सम्पन्न की गई गुप्त संधियों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना असम्भव पाया गया, परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्रों में इस बात से आक्रोश और नाराजगी व्याप्त हो गयी। **चतुर्थ**, चूंकि मित्रराष्ट्रों ने कुछ मामलों में राष्ट्रीयता के उदय को पहले से ही मान्यता दे दी थी, अतः इस पूर्वस्थापित तथ्य से पेरिस सम्मेलन को सहमत होना पड़ा।

(५) **राज्यों के राष्ट्रीय स्वार्थ (National Interests of States)**—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली—इन 'चार बड़ी' (Big Four) शक्तियों पर शांति-सन्धि की शर्तों का प्रारूप बनाने का उत्तरदायित्व डाला गया था। इन शक्तियों के अपने-अपने राष्ट्रीय स्वार्थ थे जिन्होंने शांति की शर्तों को प्रमुख रूप से प्रभावित किया। संयुक्त राज्य अमेरिका के कोई प्रादेशिक हित (Territorial Interests) नहीं थे। उसके मुख्य उद्देश्य ये थे—(१) ब्रिटिश नाविक-शक्ति को कमजोर करके यूरोप की राजनीति में अपनी श्रेष्ठता का विस्तार करना, (२) सर्वत्र आर्थिक लाभ अथवा रियायतें प्राप्त करना, (३) चीन में जापानी विस्तार-वाद पर रोक लगाना, और (४) अपनी नयी शक्ति (New Strength) के अनुपात में 'विश्व-पूंजीवाद का नेतृत्व पद' (A position of leadership of world capitalism) प्राप्त करना तथा यूरोप का पंच (Arbiter) बन जाना। चूंकि उस समय फ्रांस और ब्रिटेन की शक्ति के समक्ष अमेरिका का 'विश्व-नेतृत्व' का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सका, अतः अमेरिका ने वर्साय की सन्धि और राष्ट्र संघ का भागीदार होने से इन्कार कर दिया। इसके स्थान पर उसने पृथकत्व (Isolation) की नीति अपनायी और इस नीति के नाम में अप्रत्यक्ष रूप से वित्तीय और कूटनीतिक सामरिक तैयारियों को दृढ़ करने की नीति का अनुसरण किया। पेरिस-सम्मेलन में अमेरिका द्वारा भाग लेना पूर्णतः निष्फल नहीं गया। वह मध्य-पूर्व के कुछ संरक्षण क्षेत्रों में 'खुले-द्वार' (Open door) की नीति को स्वीकार करने के लिए ब्रिटेन एवं फ्रांस को विवश करने में सफल हुआ। जापान जितना प्राप्त करना चाहता था उसे रोकने में तथा जापान की जातीय समानता की मांग का विरोध करने में भी अमेरिका को आंशिक सफलता मिली। जापान की जातीय समानता की मांग का विरोध इसलिए किया गया ताकि जापानियों के संयुक्त राज्य अमेरिका में परदेशवास (Emigration) को मान्यता न मिल सके। अमेरिका ने यूरोपीय राष्ट्रों से मुनरो सिद्धान्त (The Monroe Doctrine) मनवाने में भी सफलता पायी। उसने ऋणदायक राष्ट्र के रूप में यूरोप में अनेक आर्थिक आयोगों में अपनी सदस्यता रखी।

ब्रिटेन के स्वार्थ अधिक स्पष्ट थे। उसके विषय में "जल से घिरे होने की स्थिति, औद्योगीकरण, शक्ति-संतुलन के विचार के बन्धन, विशाल साम्राज्य के स्वामित्व, खाद्य-पदार्थों के लिए वाह्य साधनों पर निर्भरता एवं अतिरिक्त पूंजी की उपस्थिति" ने पेरिस के शांति-सम्मेलन में उसके स्वार्थों और उसकी नीतियों का निर्धारण किया। पेरिस-सम्मेलन में ग्रेट-ब्रिटेन के प्रमुख स्वार्थ

क्षेत्र से जर्मनी को दूर करना, (२) जर्मनी के पक्ष में उदार व्यवहार अपनाकर साम्यवादी प्रभाव से जर्मनी की रक्षा करना, (३) अपनी नाविक शक्ति को निर्बाध बनाये रखना, (४) अफ्रीका, मध्यपूर्व तथा प्रशान्त महासागर के विजित क्षेत्रों को छीनकर अपने साम्राज्य में मिलाना एवं (५) संयुक्त राज्य अमेरिका, जिसकी नौ-सेना के कार्यक्रम से ब्रिटिश नाराज थे, के विरुद्ध संतुलनकारी शक्ति के रूप में जापान का समर्थन करना। ब्रिटेन के युद्ध सम्बन्धी उद्देश्य बहुत कुछ पूर्ण हो गये। जर्मनी की नाविक शक्ति नष्ट कर दी गई, जर्मनी के उपनिवेशों तथा व्यापारिक जहाजों को उसे (ब्रिटेन को) सौंप दिया गया और जर्मनी की औद्योगिक क्षमता को क्षत-विक्षत कर दिया गया। ब्रिटिश साम्राज्य में १,६०७,०५३ वर्गमील भूमि तथा ३५,०००,००० मनुष्यों का विस्तार हुआ। लार्ड रिडेल (Lord Riddell) के शब्दों में "हमने जितनी चीजें प्राप्त करने की योजना बनायी थी, उतनी प्राप्त कर ली हैं।"

फ्रांस के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—(१) यूरोप में फ्रांस की श्रेष्ठता स्थापित करना, (२) जर्मनी को हर प्रकार से कमजोर रखना, (३) राइन नदी के बायें किनारे तक फ्रेन्च साम्राज्य का विस्तार करना, (४) यूरोप के कोयले, लोहे और इस्पात के क्षेत्रों, जैसे अल्सेस-लोरेन, सार, रूर (Ruhr) आदि पर पुनः कब्जा करना, और (५) जर्मनी तथा आस्ट्रिया के एकीकरण (Unification) के किसी भी प्रयत्न का प्रतिरोध करना। यद्यपि फ्रान्स को अल्सेस-लोरेन तथा सार का कोयला क्षेत्र प्राप्त हो गया, परन्तु अपनी सीमा को राइन नदी के बायें तट (The left bank of the Rhine) तक आगे बढ़ाने की उसकी चेष्टा को ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के कठोर विरोध का सामना करना पड़ता, जिन्होंने इसके बदले में फ्रान्स के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा (The National Security) की गारंटी दी। जर्मनी को कमजोर रखने की इसकी मांग स्वीकार कर ली गयी।

अन्त में, इटली के राष्ट्रीय स्वार्थ ये थे—(१) इटालियनों से आबाद सीमा क्षेत्रों को प्राप्त करना, (२) सर्बिया के विरुद्ध इटली की सुरक्षा के लिए आश्वासन प्राप्त करना, (३) एड्रियाटिक (Adriatic) पर अपने प्रभाव का विस्तार करना, एवं (४) अपने औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार करना। इटली की अधिकांश मांगों को सम्मेलन में स्वीकार नहीं किया गया, किन्तु उसकी उत्तरी सीमा का ब्रेनर दर्रे (The Brenner Pass) तक विस्तार कर दिया गया। कुल मिलाकर इटली असन्तुष्ट ही रहा। फ्यूम (Fiume) पर उसका दावा भी स्वीकार नहीं किया गया।

(६) ब्रेस्ट–लिटोवस्क की सन्धि (The Peace of Brest Litovsk)—रूस को पराजित कर लेने के बाद जर्मनी और उसके साथियों ने ३ मार्च, १९१८ को उस पर ब्रेस्ट–लिटोवस्क की अपमानजनक सन्धि थोप दी। इस सन्धि का शांति–सम्मेलन पर काफी प्रभाव पड़ा। स्वयं विल्सन भी इससे अप्रभावित न रह सका। इस सन्धि ने यह प्रकट कर दिया कि जर्मनी पराजित देश के साथ कैसा व्यवहार कर सकता है। इस सन्धि में जर्मनी द्वारा पराजित शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार की दया का प्रदर्शन नहीं किया गया। यह सन्धि कब्जा करने की ऐसी नंगी और अमानवीय नीति पर आधारित थी, जो अपने धराशायी शत्रु के लिए लेशमात्र भी कोमलता नहीं जानती। इसने महायुद्ध को समाप्त करने वाले देशों में शान्तिवादियों के हृदयों में भी प्रतिरोधक भावना पैदा कर दी। विल्सन जैसे महान् शान्तिवादी एवं उदार-हृदय व्यक्ति ने भी १६ अप्रैल १९१८ को अपने एक भाषण में स्पष्टतः कह डाला कि यद्यपि मैं एक न्याययुक्त शान्ति चाहता हूं किन्तु शान्ति के लिए एक हल रूस में जर्मन-सेनापतियों ने स्वयं प्रस्तुत किया है और मैं उस हल का अर्थ अच्छी तरह समझता हूं। अपने इसी भाषण में उसने कहा—**"जर्मनी ने एक बार फिर कहा है कि शक्ति, केवल शक्ति ही इस बात का निर्णय करेगी कि मानव-जीवन के संचालन में शान्ति एवं न्याय का राज्य कायम होगा कि नहीं। अतः हमारी तरफ से भी इसका केवल एक ही प्रत्युत्तर शक्ति है, अपनी चरम सीमा तक शक्ति, सीमारहित शक्ति।"**[1] एक ब्रिटिश स्मृति-पत्र का यह कहना सही ही था कि यथार्थ में ब्रेस्ट लिटोवस्क सन्धि ने १४ शर्तों को बातचीत का आधार बनाये जाने की उपयोगिता से वंचित कर दिया। "विल्सन की घोषणाएं ब्रेस्ट लिटोवस्क सन्धि के पहले के निश्चित दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति थीं", अतः उन्हें शांति-स्थापना की शर्तों के पूर्ण कथन के रूप में नहीं माना जा सकता था।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विल्सन की घोषणाओं, गुप्त सन्धियों, राष्ट्रीयता की भावनाओं, राष्ट्रीय स्वार्थों, रूसी बोल्शेविक क्रान्ति, ब्रेस्ट–लिटोवस्क सन्धि एवं अन्यान्य छोटी–मोटी समस्याओं ने पेरिस-सम्मेलन के सिद्धान्तों, विचार-विमर्शों और कार्यों को प्रभावित किया।

---

1. "Germany has once more said that force. and force alone, shall decide whether Justice and Peace shall reign in the affairs of men....There is therefore. but one response from us. Force to the utmost, Force without stint on limit"
—*Wilson*

शान्ति समझौते की विभिन्न सन्धियां

यह पहले बताया जा चुका है कि शान्ति की शर्तें पांच सन्धियों में रखी गयी जिनके नाम इस प्रकार हैं—वर्साय की सन्धि, आस्ट्रिया के साथ सेण्ट जर्मेन की सन्धि, बल्गेरिया के साथ न्यूइली की सन्धि, हंगरी के साथ ट्रियनो की सन्धि और टर्की के साथ सेव्र की सन्धि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जर्मनी के साथ सन्धि ही शांति-सम्मेलन की सबसे महत्वपूर्ण सफलता थी।

अब हम उपरोक्त पांचों सन्धियों पर विस्तार से पृथक-पृथक रूप में प्रकाश डालेंगे।

वर्साय की संधि, २८ जून १९१९
(The Treaty of Versailles)

वर्साय की सन्धि का प्रारूप और उस पर हस्ताक्षर (Drafting and Signing of the Treaty of Versailles)—पेरिस शांति-सम्मेलन में वर्साय की सन्धि का प्रारूप (Draft) तैयार करते समय कुछ मामलों पर विशेष कठिनाइयां उठ खड़ी हुईं; उदाहरणार्थ—(१) राष्ट्र संघ के अनुबन्ध पत्र (The Covenant of the League of Nations) की सही व्याख्या (२) फ्रांस की सुरक्षा की समस्या एवं राइन नदी के बायें किनारे का प्रश्न, (३) इटली और पोलैण्ड के क्षेत्रीय दावे, (४) पराजित राष्ट्रों के अधीनस्थ भू-भागों एवं उपनिवेशों का भविष्य, (५) जर्मनी से क्षति-पूर्ति का प्रश्न आदि।

उपरोक्त समस्याओं पर कभी गोपनीय रूप से और कभी खुली बैठकों में लगभग चार महीने तक लम्बा वाद-विवाद चलता रहा और तब ६ मई १९१९ को सन्धि का अन्तिम मसविदा या प्रारूप बनकर तैयार हुआ। २३० पृष्ठों में छपा यह सन्धि-पत्र १५ भागों में विभाजित था जिसमें ४३९ धाराएं और ८०,००० शब्द थे। इस सन्धि-पत्र में जर्मनी के साथ की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन का तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय का संविधान था और इनसे सम्बन्धित नाना व्यवस्थाएं थीं। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल जर्मनी की विजय की मुख्य व्यवस्थाओं का ही उल्लेख करेंगे।

संधि की शर्तों का प्रारूप ७ मई को जर्मन प्रतिनिधियों को सौंप दिया गया। यह जर्मन प्रतिनिधि मण्डल विदेश मन्त्री वॉन ब्रोकडोर्फ-रान्जाओ (Von Brockdorff-Rantzau) के नेतृत्व में ३० अप्रैल को वर्साय पहुंच चुका था। इन प्रतिनिधियों को 'ट्रायनन पेलेस होटल' में ठहराया गया था। होटल को कांटेदार तारों से घेर दिया गया था और जर्मन प्रतिनिधियों को यह निर्देश दे दिया गया था कि वे मित्रराष्ट्रों के किसी भी प्रतिनिधि अथवा

किसी पत्रकार से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखें। उन्हें निर्धारित स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र जाने की भी अनुमति नहीं थी, और सबसे बढ़कर बात तो यह थी कि पेरिस की दुकानों पर जब वे सामान खरीदने जाते थे तो उन्हें फ्रांस की जनता अपमान भरे शब्द सुनाती थी।

जब ट्रायनन पेलेस में क्लेमेन्सों जर्मन प्रतिनिधि–मण्डल के नेता विदेश मन्त्री ब्रोकडोर्फ–रान्जाओ के समक्ष संधि–पत्र प्रस्तुत करने के लिए पहुंचा तो मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को सलामी दी गई, किन्तु जर्मन प्रतिनिधियों को नहीं। जर्मन प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए क्लेमेन्सों ने कहा—"आपके सामने उन छोटे–बड़े सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधि मौजद हैं जिन्हें यह युद्ध मिलकर लड़ना पड़ा है जो उन पर लाद दिया गया था। अब समय आ गया है कि हम लोग अपना हिसाब–किताब ठीक करलें। आप लोगों ने शांति की मांग की है और हम लोग शांति प्रदान करने के लिये बिल्कुल तैयार हैं।" सन्धि के प्रारूप को तैयार देखकर जर्मन प्रतिनिधियों को बड़ी निराशा हुई क्योंकि वे इस विश्वास के साथ विशेषज्ञों को लेकर आये थे कि मित्रराष्ट्रों के साथ आमने–सामने की वार्तालाप के बाद ही सन्धि की शर्तें तय होंगी।

जर्मन प्रतिनिधियों से कहा गया कि वे तीन सप्ताह के भीतर संधि–प्रस्तावों पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें, इस विषय में कोई मौखिक वार्तालाप नहीं होगी। संधि की शर्तों ने जर्मनी को विह्वल कर दिया। सम्पूर्ण जर्मन-जनता ने एक स्वर से इसे अपना अपमान समझा। जर्मन गणतन्त्र के राष्ट्रपति ने शर्तों को असह्य, घातक एवं पूर्ति के अयोग्य बताया। इस पर लॉयड जार्ज ने सिंह–गर्जना करते हुए कहा—"**जर्मन लोग कहते हैं कि वे सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी के राजनीतिज्ञ भी यही बात कहते हैं। लेकिन हम लोग कहते हैं—महानुभावों! आपको इस पर हस्ताक्षर करना ही है। अगर आप वर्साय में ऐसा नहीं करते हैं तो आपको बर्लिन में करना ही होगा।**"[1]

अन्त में २६ मई को जर्मन प्रतिनिधियों के संधि–प्रस्तावों की आलोचना मित्रराष्ट्रों को प्राप्त हुई। जर्मनी का विरोधी प्रस्ताव लगभग ६०,००० शब्दों का था। जर्मनी की प्रमुख शिकायत यह थी कि उसने जिन शर्तों पर आत्म-समर्पण किया था, प्रस्तावित सन्धि उन शर्तों के अनुरूप नहीं

---

1. "The Germans say they will not sign. Their news-papers say the same. The politicians say the same. We say they will not sign. We say, gentlemen you must sign. If you don't do so in Versaiilis, you shall do so in Barlin."
—*Llyod George*

थी। निःशस्त्रीकरण की शर्तें न केवल जर्मनी पर बल्कि समस्त राज्यों पर लागू की जानी चाहिये। जर्मनी के प्रस्ताव में संधि-पत्र की उस धारा २३१ को निकालने की बात कही गई थी जिसके अनुसार युद्ध शुरू कराने का एकमात्र उत्तरदायित्व जर्मनी पर डाला गया था।

जर्मनी के विरोध-प्रस्ताव पर मित्र-राष्ट्रों की विशेषज्ञ समितियों ने विचार करने के उपरान्त केवल कुछ छोटे-मोटे संशोधन स्वीकार किये, जैसे-अपर साइलीशिया को पोलैण्ड को सीधा सौंप देने के बजाय जनमत संग्रह करना, पोलैण्ड के पश्चिमी सीमान्त तथा पूर्वी प्रशिया के रास्तों के सम्बन्ध में कुछ संशोधन करना, जर्मन सेना को घटाने की दर में कमी करना आदि। जर्मनी पर युद्ध शुरू करने का उत्तरदायित्व डालने वाली धारा २३१ को निकालना अमान्य ठहरा दिया गया। जर्मनी से इस संशोधित सन्धि पर पांच दिन के भीतर हस्ताक्षर कर देने को कहा गया, अन्यथा पुनः युद्ध छेड़ने की धमकी दी गई। सम्पूर्ण जर्मनी में रोष का वातावरण छा गया। तत्कालीन शिडेमान सरकार ने सन्धि को अस्वीकार करते हुए त्याग-पत्र दे दिया। अन्त में, नव-गठित सरकार ने, जिसमें गुस्टावबौर प्रधान मन्त्री तथा मूलर विदेश मन्त्री था, सन्धि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। जर्मन प्रतिनिधि जब अन्तिम बार हस्ताक्षर करने वर्साय आये तो उन्हें फिर वन्दियों की भांति रखा गया। मित्र राष्ट्रों ने यह निश्चय किया कि जर्मनी के साथ सन्धि पर हस्ताक्षर पेरिस के समीप वर्साय के राजप्रासाद के उसी शीशमहल (Hall of Mirrors) में हों, जहां फ्रांस को हराने के बाद १८७१ में प्रशिया के राजा को जर्मन सम्राट घोषित किया गया था। इस तरह मित्र राष्ट्रों ने चाहा कि जर्मन साम्राज्य की जन्म-भूमि में ही उसका अन्त्येष्टि संस्कार धूमधाम से किया जाय। २८ जून, १९१९ को क्रुद्ध फ्रेंच भीड़ द्वारा फेंके गये पत्थरों और गालियों की बौछार सहते हुए जर्मन प्रतिनिधि पेरिस से वर्साय पहुंचे। जिस समय वे कैदियों की भांति शीशमहल में लाये गये, उस समय "मूलर (H. Mueller) बिल्कुल पीला और घबराया हुआ था, किन्तु बेल (Johannes-bell) बिल्कुल शांत और तना हुआ था। सर्वप्रथम इन दोनों ने हस्ताक्षर किये और इनके बाद वर्णानुक्रम से अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने।" क्लेमेन्सो के आग्रह पर ठीक ३ बजे दोपहर में सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। इस प्रकार वर्साय की सन्धि के अन्तिम दृश्य पर पटाक्षेप हुआ। हस्ताक्षर करने के बाद जर्मन प्रतिनिधि ने कहा—"**हमारे प्रति फैलाई गई उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्म-समर्पण कर रहा है; किन्तु वह यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण संधि है।**" दूसरे दिन जर्मनी के एक समाचार-पत्र में 'कहीं हम भूल न जायें' शीर्षक से

प्रकाशित एक लेख में ये उद्गार प्रकट किये गये—"संसार के राष्ट्रों की मण्डली में जर्मनी अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा और तब १६१६ का बदला।" वास्तव में इन शब्दों में द्वितीय महायुद्ध के बीज विद्यमान थे।

वर्साय की सन्धि की प्रमुख व्यवस्थाएं (Main Provisions of the Treaty of Versailles)—वर्साय की सन्धि की मुख्य व्यवस्थाओं का उल्लेख निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

प्रादेशिक व्यवस्थायें (Territorial Arrangements)—इस संधि की प्रधान प्रादेशिक व्यवस्थाएं ये थीं—

(i) जर्मनी को अलसेस-लोरेन के प्रदेश फ्रांस को वापिस करने पड़े।

(ii) बेल्जियम और लक्जमबर्ग (Luxemberg) की तटस्थता (The State of Neutrality) की समाप्ति की घोषणा की गई और उनकी भावी राजनीतिक स्थिति (Future Political Status) पर राष्ट्र संघ द्वारा पुनर्विचार की व्यवस्था की गई।

(iii) मार्सनेट (Marsnet), यूपेन (Eupen) तथा मालमेडी (Malmady) नामक जर्मन प्रदेश बेल्जियम को जर्मन आक्रमण से हुई क्षति की एवज में दिये गये।

(iv) उत्तरी जर्मनी का श्लेसविग (Schleswig) नामक प्रदेश एक जनमत संग्रह (Plebiscite) के पश्चात् डेन्मार्क को दे दिया गया। इस जनमत संग्रह पर टिप्पणी करते हुए जर्मन विदेश मंत्री ने कहा—"यह जनमत संग्रह सिवाय एक प्रहसन के और कुछ न था........चालीस हजार जर्मन पक्ष वाले व्यक्ति जर्मनी से उनकी इच्छा के विरुद्ध छीन लिए गए।" दक्षिणी श्लेसविग ने जर्मनी के साथ रहने का ही निश्चय किया।

(v) सार (Saar) के औद्योगिक प्रदेश पर राजनीतिक सर्वोच्च सत्ता जर्मनी की ही मानी गई, पर उसकी ओर से इसका शासन प्रबन्ध राष्ट्रसंघ के एक आयोग को सौंपा गया, सार प्रदेश की खानों पर स्वामित्व फ्रांस का ही रखा गया क्योंकि १६१८ में जर्मनी ने फ्रांस की कोयला-खानों का जानबूझ कर विध्वंस किया था। यह व्यवस्था पन्द्रह वर्ष के लिये की गई। इसके बाद एक जनमत संग्रह में सारवासियों को यह निर्णय करना था कि वे फ्रांस के शासन में रहना चाहते हैं या जर्मनी के शासन में या राष्ट्रसंघ के शासन में। यदि सारवासी जर्मनी के साथ संयुक्त होने की इच्छा प्रकट करें तो जर्मनी फ्रांस को निश्चित मूल्य देकर सार की खानों को पुनः खरीद ले। इस मूल्य का निर्धारण एक फ्रेंच, एक जर्मन तथा राष्ट्रसंघ के एक विशेषज्ञ द्वारा होना था। यह उल्लेखनीय है कि जनवरी १६३५ में

हुए जनमत संग्रह में ९० प्रतिशत सारवासियों ने जर्मनी से मिलने की इच्छा प्रकट की और फ्रांस को खानों के मूल्य के रूप में ९,००० लाख फ्रांक प्राप्त हुए।

(vi) पूर्व में जर्मनी को पोल लोगों द्वारा आवासित पश्चिमी प्रशिया (Western Prussia), पोजन (Posen) तथा साइलीशिया (Silesia) के कुछ भाग पोलैंड को देने पड़े। इससे पोलैंड को बाल्टिक समुद्र तक एक गलियारा (Corridor) मिल गया और इसप्रकार पूर्वी प्रशिया शेष जर्मनी से अलग हो गया। जर्मन आबादी वाला डैन्जिग (Danzig) का जर्मन नगर जर्मनी से छीनकर राष्ट्रसंघ के संरक्षण में एक स्वतन्त्र नगर (Free city) बना दिया गया जिसमें डैन्जिग बन्दरगाह के चारों ओर का ७०० वर्गमील का प्रदेश आ गया। एक संधि द्वारा उसे पोलैंड के साथ एक चुंगी संघ (Custom Union) में सम्मिलित कर दिया गया तथा पोलैंड को उसके विदेशी सम्बन्धों का संचालन करने का अधिकार दे दिया गया।

(vii) पूर्व में, जर्मनी ने मेमल (Memal) बन्दरगाह और उसकी पार्श्वभूमि (Hinterland) प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों (Principal Allied and Associated Powers) को इसलिए सौंप दिये कि ये भाग लिथुआनिया को हस्तान्तरित कर दिये जायें।

(viii) पश्चिमी प्रशिया के एलेन्सटाइन (Allenstein), मेरियनवर्डर (Merienwerder) तथा साइलीशिया में जनमत-संग्रह की व्यवस्था की गयी। पहले दो स्थानों में जनता ने जर्मनी के साथ रहने के पक्ष में मत दिया, किन्तु जिन थोड़े से गांवों ने पोलैंड के पक्ष में बहुमत दिया उन्हें पोलैंड को हस्तान्तरित कर दिया। अपर साइलीशिया में जनमत लेना अगले वर्ष के लिये स्थगित कर दिया गया। अतः दोनों पक्षों में बड़ी दुर्भावना फैली और गम्भीर हिंसात्मक उपद्रव भी हुए। अपर साइलीशिया का विशेष महत्व इस बात से था कि उसमें कोयले और लोहे की प्रचुरता थी तथा घनी आबादी वाला औद्योगिक क्षेत्र भी उसमें शामिल था। इस भाग का निर्णय अन्तिम समय तक विवादास्पद बना रहा। मित्र राष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद ने यह मामला राष्ट्र-संघ परिषद में भेज दिया जिसने गति-रोध की आशंका से ऐसा मध्य मार्ग अपनाया जो ब्रिटिश-इटालियन नीति को ही अमली रूप दिलाने का एक सतर्कतापूर्ण प्रयास था। इस पक्षपात पूर्ण निर्णय ने सम्पूर्ण जर्मन जनता को विक्षुब्ध कर दिया और राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक वर्षों में ही वह राष्ट्रसंघ में अपनी आस्था खो बैठी।

(ix) सुरक्षा की दृष्टि से फ्रांस की मांग थी कि जर्मनी की पश्चिमी सीमा राइन नदी होनी चाहिए और इस नदी के बायें तट पर अल्सेस से

हॉलैंड के मध्य दस हजार वर्गमील का एक स्वतन्त्र तटस्थ राज्य बनाया जाना चाहिये। १९१७ में रूस के साथ हुए एक गुप्त समझौते के अनुसार फ्रांस ने यह भी तय किया था कि जर्मनी द्वारा संधि की शर्तें पूरी होने तक यह प्रदेश फ्रेंच सेनाओं के अधिकार में रहे। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोध के फलस्वरूप फ्रांस को राइन के पश्चिमी तट पर स्वतन्त्र राज्य का आग्रह छोड़ना पड़ा। इसके बदले में यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी द्वारा संधि की शर्तें पूरी कराने हेतु इस प्रदेश में १५ वर्षों तक मित्रराष्ट्रों की सेना रहे एवं राइन नदी के बायें तट का तथा ५० किलोमीटर तक दायें तट का स्थायी रूप से निःशस्त्रीकरण कर दिया जाय जिसमें किसी प्रकार की कोई किलेबन्दी न हो सके।

(५) जर्मनी के उपनिवेश ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीकन संघ, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और जापान को मैंडेट (Mandate) के रूप में बांट दिये गये। मैंडेट प्रणाली का आशय यह था कि जो देश बहुत पिछड़े हुये हैं उनका समुचित कल्याण और विकास करना सभ्य देशों का पवित्र कर्त्तव्य है, अतः विभिन्न उपनिवेशों का शासन पवित्र धरोहर के रूप में राष्ट्रसंघ की ओर से इसलिए दिया जाना चाहिए कि वे इनकी उन्नति के प्रयत्न करें एवं इनकी वार्षिक उन्नति व प्रगति की रिपोर्ट राष्ट्रसंघ को भेजें। इस व्यवस्था के अनुसार जर्मन पूर्वी अफ्रीका (German East Africa) ग्रेट ब्रिटेन के शासन में आया; जर्मन दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका (German South-West Africa) दक्षिण अफ्रीकन संघ (The Union of South Africa) को प्राप्त हुआ; टोगोलैंड तथा कैमरून (Togoland and Cameroons) का विभाजन फ्रांस और इङ्गलैंड ने किया; प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के दक्षिण के टापू आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड को मिले, तथा भूमध्य रेखा के उत्तर के टापू और शाण्टुंग में जर्मन अधिकार जापान को प्राप्त हुए। शाण्टुंग के प्रश्न पर शांति-सम्मेलन में बड़ा संघर्ष हुआ। १८९७ ई० में जर्मनी को चीन के शाण्टुंग के प्रान्त में दो जर्मन-मिशनरियों की हत्या का समाचार मिला। अतः उसने इस प्रान्त में कियाओचो (Kiaochow) में जर्मन-बेड़ा भेज दिया और मार्च १८९८ में चीन को एक ऐसी संधि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार चीन का कियाओचो-खाड़ी के समुद्र तट पर २०० वर्गमील का प्रदेश ९९ वर्ष के पट्टे पर जर्मनी को दिया गया। इस प्रदेश में जर्मनी को कुछ सैनिक और आर्थिक विशेषाधिकार भी प्रदान किये गये और प्रशान्त-महासागर में यह जर्मनी का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण

द्वारा मित्रराष्ट्रों ने शाण्टुंग प्रदेश तथा प्रशान्त में भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित जर्मन टापू जापान को देने का निश्चय किया। प्रथम महायुद्ध में चीन की सरकार ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की थी। अतः युद्धोत्तर शांति-सम्मेलन में एक ओर चीन ने शाण्टुंग तथा कियाओचो के चीनी प्रदेश वापिस मांगे तो दूसरी ओर गुप्त-संधि के आधार पर जापान ने भी इन प्रदेशों पर अपने स्वत्व का दावा किया। जापान का पक्ष प्रबल इसलिए भी हो गया क्योंकि वह युद्ध के दौरान इन प्रदेशों पर अधिकार कर चुका था। जापान ने शाण्टुंग पर उसका दावा न मानने की सूरत में राष्ट्रसंघ के बहिष्कार की धमकी भी दी। ब्रिटेन और फ्रांस ने १९१७ की गुप्त संधि के आधार पर जापान का पक्ष लिया। अन्ततः शाण्टुंग पर जापानी अधिकार मान लिया गया। फिर भी जापान ने अपने पास केवल जर्मनी वाले आर्थिक अधिकार ही रखते हुए इस प्रायद्वीप का राजनीतिक-प्रशासन चीन को देना स्वीकार कर लिया और १९२३ में अपने वचन का पालन भी किया।

(xi) दक्षिण में, जर्मनों ने एक छोटा सा भूभाग नवगठित चेकोस्लोवाकिया राज्य को सौंप दिया। इसके साथ ही यह प्रतिबन्ध भी लगा दिया गया कि राष्ट्रसंघ परिषद् (Council of the League) की सर्वसम्मत स्वीकृति (Unanimous Consent) के बिना वह आस्ट्रिया के साथ संघ नहीं बना सकेगा। जर्मनी ने आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता स्वीकार की और यह वचन दिया कि वह उसका सदैव आदर करेगा।

वर्साय की संधि के प्रादेशिक अथवा क्षेत्रिक उपबन्धों के परिणामस्वरूप जर्मनी को यूरोप में २५,००० वर्गमील से भी अधिक भूमि और लगभग ७० लाख नागरिकों से हाथ धोना पड़ा। लगभग ६५ प्रतिशत कच्चे लोहे, ४५ प्रतिशत कोयले, ७२ प्रतिशत जस्ते, ५७ प्रतिशत रांगे के बहुमूल्य कच्चे सामान की क्षति हुई। जर्मनी के सारे उपनिवेश, जिनमें १३,०००,००० व्यक्ति और ६,०००,००० वर्गमील भूमि थी, प्रमुख मित्र और संयुक्त राष्ट्रों को सौंप दिये गये और आगे चलकर संरक्षणात्मक क्षेत्र के रूप में उन्हीं को अर्पित कर दिये गये।

(२) **सैनिक व्यवस्थाएं (Military Provisions)**:—वर्साय की संधि के द्वारा जर्मनी को निःशस्त्र करने और सैनिक दृष्टि से पंगु बनाने के लिए जर्मनी की जल, स्थल और वायुसेना पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये—

(i) जर्मनी अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) को समाप्त कर देगा और ३१ मार्च १९२० के बाद से कम से कम १२ वर्ष के लिए जर्मन राज्य की स्थल सेना १ लाख से अधिक नहीं होगी। यह भी व्यवस्था की गयी

कि अफसरों को कम से कम २५ वर्ष तक और साधारण सैनिकों को १२ वर्ष तक सेना में रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था इसलिए की गयी ताकि अधिक व्यक्ति सैनिक-शिक्षा न ले सकें। एक साल में सारी फौज के ५ प्रतिशत से अधिक को घटाने पर रोक लगा दी गई।

(ii) जर्मन प्रधान सैनिक कार्यालय उठा दिया गया और अस्त्र-शस्त्र, गोला बारूद तथा अन्य युद्ध सामग्रियों का उत्पादन सीमित कर दिया गया। सभी टैंकों, लोहे की सैनिक कारों तथा फौजी हवाई जहाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वायुसेना से सम्बन्धित समस्त सामग्री नष्ट कर देने की व्यवस्था दी गई।

(iii) जर्मन नौसेना को कठोरतापूर्वक सीमित कर दिया गया। यह व्यवस्था दी गयी कि जर्मनी की नौसेना में दस हजार टन के ६ युद्धपोतों, ६ क्रूजरों, १२ विध्वंसक पोतों और १२ टारपीडो नौकाओं से अधिक कुछ नहीं होगा। जर्मनी को पनडुब्बियाँ रखने का पूर्ण निषेध कर दिया गया और उसके पास विद्यमान सभी पनडुब्बियाँ मित्रराष्ट्रों को सौंप देने या नष्ट करने की व्यवस्था की गयी। जर्मन जलसेना में १५ हजार से अधिक व्यक्ति नहीं हो सकते थे और वह न तो नये लड़ाकू जहाज प्राप्त कर सकता था और न ही इन्हें बना सकता था। इस संधि में हेलिगोलैण्ड (Heligoland) के बन्दरगाह की किलेबन्दी को नष्ट करने और उसे पुनः कभी न बनाने का आदेश दिया गया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि बाल्टिक तथा उत्तरी समुद्र के तट किलेबन्दी से सर्वथा मुक्त रहेंगे।

(iv) राइन नदी के बायें किनारे पर जर्मन प्रदेश में तथा दायें तट पर ५० किलोमीटर (३२ मील) के भीतर असैनिकीकरण कर दिया गया। इस प्रदेश में स्थायी या अस्थायी रूप से न कोई सेना ही रखी जा सकती थी और न किसी प्रकार की कोई किलेबन्दी ही हो सकती थी।

(v) जर्मनी निःशस्त्रीकरण के पर्यवेक्षण के लिए और सेना के प्रत्येक अंग पर नियन्त्रण रखने के लिए मित्रराष्ट्रीय आयोगों (Inter-Allied Commissions of Control) की व्यवस्था की गयी जो १६२५ तक कार्य करते रहे और तत्पश्चात् धीरे-धीरे भंग कर दिये गये। इन आयोगों की व्यवस्था जर्मनी के खर्च पर की गयी।

संक्षेप में यह कहना चाहिए कि सैनिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना देने में मित्रराष्ट्रों ने कोई भी कसर उठा नहीं रखी। ई०एच० कार (E.H. Carr) के शब्दों में "जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक और सम्पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण किया गया, उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। इसका उल्लेख लिखित रूप में प्राप्त आधुनिक इतिहास में नहीं

मिलता।"[1] जर्मनी जैसे देश के लिए यह एक घोर अपमान था, लेकिन परास्त जर्मनी के लिए यही बुद्धिमता थी कि वह आँख मीचकर वर्साय-संधि के कड़ुवे घूंट को चुपचाप पी जाय।

(३) **आर्थिक व्यवस्थाएं (Economic Provisions)**।—वर्साय की संधि का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना देना था। संधि में आर्थिक शर्तें सबसे अधिक विवादास्पद थीं और इन्होंने मित्रराष्ट्रों में कटु मतभेद उत्पन्न कर दिये। ५ नवम्बर १९१८ को मित्रराष्ट्रों ने विराम संधि से पूर्व ही जर्मनी से "मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता को और उनकी सम्पत्ति को जर्मनी की जल, स्थल और वायु सेनाओं के आक्रमणों से पहुंची हुई क्षति" का हरजाना देने की माँग की थी, किन्तु जब शांति-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो ब्रिटिश एवम् फ्रैन्च प्रतिनिधि यह आग्रह करने लगे कि जर्मनी से न केवल क्षति-पूर्ति, बल्कि युद्ध का सम्पूर्ण व्यय मांगा जाय क्योंकि युद्ध प्रारम्भ करने का पूर्ण उत्तरदायित्व केवल जर्मनी पर है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने ब्रिटेन और फ्रांस की इस मांग का कड़ा विरोध किया और इस बात पर बल दिया कि जर्मनी से केवल क्षति-पूर्ति की राशि ही वसूल की जाय। अन्ततः लायड जार्ज और क्लीमेन्सो को विल्सन से सहमत होना पड़ा। वर्साय-संधि की धारा २३१ में क्षति-पूर्ति के आधार को स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया गया—"क्योंकि यह युद्ध जर्मनी और उसके साथियों द्वारा प्रारम्भ किया गया; अतः जर्मनी यह स्वीकार करता है कि इससे होने वाली क्षति के लिए वह तथा उसके साथी देश उत्तरदायी हैं।"[2]

इस संधि के द्वारा जो महत्वपूर्ण आर्थिक व्यवस्थाएं की गईं वे निम्नानुसार थीं—

कि अफसरों को कम से कम २५ वर्ष तक और साधारण सैनिकों को १२ वर्ष तक सेना में रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था इसलिए की गयी ताकि अधिक व्यक्ति सैनिक-शिक्षा न ले सकें। एक साल में सारी फौज के ५ प्रतिशत से अधिक को घटाने पर रोक लगा दी गई।

(ii) जर्मन प्रधान सैनिक कार्यालय उठा दिया गया और अस्त्र-शस्त्र, गोला बारूद तथा अन्य युद्ध सामग्रियों का उत्पादन सीमित कर दिया गया। सभी टैंकों, लोहे की सैनिक कारों तथा फौजी हवाई जहाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वायुसेना से सम्बन्धित समस्त सामग्री नष्ट कर देने की व्यवस्था दी गई।

(iii) जर्मन नौसेना को कठोरतापूर्वक सीमित कर दिया गया। यह व्यवस्था दी गयी कि जर्मनी की नौसेना में दस हजार टन के ६ युद्धपोतों, ६ क्रूजरों, १२ विध्वंसक पोतों और १२ टारपीडो नौकाओं से अधिक कुछ नहीं होगा। जर्मनी को पनडुब्बियाँ रखने का पूर्ण निषेध कर दिया गया और उसके पास विद्यमान सभी पनडुब्बियाँ मित्रराष्ट्रों को सौंप देने या नष्ट करने की व्यवस्था की गयी। जर्मन जलसेना में १५ हजार से अधिक व्यक्ति नहीं हो सकते थे और वह न तो नये लड़ाकू जहाज प्राप्त कर सकता था और न ही इन्हें बना सकता था। इस संधि में हेलिगोलैण्ड (Heligoland) के बन्दरगाह की किलेबन्दी को नष्ट करने और उसे पुनः कभी न बनाने का आदेश दिया गया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि बाल्टिक तथा उत्तरी समुद्र के तट किलेबन्दी से सर्वथा मुक्त रहेंगे।

(iv) राइन नदी के बायें किनारे पर जर्मन प्रदेश में तथा दायें तट पर ५० किलोमीटर (३२ मील) के भीतर असैनिकीकरण कर दिया गया। इस प्रदेश में स्थायी या अस्थायी रूप से न कोई सेना ही रखी जा सकती थी और न किसी प्रकार की कोई किलेबन्दी ही हो सकती थी।

(v) जर्मनी निःशस्त्रीकरण के पर्यवेक्षण के लिए और सेना के प्रत्येक अंग पर नियन्त्रण रखने के लिए मित्रराष्ट्रीय आयोगों (Inter-Allied Commissions of Control) की व्यवस्था की गयी जो १९२५ तक कार्य करते रहे और तत्पश्चात् धीरे-धीरे भंग कर दिये गये। इन आयोगों की व्यवस्था जर्मनी के खर्च पर की गयी।

संक्षेप में यह कहना चाहिए कि सैनिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना देने में मित्रराष्ट्रों ने कोई भी कसर उठा नहीं रखी। ई०एच० कार (E.H. Carr) के शब्दों में "जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक और सम्पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण किया गया, उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। इसका उल्लेख लिखित रूप में प्राप्त आधुनिक इतिहास में नहीं

मिलता।"[1] जर्मनी जैसे देश के लिए यह एक घोर अपमान था, लेकिन परास्त जर्मनी के लिए यही बुद्धिमता थी कि वह आंख मीचकर वर्साय-संधि के कड़वे घूंट को चुपचाप पी जाय।

(२) आर्थिक व्यवस्थाएं (Economic Provisions)।—वर्साय की संधि का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना देना था। संधि में आर्थिक शर्तें सबसे अधिक विवादास्पद थीं और इन्होंने मित्रराष्ट्रों में कटु मतभेद उत्पन्न कर दिये। ५ नवम्बर १९१८ को मित्रराष्ट्रों ने विराम संधि से पूर्व ही जर्मनी से "मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता को और उनकी सम्पत्ति को जर्मनी की जल, स्थल और वायु सेनाओं के आक्रमणों से पहुंची हुई क्षति" का हरजाना देने की माँग की थी, किन्तु जब शांति-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो ब्रिटिश एवम् फ्रैन्च प्रतिनिधि यह आग्रह करने लगे कि जर्मनी से न केवल क्षति-पूर्ति, बल्कि युद्ध का सम्पूर्ण व्यय मांगा जाय क्योंकि युद्ध प्रारम्भ करने का पूर्ण उत्तरदायित्व केवल जर्मनी पर है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने ब्रिटेन और फ्रांस की इस मांग का कड़ा विरोध किया और इस बात पर बल दिया कि जर्मनी से केवल क्षति-पूर्ति की राशि ही वसूल की जाय। अन्ततः लायड जार्ज और क्लेमेन्सो को विल्सन से सहमत होना पड़ा। वर्साय-संधि की धारा २३१ में क्षति-पूर्ति के आधार को स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया गया—"क्योंकि यह युद्ध जर्मनी और उसके साथियों द्वारा प्रारम्भ किया गया; अतः जर्मनी यह स्वीकार करता है कि इससे होने वाली क्षति के लिए वह तथा उसके साथी देश उत्तरदायी हैं।"[2]

इस संधि के द्वारा जो महत्वपूर्ण आर्थिक व्यवस्थाएं की गईं वे निम्नानुसार थीं—

द्वारा चुकायी जाने वाली राशि की मात्रा और अदायगी का ढंग निश्चित करना था। इस आयोग में संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के प्रतिनिधि स्थायी रूप से सम्मिलित थे। जापान, बेल्जियम और युगोस्लाविया के देशों में से पांचवां प्रतिनिधि तब शामिल कर लिया जाता था जब कि आयोग इन देशों के दावों पर विचार कर रहा हो।

(ii) आयोग की सिफारिशों के आने तक अर्थात् १ मई १६२१ से पहले तक की अवधि के लिए यह निश्चित हुआ कि जर्मनी मित्रराष्ट्रों को सोना, जहाज, जमानत, माल आदि के रूप में ५ अरब डालर की धन-राशि प्रदान करेगा।

(iii) यदि आयोग ने इस आशय की मांग की तो जर्मनी को ५ वर्षों तक मित्र देशों के लिए २० लाख टन के जहाज प्रति वर्ष बनाने होंगे। जर्मनी द्वारा इस मांग की पूर्ति न करने पर आयोग को यह अधिकार होगा कि वह इच्छानुसार कार्यवाही करे।

(iv) मित्रराष्ट्रों के इस अधिकार को मान्यता दी गयी कि वे युद्धकाल में विनष्ट अथवा क्षतिग्रस्त व्यापारिक-जहाजों, नौकाओं आदि की पूर्ति जर्मनी से करे। अतः जर्मनी से कहा गया कि वह १६०० अथवा उससे अधिक टन के अपने सभी व्यापारिक जहाज मित्रराष्ट्रों को सौंप दे।

(v) यह व्यवस्था की गयी कि जर्मनी १० वर्षों तक निम्नांकित परिमाण में प्रति वर्ष कोयला देता रहेगा—फ्रांस को ७० लाख टन, बेल्जियम को ८० लाख टन और इटली को ७७ लाख टन। यदि आयोग आदेश दे तो कुछ कम मात्रा में लक्जमबर्ग को भी कोयला देना होगा।

(vi) जर्मनी पर यह भी भार डाला गया कि वह कोयले के अतिरिक्त मित्रराष्ट्रों को भारी परिमाण में कोलतार (Coal-tar), अमोनियम-सल्फेट, रंगाई का मसाला तथा रासायनिक पदार्थ देगा।

और न किसी प्रकार का ...नों के क्षतिग्रस्त अथवा विनष्ट क्षेत्रों के पुनर्निर्माण

(v) जर्मनी निःश...प्ति मात्रा में मशीनें, औजार और पत्थर, ईंट,

अंग पर नियन्त्रण रख...ना आदि सामग्री दी जाने की व्यवस्था की गयी।

Commissions of Cont...श्चित किया गया कि संधि लागू होने से ३ माह

करते रहे और तत्पश्चात् ६ फ्रांस और बेल्जियम को भारी संख्या में पशुधन

व्यवस्था जर्मनी के खर्च पर की ...आदि) देगा।

संक्षेप में यह कहना जर्मन उपनिवेशों में और मित्रराष्ट्रों में जो भी

बना देने में मित्र गैर-... ने को जर्मन पूंजी थी, वह जब्त कर ली गयी। मोरक्को,

Carr) के शब्दों में ...जर्मके विशेष व्यापारिक अधिकार समाप्त कर दिये

निःशस्त्रीकरण तक के लिये मित्रराष्ट्रों को जर्मनी से कुछ वस्तुओं के आयात

था। इसका पर विशेष सुविधाएं दी गयीं।

(ix) यह निश्चित किया गया कि जर्मनी अपने पनडुब्बी-बेतार के तार (Submarine telegraph cables) मित्रराष्ट्रों को सौंप देगा।

(x) स्विट्जरलैंड और चेकोस्लोवाकिया जैसे चारों ओर स्थल प्रदेश से घिरे हुये देशों को समुद्र तक पहुंचने की सुविधाएं देने के लिये एल्ब, ओडर, नीमन और डैन्यूब आदि नदियों को अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया गया। कील नहर (The Kiel Canal) को भी अन्तर्राष्ट्रीय बना कर सब देशों के जहाजों के लिये खोल दिया गया। चेकोस्लोवाकिया को हैम्बर्ग (Hamburg) तथा स्टैटिन (Stettin) बन्दरगाहों के उपयोग की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी। नवम्बर १९३६ में जर्मनी ने इन शर्तों सब को भंग कर दिया।

(xi) जर्मनी से कहा गया कि वह ५ सैंकड़े के हिसाब से वेल्जियम को सारे रुपये लौटा दे जितना कि वेल्जियम ने युद्ध काल में मित्रराष्ट्रों से ऋण लिया था। यह भी व्यवस्था की गयी कि जर्मनो मित्रराष्ट्रों की आवेशन-सैन्य (Army of Occupation) का व्यय-भार वहन करेगा।

(४) **कानूनी व्यवस्थाएं (Legal Provisions)**—इस संधि की धारा २३१ में जर्मनी को युद्ध आरम्भ करने का अपराधी माना गया। जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय को सार्वजनिक तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और संधियों की पवित्रता के विरुद्ध उच्च अपराध करने का दोषी ठहराया गया। मित्रराष्ट्रों, अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान ने मिलकर एक मित्रराष्ट्रीय सैनिक अदालत की नियुक्ति की। इस अदालत को विलियम द्वितीय के मुकदमे की जांच का भार दिया गया। किन्तु चूंकि नीदरलैंड (The Netherlands) ने उसे (विलियम को) समर्पित करना अस्वीकार कर दिया, तो उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सका। सैनिक न्यायालय ने अन्य १०० जर्मनों पर युद्ध के नियमों का उल्लंघन करने का अभियोग लगाया, किन्तु अन्त में केवल १२ पर ही जर्मन न्यायालयों में अभियोग चलाये गये। उनमें से कुछ को अपराधी करार दिया गया और उन्हें हल्की सजायें दी गईं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जो हिन्डनवर्ग (Hindenburg) १९२५ ई० में युद्ध-अपराधो रह चुका था, वह जर्मन गणतंत्र का राष्ट्रपति चुना गया और मित्रराष्ट्रों में से किसी ने इस निर्वाचन का विरोध नहीं किया। वस्तुत: जर्मन जनता ने कभी इस बात को स्वीकार नहीं किया कि युद्ध का वास्तविक उत्तरदायित्व जर्मन नेताओं पर था।

(५) **राजनीतिक व्यवस्थाएं (Political Provisions)**—वर्साय की संधि में राष्ट्रसंघ की स्थापना सम्बन्धी प्रावधान रखे गये जिन पर आगे चल

कर विचार किया गया है। रूस और जर्मनी के मध्य की गई ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि और साथ ही युद्ध के पहले की गई अन्य संधियां अमान्य ठहरा दी गईं। जर्मनी को कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को अपनी नई सीमाओं के भीतर बुला ले। इस संधि के द्वारा बेल्जियम, पोलैंड, यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता को मान्य ठहराया गया।

संधि की शर्तों को पूरा करने के लिये इसके १४ अध्याय में अनेक गारण्टियों (Guarantees) की व्यवस्था की गई। यह स्पष्ट किया गया कि संधि को कार्यान्वित करने के लिये राइन नदी के पश्चिम में स्थित जर्मन प्रदेश तथा उसके पुलों पर १५ वर्षों तक मित्रराष्ट्रीय सेना का आधीपित्य रहेगा। जर्मनी द्वारा संधि का ईमानदारी से पालन करने पर तीन अवस्थाओं (Stages) में इस मित्रराष्ट्रीय सेना को हटाने का उपबन्ध भी किया गया। यह कहा गया कि पांच वर्ष बाद कोलोन (Cologne) के क्षेत्र से और पुल से, दस वर्ष बाद कोब्लैन्स (Coblenz) के क्षेत्र से और पन्द्रह वर्ष बाद माइन्स (Mainz) प्रदेश से मित्रराष्ट्रीय सेनाएं हटा ली जायेंगी लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि जर्मनी द्वारा संधि की शर्तों का समुचित रूप से पालन न किये जाने पर मित्र-राष्ट्रीय सेना १५ वर्ष के बाद भी जर्मन प्रदेश में बनी रह सकती थी।

व्यवहार में, मित्रराष्ट्रीय सेनाएं बहुत पहले हटाली गईं और जून १९३० तक सेनाओं ने राइन प्रदेश खाली कर दिया।

(६) **अन्य शर्तें (Miscellaneous Provisions)**—वर्साय की संधि में और भी कुछ विशेष शर्तें रखी गईं। जर्मनी से कहा गया कि सन् १८७० के युद्ध में उसने फ्रान्स से जो ट्रॉफी, झण्डा और कलात्मक वस्तुएं प्राप्त की थीं वे उसे वापिस लौटा दी जायें। लोमिन विश्वविद्यालय के जो कागजात और हस्तलेख आदि युद्ध में नष्ट कर दिये गये थे, उनकी प्रति लौटायी जायें। इसी प्रकार यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी खलीफा ओथमन (The Caliph Othman) के मूल कुरान (Original Qoran) को, जिसे तुर्की अधिकारियों द्वारा मदीना (Medina) से हटाकर जर्मन सम्राट कैसर विलियम द्वितीय को भेंट किया गया था, हैजाज के बादशाह (The King of the Hejaz) को लौटा दे। जर्मनी को पूर्वी अफ्रीका के सुल्तान मक़ावा (Sultan Mkwawa) की खोपड़ी भी ब्रिटेन को लौटा देने के लिये कहा गया। जर्मनी ने यह वादा किया कि वह उन दो चित्रकारियों (Paintings) को बेल्जियम को लौटा देगा जो उस समय जर्मनी में थीं।

वर्साय की संधि का जर्मनी पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। लैंगसम (Langsam) के शब्दों में—"इससे यूरोप में जर्मन प्रदेश का

आठवां भाग और ७० लाख व्यक्ति कम हो गए, उसके सारे उपनिवेश, १५ प्रतिशत कृषियोग्य भूमि, १२ प्रतिशत पशु, १० प्रतिशत कारखाने छिन गए। उसके व्यापारी जहाज ५७ लाख टन से घट कर केवल ५ लाख टन रह गये, ब्रिटेन की नौसेना से स्पर्धा करने वाली उस की नौ-शक्ति बिल्कुल नष्ट कर दी गई और स्थल सेना की अधिकतम संख्या १ लाख निश्चित कर दी गई। उसे अपने कोयले के २/५ भाग से लोहे के २/३ भाग से जस्ते के ७/१० भाग से तथा आधे से अधिक सीसे से हाथ धोना पड़ा। उपनिवेशों के छिन जाने से उसे रबड़ एवं तेल की भारी कमी हो गई। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं ने उसके उद्योग-धन्धों और व्यापार को एकदम चौपट कर दिया। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चैक पर हस्ताक्षर कर दिये।"[1]

वर्साय की संधि की आलोचना (Criticism of the Versailles Treaty)—आधुनिक युग में विभिन्न राष्ट्रों द्वारा जिन विभिन्न मसविदों पर आज तक हस्ताक्षर किये गये हैं उनमें सर्वाधिक विवादास्पद मसविदों में से एक वर्साय की संधि है। यह संधि अनुचित कटु आलोचना और अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशंसा दोनों ही की पात्र रही है। तत्कालीन परिस्थिति ही ऐसी थी कि सिद्धान्त की दृष्टि से पूर्ण और निष्पक्ष किसी समझौते पर सर्वसम्मत मोहर लगनी असम्भव थी। यह संधि एक ऐसे समय सम्पन्न हुई थी जबकि मित्रराष्ट्रों की क्षति चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी और जर्मन अत्याचारों के घाव बिल्कुल ताजे ही थे। यही नहीं, जर्मनी स्वयं 'ब्रेस्ट लिटोवस्क' की संधि (१९१८) द्वारा यह उदाहरण पेश कर चुका था कि विजेता को पराजित के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। इस संधि के समय जीत की खुशी में मदहोश जर्मनी ने पराजित रूसियों के साथ बड़ा ही दुर्दशापूर्ण और घोर अपमानजनक व्यवहार किया था। अतः यह अस्वाभाविक न था कि जर्मनी को किसी प्रकार की सुविधा की चर्चा का नैतिक अधिकार देने की बात सोचने मात्र तक की चिन्ता विजेता मित्रराष्ट्रों को सताती। इस के अतिरिक्त संधि-पालन के प्रति ईमानदारी बरतने की सम्भावनाओं को भी जर्मनी पहले ही नष्ट कर चुका था। जर्मनी ने संधि की दो धाराओं को संधि से पहले ही तोड़ दिया था—प्रथम तो १८७० में पकड़े गये फ्रेंच बेड़े को 'स्केमाफ्लो' में डुबो दिया और द्वितीय बर्लिन में फ्रेडरिक महान् की मूर्ति के समक्ष फ्रेंच राष्ट्रध्वज को जला डाला। इन सभी परिस्थितियों में और आक्रोश एवं अविश्वास के ऐसे वातावरण में यह आशा करना व्यर्थ था कि मित्रराष्ट्र अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के उद्देश्य से संधि

1. *Dr. Langsam*—World Since 1919, Page 29.

की शर्तों और संधि-उल्लंघन की रोक-थाम पर कड़ी निगरानी के विषय में उदार बनते। सम्भवत: इसीलिये ब्रिटिश संसद में प्रधान मंत्री लॉयड जॉर्ज ने संधि के बारे में अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा था—

"प्रस्तावित संधि को जर्मनी के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं कहा जा सकता। इस संधि पर केवल वही अन्याय का आरोप लगा सकता है जो जर्मनी के युद्ध-कार्यों को भी न्याय-संगत ही समझता हो। कुछ विषयों में शर्तें अवश्य भयानक जचती हैं, पर भीषण कुकृत्य स्वयं ही इस भयानकता का समाधान भी करते हैं। यदि जर्मनी कहीं जीत जाता तो इससे भी अधिक भयावह परिणामों का हमें सामना करना पड़ता।"

संधि की भौगोलिक धाराओं की चर्चा करते हुये लॉयड जॉर्ज ने कहा कि अलसस-लोरेन, श्लेसविग तथा पोलैण्ड को लेना अधिकारी को सौंपना मात्र है। संधि की अतिरिक्त धाराओं के बारे में उसने घोषणा की कि "जर्मन उपनिवेशों के आदि निवासी की शासन सम्बन्धी सही शिकायतों को सुनने के बाद भी पुन: उन उपनिवेशों को जर्मनी को ही सौंप देना एक आधारभूत कृतघ्नता ही कही जाती।" गैथोर्नहार्डी (Gathorne Hardy) ने तो संधि की प्रशंसा में यहां तक कह दिया है कि "ऐसे आदर्श स्वरूप की शांति-संधि आज तक कभी नहीं की गई।"[1] किन्तु प्रशंसकों के विपरीत आलोचकों की दृष्टि में वर्साय की संधि एक अत्यन्त अन्यायपूर्ण और कलुषित दस्तावेज (A Tainted Document) है जिसमें मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को विनष्ट करने का वैसा ही बर्बर प्रयास किया जैसा प्राचीन काल में रोम ने कार्थेज के साथ अमानुषिक व्यवहार किया था। संधि पर प्रहार करते हुये फिलिप स्नोडेन (Philip Snowden) ने कहा है—

"इस संधि को लुटेरों, साम्राज्यवादियों तथा सैन्यवादियों को सन्तुष्ट करना चाहिये। इसने उन लोगों की आशाओं पर तुषारापात कर दिया जो यह आशा करते थे कि युद्ध का अन्त शान्ति का संदेश लायेगा। यह एक शान्ति-संधि नहीं है वरन् दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह जनतन्त्र तथा युद्ध में वीर गती पाने वालों के साथ विश्वासघात है। संधि मित्रराष्ट्रों के वास्तविक उद्देश्यों का पर्दाफाश करती है।"[2]

वर्साय की सन्धि अन्यायपूर्ण थी क्योंकि इसके प्रस्तावक स्वयं हृदय से निष्पक्ष और ईमानदार नहीं थे। श्री नेहरू के शब्दों में, "मित्रराष्ट्र घृणा

---

1. *Gathorne Hardy*: A Short History of International Affairs, 1920-1939, Page 14.
2. Quoted from 'Glimpses of World History' by *J. L. Nehru*, Page 684.

और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे और वे 'मांस का पौन्ड, (Pound of Flesh) ही नहीं चाहते थे बल्कि जर्मनी के अर्द्धमृत (Prostrate) शरीर से खून की आखिरी बूंद तक ले लेना चाहते थे।"[1] वास्तव में यह संधि इतनी त्रुटिपूर्ण थी कि इसके जन्मदाता और हस्ताक्षरकर्त्ता भी इससे असन्तुष्ट थे। दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मन्त्री जनरल स्मट्स (General Smuts) ने कहा था—"मैंने संधि पर हस्ताक्षर किये हैं, इसलिये नहीं, कि मैं इसे एक सन्तोषजनक आलेख मानता हूं, वरन् इसलिये कि यह युद्ध बंद करने के लिये आवश्यक है।" उसका मत था कि इस संधि द्वारा की गई व्यवस्थाओं में भविष्य में संशोधन की आवश्यकता पड़ेगी। स्वयं राष्ट्रपति विल्सन ने स्वीकार किया था कि पेरिस के शांति-सम्मेलन के कार्य को पुनरावृत्ति आवश्यक होगी। उन्हीं के शब्दों में—"यूरोप महायुद्ध की विभीषिकाओं को सहन करता शांत, क्लांत और उत्तेजित हो उठा। अतः उसके लिये एक अच्छी संधि करना असम्भव है। परन्तु यदि राष्ट्रसंघ को वैधानिक रूप दे दिया जाय तो फिर यह संघ संधि की आपत्तिपूर्ण धाराओं में संशोधन करने का साधन बन सकेगा।"

वस्तुतः वर्साय की संधि में निश्चित रूप से अनेक दोष थे और इसके द्वारा भावी युद्ध को रोकने का असफल प्रयास किया गया था। इस संधि की जो कटु आलोचनाएं हुईं और इसके जिन विभिन्न दोषों को प्रकट किया गया, उन पर हम अधोलिखित रूप से प्रकाश डाल सकते हैं।

(१) **असम्भव, अपमानजनक एवं कठोर शर्तें**:—वर्साय की सन्धि की शर्तें अपरिमित रूप से कठोर और अपमानजनक थीं। उनकी कठोरता के कारण उनकी पूर्ति होना असम्भव था। सन्धि का मूल उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिये पंगु बनाकर रखना था। सन्धि के निर्माता जर्मनी को भविष्य के लिये एक सबक देना चाहते थे। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज ने स्पष्ट रूप से घोषणा की थी कि—"इस सन्धि की धाराएं युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गई हैं। जिन लोगों ने इस युद्ध को शुरू किया था उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।"[2] इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर और प्रतिशोध की इसी भावना में बहकर सन्धि की शर्तों को

---

1. *J. L. Nehru :* Ibid, Page 681.
2. "These terms are written in the blood of fallen heroes. We must carry out the edict of Providence and see that the people who inflicted this (war) shall never be in a position to do so again."

-Lloyd George

जान-बूझ कर ऐसा बनाया गया कि जर्मनी बुरी तरह कुचल दिया जाय। उस पर क्षति-पूर्ति अथवा हर्जाने की राशि इतनी अधिक थोपी गई कि वह उसे अदा ही नहीं कर सकता था। उस पर भी इसके अभाव में जर्मनी के इलाकों को कब्जे में कर लेने की धमकी भी ऊपर से दी गई। क्षति-पूर्ति की शर्तें इतनी कठोर थीं कि उनका विरोध करते हुए ब्रिटिश मन्त्री-मण्डल के सदस्य मि० केन्स ने अपना त्यागपत्र तक दे दिया। सन्धि की आर्थिक व्यवस्था को चर्चिल ने मूर्खतापूर्ण बताते हुए कहा—"इतिहास इस लेन-देन को पागलपन की संज्ञा प्रदान करेगा। उन्होंने सैनिक अभिशाप और आर्थिक संकट की उत्पत्ति में सहायता पहुंचाई ············यह सब उस जटिल मूर्खता की दुखद कहानी है जिसकी रचना में पर्याप्त श्रम और सद्गुणों का अपव्यय हुआ था।"[1] क्षति-पूर्ति के अतिरिक्त मित्रराष्ट्रों ने बड़े अपमान-जनक रूप में जर्मनी को बिल्कुल शस्त्र विहीन बना दिया जबकि स्वयं सशस्त्र बने रहे। जर्मनी की जल, थल और वायु सेनाओं को लगभग समाप्त कर दिया गया, उसके उपनिवेश छीन लिये गये, सार के जर्मन प्रदेश को १५ वर्ष के लिये अधिकार में ले लिया गया, राइनलैण्ड में १५ वर्ष के लिये मित्र-राष्ट्रों की सेनाएं रख दी गईं और युद्ध छेड़ने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व जर्मनी पर डाल दिया गया। यह सब कुछ जर्मनी का प्रबल राष्ट्रीय अपमान था। इतनी कठोर और अपमानजनक शर्तों को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र एक लम्बे काल के लिये बर्दाश्त नहीं कर सकता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि संधि की शर्तों को स्थायी बनाने में मित्रराष्ट्रों को सफलता मिल जाती तो जर्मनी का नाम संसार की महान् शक्तियों में से हमेशा के लिये मिट जाता।

(२) **एक पक्षीय शर्तें**:—वर्साय की सन्धि का एक बड़ा दोष यह था कि इसकी शर्तें एक पक्षीय थीं। इस सन्धि में पारस्परिकता (Reciprocity) और समानता के सिद्धान्त को तिलांजलि सी दे दी गई थी। सन्धि के निर्माण में आदान-प्रदान की भावना का सर्वथा अभाव था। इसमें पराजित पक्ष पर तो अनेक शर्तें लागू की गई थीं, किन्तु विजेताओं को उनसे

1. "History will characterise all these transactions as insane. They helped to breed the material curse and economic blizzard. Germany now borrowed from all directions, swallowing greedily every credit which was lavishly offered to her. All this is a sad story of complicated idiocy in the making of which much toil and virtue was consumed."
—*Churchill :* The Second World War, Vol. I, p. 58

पूर्णतः मुक्त रखा गया था। निःशस्त्रीकरण, यातायात, उपनिवेशों, युद्धापराधियों पर मुकदमे चलाने, एशियायी देशों के आत्मसमर्पण की शर्तों की समाप्ति, राष्ट्रसंघ की सदस्यता, पट्टे तथा रियायतों के विलोपन, नहरों तथा रेलमार्गों के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रतिबन्धहीन गमन, संग्रहालयों की लूट आदि के बारे में सब शर्तें एक पक्षीय थीं जिनके फलस्वरूप जर्मनी की सार्वभौमिकता असलियत में विजयी राष्ट्रों के हाथ में चली गई। सन्धि के पीछे जो आदर्श थे, वे केवल जर्मनी के ऊपर ही प्रयोग किये गये। इस सन्धि के द्वारा निःशस्त्रीकरण के आदर्श के नाम पर जर्मन सेनाओं का विघटन कर दिया गया लेकिन मित्रराष्ट्र इस बारे में प्रतिबंध मुक्त रहे। जर्मनी से उपनिवेश छीन लिये गये, पर मित्रराष्ट्रों के पास रहने दिये गये। युद्ध में क्रूरता आदि के अपराध दोनों पक्षों की ओर से हुए पर अभियोग केवल जर्मन व्यक्तियों पर ही चलाये गये। इस प्रकार की एकपक्षीय शर्तों के कारण जर्मनी में यह धारणा घर कर गई कि जर्मन जनता के साथ अन्याय हुआ है। जर्मनों के मन में यह बात बैठ गई कि वे अपनी पराजय का बदला लेने के लिये युद्ध की ऐसी तैयारियां करें कि भविष्य में कभी कोई शक्ति उन्हें न हरा सके। यदि शर्तें दोनों पक्षों पर समान रूप से लागू होतीं तो जर्मनी को सम्भवतः कोई असन्तोष नहीं होता। एडम्स गिबन्स (Adams Gibbons) ने सही ही लिखा है—**"पारस्परिकता की अनुपस्थिति में वह एक शक्ति की शांति थी और उसकी शर्तों की कार्यान्विति केवल उस समय तक सम्भव थी जब तक कि वह शक्ति जिसने जर्मनी को हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य किया था, उसे कार्यान्वित करती रहे।"**[1]

(३) **आरोपित सन्धिः**—ई. एच. कार (E. H. Carr) ने वर्साय की सन्धि को 'आरोपित सन्धि' (Dictated peace) की संज्ञा दी है। यह सन्धि जर्मनी पर उसकी इच्छा के विरुद्ध थोपी गई थी। युद्ध के समय से ही प्रतिद्वन्दियों में द्वेष और घृणा के भाव इतने भर गए थे कि विजयी राष्ट्र प्रतिशोध की अग्नि में जल रहे थे। अतः जब युद्ध स्थगित हुआ तो विजित और विजयी के बीच न तो संधि सम्बन्धी कोई वार्तालाप ही हुआ और न मिलकर लेन-देन के तरीके पर ही संधि के उपबन्ध प्रस्तुत किये गये। केवल दो अवसरों को छोड़ कर—संधि के सुझाव रखते समय और

---

1. "Without reciprocity it was a peace of force and its terms were possible of execution only so long as the force that caused Germany to sign it continued to make them execute it."

—Adams & Gibbons

उन पर हस्ताक्षर कराते समय—जर्मन प्रतिनिधियों को कभी भी मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों के आमने-सामने नहीं लाया गया। इतना ही नहीं, इन दो अवसरों पर भी अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार का जनाजा निकाल दिया गया। जर्मन प्रतिनिधि अपराधी की तरह पहरे में लाये-ले जाये गये और मार्ग में लोग उन पर पत्थर बरसाते रहे। इस सार्वजनिक प्रतिष्ठा से पीड़ित होकर एक जर्मन प्रतिनिधि के मुँह से निकल पड़ा—"हमारे प्रति फैलाई गई उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं।" विराम संधि के समय भी बार-बार पुनः युद्ध छेड़ने की धमकी दी जाती रही और संधि-प्रस्तावों का जर्मनी द्वारा विरोध करने पर लॉयड जॉर्ज बरस पड़ा—"ये शर्तें युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गई हैं।............जर्मन कहते हैं कि वे इन पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे, उनके समाचार पत्र और राजनीतिज्ञ भी यही कहते हैं, किन्तु हम कहते हैं कि तुम्हें हस्ताक्षर करने होंगे। यदि तुम वर्साय में हस्ताक्षर नहीं करते तो तुम्हें बर्लिन में ऐसा करना पड़ेगा।"

उपरोक्त सभी घटनाओं का जर्मनी एवं अन्य पराजित देशों पर बड़ा मनोवैज्ञानिक कुप्रभाव पड़ा। कार (Carr) के शब्दों में, "**इन अनावश्यक अपमानों के, जिनका औचित्य केवल यही हो सकता है कि युद्ध की तीव्र कटुता अब भी अवशिष्ट थी, जर्मनी में व अन्यत्र व्यापक मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए।**" जर्मन जनता के मन में यह बात घर कर गई कि वर्साय की संधि एक आरोपित संधि है जिसे मानने के लिये जर्मन बाधित नहीं है।

(४) **क्षणिक भावावेशों पर आधारित संधि**—वर्साय की संधि स्थायी विवेक (Permanent Wisdom) पर आधारित न होकर क्षणिक भावावेशों (Transitory Passions) पर आधारित थी। इसमें सन्तुलित विचार, बुद्धिमता और न्याय नहीं बल्कि तत्कालीन घृणा, कटुता और आक्रोश समाविष्ट थे। पेरिस का वातावरण ही ऐसा था कि वहाँ जर्मनी का दोष स्वयं सिद्ध सत्य था और प्रतिकार की भावना प्रबल थी। **लार्ड ब्राइस** ने इस शांति समझौते पर लॉर्ड सभा में भाषण करते हुए कहा था—"**शांति केवल संतोष के द्वारा आ सकती है। इन संधियों का परिणाम राष्ट्रों को असन्तुष्ट बनाना है, इससे विद्रोहों और युद्धों के लिए भूमि तैयार होगी।**"

(५) **राजनीतिज्ञों की शांति, जनता की नहीं**—जनरल स्मट्स के अनुसार वर्साय की संधि राजनीतिज्ञों की शांति थी, जनसाधारण की नहीं (The peace of the statesmen not a peace of the people)। उसके शब्दों में—"नवीन जीवन का आश्वासन, महान् मानवीय आदर्शों की

विजय जिसके लिये जनता ने अपना रक्त और धन बहाया था, एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा न्यायसंगत और श्रेष्ठ विश्व के निमित्त उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति, इस संधि-पत्र में नहीं लिखे गये हैं। इसमें ऐसी प्रादेशिक व्यवस्थाएं हैं जिनमें, मेरी विनीत सम्मति में, संशोधन की आवश्यकता होगी। इसमें ऐसी प्रत्याभूतियों (Guarantees) का विधान है जो शीघ्र ही नवीन शांतिपूर्ण प्रभाव के प्रतिकूल पायी जायेगी'' ''' इसमें ऐसे दण्डों (Punishments) की पूर्व सूचना है जिन पर अधिक ठन्डे दिमाग से विचार करने पर विस्मृति का स्पंज फेर देना अधिक उपयुक्त पाया जायगा। इसमें ऐसी क्षति-पूर्तियां (Indemnities) निर्दिष्ट हैं जो यूरोप के औद्योगिक पुनरुत्थान को गम्भीर हानि पहुंचाये विना लागू नहीं की जा सकतीं और जिन्हें अधिक सह्य एवं नम्र कर देना सबके हित में होगा······जनसाधारण की वास्तविक शांति को राजनायकों की शांति का पूर्णरूप से अनुसरण करना चाहिए।"

(६) जर्मनी में प्रजातन्त्र की जबरन स्थापना—वर्साय की संधि ने जर्मनी में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था बलात् आरोपित की क्योंकि मित्रराष्ट्र किसी निरंकुश शक्ति के साथ समझौता करने को तैयार नहीं थे। ऐसा करते समय वे भूल गये कि लोकतन्त्र वहीं चिरस्थायी हो सकता है जहां उसकी विभिन्न संस्थाओं का शनैः-शनैः स्वतः विकास हुआ हो, लोकतन्त्र को जबर्दस्ती किसी देश पर नहीं थोपा जा सकता। जर्मनी की जनता राजतंत्र की अभ्यस्त थी, अतः यूरोप के कतिपय देशों में प्रचलित लोकतंत्र से वह सहमत न हो सकी। वर्साय की संधि ने जर्मनी में यद्यपि कैसर की निरंकुश शक्ति विनष्ट कर दी, लेकिन हिटलर की तानाशाही के रूप में वह शक्ति शीघ्र ही पुनर्जीवित हो गई।

(७) अनेक छोटे-छोटे राज्यों का निर्माण—वर्साय की संधि के परिणामस्वरूप यूरोप में एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था का जन्म हुआ। आत्मनिर्णय के आधार पर अनेक छोटे-छोटे नवीन राष्ट्रों का निर्माण किया गया। आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया आदि राष्ट्र जन्म से ही अनेक समस्याओं में उलझ गये जिनका पूर्ण निदान उनके हाथ न था। हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया आदि राष्ट्र अत्यन्त निर्बल हो गये। इन राष्ट्रों के दोनों तरफ जर्मनी और रूस दो बड़े देश असन्तुष्ट बने रहे और चूंकि कोई भी लघु राष्ट्र इनका मुकाबला नहीं कर सकता था, अतः उन्हें हड़पना और उन पर हावी होना उनके लिये सुगम हो गया। इन दोनों ही असन्तुष्ट राष्ट्रों ने अवसर पाकर दुर्बल और साधनहीन राष्ट्रों को अपनी आधीनता स्वीकार करने को बाध्य कर दिया। राष्ट्रसंघ इनकी

सुरक्षा के साधन नहीं जुटा सका। इस प्रकार नवीन साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने का कार्य १६१६ में ही सम्पन्न हुआ।

(८) **संघर्ष के नए दौर की शुरुआत**—वर्साय की संधि ने यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य विश्व-व्यापी सत्ता के लिये संघर्ष के नये दौर की शुरुआत की। १६१६ तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी देश की सरकार और उसके नागरिकों की सम्पत्ति में भेद मानता था, निजी सम्पत्ति (Private Property) जब्त नहीं की जा सकती थी। लेकिन वर्साय की संधि में की गई व्यवस्था के अनुसार युद्धान्त देश (A belligerent Country) अपनी तथा अपने मित्रों की राज्य सीमा में किसी शत्रु देश के व्यक्ति की, किसी भी प्रकार की सम्पत्ति जब्त (Confiscate) कर सकता था, और यदि वह युद्ध में विजयी हुआ, तो पराजित देश की सरकार को अपने नागरिकों की इस तरह जब्त की गई सम्पत्ति की क्षति-पूर्ति करने के लिये बाध्य कर सकता था। वास्तव में यह एक नया दृष्टान्त था।

(६) **तीन विरोधी आदर्शों के मध्य संघर्ष**—वर्साय की संधि में तीन विरोधी आदर्शों के मध्य संघर्ष (Struggle between three conflicting ideals) निहित था। यह संधि विल्सन के उच्च आदर्शवाद, क्लेमेंसो के राष्ट्रवाद और लॉयड जॉर्ज के अवसरवाद (Opportunism) में कोई मेल न था। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के हितों में संघर्ष, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य विश्व-नेतृत्व के लिये प्रतिस्पर्धा, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य व्यापार-वाणिज्य सम्बन्धी विवाद, और मित्रराष्ट्रों के मध्य हुई पारस्परिक गुप्त संधियां प्रजातंत्र एवं आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के मार्ग में बाधक थीं। वर्साय की संधि इन विभिन्न हित-संघर्षों की सन्तान थी।

(१०) **विश्वासघाती संधि**—वर्साय की संधि पर जर्मनी का सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि यह उसके साथ प्रबल विश्वासघात था। संधि की रचना करते समय मित्रराष्ट्रों ने उन प्रतिज्ञाओं का पालन नहीं किया जो विल्सन के चौदह सूत्री कार्यक्रम में सन्निहित थीं। जर्मनी का कहना था कि उसने विल्सन के सिद्धांतों और चौदह शर्तों पर आत्मसमर्पण किया था, लेकिन वर्साय की संधि में इनका उल्लंघन हुआ था। संधि की प्रस्तावित शर्तों पर आक्षेप करते हुए जर्मन सरकार ने कह दिया था कि "एक सम्पूर्ण जाति को अपनी मृत्यु के आदेश पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये कहा जा रहा है।" हेरोल्ड निकोलसन (Harold Nicholson) ने अपनी पुस्तक "१६१६ की शांति रचना" में स्पष्ट लिखा है—

"हमारी शांति की शर्तों का निर्णय खुले आम नहीं हुआ। जितनी गोपनीयता इस सम्मेलन में बरती गई, उतनी सम्भवतः किसी दूसरे कूटनीतिक

सम्मेलन में नहीं बरती गई थी। समुद्रों की स्वतंत्रता की व्यवस्था नहीं की गई। यूरोप में स्वतंत्र व्यापार की स्थापना करना तो दूर रहा प्रत्युत पूर्वापेक्षा कहीं अधिक मात्रा में व्यापारिक चुंगियां लगाई गई। राष्ट्रीय शस्त्रास्त्रों में भी कमी नहीं की गई। विजेताओं में जर्मन उपनिवेशों का इस प्रकार विभाजन किया गया कि उसे न तो उचित ही कहा जा सकता है और न स्वतंत्र मस्तिष्क पर आधारित एवं निष्पक्ष। विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों के हितों की बात का तो कहना ही क्या, उनकी इच्छाओं का भी खुलकर निरादर किया गया है। रूस को राष्ट्रों के समाज में स्थान देने से इंकार किया गया और उसे निर्बाधक रूप से अपनी संस्थाओं को विकसित करने की स्वतंत्रता भी नहीं दी गई। राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर इटली की सीमाओं की व्यवस्था नहीं की गई और पोलैंड के सीमा-क्षेत्र में ऐसे अनेक व्यक्तियों को सम्मिलित कर लिया गया जिनका पोलिश जाति से निश्चित रूप से कोई सम्बंध न था। राष्ट्रसंघ व्यवहार में समान रूप से छोटे और बड़े सभी राष्ट्रों को राजनीतिक स्वतंत्रता का आश्वासन देने में असफल रहा। प्रत्येक मामले में जो भी प्रादेशिक व्यवस्थाएं की गई उनका आधार प्रतिद्वंद्वी राज्यों के विरोधी दावों के बीच समझौता था। वास्तव में संघर्ष के तत्वों को स्थायी बनाया गया।"[1]

स्पष्ट है कि आलोचकों के अनुसार इस संधि में लगभग उन सभी सिद्धांतों की खुलकर अवहेलना हुई जिनकी स्थापना विल्सन ने अपने कार्यक्रम में की थी। विल्सन के चौदह सूत्री कार्यक्रम का पालन वर्साय की संधि में कहां तक हुआ—यह देखने के लिये हमें कुछ विस्तार में जाना होगा।

वर्साय की संधि और विल्सन की चौदह शर्तें

जर्मनी ने व्यवहारतः विल्सन की चौदह शर्तों के आधार पर आत्म-समर्पण किया था। लेकिन वर्साय की संधि प्रस्तावित की गई तो उसमें विल्सन के सिद्धान्तों की मूलतः अवहेलना की गई और संगीन की नोक पर जर्मनी को संधि के मसविदे पर हस्ताक्षर भी करने पड़े। इस सम्बंध में जहां जर्मनी ने यह प्रबल आक्षेप लगाया कि शांति-समझौते में विल्सन की सभी चौदह शर्तों को उठा कर ताक पर रख दिया गया, वहां ब्रिटिश प्रधान मंत्री लॉयड जॉर्ज ने बल पूर्वक यह कहा कि संधि में ऐसी कोई बात नहीं है जो युद्ध-समाप्ति से पूर्व मित्रराष्ट्रों द्वारा की गई घोषणाओं के प्रतिकूल हो। गैथोर्न हार्डी के अनुसार भी वर्साय की संधि में चौदह शर्तों का अधिकतम पालन किया गया[2] और डा० सेटन वाट्सन के मत में चौदह शर्तों में से केवल

1. *Harold Nicholson*: Peace Making 1919, page 43.
2. *Gathorn Hardy*: The Fourteen Points and the Treaty of Versailles, p. 11.

इटली के सीमांतवाली नवीं शर्त को छोड़ कर शेष सभी शर्तों को पूरा किया गया। वास्तविक सत्य का पता लगाने के लिये उचित मार्ग यह होगा कि हम उपरोक्त दोनों पक्षों को क्रम से कसौटी पर कसें।

जर्मनी के पहले पक्ष का प्रबल समर्थन हेरोल्ड निकोलसन तक ने किया जो ब्रिटिश विदेश विभाग का सदस्य था और जिसने शांति-संधि में भी भाग लिया था। निकोलसन के अनुसार चौदह शर्तों में से चार शर्तों का ही पालन किया गया था, शेष का नहीं। पालन की जाने वाली शर्तें ये थी—बेल्जियम की स्वाधीनता की सातवीं, अल्सेस-लोरेन फ्रांस को लौटाने की आठवीं, आस्ट्रिया-हंगरी के स्वतंत्र राज्य की दसवीं और रूमानिया, सर्बिया तथा मान्टीनीग्रो सम्बंधी ग्यारहवीं शर्त। जिन दस शर्तों का पालन नहीं हुआ वे इस प्रकार थीं—पहली शर्त का उल्लंघन करते हुये शांति-सम्मेलन की सम्पूर्ण कार्यवाही गुप्त रूप में की गई। समुद्रों की स्वतंत्रता की दूसरी शर्त का भी पालन नहीं हुआ। स्वतंत्र व्यापार सम्बंधी तीसरी शर्त कार्यान्वित भी नहीं हुई और साथ ही युद्ध के बाद विभिन्न देशों में तटकर (Tariffs) एवं अन्य आर्थिक प्रतिबंध और भी अधिक बढ़ा दिये। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी चौथी शर्त केवल पराजित राष्ट्रों पर लागू की गई, विजयी राष्ट्रों पर नहीं। पांचवीं शर्त की अवहेलना करते हुए जर्मनी के उपनिवेशों को पक्षपात पूर्ण ढंग से बांटा गया और जनता के हितों का कोई ख्याल नहीं रखा गया। रूस को स्वतन्त्र राष्ट्रों के समाज में सम्मानित स्थान देने सम्बन्धी छठी शर्त भी कार्यान्वित नहीं हुई। नवीं शर्त के अनुसार इटली की सीमाएं राष्ट्रीयता के सिद्धांत के अनुसार निर्धारित होनी चाहिये थीं, पर ऐसा नहीं हुआ और इटली को टिरोल का जर्मन बहुल प्रदेश दे दिया गया। बारहवीं शर्त के अनुसार टर्की को तुर्क प्रदेशों पर आधिपत्य नहीं दिया गया। तेरहवीं शर्त का उल्लंघन करते हुये पोलैंड को निर्विवाद रूप से पोल-प्रदेश नहीं दिया गया, इसमें जर्मन प्रदेश भी सम्मिलित था। चौदहवीं शर्त के अनुसार स्थापित राष्ट्रसंघ छोटे-बड़े राष्ट्रों के साथ समान व्यवहार करने में असमर्थ रहा। इस तरह वर्साय की संधि ने विल्सन के सभी सूत्रों का अनादर किया। जे० एल० कारविन (J. L. Carvin) के अनुसार तो "चौदह सूत्र चौदह निराशाएं बन गये हैं, यद्यपि शोक की बात यह है कि अमेरिका की शक्ति के बिना इतनी दुखदायी तथा भविष्य के लिए दुर्भाग्य-शाली संधियों के स्वप्न नहीं लिए जा सकते थे।"

जहां उपरोक्त विद्वानों ने वर्साय की संधि को विल्सन के सिद्धान्तों का उल्लंघन मानकर संधि की कटु आलोचना की वहां मित्रराष्ट्रीय नेताओं गैथोर्ड हार्डी, लिप्सन (Lipson), टी० ई० जेसप (T. E. Jessop) आदि

अनेक विद्वानों ने अपना मत उपरोक्त पक्ष के विरोध में रखा। इन विद्वानों पहला तर्क यह है कि वर्साय की संधि में चौदह सूत्रों का उल्लंघन नहीं किया गया। गैथोर्ड हार्डी के अनुसार चौदह सूत्रों में केवल पांचवा, सातवां, आठवां और तेरहवां—ये चार सूत्र ही जर्मनी से सम्बन्धित थे और इन चारों का पालन किया गया। दूसरा तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि विल्सन के सूत्र या शर्तें उसके राजनीतिक भाषणों का अंग थीं और उनमें वह सुनिश्चितता नहीं थी जो कानूनी संधियों तथा समझौतों के लिए आवश्यक होती हैं। शर्तों के शब्द इतने अस्पष्ट थे कि उनकी अनेक व्याख्याएं हो सकती थीं। उदाहरणार्थ चौथी शर्त यह थी कि राष्ट्रीय शस्त्रास्तों को "घरेलू सुरक्षा के अनुरूप निम्नतम विन्दु" (Lowest point consistent with domestic safety) तक घटा दिया जायगा। यह 'निम्नतम विन्दु' वहुत ही अस्पष्ट और लचकीला शब्द था जिसकी विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपने हितानुरूप विभिन्न व्याख्याएं की जा सकती थीं। पांचवीं शर्त में "औपनिवेशिक दावों" (Colonial claims) के निष्पक्ष निवटारे की वात थी, लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि निपटारा किन देशों के उपनिवेशों का होगा। इसी तरह नवीं शर्त में इटली की सीमाओं के वारे में "राष्ट्रीयता की स्पष्ट पहचाने जाने वाली रेखाओं" (Clearly recognizable lines of nationality) का वर्णन था, लेकिन रेखाओं वाली यह वात इतनी अस्पष्ट थी कि पेरिस सम्मेलन में इस पर तीव्र विवाद होता रहा। तीसरा तर्क यह है कि विल्सन के सिद्धान्त केवल शांति-समझौते का अंग अथवा आधार नहीं थे, अपितु उनका सम्बन्ध तो सम्पूर्ण मानव जाति से था। ये सिद्धान्त एक देश के साथ होने वाली संधि से सीमित नहीं थे। वल्कि विश्व में एक नई व्यवस्था स्थापित करने का वृहत्तर उद्देश्य लिये हुए थे। चौथा तर्क यह है कि विल्सन के सिद्धान्त कुछ अंशों में परस्पर विरोधी थे, अतः उनका पूर्ण रूप से पालन किया जाना सम्भव न था। इनमें एक तरफ तो आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर वल दिया गया था और दूसरी ओर यह भी कहा गया था कि शांति समझौता वास्तविक न्याय (Essential Justice) पर आधारित होना चाहिये। उदाहरणार्थ संधि की धारा ८० द्वारा आस्ट्रिया एवं जर्मनी के सम्मेलन पर प्रतिवन्ध लगाया गया था जवकि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें यह अधिकार देना चाहिये था। चूंकि यहां आत्मनिर्णय का सिद्धान्त लागू करने से वास्तविक न्याय को क्षति पहुंचती और चेकोस्लोवाकिया की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती (वाद में ऐसा ही हुआ), अतः संधि में आस्ट्रिया-जर्मनी के सम्मेलन पर प्रतिवन्ध की व्यवस्था आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रतिकूल होते हुए भी की गई। पांचवा तर्क यह है कि विल्सन की चौदह शर्तें जर्मनी द्वारा स्वीकार की जाने से पूर्व ही अनेक महत्वपूर्ण संशोधनों,

और परिवर्तनों की शिकार हो चुकी थीं। लॉयड जॉर्ज और क्लेमेंसो ने पहली शर्त की व्याख्या करते हुये कहा कि इसका अर्थ गुप्त संधियों का निषेध है, न कि गुप्त संधि-चर्चा पर प्रतिबन्ध लगाना। समुद्रों की स्वतन्त्रता की दूसरी और क्षतिपूर्ति की सातवीं-आठवीं शर्त में भी उनके द्वारा कुछ संशोधन किये गये। छठा तर्क यह है कि विलसन की शर्तों का पालन न होने का आरोप लगाने वाले जर्मनी ने हिटलर के नेतृत्व में स्वयं अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संधियों को तोड़ा। जर्मन अधिनायक हिटलर ने न केवल वर्साय की 'आरोपित' संधि का उल्लघन किया, बल्कि उन संधियों की भी अवहेलना की जो जर्मनी ने स्वेच्छा से स्वीकार की थीं। और तो और हिटलर ने रूस के साथ १९३९ में किये गये अनाक्रमण समझौते तक को तोड़ डाला। ऐसी परिस्थिति में जर्मनी को 'विश्वासघात' की दुहाई देने का कोई अधिकार नहीं था। उसके लिए यह शोभनीय नहीं था कि वह विल्सन के सिद्धान्तों के उल्लंघन का आरोप लगाए।

वास्तव में, विल्सन की चौदह शर्तों का विश्लेषण करने से हम जिन परिणामों पर पहुंचते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) पहली शर्त खुली संधियां करने की थी। यह इस दृष्टि से पूरी हुई कि यह व्यवस्था की गई कि भविष्य में किसी भी संधि को गुप्त नहीं रखा जायगा, सभी संधियों को प्रकाशित कर दिया जायगा। वर्साय की संधि की धारा १८ में यह उल्लेख था कि राष्ट्रसंघ के सब सदस्य अपने द्वारा किये गये अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को संघ के रजिस्टर में फौरन दर्ज करायेंगे तथा संघ के कार्यालय द्वारा इन्हें प्रकाशित किया जायगा।

(२) समुद्रों की स्वतन्त्रता की दूसरी शर्त की पूर्ति नहीं हुई। विराम-संधि से पहले ही मित्रराष्ट्रों ने इसे अस्वीकार कर दिया था।

(३) तीसरी शर्त व्यापारिक प्रतिबन्ध और चुंगियां हटाने से सम्बन्धित थी। इसका यद्यपि अनेक देशों द्वारा पालन नहीं किया गया, तथापि वर्साय की संधि की धारा २३ (ई) में यह व्यवस्था थी कि राष्ट्रसंघ इसके सब सदस्यों के लिये यातायात एवं आवागमन के मार्गों की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा की व्यवस्था करने का कार्य करेगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए धारा ३३१-६२ द्वारा विभिन्न जल-मार्गों एवं नदियों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया गया।

(४) चौथी शर्त शस्त्रास्त्र घटाने की थी। यद्यपि इस शर्त का पालन नहीं हुआ किन्तु इसके लिये वर्साय की संधि को दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि संधि की धारा ८ के अनुसार निःशस्त्रीकरण को लागू करने की योजना बनाने का दायित्व राष्ट्रसंघ की कौंसिल पर डाला गया था।

पराजित राष्ट्रों की सैन्यशक्ति सीमित करके संधि में इस दिशा में पहला पग उठाया गया, लेकिन निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों की विफलता के कारण समस्या का समाधान नहीं हो पाया।

(५) उपनिवेशों के निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण विभाजन की पांचवीं शर्त के अनुसार जर्मनी एवं टर्की के उपनिवेश तथा साम्राज्य छीनकर राष्ट्रसंघ को दिये गये। राष्ट्रसंघ ने इनका शासनाधिकार (Mandate) अन्य विभिन्न देशों को दिया। हार्डी के मतानुसार यह व्यवस्था विल्सन की शर्तों के अनुकूल थी।

(६) रूस से जर्मन सेनाएं हटाने तथा उसे संघ में शामिल करने के लिये निमंत्रण देने की छठी शर्त भी पूरी हुई। जर्मनी ने रूस पर ब्रेस्ट-लिटोवस्क की संधि की जो कठोर शर्तें लादी थीं, उनसे रूस को मुक्ति मिली और रूस बाद में संघ का सदस्य बना।

(७) बेल्जियम की स्वतन्त्रता की सातवीं शर्त पूरी हुई।

(८) आठवीं शर्त के अनुपालन में अल्सेस-लोरेन फ्रांस को लौटाने की व्यवस्था की गई।

(९) नवीं शर्त, जो इटली के राष्ट्रीय सीमान्त बनाने की थी, पूरी नहीं हुई, क्योंकि इटली को दक्षिणी टिरोल के ढ़ाई लाख आस्ट्रियन, जर्मन तथा इस्ट्रिया प्रायःद्वीप के ५२ प्रतिशत युगोस्लाव दिये गये।

(१०) दसवीं शर्त आस्ट्रिया-हंगरी की पराधीन जातियों को स्वतन्त्रता देने की थी। यद्यपि यह शर्त पूरी हुई, किन्तु इसके साथ कुछ जर्मनों और मगयारों को विदेशी शासन में रख दिया गया।

(११) ग्यारहवीं शर्त के अनुपालन में बाल्कान राज्यों की व्यवस्था की गई।

(१२) टर्की से सम्बन्धित बारहवीं शर्त का पालन नहीं हुआ। इसके तुर्कों से भिन्न जातियों द्वारा बसे हुये प्रदेशों को स्वतन्त्र नहीं किया गया बल्कि राष्ट्रसंघ के आदेश से मित्रराष्ट्रों ने इन पर शासन करना शुरू कर दिया।

(१३) समुद्री मार्ग वाले स्वतन्त्र पौलैण्ड के निर्माण की तेरहवीं शर्त पूरी हुई।

(१४) राष्ट्रसंघ के निर्माण की चौदहवीं शर्त भी पूरी हुई।

विल्सन की चौदह शर्तों के पालन-अपालन के उपरोक्त विश्लेषण के संदर्भ में लैंगसम (Langsam) का यह मत उल्लेखनीय है कि इन शर्तों में पांच (७, ८, ११, १३, १४) का पालन हुआ, चार (५,६,९,१०)

वर्साय की सन्धि का औचित्य

वर्साय की संधि के दोषों और उस पर लगाये गये कटु आक्षेपों को जानने के बाद स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या वर्साय की संधि वस्तुतः एकदम [illegible] अथवा पूर्णतः अन्याययुक्त थी। क्या इस संधि का कोई औचित्य नहीं था? और क्या यह वास्तव में उस निन्दा की अधिकारिणी थी जिसकी इस पर अनेक दिशा से वर्षा की गई? यदि औचित्य का अर्थ केवल "विल्सन के भाषणों की अलंघनीय अनुरूपता" लिया जाय तो अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि संधि जर्मनी के प्रति कुछ अंशों में अन्यायपूर्ण थी। यह संधि इसलिये भी अन्यायपूर्ण थी क्योंकि इस संधि के निर्माताओं की मूल भावना जर्मनी को कुचल डालना था, न कि जर्मनी के साथ न्याय करना। टी० ई० जेसप (T. E. Jessop) ने अपनी पुस्तक "The Treaty of Versailles, was it just ?" में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि सचाई यह थी कि विल्सन के भाषणों की स्वीकृति देने में मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी से कुछ प्रण किये थे जिन्हें उन्होंने पूरा नहीं किया और सम्भवतः युद्धविराम के समय प्रण करते हुए भी उनका इरादा प्रणों को पूरा करने का नहीं था। इसके एकाधिक कारण थे। प्रथम तो उनका विचार था कि तत्कालीन उत्तेजनापूर्ण बाह्य एवं मानसिक अवस्थाओं में कुछ वचन पूरे नहीं किये जा सकते थे, दूसरे, उन्हें विश्वास था कि जर्मनी जैसे देश से व्यवहार करते समय यही उचित है कि कुछ वचनों का पालन नहीं किया जाय, और तीसरे, वे इस बात से भी परिचित थे कि निर्दयता, छल-कपट एवं बेईमानी से युद्ध करने वाले जर्मनी ने विल्सन के भाषणों का सहारा इसलिये लिया था कि वह इसकी आड़ में पराजय के परिणामों से बच जाय।

वर्साय की संधि उन नीतिज्ञों की दृष्टि में असहनीय नहीं मानी जानी चाहिये जो परिस्थिति के अनुसार कार्य करना नैतिक समझते हैं। श्री जेसप ने इसी धारणा का अनुसरण करते हुए कहा है—"विस्तृत और ठोस दृष्टिकोण से न्याय का प्रश्न उन परिस्थितियों में और अवस्थाओं के प्रकाश में

1. *Langsam*—World since 1919, Page 34.

विचारा जाना चाहिए जिनके अन्तर्गत मित्रराष्ट्र रहे और उन्होंने शान्ति-निर्माताओं के मुख्य उद्देश्यों एवं कार्यों तथा संसार की आवश्यकताओं को कार्यान्वित किया। शांति-निर्माताओं को किसी एक विजेता को नहीं अपितु अनेक विजेताओं को संतुष्ट करना था। विजित पक्ष में केवल एक जर्मनी था जिसे केवल स्वयं के हानि-लाभ की चिन्ता थी जबकि विजेता पक्ष में २७ राष्ट्र थे जिनके स्वार्थ कितने ही विषयों पर विषमतापूर्ण और असमान थे। इन परिस्थितियों में समझौते का सम्भावित रूप लाने में ही महान् कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। उदाहरणार्थ फ्रांस अपने से अपेक्षाकृत अधिक बड़े और औद्योगिक दृष्टि से अधिक समृद्ध पड़ौसी देश जर्मनी से अपनी सुरक्षा बनाये रखने के मामले में यथार्थवादी था चूंकि जर्मनी ५० वर्ष में दो बार उसके प्रदेश पर आक्रमण कर चुका था। फ्रांस से भिन्न, इंग्लैंड जर्मनी को फिर से यूरोप में उसके पुराने आर्थिक जीवन स्तर पर लाना चाहता था, क्योंकि युद्ध तक वह इंग्लैण्ड का एक सबसे बड़ा ग्राहक और सामग्री की पूर्ति करने वाले सर्वोच्च देशों में से एक था। इधर इटली की महत्वाकांक्षाएं प्रधानतः भू-मध्यसागरीय प्रदेश (The Mediterranean) पर टिकी हुई थीं और ये फ्रांस तथा ब्रिटेन के विरुद्ध जाती थीं। रूमानिया, ग्रीस और अरब में से प्रत्येक ने कुछ निश्चित हुए मूल्य पर (At a stipulated price) पर युद्ध में प्रवेश किया था और यह मूल्य किसी-न-किसी प्रकार चुकाना था। इसके अतिरिक्त मित्रराष्ट्रों के युद्धकाल में दबाव के समय किये हुए पहले के कुछ प्रण थे और साथ ही कुछ ऐसे पूर्ण सत्य थे जिन्हें पूरा करना उनके लिये अनिवार्य था।"

संधि के औचित्य पर बल देते हुए लॉयड जार्ज ने कहा था कि यह संधि बदला लेने के लिये नहीं की गई थी। उसके शब्दों में—"जर्मनों ने युद्ध का समर्थन किया, अतः यह आवश्यक हो जाता है कि जो राष्ट्र अकारण ही आक्रान्ता बन जाते हैं उन्हें यही शिक्षा मिलनी चाहिये, और पड़ौसियों पर हमला करने वालों के भाग्य पर ऐसी ही मोहर लगनी चाहिये।" गैथोर्न हार्डी ने भी इन्हीं विचारों का प्रबल समर्थन करते हुए यह मत प्रकट किया कि "वास्तव में पहले कभी भी ऐसे उच्च आदर्शों पर आधारित कोई संधि-पत्र बना ही नहीं है।" "विल्सन के सिद्धान्तों का इसमें निचोड़ पाया जाता है, किसी भी अंश में उन सिद्धान्तों से हम भटके नहीं। इस संधि में किसी अन्तर्राष्ट्रीय अशांति तथा असुरक्षा के कण भी नहीं मिलते।"

संधि के पक्ष में युक्तियां उपस्थित करते हुए इस आरोप का खण्डन किया जाता है कि जिस प्रकार प्राचीन काल में रोम ने कार्थेज को जीत कर उसका समोन्मूलन किया था उसी प्रकार इस संधि में जर्मनी को विनष्ट

करने का प्रयत्न किया गया था। हां, यह अवश्य है कि राष्ट्रपति विल्सन के आदर्शवाद का प्रभाव होने से ही यह संधि अधिक कठोर नहीं हो पायी। इस संधि के औचित्य को दर्शाते हुए इतिहासकार हॉल तथा डेविस (Hall and Davies) ने सत्य ही लिखा है–

"यह संधि राइनलैण्ड को फ्रांस का अंग बना सकती थी, जर्मनी को १८६६ की भांति मेन नदी पर विभक्त कर सकती थी, सेंट जर्मेन तथा ट्रियनो की संधि में चेकोस्लोवाकिया द्वारा मांगा गया हंगरी के मैदान में होकर गुजरने वाला तंग रास्ता या गलियारा उसे दे सकती थी और इस प्रकार आस्ट्रिया तथा हंगरी को पृथक एवं यूगोस्लाविया तथा चेकोस्लोवाकिया संयुक्त कर सकती थी। पर इसमें इस तरह की बेहूदी बातें नहीं की गईं। अत: यह कहना अत्युक्तिपूर्ण है कि यह कार्थेज जैसी शांति-संधि थी। कार्थेज का विध्वंस कर दिया गया था, उसकी मिट्टी में नमक मिला दिया गया था। पराजित जर्मनी के साथ उससे कहीं अच्छा बर्ताव किया गया था जो जर्मन लोगों ने ब्रेस्ट-लिटोवस्क की संधि में रूसियों के साथ किया था। वर्साय की संधि में विजेताओं अथवा निर्माताओं ने न केवल जर्मनी का विध्वंस नहीं किया किन्तु अपनी शर्तों की कठोरता कम करने के लिए दो उपायों की व्यवस्था की भी करदी–पहला उपाय तो क्षतिपूर्ति आयोग की नियुक्ति थी जो उसके हर्जाने की रकम को कम कर सकता था और दूसरा उपाय राष्ट्र संघ था जो इसके अन्य अन्याय हटा सकता था।"[1]

वर्साय की संधि पर आलोचनाओं की वर्षा करते समय उस वातावरण की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये जिसमें कि इसने जन्म लिया था। जैसा कि जेसप ने लिखा है—"वातावरण भी, जिसमें संधि-निर्माताओं को कार्य करना था, समान रूप से प्रतिकूल था। यद्यपि वे विजेता थे किन्तु दीर्घ-कालीन युद्ध से प्राय: शक्ति-क्षीण हो गये थे और उनमें आघात की वह भावना उबल रही थी जो उन पर युद्ध थोपे जाने तथा युद्ध में जर्मनी द्वारा निर्मम क्रूरतापूर्ण ढंग अपनाने से पैदा हुई थी। सभी घाव अभी कच्चे ही थे और स्वभाव कलह युक्त थे। सम्मेलन सम्पूर्ण संसार का दंगल सा था जिसमें सम्पूर्ण प्रतिनिधियों ने क्रूर दमनकर्त्ताओं के हाथों से या युद्ध के विधिवत् अनुशासनों से मुक्त हुए अनेक देशों की लड़खड़ाती हुई अस्त-व्यस्तता को चलचित्र रूप में देखा।" वस्तुत: ऐसे बीज और ऐसी भूमि में वर्साय संधि से अच्छे उत्पादन की आशा भी नहीं की जा सकती थी।

---

1. *Hall and Davies* : The Course of European History since Waterloo, P. 665.

यदि युद्ध के विस्तार और आतंक को ध्यान में रखा जाय तो संधि के नियमों को उतना कठोर नहीं कहा जा सकता जितना आलोचक प्राय: बताते हैं। यहां पुन: जेसप को उद्धृत करते हुए हम कह सकते हैं कि "जर्मनी कभी कुचला नहीं गया, केवल उसके सम्बद्ध रूप से छोटे से और युद्ध नीति के अनुसार निश्चित भाग पर अधिकार किया गया।" अल्सेस-लोरेन, श्लेसविग, पोलैण्ड का जर्मनी से लिया जाना न्यायोचित था। यदि मूल निवासियों के साथ किये गये दुर्व्यवहार के बाद भी जर्मनी को उसके उपनिवेश लौटाये जाते तो यह एक नीच प्रकार का विश्वासघात होता।

वर्साय की संधि के पक्ष और विपक्ष में जो कुछ भी कहा जाय परन्तु एक यह महत्वपूर्ण बात तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि इस संधि के द्वारा भविष्य में युद्ध टालने की दिशा में एक कदम उठाने की कोशिश की गई और संसार में शांति स्थापना के लिये राष्ट्रसंघ जैसी संस्था की नींव डाली गई। इस तरह एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया गया जिसके द्वारा युद्ध को तथा उसके कारणों को दूर किया जा सके। इस संधि द्वारा विश्व को एक नवीन मापदण्ड प्राप्त हुआ जिसके द्वारा राष्ट्रों की कूटनीतिक चालों की आलोचना और सराहना होने लगी तथा सैद्धांतिक रूप से उन सिद्धांतों को पोषण मिला जो विलसन के सिद्धांतों में सन्निहित थे। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ आदि संस्थाओं का निर्माण किया गया। यद्यपि राष्ट्रसंघ अपने कार्य में सफलीभूत नहीं हुआ, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को न्याय के आधार पर तय करने की चेष्टा आरम्भ हुई। हमेशा कार्यों के पूर्व विचारों का जन्म होता है। मन्थन द्वारा विचारों की सार्थकता स्पष्ट होती है और तब विचार कार्यों में परिणत होते हैं। इस दृष्टि से वर्साय की संधि को नवीन दृष्टिकोण, नवीन सिद्धांत, नवीन विचार और नवीन व्यवस्था के स्वरूप की जननी कहा जा सकता है। दोषपूर्ण होते हुये भी यह संधि महत्वपूर्ण है क्योंकि "संसार के इतिहास में यह एक नये मार्ग की सूचक थी।"[1]

वर्साय संधि की विफलता और द्वितीय महायुद्ध

वर्साय की संधि "भयकारी, घृणा, प्रतिकार की भावना, आदर्शवाद और भौतिकवाद का अद्भुत सम्मिश्रण थी।" उसे नैतिक शब्दावली का आवरण पहनाया गया। उसमें की गई व्यवस्थायें उसकी भाषा से मेल नहीं खाती थीं। वर्साय की संधि शांति की व्यवस्था न होकर असन्तोष की जनक थी और आलोचकों के अनुसार, उसके मूल में दूसरे महायुद्ध के बीज विद्यमान

---

1. *Southgat* : History of Modern Europe, P. 216.

थे। इसी के कारण जर्मनी में नाजीवाद और इटली में फासिस्टवाद के उदय को विशेष प्रोत्साहन मिला।

वर्साय की संधि का उद्देश्य यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करना था किन्तु हुआ यह कि इसमें बीज रूप में विद्यमान विषाक्त बीज २० वर्ष के भीतर ही विशालकाय विष-वृक्ष बनकर द्वितीय महायुद्ध के रूप में मानवता के महा विनाश पर उतर आया। संधि के ठीक २० वर्ष २ महीने ४ दिन बाद संसार प्रथम महायुद्ध से भी अधिक भीषण युद्ध की अग्नि-ज्वालाओं में फंस गया। वास्तव में १९१९ में संधि पर हस्ताक्षर होने के बाद से ही भावी रक्तपात और विनाश के ताण्डव नृत्य की शुरुआत हो गई। दोनों महायुद्धों के मध्यवर्ती काल में संधि की व्यवस्थाओं को तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा और इस तरह संसार द्वितीय महायुद्ध की ओर जाने-अनजाने बढ़ता रहा।

इस संधि के अनेक भाग मित्रराष्ट्रों की सहमति, उपेक्षा और विरोध से संशोधित और भंग होते चले गये और जर्मनी ने संधि की व्यवस्थाओं को ठुकराने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। इस कथन में वस्तुतः कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि संसार में किसी भी संधि में इतनी तीव्र गति के साथ संशोधन और तोड़-मरोड़ नहीं हुये जितने कि इस संधि में किये गये। १९२६ ई० में जब जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दी गई तब संधि के प्रथम भाग में संशोधन किया गया। युद्ध-अपराधियों सम्बन्धी सातवां भाग कभी भी ठीक से कार्यान्वित नहीं हो सका। जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय और अनेक अन्य युद्ध-अपराधी दण्डित नहीं किये जा सके। केवल १२ व्यक्तियों को साधारण दण्ड दिये गये। क्षति-पूर्ति सम्बन्धी आठवें भाग की व्यवस्थाओं में पहले तो संशोधन किया गया और बादमें उनका भी परित्याग कर दिया गया। यह भाग वास्तव में कभी पूरी तरह लागू नहीं हुआ। क्षतिपूर्ति की रकम को अप्रेल १९२१ में क्षतिपूर्ति आयोग ने, १९२४ में डावेस कमेटी ने, १९२९ में यंग कमेटी ने और १९३१ में हूवर कमेटी ने क्रमशः कम कर दिया। अन्त में १९३२ में लोजान सम्मेलन द्वारा क्षतिपूर्ति के प्रश्न को ही समाप्त कर दिया गया। १९२० से लेकर १९३१ तक जर्मनी ने २१ अरब ५.८ करोड़ ५.० लाख स्वर्ण-मार्क (Gold Marks) मित्रराष्ट्रों को हर्जाने के रूप में दिये, किन्तु इसके लिये उसने अमेरिका से इससे लगभग दुगनी रकम उधार ले ली और उधार की अधिकांश धनराशि वापिस कभी नहीं लौटाई। इसी प्रकार दसवें और ग्यारहवें भाग में भी पहले अनेक संशोधन किये गये और अन्ततः उनका परि-त्याग कर दिया गया। चौदहवें अध्याय में दी गई गारन्टियों को मित्रराष्ट्रों ने उनकी अवधि से पांच वर्ष पूर्व ही १९३० में समाप्त हो जाने दिया। १९३५-३६ में हिटलर ने पांचवें भाग की उन मर्यादाओं को भी भंग कर

दिया जो जर्मन सेनाओं को सीमित करने वाले निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित थीं। १९३६ में उसने राइनलैंड में जर्मन सेनायें भेजकर राइन प्रदेश के असैनीकरण सम्बन्धी उपबन्धों को दफना दिया। १९३५ से १९३८ के बीच जर्मनी ने सन्धि के बारहवें भाग की कटु आलोचना की और नदियों के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आदि से सम्बन्धित व्यवस्थाओं को भंग कर दिया। इसी मध्य चीन पर जापान के आक्रमण और अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण द्वारा यह भी सिद्ध हो गया कि तेरहवें अध्याय द्वारा स्थापित राष्ट्रसंघ असफल हो गया था। संक्षेप में यह कहना चाहिये कि १९३७ तक वर्साय की सन्धि के प्रादेशिक व्यवस्थाओं वाले दूसरे, तीसरे और चौथे भाग ही अखण्डित बच गये और शेष सब निष्फल हो गये। इन बचे हुये भागों को भी हिटलर ने पश्चिमी शक्तियों की उपेक्षा और सहमति से भंग कर दिया। उसने मार्च १९३८ में आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ एकीकरण कर दिया, सितम्बर १९३८ में चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया और मार्च १९३९ में बोहीमिया तथा मोराविया पर अधिकार करके संधि के विभिन्न अंश तोड़ डाले। अन्त में जब हिटलर ने वर्साय की सन्धि का पोलिश गलियारे एवं डेन्जिग सम्बन्धी व्यवस्थाओं को भंग करने के उद्देश्य से पोलैंड पर आक्रमण किया तो द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हो गया।

स्पष्ट है कि वर्साय की संधि के उन्मूलन की प्रक्रिया का अन्त द्वितीय महायुद्ध में हुआ। प्रश्न यह उठता है कि द्वितीय महायुद्ध के श्रीगणेश के लिए वर्साय की संधि को दोषी ठहराया जा सकता है। इसके पक्ष में यह कहा जाता है कि इस संधि की जैसी कठोर और अपमानजनक शर्तों को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र एक लम्बे समय तक के लिए बर्दाश्त नहीं कर सकता था। जर्मनी जैसे स्वाभिमानी राष्ट्र के लिये इस तरह की आरोपित संधि कोई 'सबक' नहीं हो सकती थी। संधि के द्वारा आरोपित घोर अपमान से प्रताड़ित स्वाभिमानी जर्मनी के लिए यह स्वाभाविक था कि वह भविष्य में युद्ध द्वारा अपने अपमान को धोने का प्रयत्न करे। इस तरह भावी युद्ध के बीज तो १९१९ की इस संधि के द्वारा ही बो दिये गये थे। पेरिस के शांति-सम्मेलन की सबसे बड़ी 'सफलता' यह थी कि उसने एक ऐसे विष-वृक्ष के बीज का आरोपण किया जो १९३९ में एक विशाल संहारक वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया और उसके कटु फलों को सम्पूर्ण संसार को बुरी तरह चखना पड़ा।[1] चूंकि जर्मनी युद्ध में पराजित हो चुका था, और असहाय था अतः वर्साय की संधि पर उसे हस्ताक्षर करने ही पड़े। लेकिन एर्ज़ बर्गर ने विराम

---

1. "At the Peace Conference of Paris the fostering germs of decomposition were injected into the world's body-politic,

संधि के समय ही कह दिया था—"जर्मन जाति कष्ट सहेगी परन्तु मरेगी नहीं।" संधि की शर्तों को जर्मनी पर लादते समय और शर्तों के पालन के लिये कठोर नियन्त्रणों की व्यवस्था करते समय लॉयड जॉर्ज का विचार था कि "६० वर्ष तक जर्मनी का उत्थान नहीं हो सकता," लेकिन जर्मनी के भय से सदैव आशंकित रहने वाले फ्रांस के नेता **क्लेमेंसो** ने १९१९ में ही यह भय व्यक्त कर दिया—"**मैं जो कहता हूं उसे ध्यान से सुनो। छह महिने में, एक साल में, पांच साल में जब वे चाहेंगे पुनः हम पर आक्रमण करेंगे।**" फ्रांस का यह भय अन्ततः सत्य सिद्ध हुआ और जर्मनों ने एक बार फिर फ्रांस को रौंद डाला। इस समझौते पर भाषण करते हुए लार्ड ब्राइस ने लार्ड सभा में यह सम्मति प्रकट की थी—"शांति, केवल सन्तोष के द्वारा आ सकती है। इन संधियों का परिणाम राष्ट्रों को असन्तुष्ट बनाना है। इससे विद्रोह और युद्धों के लिये भूमि तैयार होगी।" संधि के अवसर पर मार्शल फॉच (Foch) ने भी कहा था कि "**वर्साय की संधि, संधि नहीं अपितु २० वर्षों के लिए एक विराम-संधि है।**"[1] फॉच की भविष्यवाणी सचमुच २० वर्ष बाद फलित हो गई।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के लिये वर्साय की अन्यायमूलक और अपमानजनक संधि एक सीमा तक उत्तरदायी थी, किन्तु साथ ही मित्रराष्ट्रों की परस्पर विरोधी और संधि की शर्तों का कठोरता-पूर्वक पालन न करवाने की नीति भी कम उत्तरदायी न थी। अधिक सत्य तो यही है कि युद्ध का वास्तविक कारण इंगलैंड और फ्रांस की तुष्टीकरण की नीति ही थी। यदि संधि की शर्तों का कड़ाई से पालन कराया जाता तो जर्मनी को यह अनुभव हो जाता कि वह युद्ध में न केवल हारा ही है अपितु भविष्य में कोई युद्ध छेड़ना उसके लिए स्वयं के महाविनाश को निमन्त्रण देना होगा। १९३६ में जब हिटलर ने राइनलैंड के असैनीकरण का उपबन्ध भंग किया तभी इंगलैंड और फ्रांस सरलतापूर्वक उसकी आक्रामक आकांक्षाओं का दमन कर सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा न करके हिटलर के साहस को प्रोत्साहन दिया और अप्रत्यक्ष रूप से उसकी शक्ति में वृद्धि की। संधि की शर्तों को तोड़ने के प्रति मित्रराष्ट्रों ने जिस उपेक्षा, उदासीनता, प्रच्छन्न समर्थन और नपुंसकता का प्रदर्शन किया, उससे उत्साहित होकर हिटलर एक के बाद एक

germs which, however long and deceptive the delay would ultimately show their symptoms."
—*Chambers*, Harris and Bayley : The Age of Conflict, Page 3[illegible]

1. *Churchill* : The Second World War, Vol. I, Page 6.

प्रदेश हड़पता चला गया और उसने द्वितीय महायुद्ध छेड़ने की मूर्खतापूर्ण हिम्मत कर डाली। लैंगसम (Langsam) के मतानुसार "१९१८ में अपनी भीषण हार के केवल २१ वर्ष बाद ही जर्मनी को इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध छेड़ने में समर्थ बनाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि शांति समझौते को बनाये रखने के लिये ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने विभिन्न नीति-मार्गों का अवलम्बन किया। अंग्रेजों ने १९२० के बाद व्यापारिक हितों की दृष्टि से (मृदु) नीति का तथा फ्रेंच लोगों ने जर्मनी को निर्बल बनाये रखने के लिए दूसरी (कठोर) नीति का आश्रय लिया। १९२०–२१ के बाद प्रत्येक जर्मन-फ्रेंच विवाद अन्ततोगत्वा ब्रिटिश-फ्रेंच विवाद बन जाता था और इससे जर्मनी को लाभ पहुंचता था।"

शांति समझौते की अन्य संधियां

यह बताया जा चुका है कि पेरिस के शांति-सम्मेलन में जर्मनी के अतिरिक्त अन्य पराजित देशों के साथ भी विभिन्न संधियां कीं। इन संधियों को वर्साय की संधि की भांति ही अपने-अपने उस स्थान-विशेष के नाम से पुकारा गया जहां उस पर हस्ताक्षर हुए। ये संधियां, जो शांति-समझौते का ही भाग थीं, निम्नलिखित थीं—

१. सेन्ट जर्मेन की संधि,
२. न्यूइली की संधि,
३. ट्रियनों की संधि,
४. सेव्र की संधि, तथा
५. लोसाने की संधि।

ये सभी संधियां वर्साय की संधि के नमूने पर ही की गईं। इन्हें बनाने का श्रेय पांच व्यक्तियों की एक परिषद को था जिसमें 'चार बड़े' राज्यों का एक प्रतिनिधि होता था और जिसका प्रधान क्लेमेन्सो था।

(१) आस्ट्रिया के साथ सेन्ट जर्मेन की संधि (Treaty of St. Germain, 1919)—आस्ट्रिया ही एकमात्र ऐसा वफादार साथी था जिसने जर्मनी का अन्त तक साथ दिया। युद्ध में पराजित होने के बाद आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य का पतन हो गया और इस साम्राज्य के खंडहरों में से कुछ नवीन राज्यों का उदय हुआ। जब पेरिस शांति-सम्मेलन का समारम्भ हुआ तो सम्मेलन के समक्ष इन नवोदित राज्यों को मान्यता प्रदान करने का प्रश्न उपस्थित हुआ और वर्साय की संधि के नमूने पर ही पेरिस के निकट सेन्ट-जर्मेन नामक स्थान पर आस्ट्रिया के साथ एक संधि सम्पन्न की गई। सेन्ट जर्मेन की इस संधि पर हस्ताक्षर १० सितम्बर १९१९ को हुए, यद्यपि इस

गया था। इस संधि की सबसे बड़ी विशेषता आस्ट्रिया-हंगरी के पुराने विशाल साम्राज्य का विभाजन करना और इसमें हिस्सा मांगने वाले ५ देशों—चैकोस्लोवाकिया, पोलैंड, युगोस्लाविया, इटली और रूमानिया के दावों को सन्तुष्ट करना था।

सम्मेलन में महाशक्तियों के सम्मुख आस्ट्रिया-हंगरी के भूतपूर्व साम्राज्य और नवीन परिस्थितियों से सम्बन्धित दो महान् कार्य थे। प्रथम तो उन्हें इस साम्राज्य में बसी जैक, स्लाव, पोल, सर्व, इटालियन, रूमानी आदि विभिन्न जातियों की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करनी थी। दूसरी ओर, आस्ट्रियन साम्राज्य का एक ऐसा न्यायपूर्ण विभाजन करना था जो यूरोप की शांति को सुरक्षित रखने में सहयोगी सिद्ध हो। यद्यपि इस कठिन कार्य को अधिकांशतः विशेषज्ञ समितियों ने पूर्ण किया, किन्तु अनेक बार ऐसे भी अवसर प्रस्तुत हुए जब इस सम्बन्ध में 'चार बड़ों' (Big Four) में गम्भीर राजनीतिक विवाद उत्पन्न हो गये। ऐसे अवसरों पर "विल्सन और उसके साथियों ने फर्श पर बिछाये गये विशालकाय मानचित्रों पर घुटनों के बल बैठते हुए" जटिल प्रश्नों का समाधान किया।

३८१ धाराओं वाली इस सँधि में राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की व्यवस्थायें लगभग वर्साय की सन्धि के अनुरूप ही थीं। इस संधि के अनुसार जो प्रमुख व्यवस्थाएं की गईं, वे इस प्रकार थीं—

(१) संधि की भूमिका में यह घोषित किया गया कि आस्ट्रिया-हंगरी से एकतन्त्र शासन समाप्त करके लोकतांत्रिक शासन की स्थापना की जायेगी।

(२) संधि की ८८वीं धारा ने आस्ट्रिया और जर्मनी को पुनः सघ बनाने का निषेध किया जिसका उद्देश्य लाखों आस्ट्रिया वासियों [illegible] जर्मनी को पुनः शक्तिशाली बनने से रोकना और जर्मनी के [illegible] चैकोस्लोवाकिया की रक्षा करना था। यही नहीं, आस्ट्रिया [illegible] को अपने देश का नाम जर्मन-आस्ट्रिया से बदल करके 'आस्ट्रिया-[illegible]' (Republic of Austria) रखने पर बाध्य किया गया। (३) इस संधि के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया की आबादी ३ करोड़ से घट कर [illegible] ६५ लाख रह गयी। इसी तरह क्षेत्रफल १ लाख १५ हजार वर्गमील से घटकर केवल ३२ हजार वर्गमील रह गया। आस्ट्रिया के भूतपूर्व साम्राज्य के अनेक हिस्से दूसरे देशों को मिले। इटली को [illegible] (Tyrol), ट्रीस्टे (Trieste), इस्ट्रिया (Istria), [illegible] (Brenner Pass) तथा डालमेशियन तट पर दो द्वीप प्राप्त हुए। युगोस्लाविया को बोसनिया (Bosnia), हर्जेगोविना (Herzegovina

तथा डालमेशियन किनारें (The Dalmatian coast) के कुछ अंश और टापू मिले। चैकोस्लोवाकिया नामक एक नये देश की सृष्टि हुई जिसमें वोहेमिया Bohemia), मोराविया (Moravia), निम्न आस्ट्रिया और लगभग सारा आस्ट्रियन साइलीशिया मिला, अन्तिम प्रदेश की सूडेटेस पर्वत-माला में लगभग ३० लाख जर्मन निवास करते थे। पोलैंड को आस्ट्रियन गैलीशिया (Austrian Galicia) प्राप्त हुआ। टेशेन (Teschen) का उद्योग प्रधान जिला पोलैंड तथा चैकोस्लोवाकिया में विभाजित किया गया। रूमानिया को बुकोविना (Bukovina) तथा ट्रांसिल्वानिया (Transylvania) दिये गये। इस प्रकार आस्ट्रिया एक बड़े साम्राज्य से एक छोटे से देश के रूप में परिवर्तित हो गया।

(४) आस्ट्रिया की सेना घटाकर केवल ३० हजार स्वयंसेवकों की कर दी गई, नई भर्ती का निषेध कर दिया गया तथा युद्ध–सामग्री की मात्रा और लड़ाकू जहाजों की संख्या घटा दी गई। नौसेना के नाम पर उसे केवल पुलिस–ध्येय के लिए डेन्यूब नदी में तीन किश्तियां रखने दी गईं।

(५) धारा १७७ में आस्ट्रिया से मित्रराष्ट्रों के लिए हानि व क्षय करने का उसका उत्तरदायित्व स्वीकार कराया गया। आस्ट्रिया को युद्ध अपराधियों के समर्पण के लिए तथा तीस वर्ष तक मुआवजा देने को कहा गया। उसकी राष्ट्रीय कला की निधियां २० वर्ष के लिये जब्त कर ली गईं।

(६) आस्ट्रिया अपने पुराने मित्र और मित्रराष्ट्रों के बीच हुई शर्तों पर सहमत हो गया। उसने गैर–यूरोपीय क्षेत्रों में अपने अधिकार व उपहार त्याग दिये तथा मित्रराष्ट्रों का आस्ट्रिया की 'युद्ध–अपराधी' के रूप में परीक्षा लेने का अधिकार स्वीकार किया। आस्ट्रिया को एड्रियाटिक (Adriatic) सागर तक खुला मार्ग दिया गया और इसके साथ चैकोस्लोवाकिया को भी उसके प्रदेश में से रेलें ले जाने का अधिकार दिया गया।

इस संधि के द्वारा वस्तुतः आस्ट्रिया–हंगरी की आर्थिक रीढ़ तोड़ दी गई। आस्ट्रिया का साम्राज्य, उसकी विशाल सेना, उसका भव्य राजवंश सभी कुछ एक भंवर में अदृश्य हो गये। देश में सर्वत्र विध्वंस के दृश्य उपस्थित हो गये। इस संधि में एक अन्य प्रमुख दोष यह रहा कि आत्मनिर्णय के सिद्धांत द्वारा आस्ट्रिया में रहने वाले जर्मन लोगों को जर्मनी में मिल जाने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये था, किन्तु ऐसा किया नहीं गया। इस अन्याय को आस्ट्रिया ने बहुत बुरा समझा और आगे चलकर इसके कुपरिणाम सम्पूर्ण यूरोप को भुगतने पड़े।

(२) बल्गेरिया के साथ न्यूइली की संधि (Treaty of Neuilly, 1919)—बल्गेरिया के प्रतिनिधि ने संधि की शर्तें तय होने से पूर्व ही शांति-सम्मेलन को एक आवेदन-पत्र भेजा। इस पत्र में यह बताया गया कि बल्गेरिया द्वारा जर्मनी की ओर से युद्ध-प्रवेश भूतपूर्व सम्राट फर्डिनेण्ड की गलती से हुआ था। चूंकि फर्डिनेण्ड ४ अक्टूबर १९१८ को गद्दी त्याग चुका है, अतः बल्गेरिया को उसके अपराध का दण्ड नहीं मिलना चाहिये। बल्गेरिया ने यह भी कहा कि उसको अपने प्रदेश के पर्याप्त विस्तार का अधिकार था, विशेष रूप से मेसेडोनिया (Macedonia) और डोबरूजा (Dobruja) में। मित्रराष्ट्रों ने बल्गेरिया के दावों और उसके तर्कों को अस्वीकार करते हुये उसे यह स्मरण कराया कि वह एक पराजित राष्ट्र था जिसे उसकी इच्छानुकूल कुछ नहीं मिल सकता था। चूंकि अब बल्गेरिया के समक्ष आत्मसमर्पण के अतिरिक्त और कोई मार्ग शेष न था, अतः पेरिस के एक उपनगर न्यूइली में २७ नवम्बर १९१९ को उसने मित्रराष्ट्रों द्वारा इच्छित संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि के अनुसार निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गयीं—

(१) बल्गेरिया के पश्चिमी भाग के चार छोटे प्रदेश यूगोस्लाविया को इस बात के बावजूद दे दिये गये कि उनमें बल्गेरियन जनता का बहुमत था। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि मित्रराष्ट्र सामरिक-दृष्टि से इन प्रदेशों का यूगोस्लाविया के पास रखना आवश्यक समझते थे ताकि वह युद्ध काल में कुछ पहाड़ी दर्रों का नियंत्रण करके निश-सलोनिका रेलमार्ग को सुरक्षित रख सकें।

(२) बल्गेरिया की सबसे बड़ी क्षति यह हुई कि उसे पश्चिमी थ्रेस (The Thracian Coast) यूनान को देना पड़ा। इसे उसने १९१३ में टर्की से प्राप्त किया था और इसके द्वारा उसके लिये यह सम्भव हो गया था कि वह एजियन सागर तक पहुंच सके। इस प्रदेश को खो देने से अब वह समुद्र तट पर पहुंचने के मार्ग से वंचित हो गया। ग्रीस और बल्गेरिया की सीमा में भी कुछ परिवर्तन किये गये।

(३) बल्गेरिया की सैन्यशक्ति घटा दी गयी। उसकी सेना की संख्या २० हजार और सशस्त्र अधिकारियों की १३ हजार कर दी गयी। नौ सेना समाप्त करके उसके पास केवल "बगैर तारपीडो की चार किश्तियाँ और ६ मोटर बोट" ही रहने दिये गये।

(४) अन्य पराजित राष्ट्रों की भांति युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिये बल्गेरिया ने ४५ करोड़ डालर की धनराशि देने का वादा किया जिसे —ी १९२१ से अगले ३७ वर्षों में चुकाना था।

(५) इस संधि ने बल्गेरिया की कमर तोड़ कर रख दी। यद्यपि उसे अपने अन्य साथियों की तुलना में सबसे कम प्रदेश देना पड़ा, लेकिन इससे वह बाल्कान राष्ट्रों में क्षेत्रफल, जनसंख्या, सैन्य-शक्ति एवम् साधन-सम्पत्ति की दृष्टि से सर्वाधिक निर्बल देश हो गया। मित्रराष्ट्रों ने बल्गेरिया से यह वायदा अवश्य किया कि वे एजियन सागर तक उसके आर्थिक यातायात को सुरक्षित रखेंगे। बल्गेरिया एक ऐसा दुर्बलतम देश बन गया जिसे अपने अस्तित्व के लिये हर समय बाह्य सहायता पर निर्भर करना पड़ा।

(३) **हंगरी के साथ ट्रियनों की संधि (Treaty of Trianon, 1920)**—३ नवम्बर, १९१८ की युद्धविराम शर्तों के अनुसार हंगरी ने लगभग बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया के आक्रमण और आन्तरिक सामाजिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल के कारण हंगरी में एक घोर राजनीतिक संकट उठ खड़ा हुआ तथा अराजक स्थिति पैदा हो गयी। ऐसी परिस्थिति में पेरिस शांति-सम्मेलन के लिये यह असम्भव हो गया कि वह हंगरी की किसी भी सरकार के साथ कोई संधि सम्पन्न करे। अन्ततः मित्रराष्ट्रों के समर्थन से एडमिरल होर्थी (Admiral Horthy) के नेतृत्व में एक नयी सरकार बनी और ४ जनवरी १९२० को हंगरी के होर्थी शासन के साथ संधि सम्पन्न की गई। इस संधि पर वर्साय में स्थित ट्रियनों के भव्य राजप्रासाद में हस्ताक्षर किये गये। सैण्ट जर्मेन की संधि 'आस्ट्रिया गणतन्त्र' के साथ हुई थी, ट्रियनों की संधि 'हंगरी की राष्ट्रीय सरकार' के साथ हुई।

इस संधि ने 'फ्यूम' (Fiume) के प्रश्न पर शाँति-सम्मेलन में तीव्रतम विवाद उत्पन्न किया। लन्दन की गुप्त संधि में मित्रराष्ट्रों ने इटली को एड्रियाटिक सागर पर ट्रीस्टे और पोला के बन्दरगाह देने का निश्चय किया था। लेकिन युद्ध के बाद इटली ने चाहा कि एड्रियाटिक सागर पर उसका पूर्ण नियन्त्रण हो जाय। इस दृष्टि से उसने हंगरी राज्य के फ्यूम बन्दगाह पर अपना दावा प्रस्तुत किया। उसे यह डर था कि यदि फ्यूम का बन्दरगाह यूगोस्लाविया को मिल गया तो इस क्षेत्र में वह उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हो जायगा और डालमेशिया के तट का तथा एड्रियाटिक सागर का पूरा समुद्री व्यापार उसके (इटली के) हाथ में नहीं आ सकेगा। अपने पक्ष के समर्थन में इटली ने कहा कि १९१० की जनगणना के अनुसार फ्यूम में इटालियन २४ हजार थे जबकि यूगोस्लाव १६ हजार। इटली के विरुद्ध युगोस्लाविया का दावा यह था कि फ्यूम के उपनगर सूशाक (Susak) की आबादी को शामिल करने पर यहां युगोस्लावों का बहुमत है। इसके अतिरिक्त युद्ध से पूर्व यहां चुनावों द्वारा निर्वाचित प्रत्येक अधिकारी युगोस्लाव

होता था। यूगोस्लाविया का एक बड़ा तर्क यह था कि उनके सभी बड़े रेल-मार्ग फ्यूम की अक्षाँश रेखा पर थे और उनका सीधा व स्वाभाविक समुद्री मार्ग यही बन्दरगाह था, अतः इसे यूगोस्लाविया को मिलना चाहिये। चूंकि विलसन ने यूगोस्लाविया के दावे को अधिक युक्तियुक्त समझा अतः इटालियन प्रतिनिधि ऑरलैंडों तथा सोन्निथो नाराज होकर स्वदेश लौट गये। शांति-सम्मेलन में इस समस्या का समाधान न हो सका और यह निर्णय किया गया कि इटली एवम् यूगोस्लाविया परस्पर संधि-वार्ता द्वारा इस प्रश्न का समाधान करें। १९२० में दोनों ही राष्ट्रों ने फ्यूम को एक स्वतन्त्र नगर मान लिया। तत्पश्चात् १९२४ में हुये एक समझौते द्वारा फ्यूम इटली को मिला तो इसका प्रधान उपनगर सूशाक यूगोस्लाविया का अंग बना।

फ्यूम के अतिरिक्त हंगरी के अन्य प्रदेशों के विभाजन की व्यवस्था तथा अन्यान्य व्यवस्थाएं इस संधि के द्वारा निम्नानुसार हुई—

(१) हंगरी को आस्ट्रिया से पृथक कर दिया गया। बुर्जनलैंड (Burgenland) का १५३२ वर्गमील क्षेत्र आस्ट्रिया को प्रदान किया गया। यही एक मात्र ऐसा प्रदेश था जो किसी पराजित राष्ट्र को मिला था।

(२) ट्रांसिल्वानिया और उसके साथ के कुछ प्रदेश रूमानिया को दिये गये।

(३) क्रोशिया (Croatia) और स्लोवाकिया (Slovakia) क्रमशः युगोस्लाविया तथा चेकोस्लोवाकिया को मिले। युगोस्लाविया को स्लावोनिया तथा बानात (Banat) का लगभग आधा भाग भी प्राप्त हुआ।

(४) अन्य पराजित राज्यों की तरह हंगरी को भी युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया और हरजाने के रूप में एक बहुत बड़ी रकम देने को विवश किया गया।

(५) हंगरी की जलसेना भंग कर दी गयी और उसकी सेना की संख्या घटाकर ३५ हजार कर दी गयी।

ट्रियनो की सन्धि का परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या एवं क्षेत्रफल की दृष्टि से हंगरी एक छोटा और साधारण राज्य हो गया। युद्ध के पूर्व हंगरी की आवादी २ करोड़ १० लाख थी, लेकिन इस संधि के कारण जिस नये हंगरी का निर्माण हुआ उसकी जनसंख्या केवल ७५ लाख रह गयी। इसके अतिरिक्त ३० लाख के लगभग हंगेरियन लोग अब अन्य राज्यों की प्रजा बनने के लिए विवश किये गये। संधि के द्वारा हुए परिवर्तनों से हंगरी का क्षेत्रफल १ लाख २५ हजार वर्गमील से घटकर ३५ हजार वर्गमील रह गया। संक्षेप में संधि की व्यवस्थाओं ने हंगरी को युद्ध पूर्व [illegible]

तिहाई और जनसंख्या का ४० प्रतिशत वाला राज्य बना दिया। इस सन्धि ने अत्यन्त गम्भीर जातीय उपद्रवों और शत्रुता को जन्म दिया तथा, हंगेरियनों के अनुसार, यूरोप में अनेक अल्सेस-लोरेन बना दिये।

(४) टर्की के साथ सेव्र की सन्धि (Treaty of Severs, 1920)—१० अगस्त १९२० को मित्रराष्ट्रों ने टर्की की भगोड़ी-सरकार के साथ जो इनकी सैनिक सहायता से कुस्तुनतुनिया में जमी हुई थी, सेव्र नामक स्थान पर एक संधि की। टर्की साम्राज्य, जो विजित दलों में से था, उसके साथ कैसी संधि हो, यह समस्या बड़ी कठिन थी। टर्की को लेकर इंगलैंड, फ्रांस रूस और इटली में काफी वाद-विवाद होते आये थे। साथ ही साथ युद्ध-काल में भी गुप्त सन्धियां इतनी हुईं थीं कि इनसे उलझन और भी बढ़ गयी थी। सेव्र की जो सन्धि तैयार हुई उस पर सुल्तान के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए टर्की को वास्तव में विवश कर दिया गया था, क्योंकि १९१९ में 'पूर्णरूप से विजित' टर्की के न केवल विभिन्न प्रान्तों बल्कि उसकी राजधानी पर भी मित्रराष्ट्रों का कब्जा था और उसके प्रान्तों में से अधिकांश गुप्त संधियों द्वारा मित्रराष्ट्रों के बीच बाँट लिये गये थे।

सेव्र की सन्धि के अनुसार, (१) टर्की ने मिश्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलीटानिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, अरब, फिलस्तीन, मेसोपोटामिया और सीरिया पर अपने सब अधिकारों का परित्याग कर दिया, (२) एशिया-माइनर, थ्रेस का कुछ भाग, एड्रियनोपल (Adrianople) और गैलीपोली (Gallipoli) यूनान को दे दिये गये, (३) सीरिया फ्रान्स को मिला और इंगलैंड को फिलस्तीन (Palestine) और मेसोपोटामिया (Mesopotamia) अर्थात् वर्तमान इराक प्राप्त हुए, (४) हेजाज (Hejjaj) के राजा को स्वतन्त्र मान लिया गया, (५) इटली को रोडस् तथा डोडेकनीज टापू मिले, (६) दर्रे दनियाल के जलडमरूमध्य का प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय एवं किले-बन्दी रहित बना दिया गया, आर्मीनिया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गयी तथा कुर्दिस्तान (Kurdistan) को भी स्वतन्त्रता का वचन दिया गया, (७) टर्की की सैन्य शक्ति ५० हजार सैनिकों तक सीमित कर दी गयी, जलसेना पूर्ण रूप से नष्ट कर दी गयी और वायुसेना का भी मित्रराष्ट्रों को समर्पण कर दिया गया, एवं (८) टर्की की संप्रभुता पर आत्मसमर्पण सम्बन्धी और अन्य प्रतिबन्ध लगा दिये गये, कुस्तुनतुनिया (Constantinople), अलेक्जेन्ड्रिया (Alexandria), स्मर्ना (Smyrna) आदि बन्दरगाहों और मरित्सा (Maritsa) नदी पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया।

टर्की की आर्थिक स्थिति को देखते हुए उससे हरजाना नहीं मांगा गया, यद्यपि युद्ध के लिए उसे उत्तरदायी अवश्य ठहराया गया। किन्तु फिर

होता था। यूगोस्लाविया का एक बड़ा तर्क यह था कि उनके सभी बड़े रेल-मार्ग फ्यूम की अक्षांश रेखा पर थे और उनका सीधा व स्वाभाविक समुद्री मार्ग यही बन्दरगाह था, अतः इसे यूगोस्लाविया को मिलना चाहिये। चूंकि विल्सन ने यूगोस्लाविया के दावे को अधिक युक्तियुक्त समझा अतः इटालियन प्रतिनिधि ऑरलैंडों तथा सोन्निनो नाराज होकर स्वदेश लौट गये। शांति-सम्मेलन में इस समस्या का समाधान न हो सका और यह निर्णय किया गया कि इटली एवम् यूगोस्लाविया परस्पर संधि-वार्ता द्वारा इस प्रश्न का समाधान करें। १९२० में दोनों ही राष्ट्रों ने फ्यूम को एक स्वतन्त्र नगर मान लिया। तत्पश्चात् १९२४ में हुये एक समझौते द्वारा फ्यूम इटली को मिला तो इसका प्रधान उपनगर सूशाक यूगोस्लाविया का अंग बना।

फ्यूम के अतिरिक्त हंगरी के अन्य प्रदेशों के विभाजन की व्यवस्था तथा अन्यान्य व्यवस्थाएं इस संधि के द्वारा निम्नानुसार हुईं—

(१) हंगरी को आस्ट्रिया से पृथक कर दिया गया। बुर्जनलैंड (Burgenland) का १५३२ वर्गमील क्षेत्र आस्ट्रिया को प्रदान किया गया। यही एक मात्र ऐसा प्रदेश था जो किसी पराजित राष्ट्र को मिला था।

(२) ट्रांसिल्वानिया और उसके साथ के कुछ प्रदेश रूमानिया को दिये गये।

(३) क्रोशिया (Croatia) और स्लौवाकिया (Slovakia) क्रमशः युगोस्लाविया तथा चेकोस्लोवाकिया को मिले। युगोस्लाविया को स्लावोनिया तथा बानात (Banat) का लगभग आधा भाग भी प्राप्त हुआ।

(४) अन्य पराजित राज्यों की तरह हंगरी को भी युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया और हरजाने के रूप में एक बहुत बड़ी रकम देने को विवश किया गया।

(५) हंगरी की जलसेना भंग कर दी गयी और उसकी सेना की संख्या घटाकर ३५ हजार कर दी गयी।

ट्रियनो की सन्धि का परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या एवं क्षेत्रफल की दृष्टि से हंगरी एक छोटा और साधारण राज्य हो गया। युद्ध के पूर्व हंगरी की आबादी २ करोड़ १० लाख थी, लेकिन इस संधि के कारण जिस नये हंगरी का निर्माण हुआ उसकी जनसंख्या केवल ७५ लाख रह गयी। इसके अतिरिक्त ३० लाख के लगभग हंगेरियन लोग अब अन्य राज्यों की प्रजा बनने के लिए विवश किये गये। संधि के द्वारा हुए परिवर्तनों से हंगरी का क्षेत्रफल १ लाख २५ हजार वर्गमील से घटकर ३५ हजार वर्गमील रह गया। संक्षेप में संधि की व्यवस्थाओं ने हंगरी को युद्ध पूर्व भू-भाग का [illegible]-

तिहाई और जनसंख्या का ४० प्रतिशत वाला राज्य बना दिया। इस सन्धि ने अत्यन्त गम्भीर जातीय उपद्रवों और शत्रुता को जन्म दिया तथा, हंगेरियनों के अनुसार, यूरोप में अनेक अल्सेस-लोरेन बना दिये।

(४) **टर्की के साथ सेव्र की सन्धि (Treaty of Severs, 1920)**—१० अगस्त १६२० को मित्रराष्ट्रों ने टर्की की भगोड़ी-सरकार के साथ जो इनकी सैनिक सहायता से कुस्तुनतुनिया में जमी हुई थी, सेव्र नामक स्थान पर एक संधि की। टर्की साम्राज्य, जो विजित दलों में से था, उसके साथ कैसी संधि हो, यह समस्या बड़ी कठिन थी। टर्की को लेकर इंगलैंड, फ्रांस रूस और इटली में काफी वाद-विवाद होते आये थे। साथ ही साथ युद्ध-काल में भी गुप्त सन्धियां इतनी हुईं थीं कि इनसे उलझन और भी बढ़ गयी थी। सेव्र की जो सन्धि तैयार हुई उस पर सुल्तान के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए टर्की को वास्तव में विवश कर दिया गया था, क्योंकि १६१६ में 'पूर्णरूप से विजित' टर्की के न केवल विभिन्न प्रान्तों वल्कि उसकी राजधानी पर भी मित्रराष्ट्रों का कब्जा था और उसके प्रान्तों में से अधिकांश गुप्त संधियों द्वारा मित्रराष्ट्रों के बीच बाँट लिये गये थे।

सेव्र की सन्धि के अनुसार, (१) टर्की ने मिश्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलीटानिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, अरब, फिलस्तीन, मेसोपोटामिया और सीरिया पर अपने सब अधिकारों का परित्याग कर दिया, (२) एशिया-माइनर, थ्रेस का कुछ भाग, एड्रियनोपल (Adrianople) और गैलीपोली (Gallipoli) यूनान को दे दिये गये, (३) सीरिया फ्रान्स को मिला और इंगलैंड को फिलस्तीन (Palestine) और मेसोपोटामिया (Mesopotamia) अर्थात् वर्तमान इराक प्राप्त हुए, (४) हेजाज (Hejjaj) के राजा को स्वतन्त्र मान लिया गया, (५) इटली को रोडस् तथा डोडेकनीज टापू मिले, (६) दर्रे दनियाल के जलडमरूमध्य का प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय एवं किले-वन्दी रहित बना दिया गया, आर्मीनिया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गयी तथा कुर्दिस्तान (Kurdistan) को भी स्वतन्त्रता का वचन दिया गया, (७) टर्की की सैन्य शक्ति ५० हजार सैनिकों तक सीमित कर दी गयी, जलसेना पूर्ण रूप से नष्ट कर दी गयी और वायुसेना का भी मित्रराष्ट्रों को समर्पण कर दिया गया, एवं (८) टर्की की संप्रभुता पर आत्मसमर्पण सम्बन्धी और अन्य प्रतिवन्ध लगा दिये गये, कुस्तुनतुनिया (Constantinople), अलेक्जेन्ड्रिया (Alexandria), स्मर्ना (Smyrna) आदि बन्दरगाहों और मरित्सा (Maritsa) नदी पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया।

टर्की की आर्थिक स्थिति को देखते हुए उससे हरजाना नहीं मांगा गया, यद्यपि युद्ध के लिए उसे उत्तरदायी अवश्य ठहराया गया। किन्तु फिर

भी इस सन्धि के द्वारा मित्रराष्ट्रों को टर्की के बजट और वित्तीय कानूनों की देख-रेख का अधिकार प्राप्त हुआ। इस कार्य के सम्पादन के लिए एक वित्तीय-आयोग की रचना हुई जिसमें ब्रिटेन, फ्रान्स और इटली के प्रतिनिधि शामिल थे।

सेव्र की सन्धि से खलीफा के विशाल साम्राज्य में केवल अनातोलिया का पहाड़ी भाग और कुस्तुनतुनिया के आसपास का कुछ प्रदेश ही रह गया। टर्की के सौभाग्यवश यह अपमानजनक सन्धि कार्यान्वित नहीं हो पायी। मुस्तफा कमाल पाशा (Mustafa Kemal Pasha) के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों ने इसका प्रबल विरोध किया। राष्ट्रवादी शक्तियों ने, कमाल पाशा के सबल नेतृत्व में, सेव्र की सन्धि को मित्रराष्ट्रों की सहायता से जबर्दस्ती लागू करने वाली यूनानी फौजों को अपनी मातृभूमि से खदेड़ना शुरू किया और सितम्बर १९२२ तक उन्हें बुरी तरह परास्त कर लघु-एशिया (Asia Minor) से निकाल दिया। अब कमाल पाशा की सरकार जम गयी और ब्रिटेन को छोड़कर लगभग सभी यूरोपीयन देशों ने चुपके-चुपके उसे मान्यता भी देदी। १ नवम्बर, १९२२ को सुल्तान का पद समाप्त कर दिया गया तथा २० नवम्बर, १९२२ को लोसाने (Lausanne) में राष्ट्रवादी टर्की और मित्र-राष्ट्रों के बीच वार्ता प्रारम्भ हुई।

(५) **टर्की के साथ लोसाने की सन्धि (Treaty of Lausanne, 1923)**—मित्रराष्ट्रों और टर्की की राष्ट्रवादी सरकार के मध्य लोसाने का सम्मेलन २० नवम्बर १९२२ से २४ जुलाई १९२३ तक चलता रहा। इस सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, यूनान, बल्गेरिया और युगोस्लाविया ने तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने एक पर्यवेक्षक (An observer) के माध्यम से भाग लिया। यह सम्मेलन १७ समझौतों में प्रतिफलित हुआ, किन्तु इन समझौतों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण लोसाने की सन्धि थी जिस पर २४ जुलाई १९२३ को हस्ताक्षर हुए।

लोसाने की इस सन्धि द्वारा (१) अनातोलिया (Anatolia) पर टर्की की संप्रभुता को स्वीकार कर लिया गया और आर्मीनिया तथा कुर्दिस्तान को स्वतन्त्रता देने की बात का अन्त कर दिया गया, (२) कुस्तुनतुनिया, पूर्वी थ्रेस, गैलीपोली, साइलीशिया, अदालिया (Adalia) और स्मर्ना टर्की को वापिस मिल गये, परन्तु वे प्रदेश जो ब्रिटेन और फ्रांस को मैन्डेट के तौर पर दिये गये थे, वापिस नहीं लौटाये गये, (३) दर्रे-दनियाल और बासफोरस के जलडमरूओं के प्रदेश को पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय और निःशस्त्र बने रहने दिया गया, (४) टर्की ने अपनी सीमाओं से बाहर अपने पुराने प्रदेशों मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, मिश्र, फिलस्तीन, सूडान, साइप्रस पर सब अधिकार त्याग [illegible]

दिये, (५) यूनानी और तुर्की भाषा-भाषी लोगों की यूनान और टर्की के मध्य स्वेच्छा से अदला-बदली हुई, (६) टर्की के मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के समान राजनीतिक अधिकारों को मान्यता दी गयी, (७) टर्की की जल और स्थल-सेना के ऊपर कोई पाबन्दी नहीं लगायी गयी और उससे हरजाने की रकम नहीं मांगी गयी, (८) फ्रैंकलिन-बाउलिन समझौते (Franklin-Boullin Agreement) में निर्धारित सीरिया की सीमा स्थायी कर दी गयी, परन्तु मोसल (Mosul) के प्रश्न पर विचार नहीं किया गया।

इस प्रकार लोसाने की सन्धि के द्वारा टर्की ने लगभग वे सारी बातें पूर्ण करालीं जिनकी चर्चा २० जनवरी, १९२० को प्रकाशित उस राष्ट्रीय समझौते में की गयी थी जिसके द्वारा कमाल पाशा की अस्थायी सरकार ने सम्पूर्ण एशिया-माइनर और थ्रेस को टर्की के लिए मांगा था और जिसमें टर्की के संप्रभुत्व पर किसी भी रूप में विदेशी नियन्त्रण अस्वीकार कर दिया गया था। सेव्र की सन्धि को ठुकराकर लोसाने की सन्धि में सफलता प्राप्त करना कमाल पाशा की टर्की के लिए एक बड़ी विजय थी। तुर्कों ने सांस्कृतिक सीमा बन्दी, अन्तर्राष्ट्रीय गुलामी से मुक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि वे सारी चीजें प्राप्त करलीं जिनके लिए वे लड़े। लोसाने की इस सन्धि में जिस भावना और उदारता का प्रदर्शन हुआ था, यदि उसे अन्य सन्धियों में भी स्थान दिया गया होता तो कदाचित् संसार उस पीड़ा से मुक्त हो जाता जो उसे आगे चलकर भुगतनी पड़ी।

अल्पसंख्यक संधियां (Minorities Treaties)

उपरोक्त शांति-सन्धियों के द्वारा यूरोप के नक्शे में बड़ा परिवर्तन लाया गया और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का पालन करते हुए विभिन्न जातियों की महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने का भी प्रयत्न किया गया। किन्तु फिर भी उनकी सम्पूर्ण आकांक्षाओं को स्थान दिया जा सकना सम्भव नहीं हुआ क्योंकि प्रथम तो यूरोप में अनेक स्थानों पर विभिन्न जातियां बड़ी मिली-जुली थीं और दूसरे कुछ ऐसे अन्य कारण थे जिनसे विवश होकर मित्रराष्ट्रों को अनेक बार राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का उल्लंघन करना पड़ा। इस प्रकार स्थिति यह थी कि यूरोप के नवीन राष्ट्रों की सीमाओं में अनेक अल्पसंख्यक जातियों का समावेश हो गया था। विभिन्न राज्यों में लगभग १ करोड़ ७० लाख अल्पसंख्यक रह गये। चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और इटली में जर्मन अल्पसंख्या में थे। इसी प्रकार हंगरी के ३० लाख मगयार और आस्ट्रिया के ४० लाख जर्मन विदेशी शासन में पहुंच गये थे। इन परिस्थितियों में इस बात की पर्याप्त आशंका थी कि विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें इन अल्पसंख्यकों के साथ दुर्व्यवहार करें अथवा दूसरे शब्दों में बहुमत उन पर दमन-चक्र

चलाये। विल्सन का यह दृढ़ विचार था कि बहुमत जाति के द्वारा अल्पसंख्यकों पर किया जाने वाला अत्याचार विश्व-शांति के लिए गंभीर संकट सिद्ध हो सकता है। यूरोप के ऐसे वातावरण में यह आवश्यक समझा गया कि शांति परिषद् द्वारा कुछ अल्पसंख्यक सन्धियों की व्यवस्था की जाय।

उपरोक्त विचार की कार्यान्विति हेतु शांति परिषद् अथवा सम्मेलन ने नवीन राज्यों की एक समिति नियुक्त की जिसे अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर विचार करने का कार्य सौंपा गया। समिति की सिफारिशों के आधार पर अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और टर्की आदि के साथ की गई सन्धियों में की गई। मित्रराष्ट्रों ने प्रबल विरोध होते हुए भी चैकोस्लोवाकिया (१० सितम्बर १९१९), युगोस्लाविया, (१० सितम्बर १९१९), रूमानिया (९ दिसम्बर १९१९), यूनान (१० अगस्त १९२०), आर्मीनिया (१० अगस्त १९२०) के साथ भी इस प्रकार की सन्धियां की। बाद में इसी प्रकार की सन्धियां लेटविया, लिथुआनिया, एस्टोनिया, फिनलैंड और अल्बानिया ने राष्ट्रसंघ के साथ की।

इन सन्धियों के अनुसार विभिन्न राज्यों ने अपनी सीमाओं में रहने वाली सब जातियों की सुरक्षा करने और उनके धार्मिक, जातीय एवं भाषा सम्बन्धी अधिकारों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने का वचन दिया। इन संधियों की देखभाल का कार्य राष्ट्रसंघ को सौंपा गया। राष्ट्रसंघ की परिषद् के बहुमत से ही इनमें कोई संशोधन हो सकता था।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने 'युद्धों को समाप्त करने के लिये लड़े जाने वाले युद्ध' के बाद विभिन्न संधियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन मानव जाति का यह दुर्भाग्य था कि यूरोप का राजनीतिक वातावरण निरन्तर क्षुब्ध होता गया, राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही, अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण के लिये की गई संधियों की शर्तों के प्रति कोई वचन नहीं निभाया गया और अन्तत: १९३८ में संसार को एक दूसरा महायुद्ध देखना पड़ा। पेरिस की शान्ति-संधियां असफल इसलिये रहीं कि प्रथम तो सम्बन्धित पक्षों ने संधि की शर्तों के पालन का उत्तरदायित्व नहीं निभाया, द्वितीय फ्रांस में क्लेमेंसो सरकार का पतन हो गया और उग्रवादी पोआन्कार-सरकार सत्तारूढ़ हुई जिसने प्रारम्भ से ही ऐसी नीति पर चलने का ध्येय अपनाया कि जिसके फलस्वरूप संधि की शर्तें बेकार हो जायं और फ्रांस को खुलकर जर्मनी से बदला लेने का मौका मिले। वास्तव में फ्रांस की राजनीति में पोआन्कारे का पुन: प्रवेश यूरोप के लिये अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में शांति-संधियों से [illegible] [illegible] प्राणघातिक सिद्ध हुआ। संधियों को संसार के [illegible]

महानतम देश के समर्थन से वंचित हो जाना पड़ा और उनको कार्यान्वित करने का भार केवल उन्हीं लोगों पर रह गया जो प्रतिशोध की आग में जल रहे थे।[1] यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि यदि संधि की शर्तों का पालन सभी पक्षों की ओर से होता तो पेरिस की शांति सधियों की वह दुर्दशा नहीं होती जो बाद में हुई।[2]

EXERCISES

1. What do you understand by the term 'Peace Treaties' or Peace Settlement.
   "शांति संधियों अथवा शांति समझौते" से आप क्या अर्थ समझते है ?

2. "Bases of Peace Settlement of 1919 proved to be the problems of the Peace Makers". Comment.
   "शांति सम्मेलन के मूल आधार ही सम्मेलन के शांति निर्माताओं के लिये समस्या सिद्ध हुये।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

3. Examine the salient features of the Varsailles Treaty of 1919. What effect had they on subsequent history ?

---

1. "It is not only that the impressive might of the greatest democracy in the world was withdrawn from the forces behind the covenant. The damage done to the carefully planned structure of the treaty as a whole was almost irreparable for the balance was entirely changed. Its interpretation was left entirely in the hands of victorious belligerents with the animosities of centuries stirred and stimulated by the horrible wounds of war—Between the retreat of America and the treacheries of Europe the treaties of peace were never given a fair trial."

   —*Lloyd George :* Ibid, P.P. 1412-1413.

2. "We should all agree that the treaties were never given a chance by a miscellaneous and unimpressive array of second rate statesmen who have handled them for the past fifteen years....Had the stipulation of these treaties been faithfully and honestly interpreted and fulfilled, the dark military and economic menace now hanging over Europe would have been averted."

   —*Lloyd George,* Ruth About Peace Treaties, Vol. II, PP. 1403-7.

चलाये। विल्सन का यह दृढ विचार था कि बहुमत जाति के द्वारा अल्पसंख्यकों पर किया जाने वाला अत्याचार विश्व-शांति के लिए गंभीर संकट सिद्ध हो सकता है। यूरोप के ऐसे वातावरण में यह आवश्यक समझा गया कि शांति परिषद् द्वारा कुछ अल्पसंख्यक सन्धियों की व्यवस्था की जाय।

उपरोक्त विचार की कार्यान्विति हेतु शांति परिषद् अथवा सम्मेलन ने नवीन राज्यों की एक समिति नियुक्त की जिसे अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर विचार करने का कार्य सौंपा गया। समिति की सिफारिशों के आधार पर अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और टर्की आदि के साथ की गई सन्धियों में की गई। मित्रराष्ट्रों ने प्रबल विरोध होते हुए भी चैकोस्लोवाकिया (१० सितम्बर १९१९), यूगोस्लाविया, (१० सितम्बर १९१९), रूमानिया (९ दिसम्बर १९१९), यूनान (१० अगस्त १९२०), आर्मीनिया (१० अगस्त १९२०) के साथ भी इस प्रकार की सन्धियां की। बाद में इसी प्रकार की सन्धियां लेटविया, लिथुआनिया, एस्टोनिया, फिनलैंड और अल्बानिया ने राष्ट्रसंघ के साथ की।

इन सन्धियों के अनुसार विभिन्न राज्यों ने अपनी सीमाओं में रहने वाली सब जातियों की सुरक्षा करने और उनके धार्मिक, जातीय एवं भाषा सम्बन्धी अधिकारों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने का वचन दिया। इन संधियों की देखभाल का कार्य राष्ट्रसंघ को सौंपा गया। राष्ट्रसंघ की परिषद् के बहुमत से ही इनमें कोई संशोधन हो सकता था।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने 'युद्धों को समाप्त करने के लिये लड़े जाने वाले युद्ध' के बाद विभिन्न संधियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन मानव जाति का यह दुर्भाग्य था कि यूरोप का राजनीतिक वातावरण निरन्तर क्षुब्ध होता गया, राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही, अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण के लिये की गई संधियों की शर्तों के प्रति कोई वचन नहीं निभाया गया और अन्ततः १९३९ में संसार को एक दूसरा महायुद्ध देखना पड़ा। पेरिस की शान्ति-संधियां असफल इसलिये रहीं कि प्रथम तो सम्बन्धित पक्षों ने संधि की शर्तों के पालन का उत्तरदायित्व नहीं निभाया, द्वितीय फ्रांस में क्लेमेंसो सरकार का पतन हो गया और उग्रवादी पोआन्कार-सरकार सत्तारूढ़ हुई जिसने प्रारम्भ से ही ऐसी नीति पर चलने का ध्येय अपनाया कि जिसके फलस्वरूप संधि की शर्तें बेकार हो जायं और फ्रांस को खुलकर जर्मनी से बदला लेने का मौका मिले। वास्तव में फ्रांस की राजनीति में पोआन्कारे का पुनः प्रवेश यूरोप के लिये अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में शांति-संधियों से अमेरिका [illegible] । संधियों को संसार के एक

महानतम देश के समर्थन से वंचित हो जाना पड़ा और उनको कार्यान्वित करने का भार केवल उन्हीं लोगों पर रह गया जो प्रतिशोध की आग में जल रहे थे।[1] यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि यदि संधि की शर्तों का पालन सभी पक्षों की ओर से होता तो पेरिस की शांति सधियों की वह दुर्दशा नहीं होती जो बाद में हुई।[2]

EXERCISES

1. What do you understand by the term 'Peace Treaties' or Peace Settlement.
   "शांति संधियों अथवा शांति समझौते" से आप क्या अर्थ समझते हैं ?

2. "Bases of Peace Settlement of 1919 proved to be the problems of the Peace Makers". Comment.
   "शांति सम्मेलन के मूल आधार ही सम्मेलन के शांति निर्माताओं के लिये समस्या सिद्ध हुये।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

3. Examine the salient features of the Varsailles Treaty of 1919. What effect had they on subsequent history ?

---

1. "It is not only that the impressive might of the greatest democracy in the world was withdrawn from the forces behind the covenant. The damage done to the carefully planned structure of the treaty as a whole was almost irreparable for the balance was entirely changed. Its interpretation was left entirely in the hands of victorious belligerents with the animosities of centuries stirred and stimulated by the horrible wounds of war—Between the retreat of America and the treacheries of Europe the treaties of peace were never given a fair trial."

   —*Lloyd George :* Ibid, P.P. 1412-1413.

2. "We should all agree that the treaties were never given a chance by a miscellaneous and unimpressive array of second rate statesmen who have handled them for the past fifteen years....Had the stipulation of these treaties been faithfully and honestly interpreted and fulfilled, the dark military and economic menace now hanging over Europe would have been averted."

   —*Lloyd George*, Ruth About Peace Treaties, Vol. II, PP. 1403-7.

१९१९ की वर्साय की संधि की मुख्य विशेषताओं की परीक्षा कीजिये। आने वाले इतिहास पर उनका क्या प्रभाव पड़ा ?

4. It has become to be remarked that the "Peace settlement of Varsailles was a curious blending of hyprocricy hatred, vengeance idealism and materialism." Examine critically the main provision of the Treaty of Versailles in the light of this statement.

यह कहा गया है कि "यह संधि, मक्कारी, घृणा, प्रतिकारी की भावना, आदर्शवाद और भौतिकवाद का विचित्र मिश्रण है।"

उपरोक्त कथन को दृष्टि में रखते हुए वर्साय संधि के मुख्य-मुख्य निर्णयों की आलोचना कीजिये।

5. "The treaty of Versailles had certain characteristics which determined much of its subsequent history.' Carr. Examine the above statement and state clearly chief defects of the treaty of Versailles.

"वर्साय की संधि में कुछ ऐसी विशिष्टतायें थीं जिन्होंने इस संधि के परिवर्तित इतिहास को बहुत प्रभावित किया।" (कार)
उपरोक्त कथन की आलोचना कीजिये तथा वर्साय की संधि के दोषों का स्पष्ट वर्णन कीजिये।

6. "A great opportunity of lasting peace was missed in 1919." Comment.

"स्थायी शांति का एक महान् अवसर १९१९ में खो दिया गया।" विवेचना कीजिये।

7. "Germany was crushed to the earth and was not permitted even to join the League of Nations". Discuss the statement in the light of the Treaty of Versailles.

"जर्मनी को कुचल कर धूल में मिला दिया गया और उसे राष्ट्रसंघ तक में सम्मिलित होने की इजाजत नहीं दी गई।"
वर्साय की संधि के प्रकाश में इस कथन की विवेचना कीजिये।

8. Bring out the salient features of the Paris peace settlement after the first world war and examine the view that the peace treaty of Versailles was merely an armistice for twenty years.

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुए पेरिस के शांति समझौते की मुख्य विशेषताओं को बतलाईये और इस धारणा की समीक्षा कीजिये कि

वर्साय की शांति संधि केवल मात्र २० वर्ष के लिये एक विराम-संधि थी ।

9. "The victorious powers of the war of 1914-18 used their victory for two purposes — to the vanquished neighbours and to extend their economic supremacy." (Jackson) Comment on the statement.

"१९१४–१८ के युद्ध के विजेताओं ने अपनी विजय का दो उद्देश्यों के लिये उपयोग किया—[१] अपने पराजित पड़ौसी राष्ट्रों को पंगु बनाने के लिये तथा [२] अपनी आर्थिक प्रभुता के विस्तार के लिये ।" [जेक्सन] । उपरोक्त कथन की आलोचना कीजिये ।

10. "Treaty of Versailles was a 'dic ated peace'.(Carr) Explain. Write a critical note on the treaty of Versailles.

'वर्साय की संधि एक आरोपित संधि थी [कार] विवेचना कीजिये । वर्साय की संधि पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये ।

11. "The most controversial and complicated problem, which confronted the statesman of Europe after the peace settlement, was the provision of reparation in the treaty of Versailles." Discuss.

"यूरोप के राजनीतिज्ञों के सामने शांतिपूर्ण व्यवस्था के उपरांत मुख्यत: विवादास्पद और पेचीदापूर्ण समस्या आई जो कि संधि में क्षतिपूर्ति के निर्णय थे ।" विवेचना कीजिए ।

12. How far the treaty of Versailles was responsible for the second world war ?

वर्साय की संधि द्वितीय महायुद्ध के लिये कहां तक उत्तरदायी थी ?

13. Describe in brief the fourteen points of President Wilson and explain to what extent these were incorporated in the covenant of the League of Nations. What were the points of incoherence between the treaty of Versailles and the Wilsonian principles.

राष्ट्रपति विल्सन के १४ सूत्रों का संक्षेप में वर्णन कीजिये और बतलाईये कि राष्ट्रसंघ के संविदा में किस सीमा तक इन्हें सम्मिलित किया गया था । वर्साय की संधि और विल्सन के सिद्धान्तों में क्या असंगतियां थीं ?

14. Give an appraisal of the peace treaty of Versailles.

वर्साय की संधि का मूल्यांकन कीजिये ।

15. Discuss the various other treaties that were concluded in the Paris Peace Conference.
पेरिस शांति सम्मेलन में निर्णीत अन्य संधियों की विवेचना कीजिये ।

Or

Write short notes on—
संक्षिप्त वर्णन कीजिए:—
(i) The Treaty of Saint Germain.
[सेण्ट जरमेन की संधि]
(ii) The Treaty of Neuilly.
[न्यूली की संधि]
(iii) The Treaty of Sevres.
[सैवर्स की संधि]
(iv) The Treaty of Lausanne.
[लासेन की संधि]
(v) The Treaty of Trianon.
[ट्रायनन की संधि]

16. "The Peace Settlement (after the first world war) balkanized Europe." Comment.
"शांति समझौते ने यूरोप का बाल्कनीकरण कर दिया।"
विवेचना कीजिये ।

17. Explain the 'significance' of the principle of self determination. How far was it applied in the European settlement of 1919-20 and : ι what result ?
आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के महत्व और अभिप्राय: को स्पष्ट कीजिये । १९१९–२० के यूरोपीय समझौते में यह सिद्धान्त कहां तक लागू किया गया और इसके क्या परिणाम हुए ?

तृतीय अध्याय

राष्ट्रसंघ

(THE LEAGUE OF NATIONS)

"लीग शान्ति-सम्मेलन की एक महान रचना थी। इसकी अन्तरात्मा पूर्णतया अन्तर्राष्ट्रीय थी और यदि उसके सदस्य दृढ़तापूर्वक निष्पक्ष रूप से उसका उपयोग करते तो यह शान्ति का एक महान साधन सिद्ध होती।"

—गैथार्न हार्डी

युद्ध के वाद शांति और शांति के वाद युद्ध—यह मनुष्य के विकास-क्रम का इतिहास रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अन्तिम रूप से शांति का आकांक्षी है और इसीलिए शताब्दियों से उसकी यह कामना रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थायी शांति की स्थापना होनी चाहिए।

जव शांति की स्थापना का प्रयास किया जाता है तो यह कार्य प्रायः एक ऐसी संस्था को सौंपा जाता है जो निष्पक्ष रूप से विभिन्न राष्ट्रों के विरोधी हितों के मध्य ताल-मेल स्थापित कर सके। इस प्रकार की विश्व-संस्था का उद्भव क्षेत्रीय अथवा स्थानीय युद्धों से नहीं प्रत्युत् विश्व-युद्धों से होता है। इस प्रकार के युद्ध विश्व-इतिहास में अव तक तीन वार लड़े गये हैं–नेपोलियन के युद्ध, प्रथम महायुद्ध, और द्वितीय महायुद्ध। इन तीनों ही व्यापक युद्धों के वाद क्रमशः पवित्र संधि (Holy Alliance), राष्ट्र संघ (League of Nations) तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation)—इन तीन विश्व-संगठनों का जन्म हुआ। ये संगठन अनेक सम्मेलनों, अस्थायी संस्थाओं, अन्तर्राष्ट्रीय लोकसंघों एवम् अन्य नाना-प्रयासों के फल थे जो अन्तर्राष्ट्रीय हितों को संस्थागत रूप देने के लिए किये गये थे।

राष्ट्रसंघ के विचार का उद्गम और उसका जन्म

विचार का विकास—यद्यपि राष्ट्रसंघ वैधानिक रूप से १० जनवरी १९२० को अस्तित्व में आया, किन्तु इसके उद्देश्यों की आवश्यकता का अनुभव वहुत प्राचीन काल से ही रहा था। यूरोप के विचारक, दार्शनिक और राज-नीतिज्ञ मध्यकाल से ही युद्धों को रोकने और स्थायी शांति स्थापित करने की

विभिन्न योजनाएं और कल्पनाएं बनाते चले आ रहे थे। १४ वीं शताब्दी में पियरे डुब्रोइस (Pierre Dubois) ने फ्रैन्च राजा की अधीनता में सम्पूर्ण ईसाई जगत को एक सूत्र में पिरोने का सुझाव रखा था। टॉमस एक्विनास (Thomas Acquinas) युद्धों की अराजकता मिटाने के लिये सब राज्यों को एक सार्वभौम चर्च के अधीन रखना चाहता था। इटली का प्रसिद्ध कवि दांते (Dante) सभी शासकों को एक सार्वभौम साम्राज्य का वशवर्ती बनाने का इच्छुक था। १६वीं शताब्दी में सल्ली (Sully) ने अपनी **'ग्रान्ड डिजाइन'** पुस्तक में समस्त यूरोप को इस प्रकार १५ रियासतों में बांटने का प्रस्ताव पेश किया था कि वे सब मिल कर अवसर आने पर एक साधारण सभा के संरक्षण में कोई भी सामूहिक कार्यवाही कर सकें। १७वीं शताब्दी में एमरिक क्रूस (Emeric Cruce), ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) और विलियम पेन (William Pevn) ने, १८वीं शताब्दी में सेन्ट पियरे (Saint Pierre), रूसो और जर्मन दार्शनिक कान्ट ने युद्धों के रोक-थाम की अनेक योजनाएं उपस्थित कीं।

१८वीं शताब्दी में उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ-साथ विश्व के राज्यों की दूरी कम होने लगी और उनके बीच के सम्बन्धों का नियमन करने के लिए संधि, समझौते, सम्मेलन आदि का व्यवहार सामान्य बन गया। नेपोलियन के युद्धों के भीषण कष्टों से यूरोप के शासकों की आंखें खुलीं और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अनेक संस्थाओं का विकास हुआ।[1] नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप की राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए वियना-कांग्रेस (१८१४–१८१५) में प्रयास किये गये। इस कांग्रेस में, यूरोप की प्रादेशिक व्यवस्था को अखण्ड बनाये रखने के उद्देश्य से ब्रिटेन, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस ने एक चतुर्मुख समझौता (Quadruple Alliance) किया जिसमें बाद में फ्रान्स भी सम्मिलित हो गया और इसे Quintuple Alliance कहा जाने लगा। चीवर और हैवीलैण्ड (Cheever and Heaviland) के मतानुसार यह समझौता अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण कदम था। युद्ध की उपज होने पर भी शांतिकाल में यह मान्य रहा। बड़ी शक्तियां थोड़े-थोड़े समय के बाद सम्मेलन करती रहीं और यह मान लिया गया कि विश्व-शांति बड़ी शक्तियों के सहयोग पर आधारित है। इस प्रकार के सम्मेलनों के होते रहने से ही इस युग को 'यूरोप का मेल' (Concert of Europe) कहा जाता है। १६वीं शताब्दी के अन्तिम और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक ऐसी संस्थाओं और संगठनों का निर्माण किया गया जिनकी प्रकृति अन्त-

1. International Politics, p. 206

र्राष्ट्रीय थी और जो राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध-स्थापन की दृष्टि से महत्व-पूर्ण थे।

राष्ट्रसंघ का जन्म—सन् १६१४ में विश्व-विनाशकारी प्रलय आ टपका। प्रथम महायुद्ध के छिड़ते ही युद्ध बन्द करने वाले संगठन की तीव्र आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक राष्ट्रसंघ की स्थापना के विषय में आम चर्चा चल पड़ी। मानव-जाति के भावी जीवन में युद्धों के दुःखान्त नाटकों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए राज्यों के संघ की मांग को उत्तेजना मिली। इस समय (१६१५ में) ब्रिटेन में लॉर्ड ब्राइस ने, फेबियन सोसायटी ने, ब्रिटिश विदेशमंत्री बालफोर द्वारा फिलिमोर की अध्यक्षता में नियुक्त की गयी कमेटी ने और जनरल स्मट्स ने राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये। १६१५ में संयुक्त राज्य अमेरिका में 'शांति स्थापित करने वाले संघ' (League to enforce the Peace) की स्थापना की गयी। यह कार्य भूतपूर्व राष्ट्रपति टैफ्ट (Taft) के नेतृत्व में हुआ। उसी वर्ष जून में इस संघ के तत्वावधान में फिलाडेलफिया में एक सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें निम्नलिखित चार सूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया गया—

(i) सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवाद मध्यस्थ के सुपुर्द कर दिये जायं।

(ii) दूसरे झगड़ों को समझौते के लिए एक कौंसिल के सामने रखा जाय।

(iii) शांतिपूर्ण हल को स्वीकार न करने वाले पक्ष के विरुद्ध आर्थिक एवम् सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ की जाय।

(iv) समय-समय पर ऐसे सम्मेलनों का आयोजन हो जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के कानून बनाये।

मई १६१६ में उपर्युक्त निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए वाशिंगटन में एक सम्मेलन बुलाया गया। दिसम्बर १६१६ में राष्ट्रपति विल्सन ने सम्पूर्ण विश्व में शांति एवम् न्याय की सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना का सुझाव रखा। २२ जनवरी १६१७ को अमेरिकन सीनेट के समक्ष 'शांति के लिए विश्वसंघ' (World League for Peace) के विषय पर विल्सन ने निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये—

"आज के बाद संसार में शांति स्थापित तभी संभव है जबकि हम एक नई तथा ठोस कूटनीति को अपनाएं, संसार के बड़ें राष्ट्र किसी भी आपसी समझौते को मान लें, शांति स्थापित करने के मूलभूत आधारों के विरुद्ध जब कोई गुट युद्ध द्वारा कार्यवाही करने लगे उस पर तुरन्त सामूहिक कार्यवाही की जा सके तभी सभ्यता कायम रह सकेगी।"

उपरोक्त सम्बन्ध में विल्सन द्वारा कुछ प्रस्ताव भी प्रस्तुत किये गये। ८ जनवरी १९१८ को विल्सन ने अपना प्रसिद्ध चौदह सूत्री शांति कार्यक्रम प्रकाशित किया। इसके अंतिम सूत्र में यह स्पष्ट घोषित किया गया कि **"छोटे और बड़े राज्यों को समान रूप से राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक आश्वासन देने के लिए निश्चित संविदाओं के अन्तर्गत राष्ट्रों का एक सामान्य संघ बनाया जाना चाहिए।"**[1] सितम्बर १९१८ में राष्ट्रपति विल्सन ने यह स्पष्ट घोषणा की कि राष्ट्रसंघ का विधान 'शांति समझौते' (Peace Settlement) का ही एक अंग होना चाहिए। ११ नवम्बर १९१८ को युद्ध-विराम हुआ और जनवरी १९१९ में पेरिस में शांति-सम्मेलन बुलाया गया।

जब शान्ति-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो सम्मेलन के समक्ष वे विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी योजनाएं प्रस्तुत की गईं जो संघ (League) की स्थापना के लिए अब तक बनायी गई थीं। सम्मेलन में ये योजनाएं पेश की गईं—

(i) योजना का वह प्रारूप जो लॉर्ड फिलिमोर की अध्यक्षता में ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाई गई एक समिति ने मार्च १९१८ में तैयार किया था।

(ii) वह प्रारूप जो राष्ट्रपति विल्सन के निजी परामर्शदाता कर्नल हाउस ने बनाया था।

(iii) जुलाई १९१८ में राष्ट्रपति विल्सन द्वारा बनाया गया प्रारूप।

(iv) दिसम्बर १९१८ में जनरल स्मट्स द्वारा परिषद् और संरक्षण-व्यवस्था की तैयार की गई योजना का प्रारूप।

(v) फिलिमोर रिपोर्ट के आधार पर रॉबर्ट सिसिल द्वारा तैयार की गई योजना का प्रारूप।

(vi) राष्ट्रपति विल्सन का दूसरा और तीसरा प्रारूप जो क्रमश: १० जनवरी १९१९ तथा २० जनवरी १९१९ को तैयार किया गया था।

शान्ति सम्मेलन के समक्ष रखे गये उपरोक्त सभी प्रारूपों में से राष्ट्रपति विल्सन के तीसरे प्रारूप और ब्रिटिश प्रारूप को मौलिक माना गया। चूंकि इन दोनों ही प्रारूपों में मतभेद थे अत: सेसिल हर्स्ट (Cecil Hurst)

---

1. "A general Association of Nations must be formed under specific covenants for the purpose of affording mutual guarantees of political independence and territorial integrity to great and small states alike."

तथा हन्टर मिलर (Hunter Miller) द्वारा इनका समन्वित रूप तैयार कराया गया। उन्होंने ब्रिटिश-अमेरिकन प्रारूपों का अपना यह समन्वय, जिसे हन्टर-मिलर प्रारूप कहा जाता है, ३ फरवरी १६१६ को शांति-परिषद् के 'राष्ट्रसंघ आयोग, (League of Nations Commission) के सामने पेश किया। यह हन्टर-मिलर प्रारूप फ्रेंच योजना के साथ मेल नहीं खाता था। फ्रेन्च प्रधानमंत्री क्लेमेन्सो फ्रान्स की सुरक्षा की दृष्टि से यह चाहता था कि राष्ट्रसंघ एक शक्तिशाली संगठन बने और इसके लिए उसके पास एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना हो। क्लेमेन्सो राष्ट्रसंघ को सैनिक शक्ति से इसलिए सम्पन्न करना चाहता था ताकि वह शांति भंग करने वाले और संधि की व्यवस्थाओं को तोड़ने वाले राष्ट्रों का दमन कर सके। राष्ट्रपति विल्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय सेना का इस आधार पर घोर विरोध किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसी किसी संधि को स्वीकार नहीं करेगा जिसके अनुपालन में उसे अपनी सेना किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को देनी पड़े। इसके अतिरिक्त विल्सन का तर्क यह भी था कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने वाले राष्ट्रों की ईमानदारी पर पूरा भरोसा किया जाना चाहिए।

अन्ततः, १४ फरवरी १६१६ को 'राष्ट्रसंघ आयोग' ने राष्ट्रसंघ का अन्तिम प्रारूप या मसविदा (Draft) तैयार किया। इसके सिद्धान्त मुख्य रूप से अमेरिका की देन थे जबकि कानूनी ढांचा ग्रेट ब्रिटेन द्वारा निर्मित था। सम्मेलन के सामने १४ फरवरी को, राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए विल्सन ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा—

"एक सजीव वस्तु का जन्म हो रहा है,······यह शांति का आश्वासन है। यह आक्रमण के विरुद्ध एक निश्चित आश्वासन है। इस कार्यक्रम के पीछे सशस्त्र शक्ति है, परन्तु यह शक्ति पृष्ठभूमि में है और यदि संसार की नैतिक शक्ति पर्याप्त न हुई तो भौतिक शक्ति काम करेगी। परन्तु भौतिक शक्ति का प्रयोग अन्त में ही होगा, क्योंकि हम यहां शांति के विधान की रचना कर रहे हैं, युद्ध का संगठन नहीं बना रहे हैं। हमारी कल्पना केवल यही नहीं है कि यह लीग विश्व-शांति की स्थापना करेगी वरन् इससे आगे भी हम सोचते हैं कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मामले में सहयोग के लिए इस लीग का प्रयोग किया जायेगा।"

२८ अप्रेल १६१६ को शांति सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन में राष्ट्रसंघ के प्रारूप को स्वीकार कर लिया गया। १० जनवरी १६२० से इसे क्रियान्वित किया गया। यह वर्साय की संधि की प्रथम २६ धाराओं में समाविष्ट था। सेन्ट जर्मेन, सेव्र आदि अनेक संधियों में इसे सम्मिलित किया गया। इसके संविधान को जानबूझ कर समझौते या प्रतिज्ञा-पत्र (Covenant)

का नाम दिया गया ताकि विभिन्न राष्ट्र इसे अपने से ऊँचा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन समझने की भ्रांति में न पड़ें।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य और उसकी सदस्यता :—

उद्देश्य (Aims)—राष्ट्रसंघ का समझौता या प्रतिश्रव या संविदा (Covenant) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर से बहुत छोटा, केवल चार हजार शब्दों का था। इसमें एक उन्नत भूमिका तथा एक से दस पैराग्राफों वाली २६ धाराएं थीं। राष्ट्रसंघ का संविदा संघ के उद्देश्यों, सदस्यता की अवस्थाओं, इसकी रचना के सामान्य ढ़ांचे और इसके दायित्वों आदि को प्रस्तुत करता था। संविदा अथवा प्रतिश्रव (Covenant) की भूमिका या प्रस्तावना (Preamble) में संघ के उद्देश्यों की घोषणा करते हुए यह कहा गया था कि—

"समझौता करने वाले उच्च पक्ष,
अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा बनाये रखने के लिये,
उत्तरदायित्व स्वीकार करके तथा युद्ध के प्रति आस्था न रखकर,
राष्ट्रों के मध्य स्पष्ट, उचित व आदरणीय सम्बन्धों की स्थापना करके,

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समझौतों की सरकारों के व्यवहार के उचित नियमों के रूप में दृढ़तापूर्ण स्थापना करके,
संगठित जातियों के पारस्परिक व्यवहार में संधि के सम्पूर्ण दायित्वों के लिये न्याय व सावधानी युक्त सत्कार रखकर,
राष्ट्रसंघ के इस संविदा अथवा प्रतिज्ञापत्र या प्रतिश्रव से सहमत होते हैं।"[1]

---

1. "The High Contracting Parties,
In order to promote international co-operation and to achieve international peace and security,
By the acceptance of obligations not to resort to war,
By the prescription of open, just and honourable relations between nations,
By the firm establishment of the understandings of international law as the actual rule of conduct among governments, and
By the maintenance of justice and a scrupulous respect for all treaty obligations in the dealings of organized peoples with one another,
Agree to this Covenant of the League of Nations."

संविदा में उल्लिखित उपरोक्त भूमिका से स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ के प्रमुख उद्देश्य तीन थे—(१) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना करना, अर्थात् न्याय और सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करके भावी युद्धों को टालना, (२) संसार के राष्ट्रों के मध्य भौतिक तथा मानसिक सहयोग को प्रोत्साहन देना ताकि मानव जीवन सुखी और आनन्दमय बन जाये, और (३) पेरिस संधि को अमल में लाना अथवा दूसरे शब्दों में पेरिस शांति सम्मेलन द्वारा स्थापित व्यवस्था को बनाये रखना।

संविदा अथवा प्रतिश्रव की प्रथम ७धाराओं में संघकी सदस्यता के नियमों और संघ के विभिन्न अंगों का वर्णन किया गया था। इसकी ८वीं और ९वीं धारा निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित थी। १०वीं से १७वीं धारा तक विभिन्न झगड़ों के शांतिपूर्ण निर्णय, आक्रमणों को रोकने और सामूहिक सुरक्षा (Collective Securety) बनाये रखने के उपायों का प्रतिपादन किया गया था। इन धाराओं के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ को यह अधिकार था कि वह शांति और सुरक्षा के लिये कोई भी उचित कदम उठावे, सदस्य देशों की जांच करे और सदस्य देश से युद्ध करने की संभावना का निराकरण करे, किन्तु संविदा की धाराओं की अवहेलना करके युद्ध-घोषणा करने वाले सदस्य देश को अन्य समस्त सदस्य देशों के विरुद्ध युद्ध के लिये अपराधी माने आदि। संविदा द्वारा युद्ध पूर्ण रूप से वर्जित न थे। अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भी तब वैध माना जा सकता था जब उन देशों का विवाद पहले राष्ट्रसंघ में मध्यस्थता के लिये रखा गया हो और राष्ट्रसंघ उसे सर्वसम्मत ढंग से सुलझाने में असमर्थ रहा हो। संविदा की अवहेलना करके युद्ध छेड़ देने वाले राष्ट्र के लिये धारा १६ में यह स्पष्ट व्यवस्था थी कि राष्ट्रसंघ अन्य सदस्य राष्ट्रों को आक्रान्ता देश के साथ सभी प्रकार के आर्थिक और वैयक्तिक सम्बन्ध तोड़ने के लिये बाध्य कर सकता था। ऐसी स्थिति में यह भी व्यवस्था थी कि परिषद् संघ के सदस्यों से यह सिफारिश करे कि वे संविदा की व्यवस्था बनाये रखने हेतु प्रभावकारी सैनिक, नौसैनिक और वायु सेना शक्ति का प्रयोग करें।

संविदा की १८ से २१ तक की धाराओं में संधियों की रजिस्ट्री, प्रकाशन, संशोधन और वैधता का उल्लेख था। वास्तव में संविदा युद्ध बन्द करने के निषेधात्मक प्रयत्नों के साथ-साथ युद्धोत्पादक कारणों को भी दूर करने के प्रति सजीव था। गुप्त संधि-प्रथा को अमान्य करार दे दिया गया था और सदस्य देशों से एक ऐसे प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर लिये गये थे जिसके तहत उन्होंने न केवल उन पुरानी संधियों को रद्द मान लिया था जो संविदा की मूल नीति से टकराती थीं वलिक भविष्य में संविदा के सिद्धान्तों के अनुकूल ही नई संधियां करने का वचन दिया। संविदा में उन सन्धियों पर पुनर्विचार

करने की व्यवस्था थीं जो अव्यवहार्य हो चुकी थीं और जिनके चालू रहने से संसार की शांति को खतरा था। शस्त्रों की होड़ को घटाने के लिये संविदा द्वारा सदस्य देशों को प्रेरित किया गया था कि "वे केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के निमित्त ही शस्त्रास्त्र रखें, व्यक्तिगत उद्योगों के द्वारा शस्त्रास्त्रों का तैयार करना भयंकर प्रतिवाद का सामना करना है।" संविदा की धारा २१ में मुनरो सिद्धान्त की स्वीकृति और धारा २२ में संरक्षण-प्रथा या शासनादेश-प्रथा (Mandate) का उल्लेख है। धारा २३ में संघ के सदस्यों द्वारा श्रमिक कल्याण, बाल कल्याण, रोगों पर नियंत्रण, नारी-व्यापार निषेध आदि के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों पर बल दिया गया था। धारा २४ में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के राष्ट्रसंघ के साथ सम्बन्धों का वर्णन किया गया था। धारा २५ रैड क्रॉस को प्रोत्साहन देती थी तो अन्तिम धारा २६ में राष्ट्रसंघ के समझौते में संशोधन करने की प्रक्रिया समाविष्ट थी।

सदस्यता (Membership)—राष्ट्रसंघ के सदस्य दो वर्गों में विभाजित थे—मौलिक या प्रारम्भिक तथा प्रविष्ट। धारा १ के अनुसार प्रारम्भिक सदस्य वे स्व-शासित राज्य, डोमीनियन या उपनिवेश थे जिन्होंने या तो शांति संधियों और वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर किये थे या जो राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने के लिये आमंत्रित किये गये थे। राष्ट्रसंघ की साधारण सभा (Assembly) किसी भी स्वशासित राज्य, डोमीनियन या उपनिवेश को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना सकती थी। ये राज्य प्रविष्ट सदस्य कहलाते थे।

राष्ट्रसंघ के ४३ प्रारम्भिक अथवा मौलिक सदस्य थे। इनमें ३० प्रारम्भिक हस्ताक्षरकर्त्ता थे और १३ तटस्थ राज्यों को प्रारम्भिक सदस्य होने के लिये आमंत्रित किया गया था। चीन ने वर्साय संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था, किन्तु सेण्ट जर्मेन की संधि पर हस्ताक्षर करके जुलाई १९२० में वह राष्ट्रसंघ का एक प्रारम्भिक सदस्य बन गया। राष्ट्रसंघ के सदस्यों की संख्या १९३५ में बढ़कर ६२ हो गई,[1] किन्तु अप्रैल १९४६ में संघ की अन्तिम बैठक के समय यह संख्या घट कर ४३ ही रह गई और इनमें से भी केवल ३४ राज्यों के प्रतिनिधि बैठक में सम्मिलित हुये।

---

1. १९२० में अलबानिया, फिनलैण्ड, बल्गेरिया, आस्ट्रिया, कोस्टारिका और लक्जम्बर्ग; १९२२ में ऐस्टोनिया, लेटविया और लिथुआनिया; १९२८ में हंगरी, इथोपिया और स्वतन्त्र आयरिश राज्य; १९२४ में औपनिवेशक गणराज्य; १९२६ में जर्मनी; १९३१ में मैक्सिको; १९३२ में और इराक; १९३४ में अफगानिस्तान, ईक्वेडोर और रूस तथा १९३७ में मिश्र भी राष्ट्रसंघ के सदस्य बन गए।

राष्ट्रसंघ का यह दुर्भाग्य था कि इसमें सब महाशक्तियां कभी सम्मिलित नहीं हुईं। प्रारम्भ में ही संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी और रूस इसके सदस्य नहीं बने। संयुक्त राज्य अमेरिका तो इसका कभी सदस्य बना ही नहीं। जर्मनी १९२६ में सदस्य बना और २१ अक्टूबर १९३३ को उसने सदस्यता त्यागने का नोटिस दे दिया। सोवियत रूस जैसी महाशक्ति १९३३ में जाकर संघ की सदस्य बनी, किन्तु परिषद् (Council) ने उसे १९४० में फिनलैन्ड, पर आक्रमण करने के कारण संघ से निष्कासित कर दिया। जापान और इटली को इसकी सदस्यता छोड़ने के नोटिस क्रमशः १९३३ और १९३७ में दे दिये गये। तत्पश्चात् इसके सदस्यों की संख्या निरंतर घटती ही गई। संसार के ६ राष्ट्रों ने संघ की सदस्यता के लिए कभी भी प्रार्थनापत्र नहीं भेजे। इन राष्ट्रों के नाम ये थे—सऊदी अरेबिया, यमन, ओमन, नेपाल, मांचको और संयुक्त राज्य अमेरिका।

संविदा में संघ की सदस्यता से पृथक होने की व्यवस्था भी की गई थी। कोई भी सदस्य दो वर्ष का नोटिस देकर इसकी सदस्यता से पृथक हो सकता था अथवा परिषद् (Council) के सर्वसम्मत मत द्वारा निकाला जा सकता था।

राष्ट्रसंघ की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सदस्य राज्यों के चन्दे से होती थी। जनसंख्या, क्षेत्रफल और राष्ट्रीय धन के अनुपात से साधारण सभा (Assembly) चन्दे की रकम निश्चित करती थी।

राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा में स्थित था। प्रतिवर्ष सामान्यतः सितम्बर में संघ का वार्षिक अधिवेशन हुआ करता था यद्यपि आवश्यक कारणों वश इसके विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते थे। राष्ट्रसंघ के कर्मचारियों और प्रतिनिधियों को सभी कूटनीतिक सुविधायें प्राप्त थीं।

राष्ट्रसंघ की प्रकृति

राष्ट्रसंघ के संविदा अथवा प्रतिश्रव (Covenant) से स्पष्ट है कि यह एक नम्र संगठन (Loose Confederation) था। इसके दोनों प्रतिनिधि एवम् प्रशासकीय अवयव (Representative and administrative organs) सीमित शक्तियों से युक्त थे। ये अवयव उन सदस्य राज्यों से निर्देशित अथवा अनुशासित होते थे जिनके द्वारा उन्हें सत्ता (Authority) प्राप्त हुई थी। चूंकि राष्ट्रसंघ में न जनता का प्रतिनिधित्व था और न जनता उसकी सत्ता का स्त्रोत ही थी, अतः राष्ट्रसंघ के अवयवों से जनता की इच्छानुसार कार्य करने की आशा भी नहीं की जा सकती थी। ऐसा होना संभव भी नहीं हो सकता था, क्योंकि जनता के प्रतिनिधि न तो कूटनीतिक एजेण्ट के रूप में कार्य कर सकते थे और न ही लीग को वास्तविक स्वरूप प्रदान करने वाली उन

संधियों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की आलोचना ही कर सकते थे जिनमें उनकी सरकारें सम्मिलित थीं। राष्ट्रसंघ इस दृष्टि से भी एक नम्र और अविकासशील संघ था कि प्रथम तो इसके संविदा में संशोधन करना राष्ट्रों के अपने हाथ में नहीं था, और द्वितीय, संघ का संविधान इतना अधिक कठोर था कि वह परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप नहीं ढाला जा सका था। **"राष्ट्रसंघ का संगठन संप्रभु राज्य (State sovereignty) की ठोस शिला पर आधारित था और इसीलिए कानून की दृष्टि से राष्ट्रसंघ सदस्य राष्ट्रों के सहयोग पर आश्रित था।"** दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ का जीवन स्वाश्रित न होकर पराश्रित था। इसलिए सदस्यों के ऐच्छिक सहयोग के अन्त के साथ ही राष्ट्रसंघ का भी अन्त हो गया। वास्तव में 'ऐच्छिक राज्यों का संघ' (A voluntary association of nations) होने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई रूप हो भी नहीं सकता था। सदस्य राज्य अपनी प्रभुसत्ता बचाने के लिए किसी ऐसी संस्था में जाने को अनिच्छुक थे जहां उन पर निर्णय लादे जाने का भय हो।[1]

राष्ट्रसंघ एक दृष्टि से प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण (A combination of the old and the new) था। यह नवीन इस दृष्टि से था कि इसके निर्माताओं ने यह बात ध्यान में रखी थी कि शांति के लिए नकारात्मक दृष्टिकोण को तिलान्जलि देकर ठोस और विधेयात्मक (Positive) रुख अपनाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को शनैः-शनैः अनुकूल दिशा में ले जाना चाहिए। यह प्राचीनता का द्योतक इसलिए था कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निर्धारण की वही व्यवहारिक प्रणाली अपनायी जाती रही जो १६वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक प्रचलित रही थी।

संक्षेप में यह कहना चाहिए कि राष्ट्रसंघ में क्रांतिकारी गतिशीलता नहीं थी और न इसका संगठन ही क्रांतिकारी था। यह तो विजेता राष्ट्रों का विजित राष्ट्रों और सोवियत संघ के विरुद्ध एक संघ था जिसमें अमेरिका जैसा महान् शक्तिसम्पन्न विजेता राष्ट्र अन्त तक अनुपस्थित रहा। पश्चिमी राष्ट्रों के शासक वर्ग के सोवियत विरोध के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ ने भी पर्याप्त अंशों में एक ऐसी नीति का अनुसरण किया जिससे फासिस्ट शक्तियों को बल मिला और विश्व-शांति की शक्तियों को आघात पहुंचा। राष्ट्रसंघ इस दृष्टि से भी क्रांतिकारी संगठन नहीं था कि इसने विश्व के अन्य राष्ट्रों को उनके तात्कालिक रूप में स्वीकार कर लिया और केवल उनके पारस्परिक व्यवहारिक सम्बन्धों को सरलता और स्वतंत्रतापूर्वक चलाने के लिए एक अधिक संतोषजनक उपाय (A more satisfactory technique) प्रदान करने की चेष्टा की। इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण की कार्य-

---

1. *H. W. Harris* : What the League of Nations Is ?, P. 22.

प्रणाली को क्रांतिकारी बनाने का प्रयास नहीं किया। इसने केवल पुराने कूटनीतिक उपायों को नवीनता का जामा पहनाया अर्थात् नयी बोतल में पुरानी शराब भरने की कहावत चरितार्थ की। फिर भी यह अवश्य है कि पुरातन और नूतन के संयोग द्वारा उत्पन्न इस नवीन संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन को एक नया स्वरूप दिया और क्रियात्मक राजनीति को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यही रही कि इसके पास "सामूहिक इच्छा" (Collective will) मनवाने की शक्ति का अभाव था, यह केवल सामान्य सहमति प्राप्त करने के लिए अवसर खो सकता था। एक ओर तो इसे उन्नतिशील विचारों को गोद लेने का कार्य निभाना था और दूसरी ओर इसे उन सरकारों की इच्छाओं का भी ध्यान रखना था जिनके लिए इसका निर्माण किया गया था। राजनैतिक दृष्टि से यह कहना उपयुक्त है कि राष्ट्रसंघ राष्ट्रीय विदेश नीति का एक उत्तम साधन था। यह पराजितों पर थोपी गयी शांति-संधियों का ही एक अभिन्न भाग था और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान में यह कभी सफल न हो सका।

राष्ट्रसंघ के अंग अथवा उसका ढांचा

राष्ट्रसंघ, संगठन की दृष्टि से एक ढीलाढाला अर्द्धसंघ (Confederation) था। संघ का संविधान अत्यन्त कठोर था और अपने अल्पजीवन में उसका लेशमात्र भी विकास नहीं हुआ। संघ का संगठन सदस्य राष्ट्रों की संप्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित था। इस प्रकार संघ का जीवन स्वाश्रित न होकर सदस्यों के ऐच्छिक सहयोग पर आश्रित था।

राष्ट्रसंघ के तीन प्रधान अंग थे—साधारण सभा [Assembly], परिषद् [Council] और सचिवालय [Secretariat]। इनके अतिरिक्त दो स्वायत्त [Autonomous] अंग थे—अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय [Permanent Court of International Justice] तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ [I.L.O.]। इन प्रमुख और स्वायत्त अंगों के अलावा अन्य गौण एवम् सहायक अंग भी थे, जैसे—आर्थिक और वित्तीय संगठन, संवाद एवं यातायात संगठन, स्थायी शासनादेश या संरक्षण आयोग [Mandates Commission] और बौद्धिक सहयोग का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान [International Institute of Intellectual Co-operation]।

साधारण सभा (Assembly)—संघ के संविदा (Covenant) की तीसरी और पांचवी धाराओं में साधारण सभा के उद्देश्य और क्षेत्र का वर्णन था। साधारण सभा संघ का प्रतिनिधित्व करने वाला और विचार-

शील अवयव था। इसमें संघ के सभी सदस्य सम्मिलित थे। साधारण सभा को राष्ट्रसंघ के व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन का भार सौंपा गया था। सभा में यद्यपि प्रत्येक सदस्य देश अधिक से अधिक तीन प्रतिनिधि भेज सकता था, किन्तु किसी विषय पर उसका मत (Vote) केवल एक ही माना जाता था। राष्ट्रसंघ का कोई भी निर्णय बैठक में उपस्थित सदस्यों की सर्वसम्मति से ही हो सकता था। इस सम्बन्ध में अपवाद केवल उन्हीं निर्णयों का हो सकता था जो प्रक्रिया से सम्बद्ध विषयों से ताल्लुक रखते थे। दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ में 'मतैक्य का नियम' [Principle of unanimity] अपनाया गया था। यद्यपि यह नियम राष्ट्रसंघ की सफलता में बड़ा बाधक सिद्ध हुआ, तथापि इस नियम के बिना काम नहीं चल सकता था, सदस्य राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए इतने सतर्क थे कि वे वैसी संस्था में जाने को इच्छुक नहीं थे जहां उन पर किसी निर्णय के लादे जाने का भय हो।[1] सभा की सदस्य संख्या सामान्यतः एक सौ हो जाती थी। ये सदस्य प्रायः अधेड़ आयु के अपने राज्यों द्वारा नियत किये गये सरकारी अधिकारी और कूटनीतिज्ञ होते थे। सभा की बैठक प्रायः तीन सप्ताह के लिए प्रतिवर्ष जेनेवा में होती थी। सभा की प्रथम बैठक १५ नवम्बर, १६२० को आरम्भ हुई थी और अन्तिम बैठक ६ से १८ अप्रेल १६४६ तक चली थीं। १६ अप्रेल, १६४६ का दिन राष्ट्रसंघ को दफनाने का दिन था। इस दिन राष्ट्रसंघ को समाप्त करने और उसके समस्त अधिकारों, कार्यों और सम्पत्ति को संयुक्त राष्ट्रसंघ (U.N.O.) को हस्तान्तरित करने का निश्चय किया गया।

सभा अपने अध्यक्षों का निर्वाचन स्वतः करती थी और संविदा की व्यवस्थाओं के अनुसार अपने रीति-नियम बनाती थी। यह प्रतिवर्ष एक अध्यक्ष एवम् आठ उपाध्यक्षों का निर्वाचन करती थी। इसकी एक सामान्य समिति, कुछ विशेष समितियां और छः स्थायी समितियां थीं। साधारण सभा में मतदान की चार पद्धतियां थीं। कुछ विषयों पर निर्णय सर्वसम्मति से होते थे, कुछ पर साधारण बहुमत से प्रस्ताव पारित हो सकते थे, कुछ विषयों पर निर्णय के लिए दो तिहाई बहुमत की, तो कुछ के लिए पूर्ण बहुमत की आवश्यकता होती थी।

साधारण सभा के कार्य अत्यधिक विस्तृत थे, यद्यपि उनमें कुछ अस्पष्टता विद्यमान थीं। संविदा के तीसरे अनुच्छेद के अनुसार—"यह (साधारण सभा) राष्ट्रसंघ के कार्यक्षेत्र में आने वाले किसी भी विषय पर अथवा संसार की शांति पर प्रभाव डालने वाले किसी भी विषय पर अपना

1. *H W Harris* : What the League of Nations Is ?, P. 22.

बैठक में विचार कर सकती थी ।"[1] व्यवहार में (In practice) इसने अपनी तीनों प्रकार की सामान्य शक्तियों—**निर्वाचन सम्बन्धी, अंगीभूत संबंधी, विचार या परामर्श सम्बन्धी**—का प्रयोग किया ।

निर्वाचन सम्बन्धी (Electoral) कार्यप्रणाली के अन्तर्गत सभा के कर्त्तव्य इस प्रकार थे—(i) दो तिहाई मतों से नये सदस्यों का चुनाव, (ii) साधारण बहुमत द्वारा परिषद् (Council) के ९ अस्थायी सदस्यों में से ३ को सभा के लिए प्रतिवर्ष चुनना, (iii) प्रति ९ वर्ष के लिए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के १५ न्यायाधीशों का निर्वाचन करना, (iv) परिषद् द्वारा नियुक्त महामन्त्री (Secretary General) की नियुक्ति की स्वीकृति देना ।

अंगीभूत (Constituent) कार्यों में यह संविदा की २६वीं धारा के अनुसार संविदा के नियमों में ऐसे संशोधन कर सकती थी जो परिषद् को तो सर्वसम्मति से स्वीकृत हो और प्रभावित सदस्य देशों की रुचि के अनुकूल हो सके ।

विचार सम्बन्धी (Deliberative) कार्यों के अन्तर्गत सभा अन्तर्राष्ट्रीय हितों के सामान्य राजनीतिक, आर्थिक, टेक्नीकल प्रश्नों पर विचार करती थी । सभा के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं पर प्रभाव डालने वाली उन परिस्थितियों पर गम्भीर रूप से विचार करते थे जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भंग करने की चुनौती दें या राष्ट्रों के बीच की उस सद्भावना पर आघात करें जिस पर विश्व-शांति आधारित हो । संविदा की १९वीं धारा के अन्तर्गत सभा अनुचित संधियों के पुनर्विचार का परामर्श देती थी, टेक्नीकल आयोगों और परिषद् के कार्य का निरीक्षण करती थी तथा संघ का वार्षिक बजट तैयार करती थी जो लगभग ६० लाख डालर का होता था।

साधारण सभा स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती थी अपितु केवल परामर्श अथवा सलाह दे सकती थी । इसमें छोटे-छोटे राष्ट्रों को भी अपना विचार प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता था । यद्यपि संगठनात्मक दृष्टि से इसे परिषद् से गौण बनाया गया था और इसीलिए संघ के विधान-निर्माता जनरल स्मट्स और सेसिल का यह विचार था कि वास्तविक कार्य संघ की परिषद् में होने के कारण इसका विशेष महत्व नहीं होगा, किन्तु धीरे-धीरे इसका महत्व और सम्मान परिषद् से अधिक बढ़ गया । यह विश्व की समस्याओं पर विभिन्न राष्ट्रों के विचारों की अभिव्यक्ति के रंगमंच का काम

---

1. It "may deal at its meetings with any matter within the sphere of action of the League or affecting the peace of the world."

करने लगी और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समझौते कराने का महत्वपूर्ण साधन बन गई। विधान द्वारा सभा को परिषद् से कम अधिकार इसलिए मिले थे कि विधान निर्माता इसे कार्यकारिणी का रूप नहीं देना चाहते थे क्योंकि प्रथम तो यह एक बहुत बड़ी संस्था थी और दूसरे इसका अधिवेशन भी साल में एक बार ही होता था।

साधारण सभा का अधिवेशन खुला होता था जिसमें आम जनता दर्शक के रूप में शामिल हो सकती थी। यहां वाद-विवाद स्वतन्त्र रूप से हुआ करते थे और उन सभी विषयों पर बहस हो सकती थी जो पहले विविध पर-राष्ट्र मंत्रालयों में गोपनीय रखे जाते थे। वास्तव में सभा केवल एक वाद-विवाद की सोसायटी न होकर राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली अंग थी।[1]

परिषद् (Council) :—परिषद् को **राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी** माना गया था। यह लघु संस्था साधारण सभा से अधिक शीलसम्पन्न और रचना में उससे भिन्न थी। साधारण सभा में राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य थे किन्तु परिषद् की सदस्यता सीमित थी। साधारण सभा सदस्य राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित थी जब कि परिषद् के संगठन का आधार महाशक्तियों की उच्चता का सिद्धान्त था।

परिषद् में **दो प्रकार के सदस्य थे**—स्थायी और अस्थायी। प्रारम्भ में बड़े देश केवल अपने आपको ही इसका सदस्य बनाना चाहते थे, किन्तु छोटे देशों के विरोध के कारण इसमें अस्थायी सदस्य भी रखे गये। प्रारम्भ में यह निर्णय किया गया था कि परिषद् में पांच स्थायी स्थान होंगे जो अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली और जापान को दिये जायंगे। लघु राष्ट्रों के विरोध के फल-स्वरूप चार अस्थायी स्थानों की व्यवस्था की गई जो १९२० में बेल्जियम, ब्राजील, ग्रीस व स्पेन को दिये गये। परिषद् के स्थायी एवम् अस्थायी सदस्यों की संख्या लगातार घटती-बढ़ती रही। एक स्थायी सीट संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए खाली रही, जो उसके संघ में सम्मिलित न होने के कारण कभी न भरी जा सकी। जब अमेरिका ने स्वयं को इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ से हटा लिया तो १९२० में स्थायी और अस्थायी सदस्यों में ४ : ४ का अनुपात रह गया, अर्थात् ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली और जापान ये चार स्थायी सदस्य रहे और अस्थायी सदस्य भी चार ही थे। १९२२ में दो और अस्थायी (Non-permanent) स्थान बनाये गये जिन्हें पोलैण्ड और युगोस्लाविया को दिया गया। इस प्रकार अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़कर ६ हो गई और परिषद् में लघु शक्तियों को बहुमत प्राप्त हो गया। १९२५ में जर्मनी को संघ में प्रवेश के लिए आमंत्रित किया गया, किन्तु

1. *Mower* : International Government, p. 379.

उसने इस आमंत्रण को यह कहकर ठुकरा दिया कि यदि उसे महान् शक्तियों की समानता की शर्तों पर आमंत्रित नहीं किया जाता और परिषद् में स्थायी स्थान नहीं दिया जाता तो वह सदस्य बनने को तैयार नहीं है। १६२६ में परिषद् के अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़कर ६, १६३३ में १० और १६३४ में ११ हो गई। १६३६ की अन्तिम परिषद् में महाशक्तियों में से केवल ब्रिटेन और फ्रान्स दो ही देश स्थायी सदस्य रह गये। अन्य अस्थायी सदस्य बेल्जियम, बोलिविया, चीन, डोमिनिकन गणराज्य, मिश्र, फिनलैण्ड, यूनान, ईरान, पेरू, दक्षिण अफ्रिका और युगोस्लाविया—ये ११ लघु राष्ट्र थे। जापान और इटली क्रमशः १६३३ और १६३७ में राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ चुके थे और सोवियत रूस राष्ट्रसंघ में १६३३ में प्रविष्ट होकर परिषद् का स्थायी सदस्य बन गया था। लेकिन उसे भी बाद में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण संघ से निष्कासित कर दिया गया था। यही कारण था कि परिषद् की अन्तिम बैठक में केवल ब्रिटेन और फ्रांस ही स्थायी सदस्यों के रूप में उपस्थित थे।

परिषद् की **कार्यविधि (Procedure)** इस प्रकार की थी कि इसके प्रत्येक सदस्य का मत एक होता था। परिषद् का निर्णय प्रायः निर्विरोध होता था। इस निर्विरोध नियम के कुछ अपवाद थे, जैसे—रीति के विषयों से सम्बन्धित मामले, शांति संधियों में अल्पसंख्यक धाराओं के संशोधन, संघ के सदस्यों के बीच होने वाले विवादों पर सिफारिशें आदि। परिषद् का अध्यक्ष-पद प्रत्येक अधिवेशन में परिवर्तित होता रहता था। परिषद् के अधिवेशन १६२६ के बाद से ही प्रतिवर्ष सामान्यतया तीन होते थे, विशेष अधिवेशनों की संख्या निश्चित नहीं थी। परिषद् के सदस्य-राज्यों के नाम फ्रेन्च भाषा में वर्णक्रमानुसार लिख लिए गये थे और उसी क्रम से विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों को अर्थात् सदस्य-राज्यों को बारी-बारी से प्रत्येक अधिवेशन के लिये परिषद् का नया अध्यक्ष नियुक्त कर दिया जाता था। इस तरह अध्यक्ष पद पर वर्णमाला के अनुसार एक देश के बाद दूसरे देश की बारी आती थी। संयुक्त-राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् की तरह परिषद् के किसी सदस्य को 'निषेधाधिकार' (Veto-power) नहीं था। जब किसी ऐसे राज्य का मामला परिषद् के सम्मुख पेश होता था जो उस समय परिषद् का सदस्य न हो तो उसे यह अवसर दिया जाता था कि उस राज्य का प्रतिनिधि परिषद् के अधिवेशन में उपस्थित होकर अपना विचार प्रकट कर सके। परिषद् की बैठकें सामान्यतः खुली (In public) होती थीं, किन्तु आवश्यकता होने पर गोपनीय(In private) भी हो सकती थीं। इसकी कार्यवाही (Minutes) सदैव प्रकाशित होती थी।

परिषद् का **कार्यक्षेत्र** भी साधारण सभा की तरह असीमित था। यह राष्ट्रसंघ के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक विषय और विश्व शांति सम्बन्धी

मामलों पर सभा के समान ही विचार कर सकती थी। परिषद् के मुख्य कार्य थे—सचिवालय को निर्देश देना, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रबन्ध करना, राष्ट्रसंघ के अन्य छोटे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त करना, अस्त्र-शस्त्र घटाने की योजना तैयार करना, संघ के सदस्यों के बीच के झगड़ों को तय करना, शासनादेशों (Mandates) का, अल्पसंख्यकों की संधियों का और अन्य समझौतों का निरीक्षण एवम् प्रबन्ध करना, बाह्य आक्रमणों से सदस्य राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करना आदि। परिषद् की शक्तियां अन्तर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा बढ़ायी जा सकती थीं। परिषद् को यह अधिकार था कि वह संघ के नियमों का उल्लंघन करने पर सदस्य राज्यों को सदस्यता से वंचित कर दे। उसके अन्य प्रमुख कार्य सभा के प्रस्तावों को क्रियान्वित करना, महासचिव को मनोनीत करना, सचिवालय के अन्य उच्च-पदाधिकारियों की नियुक्तियों की स्वीकृति देना आदि थे। अनेक संधियों द्वारा परिषद् को सार घाटी के प्रशासन और डेंजिग के स्वतन्त्र नगर के प्रबन्ध का कार्य मिला हुआ था।

परिषद् वास्तव में राष्ट्रसंघ का एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण अंग थी जिसके पास वैधानिक अधिकारों के अतिरिक्त विश्व-राजनीति को प्रभावित करने के अनेक मौके थे। सदस्य-राज्य परिषद् के अधिवेशनों पर अधिकांशतः अपने प्रधानमन्त्री या विदेशमंत्री भेजते थे, इस प्रकार विभिन्न देशों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का मौका मिलता था। विदेश मंत्री या विदेश मंत्रालय से सम्बन्धित उच्च-पदाधिकारी पारस्परिक बातचीत से अनेक झगड़े सुलझा देते थे। विश्व-शांति की दिशा में यह एक उत्साहवर्धक कदम था जिससे यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का समाधान युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा भी किया जा सकता है।[1] परिषद् की प्रथम बैठक १६ जनवरी १६२० को हुई और १०७वीं अन्तिम बैठक १४ दिसम्बर १६३६ को।

सचिवालय (Secretariat):—राष्ट्रसंघ का तीसरा महत्वपूर्ण अंग सचिवालय था। यह एक अस्थाई सिविल सेवा अभिकरण था जो जेनेवा में स्थापित किया गया था। इसे राष्ट्रसंघ का "सर्वाधिक उपयोगी और निस्संदेह सब से कम विवादास्पद अंग" कहकर पुकारा गया है। सचिवालय का प्रधान महासचिव (Secretary General) कहलाता था जिसके अधीन दो उप-महासचिव (Deputy Secretaries General), दो अवर सचिव (Under Secretaries) तथा लगभग ७५० अन्य कर्मचारी कार्य करते थे। ये कर्मचारी अन्तर्राष्ट्रीय-प्रशासकीय सेवा के अन्तर्गत थे जिन्हें लगभग ५० देशों में

---

1. *Haward Ellis :* The Origin, Structure and the Working of the League of Nations, P. 157.

लिया गया था। **महासचिव की नियुक्ति परिषद् द्वारा साधारण सभा की अनुमति से होती थी।** राष्ट्रसंघ के प्रथम महासचिव ब्रिटिश सिविल सर्विस के श्री जेम्स एरिक ड्रमन्ड (James Eric Drammond) थे जिन्होंने अपनी योग्यता, अनथक परिश्रम, चातुर्य, कार्यक्षमता और निष्पक्षता के कारण तेरह वर्ष तक बड़ी सफलापूर्वक इस पद पर कार्य किया। उनके त्यागपत्र देने के पश्चात् फ्रान्स के जोसेफ एवनोल (Joseph Avenol) १९३३–४० तक तथा आयरलैण्ड के श्री सियेन लैस्टर (C. Lester) १९४०—४६ तक राष्ट्रसंघ के महासचिव रहे हैं। सचिवालय के अधिकारी, जो योग्यता के आधार पर महासचिव द्वारा नियुक्त किए जाते थे, अपने देशों के हित का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे बल्कि वे सचिवालय के प्रति उत्तरदायी होते थे, उसके प्रति निष्ठा रखने की शपथ लेते थे। सचिवालय के ११ विभाग थे जिनमें से प्रत्येक एक निर्देशक (Director) के अधिकार में रहता था। महासचिव अपने सहायक, कार्यकर्त्ता परिषद् की सहमति से चुनता था।

सचिवालय, सभा एवम् परिषद् दोनों के लिये कार्य करता था। सचिवालय के कर्मचारियों का कार्य इस अर्थ में बड़ा कठिन था कि उन्हें अपनी राष्ट्रीय निष्ठाओं से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से कार्य करना पड़ता था। सचिवालय का कार्य अनेक प्रकार की सेवाएं प्रदान करके संघ के सभी अंगों की सहायता करना था। यह साधारण सभा और परिषद् के लिए विचारणीय विषयों की सूची तैयार करता था,बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखता था, विविध प्रकार के प्रशासनात्मक कार्य करता था, मसौदे बनाता था, शोध करता था, संधियों को पंजीबद्ध करता था, रिकोर्ड रखता था और अन्य ऐसे ही अनेक कार्य करता था। संघ में दिए गये भाषणों का फ्रान्सीसी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करना, राष्ट्रसंघ की सरकारी पत्रिका में सभा और परिषद् की कार्यवाहियों को प्रकाशित कराना सचिवालय के अधिकारियों का काम था। राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्यों के मध्य होने वाली संधियों को कार्यालय में रजिस्टर्ड कर लेने के कार्य को राष्ट्रसंघ के विधान की १८वीं धारा के अनुसार अनिवार्य बना [illegible] गया था। १९४१ तक राष्ट्रसंघ के सचिवालय में ४७३३ संधियों को रजि[illegible]ड किया गया।

प्रोफेसर हेरिस के अनुसार सचिवालय राष्ट्रसंघ का [illegible] विशिष्ट और अनूठा अंग था। संघ के कार्य की सफलता अधिकांशत: [illegible] सचिवालय के अस्तित्व के कारण थी। सचिवालय का संगठन वास्तव में को[illegible] नई चीज नहीं थी।[1] यह राज्य सरकार के सचिवालयों के ही समान था, [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय

1. *Potter*: An Introduction to the Study of In[illegible]ational Organisation, P. 274.

क्षेत्र में इस प्रकार की संस्था की स्थापना एक बिल्कुल नई चीज थी, और इसलिए इसका महत्व और भी अधिक बढ़ गया था। राष्ट्रसंघ के विधान या संविदा (Covenant) के द्वारा अवश्य ही सचिवालय को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये थे, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जो काम इसे करने पड़ते थे, वे निश्चय ही महत्वपूर्ण थे। सचिवालय के कर्मचारी विभिन्न देशों, जातियों, धर्मों और नस्लों के थे। फिर भी वे एक साथ मिलकर संकुचित राष्ट्रीय हितों से ऊपर उठकर सहयोग से काम करते थे। इस तरह सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का एक अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना था। यदि राष्ट्रसंघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि था तो सचिवालय बहुत कुछ इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक था।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice)—राष्ट्रसंघ के संविदा की १४वीं धारा में कहा गया था कि—"परिषद् (Council) अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय की स्थापना के लिए योजनाएं बनाकर राष्ट्रसंघ के सदस्यों के समक्ष उनकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करेगी।" स्पष्ट है कि इसमें यह सिद्धान्त नीहित था कि यदि सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त झगड़ों का शांतिपूर्वक समझौता था तो शांतिपूर्ण समझौतों का मुख्य सिद्धान्त "मध्यस्थता" और "न्यायिक" समझौता था।

संविदा की १४वीं धारा के अनुपालन में सन् १९२० में परिषद् ने विधिवेत्ताओं के एक आयोग की नियुक्ति की जिसके द्वारा प्रस्तावित किये गये न्यायालय के विधान को कुछ संशोधनों के बाद साधारण सभा ने १३ दिसम्बर, १९२० को निर्विरोध स्वीकार कर लिया। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय अस्तित्व में आया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के न्यायाधीशों का सर्वप्रथम निर्वाचन सितम्बर १९२१ में हुआ और १५ फरवरी, १९२२ को यह हेग के शांति महल (The Great Hall of Justice of the Peace Palace) में स्थायी रूप से स्थापित हुआ। न्यायालय के सदस्यों की संख्या प्रारम्भ में ११ रखी गयी। इनके अतिरिक्त चार उप-न्यायाधीश भी रखे गये। न्यायाधीशों का निर्वाचन परिषद् के बहुमत द्वारा होता था और साधारण सभा के बहुमत द्वारा उन्हें स्वीकृति प्रदान की जाती थी। न्यायाधीश अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पूर्ण ज्ञाता, प्रसिद्ध वकील, अपने देश के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने की योग्यता से सम्पन्न और विश्व की प्रमुख विधि-व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले होते थे। इनका निर्वाचन ९ वर्ष के लिए होता था और ये स्वयमेव

---

[1] *Gilbert Murray* : The Problem of Foreign Policy, P. 117.

३ वर्ष के लिए अपने सभापति और उपसभापति का चुनाव करते थे। न्यायालय की बैठक प्रतिवर्ष हेग में होती थी और उसका आरम्भ प्रायः जून में होता था। राष्ट्रसंघ को न्यायालय पर प्रतिवर्ष लगभग ५ लाख डालर व्यय करने पड़ते थे। न्यायाधीशों का ९ वर्ष के पश्चात् पुनः निर्वाचन हो सकता था। अपने कार्यकाल में न्यायाधीश किसी राजनीतिक अथवा प्रशासकीय पद के अधिकारी नहीं होते थे। प्रत्येक न्यायाधीश को प्रतिवर्ष ३० हजार डालर के अतिरिक्त विभिन्न भत्ते भी दिये जाते थे। त्यागपत्र अथवा मृत्यु द्वारा हुए रिक्त स्थानों की पूर्ति अवशिष्ट समय के लिए होती थी। सन् १९३१ में न्यायाधीशों की संख्या ११ से बढ़ाकर १५ कर दी गयी, किन्तु बाद में १९३६ में उपन्यायाधीश के पद समाप्त कर दिये गये।

स्थायी न्यायालय के कार्य की भाषा फ्रैन्च और अंग्रेजी थी। ऐसी व्यवस्था भी थी कि यदि दोनों पक्षों के विशिष्ट कानूनों और रीति-रिवाजों का पूर्ण ज्ञान न हो तथा उनके राज्य का कोई न्यायाधीश भी न हो तो एक अस्थायी न्यायाधीश की नियुक्ति की जा सके। किन्तु यहां यह स्मरणीय है कि सभी न्यायाधीश अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाहक (International Officials) थे, न कि अपनी सरकारों के प्रतिनिधि। न्यायाधीशों के सभी निर्णय, परामर्श और आदेश खुले रूप में (In open) दिये जाते थे। निर्णय अधिकांशतः बहुमत से होता था लेकिन कुछ मामलों में अल्पसंख्यकों के मत को भी ध्यान में रखा जाता था। निर्णयों का आधार कानून था, न कि राजनीति।

न्यायालय का कार्यक्षेत्र दो प्रकार का था—एक तो 'स्वेच्छा से' और दूसरा 'अनिवार्य'। विधान की धारा ३६ को 'ऐच्छिक धारा' (Optional Clause) में परिवर्तित कर दिया गया था जिसे सदस्य राज्य स्वेच्छा से स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकते थे। जिन सदस्य राज्यों ने इस धारा को स्वीकार किया उन्होंने निम्नलिखित कानूनी झगड़ों में न्यायालय के अनिवार्य न्याय को मान्यता प्रदान की : (१) किसी संधि का स्पष्टीकरण, (२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी कोई भी प्रश्न, (३) किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का उल्लंघन तथा (४) इस प्रकार के उल्लंघन के सम्बन्ध में क्षति-पूर्ति के रूप अथवा सीमा को निर्दिष्ट करना। इस अनिवार्य न्याय की मान्यता के सम्बन्ध में शर्त यह थी कि उपरोक्त मामलों से सम्बन्धित दोनों ही पक्ष 'ऐच्छिक धारा' का पालन करते रहे हों। उपरोक्त श्रेणियों में आनेवाले सभी झगड़ों में यद्यपि न्यायालय के निर्णय को मानना अनिवार्य (Compulsory) था, किन्तु यह इस धारा को न मानने वाले राज्यों की इच्छा पर निर्भर था कि वे झगड़ों को सम्मुख प्रस्तुत करें या न करें। जिन राज्यों ने न्यायालय का उपरोक्त अधिकार क्षेत्र स्वीकार किया, उनकी संख्या १९२९ में २० थी जो

१९३९ में बढ़कर ३९ हो गयी और तब ४७। अनिवार्य धारा (Compulsory Clause) के अन्तर्गत एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सामने पेशी के लिए बुला सकता था और यदि दूसरा राष्ट्र न्यायालय में न आये तो न्यायालय अपने आप न्याय कर सकता था। विधान की रचना करने वाले कानून विशेषज्ञों के आयोग ने प्रारम्भ में यह सिफारिश की थी कि किसी संधि, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और क्षति-पूर्ति को भंग करने पर न्यायालय का अनिवार्य न्याय-क्षेत्र हो, लेकिन परिषद् तथा साधारण सभा ने इस सिफारिश को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि संविदा (Covenant) की धारा १४ के अनुसार न्यायालय किसी को अनिवार्य न्याय के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

स्थायी न्यायालय के न्याय का एक स्रोत विभिन्न संधियां थीं। इनकी संख्या लगभग ४०० थी। इनके प्रभाव से न्यायालय के कार्य वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय हो गये। न्यायालय का काम किसी भी राष्ट्र द्वारा पक्ष प्रस्तुत सुनने व सुलझाने के अतिरिक्त साधारण सभा अथवा परिषद् द्वारा रखे गये किसी भी प्रश्न पर सलाह देना भी था।

यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय १८९९ ई० में स्थापित **'हेग पंच न्यायालय' (Permanent Court of Arbitration at the Hague) से अनेक अंशों में भिन्न था।** हेग न्यायालय कोई स्थायी अदालत नहीं थी। इसमें केवल १३२ प्रमुख कानून-विशेषज्ञों की सूची थी जिसमें से विवादास्पद राज्य कुछ व्यक्तियों को चुनकर पंच बना सकते थे अर्थात् कुछ व्यक्तियों को चुनकर सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने के लिए एक अस्थायी न्यायालय की रचना कर दी जाती थी। लेकिन इसके सर्वथा विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय १५ न्यायाधीशों का सदैव कार्यरत स्थायी न्यायालय था जो पंच-न्यायालय के कार्य क्षेत्र से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्पष्टीकरण करता था और संधियों के भंग का निश्चय करता था। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय हेग के न्यायालय से अधिक उन्नतिशील था।

१९२२ से १९३९ तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने ६५ मामलों को अपने हाथ में लिया, ३२ पर निर्णय दिया और २०० आदेश तथा २७ परामर्श दिये। सभी निर्णयों का लेखा प्रकाशित किया गया। इस विषय में शूमैन ने लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के १७ वर्ष के रिकार्ड में यह संस्था बड़ी मूल्यवान सिद्धवान हुई।" अपने निर्णयों और परामर्शों के द्वारा इस न्यायालय ने जिन कानूनी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया वे आने वाले काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रशासन में निश्चित रूप से बड़े उपयोगी प्रमाणित हुए। ५ सितम्बर, १९३१ के 'Austro-German Customs Union' पर दिये गये निर्णय के अलावा इस न्यायालय ने विश्व के समक्ष अपनी निष्पक्षता का

ठीक ही प्रभाव डाला। इसके कारण इस के सम्मान में वृद्धि हुई और जब राष्ट्रसंघ ने अपनी समाधि में प्रवेश किया तो १९४६ में यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice of The United Nations) में परिणत कर दिया गया। राष्ट्रसंघ के स्थायी न्यायालय ने एस० एस० विम्बलडन, पोलैण्ड में बसे जर्मनों, एस० एस० लोट्स आदि विवादों पर महत्वपूर्ण निर्णय दिये थे। प्रो० ग्रान्ट गिलमोर (Prof. Grant Gilmore) जैसे विद्वानों का मत है कि स्थायी न्यायालय का कोई भी निर्णय कभी भी अधिक 'प्रतिष्ठा और महत्व' का नहीं रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) का जन्म—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ, जिसका कार्यालय जेनेवा में था, राष्ट्रसंघ का एक अंग होते हुए भी महत्व की दृष्टि से स्वयं में एक राष्ट्रसंघ के समान था और वर्साय की संधि द्वारा इसे स्वीकार किया गया था। पेरिस के शांति-सम्मेलन में स्थायी शांति की समस्या पर विचार करते समय संसार के विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने यह अनुभव किया कि "**सार्वलौकिक व स्थायी शांति की स्थापना तभी हो सकती है जबकि यह सामाजिक न्याय पर आधारित हो।**" "सामाजिक न्याय" से उनका अभिप्राय क्या था, इसका स्पष्टीकरण कभी नहीं किया गया, किन्तु यह अवश्य था कि संसार के श्रम की शोचनीय अवस्था ने संसार की शांति और एकता को संकटग्रस्त बना दिया था और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही विभिन्न देशों में श्रमिकों ने सरकारों और मालिकों पर अपनी अवस्था सुधारने के लिए दवाव डालने के उद्देश्य से अनेक अवैधानिक संगठन स्थापित कर लिए थे। रूस में, श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए, साम्यवाद का भूत सजीव हो उठा था और कार्ल मार्क्स का यह नारा क्रांतिकारी रूप धरने लगा था—"दुनिया के मजदूरों एक हो।" रूसी क्रांति ने, प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त, यूरोप के श्रमिक आन्दोलनों को बड़ा गतिशील बना दिया और शांति-संधियों में इस तरह की व्यवस्थाएं समाविष्ट करने की मांग उठ खड़ी हुई थी जो "श्रमिक-वर्ग के लिए संगठन के अधिकार, स्वदेश-त्याग, सामाजिक बीमा, कार्य करने के घंटे, स्वास्थ्य रक्षा और श्रम के संरक्षण आदि से सम्बन्धित नैतिक तथा भौतिक दोनों प्रकार की सुरक्षा प्रदान करें ताकि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवादी स्पर्द्धा के आक्रमणों से उन्हें सुरक्षित रखा जा सके।"

संगठित श्रम की उपरोक्त मांगें उत्तरोत्तर शक्तिशाली होती गयीं और पेरिस के शांति–सम्मेलन में विराजे हुए पूंजीपति देशों के प्रतिनिधियों ने यह समझ लिया कि यदि श्रमिकों की दशा में सुधार करने के लिए कोई उपयुक्त प्रयास न किया गया तो संभवतः सम्पूर्ण यूरोप 'लाल' हो जायगा। अतः इस भय की पृष्ठभूमि में, पेरिस शांति–सभा ने राष्ट्रसंघ के संविदा में एक श्रम-

संगठन (Labour Organisation) को समाविष्ट करने का निर्णय किया। पेरिस के शांति–संयोजक यूरोप के 'लाल' हो जाने के भय से कितने चिन्तित थे, यह ब्रिटिश प्रतिनिधि द्वारा व्यक्त इन शब्दों से भली–भांति स्पष्ट है— **"मुझे श्रम सुधार के कार्य की आवश्यकता स्मरण कराने की अधिक जरूरत नहीं है क्योंकि हम सभी इस बात से परिचित हैं कि हमारे चारों ओर हमारे मध्य नवीन विचारों की लहर उठ रही है और परिणामस्वरूप विश्व इस समय उत्तेजनापूर्ण है।"** इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ ही दिवस पूर्व रूसी साम्यवादियों ने संसार के सभी श्रमिकों की एक सभा आयोजित करके उन्हें "तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय" (The Third International) स्थापित करने का निमंत्रण दिया था और शीघ्र ही इस 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' ने सभी देशों के निम्न जाति के लोगों के लिए अपना 'घोषणा पत्र' (Manifesto) बनाया था।

उपरोक्त कारणों से प्रभावित होकर २८ अप्रेल, १९१९ को वर्साय की संधि में ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ (I. L. O.) की व्यवस्था की गयी। इस श्रम–संगठन के विधान को वर्साय संधि के १३वें भाग के रूप में स्वीकार किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ के जन्म एवं निर्माण के प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि १९१९ में एक ऐसे संगठन की यह मांग कोई नवीन नहीं थी, प्रत्युत इसकी आधार शिला पहले से ही बनती जा रही थी।

उद्देश्य— इस संघ के 'उद्देश्य' को वर्साय की संधि में व्यक्त करते हुए कहा गया था कि—**"राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों का केन्द्रीय उद्देश्य इस सिद्धान्त की कार्यान्विति होनी चाहिए कि जाति, धर्म अथवा लिंग के भेद-भाव के बिना सब मनुष्यों को अपनी भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक विकास को स्वतंत्रता एवं समान, आर्थिक सुरक्षा और समान अवसरों की स्थिति में प्राप्त करने का पूरा अधिकार है।" अतः अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ का लक्ष्य "श्रमिकों को औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उत्पादन की प्रक्रिया में सस्ते दामों में खरीदी जाने वाली वस्तुओं के स्थान पर मानवोचित मान्यता प्राप्त कराना है।"**

श्रमसंघ के इस उद्देश्य के विषय में प्रो० लियोनार्ड (Prof. Leonard) का कहना है कि "इन सिद्धान्तों की सरकारों द्वारा स्वीकृति केवल एक प्रथम कदम था, उनके वास्तविक महत्व की परीक्षा उनकी प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्नों से होती। कार्य वस्तुतः चुनौती से युक्त था। श्रमिकों के स्तर में सुधार सभी देशों की सामाजिक व्यवस्था में समा गया था और सरकारों की नीतियों के कोमलतम भागों को प्रभावित कर रहा था। सामाजिक सुरक्षा और पूर्ण रोजगार के लिए व्यवसाय के कार्य में सरकार के हस्तक्षेप की मांग की गयी

जो कितने ही देशों की आर्थिक व्यवस्था के प्रतिकूल थी। इसके लिए अधिकाधिक कर और उच्चतर श्रम-मूल्य की आवश्यकता थी जिससे लाभ घट जाता। स्पर्द्धा, स्वतंत्र साहस (Free enterprise) और एकाधिकार पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में कार्य करने वाली सरकारें कहां तक इस ओर पग बढ़ाने के लिए उद्यत हो सकती थीं ?"

यदि संक्षेप में प्रस्तुत किया जाय तो यह कहना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ के प्रधान उद्देश्य ये थे:—(१) सामाजिक न्याय की उन्नति से स्थायी शांति-स्थापना में योग देना, (२) अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही द्वारा श्रमिकों की स्थिति और उनके जीवन-स्तर में सुधार लाना, एवम् (३) आर्थिक तथा सामाजिक स्थिरता को प्रोत्साहन देना। इन उद्देश्यों का यह स्वाभाविक निष्कर्ष था कि श्रमसंघ कार्य के घण्टे नियत करने, श्रम की मजदूरी नियत करने, बेकारी दूर करने, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने, श्रमिकों को बीमारी, दुर्घटना एवम् अन्याय के विरुद्ध शरण देने, बालकों तथा स्त्रियों की सुरक्षा करने, वृद्धावस्था के लिए प्रबन्ध करने, समान कार्य के लिए समान मजदूरी दिलाने, स्वदेश छोड़कर दूसरे देश में कार्य करने वाले श्रमिक के हितों की रक्षा करने, स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर श्रमिकों की स्थिति सुधारने आदि की दिशा में सक्रिय हो।

ढांचा या संगठन :—श्रमिकों की मांगों के फलस्वरूप जन्म लेने वाले इस श्रमसंघ के तीन अंग थे —

(१) सामान्य सभा (General Conference),
(२) शासक सभा या मण्डल (Governing Body), एवम्
(३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)।

सामान्य सभा अथवा सम्मेलन में सभी सदस्य राष्ट्र सम्मिलित थे। इस सम्मेलन की बैठक वर्ष में एक बार होती थी जिसमें सामान्य नीतियों का निर्धारण होता था। यह सम्मेलन विभिन्न सिफारिशों को पास करता था जिनमें श्रमिकों से सम्बन्धित कानूनों के कुछ ऐसे व्यापक एवम् विस्तृत सिद्धान्त नीतित होते थे जो विभिन्न राज्यों में श्रमिक कानून बनाते समय उपयोगी तथा पथ-प्रदर्शक हो सकते थे। इस सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य-राज्य के चार प्रतिनिधि होते थे–एक मजदूरों द्वारा चुना हुआ, दूसरा मालिकों द्वारा चुना हुआ, दो सरकार द्वारा चुने हुए। इसके पास कानून निर्माण के कोई अधिकार नहीं थे। यह केवल श्रमिकों की दशा सुधारने के उपायों पर और इस सम्बन्ध में प्रचलित बुराइयों की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट कर सकता था। हां, उपरोक्त सिफारिशें अथवा समझौते (Draft Conventions)

प्राय: ऐसे विस्तृत कानूनी प्रस्ताव हुआ करते थे जिनके सम्बन्ध में प्रत्येक सदस्य-राज्य से यह आशा की जाती थी कि वह इन्हें संपुष्ट (Ratify) करेगा और इनके अनुसार कानून बनायेगा। सन् १९३९ तक प्रतिवर्ष होने वाले सामान्य सम्मेलनों में इस तरह की १३३ सिफारिशें पारित की थीं। सम्मेलन द्वारा ये सिफारिशें $\frac{2}{3}$ के बहुमत से पारित होती थीं और इन्हें राष्ट्रीय विधान सभाओं के सम्मुख एक वर्ष के अन्दर संपुष्टि (Ratification) के लिए जमा करवाना होता था। सम्मेलन के प्रत्येक प्रतिनिधि को स्वतन्त्र रूप से वोट देने का अधिकार था और ऐसे अवसर उपस्थित हो जाया करते थे जब एक ही देश के प्रतिनिधि एक दूसरे के विपरीत वोट देते थे।

शासक मण्डल में ३२ सदस्य होते थे—८ प्रतिनिधि मजदूरों के, ८ मिल मालिकों के और १६ विभिन्न राज्यों के। अधिकतम औद्योगिक महत्व रखने वाले राज्यों की श्रमसंघ में प्रधानता बनाये रखने की दृष्टि से सन् १९२२ में यह व्यवस्था की गयी थी कि इसके ८ प्रतिनिधि बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, भारत और जापान द्वारा चुने जाने चाहिए। जब संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत यूनियन संघ के सदस्य बने तो उन्हें कनाडा और बेल्जियम के स्थान पर स्थायी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। शासक मण्डल श्रमसंघ की कार्यपालिका के रूप में कार्य करता था। इसके सदस्य तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते थे और इसकी बैठकें वर्ष में चार बार होती थीं। इस मण्डल का कार्य सम्मेलनों का कार्यक्रम बनाना, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ के अध्यक्ष की नियुक्ति करना और संघ के कार्यों की देखभाल करना था। यह बजट तैयार करता था, और विभिन्न समितियों तथा कमीशनों का निर्देशन करता था।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का प्रमुख अधिकारी (Director General) के नाम से पुकारा जाता था। उसकी सहायता के लिए ३५० विशेषज्ञ होते थे जिनकी नियुक्ति वह स्वयं करता था। यह श्रम कार्यालय श्रमसंघ के स्थायी सचिवालय के रूप में कार्य करता था। इसका काम सूचनाओं का संकलन तथा वितरण करना, सम्मेलन की तैयारी में शासक मण्डल की सहायता करना, सम्मेलनों के निर्णयों के आधार पर सरकार द्वारा कानूनों की मसविदा तैयार करने की प्रार्थना पर उनको सहयोग देना, विशेष जानकारी खोज–बीन करना, सम्मेलनों की सफलता के लिए साधन उपलब्ध करना, विश्व के विभिन्न भागों में श्रमिक कल्याण का कार्य करने वाली संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करना आदि था। इसने अनेक रिपोर्टों, अध्ययनों और दस्तावेजों का तथा इण्टरनेशनल लेबर रिव्यू तथा बुलेटिन नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी किया। इसके कार्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ ने विश्व के

श्रमिकों की समस्याओं पर उन्हीं के स्तर पर विचार-विमर्श के लिये एक स्वस्थ विधान मण्डल प्रस्तुत किया जिसने श्रमसंघ के नाम चार चांद लगाये।

उपरोक्त वर्णन से यह प्रकट है कि जेनेवा में अवस्थित इस अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ का स्वरूप राष्ट्रसंघ के सदृश था और सामान्य सम्मेलन, शासक-मण्डल एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय नामक इसके तीनों अंग राष्ट्रसंघ की साधारण सभा, परिषद् और सचिवालय से मिलते-जुलते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ को राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित करने वाली तीन प्रमुख कड़ियां थीं—(१) इसके वार्षिक बजट पर मतदान और स्वीकृति राष्ट्रसंघ की साधारण सभा करती थी, (२) बेगार, दासता और शरणार्थियों आदि की व्यवस्था से उत्पन्न हुई व्यावसायिक समस्याओं जैसे विषयों में श्रमसंघ राष्ट्रसंघ के परामर्शदाता का कार्य करता था, एवं (३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ के निर्माणकर्त्ताओं का विचार इसको राष्ट्रसंघ का ही एक अंग बनाना था ताकि राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इसके भी सदस्य हों।

उपरोक्त प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि **वे राज्य जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ में प्रवेश कर सकते थे**। सन् १९३४ में अमेरिका का प्रवेश इसका उदाहरण है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ का परित्याग कर देने वाले राज्य भी चाहने पर इसके सदस्य बने रह सकते थे जैसा कि जापान ने १९३३ में किया। परिषद्, न्याय के स्थायी न्यायालय और महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन से सम्बन्धित अनेक कार्य करने होते थे। श्रससंघ का निर्देशक राष्ट्रसंघ के महासचिव के प्रति उत्तरदायी था।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ द्वारा स्वीकृत सिफारिशों अथवा समझौतों या परम्पराओं (Coventions) का मूल्य बहुत कम था। लेकिन सदस्य राष्ट्र द्वारा उस सिफारिश या समझौते को स्वीकार कर लेने पर उसका मूल्य बढ़ जाता था और तब उसे सम्पुष्ट (Ratify) भी कर दिया जाता था। यह स्मरणीय है कि कभी-कभी सम्पुष्ट की गई सिफारिशों या परम्पराओं का भी बहुत सामान्य एवं लघु अर्थ होता था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ का उन्हें कार्यरूप में परिणत करने का कार्य बड़ा असन्तोषजनक होता था। श्रमसंघ अपने कार्यों की पूर्ति राष्ट्रसंघ की मशीनरी, सूचना-आयोग, न्याय के स्थायी न्यायालय आदि द्वारा कर सकता था, किन्तु किसी भी उद्देश्य की सन्तोष-जनक पूर्ति इसलिये नहीं हो सकती थी क्योंकि राष्ट्रसंघ की दण्ड व्यवस्था (Sanction System) उपयुक्त नहीं थी।

राष्ट्रसंघ के अन्य अवयव—उपरोक्त अंगों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्यों के लिये राष्ट्रसंघ के अन्य अवयव अथवा अभिकरण भी थे। इन्हें सहा-

यक अंग (Auxiliary Organs) एवं स्वायत्त (Autonomous) संस्थाएं कहा जा सकता है। संघ के विधान-निर्माताओं की यह इच्छा थी कि संघ को विविध राजनैतिक प्रश्नों पर किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों में समन्वय स्थापित करने वाला एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनाया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु राष्ट्रसंघ के अन्य सामाजिक और आर्थिक अवयव बनाये गये, जैसे—वित्तीय संगठन, यातायात संगठन, आर्थिक संगठन, बुद्धिजीवी सहयोग समिति, अफीम आदि मादक एवं घातक औषधियों या पदार्थों के प्रयोग पर परामर्श-दात्री समिति, स्त्रियों और बच्चों के अवैध व्यापार पर नियंत्रण समिति (Committee on the traffic of women and Children), शरणार्थियों पर संगठित समिति आदि। यद्यपि राष्ट्रसंघ के चारों ओर नाना टेकनिकल एजेन्सियों, आयोगों और परामर्शदात्री समितियों की रचना हुई, किन्तु यह अवश्य है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक–सामाजिक परिषद् जैसी महत्वपूर्ण पृथक संस्था का अभाव ही रहा। राष्ट्रसंघ के ये विभिन्न अभिकरण अपने सम्बद्ध क्षेत्र में जानकारी प्राप्त करते थे और इस विषय में राष्ट्रसंघ को परामर्श दिया करते थे।

राष्ट्रसंघ के कार्य

राष्ट्रसंघ का मूल उद्देश्य विश्व में शांति को स्थायी रूप से बनाये रखने और विश्व के देशों के मध्य सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना था। अपने इस मूल उद्देश्य की पूर्ति के लिये राष्ट्रसंघ को जिन विभिन्न कार्यों को करना पड़ता था वह निःसन्देह अत्यधिक विस्तृत थे। अपने आर्थिक, सामाजिक, मानवीय, राजनीतिक आदि सभी कार्यों के द्वारा वह विश्व में उच्च कोटि के स्वच्छ एवं स्वस्थ वातावरण की सृष्टि करने का अभिलाषी था। राष्ट्रसंघ को जो विभिन्न वृहद कार्य सम्पन्न करने पड़ते थे, उन्हें सुविधा की दृष्टि से हम निम्नलिखित पृथक–पृथक शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) प्रशासनात्मक कार्य (Administrative Functions)

(२) संरक्षण प्रथा सम्बन्धी कार्य (Functions relating to Mandate System)

(३) अल्प संख्यकों के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य (Functions relating to the Protection of Minorities)

(४) आर्थिक, सामाजिक और मानवता सम्बन्वी कार्य (The Social, Economic and Humanitarian Activities)

(५) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य (Functions relating to International Peace and Security)

अब हम राष्ट्रसंघ के उपरोक्त सभी कार्यों पर एक–एक करके विचार करेंगे।

प्रशासनात्मक कार्य
(Administrative Functions)

राष्ट्रसंघ का जन्म शांति-संधियों से हुआ था और विशेषतः वर्साय की संधि में राष्ट्रसंघ से यह अपेक्षा की गयी थी कि वह उस संधि को क्रियान्वित करेगा। राष्ट्रसंघ उस संगठन शक्ति के रूप में उदित हुआ जिसका काम शांति-संधियों की धाराओं को लागू करना और उन्हें क्रियान्वित करना था।

संधियों के सामान्य प्रशासन के अतिरिक्त संधियों में कुछ ऐसी विशिष्ट धाराएं थीं जिनके प्रशासन का काम विशेष तौर पर राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। उनमें **सार की घाटी और डैन्जिग के स्वतंत्र नगर का प्रशासन** विशेष महत्व का था। यह उत्तरदायित्व वर्साय की संधि द्वारा राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था।

(i) **सार-घाटी का शासन**—वर्साय की संधि के अनुसार राष्ट्रसंघ को सार बेसिन (The Saar Basin) पर १५ वर्ष तक शासन करने का अधिकार मिला। शर्तों के अनुसार परिषद् द्वारा नियुक्त ५ सदस्यों के कमीशन को उक्त क्षेत्र पर शासन करने का अधिकार था। इस ५ सदस्यों वाले कमीशन में एक सदस्य फ्रैन्च, एक सार निवासी और अन्य तीन सदस्य फ्रान्स तथा जर्मनी से भिन्न देशों के नागरिक होने थे। परिषद् ने फरवरी १६२० में अपने दूसरे अधिवेशन में एक कट्टर फ्रान्सीसी देशभक्त विक्टर रॉल्ट (Victor Rault) की अध्यक्षता में इस शासक-कमीशन की नियुक्ति की। रॉल्ट के अतिरिक्त कमीशन का एक सदस्य सारवासी अल्फ्रेड वोन वॉक (Alfred Von Boch) था और शेष तीन सदस्यों में एक बेल्जियम, एक पेरिस में रहने वाला डेन तथा एक कनाडियन था। परिषद् ने कमीशन के कार्य संचालन के लिए नियम और सिद्धान्तों की रचना की। कमीशन का बहुमत फ्रैन्च पक्षपाती था, अतः इससे असंतुष्ट होकर सारवासी वॉक ने शीघ्र ही त्यागपत्र दे दिया। मार्च १६२२ में कमीशन के परामर्श के लिए ३० व्यक्तियों की एक सलाहकार समिति भी स्थापित की गयी जिसके सदस्य बालिग-मताधिकार के आधार पर क्षेत्र की जनता द्वारा निर्वाचित होते थे।

कमीशन ने, जिसमें स्पष्टतः फ्रैन्च बहुमत था, परिषद् द्वारा की गयी व्यवस्थाओं और उसके द्वारा दिये गये निर्देशनों का कभी उचित सम्मान नहीं किया। परिषद् ने जिस सलाहकार समिति की स्थापना की उससे महत्वपूर्ण मामलों में कभी परामर्श नहीं लिया गया। परिषद् द्वारा सार बेसिन में कानून और व्यवस्था की रक्षा करने का कार्य स्थानीय सशस्त्र पुलिस (Gendar-merie) को सौंपा गया, लेकिन स्थानीय पुलिस के स्थान पर इस प्रदेश में फ्रान्स ने ५ हजार सैनिकों की अपनी एक सैनिक टुकड़ी कायम रखी। परिषद्

ने सार निवासियों को यह अधिकार दिया था कि वे प्रशासन सम्बन्धी शिका यतें सीधी परिषद् को भेज सकते हैं, किन्तु इस अधिकार का तब तक को महत्व नहीं था जब तक परिषद् वस्तुतः उनकी सुनवाई करे। सार में फ्रान्स ने फ्रैन्च मुद्रा लागू की और जर्मन विद्यार्थियों पर फ्रान्सीसी स्कूलों में भर्ती होने के लिए दबाव डाला गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि संधि द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि कमीशन को विराम संधि के समय प्रचलित किसी भी कानून को स्वयं बदलने का अधिकार नहीं था। ऐसा करने के लिए उसे सार-निवासियों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

कमीशन के प्रशासन से सार-वासियों में असंतोष और शिकायत की भावना बढ़ती गयी। असंतोष वृद्धि का एक प्रमुख कारण यह था कि सार-वासियों के प्रतिनिधियों का चुनाव मार्च १९२२ तक टाला जाता रहा और चुनाव हो जाने पर जो उपरोक्त सलाहकार समिति बनी वह केवल एक दर्शनी-हुण्डी थी क्योंकि उससे किसी महत्वपूर्ण मामले पर विचार-विमर्श नहीं किया जाता था। सन् १९२३ में सार-वासियों का असंतोष तब और भी अधिक भड़क उठा जब सार के खनिकों ने रूर के जर्मन खनिकों की सहानुभूति में हड़ताल कर दी और कमीशन ने हड़ताली खनिकों का निर्दयता के साथ दमन किया। संघ के विरुद्ध कुछ कहना अथवा लिखना दण्डनीय अपराध बना दिया गया और प्रेस पर अनेक प्रतिबन्ध थोप दिये गये। इन सब कारणों से सार-वासियों का असंतोष और आन्दोलन तीव्रतर होता गया और तब अन्ततः बाध्य होकर परिषद् ने सन् १९२३ में कमीशन के कार्यों और शासन की जांच कराई। कमीशन के प्रधान रॉल्ट ने यह स्वीकार किया कि सार में फ्रैन्च हितों की सुरक्षा करना वह अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता है और सार की फ्रैन्च सेना को आदेश तथा वेतन पेरिस से मिलते हैं। परिषद् ने वास्तविकता समझते हुए भी कमीशन की अत्याचारपूर्ण कार्यवाहियों की निन्दा नहीं की, प्रत्युत केवल यह सुझाव रखा कि विदेशी सेना को हटाकर सार में स्थानीय पुलिस नियुक्त कर दी जाय। सन् १९२६ में रॉल्ट ने कमीशन से त्यागपत्र दे दिया। तत्पश्चात् कमीशन के अध्यक्ष पद पर एक अंग्रेज सर अर्नेस्ट विल्टन (१९२७) की नियुक्ति हुई। विल्टन के उपरान्त १९३२ में ज्याफ्री जी० नाक्स को इस पद पर रखा गया। इनके सहानुभूतिपूर्ण शासन द्वारा सारवासियों में कमीशन के प्रति असंतोष और विरोध की मात्रा पूर्वापेक्षा कम हो गयी।

वर्साय की संधि के अनुसार सार के शासन का स्थायी निर्णय १९३५ ई० में जनमत संग्रह (Plebiscite) द्वारा होना था। इसमें मतदान करने का अधिकार उन सभी लोगों को प्राप्त था जिनकी अवस्था २० वर्ष से अधिक की थी और जो जर्मनी से अलग होते समय सार प्रदेश में रहते थे।

सन् १९२२ में ही ऐसे व्यक्तियों की सूची बना ली गयी थी। सार निवासियों ने कमीशन के विरुद्ध अपने असन्तोष की तीव्र अभिव्यक्ति १९३५ में होनें वाले जनमत संग्रह को संभावना के कारण ही नहीं की थी। लेकिन जर्मनी के सौभाग्य या दुर्भाग्यवश जनमत संग्रह के दो वर्ष पूर्व जर्मनी में नाजी दल की सरकार स्थापित हो गयी और संसार को महयुद्ध की ज्वाला में धकेल देने वाले हिटलर का भी अभ्युदय हुआ जिसने सार को बलपूर्वक जोतनें की धमकियां देना शुरू कर दिया और फ्रांस को चेतावनी दी कि वह सार की घाटी जर्मनी को वापिस कर दे। लेकिन फ्रांस भी जर्मनी को इतनी सुगम विजय देने को तैयार न था।

सन् १९३४ में परिषद् ने जनमत संग्रह की व्यवस्था के नियमों को निश्चित करने के लिए एक निष्पक्ष समिति बनायी और इसके सुझावों के अनुसार १३ जून, १९३५ को मतसंग्रह का दिन निश्चित किया गया। मतदान से पूर्व ही फ्रांस और जर्मनी दोनों देशों ने यह वचन दिया कि वे निर्वाचन पर प्रभाव डालने वाला कोई सरकारी दबाव नहीं डालेंगे और न ही चुनाव के बाद मतदाताओं से किसी प्रकार का कोई बदला लेंगे। जनमत संग्रह की तैयारी के लिए स्वीडन, स्वीटजरलैण्ड, हॉलैण्ड के प्रतिनिधियों का और संयुक्त राज्य अमेरिका के एक विशेषज्ञ का आयोग बनाया गया। निर्वाचन का दिन समीप आने पर सार में उत्तेजना, अशांति तथा उपद्रव बढ़ने लगे। शान्ति एवं सुव्यवस्था की दृष्टि से राष्ट्रसंघ ने वहां ३ हजार सैनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय सेना नियुक्त कर दी। अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में लगभग ९८ प्रतिशत मतदाताओं ने मतदान किया जिनमें ९० प्रतिशत सार को जर्मनी में मिलाने के पक्ष में थे। जर्मनी के पक्ष में पड़े वोटों की संख्या ५ लाख २५ हजार, राष्ट्रसंघ के पक्ष में ४६ हजार ५०० और फ्रांस के पक्ष में केवल २,१०० थी। जनमत संग्रह के निर्णय के आधार पर १ मार्च, १९३५ को राष्ट्रसंघ ने सार का प्रशासन जर्मनी को सौंप कर अपने एक उत्तरदायित्व से मुक्ति पायी। सार के प्रशासन की यह समस्या राष्ट्रसंघ के लिए एक कठोर अग्नि परीक्षा थी जिसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली।

(ii) **डैन्जिग का शासन:**—सार घाटी के समान डैन्जिग भी एक जर्मन बहुल प्रदेश था। परन्तु जिस तरह फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिए सार घाटी के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्थाएँ की गयी थीं, उसी प्रकार पोलैण्ड को संतुष्ट करने के लिए डैन्जिग के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष व्यवस्थाएं की गयीं। प्रथम, डैन्जिग के जर्मन बन्दरगाह को जर्मनी से अलग कर राष्ट्रसंघ के संरक्षण में एक स्वतन्त्र नगर बना दिया गया। द्वितीय, डैन्जिग को अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वशासन प्रदान किया गया किन्तु उसकी आर्थिक व्यवस्था पोलैण्ड को सौंपी

गयी और उसके विदेशी सम्बन्धों के संचालन का अधिकार भी पोलैण्ड को दिया गया। तृतीय, डैन्जिग के शासन की देखरेख के लिए राष्ट्रीयसंघ द्वारा एक हाई-कमीशनर की नियुक्ति की गयी जिसे डैन्जिग और पोलैण्ड के विवादों का निर्णय करने का अधिकार भी दिया गया। चूंकि डैन्जिग-वासियों को अपना शासन विधान बनाने की स्वतन्त्रता मिली थी, अतः उन्होंने अपने शासन के लिए एक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका निर्वाचित की। चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर किया गया। संविधान के अनुसार इस व्यवस्थापिका का प्रथम सदन (Volkstag) १२० सदस्यों का था। दूसरा सदन सीनेट था जिसमें २२ सदस्य होते थे। दोनों सदनों में किसी मामले पर मतभेद होने पर उस सम्बन्ध में जनता की राय लेनी होती थी। सीनेट के ८ सदस्य सरकार के प्रमुख होते थे।

डैन्जिग के प्रशासन में राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिल सकी। डैन्जिग का मामला इतना जटिल था कि वह अन्त तक शांति से हल नहीं हुआ और उसके बारे में एच० जी० वेल्स द्वारा १९३३ में की गयी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई कि अगला महायुद्ध १९४० में पोलिश गलियारे के सम्बन्ध में होगा। १९३९ में डैन्जिग और पोलिश गलियारे की समस्या को लेकर ही द्वितीय महायुद्ध हुआ।

पोलैण्ड के साथ डैन्जिग के सम्बन्ध शुरू से ही बड़े तनावपूर्ण रहे। प्रथम पांच वर्षों में ही दोनों के विवादों में राष्ट्रसंघीय हाई-कमीशनर को ५० निर्णय देने पड़े। १९२७ में परिषद् की एक भी बैठक ऐसी नहीं हुई जिसमें डैन्जिग का प्रश्न प्रस्तुत न हुआ हो। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी इन दोनों के कुछ विवाद गये। आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों की सीमाओं के निर्धारण की जटिल समस्या दोनों के पारस्परिक विद्वेष को उग्रतर बनाती गयी। इसी समय पोलैण्ड ने डैन्जिग के पास गदिनिया (Gdynia) नामक एक नवीन बन्दरगाह का विकास करना आरम्भ किया। परिणाम-स्वरूप डैन्जिग का व्यापार घटने लगा। प्रतिस्पर्द्धा की दौड़ में गदिनिया बाजी मारता गया। १९३३ तक गदिनिया से होने वाले व्यापार की मात्रा डैन्जिग के व्यापार की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी। पोल प्रसन्न हुए, जर्मन चिन्तित। इसी मध्य जर्मनी में नाजियों की सरकार कायम हुई। नाजियों की सफलता से डैन्जिग के जर्मनों को प्रसन्नता और पोलों को चिन्ता हुई। फिर भी सिनेट के अध्यक्ष डा० हर्मन रौशनिंग (Dr. Hermann Roushning) ने पोलैण्ड के साथ शांति की नीति का प्रयोग किया और पोलैण्ड के साथ दो समझौते किये। प्रथम समझौते के अनुसार पोलैण्ड का ४५ प्रतिशत व्यापार डैन्जिग द्वारा तथा ५५ प्रतिशत गदिनिया द्वारा करने और

द्वितीय के अनुसार पोल बच्चों के लिए विशेष स्कूल बनाने के निश्चय हुए। जनवरी १९३४ में पोलैण्ड और जर्मनी के मध्य यह तय हुआ कि भविष्य में पोलैण्ड और डैन्जिग के विवाद राष्ट्रसंघ को नहीं सौंपे जायेंगे अपितु उनका निर्णय दोनों देश आपस की बातचीत के द्वारा कर लिया करेंगे। इस समझौते के बाद राष्ट्रसंघ की परिषद् की उपेक्षा की जाने लगी। १९३४ में डॉ० रोशनिंग अध्यक्षपद से निवृत हो गये। उनके स्थान पर उग्रवादी जर्मन व्यक्ति के अध्यक्ष बन जाने से डैन्जिग और पोलैण्ड के मध्य पुनः तनातनी बढ़ने लगी। यह तनातनी बिना युद्ध के संभवतः मिट भी नहीं सकती थी। वास्तव में यह अन्यायपूर्ण था कि डैन्जिग के दक्षिण-पश्चिम में २६० मील लम्बी और ८० मील चौड़ी, विश्चुला नदी के दोनों किनारों की तंग पट्टी जर्मन होते हुए भी, समुद्री मार्ग प्रदान करने के लिए पोलैण्ड को दे दी गयी। मित्रराष्ट्रों का तर्क यह था कि इस पट्टी के पूर्व में रहने वाले २० लाख जर्मनों के हितों की अपेक्षा पोलैण्ड के सम्पूर्ण राष्ट्र के आर्थिक हित अधिक महत्वपूर्ण हैं किन्तु जर्मन लोगों के लिए यह एक घोर राष्ट्रीय अपमान था कि इस गलियारे द्वारा उनकी मातृभूमि दो टुकड़ों में विभक्त हो जाय। पौलैण्ड के गलियारे (Corridor) का यह प्रश्न पोलैण्ड और जर्मनी के मध्य घोर वैमनस्य का जनक बन गया और इसी प्रश्न को लेकर द्वितीय महायुद्ध छिड़ा।

इस तरह स्पष्ट है कि डैन्जिग का प्रशासन राष्ट्रसंघ की असफलता की कहानी है। १९१९ के शान्ति-निर्माताओं ने सोचा था कि डैन्जिग के प्रश्न का उनका निर्णय स्थायी होगा लेकिन यह स्थायी नहीं हो सका। जर्मन प्रचार में अनवरत गति से डैन्जिग में उसके ऊपर किये गये अत्याचारों का राग गूंजने लगा और १ सितम्बर, १९३९ को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके १५ दिन के अन्दर ही डैन्जिग को ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण पोलैण्ड को अपने अधिकार में ले लिया।

संरक्षण-प्रथा सम्बन्धी कार्य
(Mandate System)

संरक्षण-प्रथा का अभिप्रायः—संरक्षण-प्रथा को अधिदेशीय अथवा आदेश व्यवस्था (Mandate System) के नाम से भी पुकारा जाता है। संरक्षण-प्रथा की संज्ञा उस प्रणाली को दी गयी थी जो प्रथम महायुद्ध के अन्त में टर्की और जर्मनी से ले लिए गये उपनिवेशों का निबटारा करने के लिए स्वीकार की गयी थी और अन्त में जिसे राष्ट्रसंघ के विधान की धारा २२ में सम्मिलित कर लिया गया था। इस व्यवस्था अथवा योजना को सुझाने वाला व्यक्ति दक्षिण अफ्रिका का जनरल स्मट्स था। इस व्यवस्था

के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ पर यह उत्तरदायित्व डाला गया था कि वह भूतपूर्व जर्मन साम्राज्य के उपनिवेशों और टर्की के खलीफा के साम्राज्य के अरब प्रायद्वीप के निवासियों के कल्याण और उन्नति की व्यवस्था करे। राष्ट्रसंघ ने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए उपरोक्त प्रदेशों और उपनिवेशों का शासनाधिकार, जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न देशों को सौंपा। राष्ट्रसंघ के विधान की २२ वीं धारा में संरक्षण-प्रथा की चर्चा करते हुए स्पष्टतः लिखा गया:—

"उन उपनिवेशों और क्षेत्रों पर, जो कि पिछले युद्ध के परिणाम-स्वरूप उन राज्यों की प्रभुसत्ता में नहीं रह गये हैं, जिनका पहले उन पर शासन था, तथा जिनमें ऐसे लोग बसते हैं, जो आधुनिक विश्व की कठिन परिस्थिति में अपने पैरों पर खड़े होने योग्य नहीं हैं, यह सिद्धान्त लागू किया जाय कि ऐसे लोगों का कल्याण और विकास सभ्य देशों का पवित्र कर्तव्य है। इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे लोगों का संरक्षण उन समुन्नत राष्ट्रों को सौंपा जाय, जो ....इस उत्तरदायित्व को सर्वोत्तम रूप में निभा सकते हों ... .और इस संरक्षण-अधिकार का उपयोग वे राष्ट्रसंघ की ओर से संरक्षक राज्य के रूप में करें।"[1]

राष्ट्रसंघ द्वारा उपनिवेशों का शासन-प्रबन्ध जिन राज्यों को सौंपा गया वे राज्य 'संरक्षक-राज्य' (Mandatory States) के नाम से पुकारे गये। ये राज्य राष्ट्रसंघ के साथ किये गये समझौते के अनुसार उनको सौंपे गये भूभागों का प्रबन्ध करते थे। इन्हें अपने शासन-प्रबन्ध की रिपोर्ट प्रतिवर्ष राष्ट्रसंघ की परिषद् (Council) को देनी पड़ती थी। संरक्षण-व्यवस्था के निरीक्षण के लिए राष्ट्रसंघ ने १९२० में एक स्थायी संरक्षण-आयोग (Permanent Mandate Commission) स्थापित किया जो मैण्डेटरी राज्यों द्वारा प्रस्तुत की गयी उपरोक्त रिपोर्ट की जांच करता था, याचिकाएं सुनता था और संरक्षण-व्यवस्था के बारे में परिषद् को आवश्यक सिफारिशें करता था। इस आयोग में सरकारों के प्रतिनिधि नहीं होते थे बल्कि ?? विशेषज्ञ होते थे जिनमें से अधिकांश को Non-Mandatory देशों से लिया जाता था। इन विशेषज्ञों को उनके विशेष और टैक्नीकल ज्ञान के आधार पर संघ द्वारा छांटा जाता था। मैन्डेटरी राज्य अथवा शक्ति का प्रतिनिधि आयोग की बैठकों में भाग ले सकता था ताकि जब उसकी सरकार की रिपोर्ट पर विचार हो रहा हो उस समय आवश्यकता पड़ने पर वह वां अतिरिक्त सूचना प्रदान कर सके। आयोग द्वारा जांच पड़ताल की जाने के

1. राष्ट्रसंघ संविदा, अनुच्छेद २२ (१)

बाद मय सिफारिशों के जब रिपोर्ट परिषद् को प्रस्तुत कर दी जाती थी तो रिपोर्ट और सिफारिशों के आधार पर परिषद् यदि आवश्यक होता तो, मैन्डेटरी शक्ति को और भी निर्देशन एवम् सुझाव देती थी।

संरक्षण-व्यवस्था की आवश्यकता क्यों पड़ी ?:—यहां यह जानना अप्रासंगिक न होगा कि ऐसे कौन से कारण थे जिनसे बाधित होकर उपरोक्त व्यवस्था को जन्म देना पड़ा। **प्रो० शूमैन (Prof. Schuman) के अनुसार संरक्षण-व्यवस्था "साम्राज्यवाद की दोहरी समस्या—एक ओर तो निवासियों के हितों की रक्षा करना तथा दूसरी ओर साम्राज्य-निर्माताओं में शान्ति रखना—के दृढ़तापूर्वक समाधान की सबसे अधिक मनोरंजक अन्तर्राष्ट्रीय चेष्टाओं में............** है।"[1] वास्तव में संरक्षण-व्यवस्था जनरल स्मट्स की एक ऐसी खोज थी जिसका उद्देश्य विल्सन के आदर्शवाद और अन्य मित्र-राष्ट्रों की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं में समन्वय स्थापित करना था। युद्ध के बाद टर्की, जर्मनी आदि केन्द्रीय शक्तियों के अधिकांश प्रदेश व उपनिवेश मित्र-राष्ट्रों के कब्जे में आ गये। इन क्षेत्रों की व्यवस्था के बारे में विद्यमान विभिन्न समस्याओं ने मित्र और संयुक्त राष्ट्रों को बड़ी उलझन में डाल दिया। ये समस्याऐं प्रमुखत: निम्नलिखित थीं —

(i) इन क्षेत्रों को एकदम संयुक्त करना राजनीतिक रूप में असंभव था, क्योंकि मित्रराष्ट्र स्वयं को विल्सन के चौदह सूत्रों से बांध चुके थे। विल्सन के पांचवें सूत्र में यह स्पष्ट कहा गया था कि "सब औपनिवेशिक दावों का स्वतन्त्र रूप से, खुले दिल से और निष्पक्ष रूप से निबटारा इस सिद्धान्त के आधार पर हो कि ऐसे प्रश्नों का निर्णय करते समय सम्बद्ध जनता के हितों को, वहां की सरकार के न्याय दावों के साथ समान महत्व दिया जाय।"

(ii) राष्ट्रपति विल्सन चाहते थे कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भूतपूर्व जर्मन उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय, किन्तु अन्य मित्रराष्ट्र इस विचार से सहमत न थे। उन्होंने काफी कीमत और बड़े बलिदान के बाद इन उपनिवेशों को पाया था और वे इनको क्षति-पूर्ति के रूप में अपने साम्राज्यों का अंग बना लेना चाहते थे। मित्रराष्ट्रों का जनमत भी केन्द्रीय शक्तियों के प्रति बदले की भावना से परिपूर्ण था।

(iii) इन प्रदेशों को इनके भूतपूर्व स्वामियों के हाथ में नहीं सौंपा जा सकता था। प्रथम तो इनके मूल-निवासियों को, जिनमें से कुछ ने युद्ध में मित्र-राष्ट्रों को सहायता दी थी, यह आश्वासन दिया गया था कि उन्हें अपने भूतपूर्व स्वामियों के हाथ में सौंप कर प्रतिरोध के दांव पर नहीं रखा

---

1. *F. L. Schuman* : International Politics, P. 441.

जायगा। दूसरे यह डर था कि पराजित शासक वर्ग की पुर्नस्थापना की स्थिति में जर्मनी इन प्रदेशों का प्रयोग मूल-निवासियों की फौजी भर्तियों के लिए और भावी युद्ध की तैयारी में सैनिक-अड्डों के रूप में कर सकता है।

उपरोक्त स्थिति में न तो यह संभव था कि विजित उपनिवेशों अथवा भूभागों को उनके भूतपूर्व स्वामियों को लौटा दिया जाय और न यह संभव था कि विजेता राष्ट्र उन पर सीधे अपना कब्जा जमा लें। इस उलझन भरी समस्या का हल जनरल स्मट्स ने खोज निकाला जिसके अनुसार इन प्रदेशों को न तो पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जानी थी और न मित्र राष्ट्रों के साम्राज्यों में विलीन करना था, बल्कि एक विशेष व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ के संरक्षण में उनके शासन को मित्र राष्ट्रों को सौंप दिया जाना था। यही विशेष व्यवस्था संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) के नाम से विख्यात हुई। इस व्यवस्था ने एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिसमें मित्र एवं संयुक्त राष्ट्रों के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक स्वार्थों की पर्याप्त आंशिक पूर्ति की गई, इन क्षेत्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को सम्मान दिया गया, गुप्त संधियों की शर्तों की भावना को बनाये रखा गया, साम्यवाद के प्रसार की आशंका को आंशिक रूप में मिटाया गया और तत्काल स्वशासन की इन क्षेत्रों की अयोग्यता, राजनीतिक सुविधा तथा मानवीय भावनाओं के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की गयी।

संरक्षण के प्रकार—संरक्षण अथवा मेण्डेट शासन के अधीन १४ क्षेत्र थे। राष्ट्रसंघ के संविदा (Covenant) के २२वें अनुच्छेद में विभिन्न संरक्षणों (Mandates) का रूप जन साधारण के विकास की अवस्था, क्षेत्र-विशेष की भौगोलिक स्थिति, उसकी आर्थिक दशा एवं अन्य परिस्थितियों के अनुकूल अलग-अलग प्रकार का बनाया गया। इन विभिन्न क्षेत्रों को ए० बी० सी० इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया।

प्रथम श्रेणी (Class A) में टर्की साम्राज्य की वे जातियां या प्रदेश थे "जिनका विकास इस अवस्था तक हो चुका था वे कि अस्थायी रूप से स्वतन्त्र राष्ट्र माने जा सकते हैं, पर वे जब तक अकेले अपने पैरों पर खड़े होने की सामर्थ्य नहीं रखते, तब तक उन्हें अधिदेशक अथवा संरक्षक (Mandatory) राज्यों की प्रवन्ध सम्बन्धी सलाह और सहायता मिलती रहनी चाहिये। इन जातियों की अभिलाषायें अधिदेशक राज्य के चुनाव में मुख्य रूप से विचारणीय होनी चाहिये।"

इस 'ए' श्रेणी में ईराक (क्षेत्रफल १,१६,६०० और जनसंख्या लगभग ३७ लाख), पैलेस्टाइन और ट्रांसजोरडन (क्षेत्रफल २६,२३० वर्गमील और जनसंख्या लगभग १७ लाख) ग्रेट ब्रिटेन को शासन प्रबन्ध के लिये सौंपे

गये। सीरिया और लेबनान (क्षेत्रफल ७७,२२० वर्गमील और जनसंख्या लगभग ३६॥ लाख) फ्रांस को मिले। यहां यह उल्लेखनीय है कि क्षधिदेशक राज्य (Mandatory State) के चुनाव में जन साधारण की इच्छा का ध्यान नहीं रखा गया परन्तु १६३२ में ईराक को, १६४१ में सीरिया और लेबनान को, १६४६ में ट्रांसजोरडन को और १६४६ में इजइराल को स्वतन्त्रता प्रदान करके इन अधिदेशों या संरक्षणों (Mandates) को समाप्त कर दिया गया।

द्वितीय श्रेणी (Class B) में मध्य अफ्रीका के वे जर्मन उपनिवेश थे, जिन्हें निश्चित सरकारी निरीक्षण की आवश्यकता थी और इनके स्वायत्त शासक होने में अभी बहुत विकास अपेक्षित था। इस 'बी' श्रेणी के अन्तर्गत केमरून (Cameroons) का छठा भाग, टोगोलैण्ड (Togoland) का $\frac{1}{3}$ भाग तथा टांगानिका (Tanganyika) का एक छोटा भाग ग्रेट ब्रिटेन को प्रदान किया गया। केमरून तथा टोगोलैण्ड का शेष भाग फ्रांस को दिया गया। पूर्वी अफ्रीका का उत्तरी तट रूआण्डा-उरूण्डी (Ruanda-Urundi, क्षेत्रफल २,६,००० वर्गमील और जनसंख्या लगभग ४० लाख) बेल्जियम को सौंप दिया गया। क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से ब्रिटेन को केमरून का ३४,०८१ वर्गमील क्षेत्र व १४,३०,००० जनसंख्या, टोगोलैण्ड का १३,०४१ वर्गमील क्षेत्र और ४,२३,००० जनसंख्या तथा टांगानिका का ३.६२,६८८ वर्गमील क्षेत्र और जनसंख्या ६६,१४० प्राप्त हुई, फ्रांस को केमरून का ४,३२,००० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र और ३० लाख जनसंख्या तथा टोगालैण्ड का २१,८६३ वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल व १० लाख जनसंख्या मिली।

इन प्रदेशों के (बी श्रेणी के) संरक्षक राज्यों को यह आदेश था कि वे इन क्षेत्रों में दास प्रथा तथा अस्त्र-शस्त्र के व्यापार को बंद करें और केवल पुलिस तथा सुरक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी काम में आदिवासियों का प्रयोग न करें। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों में राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्यों को व्यापार और वाणिज्य के लिये समान अवसर प्राप्त होने की व्यवस्था भी की गई थी।

तृतीय श्रेणी (Class C) में जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और महायुद्ध के पूर्व प्रशान्त महासागर के जर्मन टापू सम्मिलित थे। यह माना गया कि इन क्षत्रों की आबादी बहुत कम थी, इनका आकार बहुत छोटा था और ये सभ्यता व संस्कृति के केन्द्रों से बड़ी दूर पर स्थित थे, अतः इनको पृथक् राज्य का रूप नहीं दिया जा सकता बल्कि उचित यही है कि इन्हें संरक्षक (Mandatory) राज्यों का अंग बना दिया जाय, परन्तु स्थानीय जनता के हितों की सुरक्षा के लिये कुछ संरक्षण (Sefeguards) अवश्य रख लिये जायं। इन प्रदेशों का संरक्षक राज्य की भूमि के समीप होने से और अन्य परि-

स्थितियों के कारण संरक्षक राज्य का अंग बन जाना ही शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से सर्वोत्तम समझा गया।

'सी' श्रेणी के अन्तर्गत दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका दक्षिणी अफ्रीका संघ को, सेमुआ (Samoa) न्यूजीलैण्ड को, नौरा (Naura) ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड को संयुक्त रूप से, भूमध्य रेखा के दक्षिण में स्थित प्रशान्त महासागरीय द्वीप आस्ट्रेलिया को और भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित द्वीप जापान को दिये गये। नौरा का संरक्षण संयुक्त इसलिये रहा क्योंकि संरक्षण आदेश जारी होने से पूर्व ही ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने संयुक्त रूप से इस द्वीपसमूह की फोस्फेट खानों पर कब्जा कर लिया था। हां, यह अवश्य हुआ कि सुविधा की दृष्टि से ब्रिटेन एवं न्यूजीलैण्ड ने प्रशासन का कार्य आस्ट्रेलिया के हाथों ही छोड़ दिया।

सार रूप में, सम्पूर्ण संरक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत कौन-कौन से संरक्षित-प्रदेश (Mandates) किस-किस संरक्षक-राज्य (Mandatory power) के शासनान्तर्गत आए—यह निम्नांकित चार्ट में एक ही दृष्टि में बोधगम्य है—

'A' MANDATES

Mandate (संरक्षित प्रदेश)	*Mandatory Power* (संरक्षक शक्तियां)
Syria	France
Lebanon	France
Palestine	Great Britain
Transjordan	Great Britain
Iraq	Great Britain

'B' MANDATES

Cameroon (One-Sixth)	Great Britain
East Africa (Tanganyika)	Great Britain
Togoland (One-Third)	Great Britain
Cameroon (Five Sixths)	France
Togoland (Two-Thirds)	France
Ruanda-Urundi	Belgium

'C' MANDATES

South-West Africa	Union of South Africa
Western Samoa	Newzealand
Nauru	Great Britain, Australia and Newzealand

Former German Pacific Islands South of the Equator	Australia
Former German Pacific Islands north of the Equator (Marshall, Carolines and Marianas)	Japan

संरक्षण व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वाधिक लाभ ब्रिटेन और फ्रांस को हुआ। इन्हें क्षेत्रफल और जनसंख्या का निम्नलिखित लाभ मिला—

	संरक्षण में आने वाली भूमि	संरक्षण में आने वाली जनसंख्या
ब्रिटेन	५,५०,०१६ वर्गमील	१,७७,६३,४००
फ्रांस	२,६५,६०२ वर्गमील	६६,२०,०००

इस संरक्षण—व्यवस्था में कहा गया कि विजित शत्रुओं के उपनिवेशों पर जो कब्जा मित्रराष्ट्रों को दिया गया है वह वस्तुत: राष्ट्रसंघ का है और ये देश राष्ट्रसंघ की ओर से उपनिवेशों के अनुशासन और सुव्यवस्था मात्र के लिये नियत किये गये हैं। वास्तव में विलसन के सिद्धान्तों का उपहास करने के लिये और दुनिया को धोखा देने के लिये इससे बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ उपाय हो भी नहीं सकता था। संप्रभुता के हस्तानान्तरण की इस उदार और न्यायपूर्ण प्रतीत होने वाली आड़ में मित्रराष्ट्रों ने अतिशय स्वार्थ-लाभ किया। हां, संरक्षण व्यवस्था की यह विशेषता अवश्य रही कि जहां अतीत में संप्रभुता के हस्तानान्तरण में उत्तरदायित्व कार्यान्वित व सुनिश्चित करने हेतु किसी यन्त्र की व्यवस्था नहीं हुआ करती थी वहां संरक्षण व्यवस्था में इस त्रुटि को सुधारने का प्रयत्न किया गया। इसमें राष्ट्रसंघ ने स्थायी संरक्षण आयोग (Permanent Mandate Commission) के रूप में एक स्थायी संस्था को निरीक्षणाधिकारी बनाया।

यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रसंघ के संविधान में केवल सिद्धान्तों और संरक्षणों की श्रेणियों का वर्णन था, किन्तु यह उल्लेख नहीं था कि ये संरक्षण किन राज्यों में बांटे जायं। इसका निर्णय आपसी समझौते से होना था। तदानुरूप, १९१९ के शांति-सम्मेलन में विलसन, लॉयड जॉर्ज, क्लेमेंसो तथा आरलैण्डो ने द्वितीय और तृतीय श्रेणी के संरक्षणों का विभाजन किया जबकि प्रथम श्रेणी के संरक्षणों के सम्बन्ध में सैनरेमो के सम्मेलन में निश्चित किया गया।

संरक्षणों पर राष्ट्रसंघ का नियन्त्रण:—राष्ट्रसंघ को संरक्षणों (Mandates) के सम्बन्ध में तीन प्रकार के निरीक्षणात्मक या नियन्त्रणात्मक अधिकार प्राप्त थे—

(१) संरक्षक राज्यों को संरक्षण में आये उपनिवेशों या प्रदेशों के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष राष्ट्रसंघ की परिषद् को एक वार्षिक प्रतिवेदन भेजना होता था।

(२) प्रत्येक संरक्षण के लिये सौंपे गये प्रदेश के शासन के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ की परिषद् निर्देश दे सकती थी।

(३) संरक्षक राज्यों के वार्षिक प्रतिवेदनों अथवा रिपोर्टों की जांच राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त स्थायी संरक्षण आयोग (Permanent Mandates Commission) करता था। यह आयोग देखता था कि संरक्षण व्यवस्था का और परिषद् के तत्सम्बन्धी आदेशों का पालन हो रहा है अथवा नहीं। जैसा कि कहा जा चुका है, आयोग संरक्षक राज्य द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्टों का सूक्ष्म अध्ययन करता था और इस पर अपनी सिफारिशें परिषद् को देता था। इस आयोग का कार्य पूर्णत: परामर्शात्मक था। यह आयोग परिषद् का ऐजेन्ट मात्र था जिसके द्वारा परिषद् अपने अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण अधि-कार का प्रयोग करती थी। आयोग की कार्यवाही अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं में होती थी। सभाएं गुप्त होती थीं ताकि बहस खुलकर हो सके। इस आयोग की सूचना के स्रोत अपर्याप्त और अविश्वसनीय थे क्योंकि इसे संरक्षित प्रदेशों में जाने का और वहां के निवासियों की शिकायतें सुनने का अधिकार नहीं था। अस्पष्ट और गलत वक्तव्यों की स्वतन्त्र जांच के लिये कोई व्यवस्था नहीं थी। आयोग को सम्बन्धित क्षेत्र के बारे में सूचना प्राप्त करने के लिये ऐसे लोगों अथवा संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता था जिनकी इन प्रश्नों में अभिरुचि हो। चूंकि ऐसी संस्थाओं की संख्या अत्यल्प थी, अत: आयोग की सूचना का प्रमुख स्रोत संरक्षक राज्य ही थे। जिन लोगों के कल्याण के लिये संरक्षण व्यवस्था स्थापित की गई थी उन्हें अपनी शिकायतें पेश करने और पूरी सुनवाई पाने का कोई अवसर न था। १९३३ में जापान ने राष्ट्रसंघ छोड़ दिया किन्तु उसके अधिदेश या संरक्षण स्थापित रहे। १९३३ के बाद उसने जो भी वार्षिक प्रतिवेदन भेजे वे एकदम अपूर्ण थे। १९३८ में तो उसने प्रतिवेदन भेजना भी वन्द कर दिया।

उपरोक्त कारणों से स्थायी संरक्षण आयोग की उपयोगिता निश्चित रूप से बहुत कम हो गई, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसने अन्तर्रा-ष्ट्रीय राजनीति में एक सर्वथा नये सिद्धान्त का श्री गणेश किया। इसने साम्राज्यवादी शोषण के स्थान पर विभिन्न वशवर्त्ती प्रदेशों को पवित्र धरोहर समझने की भावना पर वल दिया। लार्ड वालफोर के शब्दों में, "संरक्षण प्रथा विजेता राष्ट्र द्वारा विजित प्रदेश में अपनी प्रभुसत्ता पर स्वेच्छापूर्वक लगाई हुई मर्यादा है।" आयोग ने एक बड़ी सीमा तक जनमत तैयार करके और औपनिवेशिक प्रशासन का एक अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड स्थापित कर संरक्षक सरकारों की कार्य प्रणाली को निःसन्देह प्रभावित किया। वास्तव में जनमत के अतिरिक्त आयोग के पास ऐसा कोई अस्त्र नहीं था जो किसी

अवज्ञाकारी राज्य को झुकाने में समर्थ हो सके। यही कारण था कि संरक्षितों के हितों की रक्षा का प्रभावकारी यन्त्र यह नहीं बन सका।

संरक्षण व्यवस्था : सिद्धान्त और व्यवहार:—संरक्षण व्यवस्था सिद्धांत और व्यवहार में भिन्न थी। व्यवहार में यह व्यवस्था साम्राज्यवाद का एक नवीन रूप ही सिद्ध हुई। संरक्षण प्रणाली संरक्षित प्रदेशों की भलाई के लिये स्थापित की गई थी, लेकिन संरक्षक राज्यों ने इन प्रदेशों का शासन उनके कल्याण के उद्देश्य से नहीं प्रत्युत् अपने हितों की रक्षा के उद्देश्य से किया। ब्रिटेन ने ईराक में ईराकियों की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की महत्वाकांक्षाओं को कुचलने के लिये दमनपूर्ण नीति अपनाई। फिलिस्तीन (Palestine) में उसने "फूट डालो और राज्य करो" की नीति का अवलम्बन किया। फ्रांस ने सीरिया और लेबनान दोनों में राष्ट्रवाद का निर्दयतापूर्वक दमन किया। इसी प्रकार टोगोलैण्ड और कैमरून में भी जनता की इच्छाओं की अवहेलना की गई। तृतीय श्रेणी के संरक्षित प्रदेशों में संरक्षक राज्यों ने 'मुक्तद्वार' नीति नहीं अपनाई। इसके विपरीत संरक्षित प्रदेशों के साथ साधारण उपनिवेशों का सा व्यवहार किया गया। संरक्षण प्रणाली में सिद्धान्त लागू यह किया गया था कि संरक्षित प्रदेशों की जनता की इच्छाओं का ध्यान रखा जायगा लेकिन व्यावहारिक रूप से इस सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा की गई। ईराक–फिलिस्तीन और सीरिया की जनता की राय को कोई महत्व नहीं दिया गया और उनकी आवश्यकताओं की तरफ से आंख मूंद ली गई। ऐसा ही अन्य प्रदेशों में भी हुआ। परिणामतः लगभग सभी जगह विद्रोह और दंगे-फसाद होते रहे।

संरक्षण व्यवस्था के मौलिक सिद्धांन्त व्यवहार में परस्पर विरोधी इसलिये सिद्ध हुए क्योंकि इस व्यवस्था को एक ऐसे आधाररूप में मान्यता प्रदान की गई थी जिसके द्वारा औपनिवेशिक समस्या को विल्सन के सूत्रों, सिद्धान्तों और लक्ष्यों के अनुरूप इस प्रकार सुलझाया जा सके कि फ्रान्स और ब्रिटेन की साम्राज्यवादी आकांक्षायें भी संतुष्ट हो जायें। वास्तव में यह व्यवस्था गुप्त संधियों के अनुसार "पराजित शत्रु के औपनिवेशिक लूट के विभाजन के निमित्त पर एक पारदर्शी आवरण" (A transparent cover of the division of colonial spoils of the defeated enemy largely in accordance with the secret treaties) मात्र थी। इस व्यवस्था के कारण क्षेत्रफल, जनसंख्या, साधनों और सैनिक महत्व के स्थानों की दृष्टि से ब्रिटेन और फ्रांस के साम्राज्यों का बड़ा विस्तार हुआ। ब्रिटेन के नियन्त्रण में केपटाउन के काहिरा तक फैला हुआ सम्पूर्ण अफ्रीकी क्षेत्र आ गया जिसके फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही

में असफल हो गई।"[1] संरक्षण व्यवस्था-व्यवहार में जन समूहों और भूप्रदेशों की अधिकार लिप्सा का एक खेल बन गई। इस खेल में जानवरों और मोहरों की भांति अदला-बदली चलती रही। बराबरी के लिये अदला-बदली हुई और क्षेत्रों को दूसरों को सौंपा गया, जैसे जूबालैण्ड (Jubaland) और ट्यूनिस में इटली को। संरक्षित प्रदेशों में मूल निवासियों के असंतोष और विद्रोह को कुचलने के लिये नृशंस उपाय अपनाये गये। उदाहरणार्थ १९२२ में दक्षिणी-पूर्वी अफ्रीका में Bondelzwart जाति का विद्रोह कुचलने के लिये संरक्षक राज्य दक्षिणी अफ्रीकी संघ ने मशीनगनों और बमबारी करने वाले जहाजों का प्रयोग किया और सैकड़ों लोगों को मौत के घाट उतार दिया। इसी तरह १९२५ में फ्रांस में Jebel Druze विद्रोह का अत्यन्त क्रूरतापूर्वक दमन किया और तोपों से दमिश्क के पूरे केन्द्रीय क्षेत्र को तहस-नहस कर डाला। गैर संरक्षक राज्यों ने सम्पूर्ण संरक्षण-व्यवस्था की कटु आलोचना की, इसे निस्सार बताया और "पुराने साम्राज्यवादी भेड़ियों को नये भेड़ों की खाल पहना कर छिपाने के लिये पाखण्डी जाल" (Hypocritical sham designed to disguise old imperialistic wolves in new sheep's clothing) की संज्ञा दी। कूटनीतिज्ञों और राजनीतिज्ञों ने इस प्रथा की बुराई की। रूस, जर्मनी, टर्की, अमेरिका आदि ने इसे एक उपहास कह कर पुकारा।

संरक्षण व्यवस्था इस दृष्टि से भी एकपक्षीय सिद्ध हुई कि इसे विजेताओं द्वारा शत्रु राज्यों से छीने गये प्रदेशों पर ही लागू किया गया था, विजेताओं ने अपने उपनिवेशों को इस व्यवस्था से सर्वथा स्वतन्त्र रखा था। दरअसल में जनरल स्मट्स की प्रारम्भिक योजना संरक्षित प्रदेशों की आड़ में सम्पूर्ण पूर्वी योरोप पर अधिकार करने की थी। अपनी योजना में उसने कहा था, "योरोप का खंडन हो रहा है और राष्ट्रसंघ को इस विशाल भूभाग का उत्तराधिकारी हो जाना चाहिये। रूस, आस्ट्रिया और टर्की के विघटन के फलस्वरूप उन्मुक्त जन प्रधानतः राजनीतिक दृष्टि से प्रशिक्षित नहीं हैं। उनमें से अनेक स्वराज्य के लिये अक्षम अथवा दुर्बल हैं। वे अधिकांशतः निर्धन हैं। उन्हें आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के योग्य बनाने के लिये काफी परिचर्या की आवश्यकता होगी।" इस प्रकार स्मट्स का वास्तविक मन्तव्य राष्ट्रसंघ की आड़ में व्यावहारिक रूप से ब्रिटेन और फ्रांस को रूसी, आस्ट्रियाई और तुर्क साम्राज्यों का 'उत्तराधिकारी' बना देना था। ब्रिटेन जर्मनी को आर्थिक और औपनिवेशिक प्रतिद्वन्दी के रूप में विनष्ट देखना चाहता था और इसीलिये जर्मनी को एक भी संरक्षित प्रदेश नहीं दिया गया हालांकि दुरुपयोग की स्थिति में संरक्षित प्रदेशों को वापिस लिया जा सकता था।

1. *Kenneth Ingram* : Years of Crisis, P. 26.

संस्था के सम्मुख उत्तर देना होगा, अतः दमनकारी नीति का अवलम्बन इतना अधिक न किया जाय कि विश्व लोकमत एकदम उनके विरुद्ध भड़क उठे। विश्व जनमत के भय से ही कालान्तर में ईराक, सीरिया, लेबनान आदि को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकी। मैंडर (Mander) का मत है कि "निस्सन्देह औपनिवेशिक सरकार का स्तरों पर प्रभाव पड़ा क्योंकि ब्रिटेन अथवा फ्रांस के लिये अपने औपनिवेशिक अधिपत्यों पर एक प्रकार से और अपने संरक्षित प्रदेशों पर दूसरे प्रकार से शासन करते रहना संभव नहीं था।" अन्त में प्रो० लियोनार्ड (Leonard) के शब्दों में यह कहना उचित है कि, "राष्ट्रसंघीय संरक्षण व्यवस्था की मान्य दुर्बलताओं के बावजूद यह औपनिवेशिक नीति तथा प्रशासन में एक स्पष्ट सुधार का प्रतिनिधित्व करती थी।"

सन् १९४६ में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संरक्षण-प्रणाली का अन्त करके संयुक्त राष्ट्रसंघ में ट्रस्टीशिप की पद्धति शुरू की गयी।

अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य
(Functions relaling to the Protection of Minorities)

अल्पसंख्यकों की रक्षा की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सदैव से एक ज्वलंत प्रश्न रही है। अल्पसंख्यकों के विरोध को केवल तभी तक टाला जा सकता है जब तक कि या तो वे अत्यन्त अल्प अथवा नगण्य रूप में हों या बहुसंख्यक वर्ग किसी न किसी रूप में उनके उद्देश्यों की पूर्ति करता रहा हो। इन दोनों में से कोई भी बात न होने पर कोई भी राष्ट्र हमेशा के लिए अल्पसंख्यकों को नितान्त पृथक, भयभीत या घृणित अवस्था में रख-कर खतरे से बचा नहीं रह सकता।

प्रो० शूमैन (Schuman) ने संरक्षण व्यवस्था का निरूपण करते हुए सत्य ही लिखा है कि "आत्म-निश्चय, लघु राष्ट्रों के अधिकारों, राजनीतिक जल्दबाजी और मानवीय भावों की पेचीदा पृष्ठभूमि से वे विचार उद्भूत हुए जिन्हें आगे चलकर राष्ट्रसंघ के संविदा की २२वीं धारा और संरक्षण-समझौते में समाविष्ट किया गया, किन्तु अन्तिम व्यवस्थाओं में संरक्षण व्यवस्था के प्रारम्भिक सिद्धान्त का विस्तार से उल्लंघन हुआ तथा अदल-बदल की भावना ने इसे गन्दा बना दिया।"

संरक्षण व्यवस्था का मूल्यांकनः—संरक्षण व्यवस्था यद्यपि दोषों का पिटारा थी किन्तु इससे यह आशय नहीं लिया जाना चाहिये कि इसका कोई महत्व न था अथवा यह उपादेयता से पूर्णतः शून्य थी। इसकी दुर्बलताओं पर ध्यान न देते हुए प्रो० शूमैन ने लिखा है कि—"संरक्षण व्यवस्था ने अवनत क्षेत्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में एक महत्वपूर्ण साहसिक कार्य का प्रतिनिधित्व किया। इस व्यवस्था की प्रस्तावना ने, जिसके विचारानुसार उन क्षेत्रों के शासक सम्पूर्ण सभ्य जगत के प्रति अपनी शक्ति प्रयोग के मार्ग के लिए कुछ दायित्व रखते थे, औपनिवेशिक नीति व प्रशासन में एक स्पष्ट सुधार प्रस्तुत किया।" यद्यपि संरक्षण व्यवस्था सम्बन्धी समझौता अनेक दृष्टियों से अपूर्ण था और मूल निवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार व आकांक्षाओं के जनाजे पर टिके हुए बड़े देशों के स्वार्थी महल पर आश्रित था, फिर भी, "इसमें एक नवीन विश्व-व्यवस्था के विचार की किरणें थीं।" इसने इतिहास में पहली बार ट्रस्टीशिप, संरक्षण और अधिदेशीयता के सिद्धान्तों (Principles of Trusteeship, Tutelage and Mandate) को अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्रदान की। स्थाई संरक्षण आयोग को जो वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किये जाते थे उनके द्वारा अन्यास की पूर्ति (The fulfilment of the trust) के प्रश्न पर लोकमत दिया गया और उच्च स्तर के वादविवाद के लिये महान् अवसर उपलब्ध हुए। इसके अतिरिक्त स्थाई संरक्षण आयोग ने, क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के मतानुसार, संरक्षित प्रदेशों में औपनिवेशिक प्रशासन का एक मापदण्ड उपस्थित किया, तथा औपनिवेशिक जन समुदाय के लिये स्वराज्य एवं आत्मनिर्णय के उद्देश्य को जीवित रखा। इस व्यवस्था के मूल में छिपे आग्रह के बल पर साम्राज्यवादी शक्तियों ने कम से कम सिद्धान्ततः यह स्वीकार कर लिया कि पिछड़े हुए प्रदेशों का शासन उन प्रदेशों के निवासियों के हित में किया जाना चाहिये। राष्ट्रसंघ यद्यपि संरक्षित राज्यों पर नियंत्रण में अत्यन्त कमजोर सिद्ध हुआ तो भी इस तथ्य मात्र का यह सुपरिणाम निकला कि शासक राज्य इस बात से कुछ-न-कुछ चौकन्ने बने रहें कि उन्हें अपने कार्यों के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय

संस्था के सम्मुख उत्तर देना होगा, अतः दमनकारी नीति का अवलम्बन इतना अधिक न किया जाय कि विश्व लोकमत एकदम उनके विरुद्ध भड़क उठे। विश्व जनमत के भय से ही कालान्तर में ईराक, सीरिया, लेबनान आदि को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकी। मंडर (Mander) का मत है कि "निस्सन्देह औपनिवेशिक सरकार का स्तरों पर प्रभाव पड़ा क्योंकि ब्रिटेन अथवा फ्रांस के लिये अपने औपनिवेशिक अधिपत्यों पर एक प्रकार से और अपने संरक्षित प्रदेशों पर दूसरे प्रकार से शासन करते रहना संभव नहीं था।" अन्त में प्रो० लियोनार्ड (Leonard) के शब्दों में यह कहना उचित है कि, "राष्ट्रसंघीय संरक्षण व्यवस्था की मान्य दुर्बलताओं के बावजूद यह औपनिवेशिक नीति तथा प्रशासन में एक स्पष्ट सुधार का प्रतिनिधित्व करती थी।"

सन् १९४६ में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संरक्षण-प्रणाली का अन्त करके संयुक्त राष्ट्रसंघ में ट्रस्टीशिप की पद्धति शुरू की गयी।

अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य
(Functions relaling to the Protection of Minorities)

अल्पसंख्यकों की रक्षा की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सदैव से एक ज्वलंत प्रश्न रही है। अल्पसंख्यकों के विरोध को केवल तभी तक टाला जा सकता है जब तक कि या तो वे अत्यन्त अल्प अथवा नगण्य रूप में हों या बहुसंख्यक वर्ग किसी न किसी रूप में उनके उद्देश्यों की पूर्ति करता रहा हो। इन दोनों में से कोई भी बात न होने पर कोई भी राष्ट्र हमेशा के लिए अल्पसंख्यकों को नितान्त पृथक, भयभीत या घृणित अवस्था में रख-कर खतरे से बचा नहीं रह सकता।

वास्तव में बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों को अपनी अर्थव्यवस्था पर एक बोझ समझता है और इसीलिए उन्हें बाहर निकालना चाहता है। अल्पसंख्यकों के विरुद्ध नाना-प्रकार की विभेद-नीति अपनायी जाती है। भेद-भावों से भरे कानूनों का निर्माण करके अल्पसंख्यकों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक बना दिया जाता है, उन्हें नागरिक स्वतन्त्रता से वंचित कर दिया जाता है, कानून की समानता उनके प्रति कार्यरूप में परिणत नहीं की जाती है, समाज में उनके प्रति भेद-भाव का व्यवहार होता है, बहुमत वर्ग की किसी एक ही राष्ट्रीय भाषा को अनिवार्य करके उनका अहित किया जाता है, जनता में उनके प्रति सार्वजनिक विद्रोह की भावना फैलायी जाती है और नौकरियों, विवाहों व मनोरंजनों में उनके प्रति अन्तर की नीति अपनायी जाती है। इन सब कार्यों के बचाव में एक थोथा तर्क यह दिया जाता है कि

दो नैतिक समूह एक राजनीतिक एकता के लिए मिलकर कार्य नहीं कर सकते। ऐसा तर्क प्रस्तुत करने वाले यह भूल जाते हैं कि रूस ने अल्पसंख्यकों की समस्या को सुलझाकर किस तरह शान्तिपूर्ण राष्ट्रीय एकता बनाये रखी है। सोवियत संघ में लगभग २०० विभिन्न जाति और रंगगत समूह हैं जो लगभग १२५ प्रकार की विभिन्न भाषाएं बोलते हैं। किन्तु ये सभी समूह राष्ट्रीय एकता, अखण्डता और संप्रभुता के लिए मन और मस्तिष्क से एक ही विचारधारा से कार्य करते हैं। राजनीतिक ही नहीं, अपितु आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी रूस ने अल्पसंख्यकों को एक सूत्र में पिरोने में और उन्हें नागरिकता के समान अवसर प्राप्त कराने में सफलता प्राप्त की है।

अल्पसंख्यकों की समस्या और शान्ति-सम्मेलन:—अल्पसंख्यकों की यह समस्या, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये सदैव घातक रही है, प्रथम महायुद्ध से पूर्व और उसके बाद अत्यन्त विषम रूप में प्रकट हुई। महायुद्ध से पूर्व यूरोपीय देशों ने राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को अपनी सीमाओं के अन्तर्गत बरबस एकीभूत (Assimilation) करने की नीति अपनायी। इस प्रकार बरबस एकीभूत करने या जबरदस्ती मिलाये जाने का प्रारम्भ १९१४ में रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और टर्की में प्रारम्भ हुआ। एकीभूत न हुए अल्प-संख्यकों को राष्ट्र के लिए संकटमय समझा जाता था, क्योंकि उनकी स्वामि-भक्ति अविश्वसनीय मानी जाती थी। जनता में उन्हें एक ऐसा विरोधी तत्व माना जाता था जो किसी भी समय अपने रक्त और भाषा वाले पड़ौसी शत्रु राष्ट्रों के साथ षड्यन्त्र रचना कर सकता था। रूस, जर्मनी, हंगरी आदि उपरोक्त देशों को बलपूर्वक अल्पसंख्यकों को अपने में मिलाने के प्रयत्नों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी क्योंकि वे उनको बहुसंख्यक वर्ग के धर्म और उसकी भाषा, जाति तथा संस्कृति को अपनाने के लिए बाध्य नहीं कर सके। इसके विपरीत हुआ यह कि अलसंख्यकों का जितना अधिक दमन किया गया, वे उतनी ही दृढ़तापूर्वक अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गये। अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा के लिये उनके संघर्ष ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अब उनके आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग का अनेक प्रभावशाली पक्षों ने अपना प्रबल समर्थन देना आरम्भ कर दिया। इनमें सर्वाधिक ख्याति महान् अमेरिकन राज्य के राष्ट्रपति वूड्रो विल्सन ने अर्जित की जिसने ११ फरवरी, १९१८ को यह स्पष्ट घोषणा की कि—

"विभिन्न जन समूहों और प्रान्तों को एक प्रभुसत्ता से दूसरी प्रभुसत्ता को इस प्रकार हस्तान्तरित नहीं किया जायगा मानों वे शक्ति-संतुलन के अब सदा के लिये निन्दनीय, जमीन-जायदाद या खेल के मोहरे हों।"

धुरी राष्ट्रों की पराजय के साथ जब प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया और रूस, आस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी एवं टर्की के साम्राज्यों का विलोप हो गया तो पेरिस-शांति-सम्मेलन के सम्मुख इन भूतपूर्व साम्राज्यों के निवासी अल्प संख्यकों के पुनर्वास और उनकी पुनर्व्यवस्था की गम्भीर समस्या प्रस्तुत हुई। समस्या के समाधान के लिए कुछ स्थानों में तो उन्हें आत्म-निर्णय का अधिकार दे दिया गया और कुछ को नये राज्यों में समाविष्ट कर दिया गया। इस बात का प्रयास किया गया कि यूरोप के सभी राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को 'एक राष्ट्र एक राज्य' के सिद्धान्त के आधार पर नवीन राज्यों में पुनर्गठित कर स्व-शासन और स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय। किन्तु नाना राजनीतिक और आर्थिक कारणों के फलस्वरूप व्यवहार में पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी और सभी संभव प्रयत्नों के बावजूद यूरोप में लगभग १६ करोड़ ८० लाख राष्ट्रीय अल्पसंख्यक अब भी निम्नलिखित अनुपात में रह गये (पहले यह संख्या ५४ करोड़ थी)—

जर्मन राष्ट्र का अल्पसंख्यक वर्ग	७,५६४,०००
मगयार राष्ट्र का अल्पसंख्यक वर्ग	२,८०३,०००
बलगोरिया राष्ट्र का अल्पसंख्यक वर्ग	१,३३६,०००
यूगोस्लोविया राष्ट्र का अल्पसंख्यक वर्ग	४८०,०००
रूथेन्स का अल्पसंख्यक वर्ग (चैकोस्लोवाकिया में)...	४३२,०००
पूर्वी गैलेशिया का अल्पसंख्यक वर्ग	३,७००,०००
रूमानिया का अल्पसंख्यक वर्ग	३००,०००
पोलैण्ड राष्ट्र का अल्पसंख्यक वर्ग (चैकोस्लोवाकिया में)	१६७,०००
टोटल	१६,८१५,०००

१९१९ में उपरोक्त शेष बचे हुए अल्पसंख्यकों को यदि उन राष्ट्रीय सरकारों की इच्छा पर छोड़ दिया जाता जिन्हें जबरदस्ती इन्हें अपने में मिलाने की आदत थी तो यूरोप षड़यन्त्रों से भरपूर रहता और परिणामत: स्थायी शांति असंभव हो जाती। अत: इन अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए शांति सम्मेलन ने अल्पसंख्यक संधियों का उपाय अपनाया। इसके अनुसार अल्पसंख्यकों के संरक्षण के हेतु राष्ट्रों ने आपस में कुछ संधियां की और इन संधियों की व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करने का भार राष्ट्रसंघ को सौंपा गया। इस तरह पेरिस-सम्मेलन की और उसके बाद की गयी संधियों ने यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों में बसने वाले लगभग ३ करोड़ अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का भार राष्ट्रसंघ पर डाला। अल्पसंख्यकों के संरक्षण के बारे में संधियां केन्द्रीय तथा दक्षिण-पूर्वी यूरोप के १५ राज्यों और मित्र-राष्ट्रों के बीच हुईं। **इस सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ और विविध राज्यों के मध्य जो समझौता हुआ उसमें निम्नलिखित उद्देश्य सन्निहित किये गये—**

(१) अल्पसंख्यकों के जीवन और उनकी स्वतंत्रता की रक्षा करना,
(२) अल्पसंख्यकों के धर्म अथवा विचार का आदर करना, यदि वह सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था के लिए घातक न हो,
(३) सभी अल्पसंख्यकों को नागरिकता का अधिकार प्रदान करना,
(४) अदालत के सामने सब के साथ समान व्यवहार होना और सब को समान सुविधा तथा नौकरी के समान सुयोग प्रदान करना,
(५) व्यापारिक तथा धार्मिक मामलों में और प्रेस तथा अदालत में अल्पसंख्यकों को किसी भी भाषा का प्रयोग करने की स्वतंत्रता होना,
(६) अल्पसंख्यकों की शिक्षा की व्यवस्था उनकी अपनी ही भाषा में करना।

संधि करने वाले राज्यों ने यह स्वीकार किया कि उपरोक्त सिद्धान्त उनके संविधान के आधारभूत तत्व होंगे और आगामी व्यवस्थापन तथा प्रशासकीय आदेशों द्वारा परिवर्तित नहीं किये जा सकेंगे। अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में की गयी संधियों का संरक्षण राष्ट्रसंघ को सौंपते हुए सम्बन्धित राज्यों ने इस विषय से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को राष्ट्रीय महत्व का स्वीकार किया।

राष्ट्रसंघ तथा अल्पसंख्यक—प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के मध्य-काल में राष्ट्रसंघ ने अल्पसंख्यकों के संरक्षक की भूमिका अदा की। राष्ट्रसंघ ने अल्पसंख्यकों की संरक्षण व्यवस्था के निर्वाह में जिस विधि को अपनाया वह दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों पर आधारित थी—पहला सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं नियंत्रण का था तो दूसरा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के प्रति सम्मान का। इन सिद्धान्तों पर आधारित **इस कार्य-विधि के चार चरण थे**—

प्रथम चरण आवेदन का था। इसमें अल्पसंख्यक वर्ग का कोई व्यक्तिगत सदस्य, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अथवा राज्य किसी अल्पसंख्यक संधि के वास्तविक अथवा सम्भावित उल्लंघन या समाप्ति की शिकायत राष्ट्रसंघ को कर सकता था। किन्तु शर्त यह थी कि यह सूचना या शिकायत (i) संधि में दी हुई सुरक्षाओं से सम्बन्धित हो, (ii) उसमें नवीन सूचनाएं हों अर्थात् वह किसी नवीन तथ्य पर प्रकाश डालती हो, (iii) उसमें राजनीतिक पृथकता की मांग न की गई हो, (iv) प्रार्थना-पत्र में संयत एवं अहिंसक भाषा का प्रयोग हो, तथा (v) गलत एवं अप्रामाणिक तथ्य न हों, यानी तथ्यों की पुष्टि विश्वसनीय हो।

अल्पसंख्यक संधियों में किसी व्यक्ति को परोक्ष रूप में सुरक्षा परिषद् के सम्मुख शिकायत के लिये वक्तव्य देने का अधिकार नहीं था। लेकिन बाद

में की गई एक व्यवस्था के अनुसार परिषद् के तीन सदस्यों की समिति के द्वारा व्यक्तिगत प्रार्थना पर विचार किया जाने लगा। यह समिति मामले पर पहले सम्बन्धित राज्य की सरकार के साथ विचार-विमर्श करती थी और इसमें असफल होने पर ही वह मामले को परिषद् के सम्मुख पेश करती थी।

द्वितीय चरण अल्पसंख्यक विभाग द्वारा परीक्षा का था। इसमें आवेदन अथवा प्रार्थना पत्र राष्ट्रसंघ के सम्मुख भेज दिया जाता था। राष्ट्रसंघ सचिवालय का अल्पसंख्यक विभाग इस बात की परीक्षा करता था कि प्रार्थना पत्र उपरोक्त शर्तों की पूर्ति करता है अथवा नहीं। अनुचित, अधूरे और अनियमित प्रार्थना पत्र को अलग हटा दिया जाता था लेकिन पूर्ण, उचित एवं जायज प्रार्थना-पत्र को उस राज्य की सरकार के सम्मुख भेज दिया जाता था जिसके विरुद्ध प्रार्थना-पत्र में शिकायत की गई हो। यदि वह सरकार पुनर्विचार आदि का उचित आश्वासन दे देती थी तो मामला वहीं समाप्त हो जाता था और राष्ट्रसंघ के लिये कोई कार्यवाही करना शेष नहीं रहता था।

तृतीय चरण सदस्यों में प्रचार और उप-समिति अवस्था का था। यदि दोषी सरकार का उत्तर असंतोषजनक होता था तो उसे परिषद् के समस्त सदस्यों के बीच घुमाया जाता था। इस तृतीय चरण में भी दोषी सरकार के विरुद्ध कोई औपचारिक कार्यवाही नहीं की जाती थी। इस चरण में ती। २६ षद् मामले को केवल अपनी एक उप-समिति—"अल्पसंख्यक स लिये जेम्स सौंप देती थी। इस समिति में परिषद् का सभापति और परिषद् सार्वजनिक सदस्य होते थे जो कि उन राज्यों के प्रतिनिधि होते थे जिनकी परोफलता नहीं शिकायती राज्य में कोई रुचि न हो। यह समिति विवाद को सम्बन्धि १९३५ को के साथ अनौपचारिक वार्ताओं के द्वारा सुलझाने का प्रयास करती : चरण या अवस्था में अनेक शिकायतें दूर हो जाती थीं।

ा—अल्प-

चौथा और अन्तिम चरण परिषद् द्वारा विचार का था। य वास्तव में समिति विवाद के निपटारे में असफल हो जाती थी तो परिषद् सीधे । के साथ अपने हाथ में ले लेती थी। परिषद् के प्रधान साधन प्रख्यान और प्रचार . बात परिषद् मामले को विधिवेत्ताओं के एक आयोग अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्या उनकी स्थायी न्यायालय को सौंप सकती थी। ऐसे दो या तीन मामलों पर न्याय अपनी ने अपना निर्णय भी दिया था।

: सुरक्षा

अल्पसंख्यकों के संरक्षण में राष्ट्रसंघ की असफलता—नाना बहुसंख्यक इयों और विषम परिस्थितियों के कारण राष्ट्रसंघ अल्पसंख्यकों के प्रति सुगम न उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर पाया। अल्पसंख्यक संधियों से विद्रूसंघ की तो अल्पसंख्यकों के साथ निर्दयता से व्यवहार करते ही थे किन्तु उो असफलता

देना बन्द कर दिया। जर्मनी में यहूदियों को खुले आम सताना प्रारम्भ कर दिया गया और राष्ट्रसंघ नाजियों के शिकारों को किसी प्रकार का संरक्षण प्रदान करने में असफल रहा। सितम्बर १९३५ के नूरेम्बर्ग के कानूनों के अन्तर्गत यहूदी अल्पसंख्यक जर्मनी की नागरिकता से भी वंचित कर दिये गये। उनके बच्चों को सार्वजनिक स्कूलों में भर्ती होने से रोक दिया गया। हजारों यहूदी गृह-हीन और क्षुधा-पीड़ित रहे। जर्मनी के उदाहरण का अनुगमन करते हुए पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी और अन्य बहुत से देशों ने भी असंख्य यहूदियों को अपने प्रदेशों से बाहर निकाल दिया। राष्ट्रसंघ ऐसे अत्याचार को बन्द करने के लिए कोई भी कदम नहीं उठा सका। द्वितीय महायुद्ध काल में लाखों पोलस, जैक्स, यूगोस्लाव और रूसी तथा यहूदी फासिस्टवादी देशों के द्वारा मौत के घाट उतारे गये। इस तरह राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण संसार को एक बार पुनः अल्पसंख्यकों के पुनर्वासन और उनकी पुनर्व्यवस्था की महान् समस्या का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रसंघ अपनी दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण न तो अल्पसंख्यकों को सुरक्षा का आश्वासन दे सका और न उन राज्यों को ही संतोष दे पाया जो अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिये कानूनबद्ध थे। इस क्षेत्र में एक सबसे बड़ी कठिनाई राष्ट्रसंघ के सम्मुख यह थी कि उसके पास किसी ऐसे कोष का अभाव था जिससे वह अल्पसंख्यकों की सहायता कर सकता। २६ अक्टूबर १९३३ को संघ ने जर्मनी से आ रहे शरणार्थियों के लिये जेम्स मेक्डोनल्ड को उच्च-कमीश्नर के पद पर नियुक्त किया था किन्तु सार्वजनिक कोष के अभाव में शरणार्थियों की सहायता के प्रयास में उसे सफलता नहीं मिल सकी। अतः परेशान होकर व थककर उसने २७ दिसम्बर १९३५ को इस्तीफा दे दिया।

अल्पसंख्यकों की सुरक्षा में राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण—अल्पसंख्यकों की सुरक्षा से सम्बन्धित विषय में परिषद का कार्य वास्तव में बड़ा जटिल और कठिन था क्योंकि इसे एक ओर तो अल्पसंख्यकों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार को रोकना था और दूसरी ओर ऐसा करते हुए इस बात का भी ध्यान रखना था कि बहुसंख्यकों के राष्ट्रीय गौरव और उनकी संप्रभुता को कोई क्षति न पहुंचे। इस कठिन कार्य में राष्ट्रसंघ को अपनी नीति पर कटु आलोचना का सामना करना पड़ा। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का कार्य अधिक दुरुह इसलिये भी था क्योंकि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों ही कट्टर विरोधी पक्ष थे और उन्हें एक साथ सन्तुष्ट रखना सुगम न था। व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों ही आधारों पर राष्ट्रसंघ की अल्पसंख्यक-संरक्षण नीति की धज्जियां उड़ाई गईं और संघ की असफलता

के गीत गाये गये। राष्ट्रसंघ अल्पसंख्यकों को सुरक्षा देने में क्यों असफल रहा इसके एकाधिक कारण थे जिन्हें निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है—

(१) **पहला कारण राष्ट्रों की अपने दायित्वों को पूरा करने की अनिच्छा थी।** अल्पसंख्यक संधियां सम्बन्धित राज्यों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध थौपी गई थी, अतः उनमें इन संधियों के प्रति ईमानदारी के कोई भाव न थे। इसके अतिरिक्त जिन मित्रराष्ट्रों द्वारा उन पर ये संधियां थौपी गई थीं, वे भी संकीर्ण स्वार्थों से ग्रस्त थे और उनमें भी इनका पालन करने की उत्सुकता नहीं थी। उदाहरणार्थ फ्रांस ने पोलैंड, चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानियां को इस बात में खुले आम प्रोत्साहित किया कि वे अल्पसंख्यकों के प्रति इच्छानुसार व्यवहार अपनाकर अपने दायित्वों की अवहेलना करें।

(२) **दूसरा कारण यह था कि केवल परिषद् के सदस्यों को ही संधि की कार्यवाहियों को करने का अधिकार दिया गया था।** यह एक अनुचित व्यवस्था थी। इसके कारण परिषद के बाहर के ४० राष्ट्र जो अल्पसंख्यकों की रक्षा के प्रतिपादक थे, इसमें भाग नहीं ले सकते थे। उदाहरणार्थ जब हंगरी के मामले में रूमानिया ने यह विरोध किया कि परामर्श के लिये सम्बन्धित मामला विश्व-न्यायालय में भेजा जाय तो कोई सदस्य इस पर सहमत नहीं हुआ और हंगरी की सुनवाई नहीं हुई। उपरोक्त व्यवस्था के कारण अल्पसंख्यक सुरक्षा सिद्धांत एकांगी रहा और उसे पूर्णतः कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

(३) **तीसरा कारण यह था कि अल्पसंख्यक सिद्धांत को कार्यान्वित करने की यह विधि दोषपूर्ण थी,** यद्यपि ऊपर से वह निर्दोष जान पड़ती थी। प्रथम तो प्रार्थना-पत्र या आवेदन करने के बारे में ही अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे और दूसरे परिषद कोई कार्यवाही करने के लिये तब तक बाध्य न थी जब तक कि तीन सदस्यों की समिति इस बात का निर्णय न करदे कि वास्तव में प्रार्थनापत्र परिषद के विचार के लिये उपयुक्त भी है या नहीं है। इसके अतिरिक्त समिति भी मामले को परिषद के सामने तभी ले जाती थी जब वह मामले पर पहले सम्बन्धित सरकार के साथ विचार-विमर्श कर चुकी हो और इसमें उसे असफलता मिली हो। स्पष्ट है कि शिकायत को कार्यान्वित करने की यह विधि नितांत दोषपूर्ण थी। इस सम्बन्ध में ब्यूएल (Buell) ने ठीक ही लिखा है कि अल्पसंख्यकों का अधिकार प्रार्थना-पत्र भेजने के साथ ही समाप्त हो जाता था। यदि परिषद में उसका कोई मित्र नहीं था तो उसके लिये यह आशा करना व्यर्थ था कि उसका मामला निष्पक्ष और न्यायपूर्ण आ ार पर तय होगा।

(४) **चौथा कारण यह था कि अल्पसंख्यकों की रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय नहीं थी**, अतः वे देश जो अल्पसंख्यक संधि से सम्बन्धित नहीं थे अल्पसंख्यकों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते थे। अल्पसंख्यक संरक्षण सिद्धांत में भी भेद-भाव बरता गया था। यद्यपि फ्रांस, बेल्जियम, डेनमार्क और इटली को कई प्रदेश मिले थे, किन्तु उन्होंने अल्पसंख्यक संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। जर्मनी को छोड़कर कोई बड़ा राष्ट्र इन संधियों में सम्मिलित नहीं हुआ था। बड़े राष्ट्रों ने इन संधियों में सम्मिलित न होने को न्यायोचित समझा था। उदाहरणार्थ यह कहा गया था कि ब्रिटिश डोमिनियन में भारतीयों और एशियावादियों तथा संयुक्त राष्ट्र में नीग्रो और जापानियों की अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रबन्ध असम्भव था। ब्यूएल (Buell) का कथन है कि जब तक अल्पसंख्यक संरक्षण सिद्धांत को सर्वव्यापक नहीं बनाया जाता, तब तक उसका व्यवहारिक उपयोग भी नहीं हो सकता। यद्यपि यह उचित हो सकता है कि इस सिद्धांत को कुछ देशों तक ही सीमित किया जाय, परन्तु यह सर्वथा अनुचित है कि युगोस्लाविया को तो विवश किया जाय कि वह इटली के अल्पसंख्यकों की रक्षा करे जबकि इटली को इस बात के लिये विवश न किया जाय कि उसका भी कर्त्तव्य यूगोस्लाविया के अल्पसंख्यकों की रक्षा करना है। यद्यपि १६२२ की साधारण सभा (Assembly) ने इसे स्वीकार कर लिया कि यह सिद्धांत दोनों ओर लागू होता है, लेकिन व्यवहारिक रूप से इस बात का पालन नहीं हुआ।

(५) **पांचवें, अल्पसंख्यक संधियों की शर्तें ठीक नहीं थीं और उन्हें पूर्णतः कार्यान्वित नहीं किया गया।** राष्ट्रीय घृणा के कारण इन संधियों का उल्लंघन अवश्यम्भावी हो गया। कुछ प्रदेशों पर तो यह लागू भी नहीं हो सकती थीं, हां इतना अवश्य था कि कम से कम विश्व जनमत के सम्मुख अल्पसंख्यक अपने दुखों की बात कह सकते थे।

(६) **छठे, राष्ट्रसंघ के पास आर्थिक साधनों का अभाव था।** यहूदियों की समस्या के समाधान के लिये राष्ट्रसंघ ने १६३३ में जिस उच्चायुक्त की नियुक्ति की वह पर्याप्त आर्थिक साधनों के अभाव में कोई प्रभावशाली कार्य नहीं कर सका और अन्ततः १६३५ में उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया।

(७) **सातवें, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के दायित्वों का पालन करने के लिए राष्ट्रसंघ ने अपूर्ण और ढूल-मूल प्रयास किये।** उसने अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध कोई भी प्रभावशाली कार्यवाही करने की कोशिश नहीं की बल्कि सदैव दोनों पक्षों के मध्य कोई न कोई समझौता कराने का प्रयास किया। राष्ट्रसंघ की इस नीति ने प्रार्थी अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के महत्व

को गौण बना दिया। इसके स्थान पर दोषी राष्ट्र के तुष्टीकरण की नीति ने महत्व धारण कर लिया।

(८) **आठवां कारण यह था कि राष्ट्रसंघ के पास अल्पसंख्यकों सम्बन्धी दायित्वों का पालन कराने के लिए आवश्यक शक्ति का अभाव था।** अल्पसंख्यक संधियों को स्वीकार करने वाले सभी राज्य स्वतन्त्र और संप्रभुता सम्पन्न थे। अतः राष्ट्रसंघ उन्हें इस बात के लिये बाध्य नहीं कर सकता था कि वे अपने अल्पसंख्यकों को आवश्यक सुविधायें और अधिकार दें ही। राष्ट्रसंघ का कार्य केवल उन्हें "परामर्श और सहायता देना" था। राष्ट्रसंघ की शक्ति-सीमा केवल यहीं तक थी कि वह अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिये अनुकूल वातावरण का निर्माण करने की चेष्टा करे। राष्ट्रसंघ को द्विपक्षीय समझौतों के सम्बन्ध में भी कोई सत्ता प्राप्त नहीं थी। उदाहरणार्थ, १९३३ में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि ईस्टर्न केरेलिया (Eastern Caralia) में फिन जाति के अल्पसंख्यकों (fimish minority) से सम्बन्धित रूस और फिनलैंड का विवाद राष्ट्रसंघ के अधिकार क्षेत्र में इसलिए नहीं आता क्योंकि रूस और फिनलैंड की अल्पसंख्यक संधि एक द्विपक्षीय समझौता मात्र थी।

(९) नवां और अन्तिम कारण यह था कि राष्ट्रसंघ ने अल्पसंख्यकों के भविष्य के विषय में कभी कोई स्पष्ट और निश्चित नीति नहीं अपनाई। इसका यह परिणाम निकला कि राष्ट्रसंघ की सिफारशें भी बहुधा अस्पष्ट, अनिश्चित और प्रभावहीन रहीं।

इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में हमारे सम्मुख स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रसंघ न तो अल्पसंख्यकों को ही सुरक्षा का समुचित आश्वासन दे पाया और न उन राज्यों को ही संतोष प्रदान कर सका जो अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कानूनन बंधे थे। "राष्ट्रसंघ के साथ मुख्य समस्या वास्तव में यह थी कि वह कभी निश्चय नहीं कर पाया कि उसका उद्देश्य अल्पसंख्यकों को शांति और सुविधापूर्वक बहुसंख्यकों को मिलाकर उनके समान कर देना है अथवा अल्पसंख्यकों की सभ्यता व संस्कृति को अलग बनाये रखना है। इस असमंजस की स्थिति में वह केवल सिफारिश मात्र करके चुप हो जाता था।" निष्कर्ष यही निकलता है कि राज्यों की संप्रभुता और विश्व में अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के दोहरे उद्देश्य में सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण राष्ट्रसंघ को पूर्णतः असफल होना पड़ा।

आर्थिक, सामाजिक और मानवता सम्बन्धी कार्य (Economic, Social and Humanitarian Activities)

राष्ट्रसंघ प्रमुखतः एक राजनीतिक संस्था थी तथापि राजनीतिक कार्यों की तुलना में उसका अराजनीतिक कार्यों का क्षेत्र विशेष महत्वपूर्ण

है। संघ ने आर्थिक, सामाजिक आदि मानव जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को ध्यान में रखते हुए कार्य किया और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के एक नवीन युग का सूत्रपात किया। इस प्रकार के गैर राजनीतिक कार्यों में उसने उल्लेखनीय सफलतायें अर्जित कीं। राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों से विश्व-इतिहास में सम्भवतः पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में राजनीतिक और कूटनीतिक ही नहीं प्रत्युत् आर्थिक एवं सामाजिक विषयों पर गम्भीर विचार-विमर्श होने लगा। अराजनीतिक क्षेत्रों में राष्ट्रसंघ ने जिन महत्व-पूर्ण कार्यों का सम्पादन किया वे संक्षेप में निम्नानुसार उल्लेखनीय हैं—

(१) **आर्थिक सहयोग**—राष्ट्रसंघ को युद्ध से जर्जर राज्यों की आर्थिक व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने इस दिशा में एक प्रभावशाली नीति का संचालन किया। उसने सर्वप्रथम विश्व के सभी देशों को इस बात के लिये प्रेरित किया कि वे स्वस्थ आर्थिक नीतियां अपनायें ताकि महायुद्ध से विध्वंसित विश्व का आर्थिक पुनर्निमाण सफलतापूर्वक किया जा सके। इसके लिये संघ ने अनेक आर्थिक एवं वित्तीय समितियों की स्थापना की जिन्होंने आंकड़ों और तथ्यों के संकलन का कठिन कार्य पूरा करने के साथ-साथ नाना आर्थिक समस्याओं का महत्वपूर्ण और उपयोगी शोध कार्य भी किया।

राष्ट्रसंघ के संगठन में वे सब अन्तर्विरोध सन्निहित थे जो प्रायः पूंजीवादी व्यवस्था में पाये जाते हैं। परन्तु इस सीमा के होते हुए भी संघ ने विभिन्न आर्थिक सम्मेलनों का आयोजन किया और तत्कालीन आर्थिक गुत्थियों को सुलझाने के प्रति सजीव चेष्टा की। अपने प्रथम क्षेत्रीय कार्यों में संघ ने सितम्बर १९२० में ब्रुसेल्स सम्मेलन आयोजित किया जिसमें जर्मनी और अमेरिका सहित ३९ देशों ने भाग लिया। शक्तियों के गम्भीर संघर्षण के बावजूद सभा ने कुछ वास्तविक कार्य और दूरव्यापी अनुरोध किये। इसने बजट के संतुलन, प्रसार, निरोध, आवश्यकता से अधिक व्यय के निवारण, स्वर्ण-प्रमाण के लिये वापसी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विघ्नों को हटाना आवागमन की सुविधाओं में सुधार और कुछ शक्तियों में चलने वाले विरोधों का अन्त करने का अनुरोध किया। सभा द्वारा प्रस्तावित एक आर्थिक व राजस्व समिति १९२० में अस्तित्व में आई जिसे शीघ्र ही स्थाई आधार पर स्थापित कर दिया गया। संघ के सभी सदस्यों को वाणिज्य की सुविधा के लिये अक्टूबर १९२३ में एक अन्तर्राष्ट्रीय चुंगी सम्मेलन आयोजित किया गया। इसके बाद मई १९२७ में जेनेवा में द्वितीय विश्व आर्थिक सभा का आयोजन हुआ जिसमें लगभग ५० देशों के अर्थशास्त्रियों, व्यावसायिक संघ-नेतागण, व्यापारी एवं सरकारी प्रतिनिधि एकत्र हुए। संसार की आर्थिक

अवस्था पर गम्भीर विवेचन के पश्चात् सभा ने निम्नलिखित ६ अनुरोध पारित किये—

१. "श्रम, पूंजी और सामग्री सभी देशों में विचरण करें, जिससे उनकी मितव्ययता पुन: सचेत हो जाय।

२. व्यवसाय का उद्देश्य स्पर्धा नहीं, बल्कि सहयोग होना चाहिये।

३. आयात-कर, जैसे कि वे आपत्तिपूर्ण व व्यर्थ थे, त्याग दिये जायं अथवा कम-से-कम सम्बन्धित रूप से स्थायी बना दिये जायं।

४. संसार के वर्तमान काल में अत्यधिक व्यावसायिक होने के कारण राज्यों को उत्पादन को व्यवस्थित करने के लिये व्यावसायिक काम करने चाहिए।

५. कृषि व व्यावसायिक उत्पादन साथ-साथ चलें।

६. उद्योग तर्कपूर्ण हों, जिससे उत्पादन का मूल्य कम हो सके।"

सभा के परिणाम यद्यपि अधिक उत्साहपूर्ण नहीं हुए तथापि यह अवश्य हुआ कि इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय सहायता संघ को जन्म दिया। इस सहायता संघ में लगभग सम्पूर्ण विश्व के प्रतिनिधि थे जो कहीं भी किसी भी संकट के होने की तुरन्त रिपोर्ट देते थे। इस सहायता संघ ने अनेक बार संकटग्रस्त देशों को सहायता दी, अथवा सहायता देने के प्रयत्न किये। सन् १९३३ में, जबकि विश्व आर्थिक संकट के फंदे में था, राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्बन्धी सभा का आयोजन हुआ। सभा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकी क्योंकि विभिन्न राज्यों की सरकारों ने आर्थिक संकट का सामना करने के लिये स्वतन्त्र उपायों का अवलम्बन लेना ही उचित समझा।

राष्ट्रसंघ द्वारा किये गये इन विभिन्न आर्थिक प्रयत्नों पर टिप्पणी करते हुए प्रो० लियोनार्ड (Leonard) ने लिखा है—

"केवल दो दशाब्दियों के अन्दर ही सरकारों ने तुलनात्मक 'एकान्त' से अपनी सामान्य आर्थिक व राजस्व सम्बन्धी समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के द्वारा गम्भीर सहकारिता की ओर कदम रखा। इतिहास में प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों का एजेंडा, चुंगी, न्यूनता, कच्चे मालों की पहुंच, आयात-कर नियमावली और आर्थिक पुनर्निमाण जैसे आर्थिक प्रश्नों से परिपूर्ण था। इसका अर्थ यह नहीं था कि इन सभी क्षेत्रों में कार्यक्रमों को किया गया अथवा कोई ठोस नीतियां बनीं। फिर भी यह अत्यन्त महत्व की बात थी कि इन विषयों पर सरकारें एवं उनके द्वारा स्थापित अवयव संयुक्त रूप से वादविवाद और अध्ययन कर रहे थे। यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहकारिता की दिशा में एक दूरगामी पग था।"

(२) **वित्तीय सहायता:**—अपने आर्थिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह में राष्ट्रसंघ ने दूसरा महत्वपूर्ण पग आर्थिक संकटग्रस्त देशों को संकटों का सामना करने और पुर्ननिमाण के लिये बहुमूल्य वित्तीय सहायता देने का उठाया। १९१८-१९२० के वर्षों में सम्पूर्ण मध्य व पूर्वी योरोप भुखमरी और आर्थिक विनाश का दारुण दृश्य प्रस्तुत कर रहे थे। आस्ट्रिया की दशा सबसे बुरी थी। आस्ट्रियावासियों को जीवित रखने के लिये मित्रराष्ट्रों ने ३ वर्षों में लगभग ४०,०००,००० पौण्ड की सहायता प्रदान की। यह सहायता भी जब अपर्याप्त रही तो मित्रराष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ से आस्ट्रिया के आर्थिक पुर्ननिर्माण की दिशा में पग उठाने की प्रार्थना की। १९२३ में राष्ट्रसंघ ने आस्ट्रिया को आर्थिक पुर्ननिर्माण के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण उगाहने में सहायता दी और उसकी देख-रेख के लिये एक वित्तीय आयुक्त की नियुक्ति की। जून १९२६ तक आर्थिक पुर्ननिर्माण का कार्य पूरा हो गया और वित्तीय आयुक्त हटा लिया गया। आस्ट्रिया की दशा सुधर गई और जनता में विश्वास का पुनर्जागरण हुआ। आस्ट्रिया की सरकार का बजट पूर्णतः संतुलित हो गया। १९३०-३१ के बीच विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण आस्ट्रिया पुनः संकट के जाल में जा फंसा। १९३१-३२-३३ में राष्ट्रसंघ ने आस्ट्रिया को पुनः सहायता दी जिससे उसकी प्रचलित मुद्रा पुष्ट हुई।

राष्ट्रसंघ ने हंगरी की आर्थिक व राजस्व सम्बन्धी पुनस्र्थापना का कठिन कार्य भी सफलता से निबटाया। संघ ने मार्च १९२४ के दो समझौतों के अनुसार हंगरी को आर्थिक सहायता प्रदान की। राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त आयुक्त जरमिया स्मिथ (Jeremiah Smith) की देख-रेख में आशा से पूर्व दो वर्ष के अन्दर ही हंगरी की अर्थव्यवस्था में स्थिरता व सम्पन्नता का पुनर्जन्म हुआ और तब जून १९२६ में राष्ट्रसंघ ने अपना आयुक्त हटा लिया। सितम्बर १९३१ में हंगरी सरकार की प्रार्थना पर राष्ट्रसंघ ने हंगरी की अर्थ-व्यवस्था की पुनः जांच की।

आस्ट्रिया और हंगरी के समान ही संघ ने १९२४, १९२८, १९३२ और १९३३ में यूनान को तथा १९२६ व १९२८ में बलगेरिया को अनेक प्रकार की आर्थिक और वित्तीय सहायता दी। इन दोनों देशों के शरणार्थियों की संघ ने बड़ी सफलता से व्यवस्था की।

वर्साय की संधि ने राष्ट्रसंघ [illegible]र सार घाटी और डैन्जिग के प्रशासन का उत्तरदायित्व डाला। इनके सम्बन्ध में भी राष्ट्रसंघ को अनेक आर्थिक एवं वित्तीय कार्य करने पड़े। सार-शासक आयोग (The Saar Governing Commission) द्वारा प्रस्तावित दीर्घकालीन ऋण के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ की

वित्तीय समिति ने १६२६ और १६३१ में २ बार विस्तृत आर्थिक परामर्श दिये। डैन्जिग के आर्थिक पुनर्निर्माण में राष्ट्रसंघ बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। संघ ने इस स्वतन्त्र नगर की आर्थिक अवस्था के पुनर्स्थापन में बहुमूल्य सहायता दी। राजस्व समिति द्वारा तैयार किये गये आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर डैन्जिग के लिये न केवल एक विशेष मुद्रा (Special Currency) की व्यवस्था की गई बल्कि एक केन्द्रीय बैंक भी स्थापित किया गया। राष्ट्रसंघ की संरक्षता में दो ऋण भी स्थापित हुए—एक सन् १६२५ में डैन्जिग नगरपालिका द्वारा दिया हुआ और दूसरा १६२७ में स्वयं स्वतन्त्र नगर द्वारा दिया हुआ। इन दोनों ही ऋणों का उद्देश्य जन कार्यों के लिये आय-व्यय का प्रबन्ध करना था।

(३) **शरणार्थी सहायता कार्य**:—पुनर्निर्माण तथा शरणार्थियों को बसाने के कार्यक्षेत्र में आस्ट्रेलिया, यूनान, बल्गेरिया और हंगरी की राष्ट्रसंघीय योजनायें सराहनीय थीं। महायुद्ध के कारण लाखों रूसी, यूनानी तथा आर्मेनियन लोग बे-घरबार हो गये थे और यूरोप में एक गम्भीर शरणार्थी समस्या जन्म ले चुकी थी। लोकसेवोपयोगी संगठन (Philanthrophic Organisation), रेड क्रास (Red Cross), बाल-सेवा-कोष (Sae the Children Fund) और व्यक्तिगत सरकारों द्वारा इस गम्भीर सामाजिक समस्या के निवारणार्थ जो भी कार्य किये गये वे अपर्याप्त थे। अतः इस समस्या को सुलझाने के लिये राष्ट्रसंघ ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय की स्थापना की जिसका अध्यक्ष डा० नानसेन (Dr. Fridty of Nansen) को बनाया गया। इस दयालु, सहायक एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति ने सन् १६३० तक बड़ी कुशलता और बुद्धिमानी से इस विकट समस्या को संभाला। उसके प्रयत्नों से सम्बन्धित सरकारों व दान समूहों द्वारा आवश्यक कोष प्रदान किये गये और राष्ट्रसंघ द्वारा आवश्यक सहयोग दिया गया। उसके निर्देशन में लाखों रूसी, यूनानी और आर्मेनियन पुनः बसाये गये। उन्हें पुनः गृह व जीवन की आवश्यकताओं और शिक्षा के लिये शिक्षालयों की सुविधा प्रदान की गई। विशेषतः यूनान-टर्की शत्रुता के फलस्वरूप १६२२ में १० लाख से भी अधिक यूनानियों ने जब शरणार्थियों के रूप में अपने देश लौटकर यूनान के लिये एक विषम समस्या उत्पन्न कर दी तो राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों से एक यूनानी शरणार्थी बोर्ड की स्थापना की गई और संघ के संरक्षण में शरणार्थियों को बसाने के लिये यूनान सरकार को १६२४ और २८ में दो ऋण दिये गये।

१६३० में डा० नानसेन की मृत्यु के पश्चात् राष्ट्रसंघ ने इस महान् व्यक्ति के नाम पर "शरणार्थियों के लिए नानसेन कार्यालय" (Nansen's

Office for Refugees) की स्थापना की, किन्तु नात्सीवाद के उदय के फलस्वरूप जर्मनी में एवं अन्य अनेक देशों में यहूदियों पर जब घोर अत्याचार किये गये और लाखों यहूदी गृह-निर्वासित हो गये तो राष्ट्रसंघ इस जटिल शरणार्थी समस्या का प्रभावशाली समाधान नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ ने केवल इतना ही किया कि इन शरणार्थियों के लिये एक उच्च आयुक्त के नये पद की स्थापना की जो १९४६ तक कार्य करता रहा और तब संयुक्त राष्ट्र-संघ में विलीन हो गया।

(४) बौद्धिक सहयोग—राष्ट्रसंघ के बौद्धिक सहयोग के कार्य भी कम महत्वपूर्ण न थे। इन कार्यों का उद्देश्य उन बौद्धिक दशाओं में उन्नति करना था जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, कलाकारों, शिक्षकों और लेखकों के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास हो। सम्बन्धों का यह विकास सामान्य सभ्यता और संस्कृति की उन्नति के लिए बड़ा उपयोगी था। राष्ट्रसंघ के उद्देश्य की मूल भावना यह थी कि मानसिक क्षेत्रों में राष्ट्रों के मध्य निकटतर एकता स्थापित हो और श्रेष्ठतर ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा शांति की सुरक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि हो। बेल्जियम के सुझाव पर राष्ट्रसंघ की परिषद ने बौद्धिक सहयोग के लिये अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की जिसमें प्रारम्भ में १२ सदस्य थे और बाद में उनकी संख्या १७ हो गई। इस समिति के सदस्य विश्व के बुद्धिमान लोग थे, जैसे प्रो० आइन्सटाइन, मेडम क्यूरी, गिलबर्ट मरे, लोरेन्ज आदि। इस बौद्धिक समिति के उल्लेखनीय कार्य ये थे।

१. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन, २. [illegible] क्षेत्रों में बौद्धिक सहायता प्रदान करना, ३. शिक्षा सम्बन्धी सूचना तथा प्रौढ़ एवं श्रमिकों की शिक्षा की समस्या के राष्ट्रीय केन्द्रों का एकीकरण, ४. राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में युवकों की शिक्षा, ५. वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र को सहयोग तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय फण्ड एकत्रित करना, ६. अन्तर्राष्ट्रीय बोध के लिये विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों के हानिकर अंशों को हटाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कार्य, ७. राष्ट्रीय व केन्द्रीय पुस्तकालयों में सहयोग, ८. स्मारकों एवं कला आदि के कार्यों की सुरक्षा, ९. वैज्ञानिक अजायबघरों और थियेटरों, संगीत और कविता में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सहयोग आदि।

बौद्धिक क्षेत्र में पेरिस में अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग की संस्था खोलने के लिए १९२४ में फ्रांस ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसे राष्ट्रसंघ ने स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप सन् १९२६ में पेरिस में 'बौद्धिक सहयोग के संस्थान' की स्थापना हो गई। कुछ ही समय में इस संस्था ने,

राष्ट्रसंघ की समिति ने और अनेक विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय समितियों तथा ४० से भी अधिक राष्ट्रीय समितियों ने पूर्णतः बौद्धिक सहयोग संगठन का रूप धारण कर लिया। आर्थिक कठिनाइयों और मतभेदों का सामना करते हुये भी इस संगठन ने अपने ढंग से सम्मेलनों, सेमिनारों और वाद-विवादों का आयोजन किया, सामूहिक सुरक्षा पर साहित्य प्रकाशित किया, अनेक उच्चकोटि की साहित्यिक पुस्तकें निकालीं और नैतिक निःशस्त्रीकरण, रेडियो के प्रसारण कार्यक्रमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक मित्रता को बढ़ाया। अपने इन सब कार्य-कलापों द्वारा इसने विश्व-शांति की स्थापना में पर्याप्त सहयोग दिया।

(५) **परिवहन तथा संचार**—राष्ट्रसंघ की परिवहन अथवा मार्ग-समिति (Transit Committee) ने भी अपने क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। यह समिति राष्ट्रसंघ की रचना होते हुये भी एक प्रकार से स्वतन्त्र समिति थी और ऐसे राज्य भी इसकी सदस्यता प्राप्त कर सकते थे जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे। यातायात एवं परिवहन के क्षेत्र में इस संगठन के उल्लेखनीय कार्य ये थे—रेल्वे की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था करना, पासपोर्ट के कार्य को सरल बनाना, वाणिज्य और पर्यटक (Touring) मोटरकारों सम्बन्धी नियम बनाना, बिजली और जल के वितरण में विकास करना, जलयानों या रेलों की भीड़ के आपसी अधिकारों के विवादों पर आन्तरिक सरकारों को परामर्श देना, कलेन्डरों को बदलना आदि।

(६) **स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य**—राष्ट्रसंघ के संविदा के २३वीं धारा में कहा गया था कि "संघ के सदस्य बीमारियों को रोकने और उन्हें नियंत्रित करने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विचारणीय प्रश्नों के विषय में आवश्यक कदम उठाने की चेष्टा करेंगे।"[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधारण सभा और परिषद ने १९२३ में एक प्रस्ताव पारित करते हुए 'स्थायी स्वास्थ्य संगठन' (Permanent Health Organization) की स्थापना की। इस संगठन का उद्देश्य "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा जन-स्वास्थ्य की सुरक्षा को बढ़ावा देना" था। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होने के नाते उसका सम्बन्ध किसी देश की आन्तरिक स्थिति से न था। स्थायी स्वास्थ्य संगठन के प्रमुख अंग स्वास्थ्य समिति, परामर्शदात्री कौंसिल और स्वास्थ्य विभाग थे।

इस संगठन का मुख्य कार्य संक्रामक रोगों के निवारण हेतु सेवायें अर्पित करना, अफ्रीका के निद्रा रोग पर अध्ययन, विभिन्न राज्यों में स्वास्थ्य अफसरों का आंतरिक परिवर्तन, यूनान और चीन जैसी अनेक देशों की जन-स्वास्थ्य सेवाओं का पुनर्निर्माण, विश्व के ज्ञान और अनुभव को मानव-जीवन

---

1. राष्ट्रसंघ-संविदा, अनुच्छेद २३ (६)

की दैनिक समस्याओं के विषय में एकत्रित करना आदि थे। इस संगठन के तत्वावधान में संक्रामक रोगों को रोकने के लिये सिंगापुर में एक ईस्टर्न ब्यूरो (Eastern Bureau) की स्थापना की गई। इस ब्यूरो के पास ११३ बन्दरगाह प्रति सप्ताह अपने यहां की सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्ट भेजते थे। इसके अतिरिक्त, मलेरिया रोग का निराकरण करने के लिये इस संगठन ने १९२३ में एक मलेरिया आयोग की स्थापना की। इसी प्रकार के प्रयत्न तपेदिक, कैन्सर, आतशक आदि बीमारियों को रोकने के लिये किये गये।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में किये गये उपरोक्त नाना-प्रयत्नों के फलस्वरूप नगरों में तो मृत्यु-दर कम हो गई किन्तु गांवों में स्थिति पहले ही के समान असन्तोषजनक बनी रही। इसलिये सन् १९३१ में स्वास्थ्य संगठन ने ग्रामीण-स्वास्थ्य पर एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें २३ देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन ने ग्रामीण-स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रतिपादित किये।

अपनी आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी अपने कार्यों के लिये स्थाई स्वास्थ्य संगठन का सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया और १९२३ के १२ सदस्यों से बढ़कर १९४५ तक इसकी सदस्य संख्या २० हो गई। अन्त में यह संयुक्त-राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत विश्व स्वास्थ्य संगठन में मिल गया।

(७) **नारी कल्याण और बाल कल्याण**—संघ के संविदा की धारा २३ में सदस्य-राष्ट्रों से यह अपील की गयी थी कि वे अपने-अपने देश में स्त्रियों और बच्चों के व्यापार को रोकने का प्रयास करेंगे और इस सम्बन्ध में सामान्य पर्यवेक्षण के कार्य को संघ को सौंप देंगे। इस व्यवस्था के अनुपालन में संघ ने सर्वप्रथम एक परामर्शदात्री आयोग की स्थापना की जिसे दो समितियों में विभाजित किया गया—प्रथम, स्त्रियों और बच्चों के व्यापार को रोकने वाली समिति और द्वितीय, बाल हितकारी समिति। १९२१ में इस आयोग ने अनैतिक उद्देश्यों के लिये होने वाले स्त्रियों के व्यापार को रोकने के नियम बनाये। साधारण-सभा ने एक अभिसमय (Convention) स्वीकार किया जिसके द्वारा विवाह के लिये सम्मत्ति की आयु (Age of Consent) बढ़ा दी गई और अनैतिक उद्देश्यों के लिये स्त्रियों के व्यापार पर रोक लगा दी गयी। १९२७ में राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में एक विशेषज्ञ समिति ने समस्या पर अपनी शोध-रिपोर्ट प्रस्तुत की। १९२९ में संघ के तत्वावधान में ही सुदूरपूर्व में बच्चों और महिलाओं की स्थिति की जांच की गई। १९३२ में सामाजिक प्रश्नों पर एक परामर्शदात्री समिति के रूप में परामर्शदाता-आयोग का पुनर्निर्माण हुआ। सन् १९३३ में एक यह नियम बनाया गया कि यदि किसी जवान स्त्री का अनैतिक उद्देश्य के लिये उसकी

इच्छा से भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है तो व्यापार करने वालों को दण्ड का भागी बनना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में पहले केवल यह व्यवस्था थी कि दण्ड केवल उसी स्थिति में दिया जायगा जब कि बेची जाने वाली स्त्री पूर्ण आयु की न हो।

राष्ट्रसंघ ने अश्लील प्रकाशनों को रोकने और वेश्या-वृत्ति का अन्त करने के लिये भी काफी प्रयत्न किये। बाल हितकारी समिति ने विभिन्न देशों के विवाह की आयु से सम्बद्ध कानूनों का अध्ययन किया, गैरकानूनी बच्चों की समस्या पर विचार किया और इस विषय में अपने मूल्यवान परामर्श दिये। इसके फलस्वरूप अनेक देशों ने विवाह की आयु को बढ़ाने के लिये अपने नियमों में सुधार किया।

(८) **मादक द्रव्यों पर नियन्त्रण**—राष्ट्रसंघ के कार्यों का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू मनुष्य को उन हानिकारक नशीले पदार्थों से बचाना था जो उसके मानसिक और शारीरिक विकास की गति रोककर उसे क्षीण बना देते हैं। वैसे १६०६ में ही लोगों के मस्तिष्क में यह बात आयी थी कि अफीम जैसे मादक पदार्थों के यातायात पर रोक लगा दी जानी चाहिए। कुछ राष्ट्रों द्वारा सहयोग देने का वचन मिलने पर इस कार्य के लिए १६०६ में अन्तर्राष्ट्रीय अफीम कमीशन का निर्माण हुआ था और कमीशन के प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए हेग में १६१२ में एक सम्मेलन भी बैठा था। राष्ट्रसंघ ने निर्मित होते ही इस कार्य को अपने ऊपर लिया और उसकी संविदा की धारा २३ में इसकी चर्चा भी की गयी। सन् १६२० में संघ ने अफीम और अन्य भयंकर औषधियों के व्यापार के सम्बन्ध में एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की। यह समिति सामान्यत: अफीम कमेटी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका मुख्य उद्देश्य सभी प्रकार के मादक पदार्थों (कच्ची अफीम, तैयार अफीम, कोकीन आदि) पर नियंत्रण करके उन्हें केवल औषधियों और वैज्ञानिक प्रयोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित करना था। १६२५ तथा १६३१ में मादक पदार्थों की समस्या को सुलझाने के लिए 'जेनेवा नियम' (Geneva Conventions) स्वीकार किये गये। इनके द्वारा यह व्यवस्था की गई कि मादक पदार्थों का उत्पादन केवल वैज्ञानिक एवं चिकित्सा सम्बन्धी उद्देश्यों के लिये ही सीमित रहना चाहिये। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये दो नवीन संस्थाएं स्थापित की गईं। इनमें प्रथम संस्था स्थायी केन्द्रीय मण्डल (Permanent Central Board) और द्वितीय संस्था निरीक्षक मण्डल (Supervisory Body) कहलाई।

(६) **दासता एवं बेगार की समस्याएं**—दासता और शोषण की समस्या भी राष्ट्रसंघ के लिये कम नहीं थी। इसके निदान के उपायों पर

विचार करने के लिये संघ ने १९२४ में एक विशेष समिति की नियुक्ति की। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर १९२६ में साधारण सभा ने "दासता के दमन के अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय" को स्वीकार किया और परिषद् को यह निर्देश दिया कि वह समस्या पर प्रतिवर्ष एक वार्षिक रिपोर्ट तैयार करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को इस समस्या का गहन रूप से अध्ययन करने के लिये प्रेरित करे। १९२६ तक राष्ट्रसंघीय सचिवालय ने भी शोषण की इस गम्भीर सामाजिक कुरीति के विरुद्ध विभिन्न राज्यों द्वारा किये गये कार्यों का वार्षिक प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रसंघ ने विशेषज्ञों की एक अस्थायी समिति की नियुक्ति की जिसने १९३१ में अपनी रिपोर्ट में बताया कि तिब्बत और मध्य एशिया के कुछ भागों को छोड़कर, जिनके विषय में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी, केवल अरब एवं अफ्रीका के कुछ भागों में ही दास प्रथा समाप्त नहीं हो सकी थी। इनके अतिरिक्त अन्य सब ने दासता को कानूनी तौर पर रद्द कर दिया था। राष्ट्रसंघ ने लीबिया से दासता समाप्त करने के प्रश्न पर बड़ी लगन से कार्य किया। उसने इथोपिया, नेपाल और बर्मा की सरकारों को इस बात के लिये प्रोत्साहित किया कि वे अपने यहां से दास प्रथा को मिटा दें। सन् १९३० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने बेगार अथवा शोषण के उन्मूलन के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय की स्वीकृति प्रदान की। इस अभिसमय अथवा नियम के अन्तर्गत अल्प काल में ही शोषण या अनिवार्य श्रम को समाप्त करना था। १९३० से १९३९ तक राष्ट्रसंघ ने मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को पर्याप्त सीमा तक मिटा दिया।

(१०) **युद्धबन्दियों की रिहाई का कार्य**—युद्धबंदियों को छुड़ाना और उन्हें वापस स्वदेश लौटाने का प्रबन्ध करना भी राष्ट्रसंघ की एक उल्लेखनीय सफलता थी। डा० नानसेन के प्रयत्नों से लगभग ५ लाख युद्ध-बंदियों को बन्धन मुक्त किया गया। उनके दुःखों को दूर किया गया और उन्हें सहायता दी गई। दातव्य गृहों द्वारा उन्हें मदद मिली। संघ के प्रयत्नों से १९२२ के अन्त तक लगभग सभी युद्धबंदी अपने-अपने घरों को वापिस पहुंच गये।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट है कि आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं मानवता सम्बन्धी क्षेत्रों में राष्ट्रसंघ ने अत्यन्त महत्वपूर्ण, उपयोगी तथा बहुमूल्य कार्य किया। इन सभी गैर राजनीतिक कार्यों में संघ को आशातीत सफलता मिली। संघ की मानवीय और वैज्ञानिक गतिविधियां वास्तव में पहले के किसी भी मानवीय संगठन की गतिविधियों से अधिक महान् थीं। अराजनीतिक क्षेत्र में संघ का एक मात्र उद्देश्य यह था कि सम्पूर्ण विश्व में एकता, प्रेम, सहयोग, सद्भावना और मैत्रीभाव फैलें।

इस उद्देश्य की प्राप्ति में संघ बहुत कुछ सफल हुआ। संघ के प्रयासों ने लाखों लोगों में आशा, विश्वास और नवजीवन का संचार किया।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य
(Functions Relating to International Peace and Security)

राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण ढंग से समाधान करना था। इसका कार्यक्रम विश्व को किसी भी भावी विनाश से बचाने का था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये संघ के संविदा (Covenant) में **चार प्रकार की व्यवस्थाएं** की गई थीं। **पहली** व्यवस्था में संघ के सदस्यों को कुछ ऐसी कानूनी बाध्यताओं एवं ऐसे उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने के लिये कहा गया जिनसे उनके युद्ध प्रारम्भ करने की शक्ति एक बड़ी सीमा तक मर्यादित हो जाती थी। **दूसरी** व्यवस्था के अनुसार संघ के विधान में इस प्रकार की प्रक्रियाओं को स्थान दिया गया था जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण ढंग से समाधान हो सके। **तीसरी** व्यवस्था द्वारा युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में अथवा किसी राज्य द्वारा अपने दायित्वों का उल्लंघन करके युद्ध जारी रखने की दशा में संघ को यह अधिकार दिया गया था कि वह अपराधी अथवा आक्रमणकारी या दोषी राष्ट्र के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंधों और सैनिक कार्यवाही का प्रयोग कर सके। **चौथी** व्यवस्था युद्ध के निवारणार्थ शस्त्रास्त्रों को घटाने और निःशस्त्रीकरण करने से सम्बद्ध थी।

अब हम उपरोक्त चारों व्यवस्थाओं पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए यह बतायेंगे कि संघ के संविदा की धाराएं किस रूप में और कैसे इनकी पूर्ति करती थीं।

वास्तव में मानव इतिहास में यह पहला अवसर था कि जब सर्वोच्च-सत्ता-सम्पन्न राज्यों ने अपनी प्रभुसत्ता पर बाह्य प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया। प्रथम व्यवस्था के अन्तर्गत विधान की १०वीं धारा के अनुसार संघ के सदस्यों ने यह कानूनी बाध्यता स्वीकार की कि वे आपस में मिलकर सब देशों की वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा बाह्य आक्रमणों से करेंगे। राष्ट्रसंघ का यही प्रसिद्ध 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) का सिद्धांत था।

संघ के विधान की **धारा ११ से १६ तक में युद्धों को शांतिपूर्ण ढंग से रोकने की प्रक्रियाओं का उल्लेख था।** इन धाराओं में युद्ध से पहले की स्थिति में प्रमुखतः तीन प्रकार से सुधार किये—(१) सदस्य राज्यों को बाधित किया गया कि वे अपने विवादों को शांतिपूर्ण समझौते के लिए संघ में प्रस्तुत करें और कुछ समय के लिये युद्ध एकदम बन्द करदें। (२) राष्ट्र-

नैतिक और कानूनी विवादों की शांति के लिये कुछ नवीन संस्थाओं की रचना की गई। (३) इन संस्थाओं के सम्मुख विवाद प्रस्तुत हों—इसके लिये कुछ प्रक्रियायें और प्रणालियां बनाई गई।

संविदा की ११वीं धारा के अनुसार किसी युद्ध अथवा युद्ध की धमकी को राष्ट्रसंघ के लिये चिन्ता का विषय बताया गया। संघ के किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर महासचिव को परिषद की तत्काल बैठक बुलाने का अधिकार दिया गया और हर सदस्य का यह मैत्रीपूर्ण अधिकार घोषित किया गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति को खतरा पैदा करने वाली परिस्थितियों की ओर साधारण सभा अथवा परिषद का ध्यान आकर्षित कर सके। यह धारा, वास्तव में राष्ट्रसंघ के संविदा की सबसे महत्वपूर्ण धारा थी और यह विल्सन की सिफारिश पर रखी गई थी। संघ के समक्ष इस धारा के अन्तर्गत ४० अन्तर्राष्ट्रीय विवाद लाये गये। इस महत्वपूर्ण धारा का मूल उद्देश्य यह था कि युद्धों के विरुद्ध एक शक्तिशाली जनमत तैयार हो सके। ऐसा विश्वास किया गया था कि जब परिषद या साधारण सभा में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने वाले विषयों पर विस्तृत विवाद होगा तो संसार के शांतिवादी लोकमत की शक्ति द्वारा ऐसे संकटों का निराकरण हो सकेगा।

१२वीं धारा में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के उपाय बतलाये गये थे। ये उपाय तीन प्रकार के थे। इसके अनुसार संघ के सदस्यों ने यह मान लिया कि यदि उनमें किसी प्रकार का ऐसा विवाद होगा जिससे शांति भंग होने की सम्भावना हो तो या तो वे इसे किसी पंच (Arbitrator) को सौंपेंगे, या इसका अदालती समझौता (Judicial Settlement) करायेंगे अथवा इसे जांच के लिये परिषद के सम्मुख पेश करेंगे। साथ ही, उन्होंने यह भी तय किया कि किसी भी अवस्था में पंच के या अदालत के निर्णय के अथवा परिषद की रिपोर्ट के तीन महीने के अन्दर युद्ध का सहारा नहीं लेंगे। इस धारा में तीन महीने तक युद्ध न करने की व्यवस्था इसलिये की गई थी ताकि विवाद की उग्रता कम हो जाय, उत्तेजित मनोभावनायें ठण्डी पड़ जायं और इस बीच शांतिवादी लोकमत का दबाव पड़ने से युद्ध की सम्भावना कम हो जाय। यह उल्लेखनीय है कि संघ के अल्पकालिक जीवन में ऐसा कोई अवसर उपस्थित नहीं हुआ जब किसी राज्य द्वारा इस धारा की व्यवस्थाओं का पालन किया गया हो। इस धारा के द्वारा परिषद से अपनी रिपोर्ट छः महीने के अन्दर दे देने तथा पंचायत और न्यायालय से अपना निर्णय उचित समय के अन्दर दे देने के लिए कहा गया।

१३वीं धारा के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई थी कि किसी संधि की व्याख्या के बारे में तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों (In-

ternational Obligations) के उल्लंघन के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वा विवादों का पंचायत या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णय हो। संघ सदस्यों ने यह स्वीकार किया कि वे पंचायती अथवा न्यायिक निर्णयों पालन करने वाले किसी राज्य के विरुद्ध युद्ध के मार्ग का अवलम्बन नह करेंगे। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि १३वीं धारा किसी अनिवा व्यवस्था को लागू नहीं करती थी, अर्थात् संघ के संविदा ने पंचायत य न्यायालय सम्बन्धी निर्णय के आश्रय में जाना अनिवार्य नहीं बनाया था इसी धारा के चौथे पैराग्राफ में यह भी कहा गया था कि पंच अथवा न्याया-लय के निर्णय को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व परिषद् का है।

संविदा की **धारा १४ द्वारा** साधारण सभा अथवा परिषद को यह अधिकार दिया गया कि वे किसी भी विवाद अथवा प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सम्मति मांग सके।

संविदा की **सबसे लम्बी १५वीं धारा** में उन विवादों को हल करने की व्यवस्थायें दी गई थी जिन्हें पंचायती या न्यायिक निर्णय के लिये न सौंपा गया हो परन्तु जिन्हें परिषद के सामने पेश कर दिया गया हो। इस धारा के अन्तर्गत परिषद के सम्मुख रखे जाने वाले विवाद हर तरह के हो सकते थे और उनकी परीक्षा करने में परिषद प्रश्न के कानूनी व राजनीतिक दोनों रूपों को स्वीकृति देती थी। परन्तु परिषद् ऐसे किसी विषय पर ऐसी कोई सिफारिश नहीं कर सकती थी जो किसी राज्य के घरेलू अधिकार क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) में आता हो। इस धारा के अन्तर्गत परिषद के सम्मुख लाये जाने वाले विवादों के हल की निम्नलिखित व्यवस्थायें की गई थीं—

सर्वप्रथम विवाद से सम्बन्धित राज्य विवाद की सूचना संघ के महा-सचिव को देते थे जो इसकी जांच और विचार का प्रबन्ध करता था। विवाद करने वाले देश अपना सारा मामला, अपनी सब आवश्यकता और कागजात महासचिव को भेजते थे ताकि वह उनका प्रकाशन कर सके। इसके बाद परिषद् का यह काम हो जाता था कि वह अपने अधिवेशन में दोनों पक्षों में समझौता कराने की चेष्टा करे। यदि समझौता हो जाता था तो विवाद समाप्त हो जाता था और जिन तथ्यों और व्याख्याओं का प्रकाशन करना परिषद उचित समझती थी, उनका प्रकाशन कर देती थी। किन्तु यदि परिषद को विवाद शांत करने में सफलता प्राप्त न होती तो भी वह इस पर प्रकाश डालने वाले तथ्यों और सिफारिशों की रिपोर्ट प्रकाशित करती थी। विवाद करने वाले दलों के अतिरिक्त परिषद की रिपोर्ट सर्व-सम्मति से पास हो जाती तो संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य होता था कि वे परिषद

युद्ध रोकने के लिये आर्थिक प्रतिबन्ध के अतिरिक्त इसी धारा में सैनिक कार्यवाही की व्यवस्था भी थी। विधान में यह कहा गया था कि संघ आक्रामक राज्यों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर सकता है और इसके लिये सदस्य राज्यों को सेना प्रदान करनी पड़ेगी। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस व्यवस्था का कोई मूल्य नहीं था क्योंकि विधान में ऐसी कोई धारा नहीं थी जिससे सदस्यों को सेना प्रदान करने के लिए बाध्य किया जा सके। इस व्यवस्था का पालन करना न करना एकदम ऐच्छिक था और संघ के इतिहास में इस व्यवस्था का प्रयोग कभी नहीं हुआ। संघ ने किसी भी अवसर पर इसके नियम तोड़ने वाले सदस्यों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही नहीं की।

संघ के **संविदा की १७वीं धारा में** संघ के सदस्यों और गैर-सदस्य राज्यों के विवादों या गैर-सदस्य राज्यों के पारस्परिक विवादों के समाधान की व्यवस्था थी। ऐसी अवस्था में गैर सदस्य राज्य को आमन्त्रित किया जाता था कि वह उस विवाद के प्रयोजन के लिये राष्ट्रसंघ की सदस्यता के उत्तर-दायित्वों को स्वीकार कर ले। इस दशा में दो अवस्थायें उत्पन्न हो सकती थीं- (i) गैर सदस्य राज्य परिषद् के आमंत्रण को स्वीकार कर ले। ऐसा होने पर १२वीं से १६वीं धाराओं तक की व्यवस्थायें सैद्धान्तिक रूप में लागू हो जाती थीं, (ii) गैर सदस्य राज्य विवाद के निर्णय के उद्देश्य के लिये संघ की सदस्यता के उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने से इन्कार कर सकते थे। ऐसा होने पर १२वीं से १५वीं धाराओं में अंकित रीतियों में से कोई भी लागू नहीं होती थी। लेकिन फिर भी आमंत्रित राज्य द्वारा संघ के किसी सदस्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने की अवस्था में उसके विरुद्ध १६वीं धारा के उपबंधों को लागू कर देने की व्यवस्था थी।

विवाद से सम्बन्धित यदि दोनों ही दल गैर सदस्य राज्य होते और वे संघ के उपरोक्त आमंत्रण को अस्वीकार कर देते तो परिषद् ऐसे उपाय काम में ला सकती थी जो युद्ध को रोक दें अथवा विवाद को तय कर दें।

संविदा की **धारा १९ के अनुसार** साधारण सभा समय-समय पर संघ के सदस्यों से उन संधियों पर पुनर्विचार के लिये कह सकती थी, जो समयान्तर के कारण अनुपयुक्त हो गई हों। मुख्यतया, इस धारा का उद्देश्य कानून को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का था। युद्ध के निवारण के लिये राष्ट्रसंघ के विधान के अन्तर्गत चौथी व्यवस्था शस्त्रास्त्रों को घटाने और शस्त्रों की होड़ बंद करने बाबत थी। इसकी ८वीं धारा में शान्ति स्थापित करने के लिये शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यक बताया था और इस सम्बन्ध में विस्तृत योजना बनाने का कार्य परिषद् को सौंपा गया था। परिषद् ने इस दिशा में अनेक कदम उठाये, किन्तु सफलता अर्जित नहीं की। इस विषय में विस्तार से चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

राष्ट्रसंघ के संविदा की धारा १० सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध में व्यवस्था करती थी। इसमें कहा गया था कि "संघ के सदस्य, इसके सभी सदस्यों की प्रादेशिक एकता एवं राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान करने तथा उन्हें बाह्य आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षित रखने का वचन देते हैं। इस प्रकार के किसी भी आक्रमण के होने अथवा इस प्रकार के आक्रमण की धमकी या भय उत्पन्न होने की अवस्था में परिषद् उन साधनों के विषय में परामर्श देगी जिनसे इस उत्तरदायित्व को पूरा किया जा सके।"

राष्ट्रसंघ द्वारा सफलतापूर्वक सुलझाये गए अन्तर्राष्ट्रीय विवाद

राष्ट्रसंघ की २० वर्ष की अवधि में लगभग ४० राजनीतिक विवाद और झगड़े उसके समक्ष लाये गये। इनमें से कुछ समस्याओं को शांतिपूर्ण उपायों द्वारा हल करने में संघ को पूरी सफलता मिली। किन्तु ये सभी झगड़े प्रायः छोटे राष्ट्रों के थे। बड़े राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने वाले विवादों में संघ को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। बड़े राष्ट्रों ने अपने स्वार्थ के कारण संघ के आदेशों की अधिकांशतः अवहेलना ही की।

जिन छोटे देशों ने बड़े देशों के अत्याचारों एवं अन्यायों के विरुद्ध संघ में समय-समय पर शिकायतें की उनमें से कुछ पर तो संघ ने ध्यान ही नहीं दिया, कुछ पर यह निर्णय नहीं ले सका और कुछ पर जो निर्णय लिया गया उसे यह प्रभावशील न बना सका और अन्त में द्वितीय विश्वयुद्ध ने किशोर अवस्था में ही इसकी हत्या कर डाली। **राष्ट्रसंघ की सफलताओं के बारे में मार्गेन्थो महाशय ने सत्य ही लिखा है कि जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण और शांति की रक्षा एवं कायम रखने का प्रश्न है संघ को केवल किसी-किसी अवसर पर ही सफलता प्राप्त हो सकी। वह भी ऐसे अवसरों पर जहां कि इसका सदस्य बड़ी शक्तियों के हित परस्पर नहीं टकराते थे अथवा इसके प्रभावशील सदस्यों में से अधिकांश का हित वह मांग करता था।"**[1]

संघ के सामने आने वाले २० महत्वपूर्ण विवादों का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इनमें से ११ विवाद किसी प्रदेश पर आक्र-

---

1. "Yet, when it came to the maintenance of international order and the preservation or restoration of peace, it governed only in the rare instances when either the interests of the great powers among its members were not affected or the common interests of the most influential among them seemed to require it."
—*Morgenthau*, Politics Among Nations, P. 440.

मण अथवा लड़ाई से सम्बन्धित थे और ६ विवादों में कोई आक्रमण नहीं हुआ था। इन २० महत्वपूर्ण मामलों में प्रथम वर्ग के केवल तीन और द्वितीय वर्ग के केवल चार विवादों को ही संघ शांतिपूर्ण ढंग से सुलझा सका। इस तरह २० प्रमुख विवादों में से केवल ७ विवाद ही संघ के द्वारा सुलझाये गये। ये विवाद संक्षेप में निम्नलिखित थे—

(१) अल्बानिया का सीमा-विवाद (१९२१-२४)—इस विवाद का सम्बन्ध यूनान और यूगोस्लाविया के मध्य था। ये दोनों देश अल्बानिया का, जो कि यूगोस्लाविया और यूनान के पश्चिम में स्थित है, आपस में बंटवारा कर लेना चाहते थे। किन्तु राष्ट्रसंघ ने अल्बानिया को एक स्वतंत्र राज्य की मान्यता दी और १९२० में वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। अल्बानिया की सीमा का निर्धारण करने में कुछ देर लग गयी। इसी मध्य १९२१ में यूगोस्लाविया के कुछ सैनिकों ने अल्बानिया पर हमला कर दिया। अल्बानिया ने संघ से अपील की और संघ के हस्तक्षेप से यह मामला तय हो गया। राष्ट्रसंघ की परिषद् को इस विवाद के समाधान में राजदूतों के सम्मेलन से बड़ी सहायता मिली।

(२) आलैंड विवाद (१९२१):—ऑलन्ड (*Aaland*) टापू के स्वामित्व के ऊपर फिनलैंड और स्वीडन के मध्य झगड़ा था। यह टापू दोनों देशों के बीच बाथनिया की खाड़ी के दक्षिण में अवस्थित है। इस टापू के अधिकांश निवासी स्वेडिश जाति से सम्बन्ध रखते थे और उनकी यह आकांक्षा थी कि इस टापू को स्वीडन में मिला दिया जाय। चूंकि स्वीडन की सरकार की स्वाभाविक सहानुभूति इनके पक्ष में थी अतः उसने फिनलैण्ड की सरकार से, जिसका १८०९ से ही टापू पर स्वामित्व था, इस विषय पर बातचीत प्रारम्भ की। फिनलैण्ड सरकार की इस विषय पर नीति एकदम स्पष्ट थी। उसका कहना था कि न केवल एक लम्बे समय से टापू पर उसका स्वामित्व था बल्कि वर्साय की संधि के द्वारा भी टापू पर उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया गया था। फिनलैण्ड की सरकार ने आग्रहपूर्वक यह कहा कि इस टापू के बारे में विवाद खड़ा करना स्वेडिश सरकार के लिए अनुचित है। दोनों राष्ट्रों के हठीले दृष्टिकोण के कारण विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया। चूंकि ये दोनों ही राष्ट्र राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे अतः ब्रिटेन ने इनके विवाद को राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत किया। १९२१ में संघ की परिषद् का ध्यान इस विवाद की ओर आकर्षित किया गया। फिनलैण्ड ने विवाद को "अपना घरेलू मामला घोषित किया और उसे राष्ट्रसंघ के अधिकार क्षेत्र से बाहर" बताया। परिषद् ने फिनलैंड के इस दावे को स्वीकार न करते हुए मामले की जांच के लिए एक आयोग

निश्चित किया। आयोग ने स्थानीय पर्यवेक्षण एवं अन्य आवश्यक परीक्षा के बाद यह स्पष्ट कर दिया कि टापू पर फिनलैंण्ड के स्वामित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए किन्तु साथ ही वहां बसने वाली स्वेडिश जनता के अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था भी होनी चाहिए और इस दृष्टि से द्वीप वासियों को स्वायत्त-शासन और स्कूलों में स्वेडिश भाषा में शिक्षा पाने का अधिकार दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त टापूओं को निःशस्त्र एवं तटस्थ घोषित किया जाना चाहिए। इन व्यवस्थाओं का दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया और तदानुरूप दोनों देशों में ६ अप्रेल १९२२ को एक अन्तर्राष्ट्रीय संधि हो गयी। संघ की यह एक उल्लेखनीय आरम्भिक सफलता थी।

(३) **हंगेरियन विवाद (१९२३-३०)**:—यह विवाद हंगरी तथा रूमानिया के बीच था। पेरिस के शान्ति-समझौते के अनुसार हंगरी का ट्रांसिलवानिया और बानात का प्रदेश हंगरी से रूमानिया को प्राप्त हुआ था। इन प्रदेशों में बसे हुए हंगेरियन स्वेच्छा से हंगरी में बसना चाहते थे। चूंकि ऐसे व्यक्तियों (Optants) की रूमानिया में गये प्रदेशों में बहुत सम्पत्ति थी, अतः इस सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ। राष्ट्रसंघ ने दोनों देशों के झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढ़ंग से सुलझाया और इस विषय में दोनों देशों के मध्य समझौता हो गया।

(४) **बल्गेरिया तथा यूनान का विवाद (१९२५-२६)**:—बल्गेरिया और यूनान का सीमा विवाद युद्ध के उपरान्त हल नहीं हुआ था, फलस्वरूप इन दोनों ही देशों की सीमाओं पर निरन्तर आक्रमण और उपद्रव होते रहते थे। अक्टूबर, १९२५ में दोनों देशों के मध्य सीमान्त को लेकर एक गम्भीर झगड़ा शुरू हो गया। सीमा पर सलोनिका के उत्तर-पूर्व में यूनानी सीमान्त चौकी का अधिकारी और उसका एक सन्तरी मार डाले गये। इस पर यूनान की सरकार ने पहले तो बल्गेरिया से क्षमा-याचना और क्षति-पूर्ति की मांग की और दो दिन बाद ही इस बारे में जांच-कमीशन स्थापित करने के बल्गेरियन प्रस्ताव को रद्द करते हुए अपनी सेनाओं को बल्गेरिया पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। यूनानी सेना बल्गेरिया के एक नगर में घुस गयी और बल्गेरिया के अन्दर ७० वर्गमील पर उसने अपना अधिकार जमा लिया। इस पर, २२ अक्टूबर १९२५ को बल्गेरिया ने १० वीं और ११ वीं धाराओं के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ से यूनान की शिकायत की। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने शीघ्र ही पेरिस मे अपनी बैठक बुलायी और उसने सर्वप्रथम लड़ाई बन्द करने की तथा दोनों देशों की सेनाओं को अपनी सीमाओं में लौट जाने की आज्ञा दी। परिषद् ने फ्रांस, ब्रिटेन तथा इटली से कहा कि वे सैनिकों की वापसी की देखभाल करने के लिए वहां अपने सैनिक अधिकारी

भेजें। राष्ट्रसंघ के आदेश का यूनान और बलगेरिया दोनों ही ने पालन किया। २९ अक्टूबर तक सेनाओं के लौट जाने के बाद सर होरेस रम्बोल्ड की अध्यक्षता में पांच व्यक्तियों का एक जांच-कमीशन नियुक्त किया गया जिसने यूनान के आक्रमण को अन्यायपूर्ण ठहराया और उसे बलगेरिया को आक्रमण से होने वाली हानि के लिए मुआवजा देने को कहा। १ मार्च, १९२६ को यूनान ने क्षति-पूर्ति की रकम चुकायी और इस तरह राष्ट्रसंघ ने एक और मामले को सफलतापूर्वक तय किया।

(५) लौटिशिया विवाद (१९३२-३३):—लौटिशिया का नगर दक्षिणी अमेरिका में कोलम्बिया और पेरू राज्यों की सीमा पर स्थित था। इस नगर पर दोनों ही देश अपने स्वामित्व का दावा करते थे। यद्यपि पेरू ने १९२२ की संधि में इसको कोलम्बिया को दे दिया, परन्तु १९३३ में पेरू की फौजों ने इस पर फिर से अधिकार कर लिया। कोलम्बिया ने राष्ट्रसंघ में इसकी शिकायत की। संघ के हस्तक्षेप से १९३३ में यह पुनः कोलम्बिया को लौटा दिया गया।

(६) राष्ट्रीयता से सम्बद्ध आदेशों पर ब्रिटिश-फ्रेन्च विवाद (१९२१-२२:—ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य ट्यूनिस और मोरक्को में राष्ट्रीयता के प्रश्न पर विवाद उठ खड़ा हुआ। फ्रांस ने ट्यूनिस व मोरक्को में १९२१ में एक आदेश प्रचारित किया कि फ्रांस तथा उसके उपनिवेशों में जन्म लेने वाले को फ्रांस की नागरिकता प्राप्त होगी। इन प्रदेशों में अंग्रेज निवासी भी थे। रक्त-आधार पर इन्हें इंगलैंड की नागरिकता भी प्राप्त होती थी। चूंकि यह आदेश ब्रिटिश राष्ट्रीयता के कानूनों के विपरीत था, अतः दोनों देशों के मध्य विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद को सुलझाने के लिए ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव रखा कि मामला पंच-निर्णय द्वारा हल किया जाय। किन्तु फ्रांस ने इस प्रस्ताव को यह कह कर ठुकरा दिया कि यह उसका "घरेलू मामला" है। बाद में यह विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के सुपुर्द किया गया जिसने घरेलू अधिकार क्षेत्र के फ्रेंच दावे को अस्वीकार कर दिया। अन्त में विवाद को राष्ट्रसंघ से वापिस ले लिया गया और दोनों देशों के विदेश मन्त्रियों ने पारस्परिक वार्ता द्वारा समस्या को हल कर लिया। दो बड़े राष्ट्रों द्वारा पारस्परिक वार्ता से विवाद का हल राष्ट्रसंघ की भावना की विजय थी।

(७) यावोजनो (Yoworzno) विवाद (१९२३-२९):—यह पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया के मध्य सीमा सम्बन्धी विवाद था। धारा ११ के अनुसार परिषद् ने इस पर विचार करने के लिए एक सीमा-कमीशन नियुक्त किया। कमीशन की सिफारिशों के अनुसार निर्धारित की गई सीमा ... ... लिया।

उपरोक्त विवादों के अतिरिक्त और जिन समस्याओं को सुलझाने में राष्ट्रसंघ कुछ सफलता प्राप्त कर सका, वे ये थीं—

(८) मेमल समस्या (Memel Affair)—मेमल क्षेत्र जर्मनी के उत्तरी-पूर्वी किनारे का क्षेत्र था जिसे वर्साय की संधि के अनुसार जर्मनी से पृथक कर दिया गया था ताकि लिथुआनिया को बाल्टिक समुद्र के लिये मार्ग मिल जाय। इस क्षेत्र को जब डेंजिग के समान स्थिति देने का प्रश्न उठा और उधर पोलैंड ने स्वयं ने इसे हस्तगत करना चाहा तो लिथुआनिया जो स्वयं मेमल पर अपना कब्जा चाहता था, बिगड़ खड़ा हुआ। जनवरी १९२३ में लिथुआनिया ने मेमल पर आक्रमण करके फ्रांसीसियों को निकाल दिया और वहां एक अस्थायी सरकार की स्थापना कर दी। जब शान्तिपूर्ण ढंग से इस झगड़े को निपटाने के सारे प्रयत्न बेकार साबित हुए तो यह समस्या राष्ट्रसंघ की परिषद् के जिम्मे सौंप दी गई। परिषद् ने एक समिति नियुक्त की। समिति की रिपोर्ट के आधार पर संघ ने यह तय किया कि बन्दरगाह को छोड़कर शेष सम्पूर्ण मेमल क्षेत्र का स्वामी लिथुआनिया है। पर साथ ही मेमलवासियों को आन्तरिक स्वतन्त्रता मिली और मेमल बन्दरगाह पर शासन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड की स्थापना हुई। पोलैंड ने इस व्यवस्था का विरोध किया पर उसका कोई फल नहीं निकला।

(९) यूपेन तथा मेलमेंडी (Eupen-Malmedy) समस्या—जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की कौंसिल को १९२०-२१ में अनेक स्मृति-पत्रों द्वारा यूपेन व मेलमैंडी को बेल्जियम में मिला देने का विरोध किया। कौंसिल ने विचारोपरान्त निर्णय दिया कि उक्त दोनों को स्थानान्तरित करने का निर्णय अन्तिम व अपरिवर्तनीय है। जर्मनी को भी इस निर्णय की सूचना दे दी गई।

(१०) मोसुल विवाद (Mosul Controversy, 1924-25)—यह झगड़ा मोसुल पर टर्की, ईराक और ब्रिटेन के अपने अधिकार प्रदर्शित करने के कारण उत्पन्न हुआ था। लोसाने की संधि में यह व्यवस्था की गई थी कि टर्की और ईराक की सीमा को ब्रिटेन व टर्की परोक्ष रूप से आपस में बातचीत द्वारा सुलझा लेंगे और यदि अगले नौ महीनों तक मामला तय नहीं होता तो उसे संघ के सुपुर्द कर दिया जायेगा। चूंकि कोई भी पक्ष पैट्रोल के कारण महत्वपूर्ण मोसल जिले पर अपना दावा छोड़ने को तैयार न था अतः दोनों पक्षों में कोई फैसला नहीं हो सका और ६ अगस्त १९२४ को ब्रिटेन द्वारा यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। अपने प्रथम दो चरणों में परिषद् ने दोनों पक्षों से यह वादा करा लिया कि वे लोसाने-संधि की व्यवस्थाओं का सम्मान करते हुये "यथास्थिति" की बदलेंगे नहीं और राष्ट्रसंघ के निर्णय को मानेंगे। परिषद् ने समस्या की जांच के लिए एक सर्वथा

तटस्थ जांच–आयोग भी नियुक्त कर लिया। अक्टूबर में दोनों ही पक्षों की ओर से शिकायतें आने पर कि "यथास्थिति रेखा" का अतिक्रमण करने के प्रयत्न किये गये हैं, परिषद् की ब्रुसेल्स में बैठक हुई जिसने एक स्थाई सीमांत स्थापित कर दिया जिसे बाद में 'ब्रुसेल्स रेखा' कहा गया। १९२५ में स्वीडन, हंगरी तथा बेल्जियम ने मामले पर विचार करना आरम्भ करके परिषद् को रिपोर्ट दी। सितम्बर में परिषद् ने आयोग की रिपोर्ट पर विचार करना शुरु किया। इसी मध्य टर्की के कैल्डियन ईसाइयों ने विद्रोह कर दिया जिसे टर्की सरकार ने निर्दयतापूर्वक दबा दिया। राष्ट्रसंघ के एक प्रतिनिधि जनरल लेडोनर की तटस्थ रिपोर्ट से टर्की के अत्याचारों की कहानी सिद्ध हो गई। राष्ट्रसंघ ने पर्याप्त खोजबीन और विचार–विमर्श के बाद अन्त में मोसुल विवाद पर अपना निर्णय दे दिया। "ब्रुसेल्स–रेखा" को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया गया कि उसे ब्रिटेन और ईराक दोनों के ही संरक्षण में २५ वर्षों के लिए रखा जायगा और केल्डियन ईसाइयों अथवा कुर्दों (Kurds) को संरक्षकों की ओर से सुरक्षा की पूर्ण गारन्टी प्राप्त होगी। जून १९२६ में ब्रिटेन, टर्की, और ईराक ने एक त्रिपक्षीय–संधि पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार निर्धारित–सीमान्त को मान लिया गया। राष्ट्रसंघ के लिए यह एक गौरवशाली सफलता थी।

(११) **अपर साइलेशिया का विवाद (१९२१)**—यह जर्मनी और पोलैंड के बीच सीमा का झगड़ा था, जिसमें फ्रांस ने पोलैंड का पक्ष लिया जबकि ब्रिटेन को जर्मनी से सहानुभूति थी। इस झगड़े को राजदूतों का सम्मेलन हल न कर सका। अन्य उपायों से भी इस विवाद के समाधान का प्रयास विफल हुआ। अन्त में मामला राष्ट्रसंघ की परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत हुआ जिसने बेल्जियम, ब्राजील, चीन और स्पेन के सदस्यों की समिति नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर परिषद् ने निर्णय दिया कि अपर-साइलेशिया का विभाजन कर दिया जाय। जर्मनी और पोलैंड ने निर्णय स्वीकार कर लिया। इस नवीन सीमा समझौते के फलस्वरूप अपर साइलेशिया के एक हिस्से पर जर्मनी की और दूसरे हिस्से पर, जिसमें खनिज पदार्थ के क्षेत्र थे, पोलैंड की प्रभुसत्ता कायम हुई।

संघ द्वारा न सुलझाये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विवाद
अथवा
राष्ट्रसंघ के पतन की कहानी

यह कहा जा चुका है कि जिन बड़े विवादों में बड़े देशों का हाथ होता था उन विवादों में मध्यस्थता करने में राष्ट्रसंघ प्रायः असफल होता था। अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के प्रधान और विशेष रूप से चिन्ताजनक विवादों में

राष्ट्रसंघ को असफलता का मुख बहुत कुछ इसलिये देखना पड़ा कि बड़े राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में विश्वास का केवल दिखावा किया, व्यवहार में वे अपनी स्वार्थपूर्ण नीतियों पर निरन्तर अग्रसर होते रहे। उनकी "कथनी और करनी का यह अन्तर" राष्ट्रसंघ के लिये अन्ततः अन्त्येष्टी क्रिया सिद्ध हुआ। १९२९ से १९४६ का युग राष्ट्रसंघ के प्रति महाशक्तियों के घोर विश्वासघात का युग रहा और इसलिये इस युग को राष्ट्रसंघ की मरण वेला कहा जा सकता है। यदि राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रसंघ के विधान के प्रति की गई शपथ का निष्ठापूर्वक पालन करते तो राष्ट्रसंघ की अन्य कमजोरियां स्वतः दूर हो जातीं और उसे अल्प काल में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त न करनी पड़ती। **राष्ट्रसंघ का इतिहास पाल बाकूअर (Paul Boncour) के इस कथन की सत्यता का साथी है कि, "यह राष्ट्रसंघ नहीं था जो असफल रहा, यह इसके सिद्धान्त नहीं थे जो अपर्याप्त पाये गये। यह तो वे राष्ट्र थे जिन्होंने इसकी उपेक्षा की। यह सरकारें थीं जिन्होंने इसका साथ छोड़ दिया।"[1]**

अब हम उन प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की चर्चा करेंगे जिनके समाधान में होने वाली असफलता राष्ट्रसंघ की असफलता की कहानी बन गई।

(१) विलना (Vilna) विवाद (१९२०-२२)—विलना नगर पोलैण्ड और लिथुआनियां के मध्य में स्थित था। यह नगर पहले लिथुआनियां की राजधानी रह चुका था, अतः इसकी अधिकांश आबादी लिथूनियन थी। युद्ध के उपरान्त जब लिथुआनियां के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई तो वर्साय संधि के अन्तर्गत विलना नगर पर लिथुआनियां के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया गया। किन्तु सन् १९२० में रूस के बाल्शेविकों ने विलना पर कब्जा कर लिया। चूंकि १७९५ से महायुद्ध के पूर्व तक इस पर पहले उसका आधिपत्य रह चुका था। १२ जुलाई १९२० को रूस और लिथुआनियां के मध्य एक संधि हुई जिसके अनुसार विलना पुनः लिथुआनियां को वापिस मिल गया रूसियों के हट जाने पर पोलैण्ड संघर्ष पर उतर आया क्योंकि उसकी पहले से ही विलना पर आंखें लगी हुई थीं। अब पोलैण्ड और लिथुआनियां में विलना पर सीधी लड़ाई छिड़ गई। पोलैण्ड ने राष्ट्रसंघ से अपील की। परिषद् ने तुरन्त ही वहां एक सैनिक कमीशन भेजा। ७ अक्टूबर १९२० को दोनों पक्षों ने एक युद्ध विराम समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके

---

1. "It is not the League that failed. It is not its principles which were found wanting. It was the nations which neglected it. It was the governments that abandoned it."
—*Paul Bancour*

अनुसार विलना लिथुआनियां में ही रहा। यह समझौता १० अक्टूबर से लागू होने वाला था किन्तु ९ अक्टूबर को ही एक स्वतन्त्र पोलिश कमाण्डर जनरल जैलीगोस्की ने पोलैण्ड की फौजों की सहायता से विलना पर अधिकार जमा लिया और लिथूनियनों को बाहर निकाल दिया। पोलैण्ड की सरकार ने न केवल इस कार्यवाही का उत्तरदायित्व लेने से ही इन्कार किया बल्कि यह भी कहा कि बिना जनमत संग्रह हुए विलना से उनके निकाले जाने का वह विरोध करेगा। पोलैण्ड ने एक संदिग्ध जनमत संग्रह द्वारा विलना को अपने राज्य का अंग बना लिया। इस पर लिथुआनियां ने १९२३ ई० में मेमल पर, जो वर्साय की संधि के द्वारा मित्र राष्ट्रों के अधिकार में था, कब्जा कर लिया। इधर इसकी प्रतिक्रियास्वरूप मित्र राष्ट्रों ने विलना पर पोलैण्ड के अधिकार को मान्यता प्रदान कर दी। समस्या इस प्रकार जटिलतर होती गई। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने दो वर्ष से भी अधिक समय तक झगड़े को सुलझाने के असफल प्रयत्न करने के बाद अन्त में ३ फरवरी १९२३ को दोनों देशों के बीच पुन: सीमा-निर्धारण किया जिसके अनुसार विलना पोलैण्ड में मिला दिया गया। लिथुआनियाँ के तीव्र प्रतिवाद की कोई सुनवाई नहीं हुई। संक्षेप में, पोलैण्ड ने अपनी शक्ति से विलना पर कब्जा कर लिया और इस प्रकार पोलैण्ड तथा लिथुआनियां का लम्बा विवाद समाप्त हो गया। राष्ट्र-संघ ने लिथुआनियां के साथ कोई न्याय नहीं किया और न ही वह दोनों पक्षों में समझौता करा सका। इसके विपरीत उसने विवाद का जो हल प्रस्तुत किया वह स्पष्टत: वर्साय-संधि के प्रतिकूल था और उसमें दुर्बल राज्य के विरुद्ध शक्ति सम्पन्न राज्य के प्रति पक्षपात की भावना परिलक्षित होती थी। हां, यह अवश्य हुआ कि संधि के प्रयत्नों से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव घटा ही, बढ़ा नहीं।

(२) कोर्फू (Corfu) विवाद (१९२३)—यह संघ के सम्मुख ऐसा प्रथम विवाद था जिसमें एक बड़ी शक्ति संलग्न थी और जिसने बड़ी शक्तियों के सम्बन्ध में संघ की वास्तविक कमजोरी को स्पष्ट कर दिया। यह विवाद इटली और यूनान के मध्य था और इसका जन्म यूनानी प्रदेश में यूनान तथा अल्बानिया की सीमा का निर्णय करने वाले कमीशन के इटालियन प्रति-निधियों की हत्या से हुआ था। इटली ने यूनान को सरकारी तौर पर क्षमा-याचना मांगने को कहा और साथ ही क्षति-पूर्ति के रूप में ५ दिन के भीतर ५ करोड़ डालर चुका देने की मांग की। इटली ने यह चुनौती स्वीकार करने के लिये केवल २४ घण्टे का समय दिया। यूनान ने चुनौती को ठुकराते हुए राष्ट्रसंघ में अपील की। इटली ने इसकी कोई परवाह न करते हुये यूनानी टापू पर अधिकार कर ... यूनान के कोर्फू नामक ... बरसाये और

लिया। परिषद् में इटली ने तर्क प्रस्तुत किया कि यह घरेलू मामला है जिसमें परिषद् के हस्तक्षेप को सहन नहीं किया जायगा। इटली ने कहा कि यह विषय राजदूतों के सम्मेलन का है। राष्ट्रसंघ ने मामले को पेरिस में राजदूतों के सम्मेलन को सुपुर्द कर दिया, वैसे भयभीत यूनान १ सितम्बर १९२३ को राष्ट्रसंघ और राजदूतों के सम्मेलन दोनों ही के समक्ष अपील कर चुका था। मामले पर राजदूतों के सम्मेलन में तो विचार हुआ ही, किन्तु दोनों देश परस्पर व्यक्तिगत वार्तालाप भी चलाते रहे। इस पारस्परिक बातचीत के द्वारा यह निश्चित हुआ कि यूनान हर्जाने के रूप में ५ करोड़ ३० लाख लायर (Lires, इटालियन सिक्का) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास उस समय तक के लिये जमा करा दे जब तक कि दावे की धनराशि के औचित्य पर न्यायालय का निर्णय न हो जाय। बाद में इटली ने इस हल को भी अस्वीकृत कर दिया। राजदूतों के सम्मेलन ने सिफारिश की कि यूनान को माफी मांगनी चाहिये, हत्या करने वालों को दण्ड दिया जाना चाहिये और ५ करोड़ डालर की क्षति पूर्ति कर देनी चाहिये तथा इन शर्तों की पूर्ति पर इटली द्वारा कोर्फू वापिस यूनान को लौटा देना चाहिये। सम्मेलन द्वारा दी गई व्यवस्था के अनुरूप सभी बातों की पूर्ति हो गई और यूनान तथा इटली पुनः मित्र बन गये। निस्सन्देह इस मामले को सुलझाने में राष्ट्रसंघ की विजय हुई, किन्तु यह स्पष्ट था कि यूनान को निर्बल होने का दण्ड मिला और यद्यपि इटली ने कोर्फू पर बम वर्षा करके यूनान को क्षति पहुंचाई थी, फिर भी मुआवजे के रूप में उसे पुरस्कार मिला। इससे जाहिर हो गया कि राष्ट्रसंघ बड़े देश के खिलाफ विश्वास और दृढ़ता के साथ कार्यवाही नहीं कर सकता। कोर्फू-विवाद का हल संघ के सिद्धान्तों और नियमों की पहली प्रबल अवहेलना थी। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि सम्पूर्ण निर्णय राजदूतों के सम्मेलन ने दिया था, संघ की परिषद् की इस मामले में पूर्ण उपेक्षा की गई थी।

(३) **ग्रानचाको (Gran Chaco) विवाद** (१९२८-३३)—२,८०० वर्गमील का कम आबादी वाला यह दलदली प्रदेश ८६ वर्ष तक दक्षिण अमेरिका के पैरागुए (Parraguay) तथा बोलीविया राज्यों के मध्य विवाद का विषय बना हुआ था। इन दोनों राज्यों के मध्य सीमा का निर्धारण कभी नहीं हुआ था। सम्पूर्ण चाको प्रदेश के लगभग १५,००० वर्गमील के क्षेत्र में तेल के कुओं का पता लगने से इस क्षेत्र का महत्व बढ़ गया और पैरागुए ने अपना आधिपत्य जमाने के लिये इस प्रदेश पर हमला कर दिया। विवादास्पद चाको जिले में ८ दिसम्बर १९२८ को सशस्त्र संघर्ष से शांति को निश्चित खतरा पैदा हो गया और राष्ट्रसंघ की परिषद ने मामले में हस्तक्षेप करते

हुये दोनों पक्षों से कहा कि वे विवादास्पद क्षेत्र के प्रश्न को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयत्न करें। दोनों राज्यों ने अन्तर अमेरिकन संघ (Inter American System) के निर्णय को मानना स्वीकार कर लिया। अन्तर-अमेरिकन संघ या सम्मेलन के प्रयत्नों से दोनों राज्यों के मध्य परस्पर आक्र-मण न करने सम्बन्धी समझौता हुआ। यह समझौता अस्थायी सिद्ध हुआ और १६३२ में विवादास्पद क्षेत्र पर दोनों राज्यों में पुनः संग्राम छिड़ गया। इस समय तक राष्ट्रसंघ पर्दे के पीछे ही रहा। जनवरी १६३३ में राष्ट्रसंघ ने चाको में एक खोज कमीशन भेजने का निश्चय किया जो जून तक तो कार्य ही आरम्भ नहीं कर सका और जब इसने कार्य शुरु भी किया तो इससे कोई स्थायी हल नहीं निकल सका। कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर १६३४ में परिषद् ने दोनों राज्यों को शस्त्र भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। बोली-विया ने प्रार्थना की कि मामला परिषद् से हटाकर साधारण सभा (Asse-mbly) को सौंप दिया जाय। सभा के शांति प्रस्ताव को बोलीविया ने तो मान लिया किन्तु पैरागुए ने उसे अस्वीकृत कर दिया। इस पर राष्ट्रसंघ द्वारा बोलीविया को शस्त्रास्त्र भेजने की पावन्दी हटा ली गई लेकिन पैरागुए के विरुद्ध यह प्रतिबन्ध जारी रहा। परिणाम यह हुआ कि पैरागुए ने संघ की सदस्यता त्याग दी। इस तरह पैरागुए और बोलीविया के मामले से राष्ट्रसंघ को हाथ धोना पड़ा। संघ से बाहर, अमेरिकन राज्यों द्वारा मध्यस्थता के प्रयत्न होते रहे और आखिर २१ जुलाई १६३८ को दोनों पक्षों के मध्य एक संधि हो गई। मध्य एवं पूर्वी चाको का बड़ा भाग (६५,३१३ वर्गमील) पैरागुए को और छोटा पश्चिमी भाग (४६,५६१ वर्गमील) बोलीविया को मिला।

(४) **मंचूरिया का संकट** (१६३१-३२)—१६३१ में राष्ट्रसंघ को अब तक के जीवन का सबसे भीषण संकट—मंचूरिया का संकट—प्रस्तुत हुआ। इस संकट का समाधान करने में राष्ट्रसंघ बुरी तरह असफल रहा और यही असफलता उसके विनाश का एक गम्भीर कारण बन गई। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि मंचूरिया-संकट ने एक तरह से राष्ट्रसंघ के भाग्य का निर्णय कर दिया। राष्ट्रसंघ ने इस समस्या को सुलझाने के लिये बहस, जांच-पड़ताल, कमीशन, प्रचार, पंचायत, नैतिक दबाव आदि विभिन्न अस्त्रों का प्रयोग किया किन्तु ये सभी अस्त्र एक-एक करके या सामूहिक रूप से असफल हो गये और राष्ट्रसंघ के लिये विनाश का बीज बो गये।

१६०५ की रूस-जापान संधि के अनुसार जापान को यह अधिकार मिला था कि वह दक्षिण मंचूरिया रेलवे की रक्षा के लिये मंचूरिया में १५,००० सैनिक रख ले जिनका प्रधान कार्यालय मुकदन (Mukden) होगा।

१८ सितम्बर १६३१ की रात्रि को जापान ने अचानक ही चीनियों पर आक्रमण कर दिया और लगभग १०,००० चीनी सैनिकों को भगाकर मुकदन पर कब्जा कर लिया। इस आक्रमण के बचाव में जापान की ओर से यह तर्क उपस्थित किया गया कि उपद्रवी चीनियों द्वारा रेलवे की सम्पत्ति को विनष्ट होने से बचाने के लिये ही जापान को विवश होकर यह कार्यवाही करनी पड़ी है। कुछ ही दिनों में जापान ने मुकदन के उत्तर में चीन के सभी शहरों पर कब्जा कर लिया। मंचूरिया का अधिकांश भू-भाग जापानी कब्जे में आ गया। जापान ने वहां मंचूकाओ सरकार के नाम से एक कठपुतली सरकार स्थापित करके उसे मान्यता देदी।

जापान का यह आक्रामक कार्य राष्ट्रसंघ के विधान का घोर अतिक्रमण था, क्योंकि चीन राष्ट्रसंघ का एक सदस्य था। २१ सितम्बर को चीन ने राष्ट्रसंघ के विधान की ११वीं धारा के अनुसार अपील करते हुये राष्ट्रसंघ से जापान के विरुद्ध सहायता की याचना की और सम्पूर्ण चीन-जापान विवाद को परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किया। २२ सितम्बर को जापान ने अपने बचाव में कहा कि उसका उद्देश्य चीनी-प्रदेश को अपने अधिकार में लेना नहीं है, बल्कि उसका यह कदम तो चीनी लुटेरों से अपनी रक्षा करना है। जापानी प्रतिनिधि ने यह भी कहा कि चूंकि इस मामले को चीन और जापान सीधी वार्तायें करके ही तय कर सकते हैं, अतः परिषद् को ऐसा कोई कदम न उठाना चाहिये जिससे इस वार्ता में किसी प्रकार की बाधा पड़े। जापान ने यह आश्वासन देकर ब्रिटेन को अपने पक्ष में कर लिया कि उसका वास्तविक उद्देश्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना है। परिषद् में चीनी शिकायत पर बहस होती रही और ३० सितम्बर को सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित किया गया कि जापानी सरकार यथासम्भव शीघ्र ही अपनी सेनायें वापिस बुलाले ताकि 'यथास्थिति' पुनर्स्थापित हो सके। इसके बाद परिषद् का अधिवेशन दो सप्ताह के लिये स्थगित कर दिया गया।

जापान ने राष्ट्रसंघ की परिषद् के उपरोक्त प्रस्ताव की पूर्ण उपेक्षा करते हुये मंचूरिया को अपने चंगुल में और भी कसकर जकड़ने का प्रयास जारी रखा। अब यह स्पष्ट हो गया कि जापान न केवल राष्ट्रसंघ के विधान का ही उल्लंघन कर रहा था, बल्कि पेरिस समझौते और वाशिंगटन और ९ राष्ट्र संधि का भी उल्लंघन कर रहा था। इन दोनों सन्धियों का सम्बन्ध संयुक्त राज्य अमेरिका से भी था। इसका यह स्पष्ट परिणाम हुआ कि अमेरिका में जापानी आक्रमण के महत्त्व को समझा जाने लगा और इस विवाद में अमेरिका की रुचि जागृत हो गई। जब जापानी आक्रमण शांत नहीं हुआ तो मजबूर होकर चीन ने ९ अक्टूबर को राष्ट्रसंघ से एक दूसरी अपील की।

१३ अक्टूबर को परिषद् की बैठक हुई जिसमें यह निर्णय लिया गया कि बैठक में भाग लेने के लिये अमेरिकन प्रतिनिधि को भी आमन्त्रित किया जाना चाहिये। जापान ने परिषद् के इस निर्णय का तीव्र विरोध करते हुए यह कहा कि विधान की १७वीं धारा के अन्तर्गत किसी गैर-सदस्य-राज्य को केवल तभी बुलाया जा सकता है जब कि वह विवाद में किसी एक पक्ष से सम्बद्ध हो। किन्तु परिषद् ने इस आपत्ति को अनुचित मानकर इसकी अवहेलना कर दी। अब जापान और संघ के मतभेद की खाई पूर्वापेक्षा अधिक चौड़ी हो गई। १६ अक्टूबर को अमेरिकन प्रतिनिधि ने परिषद् की बैठक में दर्शक की हैसियत से अल्पकाल के लिये पेरिस—समझौते की रक्षार्थ स्थान ग्रहण किया। अमेरिका के इस सहयोग से कूटनीतिक क्षेत्रों में काफी उत्साह बढ़ गया और यह समझा गया कि यदि राष्ट्रसंघ जापान को खो रहा था तो उसकी जगह उसे संयुक्त राज्य अमेरिका जैसा महान् राष्ट्र मिल रहा था। किन्तु अमेरिकन प्रतिनिधि की इस घोषणा से कि उसका राष्ट्र, परिषद् की कार्यवाही में केवल उसी सीमा तक भाग लेगा जिसका सम्बन्ध पेरिस—समझौते से होगा, संघ के राज्यों को बड़ी निराशा हुई।

परिषद् में मंचूरिया प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा। जापानी प्रतिनिधि ने इस बात पर बल दिया कि मंचूरियन कार्यवाही आत्म-रक्षा के उद्देश्य से की गई है और इसको युद्ध न मानकर 'पुलिस कार्यवाही' माना जाय। जापान ने यह रुख भी अपनाया कि चीन और जापान दोनों देश प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा इस मामले को तय कर सकते हैं। लेकिन, जब प्रत्यक्ष वार्ता के तरीकों पर बहस होने लगी तो प्रकट हो गया कि दोनों देशों के विचारों में उत्तर-दक्षिण का अन्तर था। चीन का आग्रह था कि किसी वार्ता के आरम्भ करने से पहले जापान को चीन की भूमि से अपनी फौजें हटा लेनी चाहिये जबकि जापान का कहना था कि सेनायें हटाने से पहले चीन से समझौते के लिये सीधी बातचीत की जाय। परिषद् में चीन को बहुमत का समर्थन था। फलतः २४ अक्टूबर को परिषद् ने यह प्रस्ताव पारित करना चाहा कि जापान १६ नवम्बर से पूर्व अपनी सेनायें मंचूरिया से हटा ले। जापान को छोड़कर प्रस्ताव के पक्ष में सभी सदस्यों ने वोट दिया। जापान के निषेधाधिकार (Veto-Power) के प्रयोग से प्रस्ताव पारित न हो सका। यह राष्ट्रसंघ की पहली बड़ी पराजय थी। जापान के इस कदम से समझौते का मार्ग भी निश्चित रूप से समाप्त हो चुका था।

१६ नवम्बर को ही परिषद् की दूसरी बैठक शुरू हुई जिसमें काफी वाद-विवाद के पश्चात् १० दिसम्बर को यह प्रस्ताव पास हुआ कि संघ का एक जांच-कमीशन सुदूर पूर्व में भेजा जाय। इस जांच आयोग का प्रस्ताव

स्वयं जापान ने प्रस्तुत किया। प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि आयोग को किसी भी दल की सैनिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा। आयोग के सम्बन्ध में प्रस्ताव में कहा गया था कि—"पूर्वी एशिया में राष्ट्रसंघ का एक आयोग भेजा जाय जो घटनास्थल पर जाकर इस बात की जांच करे कि चीन और जापान के बीच शान्ति भंग होने की आशंका पैदा करने वाली क्या ऐसी परिस्थितियां हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ सकता है।" ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और अमेरिका के प्रतिनिधि आयोग के सदस्य बनाये गये। ५ व्यक्तियों के इस आयोग के सभापति ब्रिटेन के लार्ड लिटन थे, अतः इसको लिटन-आयोग (Lytton-Commission) के नाम से पुकारा गया।

घटनास्थल पर पहुंचकर लिटन आयोग धीरे-धीरे अपना कार्य करने लगा किन्तु इसी बीच एक गम्भीर घटना और घटित हो गई। ८ जनवरी १९३२ को शंघाई में जापानी भिक्षुकों के एक दल पर चीनियों ने हमला किया, इस पर जापानियों ने शंघाई पर अपना आक्रमण शुरू कर दिया और उस पर अपना कब्जा कर लिया। मंचूरिया में अपना समर्थन करने वाली मंचुकाओ सरकार स्थापित करने की विधिवत् घोषणा जापान ने १८ फरवरी १९३२ को की। शंघाई युद्ध की तरफ संसार का ध्यान आकर्षित करते हुए चीन ने २९ जनवरी १९३२ को यह मांग की कि राष्ट्रसंघ के विधान की १०वीं, १५वीं और १६वीं धाराएं जापान के विरुद्ध लागू की जायं। चीन ने यह भी अनुरोध किया कि साधारण सभा के विशेष अधिवेशन में समस्या पर विचार हो। चीन का विचार था कि परिषद् में केवल बड़े राष्ट्रों का ही प्रतिनिधित्व है जो जापान के विरुद्ध कठोर कार्यवाही नहीं करना चाहते जबकि साधारण सभा में छोटे राष्ट्रों का बहुमत जापान के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्यवाही का समर्थन करेगा। चीन को आशा थी कि साधारण सभा द्वारा उसके प्रति न्याय हो सकेगा। पर, यह आशा भी व्यर्थ ही साबित हुई। १२ फरवरी १९३२ को विवाद साधारण सभा में भेजा गया और ३ मार्च को सभा का विशेष अधिवेशन हुआ। इस तरह मामला ऐसी जगह पहुंच गया जहां सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) के सिद्धान्त की वास्तविक जांच पहले-पहल होने वाली थी। अधिवेशन में विश्व-शांति और सामूहिक सुरक्षा जैसे विषयों पर सुन्दर-सुन्दर भाषण देने के अतिरिक्त कोई अन्य व्यावहारिक काम नहीं किया गया और लिटन आयोग की रिपोर्ट प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करने का निर्णय लेते हुए अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। वास्तव में केवल बड़े राष्ट्रों के समर्थन से ही जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही की जा सकती थी। बड़े राष्ट्रों में रूस और अमेरिका, जिनकी पूर्वी

एशिया की राजनीति में दिलचस्पी थी, संघ के सदस्य नहीं थे और ब्रिटेन जापान के अनैतिक कार्य का नैतिक समर्थन कर रहा था। परिषद् ने जापान से प्रार्थना की कि वह चीन की अखण्डता और स्वतंत्रता का हनन न करे, लेकिन यह प्रार्थना नगारखाने तूती की आवाज सिद्ध हुई।

चूंकि १६३१ के अन्त तक जापान ने लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी मंचूरिया पर अधिकार कर लिया, अतः संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव स्टिमसन (*Stimson*) ने जापान और चीन दोनों देशों को सूचित किया कि पेरिस समझौते के विरुद्ध किया गया कोई भी समझौता अमेरिकन सरकार को स्वीकार नहीं होगा। अमेरिका ने जापान द्वारा स्थापित मंचुकाम्रो की कठपुतली सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। कुछ और राष्ट्रों ने भी अमेरिका का अनुकरण किया, पर इससे कोई लाभ न होने वाला था। ३ मार्च १६३२ को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने 'स्टिमसन सिद्धान्त' का समर्थन करते हुए पूर्व में युद्ध बन्द करने पर बल दिया, इसके लिये १६ व्यक्तियों की समिति नियुक्त की और यह आग्रह किया कि जापानी फौजें शंघाई खाली कर दें। ब्रिटेन के प्रभाव से जापान ने शंघाई से अवश्य अपनी फौजें हटा लीं।

नवम्बर १६३२ में परिषद् को लिटन आयोग की विस्तृत रिपोर्ट मिली जिसमें चीन-जापान सम्बन्धों के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट किया गया कि मंचूरिया में चीन से अलग होने का कोई जन-आंदोलन नहीं हैं, यद्यपि चीनियों का रवैया जापानियों के प्रति उत्तेजनात्मक रहा है, किन्तु जापानी कार्यवाही का उद्देश्य जापानी व्यक्तियों और सम्पत्ति की रक्षा करना नहीं है, मंचूरिया में जापान का विशेष स्वार्थ है, मंचूकाम्रो शासन निरा ढोंग है और मंचूरिया में चीनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत स्वायत्त शासन की स्थापना होनी चाहिये। आयोग की इस रिपोर्ट पर परिषद्, साधारण सभा और १६ व्यक्तियों की समिति द्वारा विचार किया गया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में जापानी सेना को हटा लेने और मंचूरिया में स्वायत्त शासन की स्थापना की बात का समर्थन किया और यह भी माना कि जापान की कार्यवाही पुलिस कार्यवाही न होकर सैनिक कार्यवाही है, परन्तु इसने यह नहीं कहा कि जापान ने राष्ट्रसंघ के विधान का उल्लंघन किया है। जापान के नग्न और लज्जाहीन आक्रमण को केवल इसलिए भुला दिया गया कि पाश्चात्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों को यह आशा थी कि जापान अन्ततः सोवियत रूस पर आक्रमण करेगा। चीन और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के लिये उन्हें कोई परवाह न थी। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का यह एक विचित्र नमूना था जिसमें बड़ी मछली को छोटी मछली निगल जाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

बड़े विचार-विमर्श के बाद साधारण सभा ने जापान के कार्य की निन्दा की तथा लिटन-कमीशन की सिफारिशों को मानने का प्रस्ताव पास किया। सभा के ४४ सदस्यों में से ४२ ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, स्याम तटस्थ रहा और जापान ने विपक्ष में मत दिया। मतगणना के बाद जैसे ही परिणाम की घोषणा की गई, जापानी प्रतिनिधि-मण्डल के नेता ने अपने एक अत्यन्त संक्षिप्त भाषण में सभा की कार्यवाही पर खेद प्रकट करते हुए ये अन्तिम शब्द कहे—"राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करना अब जापान के लिए असंभव प्रतीत होता है।" तत्पश्चात् सभा के निर्णय के विरोध में जापानी प्रतिनिधि मण्डल सभास्थल से उठकर चला गया। बाद में २७ मार्च १९३३ को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की विधिवत् सूचना दे दी। आक्रमणकारी को सब कुछ मिला, आक्रान्त को कुछ नहीं।

मंचूरिया कांड ने राष्ट्रसंघ की दुर्बलता बड़े स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त कर दी। वह जापानी आक्रमण से चीन की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहा। राष्ट्रसंघ के निर्माण से दुनिया के लोगों में यह आशा लगी थी कि संसार में शान्ति एवं सद्भावना के एक नये युग का सूत्रपात हुआ है, लेकिन १२ वर्षों के अन्दर ही इस आशा पर पानी फिर गया। राष्ट्रसंघ के एक सदस्य पर बलात्कार होता रहा, राष्ट्रसंघ के विधान का उल्लंघन होता रहा, लेकिन इस सब को रोकने के लिये कोई सक्रिय अथवा व्यावहारिक कदम नहीं उठाया गया। शूमैन ने इसकी बहुत बड़ी जिम्मेवारी ब्रिटेन के विदेश मन्त्री सर जॉन साइमन पर डालते हुए लिखा है कि उसे यह विश्वास हो गया था कि जापान का प्रधान उद्देश्य 'साम्यवाद' से लड़ना है और वह सोवियत रूस पर हमले की तैयारी कर रहा है।[1] राष्ट्रसंघ की इस असफलता से विश्व पुनः राजनीतिक शक्ति (Power Politics) की ओर मुड़ गया, वाशिंगटन सम्मेलन द्वारा निर्मित संतुलन (Equilibrium) समाप्त हो गया और सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त एक कोरी कल्पना बन गया। राष्ट्रसंघ पर से लोगों का विश्वास जाता रहा और छोटे-छोटे राज्य भयभीत हो गये। सभी को ऐसा लगा जैसे राष्ट्रसंघ के नियम (Covenant), नौशक्तियों की संधि और पेरिस समझौता अब आंसू बहा रहे हों। मंचूरिया कांड ने राष्ट्रसंघ के और सामूहिक सुरक्षा के मृत्यु पट्टे (Death Warrant) पर हस्ताक्षर कर दिये, केवल खैर यही थी कि अभी तक इस मृत्यु का घंटा नहीं बजा था। बाद में मुसोलिनी ने सर्वप्रथम संघ की अर्थी का ढिंढोरा पीटा।

---

1. *Schuman* : International Politics, P. 520.

(६) **इटली-एवीसीनिया-युद्ध** (१९३४-३७)—मंचूरिया काण्ड का आघात राष्ट्रसंघ अभी ठीक से झेल भी नहीं पाया था और १९३२ में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत जेनेवा में चलने वाले निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता ने संघ की प्रतिष्ठा को एक और धक्का दिया था कि इसी समय १९३५ में इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ के एक अन्य सदस्य-राज्य एवीसीनिया पर आक्रमण करके राष्ट्रसंघ की बची हुई महत्ता को सदा-सर्वदा के लिए खत्म कर दिया।

एबीसीनिया उत्तर-पूर्वी अफ्रीका का ३·५ लाख वर्गमील का एक पिछड़ा हुआ स्वतन्त्र राज्य था। उस समय उसकी जनसंख्या लगभग एक करोड़ थी जिसका हब्शी जाति से सम्बन्ध था। इस देश में इस्लाम और ईसाई धर्मों के अनुयायी पाये जाते थे जिनका मुख्य पेशा कृषि था। यह देश अपनी खनिज सम्पत्ति के लिए प्रसिद्ध था। यहां के सम्राट हेल सिलासी-प्रथम (Haile Sellasie I) ने इसे आधुनिक सभ्यता की देनों से लाभान्वित करने का प्रयास किया और देश को एक नवीन संविधान दिया। लेकिन फिर भी सैनिक और आर्थिक दृष्टि से एवीसीनिया की दशा बड़ी शोचनीय थी।

इटली का अधिनायक मुसोलिनी प्राचीन रोमन साम्राज्य का स्वप्न लेते हुए नवीन इटालियन साम्राज्य की स्थापना का आकांक्षी था। १९३५ में अफ्रीका में उसके साम्राज्य निर्माण के लिए एवीसीनिया का प्रदेश ही अवशिष्ट था। इसके प्राप्त होने पर इटालियन सुमालीलैण्ड और इरिट्रिया के साथ मिलकर यह विशाल प्रदेश इटली के कच्चे माल की तथा खनिजों की प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन, और उसके तैयार माल की मण्डी बन सकता था। इटली को १८९६ में इसे जीतने के प्रयास में अडोवा में गम्भीर पराजय का मुख देखना पड़ा था अतः अपनी इस हार का बदला भी वह लेना चाहता था।

राष्ट्रसंघ के इतिहास में इटली-एवीसीनिया का यह विवाद अपना विशेष महत्व इसलिए रखता है क्योंकि इसमें इटली ने न केवल राष्ट्रसंघ के विधान का उल्लंघन किया अपितु अन्य अनेक संधियों की भी अवहेलना की। इस विवाद का महत्व इसलिए और बढ़ जाता है कि इस मामले में दोनों पक्षों को अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के लिए जितने प्रकार के संधि समझौते हो सकते हैं उनकी सुविधा प्रदान थी। इटली और एवीसीनिया दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य थे और दोनों एक दूसरे का मित्र होने का दावा करते थे। वास्तव में इटली के कहने से ही एवीसीनिया १९२३ में राष्ट्रसंघ का सदस्य बना था। इसके अतिरिक्त इटली, ब्रिटेन और फ्रांस के साथ १९०६ की उस संधि में भी शामिल था जिसमें एवीसीनिया की स्वतंत्रता बनाये

रखने का वादा किया गया था। १६२८ में इटली और एवीसीनिया ने स्थायी मित्रता की एक संधि पर हस्ताक्षर करके कसम खायी थी और दोनों ने ही अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की ऐच्छिक धारा (Optional Clause) पर हस्ताक्षर कर रखे थे जिसके अन्तर्गत कानूनी झगड़ों में न्यायालय का अनिवार्य हस्तक्षेप स्वीकार किया गया था। दोनों ने ही १६२६ के अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्ट झगड़ों के सामान्य एक्ट (General Act for the Pacific Settlement of Interantional Disputes) पर हस्ताक्षर किये थे और दोनों ही १६२८ के पेरिस-समझौते के हस्ताक्षर-कर्त्ता थे। परन्तु इतनी बातों के होते हुए भी इटली और एवीसीनिया के विवाद ने राष्ट्रसंघ के सम्मुख इतनी भीषण समस्या प्रस्तुत की कि उसे हल करने में अपने तमाम प्रयत्नों के बावजूद भी वह असफल रहा। इटली ने एवीसीनिया को धर दबोचा और राष्ट्रसंघ केवल देखता ही रह गया।

इटली और एवीसीनिया का यह विवाद एक बहुत ही छोटी घटना से शुरू हुआ। ५ दिसम्बर १६३४ को, दोनों राज्यों के मध्य सीमा की अस्पष्टता के कारण, वलवल (Walwal) नामक स्थान पर दोनों की सैन्य टुकड़ियों में अचानक मुठभेड़ हो गई। इस सैनिक झगड़े में ३० इटालियन सैनिक मारे गये और लगभग १०० घायल हो गये। दूसरे पक्ष के हताहतों की संख्या इससे भी अधिक थी। इस घटना पर दोनों ही तरफ से विरोध प्रकट किये गये। इटली ने साम्राज्य-निर्माण के इस स्वर्ण अवसर से पूरा लाभ उठाते हुये एवीसीनिया से क्षमा-याचना और भारी हरजाने की मांग की जब कि एबीसीनिया ने इस बात पर बल दिया कि १६२८ में दोनों देशों की हुई संधि के अनुसार यह झगड़ा मध्यस्थ को या पंच-निर्णय के लिये सौंप दिया जाय। वातावरण के तनाव के भय से एवीसीनिया ने १४ दिसम्बर १६३४ को राष्ट्रसंघ में अपने प्रदेश पर इटली के आक्रमण की शिकायत की। स्थिति यह थी कि दोनों ही पक्ष एक दूसरे को आक्रामक कह रहे थे। संघ ने इस प्रश्न पर कुछ दिनों तक तो इसलिये कोई कार्यवाही नहीं की कि उसका एक प्रभावशाली सदस्य फ्रांस इस समय जर्मनी के विरुद्ध इटली को अपना मित्र बनाने के लिये उत्सुक था, अतः वह उसको रुष्ट नहीं करना चाहता था। ३ जनवरी १६३५ को जब परिषद् की सभा हुई तो एवीसीनिया ने संविदा की धारा ११ का हवाला देते हुये इस प्रश्न को पुनः उठाया। राष्ट्रसंघ के कार्यों को टालने के लिये इटली इस झगड़े को पंच को सौंपने के लिये तैयार हो गया। झगड़े को तय करने के बजाय इटली ने इस समय का प्रयोग अपनी सैनिक तैयारियों के लिये किया। इधर एवीसीनिया ने अगले अधिवेशन तक के लिये अपने प्रार्थना-पत्र को देना रोक दिया।

इटली विवाद को पंच को सौंपने के लिये यद्यपि दिखावे के लिये सहमत हो गया था, किन्तु मई से पहले पंच नियत नहीं हो सके। ब्रिटेन ने यह कहकर राष्ट्रसंघ की कार्यवाही को आघात पहुंचाया कि पंच मई में नियुक्त किये जायेंगे। जब परिषद् मई में समवेत हुई तो उसने तीन महीने का समय निश्चित किया और दोनों देशों से दो-दो पंच नियुक्त किये। जब वलवल के राजनैतिक-स्तर का प्रश्न उठाया गया अर्थात् जब पंचों ने वलवल की सीमा निश्चित करनी चाही तो इटली के प्रतिनिधि ने उसकी यह कहकर अवहेलना कर दी कि एक पांचवें तटस्थ सदस्य की नियुक्ति होनी चाहिए। बाद में पांचवें निष्पक्ष पंच की नियुक्ति के ऊपर भी उसने आपत्ति प्रकट की। जब यह मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश हुआ तो उसने इटली का साथ दिया। इस तरह वलवल की सीमा निर्धारित करने का प्रश्न टल गया हालांकि निष्पक्ष पांचवें पव की नियुक्ति स्वीकार कर ली गई। ३ सितम्बर १९३५ को इन पंचों के कमीशन ने यह फैसला दिया कि वलवल की घटना के लिये इटली और एबीसीनिया दोनों ही उत्तरदायी नहीं हैं। ४ सितम्बर १९३५ को परिषद् ने उक्त रिपोर्ट के साथ इस प्रश्न पर अपना विचार समाप्त कर दिया।

परन्तु इस समय मुसोलिनी एबीसीनिया को हड़पने के लिये तुला हुआ था 'भले ही यह कार्य जेनेवा की सहायता से, उसकी सहायता के बिना हो या उसका विरोध करके हो" (With Geneva, without Geneva or against Geneva)। अतः अपने इस अनैतिक काम के लिये पृष्ठभूमि तैयार करने हेतु उसने परिषद् को एक स्मृति-पत्र प्रस्तुत किया जिसमें एबी-सीनिया पर विश्वासघात, संधिभंग और बर्बरता का आरोप लगाते हुये कहा गया कि इटली अपने गौरव की रक्षा के लिये ठोस कदम उठाने को मजबूर किया जा रहा है। वस्तुतः यह न केवल एक नवीन स्थिति थी बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्रसंघ को एक गम्भीर चुनौती थी। एक तरह से यह सम्पूर्ण मानव-जाति को ही चुनौती थी क्योंकि राष्ट्रसंघ मानवता की आशाओं और विश्वासों का आधार-स्तम्भ था। इटली ने अपने तथाकथित गौरव की रक्षा के लिए जब पूर्वी अफ्रीका में सेनायें भेजना आरम्भ कर दिया तो १५वी धारा के अन्तर्गत एबीसीनिया ने फिर राष्ट्रसंघ से अपील की। इस पर परिषद् ने मेड्रिगा (Madriaga) की अध्यक्षता में पांच व्यक्तियों की एक समिति की स्थापना की और उसे शांतिपूर्ण हल के बारे में सुझाव तैयार करने को कहा। इस समिति में ब्रिटेन, पोलैंड, टर्की, स्पेन और फ्रांस के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया। इस समिति ने भी इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति को अप-नाया और एबीसीनिया में इटली के आर्थिक विकास के लिए [illegible]

मानते हुये एबीसीनिया के कुछ प्रदेश इटली को सौंप देने का प्रस्ताव किया। मुसोलिनी ने इस व्यवस्था का कड़ा विरोध करते हुये घोषणा की कि "मैं रेगिस्तानों को इकट्ठा करने वाला नहीं हूं।"[1] ६ सितम्बर को मुसोलिनी ने कहा कि "यदि सारा एबीसीनिया भी उसे चांदी की थाली में भेंट किया जाय तो भी वह उसे अस्वीकार कर देगा, वह इसे शक्ति से जीतेगा।" १६ सितम्बर को उसने इस सम्बन्ध में मेड्रियागा समिति के सुझावों को ठुकरा दिया। बाद में परिषद् ने १३ व्यक्तियों की दूसरी समिति समझौता कराने के लिए स्थापित की, किन्तु मुसोलिनी ने इस समिति के प्रस्ताव भी रद्द कर दिये। इस प्रकार इटली द्वारा सान्त्वना और मध्यस्थता का आधार पूर्णतः ठुकरा दिया गया।

२६ सितम्बर को सम्राट हेल सिलासी ने, इटली की ओर से युद्ध की आशा करते हुये, आत्मरक्षा के लिये सेनाओं के परिचालन की आज्ञा दी। उधर इटली एबीसीनिया पर आक्रमण के लिए सैनिकों, विमानों और टैंकों के साथ स्वेज नहर से होकर पहले ही आगे बढ़ आया था। १ अक्टूबर १९३५ को मुसोलिनी ने "आत्म रक्षा" के वहाने इटालियन सेनाओं को मोर्चों पर भेज दिया और इन्होंने एबीसीनिया पर चढ़ाई कर दी। इटली ने एक ओर तो आक्रमण कर दिया और दूसरी ओर राष्ट्रसंघ को सूचित किया कि एबीसीनिया ने इटली के विरुद्ध युद्ध का एलान कर दिया है, अतः वह सुरक्षात्मक कदम उठा रहा है। इटली के आक्रमण के चार दिन बाद ७ अक्टूबर को परिषद् ने इटली के आरोप का खण्डन करते हुये उस पर यह उत्तरदायित्व डाला कि वह राष्ट्रसंघ के संविदा का उल्लंघन कर युद्ध करने के लिये आगे बढ़ रहा है। परिषद् ने शीघ्र ही साधारण सभा का आपातकालीन अधिवेशन बुलाया जिसने ११ अक्टूबर को परिषद् के निर्णय को स्वीकृति प्रदान कर दी। सभा ने सब सदस्यों को इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने को कहा और इसके लिये १८ व्यक्तियों की एक 'समन्वय समिति' (Co-ordination Committee) स्थापित की। १६ अक्टूबर को इटली, अलबानिया, आस्ट्रिया और हंगरी को छोड़कर अन्य सब देशों ने एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया कि एबीसीनिया को शस्त्र निर्यात पर प्रतिबन्ध को हटाकर वही प्रतिबन्ध इटली के विरुद्ध लागू कर दिया जाय, इटली को ऋण तथा बैंकों से उधार देना बन्द कर दिया जाय, इटली से समस्त आयात रोक दिया जाय, इटली को कच्चे माल का निर्यात बन्द कर दिया जाय और राष्ट्रसंघ के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग कायम करके प्रतिबन्धों से हुई क्षति को कम

---

1. "The League Council seems to think that I am a Collector of deserts."

किया जाय। कनाडियन प्रतिनिधि का इटली को तेल भेजने पर प्रतिबन्ध का प्रस्ताव मुसोलिनी के रोष के भय से पास नहीं किया गया क्योंकि उसने यह स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि तेल के प्रतिबन्ध को वह अपने प्रति शत्रुतापूर्ण कार्य समझेगा।

१८ नवम्बर १९३५ को राष्ट्रसंघ के इतिहास में पहली बार एक देश के विरुद्ध उपरोक्त आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये थे। किन्तु ये प्रतिबन्ध सफल नहीं हुये क्योंकि सितम्बर १९३५ में फ्रेंच विदेशमन्त्री लेवाल (Laval) और ब्रिटिश विदेशमन्त्री सर सेमुअल होर (Sir Samual Hoare) के मध्य एक गुप्त समझौते में यह निश्चय किया जा चुका था कि यदि इटली पर प्रतिबन्ध लगाये गये तो सैद्धांतिक रूप से इनका समर्थन करते हुये भी वे इटली के लिये स्वेज नहर बन्द करने और उसके प्रति सैनिक कार्यवाही करने का विरोध करेंगे। इसी तरह जब नवम्बर–दिसम्बर १९३५ में राष्ट्रसंघ में इटली के विरुद्ध तेल पर प्रतिबन्ध लगाने का विचार हो रहा था तो दोनों विदेशमन्त्रियों ने पेरिस में बैठकर एक दूसरा शर्मनाक गुप्त समझौता किया जिसमें यह माना गया कि एबीसीनिया का प्रश्न इतने महत्व का नहीं है कि जिस पर इटली से युद्ध छेड़ा जाय। यह तय किया गया कि एक तरफ तो इटली को तेल भेजने के प्रतिबन्ध को लागू करने की कार्यवाही में विलम्ब करना चाहिए और दूसरी तरफ एबीसीनिया को इस बात के लिये प्रेरित करना चाहिए कि वह टिगरे तथा अडोवा का प्रदेश इटली को दे दे, दक्षिणी एबीसीनिया को इटली के आर्थिक विस्तार और बस्ती के लिये सुरक्षित रखे तथा बदले में इटली एबीसीनिया को अस्सब का बन्दरगाह दे। जहां ब्रिटेन और फ्रान्स राष्ट्रसंघ के भीतर रहते हुये कूटनीतिक दांव–पेचों से इटली की सहायता कर रहे थे वहां संयुक्त राज्य अमेरिका उसे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी मात्रा में तेल भेज रहा था। लेवाल और होर के दुर्भाग्य से उनकी गुप्त योजना का भण्डा फूट गया। ब्रिटेन में इस योजना की इतनी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि होर को त्यागपत्र देना पड़ा। इधर एक महीने बाद लेवाल को भी होर के पदचिन्हों पर चलना पड़ा। दोनों देशों की जनता को इस बात का बहुत ही खेद हुआ कि उनकी सरकारों द्वारा एबीसीनिया और राष्ट्रसंघ के आदर्श के प्रति विश्वासघात किया गया है।

जनवरी १९३६ से इटली की सेनायें एबीसीनिया को बड़ी तेजी से जीतने लगीं। उन्नत और नये अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित इटली की सेनाओं के सामने एबीसीनिया का टिकना असम्भव था। इटली ने युद्ध सम्बन्धी और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का खुलकर उल्लंघन किया। १ मई को एबीसीनिया की राजधानी आदिसअबाबा पर इटली का अधिकार हो गया और ९ मई को

इटली के राजा को एबीसीनिया का सम्राट घोषित किया गया। अब अन्य राज्यों ने भी इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों को वापिस लेना आरम्भ कर दिया।

३० जून को साधारण सभा की बैठक शुरू हुई। भागकर आये हुए सम्राट हेलसिलासी ने स्वयमेव सभा में उपस्थित होकर इटली के बर्बरतापूर्ण दुष्कृत्यों का रोमांचकारी वर्णन किया और सहायता की अपील की। किन्तु इसका किसी पर कोई प्रभाव न पड़ा। सोवियत प्रतिनिधि को छोड़कर किसी ने एबीसीनिया का समर्थन नहीं किया। १५ जुलाई को इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिये गये। इस प्रकार एबीसीनिया की सभी मांगों को ठुकराते हुए सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया गया और एबीसीनिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया गया। अध्याय की दुखद समाप्ति यहीं नहीं हुई। चूंकि राष्ट्रसंघ में एबीसीनिया को अभी भी प्रतिनिधित्व प्राप्त था, अतः इसके विरोध में इटली ने राष्ट्रसंघ का बहिष्कार कर दिया। अब ब्रिटेन और फ्रान्स एबीसीनिया को राष्ट्रसंघ से निकालकर इटली को राष्ट्रसंघ में पुनः वापिस लेने के दांव-पेच खेलने लगे। राष्ट्रसंघ के महासचिव श्री एवेनोल, मुसोलिनी से क्षमा मांगने स्वयं रोम गये। तत्पश्चात् ब्रिटेन और फ्रान्स के प्रयास से एबीसीनिया राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। नवम्बर १९३८ तक ब्रिटेन और फ्रान्स ने इटली की एबीसीनिया विजय को स्वीकार कर लिया और राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धान्तों को तिलान्जलि दे दी। अपने दोस्तों की उस उदारता का मुसोलिनी ने केवल १९ महीनों बाद ही बड़ा माकूल उत्तर दिया। उसने इन दोनों ही देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके बता दिया कि वह उनसे बढ़कर चालाक और अवसरवादी है।

इस सम्पूर्ण इटली—एबीसीनिया विवाद का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट है कि इटली के समस्त अनैतिक कार्य राष्ट्रसंघ की नजरों के नीचे होते रहे और राष्ट्रसंघ ने चुपचाप आत्महत्या कर ली। राष्ट्रसंघ के इतिहास में पहली बार युद्ध रोकने के लिए विधान की १६वीं धारा के अनुसार प्रतिबन्ध लगाये गये थे, लेकिन इन प्रतिबन्धों का पूरी कड़ाई से पालन कराने के कभी प्रयत्न नहीं किये गये। ब्रिटेन, फ्रान्स आदि महाशक्तियों की निन्दनीय प्रवृत्ति ने राष्ट्रसंघ को सफलता के मार्ग पर बढ़ने ही नहीं दिया। राष्ट्रसंघ ने स्वयं को बड़े राष्ट्रों के हाथ का खिलौना बना लिया। गेथोर्न हार्डी के कथनानुसार इस घटना से युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास में एक नया मोड़ आरम्भ हुआ। इटली की विजय राष्ट्रसंघ पर एक सांघातिक आघात था जिसने उसके रहे-सहे प्रभाव को भी नष्ट कर दिया। हेलसिलासी के ये शब्द अन्ततः सत्य सिद्ध हुए कि—"**शांति बनाये रखने के कई विभिन्न ढंग हैं। एक ढंग तो न्यायपूर्वक**

शांति की रक्षा करना है और दूसरा किसी भी मूल्य पर शांति बनाये रखना है। राष्ट्रसंघ अपनी आत्महत्या कर लेगा यदि वह किसी भी मूल्य पर-आक्रान्ता के चरणों में अपने सदस्य-राज्य की बलि देकर शांति स्थापित करेगा।" वास्तव में एबीसीनिया के मामले में ऐसा ही हुआ। यह एबीसीनिया की स्वतंत्रता की नहीं अपितु स्वयं राष्ट्रसंघ की हत्या सिद्ध हुई।

(७) **स्पेन का गृहयुद्ध** (१९३६-३९)—मुसोलिनी के सांघातिक प्रहार से राष्ट्रसंघ के अस्थिपंजर ढीले हो गये थे और अब वह तेजी से पतन की ओर जा रहा था। हर छोटे-बड़े मसले में उसकी प्रभावहीनता प्रकट हो रही थी। स्पेन के मामले में भी राष्ट्रसंघ को मुंह की खानी पड़ी। जनरल फ्रांको के नेतृत्व में स्पेन के प्रतिक्रियावादी तत्वों ने उदारवादी गणतंत्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके एक भयंकर गृहयुद्ध का सूत्रपात किया जिसमें इटली और जर्मनी ने फ्रांको की पूरी सहायता की। जब गणतंत्रीय सरकार ने अपने को असहाय पाया तो उसने राष्ट्रसंघ से सहायता मांगी। लेकिन सहायता देने की बात तो दूर रही, इङ्गलैण्ड और फ्रांस ने संघ से पृथक एक 'अहस्तक्षेप समिति' (Non-Intervention Committee) की स्थापना करके दोनों पक्षों को शस्त्र और ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इटली और जर्मनी ने इस प्रतिबन्ध की पूर्ण उपेक्षा करते हुए शस्त्रास्त्रों से जनरल फ्रांको को सहायता देना जारी रखा। २ अक्टूबर १९३७ को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने आदेश दिया कि स्पेन की भूमि पर जो विदेशी फौजें पड़ी हुई हैं, वे अविलम्ब हटा ली जायं। इटली और जर्मनी ने फ्रांको की सहायतार्थ पड़ी हुई अपनी फौजों को हटाने से साफ इन्कार कर दिया और राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। स्पेन की गणतंत्रीय सरकार के लिये अहस्तक्षेप की यह नीति बड़ी घातक सिद्ध हुई। ११ मई १९३८ को उसने राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया कि अहस्तक्षेप नीति का अन्त किया जाय और उसे विदेशों से शस्त्रास्त्र मंगाने की अनुमति प्रदान की जाय। परिषद में सोवियत रूस के अतिरिक्त और किसी ने इस प्रार्थना का समर्थन नहीं किया। ब्रिटेन, फ्रांस और अन्य देशों के विरोध के कारण अहस्तक्षेप की नीति को समाप्त करने का प्रस्ताव पास नहीं हो सका। परिणाम यह हुआ कि फ्रांको का दल गृहयुद्ध में जीत गया और राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्यों से तुरन्त ही उसको मान्यता भी मिल गई। यह राष्ट्रसंघ की एक महान् असफलता थी क्योंकि उसी की उपेक्षा और शक्ति-शाली ताकत के कारण स्पेन के जनतंत्री शासन का अन्त हो सका।

(८) **चीन-जापान युद्ध** (१९३७-१९४५):—७ जुलाई १९३७ को लुकावोचिग्राग्रो में जापानी और चीनी सैनिकों के बीच एक [illegible] मुठभेड़ के उपरान्त जापान ने युद्ध का ऐलान किये बिना ही चीन पर

ृमला करके उसके विभिन्न प्रदेशों को जीतना आरम्भ कर दिया। जापानी वेदेश मन्त्री हिरोता ने घोषणा की कि विशाल चीनी दीवार के दक्षिण ं एक नये कड़ी–राज्य की स्थापना की जायगी और जापान की नीति, वयं को, चीनी तथा साम्यवादी आक्रमण से बचाना है। सितम्बर १६३७ ं चीन ने राष्ट्रसघ से अपील की और धारा १६ तथा १७ के अनुसार जापान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की मांग की। चीन का मामला एक सुदूरपूर्वी परामर्शदात्री समिति को सौंप दिया गया। साधारण सभा ने चीन की शिकायतें स्वीकार करते हुए निश्चय किया कि संघ के सदस्य-राष्ट्रों को ऐसी कोई भी कार्यवाही नहीं करनी चाहिये जिससे चीन की स्थिति कमजोर बने। सदस्य राष्ट्रों से चीन की मदद करने की अपील भी की गई। १६ सितम्बर १६३८ में हुए राष्ट्रसंघ की साधारण सभा के १६वें अधिवेशन में चीन ने जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने की पुनः प्रार्थना की किन्तु इस बार यह साफ कह दिया गया कि किसी भी कार्यवाही के बारे में कोई कदम उठाना सदस्य राष्ट्रों की इच्छा पर है, उन पर कोई निर्णय जबरदस्ती नहीं लादा जा सकता। २८ सितम्बर, १६३८ को परिषद् ने यह निर्णय दे दिया कि जापान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते। इस पर चीन के प्रतिनिधि ने कठोर किन्तु सच्चे शब्दों में संघ की आलोचना करते हुए कहा कि राष्ट्रसंघ "मिश्र की ममी की तरह सम्पूर्ण भोग–ऐश्वर्य के साधनों से सम्पन्न होता हुआ भी निर्जीव हो चुका है।"[1]

चीन को राष्ट्रसंघ से कोई सहायता न मिलते देख साम्राज्यवादी जापान आगे बढ़ता गया। सन् १६४१ के अन्त में चीनी युद्ध द्वितीय विश्व युद्ध में परिवर्तित हो गया। इस तरह चीन की जापानी हमले से रक्षा न कर सकने के कारण राष्ट्रसंघ की असफलता की कहानी में एक और अध्याय जुड़ गया।

(६) **रूसी–फिनिश-युद्ध (१६३६-४०)**:—रूसी–फिनिश युद्ध ने राष्ट्रसंघ की अन्त्येष्टि क्रिया कर दी। ३० नवम्बर १६३६ को सोवियत रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण किया। फिनलैण्ड ने राष्ट्रसंघ की धारा ११ और १५ के अन्तर्गत अपील करते हुए राष्ट्रसंघ से प्रार्थना की कि साम्यवादी आक्रमण से उसकी रक्षा की जाय और आक्रमणकारी के विरुद्ध अविलम्ब कठोर कार्यवाही हो। इस बार राष्ट्रसंघ ने बड़ी तत्परता से कार्य करते हुए घोषणा की कि सोवियत रूस ने राष्ट्रसंघ के संविदा का

---

1. "To be no more than an Egyptian mummy dressed up with all the luxuries and splendours of living but devoid of life."
—*Schuman* : International Politics (4th Ed.) P.226.

उल्लंघन किया है, अतः वह संघ का सदस्य बने रहने का अधिकारी नहीं है। यद्यपि रूस को राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर दिया गया किन्तु फिनलैण्ड को इससे कोई लाभ नहीं पहुंचा और रूसी आक्रमण जारी रहा। हां इतना अवश्य हुआ कि फिनलैण्ड की शोचनीय दशा देखते हुए राष्ट्रसंघ के कुछ सदस्यों ने उसे नैतिक और वस्तुरूप में अल्प सहायता दी। यह अपर्याप्त सहायता निष्प्रभाव सिद्ध हुई और १२ मार्च १९४० को फिनलैण्ड ने रूसी फौजों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।

यह उल्लेखनीय है कि जापान, इटली और जर्मनी को राष्ट्रसंघ के विधान की घोर अवहेलना करने पर भी संघ से निष्कासित नहीं किया गया था। सोवियत रूस के विरुद्ध इस तरह का प्रस्ताव केवल इसीलिये पास हो सका क्योंकि इस समय राष्ट्रसंघ के अधिकांश सदस्य साम्यवाद के घोर विरोधी थे और उसे फासिज्म से भी अधिक भयानक समझते थे। किन्तु यदि सच पूछा जाय तो शूमैन के शब्दों में १९३९ तक रूस ही एक मात्र ऐसी महाशक्ति थी जिसने राष्ट्रसंघ के नियमों का पालन करते हुए उसे सामूहिक सुरक्षा के लिये प्रभावशाली साधन बनाने का प्रयत्न किया। जो भी हो, फिनलैण्ड के मामले में संघ द्वारा दिखाई गई तत्परता राष्ट्रसंघ के दीप-निर्वाण की बुझने से पहले की अन्तिम चमक थी जो फिनलैण्ड की प्राणरक्षा में असफल रही।

राष्ट्रसंघ को मुर्दा बनाने का प्रभावशाली प्रयत्न [illegible] में शुरू हुआ था और अन्त में राष्ट्रसंघ को दफनाने का काम १९४६ में किया गया। ८ अप्रेल को राष्ट्रसंघ का अन्तिम अधिवेशन जेनेवा में शुरू हुआ और १९ अप्रेल को साधारण सभा में एक प्रस्ताव स्वीकार करके राष्ट्रसंघ का विघटन कर दिया। प्रस्ताव में कहा गया:—

"आज से, वर्तमान साधारण सभा के अधिवेशन के अन्त से राष्ट्रसंघ का अस्तित्व समाप्त हो जायगा, सिवाय अपने मामलों को समाप्त करने के।"

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

राष्ट्रसंघ की स्थापना विश्व-इतिहास का एक नया मोड़ थी। युद्ध को समाप्त कर शान्ति स्थापना के लिये इसका निर्माण मानवता के इतिहास में एक अभूतपूर्व प्रयास था। यह वह प्रथम संस्था थी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में 'विधि-शासन' (Rule of Law) की स्थापना करने की आशा की जाती थी। यह कहा गया था कि इसका उद्देश्य "आने वाली पीढ़ियों की युद्ध की तांडव से रक्षा करना है," "संसार को लोकतन्त्र के लिये सुर-क्षित स्थान बनाना है" और "एक ऐसी शान्ति की स्थापना करना है जो

न्याय पर आश्रित हो" किन्तु यह मानवता का दुर्भाग्य था कि राष्ट्रसंघ अपने उद्दीप्त आदर्शों, महत्वाकांक्षी स्वप्नों और गौरवपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल नहीं हो सका। वह मानव जाति को युद्ध की विभीषिका से नहीं बचा सका, विश्व को न्यायोचित शान्ति और सुरक्षित प्रजातन्त्र देने में असफल रहा। अपने गम्भीर प्रयत्नों के बावजूद भी यह संस्था निःशस्त्रीकरण के अपने स्वप्न साकार न कर सकी, प्रत्युत् शस्त्रीकरण की दौड़ और भी तीव्र हो गई। राष्ट्रसंघ केवल कुछ छोटे विवादों का समाधान करने में अवश्य सफल हुआ किन्तु बड़े और महत्वपूर्ण विवादों का समाधान करने में पूरी तरह असमर्थ रहा। राष्ट्रसंघ की इस असफलता के कारण एक से अधिक थे जिन्हें जानना आवश्यक होगा।

(१) **संवैधानिक निर्बलता**:—राष्ट्रसंघ की असफलता का एक प्रमुख कारण उसकी संवैधानिक निर्बलता थी। विधान का प्रथम सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके पास अपने निर्णयों का पालन कराने के लिये कोई अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस अथवा सेना नहीं थी। इस अवस्था में अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये संघ के पास एक मात्र मार्ग यही था कि वह अपने सदस्य-राज्यों से प्रार्थना करे। सदस्य राज्यों के लिये यह अनिवार्य नहीं था कि वे संघ की प्रार्थना को मानें ही। दूसरे शब्दों में संघ उन्हें बाधित करने की सामर्थ्य नहीं रखता था। संविधान का दूसरा महत्वपूर्ण दोष यह था कि ११वीं धारा के अनुसार यह व्यवस्था थी कि किसी भी राज्य को अपराधी घोषित करने का निर्णय परिषद् को सर्वसम्मति से लेना चाहिये। राजनीतिक प्रतिद्वन्दिता का तात्कालिक वातावरण में परिषद् की सर्वसम्मति की उपलब्धि स्पष्टतः अत्यन्त कठिन थी, और यदि किसी प्रकार ऐसा हो भी जाय तो भी कोई राष्ट्र इसकी उपेक्षा कर सकता था। तीसरा संवैधानिक दोष राष्ट्रसंघ की जटिल कार्य-पद्धति से सम्बन्धित था। संघ की कार्य-पद्धति इतनी पेचीदा थी कि किसी समस्या पर बहस को बहुत लम्बा खींचा जा सकता था अथवा स्थगित किया जा सकता था। बहस प्रायः इतनी लम्बी खिंच जाती थी कि आक्रामक राष्ट्र के विरुद्ध प्रभाव-शाली कार्यवाही का समय ही समाप्त हो जाय। उदाहरणार्थ, जब जापान ने मंचुरिया पर आक्रमण किया तब राष्ट्रसंघ द्वारा लिटन आयोग की नियुक्ति करने व उसे चीन भेजने में इतनी अधिक देरी कर दी गई कि आयोग के वहां पहुंचने से पहले ही जापान सम्पूर्ण मंचुरिया पर अपना आधिपत्य जमा चुका था। चौथा महत्वपूर्ण संवैधानिक दोष यह था कि संघीय संविदा ने युद्ध का पूर्ण वर्जन नहीं किया था अपितु आक्रामक और रक्षात्मक युद्ध में अन्तर प्रगट करते हुए रक्षात्मक युद्ध को वैध माना। इस तरह युद्ध को

प्रत्येक परिस्थिति में बुरा नहीं बताया गया था बल्कि कुछ परिस्थितियों में युद्ध की अवहेलना करने को कहा था, अर्थात् यदि ये परिस्थितियां न हों तो युद्ध किया जा सकता था। जीन रे (Jean Ray) ने स्पष्ट लिखा है कि इससे समझौते (Covenant) के निर्माताओं की कायरता झलकती है और इस कायरता ने निश्चित रूप से संघ को बड़ी असमंजसपूर्ण स्थिति में डाल दिया था, क्योंकि इससे विरोधी विचार पर जोरदार शब्दों में प्रभाव नहीं डाला गया था, अतः समझा यही गया कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने का एक साधारण तरीका है। युद्ध न करने की सीमायें केवल अपवादरूप थीं, नियम तो युद्ध को अपनाने का था।[1]

(२) **संयुक्त राज्य अमेरिका का असहयोग**—राष्ट्रसंघ के लिये यह बड़े दुर्भाग्य की बात हुई कि उसके सबसे बड़े समर्थक संयुक्त राज्य अमेरिका ने ही उसमें सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। राष्ट्रसंघ की स्थापना अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन के अथक प्रयासों के फलस्वरूप हुई थी किन्तु अमेरिकन सीनेट ने संघ के सदस्यता-प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और इस तरह संघ अपने प्रबल समर्थक के सहयोग से वंचित हो गया। गेथोर्न हार्डी के शब्दों में "एक बालक यूरोप के दरवाजे पर अनाथों की भांति छोड़ दिया गया जिसके चेहरे-मोहरे पर उसकी अमेरिकन पैतृकता स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही थी।"[2] अमेरिका की पृथकता ने संघ की कार्यक्षमता पर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूप में बुरा प्रभाव डाला। प्रथम, संघ का संविधान अमेरिका पर लागू नहीं हो सकता था, अतः यदि किसी

---

1. "We are convinced that this timidity of the authors of the covenant has serious consequences and puts in jeopardy the new system which they tried to erect. As a matter of fact, since the contrary opinion was not clearly expressed, it remained tacitly admitted that war is a solution, the normal solution, of international conflicts. These obligations, as a matter of law, are presented only as exceptions, the implicit rule is the recourse to war."
   —*Mr Jean Ray*: Quoted by Morgenthau, op. cit. P. 44[illegible]

2. "An infant has been abandoned on the doorstep of Europe whose every feature unmistakably proclaimed its trans-Atlantic paternity".
   —*Gathorne Hardy* : A Short History of International Affairs P. [illegible]

आक्रामक राज्य के विरुद्ध कोई आर्थिक प्रतिबंध लगाता तो वह राज्य अपनी आवश्यकता की चीजों का आयात अमेरिका से कर सकता था। दूसरे, अमेरिका की पृथकता के कारण राष्ट्रसंघ पर आदर्शवाद का प्रभाव मुरझा गया और संकीर्ण एवं संकुचित राष्ट्रवाद पनपता गया। पेरिस के शांति-सम्मेलन में अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने फ्रांस और ब्रिटेन की संकीर्ण, राष्ट्रवादी स्वार्थ-साधक नीतियों का घोर विरोध किया था। अब वही विल्सन संघ में अनुपस्थित था, इसलिये पार्थक्यवादियों को अपनी नीति कार्यान्वित करने का पूरा मौका मिला जिसका विश्व–राजनीति पर बुरा प्रभाव पड़ा। तीसरे, अमेरिका द्वारा संघ का सदस्य न बनने से 'अतृप्त-राज्यों' के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया और वे अमेरिका का अनुसरण करते हुए राष्ट्रसंघ को छोड़ने लगे। चौथे, अमेरिका के संघ में न होने से जहां एक ओर संघ की अपने सदस्यों को आक्रमणों से सुरक्षित करने की क्षमता कम हो गई, वहां दूसरी ओर संघ के समान एक विश्वव्यापी संगठन के कार्य–क्षेत्र से नई दुनिया का एक विशाल प्रदेश निकल गया। इससे संघ की सार्वभौमिकता को गम्भीर आघात पहुंचा। यदि अमेरिका संघ का सदस्य होता तो जापान का मंचूरिया पर तथा इटली का एबीसीनिया पर आक्रमण अधिक सफलता के साथ रोका जा सकता था। अमेरिका के संघ-परित्याग का पांचवां परिणाम बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। इससे फ्रांस की सुरक्षा के लिये दी गई एंग्लो–अमेरिकन गारन्टी व्यर्थ हो गई। इस गारन्टी अथवा आश्वासन के आधार पर ही फ्रांस ने पेरिस के शान्ति–सम्मेलन में राइन के पश्चिमी तट पर जर्मन प्रभुत्व से सर्वथा स्वतंत्र राज्य बनाने की मांग छोड़ी थी। अमेरिका के संघ में शामिल न होने से फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिये बहुत चिंतित हो गया और सुरक्षा की खोज में पड़कर वह यूरोप में गुटबंदियों का जाल बिछाने लगा। फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध जिस उत्तेजनात्मक नीति का अनुसरण किया, उससे न केवल संघ के उद्देश्यों बल्कि विश्व–शांति को भी गम्भीर आघात पहुंचा।

(३) **सार्वभौमिकता का अभाव या स्वरूप सम्बन्धी कमजोरी**—राष्ट्रसंघ की एक बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें शक्तियों का जो बंटवारा किया गया था वह विश्व में शक्तियों के बंटवारे से भिन्न था। संघ में यूरोप के देशों का प्रभाव अधिक था जबकि विश्व के अन्य भागों के शक्तिशाली देशों को प्रतिनिधित्व नहीं मिला। विश्व राजनीति में उन दिनों अयूरोपीय देशों का प्रभाव महत्वपूर्ण होता जा रहा था जिसकी अवहेलना करने के बाद कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती थी। संघ में जिन देशों का प्रभुत्व था, वे थे–फ्रांस और ब्रिटेन, जो कि यूरोप महाद्वीप में स्थित

हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका प्रारम्भ में ही संघ में नहीं मिला था। रूस और जर्मनी को संघ में सम्मिलित करने योग्य नहीं समझा गया था। जर्मनी १९२६ में संघ में मिला लेकिन १९३३ में वापिस अलग हो गया। रूस को १९३४ में संघ का सदस्य बनाया गया और १९३९ में संघ से निकाल दिया गया। ब्राजील, कोस्टारिका, इटली और अन्य अनेक छोटे-मोटे राष्ट्र एक-एक करके संघ को छोड़ गये। इस तरह संघ के अल्पकालिक जीवन में ऐसा कोई भी अवसर नहीं आया जब संघ ने सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व किया हो अथवा विश्व की सभी महाशक्तियां सदस्य राज्यों के रूप में इसमें एक साथ बैठी हों। राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिये सर्वव्यापकता की यह कमी उसकी असफलता की बीज थी। **मोर्गेन्थो (Morgenthau) महोदय का विचार है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था जो कि विश्व में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना चाहती हो, केवल इस अर्थ में ही सर्वव्यापी न हो कि सभी देश उसके सदस्य हों, किन्तु यह इस अर्थ में भी सर्वव्यापी होनी चाहिये कि जो देश विश्व की शांति को भंग कर सकते हैं वे भी इसके प्रभाव-क्षेत्र में हों।**[1] संघ हमेशा कुछ विशेष राष्ट्रों का गुट बना रहा और उस पर प्रायः ये आरोप लगाये जाते रहे कि वह "विजेताओं का संघ" (League of Victors) है, "सन्तुष्ट राष्ट्रों का संगठन" है अथवा "रूस के विरुद्ध पश्चिम का षड्यंत्र" है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जर्मनी, जापान और इटली के अलग हो जाने के बाद राष्ट्रसंघ केवल उन विशेष शक्तियों का गुट बन गया जो "यथापूर्व स्थिति" (Status Quo) बनाये रखना चाहते थे।

(४) **वर्साय संधि की उत्पत्ति**—राष्ट्रसंघ के लिये यह घटना विनाशक एक अभिशाप सिद्ध हुई कि वर्साय की संधि द्वारा इसका जन्म हुआ था। वर्साय की संधि की प्रथम २६ धारायें राष्ट्रसंघ का विधान थीं। इस प्रकार यह वर्साय संधि का अभिन्न अंग बन गया। नार्मन बेन्टविच (Norman Bentwich) के शब्दों में "राष्ट्रसंघ एक कुख्यात माता की [illegible] पुत्री" अथवा "बदनाम मां की सम्मानित बेटी" थी। युद्ध में पराजित होने वाले देश राष्ट्रसंघ को शान्ति-संधियों द्वारा थोपी गई व्यवस्थाओं का संरक्षक समझते

---

1. "An international organisation whose main purpose is the maintenance of international order & peace does not need to be universal in the sense that all nations of the world belong to it. It must, however, be universal in the sense that all powerful nations, which are most likely to disturb the peace of the world, are under its jurisdiction."
—*Morgenthau*-Politics Among Nations P. 442.

थे। वे इसे "विजेता राष्ट्रों द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि का यंत्र" समझते थे। यह बात पर्याप्त अंशों में सत्य भी थी। राष्ट्रसंघ के प्रमुख संस्थापक राष्ट्रपति विल्सन ने यह व्यवस्था की थी कि आवश्यकता पड़ने पर संघ संधियों में संशोधन करे, लेकिन हुआ यह कि फ्रांस के नेतृत्व में एक गुट विशेष के सभी राष्ट्रों ने शान्ति-संधियों में किसी भी संशोधन का तीव्र विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि संघ संधियों में कोई संशोधन नहीं कर पाया और उसने विश्व के अनेक राष्ट्रों की निगाहों में स्वयं को वर्साय व्यवस्था को कायम रखने वाला संगठन सिद्ध कर दिया।

(५) **एक पूर्व-कालिक शिशु**—राष्ट्रसंघ की विफलता का एक कारण यह बताया जाता है कि इसकी स्थापना ऐसे समय ही हो गई थी जबकि संसार में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उचित विकास की अवस्था में नहीं पनप पाया था। पेरिस–शान्ति–सम्मेलन में एकत्रित राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ का विचार स्वेच्छा से नहीं बल्कि राष्ट्रपति विल्सन के कारण अपनाया था।

(६) **संविदा अथवा संघ के सिद्धान्तों के प्रति अविश्वास**—राष्ट्रसंघ के जीवन में कुछ ही उसके ऐसे सदस्य थे जिन्होंने अपने वायदों और संघ के संविदा के प्रति अपनी शपथ में निष्ठा रखी। संघ के संविधान पर हस्ताक्षर करते हुए महाशक्तियों ने शांति बनाये रखने के लिये अनेक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तर-दायित्व स्वीकार किये थे और राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने तथा आक्रमणकारी राज्यों को रोकने के लिए धारा १०, ११, १५, १६ में अनेक वचन दिये थे। लेकिन समय आने पर महाशक्तियों द्वारा अपने उत्तर-दायित्वों और वचनों को झुठला दिया गया। उन्होंने अपनी घोषणाओं में भले ही शांति की दुहाई दी हो, पर व्यवहारिक रूप से स्थायी शांति की स्थापना के लिये कोई क्रियात्मक पग उठाने की उन्होंने कोई चेष्टा नहीं की। संविदा का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध आर्थिक वहिष्कार की नीति नितान्त अप्रभावशाली सिद्ध हुई। इटली-इथोपियन विवाद में इटली के विरुद्ध आर्थिक वहिष्कार नीति का कोई परिणाम नहीं निकला। इटली ने अकेले होते हुए भी संघ के आदेश की अवहेलना की। एबीसीनिया में इटली का आक्रमण रोकने के लिए लगाया गया आर्थिक प्रतिबन्ध, शूमैन के अनुसार कोरा ढोंग था। फ्रान्स और ब्रिटेन के नेताओं ने परस्पर यह गुप्त समझौता कर लिया था कि इटली को जर्मनी के साथ मिलने से रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि मुसोलिनी के अफ्रीका के साम्राज्य निर्माण के प्रयत्नों में कोई प्रभावशाली वाधा न डाली जाय। फ्रेन्च प्रधान मन्त्री पियरे लावाल राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों के मूल्य पर भी इटली की मित्रता पाने को उत्सुक था, यद्यपि ऊपर से उसका यही कहना था कि "फ्रान्स राष्ट्रसंघ के संविधान के

प्रति पूरी निष्ठा रखता है।" ब्रिटेन के विदेश मन्त्री सेमुअल होर ने जेने में सितम्बर १९३५ में घोषणा की—"ब्रिटिश सरकार राष्ट्रसंघ के संविधा को पूर्णरूप में सामूहिक प्रयत्नों से बनाये रखने के लिए कटिबद्ध है", लेकि इससे एक दिन पहले ही फ्रान्स के साथ यह गुप्त समझौता कर लिया [illegible] था कि वे स्वेज नहर को बन्द करने, सैनिक कार्यवाही करने, समुद्री नाका बन्दी करने आदि जैसा कोई भी ऐसा कार्य न करेंगे कि जिसमें मुसोलि[illegible] नाराज हो जाय। जापान ने भी न केवल राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का तिरस्का किया बल्कि उसने खुले आम संविदा का उल्लंघन किया। १९३९ में [illegible] और जर्मनी ने जब परस्पर अनाक्रमण संधि की तो संविदा के प्रति [illegible] का अविश्वास प्रकट हो गया। इतना ही नहीं बल्कि फिनलैण्ड पर आक्रम[illegible] तथा पोलैण्ड को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित करने के लिए [illegible] अनेक बाधिल और अनुचित कार्यवाहियां की जिनसे यह [illegible] जापान राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों पर चलने को तैयार नहीं है। [illegible] नैतिकता इतनी अधिक गिर गयी तो किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था [illegible] लता की आशा करना भी दुराशा थी। अत: शूमैन का यह [illegible] ही है—

> "संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि [illegible] इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमत्ता और साहस होता किन्तु [illegible] सर्वथा अभाव था। अतएव जेनेवा की झील के तट पर [illegible] निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि-[illegible] गया।"[1]

(७) **संघ के प्रति विभिन्न राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण**—[illegible] विभिन्न राष्ट्रों के सहयोग का एक साधन था। वह प्रभावशाली [illegible] कार्य कर सकता था जबकि उसमें सम्मिलित राष्ट्र अपने [illegible] कर कार्य करते और दूसरे देशों को यह विश्वास हो जाता कि [illegible] मणकारी प्रवृत्तियों का सामूहिक रूप से मुकाबला किया जायेगा। [illegible]

---

1. "The Governments of democratic great powers [illegible] the future of the League depended, fell into the [illegible] those who were utterly lacking in the loyalty, [illegible] and courage through which alone the League [illegible] by fulfilling the dreams of its founders. The [illegible] white palace in Ariana Park, by the shores of [illegible] Lake Leman, therefore became, in the end, a [illegible]
—*Schuman* : International Politics, [illegible]

सबकी "अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग" था। अनेक अन्त-र्राष्ट्रीय विवादों पर यह पाया गया कि इसके सदस्यों ने अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हित के नाम पर विश्व-शांति, व्यवस्था और न्याय को बलिदान कर दिया। इसी कारण ब्रिटेन और फ्रांस नीतियों के बीच भारी मतभेद रहा और जर्मनी की सभी चालें एक के बाद एक सफल होती चली गयीं तथा संघ के हाथों को कमजोर बनाती गयीं। फ्रान्स ने राष्ट्रसंघ को सार्वभौम सुरक्षा का संगठन न मानकर जर्मनी से सुरक्षा पाने का माध्यम समझा, जर्मनी को दबाये रखने के लिये उसे एक यूरोपियन संघ मात्र माना। ब्रिटेन का उद्देश्य भी बड़ा संकीर्ण और संकुचित रहा। अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण वह जर्मनी के प्रति मृदु और उदार नीति अपनाता रहा। ब्रिटेन एक ऐसे विश्व-व्यापी साम्राज्य का स्वामी था जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। अपने इस साम्राज्य की रक्षा करने के उद्देश्य से वह सदैव यह चाहता रहा कि राष्ट्रसंघ कभी कोई ऐसा कार्य न कर बैठे कि जिससे उसके साम्राज्य को खतरा उत्पन्न हो जाय। इस समय उसके साम्राज्य के लिए सबसे बड़ा खतरा सोवियत साम्यवाद का था। अतः राष्ट्रसंघ को अपनी विदेश-नीति और कूटनीति सफल बनाने का रंगमंच समझते हुए उसने राष्ट्रसंघ की सफलता की नहीं बल्कि साम्वाद को कुचलने की चिन्ता की। मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को उसने इसी उद्देश्य से माफ किया और इस बात का राष्ट्रसंघ पर सांघातिक प्रभाव पड़ा। अपने साम्राज्य को सुरक्षित देखने के लिए ही ब्रिटेन का यह भी प्रयत्न रहा कि राष्ट्रसंघ यूरोपीय विवादों का ही निर्णय न करे बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निर्णय, आर्थिक पुनरुत्थान और सामाजिक सहयोग के लिए एक विश्वव्यापी संगठन का रूप धारण करे।

जर्मनी को संघ के कार्यों और सिद्धांतों में कभी कोई आस्था या सहानुभूति नहीं रही। सन् १९२६ में संघ की सदस्यता ग्रहण करने के समय से ही उसने वर्साय की संधि द्वारा स्थापित 'यथास्थिति' (Status–Quo) को आत्मनिर्णय के अधिकार की दुहाई देकर परिवर्तित करने के प्रयास आरम्भ कर दिये। सोवियत रूस के विकास एवं खतरों से डरकर तथा अपने आपको साम्यवाद का विरोधी बताकर जर्मनी ने पश्चिमी शक्तियों की सद्भावना व समर्थन प्राप्त करने का सफल प्रयास किया। १९३३ में हिटलर के उत्कर्ष के बाद जर्मनी ने संघ में बने रहना वांछनीय नहीं समझा। हिटलर की दृष्टि में राष्ट्रसंघ आंखों का वह कांटा था जो सम्पूर्ण विश्व पर जर्मन प्रभुत्व स्थापित करने में सहयोगी नहीं हो सकता था। इटली ने भी कुछ इसी प्रकार की नीति का अनुसरण किया। प्रारम्भ में इसने जर्मनी को उकसाया ताकि वह फ्रांस और उसके पूर्वी मित्रों को कमजोर कर सके। बाद में इसने जर्मनी

ति पूरी निष्ठा रखता है।" ब्रिटेन के विदेश मन्त्री सेमुअल होर ने जेनेवा सितम्बर १९३५ में घोषणा की—"ब्रिटिश सरकार राष्ट्रसंघ के संविधान ो पूर्णरूप में सामूहिक प्रयत्नों से बनाये रखने के लिए कटिबद्ध है", लेकिन ससे एक दिन पहले ही फ्रान्स के साथ यह गुप्त समझौता कर लिया गया ा कि वे स्वेज नहर को बन्द करने, सैनिक कार्यवाही करने, समुद्री नाका-न्दी करने आदि जैसा कोई भी ऐसा कार्य न करेंगे कि जिससे मुसोलिनी ाराज हो जाय। जापान ने भी न केवल राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का तिरस्कार कया बल्कि उसने खुले आम संविदा का उल्लंघन किया। १९३९ में रूस ौर जर्मनी ने जब परस्पर अनाक्रमण संधि की तो संविदा के प्रति जापान ा अविश्वास प्रकट हो गया। इतना ही नहीं बल्कि फिनलैण्ड पर आक्रमण था पोलैण्ड को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित करने के लिए जापान ने नेक बाधित और अनुचित कार्यवाहियां की जिनसे यह प्रकट हो गया कि ापान राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों पर चलने को तैयार नहीं है। जब अन्तर्राष्ट्रीय तिकता इतनी अधिक गिर गयी तो किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की सफ-ता की आशा करना भी दुराशा थी। अतः शूमैन का यह लिखना ठीक ी है—

"संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य-राज्यों में सके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमत्ता और साहस होता किन्तु इनमें इसका र्वथा अभाव था। अतएव जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में र्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि-स्थल बन या।"[1]

(७) **संघ के प्रति विभिन्न राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण**—संघ ाभिन्न राष्ट्रों के सहयोग का एक साधन था। वह प्रभावशाली रूप से तभी ार्य कर सकता था जबकि उसमें सम्मिलित राष्ट्र अपने भेद-भावों को भूल-र कार्य करते और दूसरे देशों को यह विश्वास हो जाता कि उनकी आक्र-णकारी प्रवृत्तियों का सामूहिक रूप से मुकाबला किया जायेगा। किन्तु

"The Governments of democratic great powers upon which the future of the League depended, fell into the hands of those who were utterly lacking in the loyalty, wisdom and courage through which alone the League could survive by fulfilling the dreams of its founders. The League's white palace in Ariana Park, by the shores of Geneva's Lake Leman, therefore became, in the end, a sepulcher."
—*Schuman* : International Politics, (4th Ed.) P. 313.

सबकी "अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग" था। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों पर यह पाया गया कि इसके सदस्यों ने अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हित के नाम पर विश्व-शांति, व्यवस्था और न्याय को बलिदान कर दिया। इसी कारण ब्रिटेन और फ्रांस नीतियों के बीच भारी मतभेद रहा और जर्मनी की सभी चालें एक के बाद एक सफल होती चली गयीं तथा संघ के हाथों को कमजोर बनाती गयीं। फ्रान्स ने राष्ट्रसंघ को सार्वभौम सुरक्षा का संगठन न मानकर जर्मनी से सुरक्षा पाने का माध्यम समझा, जर्मनी को दबाये रखने के लिये उसे एक यूरोपियन संघ मात्र माना। ब्रिटेन का उद्देश्य भी बड़ा संकीर्ण और संकुचित रहा। अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण वह जर्मनी के प्रति मृदु और उदार नीति अपनाता रहा। ब्रिटेन एक ऐसे विश्व-व्यापी साम्राज्य का स्वामी था जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। अपने इस साम्राज्य की रक्षा करने के उद्देश्य से वह सदैव यह चाहता रहा कि राष्ट्रसंघ कभी कोई ऐसा कार्य न कर बैठे कि जिससे उसके साम्राज्य को खतरा उत्पन्न हो जाय। इस समय उसके साम्राज्य के लिए सबसे बड़ा खतरा सोवियत साम्यवाद का था। अतः राष्ट्रसंघ को अपनी विदेश-नीति और कूटनीति सफल बनाने का रंगमंच समझते हुए उसने राष्ट्रसंघ की सफलता की नहीं बल्कि साम्वाद को कुचलने की चिन्ता की। मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को उसने इसी उद्देश्य से माफ किया और इस बात का राष्ट्रसंघ पर सांघातिक प्रभाव पड़ा। अपने साम्राज्य को सुरक्षित देखने के लिए ही ब्रिटेन का यह भी प्रयत्न रहा कि राष्ट्रसंघ यूरोपीय विवादों का ही निर्णय न करे बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निर्णय, आर्थिक पुनरुत्थान और सामाजिक सहयोग के लिए एक विश्वव्यापी संगठन का रूप धारण करे।

जर्मनी को संघ के कार्यों और सिद्धांतों में कभी कोई आस्था या सहानुभूति नहीं रही। सन् १९२६ में संघ की सदस्यता ग्रहण करने के समय से ही उसने वर्साय की संधि द्वारा स्थापित 'यथास्थिति' (Status–Quo) को आत्मनिर्णय के अधिकार की दुहाई देकर परिवर्तित करने के प्रयास आरम्भ कर दिये। सोवियत रूस के विकास एवं खतरों से डरकर तथा अपने आपको साम्यवाद का विरोधी बताकर जर्मनी ने पश्चिमी शक्तियों की सद्भावना व समर्थन प्राप्त करने का सफल प्रयास किया। १९३३ में हिटलर के उत्कर्ष के बाद जर्मनी ने संघ में बने रहना वांछनीय नहीं समझा। हिटलर की दृष्टि में राष्ट्रसंघ आंखों का वह कांटा था जो सम्पूर्ण विश्व पर जर्मन प्रभुत्व स्थापित करने में सहयोगी नहीं हो सकता था। इटली ने भी कुछ इसी प्रकार की नीति का अनुसरण किया। प्रारम्भ में इसने जर्मनी को उकसाया ताकि वह फ्रांस और उसके पूर्वी मित्रों को कमजोर कर सके। बाद में इसने जर्मनी

से वही काम लिया जो कि जर्मनी रूस से ले रहा था। सोवियत रूस इस स्थिति से प्रारम्भ में तो अलग ही रहा। उसने विश्व-राजनीति में उतरना भी चाहा किन्तु यहां उसका कोई स्वागत-कर्त्ता न था। सोवियत नेताओं की दृष्टि में राष्ट्रसंघ "पिछली दशाब्दी की सबसे निर्लज्ज और चोरों की बनाई हुई वर्साय की संधि की उपज" ही बना रहा और पश्चिमी देश भी उसका बुरी तरह से विरोध करते रहे। हिटलर के उदय से भयभीत होकर १९३४ में वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया किन्तु तब भी पश्चिमी राष्ट्रों ने उस पर विश्वास नहीं किया, क्योंकि १९१९ में ही रूसी नेता यह कह चुके थे कि 'राष्ट्रसंघ जनक्रांति को दबाने के लिये बुर्जुआ वर्ग का अपवित्र संघ है।" अन्त में १९३९ में फिनलैंड पर आक्रमण करने पर रूस को संघ से बहिष्कृत होना पड़ा। जब हिटलर ने रूस और पश्चिमी शक्तियों पर एक साथ आक्रमण कर दिया तो परिस्थितिवश उनको मेल करना पड़ा, यद्यपि दोनों पक्षों के मन में शंका, संदेह और अविश्वास बना रहा।

युद्धोत्तर की गयी शांति-संधियों ने जापान को नीचा दिखाया था और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वह चाहता था कि सुदूर पूर्व में वह एक महान् शक्ति बन जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका प्रारम्भ से ही राष्ट्रसंघ का विरोधी था, उसे अमेरिकन गोलार्द्ध में संघ के प्रभाव का तनिक भी विस्तार सह्य नहीं था। जहां तक अन्य छोटे राज्यों का सम्बन्ध है उनका पार्ट भी निंदनीय रहा। वे बड़े राष्ट्रों का ही अनुसरण करते रहे। इसके अतिरिक्त उनके पास दूसरा विकल्प भी नहीं था।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संघ के सम्बन्ध में सभी बड़ी शक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोण बने रहे और जहां कहीं उनके हितों का संघ के सिद्धांतों से विरोध हुआ, वे संघ के सिद्धांतों को तिलांजलि देते रहे। संघ का आधार केवल कुछ अमूर्त सिद्धांत थे जैसे "न्याय, व्यवस्था एवं शांति-स्थापना।" हर बड़ी शक्ति इन अमूर्त सिद्धान्तों की अपनी मनमानी व्याख्या करके अपने प्रत्येक कार्य को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न करती रही। इस सबका परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता व्याप्त हो गई। इन अमूर्त सिद्धान्तों ने देशों को न्याय के किसी सामान्य माप-दण्ड तथा किसी सामान्य कार्य के लिये निर्देश भी नहीं दिया। इसलिए, मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय का विचार है कि राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं

---

१ "The role of the lesser members of the League in this sordid sequence of events was that of a flock of sheeps deceived by Jackals in sheep's clothing".

—*Schuman* : International Politics, P. 317

शांति की स्थापना करने में असमर्थ रहा क्योंकि संप्रभु राष्ट्र अपनी नैतिकता एवं नीतियों को राष्ट्रसंघ के नैतिक एवं राजनीतिक लक्ष्यों के ऊपर कायम रख सकते थे।[1]

(८) **आर्थिक संकट**—१९३० के आर्थिक संकट ने भी राष्ट्रसंघ को अत्यधिक क्षति पहुंचाई। इसके फलस्वरूप लगभग सभी देशों में आर्थिक राष्ट्रवाद की शक्तियां प्रबल हो उठीं। इसने जर्मनी के नाजीवाद और जापान के सैनिकवाद को विकसित किया तथा सामाजिक व्यवस्था को अव्यवस्थित कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय अशांति पैदा हो गई, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की नींव ढ़ह गई। शस्त्रों की होड़ लग गई, सामूहिक सुरक्षा आहत हो गई व आक्रमणों की संख्या में वृद्धि हुई। आर्थिक संकट के फलस्वरूप रूस के प्रति पाश्चात्य शक्तियों की संख्याओं में वृद्धि होने लगी। साम्यवाद विरोधी विचार विकसित हुए और फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका, रूस के हर विरोधी को अपना मित्र समझने लगे। इस भांति तुष्टिकरण की नीति को बल मिला और हस्तक्षेप की नीति ने आक्रमणों को सहारा दिया। अब सामूहिक सुरक्षा और आक्रमण के सामूहिक प्रतिरोध के उन अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों की उपेक्षा होने लगी जो राष्ट्रसंघ रूपी भवन की आधार-शिला थे।

(९) **अधिनायकवाद का विकास**—राष्ट्रसंघ की स्थापना इस विश्वास पर की गई थी कि इसके सभी सदस्य शांति, स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के प्रेमी होंगे। लेकिन यूरोप ने राष्ट्रसंघ को जबरदस्त धोखा दिया। १९१२ में इटली तथा १९३० के बाद जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल और अनेक यूरोपीय देशों में अधिनायकवादी सरकारें सत्तारूढ़ हो गईं। हिटलर और मुसोलिनी जैसे शासक, "लहू और लोहे की," तलवार की तथा पाशविक बल की शक्ति में भरोसा रखते थे। उन्होंने राष्ट्रसंघ को पंगु बना दिया। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर पूर्ण अनास्था रखने वाले अधिनायकवादी राष्ट्र हर कीमत पर अपने उद्देश्य की प्राप्ति पर तुले रहते थे, "भले ही यह कार्य जेनेवा (राष्ट्र-संघ) की सहायता से हो, उसकी सहायता के बिना हो या उसका विरोध करके हो" (With Geneva, without Geneva or against Geneva)। इस परिस्थिति में राष्ट्रसंघ जैसे संगठनों के सफल होने की आशा दुराशा मात्र थी।

---

1. "The inability of the League of Nations to maintain international order and peace, then was the inevitable result of the ascendancy that the ethics and policies of sovereign nations were able to maintain over the moral and political objectives of the international Govt. of the league of nations."

—*Morgenthau* : Politics Among Nations, P. 446.

(१०) **उग्र राष्ट्रीयता का विचार**—जैसा कि पूर्ववर्ती वर्णन से स्पष्ट है, संघ की विफलता का एक बहुत बड़ा कारण उग्रराष्ट्रीयता का विचार था। प्रत्येक राज्य और राष्ट्र अपने को सर्वोच्च प्रभुतासम्पन्न समझते हुये अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वयं को स्वतंत्र मानता था। इस प्रकार राष्ट्रसंघ "सम्प्रभु राज्यों का संगठन" था। कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति या व्यवस्था के लिये अपनी प्रभुसत्ता पर किसी प्रकार का अंकुश अथवा प्रतिबन्ध लगाने को तैयार न था। संघ के मौलिक सिद्धान्त भले ही नवीन थे किन्तु उसके पुराने व नवीन सदस्य राज्य परम्परागत राष्ट्रीयता के संकीर्ण विचारों में उलझे हुये थे और अपनी-अपनी सम्प्रभुता प्राप्ति के प्रति सचेत थे। राज्यों का यह दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के प्रति सांघातिक था।

उपरोक्त विवरण से यही निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रसंघ के मार्ग में बाधायें उत्पन्न करने तथा उसे असफल बनाने में अनेक राजनीतिक, स्वरूप सम्बन्धी और इसके संविधान-विषयक कारणों ने योगदान दिया था। बड़ी शक्तियों का इससे बाहर रहना, इसके पास कोई शक्ति का न होना जिससे कि यह अपने निर्णयों को प्रभावशाली बना सके, इसका सर्वव्यापी न होना, संघ के सदस्यों द्वारा इसके सिद्धांतों की मनमानी व्याख्या करना, इसके सदस्यों के बीच भारी मतभेद का होना, संघ के भीतर ही हितों की रक्षा के लिये गुटबन्दी करना आदि कारणों ने मिलकर राष्ट्रसंघ की कमर तोड़ दी। आर्थिक मन्दी के विश्वव्यापी प्रभाव तथा तानाशाही प्रवृत्तियों के विकास ने राष्ट्रसंघ को धराशायी बनाया और उग्र राष्ट्रीयता के विचार के प्रसार ने संघ को पूरी तरह से प्रभावहीन बना दिया। अन्त में द्वितीय विश्वयुद्ध के शस्त्रों की गड़-गड़ाहट में इसकी शेष सांसे भी शांत होगई।

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

सदस्य राष्ट्रों की निष्ठाहीनता के कारण राष्ट्रसंघ युद्धों के निवारण और शांति की स्थापना में सफल नहीं हो सका। **शूमैन** के कथनानुसार "संघ और उससे सम्बन्धित संस्थाएं कभी भी मानवीय भ्रातृ-भावना की प्रतीक नहीं हो सकीं, जो समस्त देशों में अधिकांश लोगों के प्रेम तथा भक्ति को उत्पन्न कर सकतीं, जिसके द्वारा उस प्रतिष्ठा एवं अधिकार का विकास हो सकता जिसकी एक प्रारम्भिक विश्व सरकार को *आवश्यकता थी*।"[1] किन्तु फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि राष्ट्रसघ ने अपने आपको ऐतिहासिक महत्व की एक महान् संस्था प्रमाणित किया। गैर-राजनीतिक कार्यों में संघ ने आशातीत सफलता प्राप्त की और विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सम्बन्ध के प्रचार में उसे अपूर्व सफलता मिली।[2] **पोटर (Potter)**

---

1. *Schuman* : International Politics, Page 244.
2. *Langsom* : The World Since 1919, P. 55.

ने सत्य ही लिखा है कि:—"भूतकाल में अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने जो कुछ किया यदि उसे माना जाय तो संघ का कार्य, यहां तक कि सुरक्षा के क्षेत्र में भी उच्च स्तर का था। वास्तव में बहुत थोडे उन्नत विशेषता वाले और सीमित प्रतिनिधियों को छोड़कर यह अन्य सभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से उच्च था।"[1] श्लीचर ने राष्ट्रसंघ का बड़ा विवेकवान मूल्यांकन करते हुए कहा कि "राष्ट्रसंघ की सफलता या विफलता उस कसौटी पर निर्भर है जिस पर इसे कसा जाता है। यदि यह उन आदर्शवादियों की हो, जो इस संस्था द्वारा युद्धों का पूर्ण निरोध करना चाहते थे तो राष्ट्रसंघ अवश्य असफल हुआ है। यदि यह कसौटी संघ के वास्तविक कार्यों, उसकी मर्यादाओं और मानव जाति पर उसके प्रभाव पर आधारित हो तो यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक क्षेत्र में विफल होने पर भी वह आर्थिक, सामाजिक और मानवीय क्षेत्रों में बहुत सफल हुआ।"[2]

राष्ट्रसंघ ने विश्व में सहयोग और सहअस्तित्व का प्रथम पाठ मानवता को पढ़ाया। इसने एक ऐसी प्रयोगशाला प्रदान की जहां विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विचारों और कार्यों की परीक्षा की जा सके। जेनेवा के एरियाना पार्क में समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों द्वारा राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और विवादों पर प्रकाश डाला, शान्तिपूर्ण तरीकों

---

1. "If measured by what other international organizations had accomplished in the past, the League's performance, even in the security field, rates very high, indeed higher than that of any other international institution, with the exception of a very few high y special and limited agencies".
—*P. B. Potter* : An Introduction to the Study of International Organization, Page 252.

2. "It is debatable whether the League of Nations was a success or a failure. The answer depends in part on the criteria used. To those who would judge on terms of creating an Utopia, or even of achieving its purposes, the credit is clearly adverse. However if one is satisfied with the more modest test of better or worse, the evidence calls for a more favourable judgement. It was probably more successful in the social, economic, and humanitarian fields than in the political.."
—*Charles P. Schleicher* : International Relations, P. 156.

से उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया, विशेषज्ञों की सलाह से अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को हल किया, अनेक भयानक रोगों के कारणों की जांच करवा के आरोग्य का साधन निकाला और बौद्धिक विकास के लिये मूल्यवान सिफारिशें की। हमारी सभ्यता को राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन यह मिली कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को समुचित ढंग से नियमबद्ध किया गया। राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कानूनी विवादों को बड़ी कुशलता से सुलझाया। संघ ने अनेक रूपों में पुरातन कूटनीति के तरीकों को बदला। राष्ट्रसघ की विफलता भी मानव जाति के लिये बड़ी लाभदायद सिद्ध हुई। उसने जो बहुमूल्य अनुभव प्रदान किया और विश्व ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में उस अनुभव का पूरा लाभ उठाया। **श्री वाल्टर** के अनुसार "संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों, संस्थाओं और ढंगों पर इसकी प्रत्येक बात पर, राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है। दरअसल में १८ अप्रैल १९४६ को राष्ट्रसंघ का अन्त्येष्टि संस्कार नहीं हुआ बल्कि उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में पुनर्जन्म प्राप्त किया।

पुन: श्री वाल्टर ने सत्य ही लिखा है कि—

"संघ की स्थापना इस रूप में एक क्रान्तिकारी पग था कि इसमें अद्वितीय विस्तार और गति की अग्रगामी छलांग निहित थी और इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति में अद्भुत परिवर्तन भी थे, जैसे—सैद्धान्तिक परिवर्तन, सामान्य विश्वासों में परिवर्तन, ढंगों में परिवर्तन आदि। संघ से पूर्व, सिद्धान्त और अभ्यास दोनों में यह माना गया था कि प्रत्येक राज्य स्वयं अपने कार्यों का पूर्ण और प्रभुसत्तात्मक निर्णायक था, किसी उच्च शक्ति के प्रति किसी राज्य-भक्ति का ऋणि न था और अन्य राज्यों के द्वारा की गई आलोचना अथवा संशय का विरोध करने का अधिकारी था। लेकिन संघ के उदय से इस प्रकार की धारणायें सदैव के लिये विलीन हो गई ·······अब सभी के द्वारा यह विश्वास स्वीकृत किया जाता है कि आक्रामक युद्ध मनुष्य मात्र के प्रति पाप है और इसके निवारण के लिये संयुक्त होना प्रत्येक राज्य का हित, अधिकार तथा कर्त्तव्य है।"[1]

---

1. "The establishment of the League was a revolutionary step in the sense that it involved a forward leap of unprecedented extent and speed accompanied by extra-ordinary changes in the conduct of international relations-changes of principles, changes of method, changes even in the general convictions which form the basis of public opinion. Before the League

पुनश्च, श्री वाल्टर के शब्दों में ही—

"कार्य करने वाली संस्था के रूप में राष्ट्रसंघ मृतक के रूप में है। परन्तु वे आदर्श, जिनको इसने बढ़ावा देने का प्रयत्न किया और वे आशाएं जिनको इसने उत्पन्न किया, वे ढंग जिनका निर्माण किया और वे साधन जिनकी इसने रचना की, सभ्य संसार के राजनीतिक विचारों के महत्वपूर्ण भाग बन गए हैं और उनके प्रभाव तब तक जीवित रहेंगे जब तक कि मानव-जाति राज्यों और राष्ट्रों के विभाजनों से ऊपर एकता का अनुभव करती।"[1]

EXERCISES

1. Mention the historical background of the League of Nations and also mention its aims.
   राष्ट्रसंघ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए तथा इसके उद्देश्य बताइये।
2. Explain clearly the aims of the League of Nations and describe the organisation of its main organs.
   राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए उसकी मुख्य शाखाओं के संगठन का वर्णन कीजिए।
3. Describe the composition and organisation of the various organs of the League of Nations. Also point out briefly their important functions.

---

it was held both in theory and practice that every state was the sole and sovereign judge of its own acts, owing no allegiance to any higher authority, entitled to resent criticism or even questioning by other states. Such conceptions have disappeared for ever. The belief that aggressive war is a crime against humanity and that it is the interest, the right, and the duty of every state to join in preventing it is now everywhere taken for granted."

1. "The League as a working institution, is dead, but the ideals which it sought to promote, the hope to which it gave rise, the method it devised, the agencies it created have become an essential part of the political thinking of the civilised worl l, and their influence will survive until mankind enjoys a unity transcending the divisions of states and nations."

—*Walter, F. P. A.*: A History of League of Nations P rt II

राष्ट्रसंघ के विभिन्न अंगों के निर्माण एवं संगठन का विवरण दीजिये। इन अंगों के महत्वपूर्ण कार्यों को भी स्पष्ट कीजिये।

4. Discuss the working of the League of Nations with reference to the mandate system, minority problem and its administrative functions.
संरक्षण-व्यवस्था, अल्प संख्यकों की समस्या तथा प्रशासनिक कर्तव्यों के संदर्भ में राष्ट्रसंघ की कार्य-पद्धति की विवेचना कीजिये।

5. Discuss the working of Mandate System. What were the defects of this system ?
आदेश पद्धति (शासन प्रथा) अथवा संरक्षण व्यवस्था के कार्यों का विवरण दीजिये। इस प्रथा में क्या दोष थे ?

6. Critically examine the work of the League of Nations in the political sphere. Do you agree with the view that the League could only succeed in minor disputes where the interests of big powers did not come into clash ?
राजनैतिक क्षेत्र में राष्ट्रसघ के कार्यों की विवेचना कीजिए। क्या आप इस मत से सहमत हैं कि राष्ट्रसंघ केवल उन छोटे झगड़ों को निपटाने में सफल हुआ जिनमें बड़े राष्ट्रों के हित परस्पर नहीं टकराते थे ?

7. "The years of 1924 to 1930 were the period of the League's greatest prestige and authority." (Carr) Explain and Discuss.
"१९२४ से १९३० तक की अवधि में राष्ट्रसंघ को सर्वाधिक प्रतिष्ठा और अधिकार प्राप्त रहे।" (कार) स्पष्ट कीजिये।

8. Discuss non-political activities of the League. Do you agree with the view that the real success of the League was in this field ?
लीग के अराजनैतिक कार्यों की विवेचना कीजिये। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि लीग की वास्तविक सफलता इसी क्षेत्र में थी ?

9. Describe the social, economic and humanitarian activities of the League of Nations.
राष्ट्रसंघ के सामाजिक, आर्थिक व मानवता सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख कीजिए।

10. What were the defects of League of Nations ? What were the causes leading to its failure ?
राष्ट्रसंघ में कौन-कौन सी त्रुटियां थीं ? किन कारणों से वह असफल हुआ ?

11. "The establishment of the League of Nations at the Paris Peace Conference represented the most ambitious effort so far made to place the peace of the world on a stable basis". Discuss the statement with special reference to the work of League of Nations in the sphere of international peace.
"पेरिस शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रसंघ की स्थापना स्थाई रूप से विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए किये गये अब तक के प्रयत्नों में सर्वाधिक महत्वाकांक्षी प्रयास का प्रतिनिधित्व करती थी।" इस कथन की व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के क्षेत्र में लीग के कार्यों के विशेष संदर्भ में कीजिये।

12. Describe the machinery for the pacific settlement of international disputes under the Covenant of the League of Nations. What improvements, if any, has the United Nations charter made in this regard ?
राष्ट्रसंघ के संविदा अथवा प्रतिश्रव के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये जिस मशीनरी की व्यवस्था की गई थी उसका वर्णन कीजिये। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में क्या सुधार अपनाये गये हैं ?

13. "Though the League of Nations had failed to prevent war and to preserve peace, yet its greatest achievement was the diffusion of ideas of international co-operation and co-ordination in social humanitarian activities."Discuss.
यद्यपि राष्ट्रसंघ युद्ध को रोकने और शान्ति बनाये रखने में असफल हो गया था तथापि सामाजिक और मानवीय कार्यों के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और संयोजन के विचारों का प्रसार इसकी महानतम सफलता थी।" विवेचना कीजिये।

14. Describe the circumstances that led to the withdrawl of Japan from the League of Nations and state how far that withdrawl influenced, Japanese foreign policy in subsequent years.
उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिये जिनके कारण राष्ट्रसंघ की सदस्यता से जापान को विमुक्ति मिली और बताइये कि इस विमुक्ति ने परवर्ती वर्षों में जापान की विदेश नीति को कहां तक प्रभावित किया।

15. Examine critically the reasons which led to the failure of the League of Nations. How far would you attribute

them to the pursuit of diverse policies by Great Britain and France in inter-war years ?

उन कारणों की समीक्षा कीजिये जिनकी वजह से राष्ट्रसंघ को असफलता मिली। विश्व–युद्धों के बीच के युग में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा अपनाई जाने वाली भिन्न नीतियां आपकी दृष्टि में उन कारणों के लिये कहां तक उत्तरदायी हैं ?

16. "The Manchurian crisis decided the fate of League of Nations." Examine the statement.

"मन्चूरिया के संकट ने राष्ट्रसंघ के भाग्य का निर्णय कर दिया।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

17. Examine the circumstances that led to the formation of the little Entente and significance of the association of France with it.

लघु मैत्री संघ के निर्माण के उत्तरदायी कारण तथा फ्रांस द्वारा उसमें सम्मिलित होने के महत्व को प्रकट करिये।

18. "It is not the League failed, it is not its principles which were found wanting. It was the nations which neglected it. It was the governments that abandoned it." (Paul Bondour). Comment.

"यह राष्ट्रसंघ नहीं था, जो वास्तव में असफल हुआ। ये राष्ट्रसंघ के सिद्धान्त नहीं थे जिनमें कमी थी। ये तो वे विभिन्न राष्ट्र थे जिन्होंने इसकी उपेक्षा की। ये तो वे सरकारें थीं जिन्होंने इसका परित्याग कर दिया।" विवेचना कीजिये।

19. Describe the machinery for the pacific settlement of disputes under the covenant of the League of Nations. How was this machinery improved during the period the League system was in operation ? What changes have been made in the charter of the United Nations in this direction ?

राष्ट्रसंघ के संविदा अथवा प्रतिज्ञापत्र में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल के लिए की गई व्यवस्था का वर्णन कीजिये। जब लीग-प्रथा सक्रिय थी उस समय इस मशीनरी में कैसे सुधार हुआ ? इस दिशा में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में क्या परिवर्तन किये गये हैं ?

अध्याय–४

क्षतिपूर्ति, युद्ध-ऋण और आर्थिक मन्दी

(REPARATION, WAR–DEBTS AND ECONOMIC DEPRESSION)

"वर्साय के बाद उच्चस्तरीय वित्त और उच्चस्तरीय राजनीति के बीच एक विचित्र परिणय हुआ, जिसका अन्त शीघ्र ही विच्छेद में तो नहीं दिवालियेपन हो गया।"

–शूमैन

सम्पूर्ण संसार के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर देने वाले प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर कुछ ऐसी विकट समस्याएं उठ खड़ी हुईं जिन्होंने समग्र अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को एक लम्बे समय तक अस्थिरता और उत्थान-पतन के भंवर में फंसाये रखा। इस महायुद्ध ने सभी देशों के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को एकदम विश्रंखलित, अस्थिर और चौपट कर दिया था, अतः युद्ध के बाद प्राथमिक एवं विशालतम समस्या अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण की थी। इस आर्थिक जीवन को पुनः सुस्थिर और गतिशील बनाने में सबसे बड़ी बाधा क्षति-पूर्ति (Reparations), युद्ध-ऋण (War Debts) और आर्थिक मन्दी (Economic depression) के भूकम्प थे। महायुद्ध की समाप्ति के बाद अगले १५ वर्षों तक ये भूकम्प सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना ताण्डव-नृत्य करते रहे, जिससे अनेक देशों में प्रजातंत्रीय सरकारों के उत्थान-पतन हुए, राजतंत्रात्मक शासन समाप्त हुए और तानाशाह (Dictators) उत्कर्ष की सीढ़ी पर चढ़े। वास्तव में क्षति-पूर्ति, युद्ध-ऋण और आर्थिक मन्दी युद्धोत्तर काल की अत्यधिक जटिल, विवादास्पद और प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं सिद्ध हुईं।

अब हम एक–एक करके इन समस्याओं पर विचार करेंगे।

क्षतिपूर्ति की समस्या और युद्धोत्तर यूरोप

अतीत में दीर्घकाल से पराजित राष्ट्रों के ऊपर विजयी राष्ट्रों द्वारा क्षति-पूर्ति के दावे लादे जाते रहे थे। अतः विजेता का यह एक ऐतिहासिक

परम्परा सिद्ध अधिकार बन गया था कि वह पराजित राष्ट्र पर उस क्षति की पूर्ति का दावा कर दे जो उसके आक्रमण द्वारा विजेता राष्ट्र को पहुंची है। अंग्रेजी भाषा के वेबस्टर नामक अन्तर्राष्ट्रीय शब्द-कोष (Webster's New International Dictionary) में **क्षति-पूर्ति (Reparation) शब्द का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"यह वह युद्धोत्तर क्षति-पूर्ति है जो पराजित राष्ट्र द्वारा अपने विजेता राष्ट्र को युद्ध के हरजाने के रूप में अदा करनी होती है। यह अदायगी नकदी रुपये, पदार्थ, उपभोग्य द्रव्य, भारी यंत्रों, व्यापारिक जहाजों और अन्य रूपों में करनी पड़ती है तथा यह क्षति-पूर्ति उन प्रत्यक्ष हानियों और घाटों के बदले पराजित राष्ट्र को देनी पड़ती है जो उसके आक्रमण के फलस्वरूप युद्ध के खर्चों या सीमा पर अधिकारों के मूल्य के रूप में विजेता राष्ट्र को उठाने पड़े थे।"[1]**

क्षति-पूर्ति के उपरोक्त अभिप्राय के संदर्भ में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर क्षति-पूर्ति की समस्या उदित होकर एक गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय संकट पैदा कर दे। क्षति-पूर्ति के प्रश्न ने निस्संदेह विश्व के अधिकांश राज्यों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रभावित किया, किन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव यूरोप पर परिलक्षित हुआ और इसलिए प्रायः यह कहा जाता है कि **"क्षति-पूर्ति का इतिहास युद्धोतर यूरोप का इतिहास है।"** वास्तव में १९३३ तक यूरोपियन इतिहास की लगभग सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनायें इस समस्या से सम्बन्धित रहीं। क्षति-पूर्ति और युद्ध-ऋण की समस्या ने मिलकर १९२९–३४ के उस विश्व अर्थ-संकट को एक प्रमुख आधार प्रदान किया जिसने द्वितीय महायुद्ध के बीज बो दिये। इन समस्याओं ने ब्रिटेन, फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्धों को कटुतापूर्ण बना दिया तथा फ्रान्स एवं जर्मनी के पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार की सभी संभावनाओं को समाप्त कर दिया। क्षति-पूर्ति-समस्या के जटिल स्वरूप के कारण ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वयं को यूरोपियन राजनीति से शनैः-शनैः पृथक कर लिया और इसका सम्पूर्ण यूरोप पर घातक प्रभाव पड़ा। इस समस्या ने

1. Reparation means "compensation either in money or in materials, commodities, capital equipment, merchant vessels, and the like, payable by a defeated nation as war idemnity for direct damages and for loss from war expenditures, occupation costs etc., sustained as a result of aggression by the defeated nation."

—*Webster's* New International Dictionary of the English Language (P. 211)

ही जर्मन जनता के असंतोष को इतना प्रबल कर दिया कि वह हिटलर की अविवेकपूर्ण छलनाओं के बहकावे में आ गयी । क्षति-पूर्ति के भूत ने मित्र-राष्ट्रों के हृदयों में पारस्परिक अविश्वास और मनोमालिन्य के बीज बो दिये, अतः वे नाजी जर्मनी के प्रति ऐसी अविवेकपूर्ण तुष्टीकरण की नीति पर आचरण करने लगे जिसने एक तरफ तो राष्ट्रसंघ जैसी शांति स्थापक और गौरवशाली संस्था का असम्मानपूर्वक गला घोंट दिया और दूसरी तरफ विश्व को द्वितीय महायुद्ध की ज्वालाओं में झोंक दिया । इस कथन में कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती कि क्षति-पूर्ति की समस्या महायुद्ध के बाद सभी विजित एवं विजयी राष्ट्रों के ऊपर एक भयानक प्रश्नचिन्ह बनी रही । यह समस्या एक ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण कहानी बन गयी जिसने युद्धोत्तर इतिहास को दो महायुद्धों के मध्य का इतिहास बना दिया, जिसने आशा को निराशा में और निराशा को असंतोष व असफलता में बदल दिया । आज दुनिया की संतति इसके कुप्रभावों पर आंसू बहाती है और यह सोचकर हंस भी लेती है कि इस समस्या का आरम्भ जितना दुखान्त हुआ, अन्त उतना ही हास्यास्पद और इसी प्रकार इसके परिणाम यदि दुःखप्रद सिद्ध हुए तो इसकी रीति हास्यजनक ।

क्षतिपूर्ति की समस्या का स्वरूप

वर्साय संधि एवं विभिन्न सम्मेलनों में क्षति-पूर्ति प्रश्न—इस क्षति-पूर्ति का आधार युद्ध अपराध सम्बन्धी यह कुख्यात धारा (Guilt Clause) थी—

"मित्रराष्ट्रों की सरकारों तथा उनके नागरिकों पर जर्मनी और उसके मित्रों के आक्रमण द्वारा स्थापित युद्ध के फलस्वरूप हुई तमाम हानियों और क्षतियों के लिए जर्मनी और उसके मित्रों की जिम्मेदारी मित्र और संयुक्त राष्ट्र प्रमाणित करते हैं और जर्मनी उसे स्वीकार करता है ।"[1]

यही क्षति-पूर्ति कराने का आधारभूत सिद्धान्त था । युद्ध काल में ब्रिटेन और फ्रान्स की जनता को विश्वास दिलाया गया था कि सम्पूर्ण युद्ध-व्यय (War Costs) जर्मनी से वसूल किया जायगा । किन्तु विल्सन की घोषणाओं के सन्दर्भ में क्षति-पूर्ति की सीमाओं में कमी हो गई और युद्ध–

---

1. "The Allied and Associated Powers affirm and Germany accepts the responsibility of Germany and her allies for causing all the loss and damage to which the Allied and Associated Governments and their nationals have been subjected as a consequence of the war imposed upon them by the aggression of Germany and her allies."

परम्परा सिद्ध अधिकार बन गया था कि वह पराजित र
पूर्ति का दावा कर दे जो उसके आक्रमण द्वारा विजेता
अंग्रेजी भाषा के वेबस्टर नामक अन्तर्राष्ट्रीय शब्द-कोष
International Dictionary) में क्षति-पूर्ति (Rep
इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"यह वह युद्धोत्तर क्ष
राष्ट्र द्वारा अपने विजेता राष्ट्र को युद्ध के हरजाने
होती है। यह अदायगी नकदी रुपये, पदार्थ, उपभोग्य
पारिक जहाजों और अन्य रूपों में करनी पड़ती है
प्रत्यक्ष हानियों और घाटों के बदले पराजित राष्ट्र को
आक्रमण के फलस्वरूप युद्ध के खर्चों या सीमा पर
में विजेता राष्ट्र को उठाने पड़े थे।"[1]

क्षति-पूर्ति के उपरोक्त अभिप्राय के संदर्भ में
कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर क्षति-पूर्ति की
गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय संकट पैदा कर दे। क्षति-पूर्ति
के अधिकांश राज्यों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्र
सबसे अधिक प्रभाव यूरोप पर परिलक्षित हुआ औ
जाता है कि "क्षति-पूर्ति का इतिहास युद्धोत्तर
वास्तव में १९३३ तक यूरोपियन इतिहास की लग
नीतिक घटनायें इस समस्या से सम्बन्धित रहीं। क्ष
समस्या ने मिलकर १९२९–३४ के उस विश्व
आधार प्रदान किया जिसने द्वितीय महायुद्ध के बीज
ने ब्रिटेन, फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका के स
दिया तथा फ्रान्स एवं जर्मनी के पारस्परिक सम्बन्ध
वनाओं को समाप्त कर दिया। क्षति-पूर्ति-समस्या
ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वयं को यूरोपियन रा
कर लिया और इसका सम्पूर्ण यूरोप पर घातक प्र

---

1. Reparation means "compensation eit
materials, commodities, capital equipm
and the like, payable by a defeated na
for direct damages and for loss fro
occupation costs etc., sustained as a re
the defeated nation."

—*Webster's* New Internatio
Englis

लेकर आगे आने वाले ३० वर्षों में अपने सम्पूर्ण ऋण चुका कर उऋण हो सकेगी।

यह उल्लेखनीय है कि सन्धि में ही क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण इसलिए नहीं किया जा सका कि प्रथम तो पेरिस शान्ति-सम्मेलन में मित्र-राष्ट्रों में कुल राशि के बारे में मतभेद था और दूसरे, घाटे की राशि का निर्धारण नुकसान के अनुपात से किया जाना था जबकि उस समय तक यह निश्चय नहीं हो पाया था कि कुल नुकसान कितना हुआ है। इन अनिश्चितताओं अथवा कठिनाइयों के कारण ही क्षतिपूर्ति की राशि के ...य का उत्तरदायित्व 'क्षति-पूर्ति आयोग' पर डाला गया।

वर्साय-संधि में दी गई व्यवस्था के अनुरूप क्षति-पूर्ति आयोग अपने में जुट गया। **किन्तु आयोग की रिपोर्ट आने तक यह समस्या शान्त रही अपितु आयोग से बाहर उस पर गम्भीर विचार-विमर्श होता ...ौर जर्मनी के कुल रिण को निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता**

जुलाई १९२० में क्षतिपूर्ति-समस्या पर विचार करने के लिये ...रमो (Sanremo), बोलोन (Boulogne), स्पा (Spa), तथा ब्रुसेल्स ...ussels) नामक स्थानों पर चार सम्मेलन हुए। **इनमें जुलाई, १९२० सम्मेलन सर्वाधिक महत्वपूर्ण था।** इस सम्मेलन में जर्मन प्रधानमन्त्री ...र विदेश मन्त्री ने मित्र-राष्ट्रों के प्रमुख मन्त्रियों से पहली बार समानता स्तर पर वार्ता की। सम्मेलन में जर्मनी को उसकी सम्पूर्ण देनदारी के ...रिण के लिये आमन्त्रित किया गया था। यद्यपि स्पा सम्मेलन अपने ...श्य में सफल न हो सका तथापि इसमें यह निश्चय किया गया कि जर्मनी की जाने वाली क्षतिपूर्ति की धनराशि का वितरण निम्नानुसार —

फ्रांस	५२ प्रतिशत
ब्रिटेन	२२ प्रतिशत
इटली	१० प्रतिशत
बेल्जियम	८ प्रतिशत
यूनान, रूमानिया, यूगोस्लाविया	६.५ प्रतिशत
जापान और पुर्तगाल ...	१.५ प्रतिशत
	१०० प्रतिशत

...वरी १९२१ में क्षति-पूर्ति की समस्या पर विचार करने के लिये ... **और सम्मेलन हुआ।** इस सम्मेलन में फ्रांस, ब्रिटेन, जापान, ...म राष्ट्रों ने प्रमुख रूप से भाग लिया। २९ जनवरी

विराम सन्धि से पूर्व यह मान लिया गया कि मित्रराष्ट्र अपने क्षति–पूर्ति के दावों को केवल नागरिक सम्पत्ति की क्षति तक ही सीमित रखेंगे और जर्मनी द्वारा आत्म—समर्पण किये जाने में यह आश्वासन वस्तुतः एक प्रमुख आधार भी बना।

लेकिन जब वर्साय की सन्धि सम्पन्न की जाने लगी तो उपरोक्त आश्वासन को ध्यान में नहीं रखा गया। **शस्त्रों का युद्ध अवश्य बन्द हो गया किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से युद्ध जारी रहा।** मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था पर ही अपनी नई इमारत का निर्माण करना चाहा। विजयी राष्ट्रों की यह आकांक्षा बलवती हो गई कि जर्मनी का रक्त इतना चूस लिया जाय कि उसका सिर्फ कंकाल मात्र शेष रह जाय।

उपरोक्त दृष्टिकोण से निर्देशित होने के कारण ही मित्र और संयुक्त राष्ट्रों ने पेरिस शांति सम्मेलन में अपने सभी पूर्व-आश्वासनों के विपरीत आचरण किया और वर्साय की कठोर सन्धि जर्मनी पर लाद दी। **वर्साय की सन्धि में क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख व्यवस्थायें दी गईं—**

(१) संधि की धारा २३१ में यह उल्लेख था कि "जर्मनी और उसके मित्रों द्वारा थोपे गये युद्ध के परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्रों की सरकारों तथा नागरिकों को होने वाली क्षति के उत्तरदायित्व को जर्मनी स्वीकार करता है।"

(२) संधि की धारा २३२ द्वारा जर्मनी को कहा गया था कि वह मित्रराष्ट्रों की जनता की "नागरिक क्षति" की पूर्ति करे। इस "नागरिक क्षति–पूर्ति" में निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं—

(अ) नागरिक सम्पत्ति के विध्वस और विनाश की क्षतिपूर्ति;
(ब) व्यापारिक व अन्य जहाजों के नाश की क्षतिपूर्ति;
(स) युद्ध में मारे गये या घायल हुए सैनिकों, उनकी विधवाओं तथा उनके आश्रितों को दिये जाने वाली पेंशनों तथा भत्तों की पूर्ति।

(३) क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण मित्रराष्ट्रों द्वारा नियुक्त एक क्षति–पूर्ति आयोग (Reparation Commission) करेगा। इस आयोग द्वारा अपनी रिपोर्ट १ मई १९२१ तक दे दी जायगी।

(४) आयोग द्वारा १ मई १९२१ तक रिपोर्ट देने से पूर्व, अन्तरिम व्यवस्था के रूप में जर्मनी क्षतिपूर्ति के रूप में ५ अरब डालर देगा।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त यह भी उल्लेख किया गया कि क्षति–पूर्ति आयोग एक ऐसी तालिका भी तैयार करेगा जिसमें वह उस समय और ढंग का ब्यौरा देगा जिसके अनुसार जर्मन सरकार १ मई १९२१ से

लेकर आगे आने वाले ३० वर्षों में अपने सम्पूर्ण ऋण चुका कर उऋण हो सकेगी।

यह उल्लेखनीय है कि सन्धि में ही क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण इसलिए नहीं किया जा सका कि प्रथम तो पेरिस शान्ति-सम्मेलन में मित्र-राष्ट्रों में कुल राशि के बारे में मतभेद था और दूसरे, घाटे की राशि का निर्धारण नुकसान के अनुपात से किया जाना था जबकि उस समय तक यह निश्चय नहीं हो पाया था कि कुल नुकसान कितना हुआ है। इन अनिश्चितताओं अथवा कठिनाइयों के कारण ही क्षतिपूर्ति की राशि के निश्चय का उत्तरदायित्व 'क्षति-पूर्ति आयोग' पर डाला गया।

वर्साय-संधि में दी गई व्यवस्था के अनुरूप क्षति-पूर्ति आयोग अपने कार्य में जुट गया। **किन्तु आयोग की रिपोर्ट आने तक यह समस्या शान्त नहीं रही अपितु आयोग से बाहर उस पर गम्भीर विचार-विमर्श होता रहा और जर्मनी के कुल रिण को निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता रहा।**

जुलाई १६२० में क्षतिपूर्ति-समस्या पर विचार करने के लिये सानरेमो (Sanremo), बोलोन (Boulogne), स्पा (Spa), तथा ब्रुसेल्स (Brussels) नामक स्थानों पर चार सम्मेलन हुए। **इनमें जुलाई, १६२० का स्पा सम्मेलन सर्वाधिक महत्वपूर्ण था।** इस सम्मेलन में जर्मन प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री ने मित्र-राष्ट्रों के प्रमुख मन्त्रियों से पहली बार समानता के स्तर पर वार्ता की। सम्मेलन में जर्मनी को उसकी सम्पूर्ण देनदारी के निर्धारण के लिये आमन्त्रित किया गया था। यद्यपि स्पा सम्मेलन अपने उद्देश्य में सफल न हो सका तथापि इसमें यह निश्चय किया गया कि जर्मनी से वसूल की जाने वाली क्षतिपूर्ति की धनराशि का वितरण निम्नानुसार होगा—

फ्रांस	५२ प्रतिशत
ब्रिटेन	२२ प्रतिशत
इटली	१० प्रतिशत
बेल्जियम	८ प्रतिशत
यूनान, रूमानिया, यूगोस्लाविया	६·५ प्रतिशत
जापान और पुर्तगाल ...	१·५ प्रतिशत
	१०० प्रतिशत

जनवरी १६२१ में क्षति-पूर्ति की समस्या पर विचार करने के लिये **पेरिस में एक और सम्मेलन हुआ।** इस सम्मेलन में फ्रांस, ब्रिटेन, जापान, इटली और बेल्जियम राष्ट्रों ने प्रमुख रूप से भाग लिया। २६ जनवरी

१९२१ को इन मित्रराष्ट्रों में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार जर्मनी से ११ अरब पौंड की मांग की गई जो ४२ वार्षिक किश्तों में अदा की जानी थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी से यह मांग की गई कि वह अपने निर्यात-व्यापार आय का १२ प्रतिशत भी दे। इस प्रस्ताव से जर्मनी में विरोध की भावना भड़क उठी। जर्मन लोगों ने कहा कि इस योजना को योग्य एवं विश्वसनीय विशेषज्ञों के सम्मेलन द्वारा नहीं बल्कि पागलखाने में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा बनाया गया है। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी पर इस योजना को स्वीकार करने के लिये उस समय कोई दबाव नहीं डाला, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने मार्च १९२१ में **लंदन सम्मेलन** आयोजित किया और जर्मनी को अपना उत्तर देने के लिये बुलावा भेजा। जर्मनी ने विजेता सरकारों की विशाल मांगों पर पुनर्विचार कराने के लिये जी-तोड़ प्रयत्न किया और सम्मेलन में अपना यह प्रस्ताव रखा कि मित्रराष्ट्र उससे केवल १$\frac{1}{2}$ अरब पौंड क्षतिपूर्ति नकद ले लें। साथ ही उसने यह भी शर्त रखी कि नियत राशि पूरी-पूरी अदा होते ही अधिकृत क्षेत्रों से निकट काल में ही मित्र-राष्ट्रों की सेनाएं हटाली जायं, अपर साइलेशिया पर जर्मनी का अधिकार रहने दिया जाय और उस पर से सारे व्यापारिक प्रतिवन्धों को उठा लिया जाय। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के इस प्रस्ताव को बेहूदा बताते हुए ठुकरा दिया और इस प्रकार क्षति-पूर्ति वार्ता बिना किसी समझौते के समाप्त हो गई। सम्मेलन ने यह अवश्य निश्चय किया कि जर्मनी केवल मात्र अपराधी ही नहीं है बल्कि उसने जानबूझ कर अपराध किया है और यदि ७ मार्च तक जर्मनी से यह आश्वासन प्राप्त नहीं हो जाता कि या तो जर्मनी २९ जनवरी के पेरिस निर्णयों को स्वीकार करता है या फिर ऐसे सुझाव रखता है जो पेरिस निर्णयों के समान ही सन्तोषजनक रूप में दायित्व पूर्ति के सूचक हों, तो यह सम्मेलन अन्य कार्यवाहियों के साथ राइन नदी के दाहिने किनारे पर स्थित डुइसवर्ग (Duisburg), ड्यूसलडोर्फ (Dusseldorf) और रूहरोर्ट (Ruhrort) के औद्योगिक केन्द्रों पर कब्जा कर लेगा। **जर्मनी उपरोक्त शर्तें पूरी नहीं कर सका, अतः उसे अपराधी घोषित किया गया और ८ मार्च को फ्रांस, बेल्जियम तथा ब्रिटेन की फौजों ने तीनों नगरों पर अधिकार कर लिया।** इसके अतिरिक्त जर्मनी से आयात की हुई वस्तुओं पर आयात-कर लगा दिया गया। जर्मनी ने राष्ट्रसंघ में अपील की लेकिन वह बेकार सिद्ध हुई।

क्षतिपूर्ति आयोग का कार्यः—मित्रराष्ट्रों के उपरोक्त व्यवहार ने क्षति-पूर्ति आयोग को भी वर्साय संधि के कर्त्तव्यों का कठोरता से पालन करने के लिये सतर्क कर दिया। आयोग के सामने मित्र और साथी राष्ट्रों

ने अपने-अपने क्षति-पूर्ति के दावे प्रस्तुत किये। २७ अप्रैल १९२१ को क्षति-पूर्ति आयोग ने जर्मनी द्वारा अदा की जाने वाली क्षति-पूर्ति की कुल राशि ब्याज सहित ६,६००,०००,००० पौंड (३३ अरब डालर) निश्चित की। यह राशि शान्ति-सम्मेलन में अर्थ-विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित राशि से तिगुनी थी, किन्तु विजयी नेताओं की दृष्टि में यह बहुत ही अल्प थी।

आयोग की रिपोर्ट के आधार पर मित्रराष्ट्रीय सर्वोच्च परिषद ने मई १९२१ में लंदन अनुसूची (London Schedule) तैयार की। इस अनुसूची के द्वारा जर्मनी की विशाल देनदारी को तीन प्रकार के ऋण-पत्रों (Bonds) अ, ब, स में विभाजित कर दिया गया। 'अ' और 'ब' ऋणपत्रों के अन्तर्गत २,६०० मिलियन पौंड थे अर्थात् सम्पूर्ण क्षति-पूर्ति का १/३ भाग था और जर्मनी को यह रकम १ अरब पौंड प्रति वर्ष के हिसाब से देनी थी। इसके साथ ही साथ उसको अपनी निर्यात वस्तुओं के मूल्य का २५ प्रतिशत भी देना था। यह भी निश्चित किया गया कि जर्मनी ५० मिलियन पौंड ३१ अगस्त, १९२१ तक चुका दे। 'स' ऋणपत्र की रकम ४,००० मिलियन पौंड निर्धारित की गई। इस ऋणपत्र की रकम जर्मनी को उसकी भुगतान करने की क्षमता स्थिर हो जाने पर करनी थी। इस प्रकार पूरे कर्ज की इस २/३ रकम की वसूली अनिश्चित काल के लिये स्थिर कर दी गई थी।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह भी स्पष्ट कर दिया कि १ मई १९२१ तक जर्मनी ने जो रकम अदा की है वह नितान्त अपर्याप्त है और जर्मनी में स्थित मित्रराष्ट्रों की सेना के खर्च के लिये भी पूरी नहीं पड़ती है। आयोग के इस स्पष्टीकरण का अभिप्राय यही था कि जर्मनी द्वारा अब तक अदा की गई रकम को कोई महत्व नहीं दिया गया।

जर्मनी द्वारा प्रथम किश्त की अदायगी:— मित्र-राष्ट्रों को सम्भवतः इस बात का पूरा विश्वास था कि जर्मनी क्षति-पूर्ति की इतनी बड़ी रकम देना स्वीकार न करेगा। अतः सैनिक तैयारियां की जाने लगीं और ५ मई १९२१ को जर्मनी को चुनौती दे दी गई कि यदि वह उक्त योजना १२ मई तक स्वीकार न करेगा तो मित्र राष्ट्र रूर (Ruhr) पर कब्जा कर लेंगे। मित्रराष्ट्रों की यह धमकी अत्यन्त सांघातिक थी। रूर जर्मनी के धातु-उद्योगों का केन्द्र था और सम्पूर्ण जर्मनी के कोयले, लोहे तथा इस्पात का लगभग ८० प्रतिशत भाग वहां उत्पन्न होता था। जिस समय जर्मनी को यह चुनौती मिली उस समय वहां एक गम्भीर आन्तरिक संकट चल रहा था और तत्कालीन सरकार त्याग-पत्र दे चुकी थी। सौभाग्यवश चुनौती की अवधि समाप्त होने के १ दिन पूर्व ही वर्थ के संरक्षण में बने नये जर्मन

मन्त्रिमण्डल ने मित्रराष्ट्रों की मांगो को स्वीकार कर लिया। अगस्त में, नाना कठिनाईयों के बावजूद भी, जर्मनी ने पहली छः माह की पूरी किश्त ५० मिलियन पौण्ड (२५ करोड डालर) भी चुका दी और इस तरह क्षतिपूर्ति समस्या का पहला चरण समाप्त हो गया।

जर्मनी को शोचनीय स्थिति और क्षतिपूर्ति को किश्तों को देने में असमर्थता

जर्मनी ने यद्यपि अगस्त १८२१ में लंदन की कुछ बैंकों की सहायता से छः माह की पूरी किश्त अदा कर दी, किन्तु उसकी आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय थी कि क्षतिपूर्ति की विशाल राशि को यथासम्भव और पूरी मात्रा में अदा करना उसके लिये असम्भव था। इसलिये आने वाले ३ वर्षों तक उसकी यह पहली और आखरी किश्त रही। **जर्मनी द्वारा अदायगी की इस असमर्थता के कारण मोटे रूप में तीन थे।**

(१) जर्मनी के समक्ष घोर आर्थिक कठिनाईयां उपस्थित थीं। वह क्षतिपूर्ति की राशि का तीन प्रकार से अथवा तीन रूपों में भुगतान कर सकता था—(१) स्वर्ण के रूप में, (२) माल के रूप में, अथवा (३) सेवाओं के रूप में।

क्षतिपूर्ति की रकम को स्वर्ण रूप में चुकाना इसलिए सम्भव नहीं था कि जर्मनी के पास स्वर्ण का सर्वथा अभाव था। महायुद्ध का भारी व्यय उसके स्वर्ण-भण्डार को मटियामेट कर चुका था। जर्मनी स्वर्ण केवल दो ही उपायों से प्राप्त कर सकता था—विदेशी ऋण से और आयात की अपेक्षा निर्यात व्यापार की वृद्धि करके। विदेशों से ऋण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। प्रथम तो जर्मनी को ऋण देने की सामर्थ्य संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त अन्य किसी देश में नहीं थी और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय साख न होने से अमेरिका भी ऐसे पराजित राष्ट्र को ऋण देने के लिए तैयार नहीं था। जर्मनी के लिये निर्यात व्यापार बढ़ाकर स्वर्ण अर्जित करना भी सम्भव न था। प्रथम तो युद्ध में हुई क्षति के कारण उसके आयात बढ़ गये थे और निर्यात की मात्रा कम हो गई थी। दूसरे, निर्यात बढ़ाने के लिये यह आवश्यक था कि जर्मनी अपने कारखानों में खूब माल तैयार करे और उन्हें विदेशों में बेचे। लेकिन ऐसा इसलिये सम्भव न था क्योंकि वर्साय की संधि द्वारा उसके अनेक औद्योगिक प्रदेश, कच्चे माल के स्रोत और तैयार माल को खरीदने वाले उपनिवेश उससे छीन लिये गये थे। इस प्रकार स्थिति यह थी कि अपने उद्योग-धन्धों को चलाने तक के लिए उसे विदेशों से अधिकाधिक माल मंगाना पड़ता था। यही नहीं, इस प्रतिकूल व्यापार-संतुलन ने जर्मनी की रही-सही स्वर्ण राशि भी घटती जा रही थी।

जर्मनी द्वारा **माल के रूप में क्षतिपूर्ति की अदायगी** स्वयं मित्रराष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक थी। माल के रूप में कोयला, लोहा, लकड़ी, खनिज पदार्थ, जहाज, कल-कारखानों की मशीनें आदि दी जाती थीं। जर्मनी ने इस प्रकार की कुछ अदायगी की भी। परन्तु मित्रराष्ट्रों के उद्योग धन्धों के लिये घाटे का सौदा होने के कारण ऐसी अदायगी का विरोध हुआ। ब्रिटेन ने जर्मन पनडुब्बियों द्वारा नष्ट किये गये जहाजों के बदले में जर्मनी के जहाज लिये, पर इससे ब्रिटिश जहाज-निर्माण के उद्योग को बड़ा नुकसान पहुंचा। इसी प्रकार अन्य देशों को भी माल के रूप में अदायगी महंगी पड़ी। जर्मनी से क्षतिपूर्ति के बदले में आया सामान स्वतः ही सस्ता बिकने लगा जिससे प्राप्तकर्त्ता राष्ट्रों के उद्योगों को बड़ी हानि पहुंची।

अदायगी का तीसरा प्रकार **सेवाओं के रूप में** हर्जाना देना था। यह जर्मनी मुख्य रूप से अपने जहाजों द्वारा दूसरे देशों के माल की ढुलाई करके ही दे सकता था। किन्तु जर्मनी इस रूप में भी असफल रहा क्योंकि उसके अधिकांश व्यापारी जहाज मित्रराष्ट्रों द्वारा छीन लिये गये थे।

उपरोक्त भीषण कठिनाइयों के कारण क्षतिपूर्ति की राशि चुकाना तो दूर रहा उल्टे जर्मनी आर्थिक विनाश के कगार पर बढ़ता गया। उसका आर्थिक संतुलन पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो गया, सोने का भण्डार निरन्तर खाली होता गया, मुद्रा-स्फीति बढ़ गई और जर्मन करेंसी की कीमत गिरने लगी।

(२) क्षतिपूर्ति की अदायगी में जर्मनी के सामने एक बड़ा बाधक कारण यह बन गया कि जर्मन उद्योगपतियों ने सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया और जर्मनी से पूंजी बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों में जाने लगी। जर्मन पूंजीपतियों को यह आशंका हुई कि यदि उनकी पूंजी जर्मनी में रही तो हर्जाना वसूल करने के लिये इस पर अधिक से अधिक कर लगाया जायगा। अतः पूंजी की सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने इसे विदेश में भेजना ही उपयुक्त समझा। जर्मनी में अदायगी की इच्छा का भी अभाव था। जर्मन लोग इस अदायगी को अनैतिक मानते थे।

(३) पूंजी की कमी का वित्तीय (Finance) अवस्था पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीय बजट में घाटा होने लगा जिसकी पूर्ति के लिये पत्र-मुद्राएं और नोट छापे जाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि **जर्मन सिक्के 'मार्क' का दाम गिरता गया और जर्मनी में गम्भीर मुद्रा संकट पैदा हो गया।**[1] १९२० के मध्य तक यह स्थिति हो गई कि पहले एक पौण्ड

1. "The strain of the war the loss of many assets under Versailles treaty, the drain of the wealth to meet the Reparation account, the general uncertainty which encouraged Germans to send their spare money out of the country had led to a drop in the value of Mark." —*Hampden Jackson*

की विनिमय दर २० मार्क थी जब कि अब २५० मार्क हो गई। नव
१९२१ में यह १ हजार मार्क हो गई, और १९२२ की गर्मियों में ३,५
मार्क। इस शोचनीय स्थिति में जर्मनी ने अगस्त १९२२ में मित्रराष्ट्रों से
अनुरोध किया कि वे उसे अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का अवस
और इसलिये जनवरी १९२५ तक याने तीन वर्ष के लिये नकद किश्तों
अदायगी स्थगित करने (Moratorium) की सुविधा प्रदान करें।

जर्मनी के इस प्रस्ताव ने क्षतिपूर्ति की समस्या को एक गम्भीर म
दिया और इस समस्या का दूसरा चरण आरम्भ हो गया जिसने मित्ररा
की एकता की पहले से ही कुछ ढीली पड़ी हुई दीवारों को और भी ढ
कर दिया।

ग्रेट ब्रिटेन और फ्राँस का मतभेद

जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की अदायगी में पूर्ण मुहलत (Total Mo
torium) की मांग की गई। फलस्वरूप क्षतिपूर्ति की समस्या कुछ समय
लिए मित्रराष्ट्रों और जर्मनी के बीच की समस्या न रही बल्कि ब्रिटिश–फ्र
मतभेदों में परिवर्तित हो गई।

ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही मित्रराष्ट्रों में मतभेद का बीजारोपण रा
भूमि पर संयुक्त अधिकार के प्रश्न को लेकर १९२० में ही हो चुका थ
फ्रांस अतीत में जर्मनी से बार–बार रौंदा जा चुका था, अतः वर्तमान परा
और विवश जर्मनी से भी वह भयमुक्त नहीं हो पाया था। वह चाहता
कि जर्मनी के प्रति आर्थिक, राजनीतिक आदि हर क्षेत्र में कठोरतम नीति
अनुसरण किया जाय और जर्मनी को सदैव एक पददलित राष्ट्र की स्थि
में बनाये रखा जाय। फ्रांस के विपरीत ब्रिटेन परम्परा से शक्ति–संतुलन
सिद्धान्त का प्रतिपादक रहा था। इस नीति पर चलने के कारण वह यूरो
प्रायद्वीप में किसी एक राष्ट्र को विशेष शक्ति सम्पन्न अवस्था में नहीं देख
चाहता था। अतः उसके लिये यह सम्भव न था कि वह जर्मनी को पूरी त
से कुचलकर धूल में मिला डालने के लिये फ्रांस को खुली छूट दे दे। वास
में युद्ध की समाप्ति के बाद से ही ब्रिटेन में जर्मन विरोधी भावनायें तेजी
कम होती जा रही थीं। राइन भूमि पर पड़ी हुई फ्रेंच सेना अपने अत्याच
से जर्मनों को जहां अपना और भी कटु शत्रु बना रही थी वहां ब्रिटिश से
ने अपने उदार व्यवहार के कारण जर्मनों में स्वयं को लोकप्रिय बना लि
था। फ्रांस ने अफ्रीका के अश्वेत नीग्रों की एक सैनिक टुकड़ी द्वारा श्वेत जर्म
पर बड़ा अत्याचार कराया था। इस 'अश्वेत अपमान' के कारण ब्रिटेन अ
अमेरिका का लोकमत फ्रांस से बड़ा क्षुब्ध था।[1]

---

1. *Lee Benns* : Europe Since 1914, P. 167.

ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेदों की खाई एक और दृष्टि से भी चौड़ी होती जा रही थी। युद्ध की समाप्ति के कुछ समय बाद तक ग्रेट ब्रिटेन में यूरोपियन देशों के माल की मांग अधिक होने से उद्योग-धन्धों में खूब तेजी आई, लेकिन १६२० तक यह स्थिति समाप्त हो गई। ब्रिटेन का निर्यात व्यापार कम हो गया, मांग कम होने से कल-कारखाने बन्द होने लगे, बेकारी बढ़ने लगी। युद्ध से पूर्व जर्मनी ब्रिटिश-माल का सबसे बड़ा ग्राहक था अतः ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये यह आवश्यक था कि उसके ग्राहक देश जर्मनी की आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाय। जर्मनी यूरोप का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण औद्योगिक देश था और उसकी समृद्धि से ही ब्रिटिश व्यापार तथा उद्योग की उन्नति सम्भव थी। यही कारण था कि ब्रिटिश नेता क्षतिपूर्ति की समस्या पर फ्रांस का समर्थन करने के लिये तैयार होते हुये भी यह विचार रखते थे कि क्षतिपूर्ति की अदायगी से पूर्व जर्मनी का आर्थिक पुनर्निर्माण आवश्यक है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न जर्मनी से ब्रिटेन को इस प्रकार के आक्रमण की आशंका भी नहीं थी क्योंकि जर्मन सैनिक बेड़ा नौ-नष्ट किया जा चुका था।

ब्रिटेन के विपरीत फ्रांस का विचार कुछ दूसरा था। युद्ध में फ्रांस को काफी नुकसान उठाना पड़ा था। उसका १३ अरब वर्गमील का उत्तर-पश्चिमी प्रदेश बुरी तरह विध्वंस्त हो चुका था। उसकी कृषि-योग्य भूमि और औद्योगिक केन्द्र बर्बाद हो गये थे। फ्रांस के सामने प्रधान आर्थिक समस्या इन बर्बादियों के पुनर्निर्माण की थी। वर्साय संधि के अनुसार जर्मनी से हर्जाना वसूल करके ही इन क्षेत्रों को पुनः बसाना था लेकिन फ्रांस को अब तक क्षतिपूर्ति के खाते में प्रायः कुछ नहीं मिला था। फ्रांस जितना पुनर्निर्माण के कार्य में खर्च कर रहा था, उसके अनुपात में क्षतिपूर्ति के रूप में वह बहुत कम अंश प्राप्त कर पाया था। फ्रांस प्रति मिनट ११५० पौण्ड निर्माण-कार्यों और पेंशन में खर्च कर रहा था जबकि जर्मनी से उसे केवल ७६ पौण्ड प्रति-मिनट प्राप्त हो रहा था, अर्थात् उसे अपने खर्च का केवल १५वां हिस्सा ही मिल रहा था। १६२२ तक फ्रांस उपरोक्त कार्यों में $7\frac{1}{2}$ अरब डालर व्यय कर चुका था और वह इस राशि को जर्मनी से वसूल करने की आशा रखता था। फ्रांस समझता था कि जर्मनी असमर्थता का केवल स्वांग भर रहा है। फ्रेंच प्रधानमंत्री पोयेन्कर (Ponicare) कहता भी था कि बर्लिन यूरोप का सबसे खुशहाल नगर है क्योंकि जर्मन लोग अन्ध धुन्ध भौतिक-सुख भोग में खर्च कर रहे थे; लेकिन बात दरअसल ऐसी नहीं थी। तत्कालीन परिस्थितियों में जर्मन लोग जमा करने के बजाय खर्च करना ही अच्छा समझते थे। लोग उस समय यही कहते थे-"कम खर्चीला मत बनो। खूब पीओ और जो कुछ भी पास में है, उसे खर्च कर डालो अन्यथा यह धन भी

मित्रराष्ट्रों की जेब में चला जायेगा।" फ्रांस जर्मनी से क्षति-पूर्ति की रकम कठोरता से वसूल करके और इस तरह उस पर अधिकाधिक आर्थिक बोझ डालकर उसे इतना पंगु और निर्बल बना देना चाहता था कि भविष्य में वह कभी फ्रांस पर आक्रमण का दुःसाहस न कर सके।

उपरोक्त मानसिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में जब जनवरी १६२५ तक नक़द किश्तों की अदायगी स्थगित करने सम्बन्धी जर्मन प्रस्ताव मिला तो दोनों देशों में मतभेद उग्र रूप में उठ खड़े हुए। जर्मन-प्रस्ताव पर विचार करने के लिये जनवरी १६२२ में केनिस (Cannes) में सम्मेलन बुलाया गया और बड़े वाद-विवाद के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि जर्मनी अदायगी का थोड़ा-सा हिस्सा आगे के लिये स्थगित कर सकता है। इस समस्या पर और भी विचार-विमर्श करने के लिये मित्रराष्ट्रों ने अप्रेल १६२२ में जेनेवा में एक और सम्मेलन किया। १२ जुलाई १६२२ को जर्मनी ने पूरी मुहलत देने के लिये पुनः अनुरोध किया और १३ अगस्त १६२२ को एक बार फिर नकद भुगतान से छः महिने के लिये छूट दे दी गई। परन्तु जर्मनी का आर्थिक संकट बढ़ता जा रहा था और उसकी मुद्रा की कीमत निरन्तर गिरती जा रही थी। अतः जर्मन सरकार ने आर्थिक संकट के आधार पर क्षतिपूर्ति नक़द देने में असमर्थता प्रकट करते हुए १४ नवम्बर को फिर मांग की कि नकद अदायगी १६२५ तक के लिये स्थगित करदी जाय और साथ ही अपनी मुद्रा दृढ़ करने के लिये उसे ऋण भी प्रदान किया जाय।

जर्मनी की मांग से ब्रिटेन और फ्रांस के कूटनीतिक सम्बन्धों में और भी तनाव पैदा हो गया। ब्रिटेन जर्मनी का अनुरोध मानने को तैयार था, परन्तु फ्रांस अड़ा रहा। ८ दिसम्बर १६२२ को जर्मनी के १४ नवम्बर वाले अनुरोध पर विचार करने के लिए लन्दन में जो सम्मेलन हुआ उसमें ब्रिटिश-फ्रेंच रुख की विपरीतता समाप्त न हो सकी। फ्रांस के सौभाग्य से इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका सीनेट द्वारा वर्साय की संधि स्वीकृत न होने के कारण क्षतिपूर्ति आयोग से पृथक हो चुका था। अन्य सदस्यों में इटली और बेल्जियम फ्रांस के साथ थे।

चूंकि फ्रांस जर्मनी को भिखारी से भी अधिक बनाने पर तुला हुआ था, अतः उसने टेलीफोन के खंभों के लिये जर्मनी से इमारती लकड़ी की अदायगी न होने पर २६ दिसम्बर को क्षति-पूर्ति आयोग की बैठक में जर्मनी को राशि अदा न करने वाला (Defaulter) घोषित करने का प्रस्ताव किया। **ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जॉन ब्रैडबरी ने इस प्रस्ताव का तीव्र विरोध करते हुए कहा—"ट्राय को लकड़ी के घोड़े से हराने के बाद यह लकड़ी का सबसे बड़ा**

दुरुपयोग है ।"[1] लेकिन सभापति का निर्णायक मत प्रस्ताव के पक्ष में पड़ा और क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को नियत राशि न चुकाने वाला घोषित कर दिया । इस घोषणा का महत्व संधि की उस धारा में निहित था जिसके अनुसार मित्रराष्ट्रों को यह अधिकार मिला था कि "यदि जर्मनी जानबूझ कर क्षतिपूर्ति नहीं करे तो सम्बन्धित सरकारें आवश्यक कदम उठा सकती हैं ।" अंत में, १० जनवरी १९२३ को जब क्षतिपूर्ति समस्या की दूसरी अवधि पूरी हो गई तो फ्रांस ने घोषणा कर दी कि रूर पर अधिकार जमाने के लिये शीघ्र ही एक सैनिक टुकड़ी भेजी जायेगी । इस ऐलान के साथ क्षतिपूर्ति समस्या का दूसरा चरण समाप्त हो गया ।

रूर पर अधिकार (१९२३) और उसके परिणाम

क्षतिपूर्ति समस्या का तीसरा चरण उस समय आरम्भ हुआ जब फ्रेंच, बेल्जियन और इटालियन सेनायें ११ जनवरी १९२३ को रूर में प्रवेश कर गई । सेना ने डोर्टमुण्ड (Dortmund) के पूर्व तक रूर (Ruhr) के प्रदेश पर कब्जा कर लिया, यद्यपि पेयेन्कर ने घोषणा की कि रूर पर कब्जा रखने का फ्रांस का कोई इरादा नहीं है, केवल क्षतिपूर्ति न मिलने तक वे उस पर अधिकार रखना चाहते हैं । फ्रेंच, बेल्जियन और इटालियन सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश केवल ६० मील लम्बा और २८ मील चौड़ा था, किन्तु यह जर्मनी का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र था । इस क्षेत्र में सम्पूर्ण जर्मनी का ८० प्रतिशत कोयला, लोहा और इस्पात उत्पन्न होता था तथा ७० प्रतिशत रेलवे माल की ढुलाई होती थी । इस प्रदेश में ९ नगर थे और जर्मन आबादी की ६० प्रतिशत जनता यहां निवास करती थी । फ्रांस इस छोटे से किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रदेश पर अधिकार करके जर्मनी को क्षतिपूर्ति की रकम अदा करने के लिये बाधित करना चाहता था । वह यहां के कारखानों की आय से इस राशि की पूर्ति के लिये उत्सुक था ।

रूर आधिपत्य के अपने इस कुकार्य में फ्रांस ने यह भरसक प्रयत्न किया था कि उसे ब्रिटिश सरकार का समर्थन मिल जाय, लेकिन समर्थन मिलना तो दूर रहा उल्टे ब्रिटिश न्यायविदों ने इस कार्य को अवैध घोषित किया और इसमें ब्रिटेन ने कोई भाग नहीं लिया । ब्रिटेन ने रूर आधिपत्य को ग़ैर-क़ानूनी माना क्योंकि जर्मनी द्वारा नियम भंग स्वेच्छा से नहीं किया गया था बल्कि यह उसके आर्थिक संकट का स्वाभाविक परिणाम था । फ्रांस का यह कदम अविवेकपूर्ण समझा गया क्योंकि इससे क्षति-पूर्ति की रकम चुकाने की जर्मन क्षमता के ही नष्ट हो जाने का भय था । आने वाले समय ने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रिटिश सरकार अपने रुख में सही थी ।

---

1. "Since Troy fell to the strategies of wooden horse, history recorded no similar use of timber."

मित्रराष्ट्रों की जेब में चला जायेगा।" फ्रांस जर्मनी से क्षति-पूर्ति की रकम कठोरता से वसूल करके और इस तरह उस पर अधिकाधिक आर्थिक बोझ डालकर उसे इतना पंगु और निर्बल बना देना चाहता था कि भविष्य में वह कभी फ्रांस पर आक्रमण का दुःसाहस न कर सके।

उपरोक्त मानसिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में जब जनवरी १९२५ तक नक़द किश्तों की अदायगी स्थगित करने सम्बन्धी जर्मन प्रस्ताव मिला तो दोनों देशों में मतभेद उग्र रूप में उठ खड़े हुए। जर्मन-प्रस्ताव पर विचार करने के लिये जनवरी १९२२ में केनिस (Cannes) में सम्मेलन बुलाया गया और बड़े वाद-विवाद के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि जर्मनी अदायगी का थोड़ा-सा हिस्सा आगे के लिये स्थगित कर सकता है। इस समस्या पर और भी विचार-विमर्श करने के लिये मित्रराष्ट्रों ने अप्रेल १९२२ में जेनेवा में एक और सम्मेलन किया। १२ जुलाई १९२२ को जर्मनी ने पूरी मुहलत देने के लिये पुनः अनुरोध किया और १३ अगस्त १९२२ को एक बार फिर नकद भुगतान से छः महिने के लिये छूट दे दी गई। परन्तु जर्मनी का आर्थिक संकट बढ़ता जा रहा था और उसकी मुद्रा की कीमत निरन्तर गिरती जा रही थी। अतः जर्मन सरकार ने आर्थिक संकट के आधार पर क्षतिपूर्ति नक़द देने में असमर्थता प्रकट करते हुए १४ नवम्बर को फिर मांग की कि नकद अदायगी १९२५ तक के लिये स्थगित करदी जाय और साथ ही अपनी मुद्रा दृढ़ करने के लिये उसे ऋण भी प्रदान किया जाय।

जर्मनी की मांग से ब्रिटेन और फ्रांस के कूटनीतिक सम्बन्धों में और भी तनाव पैदा हो गया। ब्रिटेन जर्मनी का अनुरोध मानने को तैयार था, परन्तु फ्रांस अड़ा रहा। ८ दिसम्बर १९२२ को जर्मनी के १४ नवम्बर वाले अनुरोध पर विचार करने के लिए लन्दन में जो सम्मेलन हुआ उसमें ब्रिटिश-फ्रेंच रुख की विपरीतता समाप्त न हो सकी। फ्रांस के सौभाग्य से इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका सीनेट द्वारा वर्साय की संधि स्वीकृत न होने के कारण क्षतिपूर्ति आयोग से पृथक हो चुका था। अन्य सदस्यों में इटली और बेल्जियम फ्रांस के साथ थे।

चूंकि फ्रांस जर्मनी को भिखारी से भी अधिक बनाने पर तुला हुआ था, अतः उसने टेलीफोन के खंभों के लिये जर्मनी से इमारती लकड़ी की अदायगी न होने पर २६ दिसम्बर को क्षति-पूर्ति आयोग की बैठक में जर्मनी को राशि अदा न कर ने वाला (Defaulter) घोषित करने का प्रस्ताव किया। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जॉन ब्रैडबरी ने इस प्रस्ताव का तीव्र विरोध करते हुए कहा-"ट्राय को लकड़ी के घोड़े से हराने के बाद यह लकड़ी का सबसे बड़ा

दुरुपयोग है।"[1] लेकिन सभापति का निर्णायक मत प्रस्ताव के पक्ष में पड़ा और क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को नियत राशि न चुकाने वाला घोषित कर दिया। इस घोषणा का महत्व संधि की उस धारा में निहित था जिसके अनुसार मित्रराष्ट्रों को यह अधिकार मिला था कि "यदि जर्मनी जानबूझ कर क्षतिपूर्ति नहीं करे तो सम्बन्धित सरकारें आवश्यक कदम उठा सकती हैं।" अंत में, १० जनवरी १६२३ को जब क्षतिपूर्ति समस्या की दूसरी अवधि पूरी हो गई तो फ्रांस ने घोषणा कर दी कि रूर पर अधिकार जमाने के लिये शीघ्र ही एक सैनिक टुकड़ी भेजी जायेगी। इस ऐलान के साथ क्षतिपूर्ति समस्या का दूसरा चरण समाप्त हो गया।

रूर पर अधिकार (१६२३) और उसके परिणाम

क्षतिपूर्ति समस्या का तीसरा चरण उस समय आरम्भ हुआ जब फ्रेंच, बेल्जियन और इटालियन सेनायें ११ जनवरी १६२३ को रूर में प्रवेश कर गई। सेना ने डोर्टमुण्ड (Dortmund) के पूर्व तक रूर (Ruhr) के प्रदेश पर कब्जा कर लिया, यद्यपि पेयेन्कर ने घोषणा की कि रूर पर कब्जा रखने का फ्रांस का कोई इरादा नहीं है, केवल क्षतिपूर्ति न मिलने तक वे उस पर अधिकार रखना चाहते हैं। फ्रेंच, बेल्जियन और इटालियन सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश केवल ६० मील लम्बा और २८ मील चौड़ा था, किन्तु यह जर्मनी का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र था। इस क्षेत्र में सम्पूर्ण जर्मनी का ८० प्रतिशत कोयला, लोहा और इस्पात उत्पन्न होता था तथा ७० प्रतिशत रेलवे माल की ढुलाई होती थी। इस प्रदेश में ६ नगर थे और जर्मन आबादी की ६० प्रतिशत जनता यहां निवास करती थी। फ्रांस इस छोटे से किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रदेश पर अधिकार करके जर्मनी को क्षतिपूर्ति की रकम अदा करने के लिये बाधित करना चाहता था। वह यहां के कारखानों की आय से इस राशि की पूर्ति के लिये उत्सुक था।

रूर आधिपत्य के अपने इस कुकार्य में फ्रांस ने यह भरसक प्रयत्न किया था कि उसे ब्रिटिश सरकार का समर्थन मिल जाय, लेकिन समर्थन मिलना तो दूर रहा उल्टे ब्रिटिश न्यायविदों ने इस कार्य को अवैध घोषित किया और इसमें ब्रिटेन ने कोई भाग नहीं लिया। ब्रिटेन ने रूर आधिपत्य को गैर-कानूनी माना क्योंकि जर्मनी द्वारा नियम भंग स्वेच्छा से नहीं किया गया था बल्कि यह उसके आर्थिक संकट का स्वाभाविक परिणाम था। फ्रांस का यह कदम अविवेकपूर्ण समझा गया क्योंकि इससे क्षति-पूर्ति की रकम चुकाने की जर्मन क्षमता के ही नष्ट हो जाने का भय था। आने वाले समय ने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रिटिश सरकार अपने रुख में सही थी।

---

1. "Since Troy fell to the strategies of wooden horse, history recorded no similar use of timber."

रूर पर आधिपत्य के बाद जर्मन सरकार के सामने दो ही मार्ग थे—या तो वह फ्रेंच मांगों को स्वीकार कर ले, अथवा आधिपत्यकारियों के साथ असहयोग की नीति अपनाकर निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) करे। चूंकि प्रथम मार्ग अपनाने में जर्मनी असमर्थ था, अतः तत्कालीन जर्मन प्रधानमन्त्री कूनो (Cuno) ने फ्रेंच योजना को असफल बनाने के लिये निष्क्रिय प्रतिरोध और असहयोग की नीति ही अपनायी। उसने फ्रांस और बेल्जियम को दी जाने वाली सारी क्षति-पूर्ति बन्द कर दी और रूर प्रदेश के जर्मनों को आदेश दे दिया कि वे शत्रु सेनाओं को कोई सहयोग न दें, खानों, कारखानों, रेलों तथा उद्योग-धन्धों में अपना काम छोड़ दें, किसी प्रकार का कोई कर अदा न करें और पूर्णतः सार्वजनिक हड़ताल मनाएं। इस प्रकार बेकार होने वाले व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देने की घोषणा की गई। सम्पूर्ण व्यय द्रव्य की निर्बाध छपाई (*Unrestricted printing of money*) करके पूरा किया गया। जर्मनी का प्रयत्न यह था कि रूर प्रदेश का सम्पूर्ण आर्थिक व्यापार ठप्प हो जाय, फ्रांस वहां से एक पाई भी न पा सके अपितु सेना रखने के भारी भरकम व्यय से तथा दिवालिया होने की आशका से डर कर स्वतः ही हटने को बाध्य हो जाय। जर्मन सरकार ने ब्रुसेल्स और पेरिस में स्थित अपने राजदूतों को भी वापिस बुला लिया।

जर्मन जनता ने अपनी सरकार को एकमत होकर सहयोग दिया। राष्ट्रीय अपमान को पीकर जिन्दा रहने की अपेक्षा वह मर जाना अधिक पसन्द करती थी। यह वास्तव में अत्यन्त हास्यास्पद और साथ ही अमानुषिक बात थी कि फ्रान्स जर्मनी को चूस भी लेना चाहता था और क्षतिपूर्ति की भी मांग करता था। वह यह भूल ही गया था कि सूखे नीबू से भला किस प्रकार रस निकाला जा सकता है। फ्रांस जर्मनों को यह सबक सिखाना चाहता था कि फ्रांस से टकराने के क्या परिणाम होते हैं। लेकिन जर्मन भी नामर्द नहीं थे। अपमानित और विध्वंसित जर्मन जनता ने राष्ट्रीय अपमान से तिलमिला कर असहयोग का नगाड़ा बजा दिया। कठोर सैनिक आज्ञाओं के बावजूद रेल, डाक-तार सब ठप्प हो गये। अखबारों ने फ्रांस के फैसलों को छापना बन्द कर दिया। फ्रांस ने खानों, कल-कारखानों आदि को अपनी सेनाओं द्वारा चालू करना चाहा, किन्तु उसके लिये जर्मन मशीनों को पूरी क्षमता के साथ चलाना सम्भव न था। इस बात का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि १९२३ में फ्रांस को पहले के वर्षों की अपेक्षा केवल चौथाई कोयला ही मिला।

आक्रमणकारियों ने भी जर्मन-असहयोग का जी भरकर बदला लिया। इस दमन कार्य में सैंकड़ों व्यक्ति नष्ट हो गए। फ्रांस और जर्मनी में जो यह

शीत युद्ध आरम्भ हुआ, भीषण रक्त युद्ध का रूप धारण करने लगा। प्रो. आरनोल्ड टोयानबी ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—"यह संघर्ष एक तरफ फ्रांस व बेल्जियम और दूसरी तरफ जर्मनी के मध्य युद्ध का केवल पुनः प्रारम्भ माना जा सकता है।[1] फ्रांस व बेल्जियम सरकारों ने रूर से तैयार माल बाहर भेजना बन्द कर दिया। जर्मनों पर भारी जुर्माने किये गये, उन्हें सजायें दी गयीं, उनके समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये, उनकी निजी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और सैकड़ों जर्मन अधिकारियों तथा नागरिकों को रूर से निकाल दिया गया।

जर्मन सरकार की निष्क्रिय प्रतिरोध व असहयोग की नीति तथा फ्रेन्च व बेल्जियन सरकारों की प्रतिशोधात्मक कार्यवाही का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि **जर्मनी का आर्थिक जीवन रुक सा गया।** उसके कोयले, लोहे और इस्पात का उत्पादन ८० प्रतिशत घट गया, अर्थात जर्मनी का लगभग ३० प्रतिशत व्यापार तो एकदम ठप्प हो गया। १९२३ के अन्त तक जर्मन सिक्का मार्क एक प्रकार से मूल्यहीन हो गया, क्योंकि रूर में बेकार हुए लोगों को वेतन देने सम्बन्धी आर्थिक उतरदायित्व को पूरा करने के लिए जर्मनी ने बहुत बड़ी संख्या में मार्क के नोट छापे। उसकी ९० प्रतिशत आय नोटों के मुद्रण से होती थी जिसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह निकला कि मार्क का मूल्य गिरता गया और महंगाई भीषण रूप से बढ़ती गयी। नवम्बर १९२३ में एक डालर का मूल्य लगभग ४० मार्क हो गया, जबकि पहले केवल ४ २ मार्क था। वस्तुओं के मूल्य इतने बढ़ गये कि सप्ताह भर की मजदूरी से एक समय का भोजन तो क्या एक डबलरोटी भी नहीं खरीदी जा सकती थी। जर्मनी में बेकारी की बाढ़ आ गयी। बैंकों में जमा पूंजी का, बाण्डों और शेयरों का कोई मूल्य ही न रहा। रूर संकट ने जर्मन अर्थ-व्यवस्था की कमर तोड़ दी और जर्मन राजकोष को खाली कर दिया।

इस आर्थिक विनाश का एक परिणाम यह हुआ कि **जर्मन मध्यम वर्ग को निम्न वर्ग की कोटि में आना पड़ा और वर्गच्युत होने के सभी अपमान सहने पड़े।** इससे उनकी निम्नवर्गीय श्रमिकों के प्रति घृणा और भी बढ़ गयी। इसके साथ ही उनमें यहूदियों के प्रति प्रतिहिंसा भी जागृत हो गयी क्योंकि वह उन्हें मुद्रा–स्फीति से लाभ उठाने वाले मुनाफाखोर मानता था। इसी हतधन (Dispossessed) और अपमानित मध्यम वर्ग से हिटलर ने अपने अनुयायियों की एक विशाल फौज प्राप्त की।

---

1. "This struggle can only be regarded as a renewal of war between France and Belgium on the one side and Germany on the other."

—*Arnold Toynbee*

रूर संकट से फ्रान्स और जर्मनी को गम्भीर आर्थिक क्षतियों का सामना तो करना ही पड़ा लेकिन इस संकट के कुछ और भी दूरगामी परिणाम हुए। इससे फ्रान्स और ब्रिटेन के सम्बन्धों में अधिक कटुता आ गयी और जर्मनी में कूनो मंत्रिमण्डल का १२ अगस्त १९२३ को पतन हो गया। इस मंत्रिमण्डल के पतन के बाद जर्मनी की क्षति–पूर्ति सम्बन्धी नीति में एक नया परिवर्तन हुआ। गुस्टाव स्ट्रेसमान के नवीन मंत्रिमण्डल ने २६ सितम्बर १९२३ को निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति के परित्याग की घोषणा की। क्षति–पूर्ति की रकम देना सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया गया, किन्तु इस विषय में मित्रराष्ट्रों से यह प्रार्थना भी की गयी कि वे इस बात की परीक्षा कर लें कि जर्मनी में क्षतिपूर्ति की अदायगी की क्षमता है भी अथवा नहीं।

रूर आधिपत्य से उत्पन्न हुए संकट का एक तात्कालिक परिणाम यह निकला कि जर्मनी में पूंजीपति वर्ग के लोगों में हृदय-परिवर्तन होने लगा। पहले इन लोगों ने क्षतिपूर्ति की अदायगी में सरकार के साथ असहयोग की नीति का अनुसरण किया था, किन्तु अब वे इस निष्कर्ष पर पहुचने लगे कि अपने देश को और अपने आपको बचाने के लिये किसी तरह क्षतिपूर्ति की रकम अदा करके रूर क्षेत्र को मुक्त कराना आवश्यक है। जर्मन जनता ने समझ लिया कि फ्रान्स उनसे क्षतिपूर्ति की रकम एनकेन प्रकारेण लेकर ही रहेगा। जनता के इस हृदय-परिवर्तन के फलस्वरूप जर्मन सरकार के लिए क्षतिपूर्ति की अदायगी में काफी सहूलियत हो गयी।[1]

रूर संकट ने जर्मन अर्थ-व्यवस्था के पुनरुद्धार के द्वार भी खोल दिए। फ्रान्स और बेल्जियम यह समझ गये कि रूर पर अधिकार करना उनकी एक भयंकर भूल थी। अतः वे सम्मानपूर्ण मार्ग से समझौते के लिये तैयार थे। उधर यूरोपीय निर्धनता का संयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा था, अतः इस समय वह भी जर्मनी को सहयोग देने को तत्पर हो गया। इन सब अनुकूल परिस्थितियों का यह परिणाम निकला कि ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका, बेल्जियम और इटली आदि मित्रराष्ट्र इस बात से सहमत हो गये कि अर्थ-विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति नियुक्त की जाय जो केवल आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करे कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए किन उपायों अथवा साधनों का अवलम्बन किया जाय। इस निश्चय के फलस्वरूप क्षति–पूर्ति आयोग ने २१ दिसम्बर १९२३ को अमेरिकन अर्थ–विशेषज्ञ जनरल डावेस (General Dawes) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। जर्मनी

1. *Carr*: International Relations Between the Two World Wars, P 45.

के सौभाग्य से मई १९२४ में फ्रांस पोयन्केर में मन्त्रिमण्डल का भी पतन हो गया। एरियो (Herriot) के प्रधानमन्त्री बन जाने से क्षतिपूर्ति समस्या के विवेकपूर्ण समाधान की परिस्थितियां और भी अनुकूल हो गयीं।

इस प्रकार रूर पर अधिकार के निश्चित रूप से अत्यन्त दूरगामी परिणाम हुए। **श्री ई० एच० कार ने ठीक ही कहा है—"रूर पर अधिकार जिसने जर्मनी को बिलकुल मिटा दिया, यूरोप के युद्धोत्तर इतिहास में एक नया मोड़ था।"**[1]

डावेस योजना (Dawes Plan)

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी के हरजाने के प्रश्न पर विचार करने के लिये अमेरिकन वित्त-विशेषज्ञ जनरल चार्ल्स डावेस (General Charles Dawes) की अध्यक्षता में २१ दिसम्बर १९२३ को इंगलैण्ड, फ्रान्स, बेल्जियम और इटली के विशेषज्ञों की एक समिति स्थापित की जो "डावेस समिति" के नाम से प्रख्यात हुई। इस समिति को जो कार्य सौंपा गया वह यह था कि वह ऐसे सुझाव प्रस्तावित करे जिनके द्वारा जर्मनी के बजट को संतुलित किया जा सके और उसकी मुद्रा को स्थायित्व दिया जा सके। दूसरे शब्दों में समिति का मुख्य कार्य व्यापार एवं अराजनैतिक दृष्टिकोण से जर्मनी की आर्थिक हालत को व्यवस्थित करने के सुझाव रखना था। **डावेस समिति के साथ ही क्षतिपूर्ति आयोग ने एक दूसरी समिति की स्थापना भी की** जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बेल्जियम का एक-एक प्रतिनिधि था और इसके अध्यक्ष ब्रिटेन के रेजिनाल्ड मैकककन्ना थे। इस दूसरी समिति का काम जर्मनी द्वारा आयात किये गये सामान की कीमत आंकना तथा उसको वापिस मांगने के साधनों पर विचार करना था। १४ जनवरी, १९२४ से इन समितियों ने अपना काम पेरिस में शुरू कर दिया।

डावेस समिति ने ९ अप्रेल १९२४ को अपनी रिपोर्ट क्षतिपूर्ति आयोग को पेश की जिसमें निम्नलिखित सिफारिशें की गयीं—

(१) रूर से विजयी राष्ट्रों की सेना हटा ली जाय ताकि जर्मनी को उस प्रदेश में पुनः आर्थिक प्रभुसत्ता प्राप्त हो जाय।

(२) एक नयी जर्मन मुद्रा-रीशमार्क (Reishmark) प्रचलित की जाय। इस मुद्रा के नियन्त्रण का उत्तरदायित्व सात जर्मन और सात विदेशी अर्थशास्त्रियों के एक अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल के अधीन एक केन्द्रीय बैंक (Reish Bank) को सौंपा जाय। इस बैंक की लागत पूंजी ४० करोड़ स्वर्ण मार्क हो और उसे ५० वर्ष तक नोट छापने का एकाधिकार मिले।

(३) जर्मनी को अपने आर्थिक साधनों पर पूरा अधिकार दिया जाय और उसकी मुद्रा का मूल्य स्थिर किया जाय। उसके बजट को संतुलित बनाने के लिये उसे विदेशों से आर्थिक सहायता भी मिले। यह सिफारिश की गई कि मित्रराष्ट्र, जर्मनी को ४० मिलियन पौण्ड का ऋण दें।

(४) जर्मनी अपनी आय के कुछ स्त्रोत शराब, तम्बाकू, चीनी, सीमा कर की आमदनी, रेल्वे बोर्ड कर, यातायात कर, क्षतिपूर्ति की राशि की अदायगी के लिये सुरक्षित रखे।

(५) जर्मनी की मुद्रा के इस प्रकार स्थायी बन जाने के बाद जर्मनी प्रथम पांच वर्षों में ५ करोड़ पौंड का भुगतान करे और बाद में यह राशि उसकी समृद्धि की सूची के अनुपात से १२ करोड़ ५० लाख पौंड तक बढ़ा दी जाये। ये सूचक अंक १९२७ से १९२९ तक की आर्थिक समृद्धि के आधार पर निश्चित हों।

(६) किश्तों के भुगतान के कारण कहीं विनिमय (Exchange) में गड़बड़ न हो जाये, अतः यह सुझाव दिया गया कि भुगतान केवल जर्मन मुद्रा मार्क में ही होना चाहिये और मित्रराष्ट्रों की सरकारें उसके विदेशी मुद्रा में विनिमय के लिये स्वयं उत्तरदायी हों।

(७) इस सारी व्यवस्था की देखरेख का भार क्षतिपूर्ति आयोग पर नहीं होगा, वरन् इस कार्य के लिये एक एजेन्ट जनरल की नियुक्ति की जायेगी।

डावेस योजना ने क्षतिपूर्ति की रकम के सम्बन्ध में परिवर्तन करने का कोई कार्य नहीं किया। रिपोर्ट में अन्त में इस बात की ओर भी संकेत कर दिया गया था कि योजना कार्यान्वित करने में कोई देर न हो, और यह तभी लागू हो सकती है जब कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति पहले जैसी हो जाय। इस योजना का लागू होना तब तक के लिये स्थगित भी किया जा सकता था जब तक जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुधर न जाये।

डावेस योजना को क्षतिपूर्ति आयोग ने क्षतिपूर्ति समस्या के समाधान के लिये व्यवहारिक आधार पर स्वीकार कर लिया। इस योजना को जर्मनी ने फौरन ही मान लिया और ३१ अगस्त १९२४ तक सभी सम्बन्धित सरकारों ने इस पर अपनी स्वीकृति दे दी। वास्तव में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैकडोनोल्ड, फ्रैंच प्रधानमन्त्री एरियो तथा जर्मन प्रधानमन्त्री स्ट्रेसमान ने इस योजना का सहर्ष स्वागत किया। रूर को फ्रैंच फौजों ने खाली करना शुरू कर दिया और १ सितम्बर १९२४ से डावेस योजना लागू हो गई। यह उल्लेखनीय है कि फ्रांस ने इस योजना को इस शर्त पर स्वीकार किया कि जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की रकम अदायगी करने में कोई आना कानी अथवा विरोध

कार्यवाही अपनाई तो उसकी गलती क्षतिपूर्ति आयोग को सर्वसम्मति से ठहरानी होगी जिसमें अमेरिका भी शामिल रहेगा। डावेस योजना के लागू होने से अन्त में राजनीतिक गतिरोध समाप्त हुआ और यूरोप में आर्थिक स्थिरता आने की सम्भावना बढ़ गई। योजना के प्रस्तावित एजेन्ट जनरल के पद पर अमेरिकन अर्थ-विशेषज्ञ श्री गिलबर्ट (Gilbert) की नियुक्ति की गई।

डावेस योजना का मूल्यांकन—डावेस योजना को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। योजना में प्रस्तावित ऋण जर्मनी को पूर्ण रूप से सफलतापूर्वक प्राप्त हो गया। आधी से अधिक रकम अमेरिका से मिली और एक चौथाई से भी अधिक ब्रिटेन से। शेष रकम अन्य देशों से मिली। ३१ जुलाई १६२५ को अन्तिम फ्रेंच और बेल्जियन सैनिक दस्तों ने रूर छोड़ दिया। राइन नदी के दोनों ओर अन्त में आर्थिक स्थिरता ने राजनीतिक गतिरोध पर विजय पायी। सितम्बर १६२४ से सितम्बर १६२८ के संघर्षमय वर्षों में क्षतिपूर्ति रोजेन्ट गिलबर्ट के प्रयास से जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी पूरी कर सका और उसके अपने साधनों पर भी विशेष दबाव न पड़ा। यह सफलता विशेषकर इसलिए मिली कि क्षतिपूर्ति की सम्पूर्ण व्यवस्था की देखरेख का उत्तरदायित्व क्षतिपूर्ति आयोग से हटाकर आर्थिक विशेषज्ञों की समिति को मिल गया था जिसने समस्या का हल राजनीतिक नहीं अपितु आर्थिक दृष्टिकोण से किया।

वास्तव में युद्धोत्तर काल में डावेस योजना ही वह पहली योजना थी जिसने यथार्थवादी एवं आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण किया। राजनीति के तूफान से प्रथम बार क्षतिपूर्ति की समस्या को अलग निकालकर इसे साधारण ढंग के व्यापारिक कार्य के रूप में ग्रहण किया गया। क्षतिपूर्ति आयोग तो राजनीति के छलछद्म से प्रभावित था। डावेस योजना ने मित्रराष्ट्रों की मांग को इस हद तक कम किया जिसे अनुकूल परिस्थितियों में जर्मनी चुका सकता हो। जर्मनी के लिये विदेशी ऋण की व्यवस्था, वार्षिक किश्तों को जर्मनी की आर्थिक दशा और अदा करने की क्षमता से सम्बद्ध करने की व्यवस्था, आय के स्रोतों की हरजाने की राशि के लिये सुरक्षित रखने की व्यवस्था आदि बातें जर्मनी के आर्थिक जीवन की अस्थिरता को दूर करने में बहुत सहायक सिद्ध हुईं। इस योजना ने कुछ अंश में जर्मनी के आर्थिक जीवन में स्थिरता लाने का सफल प्रयत्न किया और जर्मनी के लिये विदेशी ऋण उत्पन्न करके इसने जर्मन मुद्रा में एक सीमा तक विश्वास स्थापित किया। यही नहीं, इसने जर्मनी द्वारा दुष्टतापूर्वक पैसा न अदा करने की स्थिति के अतिरिक्त अन्य किसी हालत में सैनिक कार्यवाही के प्रयोग के विरुद्ध व्यवस्था की। क्षतिपूर्ति में जानबूझ कर देरी करने पर कठोर कार्यवाही करने पर भी मित्रराष्ट्रों की सर्वसम्मति की सीमा लगा दी गई। दूसरे शब्दों

में फ्रांस जैसे किसी एक राष्ट्र की मनमानी कार्यवाही को इसने हतोत्साहित किया। इस सर्वसम्मत्ति में अमेरिका की सहमति भी सम्मिलित थी। इन सब व्यवस्थाओं से जर्मनी के सामान्य आर्थिक पुनरुत्थान में सहायता मिली। अब अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन की पूंजी बड़ी मात्रा में जर्मनी में आने लगी, जिससे जर्मन उद्योग-धन्धे तथा व्यापार-वाणिज्य गतिशील हो उठे। अन्त में इस योजना ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना में निश्चित सहयोग दिया। **लेंगसम के शब्दों में "वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर के बाद प्रथम बार यूरोप में कूटनीतिक तनाव कुछ कम हो गया।"** डावेस योजना के फलस्वरूप "लोकार्नो भावना" (Locarno Spirit) का उदय हुआ जिसने भविष्य में शांति और सुरक्षा का वातावरण बनाने में सहायता दी।

डावेस योजना से उत्पन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप जर्मनी का आर्थिक जीवन कुछ क्षेत्रों में उतना ही सुदृढ़ हो गया जितना कि सन् १९१३ में था। सन् १९२५ में पहली बार उसका औद्योगिक उत्पादन लगभग युद्ध-पूर्व के स्तर तक पहुंच गया। रीशमार्क विश्व की सुदृढ़तम मुद्रा-संस्थाओं में से एक हो गया और सामान्यतः जर्मन जनता उतनी ही खुशहाल हो गयी जितनी वह महायुद्ध से पहले थी।

किन्तु डावेस योजना पूर्णतयः दोषहीन नहीं थी। इसमें वार्षिक किश्तों की मात्रा तय करते हुए भी यह निश्चित नहीं किया गया था कि जर्मनी इन किश्तों का भुगतान कब तक करता रहेगा। इस अवस्था में जर्मनी में बचत के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं था। इस योजना में क्षतिपूर्ति की कुल राशि का उल्लेख न होने से जर्मनी को अपने लोगों की उन्नति में कम दिलचस्पी इसलिए रह गयी क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने से मित्रराष्ट्रों की अदायगी और भी बढ़ जाती। इस योजना का एक गम्भीर दोष यह था कि इसने जर्मनी को ऋण देने की अविवेकपूर्ण परम्परा स्थापित कर दी। फलस्वरूप जहां जर्मनी एक ओर क्षतिपूर्ति की राशि चुका रहा था, वहां दूसरी ओर नये ऋण भी ले रहा था। उस समय बहुत थोड़े लोगों को ही इस तथ्य के दूरगामी परिणाम का भान हुआ कि जर्मनी अमेरिका से पैसा लेकर क्षतिपूर्ति अदा कर रहा है। यह वास्तव में "मियां की जूती मियां के ही सिर" वाली बात थी। क्षतिपूर्ति नाटक का यह एक बहुत ही हास्यास्पद दृश्य था। जर्मनी अमेरिका से कर्ज लेकर मित्रराष्ट्रों को क्षतिपूर्ति की रकम देता था और मित्रराष्ट्र उसी रकम से अपना अमरीकी कर्ज चुका रहे थे, इस प्रकार अमेरिका का डालर घूमते-फिरते फिर अमेरिका ही आ पहुंचता था। १९२४ से १९२८ तक जर्मनी ने क्षतिपूर्ति के रूप में १००३ खरब रीशमार्क

क्षतिपूर्ति के रूप में अदा किये जबकि इस अवधि में उसने अमेरिका आदि राष्ट्रों से १८०२ खरब रीशमार्क ऋण रूप में प्राप्त किये। इस प्रकार जर्मनी की क्षतिपूर्ति चुकाने की क्षमता बढ़ी नहीं केवल कर्ज से ही वह इसे पूरा करने लगा। श्री गिलबर्ट का मत था कि डावेस योजना न तो आशय की दृष्टि से और न तथ्य की दृष्टि से समस्या का अन्तिम निबटारा थी, अपितु यह तो एक ऐसा निबटारा थी जो "क्षतिपूर्ति और सम्बद्ध समस्याओं के बारे में, जितनी जल्दी संभव हो, अन्तिम विस्तृत करार की सुविधा के लिए बनाया गया था।"

डावेस योजना ने यह स्थिति पैदा कर दी कि जर्मनी को जब तक कर्ज मिल सकता था तभी तक उसका पौ-बारह था। जर्मनी के आर्थिक जीवन पर विदेशी प्रभुत्व बढ़ गया था और राइन प्रदेश में मित्रराष्ट्रों की सेनाएं अभी तक विद्यमान थीं। इन सब कारणों से क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर पुनर्विचार की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। इसके लिए एक अन्य योजना बनायी गयी जो यंग योजना (The Young Plan) के नाम से प्रसिद्ध हुई।

यंग योजना (The Young Plan)

क्षतिपूर्ति रीजेन्ट श्री गिलबर्ट अनेक बार कह चुके थे कि डावेस-योजना को एक अन्तरिम योजना मानना चाहिए, अन्तिम नहीं। क्षतिपूर्ति की समस्या का उचित समाधान अभी तक नहीं हो पाया था। फ्रांस जर्मनी ने अपने हिसाब का आखिरी बन्दोबस्त चाहता था ताकि वह संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति अपना ऋण चुका सके। इधर जर्मनी राइनलैण्ड खाली कराने के लिए उत्सुक था, अतः वह इस समस्या को पुनः उठाने तथा कोई मार्ग निकालने के प्रति उदासीन नहीं था। जर्मनी यह चाहता था कि डावेस योजना में निर्धारित १२ करोड़ ५० लाख पौंड की वार्षिक भुगतान की पूर्ति के पूर्व ही वह राइनलैण्ड को शीघ्र ही खाली करा ले। ब्रिटेन इस समस्या को पहले से ही अन्तिम और स्थायी रूप से सुलझाने के पक्ष में था। दूसरे लोग भी इस दिशा में चिन्तन कर रहे थे और किसी अधिक स्थायी हल की खोज कर रहे थे।

सितम्बर १९२८ में जब राष्ट्रसंघ की असम्बली का अधिवेशन हो रहा था तब फ्रान्स, ब्रिटेन, बेल्जियम, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधियों ने क्षतिपूर्ति समस्या के अन्तिम निर्णय और राइनलैण्ड के शीघ्र खाली किये जाने के बारे में विचार-विमर्श किया। इस वार्ता में यह तय किया गया कि उपरोक्त ६ सरकारों द्वारा आर्थिक विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाय जिसमें अमेरिका भी सम्मिलित हो और यह समिति

क्षतिपूर्ति की समस्या को अन्तिम रूप से हल करे। एतदर्थ घोषणा भी कर दी गयी। अमेरिकन वित-विशेषज्ञ ओवेन डी० यग (Owen D. Young) की अध्यक्षता में बनायी गयी विशेषज्ञों की इस समिति ने ११ फरवरी १९२९ से पेरिस में क्षतिपूर्ति समस्या को सुलझाना शुरु किया। समित में क्षतिपूर्ति-ग्रस्त प्रत्येक देश के दो-दो तथा अमेरिका के भी दो प्रतिनिधि सम्मिलित थे।

यंग समिति ने लगभग चार मास के कठिन परिश्रम के पश्चात् अपनी ४० पृष्ठों की रिपोर्ट ७ जून १९२९ को क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रख दी, जो इसके अध्यक्ष के नाम पर "यंग योजना" कहलायी। यंग योजना ने जो मुख्य व्यवस्थाएं प्रस्तावित कीं, वे संक्षेप में निम्नलिखित थीं—

(१) जर्मनी की क्षतिपूर्ति की कुल रकम घटाकर ५७५० मिलियन पौंड कर दी गयी जबकि क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा यह राशि पहले ६६०० मिलियन पौंड निर्धारित की गयी थी।

(२) वार्षिक किश्तों की संख्या निश्चित कर दी गयी और उनकी मात्रा भी घटा दी गयी। १९८८ ई० तक जर्मनी को कुल $58\frac{1}{2}$ किश्तों में क्षतिपूर्ति की राशि अदा करनी थी। पहली ३७ किश्तों के लिए प्रति किश्त की राशि १०० मिलियन पौंड निर्धारित की गयी। उसके पश्चात् जर्मनी को कुछ कम राशि की २२ वार्षिक किश्तें अदा करनी थीं ताकि मित्रराष्ट्र अमेरिका से लिए गये युद्ध ऋणों को चुका सकें।

(३) प्रत्येक वार्षिक किश्त को दो भागों में विभाजित कर दिया गया—अविलम्बनीय (Non-postponable) और विलम्बनीय (Post-ponable)। प्रत्येक किश्त का लगभग $\frac{1}{3}$ भाग अविलम्बनीय था, अर्थात् इसका भुगतान निश्चित समय पर होना अनिवार्य कर दिया गया। इसी प्रकार प्रत्येक किश्त के शेष $\frac{2}{3}$ भाग का भुगतान उस हालत में कभी भी दो वर्ष के लिए विलम्बित हो सकता था जब विशिष्ट परामर्शदात्री समिति (Special Advisory Committee) की राय में जर्मनी की विनिमय स्थिति और उसके आर्थिक जीवन के गम्भीर खतरे में पड़ने की संभावना हो।

(४) यह कहा गया कि जर्मनी पर से सभी राजनीतिक और आर्थिक नियन्त्रण समाप्त कर दिये जायं तथा स्वयं जर्मन सरकार को सभी भुगतानों के लिए उत्तरदायी मान लिया जाय।

(५) क्षतिपूर्ति की राशि की वसूली के लिए एक करोड़ डालर की पूंजी से बाजेल (Basle) में 'अन्तर्राष्ट्रीय चुकान बैंक' (The Bank of International Settlements) स्थापित किया जाय जिसका कार्य जर्मनी से हरजाने की राशि मार्को में लेकर उसे दूसरे देशों को प्रदान करना हो। इन

बैंक के संचालन का दायित्व एक संचालक मण्डल को सौंपा जाय जिसमें जर्मनी और दूसरे ऋणदाता देशों के प्रतिनिधियों को स्थान मिले।

(६) इस योजना की कार्यान्विति क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा न होकर इसी बैंक के द्वारा होनी चाहिए और आयोग को समाप्त कर देना चाहिए।

(७) राइनलैण्ड से ३० जून १९३० तक समस्त विदेशी सेनाएं वापिस बुला ली जायं और १ सितम्बर १९२९ के बाद उसे अधिकृत किये रखने का खर्च सभी सम्बन्धित देश मिलकर अपने-अपने ऊपर लें।

(८) यंग योजना में युद्ध के बाद बेल्जियमद्वारा जर्मनी में छोड़े गये जर्मन मार्क के मूल्य के गिरावट के फलस्वरूप हुई हानि को पूरा करने के लिए बेल्जियम का दावा पृथक और परोक्ष वार्ता से तय करने के लिए छोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त अमेरिकन प्रतिनिधियों को छोड़कर यंग समिति के अन्य सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित एक स्मृति पत्र (Memorandum) दिया गया जिसमें यह कहा गया कि क्षतिपूर्ति और युद्धकालीन मित्रराष्ट्रों के ऋण की समस्याएं एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। अन्त में, इस योजना में क्षतिपूर्ति के वितरण के अनुपात को ध्यान में रखने की भी चर्चा की गयी।

उपरोक्त **योजना अत्यधिक वाद-विवाद का केन्द्र बनी**। योजना पर विचार करने के लिए फ्रांस, इटली, जापान, ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों का अगस्त १९२९ में हेग में एक सम्मेलन हुआ जिसमें जर्मन प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। सम्मेलन में ब्रिटिश प्रतिनिधि ने 'स्पा सम्मेलन' द्वारा नियत किया गया सबका हिस्सा मांगा। काफी गर्मागर्म बहस के बाद बिना किसी वांछित परिणाम के सम्मेलन भंग हो गया। तत्पश्चात ३ जनवरी १९३० को फिर एक दूसरा सम्मेलन हेग में ही आमंत्रित किया गया। काफी बहस के बाद, ब्रिटेन को राजी करने के लिए, **यंग योजना में कुछ परिवर्तन करके उसको ३० जनवरी १९३० को स्वीकार कर लिया गया**। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने अपने कड़े रुख के कारण अपनी मांगें बहुत कुछ पूरी करा लीं। फ्रांस को सन्तुष्ट रखने के लिये यह व्यवस्था की गई कि यदि भविष्य में जर्मनी जान-बूझ कर हर्जाने की रकम अदा नहीं करेगा तो यह विषय हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में लाया जा सकेगा और न्यायालय द्वारा पक्ष में निर्णय घोषित करने पर मित्रराष्ट्रों को आवश्यक कार्यवाही करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। १७ मई १९३० को यह योजना लागू कर दी गयी और इस प्रकार क्षतिपूर्ति समस्या का पांचवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

यंग योजना ने क्षतिपूर्ति आयोग के तथा अन्य विदेशी प्रभावों को समाप्त कर जर्मनी को आर्थिक क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की किन्तु फिर भी इसका जर्मनी में स्वागत नहीं हुआ। जर्मनी के रीश बैंक के अध्यक्ष डा.

[illegible] शाख्त ने, जो यंग समिति में जर्मन विशेषज्ञ रह चुके थे, यह मत व्यक्त करते हुए त्यागपत्र दे दिया कि वार्षिक अदायगी जर्मनी की शक्ति से बाहर है। इसके पश्चात योजना स्वीकृत होने से पूर्व ही जर्मन प्रधान मन्त्री स्ट्रैसमान की मृत्यु हो गई। लगभग इसी समय विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बादल मंडराने लग गये और जर्मनी में हिटलर की राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी जोर पकड़ने लगी जो क्षतिपूर्ति की अदायगी को ही अपराधपूर्ण मानती थी। यंग योजना के अनुपालन में ३० जून १९३० तक विदेशी फौजों ने राइन प्रदेश खाली कर दिया और बेसल (Basel) में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना भी कर दी गई। किन्तु क्षतिपूर्ति की समस्या का पूर्ण व अन्तिम पटाक्षेप अभी बाकी ही रह गया।

हूवर मुहलत (Hoover Moratorium)

यंग योजना के बारे में यह समझा गया था कि इसने क्षतिपूर्ति की समस्या को अन्तिम रूप से निपटा दिया है, किन्तु यह अनुमान शीघ्र ही गलत प्रमाणित हो गया। यंग योजना अगले वर्षों में होने वाले विश्व व्यापार के विस्तार पर आधारित थी, पर १९२९ से प्रारम्भ होने वाली संसार-व्यापी आर्थिक मदी ने इसे खण्डित कर दिया। अब तक जर्मनी विदेशों से ऋण लेकर क्षतिपूर्ति की किश्तें चुका रहा था और ब्रिटिश एवं अमेरिकन पूंजीपति, जर्मन उद्योगों के पुनर्निर्माण में खुलकर पूंजी लगा रहे थे लेकिन आर्थिक मंदी शुरू हो जाने से विदेशी पूंजी का यह स्त्रोत सूखने लगा। वैसे तो संसार के सभी देश इस अनिश्चित आर्थिक महाप्रलय में डुबकी लगाने लगे थे, परन्तु कर्ज-भार से दबे हुए जर्मनी की आर्थिक दशा विशेष रूप से शोचनीय थी। क्षतिपूर्ति की किश्तें जर्मनी अब केवल अपने साधनों से चुकाने को बाध्य था जबकि मंदी और बढ़ती हुई बेकारी ने अदायगी को उसके लिये असम्भव बना दिया। भीषण आर्थिक मदी से धन कुबेर अमेरिका भी अप्रभावित न रह पाया था, अतः १९२९ में अमेरिकन सरकार ने अपनी नीति को एक नया मोड़ देते हुए यह फैसला किया कि जर्मनी को अब भविष्य में कोई कर्ज न दिया जाय। अमेरिका ने यूरोप के सब देशों को कर्ज न देने का निश्चय कर लिया था। इस नीति–परिवर्तन के मूल में अनेक कारण निहित थे। अक्टूबर १९२९ में "वालस्ट्रीट संकट" (Wall Street Crash) उत्पन्न हो गया जिसमें न्यूयार्क स्टाक एक्सचेंज पर एक ही दिन में शेयरों का मूल्य ५० अरब डालर गिर गया और अमेरिका संकटग्रस्त हो गया। इसके अतिरिक्त अमेरिका ने विभिन्न यूरोपीय राष्ट्रों को जो विपुल धनराशि कर्ज रूप में दे रखी थी, उसे वसूल करने में भी बड़ी कठिनाई होने लगी थी। यूरोप के विभिन्न देशों में राजनीतिक परिस्थितियां इतनी बिगड़ गई थीं कि उनकी साख पर पूरा भरोसा

नहीं किया जा सकता था। अमेरिका को स्वयं इस बात की आवश्यकता आ पड़ी थी कि वह अपने आर्थिक संकट को टालने के लिये कोई कार्यकारी उपाय अपनाये। इन परिस्थितियों में यूरोप के राज्यों को कर्ज न देने का फैसला करना अमेरिका के लिये स्वाभाविक था।

अमेरिका के नीति परिवर्तन ने जर्मन आर्थिक व्यवस्था को एकदम छिन्न-भिन्न कर दिया। जर्मनी का बजट पूर्णतया असन्तुलित हो गया, सारे उद्योग धन्धे ठप्प हो गये। इस आर्थिक संकट का सामना करने के लिये जर्मनी ने आस्ट्रिया के साथ मिलकर एक चुंगी-संघ कायम करने का प्रयास किया किन्तु फ्रांस और उसके साथी राष्ट्रों के घोर विरोध तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विपरीत निर्णय के कारण जर्मनी को अपने प्रयास में सफलता न मिल सकी। इसी समय आस्ट्रिया के सबसे बड़े गैर-सरकारी बैंक का दीवाला निकल गया और जर्मनी इस दिवालियेपन के आतंक का शिकार बनने से न बच सका। विदेशी कर्जदारों ने तकाजों की झड़ी लगादी। फलस्वरूप तीन सप्ताह के भीतर ही जर्मनी के रीश बैंक से ५ करोड़ पौण्ड का सोना निकाल लिया गया। जर्मनी के बड़े-बड़े बैंकों की हालत खराब हो गई, फलतः सरकार ने एक अध्यादेश जारी करके सभी बैंकों और स्टॉक एक्सचेंजों को बंद कर दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो सारा जर्मनी ही दिवालिया हो जायगा।

मई १९३१ में जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था पूर्णरूपेण नष्ट हो गई। २० जून १९३१ को जर्मन राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग ने अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर (Hoover) से सहायता की याचना की। अमेरिकन राष्ट्रपति ने हिण्डनबर्ग की अपील के उत्तर में कहा कि वह निश्चित रूप से संसार की समृद्धि को शीघ्र ही वापिस लाने हेतु अपना योगदान करेंगे। अपने वचन पर अमल करते हुए उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि १ जुलाई १९३१ से १ वर्ष तक के लिये सभी क्षतिपूर्ति तथा ऋण सम्बन्धी भुगतानों को स्थगित कर दिया जाय। प्रस्ताव में यह भी व्यवस्था दी गई कि जर्मनी द्वारा स्थगित न की जा सकने वाली वार्षिक किश्तों (Unpostponable annuities) की भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय चुकान बैंक (The Bank of International Settlements) को किया जाय जो जर्मनी के रेलवे बौण्ड खरीद ले और रेलवे से जर्मन सरकार को धन दिला दे ताकि जर्मनी इस प्रकार बचत की धनराशि का आर्थिक क्रियाओं में उपयोग कर सके। **राष्ट्रपति हूवर का यह प्रस्ताव "हूवर मुहलत अथवा हूवर द्वारा प्रस्तुत ऋण-अवधि की छूट" (Hoover Moratorium) के नाम से पुकारा गया।**

हूवर-प्रस्ताव का स्पष्ट आशय यह था कि अमेरिकन सरकार विदेशी सरकारों से अपना पैसा वसूल करना एक वर्ष के लिये इस शर्त पर स्थगित

कर सकती है कि सभी अन्तर-सरकारी कर्ज की जिसमें क्षतिपूर्ति कर्ज भी शामिल रहे, वसूली इसी प्रकार स्थगित कर दी जाय। हूवर का प्रस्ताव मानो डूबते को तिनके का सहारा था। फ्रांस को छोड़कर सभी ने इस प्रस्ताव का उत्साहपूर्ण स्वागत किया। फ्रांस ने प्रस्ताव का इसलिये विरोध किया कि उसे जितना युद्ध-ऋण चुकाना था, उससे भी अधिक उसे क्षतिपूर्ति की रकम लेनी थी। उसकी प्रबल इच्छा यही थी कि क्षतिपूर्ति का भुगतान हर कीमत पर जारी रहे, जर्मनी की चाहे कुछ भी दशा क्यों न हो। जर्मनी के प्रति विश्व-व्यापी सहानुभूति देखकर फ्रांस जल रहा था। वह हूवर-मुहलत को एक ऐसा षड़यंत्र मान रहा था जो जर्मनी में अमेरिकन पूंजीपतियों की साख बनाये रखने के लिये रचा गया था। फ्रांस के विरोध को शांत करने के लिये वेतहाशा राजनीतिक दौड़-धूप हुई। जुलाई १९३१ में लंदन में सात सम्बन्धित राज्यों के सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि जर्मनी को कर्ज देना वंद नहीं किया जाय, पर फ्रांस को इससे सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में फ्रेंच प्रधान मंत्री ने वाशिंगटन पहुंचकर अमेरिकन सरकार से यह अस्थायी समझौता किया कि जर्मनी यंग योजना द्वारा निर्धारित भुगतान बिना किसी शर्त के चुकाता रहे और भविष्य में फ्रांस की राय लिये बिना कोई भी मुहलत न दी जाय। इस समझौते के बाद ही फ्रांस ने हूवर योजना को स्वीकार किया। लेकिन फ्रांस के राजी होने में १५ दिन का समय लग गया था, अतः हूवर योजना से जो लाभ होना चाहिये था वह नहीं हो सका। यदि हूवर प्रस्ताव को पहले ही मान लिया गया होता तो लोगों में फिर से विश्वास जागृत किया जा सकता था, जर्मन मार्क के गिरते हुए मूल्य को रोका जा सकता था और जर्मन बैंकों के दिवालिया होने की प्रक्रिया पर एक बड़ी सीमा तक रोक लग सकती थी। प्रस्ताव को स्वीकार करने में फ्रांस की जिद्द के कारण होने वाले विलम्ब ने उस विश्वास को काफी हद तक नष्ट कर दिया जिसका प्रस्ताव के घोषित होते ही संचार हुआ था।

हूवर प्रस्ताव ने क्षतिपूर्ति की समस्या को एक वर्ष के अल्पकाल के लिये भले ही हल कर दिया, किन्तु यह समस्या का अन्तिम समाधान नहीं कर सका। एक वर्ष के बाद भी जर्मनी की आर्थिक परिस्थितियों में कोई सुधार नहीं हुआ। इसी बीच फ्रांस में लेवाल (Laval) मंत्रिमण्डल का पतन हो गया और उसके स्थान पर एरिग्रो प्रधानमंत्री बना था। अतः **इन सब परिवर्तनों ने क्षतिपूर्ति की समस्या पर पुनर्विचार करने के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार कर दी।** अब इस समस्या के अन्तिम रूप से निपटारे के लिये १६ जून १९३२ को लोजान (Lausanne) नगर में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

लोजान सम्मेलन और क्षतिपूर्ति समस्या का अन्त

लोज़ान सम्मेलन वस्तुतः इसलिये बुलाया गया था कि वह जर्मनी की शोचनीय आर्थिक अवस्था पर विचार करे और साथ ही विश्वव्यापी आर्थिक संकट, आर्थिक ऋणों एवं क्षतिर्पूति की समस्याओं के निवारण के लिये सुझाव दे। लोज़ान सम्मेलन १६ जून १९३२ को आयोजित हुआ था और इसके पहले ही २३ दिसम्बर १९३१ को अन्तर्राष्ट्रीय चुकान बैंक की विशेष परामर्श समिति यह घोषित कर चुकी थी कि जर्मनी में क्षतिपूर्ति के भुगतान की क्षमता नहीं है, तथा ९ जनवरी १९३२ को जर्मन चांसलर ब्रूनिंग (Bruning) भी स्पष्ट कह चुके थे कि गम्भीर आर्थिक स्थिति के कारण जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता। पहले से ही स्पष्ट इस परिवर्तित आधारभूमि और बदले हुए वातावरण की छाया में लोजान सम्मेलन ने अपनी कार्यवाही प्रारम्भ की। सम्मेलन में जर्मनी ने पहले की गई घोषणा को दुहराते हुए स्पष्ट कर दिया कि वह क्षतिपूर्ति देने की स्थिति में नहीं है। जर्मनी ने क्षति-पूर्ति-नाटक को समाप्त करने की मांग की। लेकिन फ्रांस इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। बहुत लम्बे विवाद के उपरांत, अन्त में, सम्मेलन ने ९ जुलाई १९३२ को यह महत्वपूर्ण निर्णय किया कि जर्मनी से वसूल की जाने वाली क्षतिपूर्ति की सम्पूर्ण राशि को एक कर दिया जाय और यह राशि कुल १५ करोड़ पौण्ड हो तथा जर्मनी इस राशि का भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय चुकान बैंक को एक ही बार में अपने ५ प्रतिशत बाण्डों को देकर कर दे। यह कहा गया कि ये बाण्ड अन्तर्राष्ट्रीय-बैंक के पास तीन वर्ष के लिये अमानत के तौर पर रहें, बाद में उन्हें खुले बाजार में बेचा जा सकता था। ऐसा न होने पर १५ वर्षों बाद में बाण्ड रद्द समझे जायेंगे। यह भी कहा गया कि यदि जर्मनी इन बाण्डों को वापिस लेना चाहे तो उतना ही मूल्य चुकाकर वह उन्हें लेने का अधिकारी होगा।

लोजान सम्मेलन में लिये गये उपरोक्त निर्णय यथार्थवादी थे। सम्मेलन ने क्षतिपूर्ति की जो राशि निश्चित की वह यंग योजना की कुल १/३ थी। दूसरे शब्दों में यह क्षतिपूर्ति को पूर्ण रूप से समाप्त कर देना था।[1] **लोजान के इस यथार्थवादी निर्णय पर फ्रांस को राजी करने के लिये एक तरकीब का आश्रय लेना पड़ा था।** फ्रांस और उसके ही मत के कुछ अन्य देशों का यह कहना था कि उन्हें जो रकम अमेरिका और ब्रिटेन को देनी है उसमें भी इसी हिसाब से कमी की जाय। इस मांग की पूर्ति के लिये ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य लोजान में ही यह **"शरीफाना समझौता"** (**Gentleman's Agreement**) हुआ था कि "लोजान के निर्णय को मान्यता तब दी जायगी

---

1. *Lee Benns* : Europe Since 1914, Page 174-177.

जबकि उनके महाजनों और उनके बीच सन्तोषजनक समझौता हो जाय।" दूसरे शब्दों में इस समझौते का अर्थ यह था कि यदि मित्रराष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति के मामले में जर्मनी को सुविधाएं प्रदान की हैं तो इसके बदले में मित्रराष्ट्रों को भी उनके महाजन अमेरिका की तरफ से सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिये यानी ब्रिटेन, फ्रांस आदि जर्मनी के साथ उदारता बरतने के लिये उसी स्थिति में तैयार थे जबकि अमेरिका भी उनके साथ उदारता की नीति बरते।

यह सर्वथा स्वाभाविक था कि इस "शरीफाना समझौते" की संयुक्त राज्य अमेरिका में अच्छी प्रतिक्रिया नहीं हुई। अमेरिका में इस शिष्ट समझौते को धमकी और ब्लैकमेल के रूप में माना गया। अमेरिकन सरकार ने कठोर रुख अपनाते हुए युद्ध-ऋणों का त्याग करने से इन्कार कर दिया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋणों की समस्याएं दो पृथक समस्याएं हैं, एक दूसरे से जुड़ी हुई नहीं। चूंकि हूवर-मुहलत समाप्त होने वाली थी अतः अमेरिकन ऋण का प्रश्न व्यावहारिक रूप से सामने आ गया। कुछ हिचकिचाहट के बाद दिसम्बर १९३२ में ब्रिटेन और कतिपय अन्य देशों ने अपने ऋण की किश्तें अमेरिका को अदा कर दीं, परन्तु फ्रांस, बेल्जियम, हंगरी, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया आदि देशों ने किश्तें चुकाने से इन्कार कर दिया। जून तथा दिसम्बर १९३३ में ब्रिटेन व इटली ने केवल सांकेतिक भुगतान ही किये। १९३४ के आते-आते यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका का कर्ज अब वापिस नहीं चुकाया जायगा। उधर लोजान का समझौता भी अर्थहीन व असफल हो गया क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में इस बात की लेशमात्र भी आशा न थी कि कोई राष्ट्र जर्मनी से क्षतिपूर्ति की रकम वसूल करने का पुनः प्रयत्न करेगा। १९३२ के बाद जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की कोई रकम मित्रराष्ट्रों को नहीं दी। बाद में जर्मनी में नाजी पार्टी ने बल पकड़ा और हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी कि जर्मनी क्षतिपूर्ति की सम्पूर्ण राशि अदा कर चुका है और अब भविष्य में किसी प्रकार की रकम अदा करने को तैयार नहीं है। इस तरह क्षतिपूर्ति की समस्या स्वयमेव हल हो गई और इतिहास का एक लम्बा अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया।

क्षतिपूर्ति समस्या के परिणाम और प्रभाव

क्षतिपूर्ति की जो समस्या प्रथम महायुद्ध के बाद लगभग १४ वर्ष तक सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत के लिये एक महान संकट, अस्थिरता और अव्यवस्था का कारण बनी रही, उसका अन्त अत्यन्त ही सरलता किन्तु असम्मानपूर्वक हुआ। विन्सटन चर्चिल के शब्दों में "यह सब उलझी हुई मूर्खता की एक दुःखद कहानी है जिसकी रचना में अत्यधिक श्रम और सदाचार व्यय

किया गया था।"[1] श्री चर्चिल के ये शब्द क्षतिपूर्ति और ऋण-समस्याओं का एक नग्न किन्तु सत्य चित्र उपस्थित करते हैं। **क्षतिपूर्ति की यह अजीबोगरीब कहानी हमारे समक्ष मनोरंजक और साथ ही गम्भीर परिणाम स्पष्ट करती** है—(१) जर्मनी से मांगी जाने वाली हर्जाने की राशि निरन्तर कम होती चली गई। १६२१ में मित्रराष्ट्र ५६.५ अरब डालर वसूल करना चाहते थे, क्षतिपूर्ति आयोग ने इसे ३३ अरब डालर निश्चित किया, यंग योजना ने इसे घटाकर ६ अरब डालर ही रहने दिया, लोजान-सम्मेलन में यह अदायगी केवल ७५ करोड़ डालर ही रह गई और इसके भी वसूल होने की संभावनायें समाप्त हो गई।[2] (२) जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों को इस सारे समय में ५,३६,६२,५०,-०००.डालर अदा किये। किन्तु यह सब संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य देशों से उधार लिये गये धन में से चुकाये गये। इस ऋण से भी अधिकांश ऋण-रकम जर्मनी ने ऋणदाता देशों को नहीं चुकाई। (३) जर्मनी ने १६२१ से लेकर १६२४ के मध्य केवल $1\frac{1}{2}$ वर्ष के लिये भुगतान किया, १६२४ से १६२६ तक प्रतिवर्ष पूरा भुगतान किया, १६२३ से १६३० तक कोई भुगतान नहीं किया गया और १६३० के बाद उसने केवल आधे वर्ष भुगतान किया। इस प्रकार उसने कुल ५ वर्ष तक मित्रराष्ट्रों को क्षतिपूर्ति की किश्तें अदा की। वास्तव में जर्मनी में इस राशि के भुगतान करने की

---

1. "All this is a sad story of complicated idiocy in the making of which much toil and virtue was consumed."

—*Churchill*

2. 'The Laussane constituted one more recession in the series of ever-diminishing demands upon Germany for reparators. An Allied demand in 1921 that Germany assume an obligation to pay 56,500,000,000 dollars was followed in the same year by the Reparation Commission decision that the told figure should be 33,000,000 000 dollars. This stood legally as Germany's obligation until the Young Plan reduced it to an amount which was equivalent to a cash payment of approximately 9 000,000,000 dollars. Two years later came the Hoover Moratorium, and in July 1932 the Laussane Agreement, which drastically revised Germany's obligations to a total cash payment of only 750,000,000 dollars with the possibility that even this amount might never be paid."

– *Lee Berns*

कोई इच्छा न थी और यदि यह इच्छा कभी पाई भी गई तो केवल उस समय जबकि उसे दूसरे देशों से कर्जा मिल रहा हो। (४) क्षतिपूर्ति की राशि का निरन्तर कम किया जाना यह स्पष्ट करता है कि इस विषय में ब्रिटेन का आचरण वास्तविक व यथार्थवादी था जबकि फ्रांस का अवास्तविक और पूर्णतः एकांगी।

क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋण-समस्याओं ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनीतिक क्षितिज को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। **इन समस्याओं के परिणाम और प्रभाव अत्यन्त दूरगामी और दुर्भाग्यपूर्ण निकले। पहला** प्रभाव या परिणाम ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस में मतभेद और मनोमालिन्य की खाई चौड़ी करना था। क्षतिपूर्ति समस्या से प्रभावित होकर ये दोनों प्रमुख यूरोपीय राष्ट्र जर्मनी के प्रति विभिन्न प्रकार की परस्पर विरोधी, उदार और कठोर नीतियों का अनुसरण करने लगे। इन मतभेदों के फलस्वरूप वर्साय की संधि पूर्णतः कभी व्यवहार में नहीं लाई जा सकी। **दूसरा** प्रभाव यह पड़ा कि इन समस्याओं के फलस्वरूप जर्मनी और फ्रांस के मध्य पारस्परिक घृणा और द्वेष का इतना गहरा बीजारोपण हो गया कि उनमें किसी प्रकार के समझौते की संभावना ही विनष्ट हो गई, यूरोप में असुरक्षा की स्थिति बनी रही, फ्रांस सुरक्षा की खोज में भटकते हुए अनेक देशों के साथ विभिन्न संधियां कर के अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को गन्दा और तनावपूर्ण बनाता रहा जिसका कुप्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। **तीसरा** प्रभाव या परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी स्वार्थपूर्ति की दृष्टि से क्षतिपूर्ति के प्रश्न को अमेरिका से लिये गये युद्धकालीन ऋणों के साथ सम्बद्ध करके अमेरिका को रुष्ट कर दिया। इससे अमेरिका की पृथकतावादी नीति (Policy of isolation) को बल मिला। **चौथा** प्रभाव यह था कि इन समस्याओं ने फ्रांस की आशाओं के विपरीत जर्मनी को अन्ततोगत्वा एक समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र बनने में सहायता दी। डावेस योजना ने जर्मनी के आर्थिक पुनरोत्थान के द्वार खोल दिये। जर्मनी को विदेशी ऋणों के बल पर अपने आर्थिक पुनर्निमाण का अवसर मिला। जर्मन उद्योग धन्धों को विकास के लिये प्रभूत मात्रा में अमेरिकन पूंजी मिली। अपने व्यापारिक स्वार्थों के वशीभूत होकर ब्रिटेन ने भी जर्मनी के आर्थिक पुनर्गठन में पूर्ण दिलचस्पी ली। इन अनुकूल परिस्थितियों के कारण जर्मनी ने अपनी औद्योगिक क्षमता और युद्ध सामग्री उत्पादन करने की सामर्थ्य इतनी अधिक बढ़ा ली कि १९३९-४० में यूरोप का कोई राष्ट्र उसके मुकाबले में नहीं टिक सका। बिना आर्थिक पुनरुद्धार के जर्मनी उस प्रसारवादी और आक्रामक नीति को नहीं अपना सकता था जिसने द्वितीय महायुद्ध को अनिवार्य बना

दिया। **पांचवां** प्रभाव यह हुआ कि क्षतिपूर्ति और अन्तःमित्र राष्ट्रीय ऋणों से उत्पन्न परिस्थितियों का जर्मनी ने बड़ा ही कूटनीतिक लाभ उठाया। इन समस्याओं को ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा और हल करने की कोशिश की। इस प्रकार जर्मनी के तीनों प्रधान शत्रुओं में मतभेद उत्पन्न हो गया। इस फूट का लाभ उठाते हुए उसने ब्रिटेन और अमेरिका के सहयोग से अपनी अपूर्व औद्योगिक उन्नति की और ज्योंही वह सक्षम बना, उसने इन देशों का ऋण चुकाने से भी इन्कार कर दिया। मित्र और साथी राष्ट्रों की इस फूट के कारण ही जर्मनी वर्साय संधि की धाराओं का गम्भीर उल्लंघन करता रहा और उसके विरुद्ध कोई प्रभावशाली कार्यवाही नहीं की जा सकी। **छठा** परिणाम यह निकला कि इन समस्याओं ने १९२९ के विश्वव्यापी आर्थिक संकट को बढ़ाने में विशेष योगदान दिया जिससे उत्पन्न परिस्थितियां द्वितीय महायुद्ध के लिये उत्तरदायी बनीं। श्री विन्सटन चर्चिल ने ठीक ही कहा है—

"इतिहास इन सब लेन-देनो (Transactions) को पागलपन की संज्ञा देगा। इन्होंने सैन्यवादी श्राप और आर्थिक झंझावात को उत्पन्न करने में सहायता दी।"

मित्रराष्ट्रों के युद्ध-कालीन ऋण
(Inter allied War-debts)

ऋणों का इतिहास—युद्धोपरान्त दूसरी समस्या जिसको सुलझाने में अधिक से अधिक शक्ति और समय का विनाश हुआ वह थी मित्रराष्ट्रों के युद्धकालीन ऋण की समस्या। राजनीति के घटनाचक्र ने इस समस्या को क्षतिपूर्ति की समस्या से सम्बद्ध कर दिया था और दोनों ही समस्याएं एक दूसरे से पृथक होते हुए भी एक ही ताने-वाने में गुंथ गयी थीं।

प्रथम महायुद्ध के समय मित्रराष्ट्रों ने युद्ध के संचालन के लिए आपस में एक दूसरे से कर्ज लिये थे। जब तक संयुक्त राज्य अमेरिका युद्ध में शामिल नहीं हुआ, तब तक ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस, इटली, रूस और अन्य मित्रराष्ट्रों को प्रभूत धन कर्ज के रूप में देता रहा था। जब अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ तो कांग्रेस ने मित्रराष्ट्रों को तीन अरब डालर का कर्ज देने का प्रस्ताव पास किया। अमेरिका द्वारा ऋण न केवल युद्ध के दौरान अपितु युद्ध के बाद भी दिया गया। कुल ऋण लगभग १०,३३८,०००,००० डालर दिया गया जिसमें से ७,०७७,०००,००० डालर की राशि युद्ध से पूर्व एवं शेष युद्ध के बाद दी गई। यहां यह उल्लेखनीय है कि अमेरिका ने यह ऋण स्वर्ण या मुद्रा रूप में नहीं दिया था। इस राशि का बहुत कम अंश अमेरिकन तट के बाहर जा सका था। इसका अधिकांश अंश न्यूयार्क स्थित संघीय रिजर्व बैंक (Federal Reserve Bank) में जमा था, जहां पर यह मित्रराष्ट्रों के

लिये अमेरिकन बाजारों में सामान खरीदने के लिये प्रत्यय का काम करता था। कर्ज लेने वालों में ब्रिटेन की यह विशेष नीति रही कि उसने अमेरिका से कर्ज लिया और उस कर्ज का अधिकांश दूसरे मित्रराष्ट्रों को कर्ज रूप में दिया। अन्तिम रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका ही सबसे बड़ा ऋणदाता राष्ट्र बना रहा।

युद्ध समाप्ति पर मित्रराष्ट्रों की पारस्परिक देनदारियां या उनके पारस्परिक ऋणों की स्थिति पौण्डों में लगभग इस प्रकार थी–

संयुक्त राज्य अमेरिका का ब्रिटेन पर	९२०,०००,००० पौंड
संयुक्त राज्य अमेरिका का फ्रांस पर	८०५,०००,००० पौंड
संयुक्त राज्य अमेरिका का अन्य देशों पर	६००,०००,००० पौंड
योग	२,३२५,०००,००० पौंड
ब्रिटेन का फ्रांस पर	६००,०००,००० पौंड
ब्रिटेन का रूस पर	७८३,०००,००० पौंड
ब्रिटेन का अन्य देशों पर	८००,०००,००० पौंड
योग	२,१८३,०००,००० पौंड
फ्रांस द्वारा दिया गया ऋण	१००,०००,००० पौंड

ऋण की उपरोक्त तालिका यह स्पष्ट कर देती है कि युद्ध की समाप्ति पर अमेरिका को छोड़कर अन्य सभी देश कर्जदार हो गये थे। उस समय वह संसार का सबसे बड़ा महाजन था जिसे विभिन्न देशों से २ अरब, ३२ करोड़, ५० लाख पौंड वसूल करने थे। विश्वयुद्ध में अमेरिका ने मित्रराष्ट्र गुट के लगभग २० राष्ट्रों को २ प्रतिशत की दर पर ऋण दिया था।

ऋण चुकाने के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण—युद्धकाल में मित्रराष्ट्रों ने परस्पर ऋण तो ले लिया था किन्तु युद्ध के उपरान्त जब ऋण चुकाने का प्रश्न पैदा हुआ तो उनके अपने-अपने स्वार्थ उठ खड़े हुए और तदानुरूप ऋण चुकाने का प्रश्न बहुमुखी हो गया। इस सम्बन्ध में फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका आदि के दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर प्रकट हुआ।

प्रथम, सभी ऋण लेने वाले देश ऋणदाता देशों से मुक्ति चाहते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में ऋण के अध्याय को बिल्कुल बन्द कर देना "नैतिक दृष्टि से उचित और आर्थिक दृष्टि से अवसरानुकूल था"। उनका कहना था कि ये ऋण व्यापारिक नहीं, बल्कि राजनीतिक थे। ये ऋण जर्मनी को हराने के लिए, लिए गये थे और जर्मनी की पराजय ऋण लेने वाले व ऋण देने वाले दोनों ही राष्ट्रों के अस्तित्व के लिए आवश्यक थी। ऋण न देने के पक्ष में यह नैतिक दलील भी दी जाती थी कि यदि धनी मित्रराष्ट्रों को युद्ध में धन लगाना पड़ा है तो कम धनी मित्रराष्ट्रों को लाखों आत्माओं का बलिदान

करना पड़ा है। ऋणी देशों ने युद्ध में रक्त और मांस से योग दिया है जबकि ऋणदाता देशों ने धन से। संयुक्त राज्य अमेरिका ने महायुद्ध में बहुत देर से प्रवेश किया था, अतः उसे अन्य मित्रराष्ट्रों के समान जन-धन की भीषण क्षति नहीं उठानी पड़ी थी। इसीलिए फ्रांस, ब्रिटेन आदि मित्रराष्ट्रों का तर्क था कि ये ऋण वस्तुतः युद्ध जीतने में अमेरिका का अंशदान समझे जाने चाहिए।

दूसरे, फ्रांस का तर्क यह था कि युद्ध में सर्वाधिक क्षति उसे ही उठानी पड़ी है, अतः उससे युद्धऋण वसूल नहीं किया जाना चाहिए, वह उन्हें उसी स्थिति में अदा कर सकता है जब कि उसे जर्मनी से क्षतिपूर्ति की राशि मिले। फ्रांस क्षतिपूर्ति प्राप्त करने की बात अधिक सोचता था, क्योंकि उसे इससे जितना धन मिल रहा था वह मित्रराष्ट्रों को चुकाये जाने वाले ऋण से कहीं अधिक था। १६२३ तक फ्रांस को आशा थी कि जर्मनी से क्षतिपूर्ति की अदायगी हो सकेगी, अतः वह क्षतिपूर्ति और युद्धऋणों के प्रश्नों को दो अलग-अलग प्रश्न मानता रहा। परन्तु जब १६२३ के बाद उसे क्षतिपूर्ति की अदायगी के बारे में सन्देह होने लगा तो उसने अपने पूर्ववर्ती दृष्टिकोण में परिवर्तन करते हुए दोनों प्रश्नों को दो अन्योन्याश्रित समस्यायें मानना आरम्भ कर दिया।

तीसरे, ब्रिटेन ऋणी भी था और ऋणदाता भी। इसके साथ ही वह एक वाणिज्य-प्रधान देश था। उसे ऋण-वसूली से ही लाभ होता, फिर भी वह ऋण चर्चा को समाप्त इसलिये करना चाहता था क्योंकि वह इसे यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार में बाधक समझता था। उसकी दृष्टि में क्षतिपूर्ति और युद्धऋण दोनों ही अव्यापारिक और राजनीतिक ऋण थे अतः उनका समाप्त होना ही अच्छा था। १ अगस्त १६२२ को लॉर्ड बालफोर (Balfour) ने सभी मित्रराष्ट्रों को एक नोट भेजा जिसमें कहा गया कि ब्रिटिश सरकार—"वर्तमान स्थिति में विश्व की आर्थिक क्षति की इतनी अधिक कायल है कि वह जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर अपने अन्य सब अधिकार और मित्रराष्ट्रों द्वारा प्रतिशोध्य सब दावे त्यागने को तैयार है, बशर्ते कि यह त्याग एक व्यापक योजना का हिस्सा हो जिसके द्वारा यह महान् समस्या अपने सम्पूर्ण रूप में संतोषजनक रूप से हल हो सके।" बालफोर नोट में यह स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटेन जर्मनी द्वारा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि से तथा अपने अन्य कर्जदारों द्वारा वसूल किये जाने वाले ऋणों से ही अमेरिका का कर्ज चुका सकता है। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार का मन्तव्य यह था कि क्षतिपूर्ति और युद्धऋण की समस्यायें परस्पर सम्बद्ध हैं और दोनों को ही साहस से सुलझाया जाना चाहिए।

अमेरिका साहूकार अर्थात् ऋणदाता देश था, अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह मित्रराष्ट्रों के उपरोक्त दृष्टिकोणों से सहमत न होता। **अमेरिकन सरकार का यह स्पष्ट मत था कि युद्धऋणों का क्षतिपूर्ति की रकम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।** यदि मित्रराष्ट्र जर्मनी से अधिकाधिक राशि वसूल करना चाहते हैं तो संयुक्त राज्य अमेरिका को अपने कर्ज क्यों नहीं लौटाते? वास्तव में पेरिस सम्मेलन में प्रारम्भ से ही अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों के पारस्परिक ऋण के प्रश्न को क्षतिपूर्ति सम्बन्धी बहस से पृथक रखने की सावधानी बरती थी। **कूलिज (Coolidge) का यह प्रसिद्ध सूत्र अमेरिकन शासन-नीति की अभिव्यक्ति थी कि—"क्या यह सच नहीं है कि उन लोगों ने यह धन उधार लिया था?"** यदि यूरोपीय राष्ट्र जर्मनी से धन निचोड़ना चाहते थे तो उन्हें अमेरिका से भिन्न मापदण्ड की आशा क्यों करनी चाहिए। अमेरिकन प्रतिनिधियों का यह भी कहना था कि उनके यूरोपीय कर्जदार बहुमूल्य हथियारों पर विशाल धनराशि बुरी तरह खर्च कर रहे हैं, और यदि उनमें अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की भावना है तो यह रकम संयुक्त राज्य अमेरिका को चुकायी जानी चाहिये। पुनः, ब्रिटेन और फ्रांस का यह कहना भी सत्य नहीं है कि यह धनराशि युद्ध जीतने के लिए ली गई थी जिसमें अमेरिका का समान उद्देश्य निहित था। इसके विपरीत इस ऋण का ३० प्रति० युद्ध समाप्ति के बाद, अनाज खरीदने से लिए, पुराने कर्जे चुकाने के लिए और फ्रान्स की फ्रान्क मुद्रा व ब्रिटिश पौंड के मूल्य में स्थिरता बनाये रखने की दृष्टि से लिया गया था। अमेरिका का एक तर्क यह था कि उसने यूरोप में अमेरिकन सेना के लिए जो सामान और सेवायें ली थीं उनका दाम उसे मित्र-राष्ट्रों को नगद चुकाना था, अतः ठीक इसी प्रकार मित्रराष्ट्रों को भी उस सामग्री का दाम नकद रूप में चुकाना चाहिए जो उन्होंने अपनी सेनाओं को सज्जित करने के लिये अमेरिका से खरीदी थी। इन ऋणों को रद्द करने का परिणाम अमेरिकन करदाताओं पर यूरोप के युद्ध का अनुचित भार डालना होगा, अतः इन्हें लौटाया जाना मित्रराष्ट्रों का नैतिक कर्त्तव्य है।

अमेरिकन, बालफोर नोट को घृणा की दृष्टि से देखते थे और इसे ऋण-वसूली के सारे अपयश को अमेरिका के सिर पर चालाकीपूर्ण प्रयत्न मानते थे। **श्री विकहम स्टीड (Wickhom Steed) के शब्दों में बालफोर नोट की अमेरिकन व्याख्या यह थी—**

"हम आपका धन अदा करेंगे यदि हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक होगा, परन्तु यदि आप हम से ऐसा करने को कहेंगे तो आप नीच और अशिष्ट व्यक्ति होंगे।"

अमेरिका अपना कर्ज वापिस पाने के लिए अत्यधिक आतुर इसलिए भी था कि उसे शांति-सधियों से कोई लाभ नहीं पहुंचा था। उसे न तो एक इंच जमीन ही मिली थी और न ही एक पौण्ड क्षतिपूर्ति के रूप में ही मिला था। इसके अतिरिक्त अमेरिकन जनता का विचार था कि वह उस युद्ध के संचालन का मूल्य क्यों चुकाये जिसे यूरोप के झगड़ालू लोगों ने शुरू किया था।

अमेरिका द्वारा रिण उगाहने के प्रति सक्रियता—पेरिस के शांति-सम्मेलन में अपना पक्ष पूर्णतः स्पष्ट करने के बाद कि युद्धकालीन ऋण बाध्य दायित्व है जिसे पूरा करना कर्जदार देशों के लिए आवश्यक है, संयुक्त राज्य अमेरिका १९२२ में ही ऋण वसूल करने के प्रति सजग हो गया। उसने अपने सभी कर्जदारों से यह अनुरोध किया कि वे अपना ऋण चुकाने हेतु शीघ्र ही आवश्यक कदम उठायें। फिर भी अमेरिकन रुख एकदम कठोर न होकर उदारता लिये हुये था और इसीलिए, उसने यूरोपियन राष्ट्रों की आर्थिक कठिनाइयों का अनुभव करते हुये यह निश्चय किया कि प्रत्येक ऋणी राष्ट्र से उसकी **"अदा कर सकने की क्षमता"** (Capacity to pay) के सिद्धान्त के आधार पर ही कर्ज वसूल किया जाय। इस निश्चय के आधार पर अमेरिका ने एक **'विश्व युद्ध विदेशी रिण आयोग'** (**World War Foreign Debt Commission**) नियत किया। इसकी स्थापना ९ फरवरी १९२२ को हुई। इसका कार्य यही था कि यह ऋणी राष्ट्रों के साथ विभिन्न नामों के कर्जों को एक बड़े कर्जखाते में जमा करने के समझौतों का प्रबन्ध करे। इस आयोग ने १९२२ से १९२६ तक उपरोक्त "अदा कर सकने की क्षमता" के सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न देशों के साथ मूलधन और ब्याज में भारी कमी करते हुए ६२ किश्तों में ऋण को वसूल करने के अनेक समझौते किये। ग्रेट ब्रिटेन के ऋण को १९.७ प्रति०, फ्रांस के ऋण को ५२.८ प्रति० और इटली के ऋण को ७५.४ प्रतिशत घटा दिया गया। इस तरह दिसम्बर १९२२ में अमेरिका व ब्रिटेन में यह समझौता हुआ कि ब्रिटेन अमेरिका को १९२३ से १९३२ तक तो ३३,०००,००० पौण्ड प्रतिवर्ष और उसके बाद १९३३ से १९८४ तक ३८,०००,००० पौण्ड प्रतिवर्ष देगा। फ्रांस के साथ ६२ वर्षों में ऋण चुकाने सम्बन्धी समझौता २९ अप्रेल १९२६ को सम्पन्न हुआ।

ऋण समस्या का अन्त—मित्रराष्ट्रों ने बड़ी अनिच्छापूर्वक संयुक्त राज्य अमेरिका को ऋण चुकाना शुरू किया। अमेरिकन सरकार यह चेतावनी दे चुकी थी कि यदि मित्रराष्ट्रों ने ऋण की अदायगी नहीं की तो उन्हें भविष्य में किसी प्रकार का ऋण नहीं दिया जायगा। किन्तु आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां इतनी तेजी से बदलती गयीं कि अमेरिका द्वारा भर-सक प्रयत्न करने पर भी ऋणों की वसूली नहीं की जा सकी। मित्रराष्ट्र

१६२३ से १६३० तक अवश्य नियमानुसार किश्त से ऋण अदा करते रहे, पर उन्होंने यह राशि उसी रकम से दी जो उन्हें क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी से प्राप्त हुई थी। १६२२ से १६२८ तक जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों को एक अरब ३५ करोड़ डालर क्षतिपूर्ति के रूप में दिये और यह सब उसने अमेरिका से प्राप्त होने वाले ऋण से किया। अमेरिका जर्मनी को कर्ज देता था और जर्मनी उसमें से क्षतिपूर्ति के रूप में मित्रराष्ट्रों को धन लौटा देता था। इस प्रकार जर्मनी "अहमद की टोपी मोहम्मद के सिर" वाली कहावत निभा रहा था। इसके साथ ही अमेरिका का जो धन क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी द्वारा मित्र-राष्ट्रों को पहुंचता था, मित्रराष्ट्र उसी धन से अपना अमरीकी कर्ज चुकाते थे यानि अमेरिका का डालर घूमते-फिरते फिर अमेरिका ही जा पहुंचता था। **गैथार्न हार्डी के शब्दों में—"अमेरिकन धन एक प्रकार से गोल दायरे में चक्कर लगा रहा था—अमेरिका से जर्मनी, जर्मनी से क्षतिपूर्ति के दावेदार देश के पास और उस देश से कर्ज की किश्तों में वापिस अमेरिका।"**[1]

ऋणों की उपरोक्त अदायगी १६३० के बाद से ही विश्रंखलित होने लग गयी। विश्वव्यापी भीषण आर्थिक मन्दी ने, जिसका प्रारम्भ १६२६ से ही हो गया था, १६३१ में ऋणों की अदायगी को असंभव बना दिया। इधर आर्थिक संकट के कारण जब जर्मनी को अमेरिका से कर्ज मिलना बन्द हो गया तो जर्मनी भी क्षतिपूर्ति की किश्तें अदा नहीं कर सका। उसने १६३० के बाद केवल आधे वर्ष भुगतान किया। स्पष्ट है कि क्षतिपूर्ति और ऋणों की अदायगी लगभग साथ-साथ उतरती-चढ़ती रही। मित्रराष्ट्रों और जर्मनी की निरन्तर बिगड़ती हुई आर्थिक दशा को सहारा देने के लिए अमेरिकन राष्ट्रपति हर्बर्ट हूवर ने १ जुलाई १६३१ से एक वर्ष के लिए ऋणों तथा क्षतिपूर्ति की अदायगी स्थगित करने की व्यवस्था दी जो 'हूवर मुहलत' (Hoover Moratorium) के नाम से विख्यात है। लेकिन एक वर्ष की अवधि के समाप्त होने पर भी आर्थिक मन्दी जारी रहने के कारण समस्या पर विचार करने के लिये लोजान में १६ जून १६३२ को ब्रिटेन, फ्रान्स, वेल्जियम, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ जिसमें जर्मनी की क्षतिपूर्ति की राशि में भारी कमी करते हुए इस आशा में उसे केवल ३ प्रतिशत ही रहने दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका भी मित्रराष्ट्रों के प्रति युद्ध-ऋण मांगने के सम्बन्ध में ऐसी उदारता का परिचय देगा। मित्र-राष्ट्रों की सरकारों में लोजान में ही एक अन्य समझौता किया गया जिसका

---

1. "The American money had been making a kind of circular turn to Germany, from Germany to the claimants of reparation and from of war-debt payments."

—*Gathorn Hardy*

आशय यही था कि मित्रराष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति के मामले में जो सुविधाएं जर्मनी को दी हैं उनके बदले में मित्रराष्ट्रों को भी अमेरिका की तरफ से सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिएं। इस प्रकार एक बार फिर युद्ध-ऋण और क्षतिपूर्ति की समस्या को एक साथ जोड़ने की चेष्टा की गयी।

परन्तु अमेरिका युद्ध-ऋणों के सम्बन्ध में अब किसी भी प्रकार की उदारता इसलिए बरतने को तैयार न था क्योंकि प्रथम तो वह ऋणों की राशि में पहले ही भारी कमी कर चुका था और दूसरे वह क्षतिपूर्ति तथा ऋण प्रश्नों को एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं मानता था। अमेरिका ने लोजान में किये गये "शरीफाना समझौते" को ब्लेकमेल की संज्ञा देते हुए युद्ध ऋणों का त्याग करने से कठोरतापूर्वक इन्कार कर दिया। परन्तु अमेरिका का यह कठोर रुख निष्फल ही रहा। यूरोप की आर्थिक अवस्था ऐसी नहीं थी जिसमें युद्ध ऋणों और क्षतिपूर्ति की विशाल राशि का भुगतान किया जा सकता। फलतः १५ दिसम्बर १९३२ को केवल छः राज्यों—चैकोस्लोवाकिया, फिनलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, इटली, लैटविया और लिथुआनिया ने ही अमेरिका को अपनी किश्तें अदा कीं। फ्रांस, बेल्जियम, पोलैण्ड तथा अन्य देशों ने अपनी किश्तें नहीं दीं। फ्रांस की पार्लियामेंट ने १४ दिसम्बर १९३२ को ही, अर्थात् अमेरिकन ऋण की वार्षिक किश्त अदा की जाने वाली तारीख १५ दिसम्बर से एक दिन पूर्व ही, एक कानून द्वारा ऋण की अदायगी को समाप्त कर दिया था।

सन् १९३३ में ग्रेट ब्रिटेन और अन्य पांच राष्ट्रों ने किश्तों की सांकेतिक अदायगी की, जबकि अन्य देश सांकेतिक किश्त (Token Payment) देने में भी असमर्थ रहे। सन् १९३४ में अमेरिकन कांग्रेस ने 'जॉन्सन अधिनियम' पास कर सांकेतिक अदायगी को रद्द कर दिया। इसके बाद कर्जदारों ने अमेरिका को युद्ध ऋण की कोई भी किश्त किसी भी रूप में अदा नहीं की, केवल फिनलैण्ड ही अकेला ऐसा राज्य रहा जिसने अपना सारा ऋण अदा किया। फिनलैण्ड अपनी वार्षिक किश्तें बदस्तूर १९४० तक अदा करता रहा। इस प्रकार क्षतिपूर्ति समस्या के समान ही युद्ध ऋण समस्या भी अपने आप ही समाप्त हो गयी। १९३७ तक अमेरिका को २२ अरब १८ करोड़ ८० हजार के कुल ऋण में से केवल २ अरब ७४ करोड़ ८८ लाख १५ हजार ४३२ डालर ही वसूली में मिले।

आर्थिक मन्दी
(Economic Depression)

१९२९ ई० के प्रारम्भ तक संसार आशावाद की ओर तेजी से बढ़ता जा रहा था। इतिहास के प्रथम विश्वव्यापी युद्ध से जो अपार क्षति हुई थी,

उसकी बहुत कुछ पूर्ति हो चुकी थी। लगभग सभी देश अपनी मुद्रा को सन्तुलित या नियमित कर चुके थे। औद्योगिक उत्पादन बढ़ता जा रहा था। रूस में भी नव निमाण की आर्थिक योजनाएं कार्यान्वित की जा रही थीं। जर्मनी फिर से अपने पैरों पर खड़ा हो चला था। वास्तव में संसार की प्रगति अभूतपूर्व गति से हो रही थी।[1] सचमुच बाहर से देखने में ऐसा ही लगता था।

लेकिन शीघ्र ही संसार की परिस्थिति ऐसी बदल गई कि लोगों को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ा। सम्पूर्ण संसार अचानक ही आर्थिक संकट के महाप्रलय में डुबकी लगाने लगा। अमेरिका जैसे धन–कुबेर राष्ट्र का भी आर्थिक ढांचा चरमरा उठा। कनाड़ा के खेतों में अनाज और ब्राजील के खेतों में कहवा की उपज जलाई जाने लगी। वाल स्ट्रीट में मंदी छा गई और दुनिया का व्यापार एकदम आधा गिर गया। आस्ट्रेलिया और अर्जेण्टाइना को १६२६ के अन्त में सभी स्वर्ण भुगतान (Gold Payments) स्थगित कर देने पड़े। मध्य और दक्षिणी–पूर्वी यूरोप के सभी छोटे राष्ट्र अपने विदेशी ऋणों के भुगतान में असमर्थ हो गये। जून १६३१ तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि अमेरिका और फ्रांस को छोड़कर विश्व के अधिकांश देश दिवालिया हो जायेंगे। परन्तु तभी, २० जून १६३१ को 'हूवर–मुहलत' (Hoover Moratorium) बचाव के लिये प्रकट हुई जिसका सभी देशों ने उत्साहपूर्वक स्वागत किया। पर फ्रांस ने इसे स्वीकार करने में १५ दिन का विलम्ब कर दिया, अतः इसकी प्रभावशीलता और उपयोगिता एक बड़ी सीमा तक नष्ट हो गई और आर्थिक संकट को रोका नहीं जा सका। आर्थिक संकट ने शीघ्र ही इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया कि २१ सितम्बर, १६३१ को ब्रिटेन ने भी स्वर्ण मान (Gold Standard) से मुक्ति प्राप्त करली। इसके फलस्वरूप भारत, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैंड, रोडेशिया, आस्ट्रिया, जापान, पुर्तगाल, रूमानिया, चीन, ग्रीस, श्याम और फारस ने भी स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया। १६३१ के अन्त तक विश्वव्यापी आर्थिक संकट अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। भय और संकट का साम्राज्य लगभग सम्पूर्ण विश्व में स्थापित हो गया। जनवरी १६३२ में जर्मनी ने घोषणा कर दी कि वह क्षतिपूर्ति की राशि चुकाने में असमर्थ है। जून–जुलाई १६३२ में यूरोपियन राष्ट्रों ने लोजान सम्मेलन में यह स्पष्ट कर दिया कि वे

---

1. "In 1929 while some countries had lost in relative position, the world as a whole was well above all earlier standards and seemed to be advancing at an unprecedented pace to levels of prosperity never before thought possible."
—Sir Arthur Salter

अपने क्षतिपूर्ति के दावों को छोड़ने को तैयार हैं यदि अमेरिका आदि ऋण-दाता देश भी अपने युद्ध-ऋणों को त्याग दें। अमेरिका ने इससे असहमति प्रकट की लेकिन भविष्य में अधिकांश ऋणी देशों ने न तो ऋण चुकाया और न वे जर्मनी से क्षतिपूर्ति की राशि ही प्राप्त कर सके। अन्त में युद्ध-ऋणों और क्षतिपूर्ति की समस्याएं स्वतः ही समाप्त हो गईं।

आर्थिक संकट से उबरने के उपायों पर विचार करने के लिये जून १९३३ में लंदन में एक विश्व-अर्थ-सम्मेलन (World Economic Conference) आयोजित हुआ। इसमें ६४ देशों ने भाग लिया, किन्तु कोई उल्लेखनीय परिणाम नहीं निकला। सम्मेलन की असफलता का प्रधान कारण आर्थिक राष्ट्रीयतावाद रहा। यद्यपि आर्थिक राष्ट्रीयतावाद के प्रभाव से विभिन्न देशों ने अपने-अपने निर्यात को बढ़ाने व आयात को कम करने के लिये अपने को तटकरों (Customs) की प्राचीरों से घेर लिया, किन्तु इसने व्यापार के राजकीय नियंत्रण एवं अन्य ऐसे सुधारों का श्री गणेश भी किया जिनसे आर्थिक संकट की तीव्रता शनैः-शनैः घटने लगी। ब्रिटेन में तो इन सुधारों का आरम्भ जुलाई १९३२ से ही हो गया था। इधर सन् १९३३ में ही अमेरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने "नई व्यवस्था" (New Deal) नामक प्रसिद्ध कार्यक्रम शुरू किया। अनेक देशों ने प्रधानतः ब्रिटेन ने, द्विपक्षीय समझौतों की नीति पर चलकर अपनी आयात-निर्यात व्यवस्था को पुनर्गठित किया। इन सभी प्रयासों के फलस्वरूप १९३३ के अन्त तक आर्थिक संकट मिटने के लक्षण प्रकट होने लगे।

आर्थिक संकट के कारण

आर्थिक संकट के उपरोक्त स्वरूप को संक्षेप में समझ लेने के उपरांत अब हमें देखना चाहिए कि आखिर सम्पूर्ण विश्व को एकबारगी झकझोर देने वाले इस भीषण संकट की उत्पत्ति के क्या कारण थे। यद्यपि इन कारणों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों और विद्वानों में बड़ा भेद है तथापि इस मतभेद के विस्तृत ऊहापोह में न जाते हुये निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं—

(१) **विश्व-युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियां**—यह आर्थिक संकट प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था। १९वीं शताब्दी के इतिहास में पहले ३ और बड़े युद्ध हो चुके थे—नेपोलियन युद्ध (१७९५-१८१५), अमेरिकन गृहयुद्ध (१८६४), फ्रैंको-प्रशियन युद्ध (१८७०)। इन युद्धों के बाद भी इसी प्रकार आर्थिक मंदियां आईं। प्रत्येक बड़े युद्ध के बाद आर्थिक मंदी क्यों आती है, इसका विश्लेषण जे. बी. कांडलिफ (J. B. Condliffe) ने अपने इन शब्दों में किया है—"युद्ध के समय सैनिक आवश्यकताओं की मांग बढ़ जाने के कारण उद्योग-धन्धों का प्रसा-

धारण विस्तार होता है। बहुत से मनुष्य सैनिक कार्य में लगे होने से मजदूरों की कमी हो जाती है। मजदूरी की दर, मुनाफे और रोजगार बढ़ जाते हैं, युद्ध की समाप्ति के बाद कुछ समय तो यह तेजी बनी रहती है परन्तु उसके बाद मंदी आ जाती है।"[1] इतिहास ने प्रथम महायुद्ध के बाद भी इसी घटना-चक्र को दोहराया और संसार को प्रथम बार ठीक ऐसी ही भीषण आर्थिक मन्दी का झटका सहना पड़ा जैसा भीषण युद्ध इतिहास में पहली बार लड़ा जा चुका था। युद्ध समाप्ति के बाद उद्योग-धन्धों की तेजी और चमक कुछ वर्षों तक बनी रही, किन्तु सैनिक आवश्यकताओं की मांग घटने के साथ-साथ मन्दी की भूमिका बनने लगी जिसके स्पष्ट लक्षण १९२९ में प्रकट हुए।

(२) **क्षतिपूर्ति तथा युद्ध रिणों की समस्या**—इन दोनों समस्याओं ने १९२९ की आर्थिक नन्दी को किस तरह प्रभावित किया इसका उल्लेख पहले हो चुका है। अतः इस सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि युद्धोत्तर इतिहास की इन दो जटिल समस्याओं ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अर्थ-व्यवस्थाओं को अस्त-व्यस्त कर दिया और आर्थिक संकट की भीषणता को इतना तीव्र कर दिया कि सामान्य परम्परागत उपायों से उसका सामना नहीं किया जा सका।

(३) **उद्योगों का यन्त्रीकरण और वैज्ञानीकरण**—युद्ध काल में श्रम की कमी को पूरा करने के लिये कृषि एवं उद्योग क्षेत्र में यन्त्रों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाने लगा था। यन्त्रों को स्वयंचालित (Automatic) बनाने के प्रयत्न हुये। वैज्ञानीकरण के इस प्रयास से कृषि उद्योग में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। जहां १८५० में पश्चिमी जगत में एक कृषि मजदूर के पास लगभग १·५ हार्स पावर थी, वहां १९१८ में २·०५ और १९३० में ६·७ हार्स पावर हो गई। इस तरह कृषि का अत्यधिक यन्त्रीकरण हो जाने से खेतिहर मजदूरों में बेकारी फैल गई। उद्योग क्षेत्र में स्वचालित यन्त्रों के प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि जहां १९१९ में एक श्रमिक लगभग ५२ घण्टों में जिस काम को कर सकता था उसे ही १९३० में वह ३० घण्टों में करने लगा।[2] इसका यह स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम था कि बेकारी में तेजी से वृद्धि हो। बेकारी की गम्भीर समस्या ने आर्थिक संकट को उत्पन्न करने में बड़ी सहायता दी।

(४) **उत्पादन आधिक्य और क्रय शक्ति का ह्रास**—प्रथम युद्ध के बाद आर्थिक दृष्टि से उत्पादन आधिक्य (Over production) युग शुरू हुआ। एक ओर तो बेरोजगारी बढ़ने से मजदूरों की क्रय-शक्ति में गम्भीर

---

1. *J. B. Condliffe* : War and Depression, P. 7.
2. *William Green* : Thirty Four Hour Week., P. 32.

ह्रास हो चुका था और दूसरी ओर नई मशीनों ने वस्तुओं का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में किया कि उनके ढेर के ढेर लग गये। युद्ध के बाद कुछ वर्षों तक उत्पादन-प्राधिक्य का आभास इसलिए नहीं हो पाया कि पुनर्निर्माण के लिए विभिन्न वस्तुओं की मांग बनी रही। बाद में मांग तो घटती गई पर उत्पादन बढ़ता चला गया। बाजार अनाज और माल से भर गये पर खरीददारों का अभाव हो गया। परिणामतः कारखानों को बन्द करना पड़ा। कारखानें बन्द करने से बेरोजगारी अधिकाधिक बढ़ती गई और क्रय-शक्ति निरन्तर गिरती चली गई। इन परिस्थितियों में आर्थिक मन्दी का दौर आना स्वाभाविक था। जब आर्थिक मन्दी शुरू हुई, वस्तुओं के खरीददारों की कमी हो गई तो युद्धोत्तर अभिवृद्धि का वास्तविक रहस्य खुलने लगा।

(५) **स्वर्ण का विषम विभाजन**—आर्थिक मन्दी का एक प्रमुख कारण विश्व में स्वर्ण का विषम विभाजन और इसका बड़ी मात्रा में अमेरिका में एकत्र हो जाना था। महायुद्ध के पहले अधिकांश देशों में स्वर्ण मान प्रचलित था। युद्धकाल में विभिन्न देशों ने इसका परित्याग कर दिया। सोने की मांग घट जाने से इसका मूल्य सस्ता हो गया और इसकी दृष्टि से वस्तुओं का दाम महंगा हो गया। १९२५ से विभिन्न देशों ने पुनः स्वर्ण मान अपनाया और इधर अमेरिका ने सभी ऋणी राष्ट्रों से युद्धकाल में और उसके उपरांत दिये गये ऋणों की वसूली शुरू की। चूंकि अमेरिका ने माल के रूप में अपना कर्ज लेने से इन्कार कर दिया अतः संसार के अन्य देशों से सोना अमेरिका की ओर प्रवाहित होने लगा। इससे संसार के अन्य देशों में सोने का कृत्रिम अभाव उत्पन्न हो गया, वहां सोने की कीमत बढ़ गई और वस्तुओं की कीमत गिर गई। इस परिस्थिति ने आर्थिक मंदी को और भी भीषण बना दिया तथा योरोप के अनेक देशों को स्वर्ण-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा।

(६) **आर्थिक राष्ट्रीयता**—युद्ध के पश्चात् सभी देशों ने आर्थिक राष्ट्रीयता और आत्म-निर्भरता की नीति अपनाई। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले कुप्रभावों की चिन्ता किये बिना अपनी-अपनी आर्थिक उन्नति के लिये अत्यन्त संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण नीतियों का अनुसरण किया। प्रायः सभी राष्ट्रों ने अपने उद्योगों और कृषि को जीवित रखने के लिए विनिमय तथा आयात के ऊपर रुकावटों, आयात करों और कोटों (Quotas) का आश्रय लिया। ब्रिटेन, जो अभी तक खुले व्यापार का समर्थक था, अब तरह-तरह की संरक्षण नीति अपनाने लगा। एशिया में स्वदेशी आंदोलन, रूस में बोल्शेविक क्रांति और युद्ध के बाद योरोप के नवस्थापित राज्यों की संरक्षण नीति से पश्चिमी योरोप के हाथ से एक बहुत बड़ा बाजार निकल गया। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अस्त-व्यस्त

हो गया। यूरोपीय सरकारें और जनता दोनों ही दिवालिया हो गईं। अमेरिका जैसे सुदृढ़त्तम राष्ट्र की आर्थिक मण्डियां भी संकटग्रस्त हो गईं। बेकारों को सहायता देने के लिए विभिन्न सरकारों को नये-नये कर लगाने पड़े जिनके भार से पीड़ित उद्योग-धन्धों का दम घुटने लगा।

(७) **अतिपूर्तिः**—कुछ लोग इस आर्थिक संकट का एक कारण अतिपूर्ति (Over Supply) और उसकी वजह से घटी हुई चांदी की कीमतों को बतलाते हैं। इन दोनों बातों के फलस्वरूप उन देशों की क्रय शक्ति क्षीण हो गई जहां चांदी के सिक्कों का प्रचलन था। इस प्रकार के देशों में भारत एवं चीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपरोक्त मौलिक कारणों के फलस्वरूप भीषण आर्थिक संकट के सभी आधार तैयार हो चुके थे। फिर भी **इस मन्दी का तात्कालिक कारण अक्टूबर १९२९ में न्यूयार्क के शेयर बाजार (Wall Street) का आर्थिक संकट था।** न्यूयार्क स्टाक एक्सचेंज में २३ अक्टूबर को एकाएक शेयरों का मूल्य ५० अरब डालर गिर गया जिसने न केवल अमेरिका को बल्कि सम्पूर्ण विश्व को हिला डाला। अमेरिकन सरकार और बड़े-बड़े पूंजीपतियों के प्रयास से स्थिति कुछ समय के लिये संभल गई पर नवम्बर में शेयरों के मूल्य में फिर अत्यधिक गिरावट हुई। बहुत सी कम्पनियों और धनिकों का दिवाला निकल गया। परिकल्पक (Speculators) बेकार हो गये और अमेरिकन पूंजीपतियों ने उधार देना व विदेशों में नयी पूंजी लगाना एकदम बन्द कर दिया। अमेरिकन सरकार ने ऋण-बन्द की घोषणा कर दी। परिणामतः यूरोपियन समृद्धि का मूल स्रोत सूख गया। अमेरिकन पूंजी के आधार पर ही यूरोपियन बैंक अपनी देनदारियां पूरी करते थे। किन्तु अब यह सम्भव नहीं रहा। यूरोपीय देशों में आर्थिक पुनर्निर्माण की गति अवरुद्ध हो गई। सारे संसार की क्रय-शक्ति में ह्रास हो गया और कीमतों में व्यापक गिरावट शुरु हो गई। यूरोप के कर्जदार देशों को इससे दोहरी चोट लगी। सामान्य वाणिज्य का क्रम बिल्कुल ही टूट गया। अमेरिकन पूंजी के अभाव में यूरोप में आर्थिक मंदी की गति को वेगवान बनाने वाली प्रथम महत्वपूर्ण घटना आस्ट्रिया में घटी, यद्यपि संकट के प्रथम लक्षण जर्मनी में ही दृष्टिगोचर हुए। **११ मई १९३१ को पता लगा कि जनतंत्र का सबसे बड़ा आस्ट्रिया का व्यक्तिगत बैंक, जिसका नाम क्रेडिट आन्सटाल्ट (Credit Anstalt) था दिवालिया होने वाला है।** इस आशंका से सम्पूर्ण मध्य-यूरोप की ऋण-वापसी की साख व्यापक रूप से हिल गई। जर्मनी पर तो इस बात का बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ा क्योंकि वहां तो बैंक कारोबार का सकट पहले से ही सिर उठा रहा था। क्रेडिट आन्सटाल्ट के दिवालिया होने के

भय को दूर करने के लिये और आर्थिक संकट के प्रसार को रोकने के लिये आस्ट्रिया की सरकार ने एक आज्ञप्ति जारी कर यह गारन्टी दी कि सरकार बैंक के विदेशी दायित्वों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है। परन्तु दिवालियापन इतना विश्वव्यापी तथा संकट इतना तीव्र था कि आस्ट्रिया की सरकार के इस आश्वासन का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आस्ट्रिया के ८० प्रतिशत व्यापार को नियन्त्रित करने वाले बैंक क्रेडिट आन्सटाल्ट के पतन ने विश्वव्यापी विश्वासहीनता का सूत्रपात कर दिया। जर्मनी में तो इतना आतंक फैल गया कि जुलाई के केवल ३ सप्ताहों में विदेशी साहूकारों ने जर्मन राज्य बैंक (Reichs Bank) से ५०,०००,००० पौण्ड के मूल्य का सोना निकाल लिया। जर्मन पूंजीपतियों ने भी संकट को तीव्र बनाने में सहयोग दिया। वे देश की सबसे बड़ी वित्तीय संस्था डारम्सटाडर (Darmastader) तथा नेशनल बैंक से या तो विदेशों को भेजने के लिये या फिर घरों में रखने के लिये प्रभूत मात्रा में सोना निकालने लगे। स्थिति इतनी बिगड़ी कि बैंक को बन्द कर देना पड़ा। इसके तुरन्त बाद जर्मन सरकार ने केवल राज्य बैंक अर्थात् रीश बैंक को छोड़कर अन्य सब बैंकों की अनिश्चित काल के लिये छुट्टी कर दी।

उपरोक्त घटनाओं का प्रभाव विश्व के प्रधान व्यापारिक केन्द्र लन्दन पर भी पड़ा। जुलाई १९३१ के अन्त में बैंक आफ इंगलैण्ड आर्थिक संकट के आघात को महसूस करने लगा और लोग बैंक से धन निकालने के लिये दौड़ पड़े। १ अगस्त को यह घोषणा की गई कि बैंक आफ फ्रांस तथा न्यूयार्क के फेडरल रिजर्व बैंक ने ढ़ाई—ढ़ाई करोड़ पौण्ड का ऋण बैंक आफ इंगलैण्ड को दिया है। परन्तु इस घोषणा से भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ और बैंक से धन निकालने का कार्य तीव्र गति से चलता रहा। २४ अगस्त १९३१ को श्रमदलीय प्रधानमन्त्री मेकडोनेल्ड ने इस्तीफा देकर सभी पार्टियों को संयुक्त करके एक 'राष्ट्रीय सरकार' की स्थापना की ताकि आर्थिक संकट का प्रभावशाली रूप से मुकाबला किया जा सके। लेकिन परिस्थितियों ने नई सरकार में लोगों के विश्वास को एक झटका दिया और केवल १८ सितम्बर को ही १८,०००,००० पौण्ड बैंकों से निकाल लिये गये। २१ सितम्बर को, बिगड़ती हुई परिस्थितियों से बाध्य हो कर, ब्रिटेन को स्वर्ण मान का परित्याग कर देना पड़ा व कुछ ही दिनों में स्वर्ण रूप में पौण्ड का मूल्य २५ प्रतिशत गिर गया।

स्वर्ण मान के परित्याग से ब्रिटेन को लाभ हुआ किन्तु अन्य देशों पर इसका गहरा कुप्रभाव पड़ा। विदेशों में, जहां कीमतें पहले से ही गिरी पड़ी थीं और भी गिरावट शुरू हुई। यूरोप के प्रायः सभी स्टाक-एक्सचेंज बन्द

हो गये व आर्थिक संकट अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया। जिन देशों का विदेशी विनिमय का आधार स्टर्लिन था, उन सब को स्वर्ण मान त्याग देना पड़ा और जिन्होंने नहीं त्यागा उन्हें संकट व कष्ट का सामना करना पड़ा। केवल फ्रांस, अमेरिका, इटली, बेल्जियम, हॉलैण्ड, पोलैण्ड, स्वीटजरलैण्ड आदि कुछ देश ही ऐसे रहे जिन्होंने स्वर्ण मान बनाये रखा।

इस भीषण आर्थिक मन्दी के आर्थिक दुष्परिणाम बड़े भयंकर निकले। १९३३ के मध्य तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लगभग ६० प्रतिशत कम हो गया, बेकारों की संख्या लगभग ३ करोड़ तक पहुंच गयी और अनेक देशों की राष्ट्रीय आय ४० प्रतिशत तक घट गयी। व्यापार में सब प्रकार की कमाई और मुनाफा लगभग समाप्त हो गया। जनता के सभी वर्ग—पूंजीपति, मध्यम वर्ग, मजदूर और किसान इस मन्दी की मार से तबाह और बरबाद हुए। जब विभिन्न सरकारों ने बेकार व्यक्तियों को आर्थिक सहायता (Dole) देना चाहा तो प्रश्न यह पैदा हुआ कि इसके लिए विशाल धन-राशि का प्रबन्ध कैसे किया जाय। राष्ट्रीय आय के स्रोत पहले ही सूख चले थे, अतः सरकारों ने कर बढ़ाये तथा वेतनों और सरकारी बॉण्डों पर सूद की दरें कम कीं। लेकिन इन तीनों ही उपायों से किसी न किसी रूप में जनता के विभिन्न वर्गों में असंतोष और भी बढ़ा। लाभ कम होने से पहले से ही परेशान पूंजीपतियों ने नये करों को अवांछित माना, वेतन कम होने से सरकारी कर्मचारियों में असंतोष बढ़ा और ब्याज दर घटने से सरकारी बॉण्ड खरीदने वाले नाराज हुए। संक्षेप में, समाज का कोई ऐसा वर्ग शेष न रहा जो अपनी सरकार से संतुष्ट हो। इस अभूतपूर्व आर्थिक मन्दी और आर्थिक विनाश का राजनीतिक स्थिति पर भी गहरा प्रभाव पड़ा।

आर्थिक मन्दी का व्यापक राजनीतिक परिणाम

१९३० का यह आर्थिक संकट दो विश्वयुद्धों के बीच के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी जिसकी प्रतिक्रियाएं विशाल एवं व्यापक हुईं और जिसके परिणाम भी बड़े दूरगामी हुए।

(१) **आर्थिक राष्ट्रवाद**—आर्थिक मन्दी का पहला व्यापक परिणाम यह हुआ कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति को पीछे धकेल कर प्रबल आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) को जन्म दिया। आर्थिक संकट का सामना करने के लिए राज्यों ने अपने उद्योग धन्धों के संरक्षण की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आयात कोटों (Quotas) के निर्धारण, आर्थिक सहायता, तट कर, चुंगी आदि नाना बन्धनों पर जोर दिया। वे अपनी आर्थिक समस्याओं को अपने संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही हल करने को बाधित हुए। निस्सन्देह उन्हें इतनी सफलता मिली कि आर्थिक संकट की

चरम सीमा की अवधि में लगभग $\frac{1}{3}$ विश्व व्यापार समाप्त हो गया, किन्तु उन्हें शीघ्र ही इस बात का अनुभव हो चला कि ऐसा करके उन्होंने अपनी वस्तुओं के विदेशी बाजारों को खो दिया है तथा स्वदेशी बाजार भी भारी आयात करों के कारण स्वदेशी वस्तुओं से भर गये हैं। राष्ट्रों के उपरोक्त संकुचित दृष्टिकोण का अत्यन्त गम्भीर राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द के विकास पर रोक सी लग गयी और सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण अविश्वास के बादलों से ढक गया।

(२) **राष्ट्रसंघ को आघात**—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव ने राष्ट्र-संघ पर सीधे प्रहार करते हुए उसे पंगु बना दिया। राष्ट्रसंघ तो अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की आधार शिलाओं पर ही आश्रित था और जब वे शिलाएं ही टूटने लगीं तो संघ का दुर्बल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। आर्थिक संकट के कारण लगभग सभी देश राष्ट्रसंघ के आदर्शों को भूल गये। संकट ने संघ का निर्माण करने वाले राज्यों को इतना अस्थिर तथा पंगु बना दिया कि वे सामूहिक सुरक्षा के लिए कोई बड़ा पग उठाने का साहस नहीं कर सके। इस संकट ने संयुक्त राज्य अमेरिका में पार्थक्यवादी आन्दोलन को और प्रोत्साहित किया। फलस्वरूप अमेरिका यूरोपीय राजनीति से अलग रहने की नीति का पालन अधिक दृढ़ता से करने लगा। फ्रांस की शोचनीय आर्थिक अवस्था ने वहां राजनीतिक संकटों का तांता लगा दिया। मन्त्रिमण्डलों का पतन जल्दी-जल्दी होने लगा। इस अस्थिरता के कारण वहां की सरकार सामूहिक सुरक्षा के लिए दृढ़ और कठोर उपाय नहीं अपना सकी।

(३) **लोकतंत्रीय शासन की क्षीणता**—आर्थिक मन्दी की दुर्घटना का सबसे बुरा परिणाम लोकतंत्र के सिद्धान्त पर पड़ा। बेकारी, असंतोष, असुरक्षा, अस्थिरता आदि जटिल समस्याओं को लोकतंत्रीय सरकारें नहीं सुलझा सकीं। चूंकि संकटकाल में संसदीय लोकतंत्र असफल प्रमाणित हुआ अतः जनता इस पद्धति में अपना विश्वास खो बैठी। जिन लोकतंत्रीय देशों में जनता को मताधिकार था, वहां जनता ने सत्तारूढ़ दलों, मन्त्रिमण्डलों और सरकारों के विरुद्ध मत देकर उन्हें अपदस्थ कर दिया। उदारवादी पूंजीवाद और प्रजातंत्र को असफल और दोषपूर्ण व्यवस्थाएं माना जाने लगा। विशेषतः मजदूर तथा मध्यम वर्ग इनसे असंतुष्ट होकर साम्यवाद, फासीवाद आदि की ओर आकर्षित होने लगे। इनमें उन्हें एक मोहक आकर्षण मिला।

(४) **अधिनायकवाद का उत्कर्ष**—संसदीय लोकतंत्र में अविश्वास ने स्वभावतः अधिनायकवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया। आर्थिक संकट का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम था कि यूरोप के अधिकांश देशों में तानाशाही सरकारें कायम हो गयीं। जर्मनी और आस्ट्रिया में लोकतंत्र ने अत्याचारी

शासन को स्थान दे दिया। आर्थिक संकट के पूर्व १९२८ में जर्मनी में हिटलर के दल को निर्वाचन में केवल ८ लाख १० हजार मत प्राप्त हुए थे, किन्तु आर्थिक संकट ने जर्मन जनता में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि तत्कालीन जर्मन शासन की फ्रांस और ब्रिटेन से सहयोग की नीति, जर्मनी के अन्तर्राष्ट्रीय, आन्तरिक, राजनीतिक और आर्थिक हितों की रक्षा में असफल रही है। हिटलर के नाजी दल ने मन्दी और आर्थिक असंतोष का पूरा लाभ उठाते हुए जर्मनी की तत्कालीन गणराज्य सरकार को एकदम बदनाम कर दिया। हिटलर की उग्र राष्ट्रवादी नीति जर्मनों को बड़ी आकर्षक लगी। परिणामतः १९३० में नाजीदल को लगभग ६४ लाख और १९३२ में १ करोड़ 37½ लाख मत प्राप्त हुए। नाजी दल को जर्मन संसद (Reichstag) में ६०८ में से २३० स्थान मिले जो किसी भी अन्य दल को प्राप्त हुए स्थानों से अधिक थे। १९३२ में हिटलर जर्मनी का चान्सलर (प्रधानमन्त्री) बन गया। यदि आर्थिक संकट न आया होता तो हिटलर संभवतः कभी इतना शक्तिशाली न बन पाता।

पोलैण्ड में भी लोकतंत्र का जनाजा निकल गया। वहां अक्टूबर १९२९ में लोकतन्त्र की छाया मात्र भी विलीन हो गयी। यूगोस्लाविया में सम्राट अलेक्जेन्डर ने संसद को भंग कर दिया और संविधान को भी स्थगित कर दिया। रूमानिया के सम्राट कैरोल ने भी इसी प्रकार १९३१ में तानाशाही नीति को प्रश्रय दिया। बलगेरिया में सैनिक विद्रोह हुआ, संसद भंग कर दी गयी और सभी राजनीतिक दल दबा दिये गये। यूनान में गणतत्र को विनष्ट करके सैनिक तानाशाही के स्थान पर राजतंत्र को पुनः कायम कर दिया गया। पुर्तगाल में १९३३ ई० में नया फासिस्टवादी संविधान बना और सालाजार की तानाशाही स्थापित कर दी गयी। स्टोनिया और लैटविया में भी संसदात्मक शासन उपेक्षा का पात्र बना। इस तरह आर्थिक मन्दी के बाद अधिनायकवाद के उत्कर्ष की लहरें हिलौरें मारने लगीं।

(५) राजकीय नियंत्रण में वृद्धि:—आर्थिक मन्दी का एक अन्य परिणाम हुआ राज्य के नियंत्रण में वृद्धि। आर्थिक संकट से पूर्व अमेरिका और यूरोप के अधिकांश राष्ट्र आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप (Lassez Faire) की नीति में विश्वास करते थे। राज्य, व्यापार वाणिज्य में कम से कम हस्तक्षेप करता था। परन्तु मन्दी के संकट का सामना करने के लिए सभी देशों को औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्र में न्यूनाधिक मात्रा में राजकीय नियंत्रण की नीति अपनानी पड़ी। संकट से बचने के लिए जनता के सभी वर्गों को भी राज्य के आश्रय की आवश्यकता महसूस होने लगी और राज्य का आर्थिक क्षेत्र में व्यापक अधिकार स्थापित हो गया। अमेरिका जैसे

सम्पन्न पूंजीपति देश ने भी परम्परागत उदारवाद को तिलान्जलि देकर राष्ट्रपति रूजवेल्ट की "नयी व्यवस्था" (New Deal) की नीति का प्रतिपादन किया। इस नीति के अन्तर्गत राष्ट्रपति को असाधारण अधिकार प्राप्त हुए और शासन आर्थिक क्षेत्र में मनमाना हस्तक्षेप करने लगा। ब्रिटेन ने भी इस मामले में अमेरिकन नीति का अनुकरण किया। संसार के भविष्य के लिए इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रसार शुभ लक्षण नहीं था। प्रजातांत्रिक शासन में सरकारी नीति पर जनमत का नियंत्रण रहता है, अधिनायकवाद में जनमत का कोई स्थान नहीं होता। प्रजातांत्रिक देश में जनमत सरकार को युद्ध छेड़ने से रोक सकता है, लेकिन वह किसी तानाशाह को नहीं रोक सकता। अतः जब राजकीय नियंत्रण की पोशाक में प्रजातंत्रीय सरकारें भी तानाशाही पग उठाने लगीं तो इस तरह के तानाशाही के उत्थान से विश्व-शांति का भविष्य अंधकार में डूब गया।

(६) **शस्त्रीकरण की दौड़:**—आर्थिक संकट का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि विभिन्न राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्रों के उत्पादन को प्रधानता देने लगे क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नीति के त्याग देने के फलस्वरूप सभी राष्ट्रों में संदेह और अविश्वास के अंकुर फूट रहे थे। पूंजीवाद के निहित स्वार्थ शस्त्रों के उत्पादन में इसलिए भी जुट गये कि शस्त्रास्त्रों की बिक्री से वे प्रभूत धन अर्जित कर सकते थे। शस्त्रीकरण की नीति को सम्बल इसलिए भी मिला क्योंकि इसने बेकारी की समस्या को एक बड़े अंश तक हल किया। आर्थिक मन्दी से मुक्ति पाने के प्रयास में शस्त्रीकरण की एक ऐसी दौड़ शुरू हो गयी जो अपनी सीमा लांघ बैठी और अन्त में द्वितीय महायुद्ध को निकटतर ले आयी।

(७) **साम्यवाद का प्रसार:**—आर्थिक संकट ने पूंजीवादी देशों में इतना घोर असंतोष पैदा कर दिया कि जनता पूंजीवाद से ऊबकर साम्यवाद की ओर आकृष्ट हुई। समाजवादी दलों का यूरोपीय देशों में त्वरित विकास हो गया। फ्रांस और यूरोप के पूर्वी भागों में युद्धोत्तर काल के प्रारम्भिक वर्षों से ही साम्यवादी दल अज्ञात रूप से उन्नति कर रहा था। अब "कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल" ने अपनी गतिविधियों को तेज कर दिया। जनता, विशेषकर श्रमिक और मध्यम वर्ग का साम्यवाद के प्रति आकर्षण बढ़ना सर्वथा स्वाभाविक था। आर्थिक संकट के दुष्परिणाम केवल पूंजीवादी व्यवस्थाओं में ही भीषण रूप में प्रकट हुए थे, परन्तु सोवियत रूस इस संकट से सर्वथा मुक्त रहा था। जब पूंजीवादी देशों में उत्पादन गिर रहा था तब रूस ने औद्योगिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। पूंजीवादी राज्यों में बेकारों की फौज खड़ी हो गयी थी जबकि रूस में बेरोजगारी ढूंढ़ने पर भी नहीं

स्थिति थी। इस तरह सामान्य जनता में यह धारणा घर करने लगी कि पूँजीवाद की अपेक्षा समाजवाद निश्चित रूप से अच्छा है।

साम्यवाद के आतंक ने पाश्चात्य देशों को सामूहिक सुरक्षा के स्थान पर तुष्टिकरण की नीति अपनाने को लालायित किया। ब्रिटिश विदेशमंत्री जॉन साइमन ने मंचूरिया पर जापानी आक्रमण को साम्यवादी रूस के विरुद्ध अभियान माना और अपनी गुप्त सहानुभूति जापान के प्रति रखी। चूंकि हिटलर और मुसोलिनी दोनों ही साम्यवाद के घोर निंदक थे, अतः इंग्लैंड और फ्रांस ने साम्यवादी आतंक से रक्षा के खातिर १९३३ से १९३९ तक जर्मनी व इटली के प्रति तुष्टिकरण (Appeasement) की नीति अपनायी और राष्ट्रसंघ की सर्वथा उपेक्षा की। साम्यवाद के भूत से डरकर अपनायी गयी स्वार्थपूर्ण तुष्टिकरण की यह नीति द्वितीय महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त करने में बड़ी सहायक हुई।

(८) **फासीवाद का विकास**:—इस मन्दी से अधिकांश मध्य यूरोपीय देशों में तथा दक्षिण अमेरिका के एक बड़े भाग में अर्द्ध-फासिस्ट सरकारें कायम हो गयीं। इसके साथ ही लगभग सभी पूंजीवादी देशों में फासिस्ट आन्दोलनों का प्रारम्भ हो गया। दक्षिण अमेरिका में फासीवाद का सर्वाधिक प्रभाव पेरू तथा बोलिविया पर पड़ा। इन राज्यों में फासीवादी सरकारें स्थापित हो गयीं।

(९) **जापान में सैन्यवाद का उदय**:—आर्थिक मन्दी ने जापान का सारा व्यवसाय ठप्प कर दिया था। अतः जापान के लोग अपने सैनिक नेताओं की शरण में चले गये और उन्होंने व्यापारिक लाभ के स्थान पर शक्ति द्वारा लूट के मार्ग को अपनाया। आर्थिक संकट से उत्पन्न असंतोष की ज्वालाओं ने जापानियों में खतरनाक और लोलुप विचार उत्पन्न कर दिये। इसके अलावा जापान को अपनी अतिरिक्त जनसंख्या के लिए क्षेत्र भी ढूंढ़ना था। इन सब आवश्यकताओं से और अन्य राजनीतिक कारणों से प्रभावित होकर ही जापान ने १९३१ में मंचूरिया पर चढ़ाई कर दी। अपने १९३१ के अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के सर्वेक्षण में इतिहासकार टोयनबी (Toyanbee) ने मन्दी के संकट के परिणामस्वरूप उत्पन्न जापान की और साथ ही विश्व की परिस्थितियों को चित्रित करते हुए ठीक ही लिखा है कि—

"विश्व अर्थ-संकट के दीर्घ काल में आर्थिक संकटों से पीड़ित जापानी जनता ने अन्त में व्यापारिक विस्तार की नीति को छोड़कर सैनिक विजयों की नीति अपनाने वाले सैनिक नेतृत्व को स्वीकार किया। जापान आर्थिक क्षेत्र में अपनी राष्ट्रीय आजीविका के अर्जन के प्रयासों को चालू रखने से निराश हो गया, क्योंकि उसमें उसका बौद्धिक प्रबन्ध उन अति मानवीय शक्तियों के

कारण निश्चित रूप से नैराश्य का वरण करता मालुम पड़ा जिनके ऊपर कि मनुष्य का नियंत्रण नहीं है। इस नैराश्यमयी अवस्था में वह अपनी तलवार द्वारा पशु-शक्ति से आजीविका प्राप्ति के पुराने एवं असभ्य उपाय की ओर लौट पड़ा, क्योंकि तलवार चाहे कितना ही भद्दा तथा बेढंगा साधन क्यों न हो परन्तु सामान्यतः वही तो एक ऐसा साधन है जिसको कि मनुष्य अपने मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये विश्वास के साथ हाथ में थाम लेने की क्षमता रखता है और जिसके प्रयोग एवं प्रबन्ध में वह स्वयं समर्थ है।"[1]

(१०) **इटली का एबीसीनिया पर आक्रमण**—इटली ने एबीसीनिया पर जो आक्रमण किया उसके पीछे भी आर्थिक संकट के प्रभाव थे। इटली के लोगो में गरीबी पहले से ही वर्तमान थी। जब मुसोलिनी सत्तारूढ़ हुआ तो उसने आर्थिक कष्टों की तरफ से लोगों का ध्यान हटाने के लिए दूसरे देश पर आक्रमण करना ही उचित समझा और जापान उसके लिए पहले ही दृष्टान्त उपस्थित कर चुका था।

इस सम्पूर्ण विश्लेषण से स्पष्ट है कि आर्थिक संकट ने अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्र को व्यापक रूप से प्रभावित किया और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सतुलन की इति श्री कर दी। इस संकट के परिणाम अत्यन्त गम्भीर और दूरगामी हुए। श्री ली बेन्स (Lee Benns) के शब्दों में—**इससे उत्पन्न राजनीतिक उथल-पुथल का विस्तार सरकार को नियन्त्रित करने वाले दलों में परिवर्तन मात्र से लेकर ऐसी यथार्थ क्रांति तक था जैसी कि जर्मनी में तब हुई जब कि नाजी लोगों ने सत्ता हथियाली। इसके अतिरिक्त आन्तरिक आर्थिक कठिनाइयां और सामान्य अवस्था की पुनः प्राप्ति की इच्छा एक बड़ी सीमा तक इस बात की व्याख्या करती है कि प्रजातांत्रिक देशों के राजनीतिक नेता उन बातों की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, जो द्वितीय महायुद्ध की प्रस्तावनाएं सिद्ध हुईं, आक्रामक राष्ट्रों को रोकने के लिए असाधारण उपायों का अवलम्बन लेने में क्यों हिचकिचाते थे।"**

अन्त में हम राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न कठिनाइयों का विश्लेषण करते हुए श्री **गेथोर्न हार्डी के शब्दों में कह सकते हैं कि—**

"राजनीतिक भय उस आर्थिक सहयोग में बाधा डालते हैं जो आर्थिक रोगों से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है और साथ ही उस विश्वास की पुनः प्राप्ति में अवरोधक होते हैं जो सहयोग की आवश्यक पृष्ठभूमि है। पुनः शस्त्रीकरण द्वारा प्राप्त समृद्धि ने अन्तर्निहित मन्दी की दृढ़ता पर कुछ समय

---

1. *Arnold Toynbee:* Survey of International Affairs, 1931, P. 403.

के लिए पर्दा डाल दिया। दूसरी ओर आर्थिक कठिनाइयों में राजनीतिज्ञों की व्यस्तता ने उनके मस्तिष्क को उस राजनीतिक भय की ओर से हटा दिया जो कि भयभीत कर रहा था और एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से इस ढंग में पृथक कर दिया जो कि उस संयुक्त प्रयास के लिए घातक था, जिसमें कि सुरक्षा की आशा विद्यमान थी।"

EXERCISES

1. What do you understand by Reparation ? Trace its history and various stages in its development upto the rise of Hitler.

   क्षतिपूर्ति से आप क्या अर्थ समझते हो ? इसका इतिहास संक्षिप्त रूप में दीजिए और यह बताइये कि हिटलर के उत्कर्ष के पूर्व इसके इतिहास की मुख्य श्रेणियां क्या थीं ?

2. What was the reparation problem and why it was so complicated ? What attempts were made to solve it ?

   क्षतिपूर्ति की समस्या क्या थी और यह इतनी जटिल क्यों थी ? इस समस्या को हल करने के लिए क्या-क्या प्रयास किये गये ?

3. "Reparation was a concession of no practical consequence, it was a vain attempt to make Germany pay." Discuss.

   "क्षतिपूर्ति एक ऐसी रियायत थी जिसका कोई व्यावहारिक परिणाम नहीं निकला, यह जर्मनी को अदायगी के लिए बाध्य करने की एक व्यर्थ कोशिश थी।" विवेचना कीजिए।

4. "The reparation problem was both a tragedy and comedy." Examine this statement.

   "क्षतिपूर्ति समस्या दुःखान्त और सुखान्त थी।" इस कथन की परीक्षा कीजिए।

5. Critically analyse the reparation problems connected with Germany and point out its influence on the international situation.

   जर्मनी से सम्बन्धित क्षतिपूर्ति समस्याओं का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर इसके प्रभाव को बताइये।

6. "The economic claims against Germany (1919-20) were impossible of payment and the attempt to enforce them proved ruinious to Europe." Discuss.

"जर्मनी के विरुद्ध आर्थिक दावों की अदायगी असम्भव थी और ऐसे दावों को जर्मनी पर लादने का प्रयास करना योरोप के लिए विनाशक सिद्ध हुआ।" विवेचना कीजिए।

7. "The Rhur occupation which completed Germany's ruin was, however, a turning point in the post-war history of Europe." (E. H. Carr) Comment.

   "रूर का आधिपत्य, जिसने जर्मनी को पूरी तरह बर्बाद कर दिया, योरोप के युद्धोत्तर इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था।" विवेचना कीजिए।

8. What do you know of Dawes plan ? To what extent this plan was successful in solving the reparation problem ? Examine its merits and demerits.

   डावेस योजना के बारे में आप क्या जानते हैं ? इसने किस सीमा तक क्षतिपूर्ति की समस्या को हल करने में सफलता पाई ? इसके गुण दोषों की परीक्षा कीजिए।

9. Evaluate the contribution of the Young Plan towards the solution of the Reparation Problem.

   क्षतिपूर्ति समस्या के समाधान में यंग योजना ने किस प्रकार योग दिया ?

10. "At the Young Plan conference all the drigs of distrust and enmity that had been eddying about since the days of the Armistice and the writing of the Treaty of Versailles were finally drained off." Comment.

    "यंग-योजना सम्मेलन में अविश्वास और शत्रुता के वे सब ... अन्तिम रूप से साफ हो गये जो युद्ध-विराम संधि और वर्साय संधि सम्पन्न होने के बाद से चारों तरफ मंडरा रहे थे।" विवेचना कीजिए।

11. 'The Dawes plan was viewed as a fortunate solution of reparation problem but inspite of its parade of practicallity it could not endure." Comment.

    "यह समझा गया था कि डावेस योजना क्षतिपूर्ति-समस्या का एक उत्तम व सौभाग्यशाली समाधान है किन्तु अपनी व्यावहारिकता के बावजूद यह योजना टिकाऊ सिद्ध नहीं हुई।" विवेचना कीजिए।

12. "The most controversial and complicated problem, which confronted the statesmen of Europe after the peace

settlement was the provision of reparation in the Treaty of Versailles." Discuss.

"वर्साय संधि में क्षतिपूर्ति का उल्लेख, योरोप के राजनीतिज्ञों के समक्ष शांति-व्यवस्था के पश्चात् सबसे अधिक विवादास्पद तथा उलझन-पूर्ण समस्या थी।" विवेचना कीजिए।

13. Write an essay on Inter-Allied War Debts.

अन्तः मित्रराष्ट्रीय युद्ध ऋण पर एक निबन्ध लिखिये।

14. Explain the relation between Reparation and Inter-allied debt problem. What efforts were made to solve the Inter-Allied Problem ?

क्षतिपूर्ति समस्या तथा अन्तर्देशीय ऋण समस्या में क्या सम्बन्ध है ? अन्तर्देशीय ऋण समस्या को हल करने के लिए क्या प्रयत्न किये गये ?

15. Give an account of the world wide 'Economic depression' of 1930-32. How did it affect the world politics ?

सन् १९३०-३२ के विश्व-व्यापी आर्थिक संकट के कारण बताइये। इसने विश्व-राजनीति को कैसे प्रभावित किया ?

अध्याय—५

सुरक्षा की खोज और निःशस्त्रीकरण की समस्या

[THE QUEST FOR SECURITY & PROBLEM OF DISARMAMENT]

"सामूहिक-सुरक्षा को एक सफल व्यवस्था के लिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता या राष्ट्रीय—व्यक्तित्व का संपूर्णतः अन्त करना अनिवार्य नहीं होता, तथापि उसके लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रों की निजी इच्छाएं सामूहिक—निश्चयों के सामने आत्मसमर्पण करें, तथा सामूहिक सुरक्षा के प्रभावशाली होने के लिए यह वांछनीय है कि सैनिक—शक्तियों और महत्वपूर्ण शस्त्रास्त्र पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण लगाया जाय। परन्तु यह तब तक संभव नहीं है जब तक कि राष्ट्रीय-प्रभुता पर कठोर नियन्त्रण न लगाया जाय।"

—प्रो० फ्रीडमन

"राष्ट्रसंघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि शांति की स्थापना के लिए राष्ट्रीय शस्त्रास्त्र को उस सीमा तक घटाना आवश्यक है जहां तक कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय उत्तर—दायित्व को लागू करने के लिए सामूहिक कार्यवाही की दृष्टि से उचित हो।"

—राष्ट्रसंघ संविधान : अनुच्छेद ८

सुरक्षा की खोज

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद सम्पूर्ण यूरोप और विश्व के अन्य सभी राष्ट्रों ने चैन की लम्बी सांस ली। विजेता राष्ट्र हर्ष-विभोर हो गए। वहां की जनता नृत्य और संगीत में डूब गई। पर यह हर्षोल्लास 'चार दिन की चांदनी' था। वास्तविक शान्ति न विजेता राष्ट्रों में थी, न विजित राष्ट्रों में। विजित राष्ट्र भावी प्रतिशोध की अग्नि—ज्वालाओं से धधक रहे

थे तो विजेता राष्ट्र भविष्य में युद्धों के निवारण और इनकी भयंकर विभीषिका से सुरक्षा पाने की समस्या से चिन्तातुर थे। चिन्ता के इस काले सागर में धीरे-धीरे खुशियों की लहरें डूबती जा रही थीं।

श्री चर्चिल के शब्दों में:—

"अग्नि-परीक्षा समाप्त हो चुकी थी। संकट दूर हटा दिया गया था। मौत और बलिदान व्यर्थ नहीं गए थे और वे अब समाप्त भी हो चुके थे। भोज, संगीत और बत्तियों की सजावट ने युद्ध की भयंकर काली रातों को चमकते हुए दिन में परिणत कर दिया था। किन्तु ये सुख और उन्माद के कुछ क्षण इन्द्रधनुष की भांति अत्यन्त सुन्दर, पर अल्पकालीन थे। शीघ्र ही इनकी स्मृति क्षीण होने लगी और ये जिस तरह एकाएक आए उसी तरह चले भी गये।"

वास्तव में युद्ध की समाप्ति ने घृणा, अविश्वास और संदेह के काले बादलों को और भी घना बना दिया था। प्रत्येक राष्ट्र भावी सुरक्षा चाहता था, किन्तु एक राष्ट्र की सुरक्षा का अर्थ दूसरे राष्ट्र के लिए खतरा हो सकता था। क्लेमेन्सो अपने जीवनकाल में ही अपने राष्ट्र को दो बार जर्मनी द्वारा पद-दलित होते हुए देख चुका था। इस महायुद्ध के बाद, जिसमें जर्मनी की घोर पराजय हुई थी, वह फ्रांस को फ्रांसीसियों के लिये उसी प्रकार सुरक्षित बना देना चाहता था जिस प्रकार विल्सन संसार को लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने का अभिलाषी था। पराजित जर्मनी बोखलाया हुआ था और अपनी कालिमा धोने के लिए तदबीर और तकदीर की ताक में था। उसके लिए सुरक्षा का अर्थ था शान्ति-संधियों की शर्तों पर पुनर्विचार, अर्थात् वर्साय की व्यवस्था को तोड़ दिया जाना। वर्साय संधि में जर्मनी का निःशस्त्रीकरण निहित था जबकि उसके चारों ओर शस्त्रपूर्ण और शक्तिशाली पड़ौसी थे। इंगलैण्ड के लिए सुरक्षा का अर्थ कुछ भिन्न था। उसकी सुरक्षा सामुद्रिक शक्ति के सुरक्षित होने में थी। चूंकि उसकी नौसेना सबल थी और जर्मनी की नौसेना नष्टप्रायः कर दी गई थी, अतः उसकी इच्छा थी कि कोई राष्ट्र इतना प्रभावशाली व शक्तिसम्पन्न न बन पाये जिससे यूरोप की शान्ति पुनः खतरे में पड़ जाये। इंगलैंड शक्ति-संतुलन के सिद्धांत को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन की प्राणवायु मानता था। इसी दृष्टि से फ्रांस और जर्मनी के मध्य संतुलन स्थापित करने के प्रयास में उसे शान्ति और सुरक्षा की आशा थी। वह जर्मनी का अत्यधिक शोषण करने के पक्ष में इसलिये भी नहीं था क्योंकि उसे भय था कि ऐसा करने से कहीं जर्मनी रूस का मार्ग अपनाकर 'लाल' न हो जाए। संयुक्त राज्य अमेरिका दुनिया की अब भी एक महाशक्ति थी, किन्तु अपनी पार्थक्यवादी नीति अपनाते हुए

वह सामूहिक सुरक्षा के प्रतिपादन से मुख मोड़ने लगा था। इस तरह सुरक्षा का प्रश्न उसके लिये इतने महत्व का न था। सोवियत रूस शेष दुनिया से अलग-थलग अकेला और बेसहारा राष्ट्र था। वह अपनी क्रांति की सुरक्षा का अभिलाषी था। उसके लिए सुरक्षा का यही अर्थ था। इटली अपनी उपलब्धियों से संतुष्ट होकर उदारवाद का आवरण छोड़ते हुए फासिज़्म की आकर्षक चादर ओढ़ने की तैयारी कर रहा था। इसके साथ ही वह सुरक्षा की चर्चा आगे बढ़ाना चाहता था क्योंकि आक्रमणकारी पड़ौसी जर्मनी का भय मिटा नहीं था। चूंकि शान्ति-सम्मेलन से इटालियन प्रतिनिधियों को खाली झोली लिये लौटना पड़ा था, अतः फ्रांस और ब्रिटेन से भी उसे काई सहानुभूति न थी। वह दूसरे देशों को आपस में लड़ाकर शान्ति का सूत्र अपने हाथ में रखना चाहता था।

इस प्रकार **सुरक्षा की समस्या देश-देश के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखती थी। इस सुरक्षा-प्राप्ति के लिए प्रधानतया तीन प्रकार के प्रयास किये गये:—**

पहले प्रकार के प्रयास राष्ट्रसंघ से बाहर-फ्रांस आदि विभिन्न राष्ट्रों द्वारा नाना प्रकार की सन्धियां और समझौते थे।

दूसरे प्रकार के प्रयास राष्ट्रसंघ के माध्यम से किये गये थे।

तीसरे प्रकार के प्रयास निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी थे।

प्रस्तुत अध्याय में इन तीनों ही प्रकार के प्रयासों का सविस्तार वर्णन किया जाएगा।

राष्ट्रसंघ से बाहर सन्धियों व समझौतों द्वारा सुरक्षा के प्रयास

फ्रांस के सुरक्षा प्रयत्न

श्री कार के शब्दों में **"सन् १९१९ के बाद के यूरोपीय घटना चक्र का सबसे महत्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य फ्रान्स की सुरक्षा-मांग था।"**[1] सतरहवीं, अठारहवीं शताब्दियों में फ्रांस अपने को यूरोप का एक शक्तिशाली सैनिक राष्ट्र समझता था और नेपोलियन प्रथम के समय में उसे अपनी शक्ति का अत्यधिक आत्माभिमान भी था। परन्तु नेपोलियन तृतीय के शासन काल के अन्तिम साल (१८७०) में उसका भ्रम समाप्त हो गया। उस समय तक मध्य यूरोप में, कूटनीतिज्ञों के गुरु बिस्मार्क के नेतृत्व में, जर्मनी का उत्थान हो चुका था। इसके निवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा की

---

1. "The most important and persistent single factor in European affairs in the years following 1919 was the French demand for security."

—*E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, Page 25

भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। इसका सैन्य-संगठन अद्भुत था। इसके अतिरिक्त इसके पास प्राकृतिक खनिज सम्पदा का विशाल भण्डार भरा पड़ा था। इस नवनिर्मित राष्ट्र ने फ्रांस को एक बार नहीं बल्कि दो-दो बार पद-दलित किया। पहली बार १८७० में सेडान में फ्रांसीसी साम्राज्य की सैनिक प्रतिष्ठा बिस्मार्क के सैन्य-कला-कौशल के समक्ष भू-लुंठित हो गयी और दूसरी बार १९१४ में पुन: फ्रांस को जर्मनी के समक्ष अपनी लघुता का भान हो गया। यह ठीक है कि इस बार, अपने साथियों की सहायता से उसने जर्मनी से अन्त में अपनी पराजय का प्रतिशोध ले लिया परन्तु यह भी सच है कि यदि १९१४ में ब्रिटेन उसकी सहायता को न आता तो छ: सप्ताह के भीतर ही फ्रांस जर्मनी के कदमों पर गिर जाता। वास्तव में, विजेता होकर भी, फ्रांसीसी जर्मन सैनिकों की पदचाप-ध्वनि को भूले नहीं थे, उन्हें अपनी कमजोरी का भीतिपूर्ण आभास था। यद्यपि सेडान का विजेता अब फ्रांस के कदमों को चूम रहा था किन्तु वह १९१८ के विजेता का तख्ता कहीं किसी दिन फिर न उलट दे—यह परेशानी फ्रांस को खाये जा रही थी। फ्रांस के अलसेस-लोरेन के घाव की मरहम-पट्टी तो हुई थी किन्तु घाव अब भी हरा ही था। अलसेस-लोरेन दो बार फ्रांस और जर्मनी के पास आ-जा चुका था। इस बार वह फिर फ्रांस को वापिस मिला था और अब फ्रांस कोई ऐसा उपाय करने को चिन्तातुर था जिससे उसे पुन: अलसेस लोरेन से वंचित न होना पड़े। फ्रांस नहीं चाहता था कि जर्मनी फिर कभी उसके घाव को चोट पहुंचा सके क्योंकि अब की बार चोट से बहने वाले खून से फ्रांस को बड़ी तकलीफ होती। फ्रांस के भय का एक कारण और भी था। फ्रांस की जनसंख्या वृद्धि की दर कम होती जा रही थी जबकि जर्मनी की जनसंख्या वृद्धि की गति बड़ी तेज थी। "फ्रांस की जनसंख्या लगभग ४ करोड़ के कम से आंकड़े पर स्थिर हो गयी थी। जर्मनी की आबादी हर दशक (decade) में ५० लाख के हिसाब से बढ़ रही थी और १९०५ तक वह ६ करोड़ से भी अधिक हो चुकी थी।"[1] फ्रांस इसलिए भी बहुत घबरा रहा था कि रूस में खूनी क्रांति होने के कारण अब रूस भी उसका मित्र नहीं रह गया था।

उपरोक्त सभी कारणों से फ्रांस जर्मनी से भावी सुरक्षा की समस्या से बेचैन था। गेथोर्न हार्डी के शब्दों में—**"फ्रांस की अवस्था उस मुक्केबाज जैसी थी जिसने पिछले चेम्पियन को एक अच्छी चोट जमा दी है, पर वह अभी विस्मित होकर देख रहा है कि उसका प्रतिपक्षी 'मर गया' या 'उसका**

---

1. *E.H.* Carr : International Relations Between the Two World Wars, Page 25

मरना' अभी बाकी है।"[1] लैंगसम ने भी ठीक ही लिखा है कि, "युद्ध की अन्तिम प्रतिध्वनियों की समाप्ति से बहुत पहले ही फ्रान्स ने एक अन्य जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा के उपायों की खोज आरम्भ कर दी थी।"[2]

फ्रांस द्वारा भौगोलिक सुरक्षा या गारन्टी (Physical Guarantee) की मांग:—चूंकि "मनुष्य की जीवित स्मृति में दो बार जर्मन सैनिकों के बूटों की आवाज फ्रांसीसी भूमि पर सुनायी पड़ी थी और तृतीय गणराज्य के नागरिकों को भय था कि कहीं दूसरा आक्रमण फिर न हो जाय,"[3] अतः पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में फ्रांस ने जर्मनी को शक्तिहीन बनाने के प्रयास से और अपनी सुरक्षा के लिए "भौतिक सुरक्षा" (Physical guarantee) की मांग रखी। उसकी इस मांग का आशय यह था कि राइन नदी पर तथा उस पर विद्यमान पुलों पर सदा के लिए फ्रांस का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय क्योंकि पूर्व से आने वाले जर्मन आक्रान्ता इन्हीं पुलों के मार्ग से फ्रांस पर हमला करते हैं। सम्मेलन में फ्रान्स ने इस सम्बन्ध में जो एक स्मरण पत्र (Memorandum) प्रस्तुत किया उसकी शब्दावली इस प्रकार थी—

"राइन का बांया किनारा और उसके पुल यदि जर्मनी के अधिकार में रहें तो खतरा है.............पश्चिमी और समुद्र पार के प्रजातन्त्रों की अपनी सुरक्षा के लिए, वर्तमान परिस्थितियों में यह नितान्त आवश्यक है कि वे स्वयं राइन नदी के पुलों की रक्षा करें।"[4]

---

1. *Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs, P. 23
2. *Langsam* : The World Since 1919, P. 75
3. "Twice within the living memory of man had the pounding of German military boots been heard on the French soil, and the citizens of the Third Republic were fearful of still another incursion."

—*Langsam*

4. The danger comes from the possession by Germany of the left bank and of the Rhine bridges..the safety of the Western and Over-seas Democracies makes it imperative, in present circumstances, for them to guard the bridges of the Rhine."

—*E. H. Carr* : The International Relations Between the Two World Wars, P. 26

फ्रांस ने अपनी सुरक्षा और यूरोप की शांति की स्थिरता के नाम पर उपरोक्त मांग की वड़ी ही निष्ठापूर्वक वकालत की। उसने राइन के किनारे एक स्वतन्त्र राज्य (Buffer State) बनाने के लिए कठोर संघर्ष किया, किन्तु इस सम्बन्ध में उसे बिलकुल निराश होना पड़ा। अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लॉयड जॉर्ज फ्रांस की इस मांग को पूरी करने को तैयार नहीं हुए। मित्रराष्ट्रों ने राइन-सीमान्त को फ्रांस की सुरक्षा में देना इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि इस प्रकार की व्यवस्था करने से राइन के बायें किनारे पर रहने वाले ५० लाख से अधिक जर्मन अपने राष्ट्र से अलग हो जाते। मित्रराष्ट्रों की इस अस्वीकृति का एक आधार यह भी था कि वे समझते थे कि ऐसा करने से फ्रांस और जर्मनी के बीच तनाव सदा ही बना रहेगा। फ्रांस की मांग के पीछे एक बात यह भी थी कि प्रारम्भ से ही फ्रांस को राष्ट्रसंघ की सामर्थ्य शक्ति में विश्वास नहीं था जबकि आदर्शवादी विल्सन को राष्ट्रसंघ की सफलता में अटूट निष्ठा थी। जब ब्रिटेन और अमेरिका के विरोध के फलस्वरूप, काफी सिर पटक लेने के बाद भी, फ्रांस की दाल नहीं गल सकी तो उसने एक दूसरा मार्ग ग्रहण किया। राष्ट्रसंघ के संविदा (Covenant) की रचना किये जाते समय उसने राष्ट्रसंघ को, शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने तथा प्रतिरोधक शक्तियों को दण्डित करने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय सेना के रूप में 'दांत' प्रदान करने का सुझाव दिया। किन्तु उसके इस सुझाव को भी मान्यता प्राप्त न हो सकी।

फ्रांस की मौलिक मांगों को अस्वीकार करते हुए भी मित्रराष्ट्रों के लिए यह संभव न था कि वे युद्ध के साथी अपने इस मित्रराष्ट्र को एकदम नाराज कर देते। उनके निहित स्वार्थों की यह मांग थी कि फ्रांस को किसी और रूप में संतुष्ट करने का प्रयास किया जाय तथा उसे इस बात के प्रति आश्वस्त कर दिया जाय कि मित्रराष्ट्रों ने उसकी सुरक्षा की पर्याप्त चिन्ता रखी है। **अतएव, फ्रान्स को संतुष्ट करने के लिए मित्रराष्ट्रों ने एक मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण किया तथा वर्साय की संधि में निम्नलिखित व्यवस्थाएं कीं :—**

(१) संधि में इस आशय की धाराएं जोड़ी गयीं कि राइन का बायां किनारा १५ वर्षों तक मित्रराष्ट्रों की सेना के अधिकार में रहेगा और इसका स्थायी रूप से विसैन्यीकरण (Demilitarisation) कर दिया जायगा अर्थात् इसमें जर्मनी न सेना रखेगा और न कोई किलेबन्दी ही करेगा; तथा

(२) वर्साय संधि के साथ ही साथ फ्रांस की ब्रिटिश साम्राज्य और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संधियां हों जिनके द्वारा फ्रांस को यह

वचन दिया जाय कि "यदि जर्मनी ने अकारण ही फ्रांस पर आक्रमण करने संबन्धी कोई गतिविधि की" तो वे तुरन्त ही फ्रान्स की सहायता करेंगे ।

वर्साय की संधि में जर्मनी को शक्तिहीन बनाने तथा फ्रान्स की रक्षा-व्यवस्था को दृढ़ करने के लिए उपरोक्त व्यवस्थाएं तो की ही गयीं, इनके अतिरिक्त इस संधि ने जर्मनी के सम्पूर्ण उपनिवेश छीन लिये । उसका स्वयं का १५ प्रतिशत प्रदेश, जिसमें उसकी १० प्रतिशत जनसंख्या निवास करती थी, उससे ले लिया गया । उसके खनिज भण्डार के एक बड़े भाग से उसे वंचित कर दिया गया और सैन्यबल की दृष्टि से उसे एकदम पंगु बना दिया गया । यही नहीं, जर्मनी को युद्ध प्रारम्भ करने का अपराधी माना गया और उस पर क्षतिपूर्ति की एक लगभग असंभव राशि के भुगतान का उत्तर-दायित्व डाला गया ।

फ्रांस की मांग के उत्तर में वर्साय की संधि में जो व्यवस्थाएं की गयीं वे 'फ्रान्स की सुरक्षा के उद्देश्य' की दृष्टि से तब व्यावहारिक रूप से महत्व-हीन हो गयीं जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट ने वर्साय की संधि को सम्पुष्ट करने से इन्कार कर दिया । अमेरिका द्वारा वर्साय संधि की सम्पुष्टि (Ratification) न होने से ब्रिटेन, फ्रान्स व अमेरिका के मध्य फ्रान्स की सुरक्षार्थ होने वाला त्रि-दलीय समझौता न हो सका । अब ब्रिटेन और अमेरिका द्वारा दिये गये वे वचन शून्य अथवा अर्थहीन हो गये कि यदि जर्मनी अकारण ही फ्रांस पर आक्रमण करने सम्बन्धी कोई गतिविधि करेगा तो वे तुरन्त ही फ्रान्स की सहायता करेंगे । फ्रांस ने जिस आश्वासन के आधार पर अपनी राइन प्रदेश की मांग छोड़ी थी, उसके पूरा न होने से फ्रांस को ऐसा अनुभव हुआ कि उसके साथ एक बड़ा विश्वासघात किया गया है । फ्रेंच प्रधानमन्त्री पायन्केर (Poincare) ने बड़े ही निराशाजनक शब्दों में कहा:—

"हमने वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् सबसे बड़े भ्रमोद्घाटन का सामना किया है । पेरिस से जाने से पूर्व प्रेसीडेंट विलसन तथा लॉयड जार्ज ने प्रत्याभूति समझौतों (guarantee pacts) पर हस्ताक्षर किये, जिनके अन्तर्गत फ्रांस को जर्मनी द्वारा आक्रमण की स्थिति में, अमेरिका तथा इंगलैंड की सहायता का वचन दिया गया था । किन्तु इन समझौतों की कभी पुष्टि नहीं की गई । जर्मनी के सामने फ्रांस अकेला रह गया ।"

इस प्रकार "भौगोलिक सुरक्षा" की आशा छोड़ देने के लिए बाध्य कर दिए जाने के बाद फ्रांस अगले चार वर्षों तक जर्मनी की तुलना में अपनी प्राकृतिक हीनता दूर करने और जर्मन प्रतिशोध के भय को मिटाने की उधेड़-बुन में ही लगा रहा । दो पृथक् किन्तु समानान्तर मार्ग अपनाये । उनमें से

एक था गारन्टी-संधियों (treaty guarantees) का मार्ग और दूसरा था गुटबन्दियों (alliances) का।[1]

उपरोक्त दो मार्गों के अतिरिक्त फ्रांस ने राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-व्यवस्था को सबल बनाने, जर्मनी से समझौते करने और निःशस्त्रीकरण द्वारा सुरक्षा-प्राप्ति करने की नीति भी अपनाई ताकि उसकी सुरक्षा-व्यवस्था किसी भी तरफ से ढीली न रह सके। राष्ट्रसंघ और निःशस्त्रीकरण के माध्यम से फ्रांस व अन्य देशों ने जो सुरक्षा-प्रयास किये उनका वर्णन "राष्ट्रसंघ के माध्यम से सुरक्षा-प्रयत्न" और "निःशस्त्रीकरण के माध्यम से सुरक्षा-प्रयास" शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायगा। "राष्ट्रसंघ से बाहर संधियों द्वारा सुरक्षा के प्रयास" के प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत हम उन सुरक्षा-प्रयासों का वर्णन करेंगे जो फ्रांस और उसके साथी राष्ट्रों तथा इटली, जर्मनी आदि अन्य राष्ट्रों द्वारा राष्ट्रसंघ से बाहर किये गये।

फ्रांस द्वारा बेल्जियम के साथ संधि—शांति-सम्मेलन से निराश और ब्रिटेन-अमेरिका के सुरक्षा-आश्वासन से रहित होने पर फ्रांस ने अपने आप को संदिग्ध स्थिति में अनुभव किया। अपनी इस भयावह और नाजुक स्थिति के परिणाम को सोचकर वह महाद्वीपीय छोटे-छोटे राज्यों की तरफ झुका और उनके साथ उसने सुरक्षात्मक समझौते किये। वास्तव में मैत्री संधियों द्वारा अपने देश को शक्तिशाली बनाने तथा प्रबल शत्रु को दुर्बल बनाने की नीति फ्रांस के लिये नवीन नहीं थी। अपनी इसी नीति का अनुसरण करते हुए उसने १८वीं शताब्दी में आस्ट्रिया के चारों ओर विद्यमान लघु राज्यों के साथ संधि करके आस्ट्रिया को नियन्त्रित किया था। अब इस नीति के सहारे वह जर्मनी को चारों ओर से घेरकर स्वयं को सुरक्षित बनाने की ओर उन्मुख हुआ।

एक चतुर शिकारी की तरह अपना जाल फैलाते हुए फ्रांस ने सबसे पहले पश्चिम में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए बेल्जियम के साथ १९२० में एक सैनिक संधि की। यह संधि ७ सितम्बर को हुई। यद्यपि इस संधि

---

1. "Having thus been compelled to abandon her hope of a "physical" guarantee, France worked feverishly during the next four years to find compensation for her natural inferiority to Germany and to allay her fear of German vengeance. She followed two separate and paralled methods : a system of treaty guarantees and a system of alliances."

—*E. H Carr* : International Relations Between the Two World Wars, P. 27.

को राष्ट्रसंघ में दर्ज करा दिया गया, किन्तु इसकी महत्वपूर्ण शर्तें गुप्त ही रखी गयीं। फिर भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि फ्रांस और बेल्जियम जर्मनी के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए सैनिक दृष्टि से एक हो गये हैं। बेल्जियम को इस संधि में लाने के लिए फ्रान्स द्वारा यह प्रलोभन दिया गया कि लक्जमबर्ग बेल्जियम के चुंगी संघ (Custom Union) में सम्मिलित हो जाय, यद्यपि लक्जमबर्ग स्वयं फ्रांस के साथ चुंगी संघ में शामिल होना चाहता था।

फ्रांस की पोलैंड के साथ संधि–पश्चिम में अपनी सीमा सुरक्षा करने के बाद फ्रांस ने पूर्व की ओर ध्यान दिया। इधर पहले जर्मनी का पड़ोसी किन्तु शत्रु राष्ट्र रूस उसका मित्र था, पर बॉल्शेविक क्रांति के बाद रूस शक्ति–बल में कमजोर हो गया और उसके साथ पूर्ववर्ती रूस जैसे मैत्री सम्बन्ध नहीं रहे। अब इस तरफ शांति–संधि द्वारा स्थापित पोलैंड ही एक ऐसा देश था जो क्षेत्रफल तथा आबादी की दृष्टि से बड़ा था और जिसका हित फ्रांस के हितों से मेल खाता था। नवनिर्मित पोलैंड की जनसंख्या लगभग ३ करोड़ से भी अधिक थी। यह संख्या उसे बड़े राष्ट्र की श्रेणी में लगभग ला बिठाती थी। उसके प्राकृतिक साधन प्रचुर थे, दक्षिणी–पश्चिमी भाग में कोयले और लोहे की तथा पूर्वी गेलीशिया (East Galicia) में तेल की प्रचुरता थी। इस राष्ट्र के पूर्व में विस्तृत वन थे और लगभग सम्पूर्ण देश में अच्छी कृषि-योग्य भूमि थी।

डैनजिंग तथा पोलिश गलियारे (Polish Collidor) के प्रश्न पर पोलैंड और जर्मनी के मध्य तीव्र मतभेद थे, अतः पोलैंड के साथ जर्मनी के कट्टर शत्रु फ्रान्स की मैत्री सर्वथा स्वाभाविक थी। **पोलैंड यद्यपि पूर्वी यूरोप में सबसे बड़ा राज्य था किन्तु उसकी अपने सभी पडौसियों से लड़ाई थी।** विस्तृत यूरोपीय मैदान के बीच स्थित होने के कारण, दक्षिण को छोड़ और किसी भी दिशा में, पोलैंड की स्पष्ट भौगोलिक सीमाएं नहीं थीं। केवल दक्षिण में ही, कारपेथियन पर्वत (Carpathian Mountains) उसे स्लोवाकिया (Slovakia) से पृथक करता था। पोलैंड का पश्चिमी और उत्तरी सीमांत, जो जर्मनी के साथ लगा हुआ था, वर्साय की संधि द्वारा निश्चित किया गया था। अन्य और सभी दिशाओं में, सीमाओं के प्रश्न को लेकर अपने पड़ौसी देशों से पोलैंड की तीखी झड़पें हुआ करती थीं। आस्ट्रियन साइलेशिया के प्रश्न पर उसका चेकोस्लोवाकिया के साथ, पूर्वी गेलीशिया में रूथेनियो (Ruthenes) के साथ, श्वेत रूस (White Russia) में रूसियों के साथ, वलना (Vilna) में लियुआनिया के साथ उसके तीव्र विवाद थे। आंतरिक दृष्टि से भी आरम्भ के कुछ वर्ष पोलैंड के लिये बड़ी कठिनाई के थे। जर्मन और आस्ट्रियन पोल जनता, जिसे संयुक्त करके नवपोलैंड राज्य का निर्माण

एक था गारन्टी-संधियों (treaty guarantees) का मार्ग और दूसरा था गुटबन्दियों (alliances) का।[1]

उपरोक्त दो मार्गों के अतिरिक्त फ्रांस ने राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-व्यवस्था को सबल बनाने, जर्मनी से समझौते करने और निःशस्त्रीकरण द्वारा सुरक्षा-प्राप्ति करने की नीति भी अपनाई ताकि उसकी सुरक्षा-व्यवस्था किसी भी तरफ से ढीली न रह सके। राष्ट्रसंघ और निःशस्त्रीकरण के माध्यम से फ्रांस व अन्य देशों ने जो सुरक्षा-प्रयास किये उनका वर्णन "राष्ट्रसंघ के माध्यम से सुरक्षा-प्रयत्न" और "निःशस्त्रीकरण के माध्यम से सुरक्षा-प्रयास" शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायगा। "राष्ट्रसंघ से बाहर संधियों द्वारा सुरक्षा के प्रयास" के प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत हम उन सुरक्षा-प्रयासों का वर्णन करेंगे जो फ्रांस और उसके साथी राष्ट्रों तथा इटली, जर्मनी आदि अन्य राष्ट्रों द्वारा राष्ट्रसंघ से बाहर किये गये।

फ्रांस द्वारा बेल्जियम के साथ संधि—शांति-सम्मेलन से निराश और ब्रिटेन-अमेरिका के सुरक्षा-आश्वासन से रहित होने पर फ्रांस ने अपने आप को संदिग्ध स्थिति में अनुभव किया। अपनी इस भयावह और नाजुक स्थिति के परिणाम को सोचकर वह महाद्वीपीय छोटे-छोटे राज्यों की तरफ झुका और उनके साथ उसने सुरक्षात्मक समझौते किये। वास्तव में मैत्री संधियों द्वारा अपने देश को शक्तिशाली बनाने तथा प्रबल शत्रु को दुर्बल बनाने की नीति फ्रांस के लिये नवीन नहीं थी। अपनी इसी नीति का अनुसरण करते हुए उसने १८वीं शताब्दी में आस्ट्रिया के चारों ओर विद्यमान लघु राज्यों के साथ संधि करके आस्ट्रिया को नियन्त्रित किया था। अब इस नीति के सहारे वह जर्मनी को चारों ओर से घेरकर स्वयं को सुरक्षित बनाने की ओर उन्मुख हुआ।

एक चतुर शिकारी की तरह अपना जाल फैलाते हुए फ्रांस ने सबसे पहले पश्चिम में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए बेल्जियम के साथ १९२० में एक सैनिक संधि की। यह संधि ७ सितम्बर को हुई। यद्यपि इस संधि

---

1. "Having thus been compelled to abandon her hope of a "physical" guarantee, France worked feverishly during the next four years to find compensation for her natural inferiority to Germany and to allay her fear of German vengeance. She followed two separate and paralled methods : a system of treaty guarantees and a system of alliances.'

—*E. H Carr* : International Relations Between the Two World Wars, P. 27.

को राष्ट्रसंघ में दर्ज करा दिया गया, किन्तु इसकी महत्वपूर्ण शर्तें गुप्त ही रखी गयीं। फिर भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि फ्रांस और बेल्जियम जर्मनी के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए सैनिक दृष्टि से एक हो गये हैं। बेल्जियम को इस संधि में लाने के लिए फ्रान्स द्वारा यह प्रलोभन दिया गया कि लक्जमबर्ग बेल्जियम के चुंगी संघ (Custom Union) में सम्मिलित हो जाय, यद्यपि लक्जमबर्ग स्वयं फ्रांस के साथ चुंगी संघ में शामिल होना चाहता था।

फ्रांस की पोलैंड के साथ संधि—पश्चिम में अपनी सीमा सुरक्षा करने के बाद फ्रांस ने पूर्व की ओर ध्यान दिया। इधर पहले जर्मनी का पड़ोसी किन्तु शत्रु राष्ट्र रूस उसका मित्र था, पर बॉलशेविक क्रांति के बाद रूस शक्ति-बल में कमजोर हो गया और उसके साथ पूर्ववर्ती रूप जैसे मैत्री सम्बन्ध नहीं रहे। अब इस तरफ शांति-संधि द्वारा स्थापित पोलैंड ही एक ऐसा देश था जो क्षेत्रफल तथा आबादी की दृष्टि से बड़ा था और जिसका हित फ्रांस के हितों से मेल खाता था। नवनिर्मित पोलैंड की जनसंख्या लगभग ३ करोड़ से भी अधिक थी। यह संख्या उसे बड़े राष्ट्र की श्रेणी में लगभग ला बिठाती थी। उसके प्राकृतिक साधन प्रचुर थे, दक्षिणी-पश्चिमी भाग में कोयले और लोहे की तथा पूर्वी गेलीशिया (East Galicia) में तेल की प्रचुरता थी। इस राष्ट्र के पूर्व में विस्तृत वन थे और लगभग सम्पूर्ण देश में अच्छी कृषि-योग्य भूमि थी।

डैनजिग तथा पोलिश गलियारे (Polish Collidor) के प्रश्न पर पोलैंड और जर्मनी के मध्य तीव्र मतभेद थे, अतः पोलैंड के साथ जर्मनी के कट्टर शत्रु फ्रान्स की मैत्री सर्वथा स्वाभाविक थी। **पोलैंड यद्यपि पूर्वी यूरोप में सबसे बड़ा राज्य था किन्तु उसकी अपने सभी पड़ौसियों से लड़ाई थी।** विस्तृत यूरोपीय मैदान के बीच स्थित होने के कारण, दक्षिण को छोड़ और किसी भी दिशा में, पोलैंड की स्पष्ट भौगोलिक सीमाएं नहीं थीं। केवल दक्षिण में ही, कारपेथियन पर्वत (Carpathian Mountains) उसे स्लोवाकिया (Slovakia) से पृथक करता था। पोलैंड का पश्चिमी और उत्तरी सीमांत, जो जर्मनी के साथ लगा हुआ था, वर्साय की संधि द्वारा निश्चित किया गया था। अन्य और सभी दिशाओं में, सीमाओं के प्रश्न को लेकर अपने पड़ौसी देशों से पोलैंड की तीखी झड़पें हुआ करती थीं। आस्ट्रियन साइलेशिया के प्रश्न पर उसका चेकोस्लोवाकिया के साथ, पूर्वी गेलीशिया में रूथेनियो (Ruthenes) के साथ, श्वेत रूस (White Russia) में रूसियों के साथ, वलना (Vilna) में लियुआनिया के साथ उसके तीव्र विवाद थे। आंतरिक दृष्टि से भी आरम्भ के कुछ वर्ष पोलैंड के लिये बड़ी कठिनाई के थे। जर्मन और आस्ट्रियन पोल जनता, जिसे संयुक्त करके नवपोलैंड राज्य का निर्माण

किया गया था, सवा-सौ वर्षों तक विभिन्न कानूनों और प्रशासनों के अधीन रह चुकी थी, अतः उसकी विभिन्न परम्पराएं और निष्ठाएं परस्पर टकराती रहती थीं। उसकी कम से कम २५ प्रतिशत जनसंख्या गैरपालिश थी जिसमें ४० लाख यहूदी भी शामिल थे। जर्मन अल्पसंख्यकों और डैनजिग (Danzig) के प्रश्न को लेकर जर्मनी से उसका निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। पूर्वी यूरोप में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र होते हुए भी पोलैंड के लिए यह निःसंदेह मुश्किल था कि वह इस प्रकार की दुनियां का अकेले सामना कर सकता।

ऐसी परिस्थिति में जर्मनी के पड़ौसी राष्ट्रों के साथ गुटबन्दी करने की फ्रांसीसी नीति और पोलैंड की अपनी आवश्यकताओं का पूरा-पूरा मेल बैठ गया। वास्तव में फरवरी १६२१ में हुई गुटबन्दी सम्बन्धी फ्रांसीसी-पोलिश संधि (France-Polish Alliance) घनिष्ठ राजनीतिक सहयोग का एक साधन थी।[1] इस संधि के अनुसार यह निश्चय हुआ कि बाहरी आक्रमण से रक्षा में वे एक-दूसरे को सहयोग देंगे, पारस्परिक हित के सभी मामलों में एक-दूसरे से परामर्श करेंगे और दोनों देशों के साथ हुई संधियों को बनाये रखने के लिए सम्मिलित प्रयास करेंगे। १८ फरवरी, १६२१ को हुई इस संधि की १६२२में पुष्टि हुई और फिर वह १६३२ में दस वर्ष के लिए और अवधि बढ़ा दी गई।

उपरोक्त संधि के साथ ही फ्रांस-पोलैण्ड के मध्य एक गुप्त सैनिक समझौता भी हुआ जिसके बाद फ्रांस ने पोलिश सेना को सुसज्जित बनाने के लिये काफी उदार और सुगम शर्तों में पर्याप्त युद्ध-सामग्री पोलैण्ड भेजी।

कुछ सतर्क फ्रेंच विचारकों का यह मत था कि झगड़ालू पोलैण्ड को मित्र बनाना फ्रांस के लिये महंगा पड़ेगा और कोई भी फ्रेंच सैनिक पोलैण्ड के लिये अपने प्राणों की आहुति देने के लिये तैयार नहीं होगा। इसी प्रकार कुछ पोलों (Poles) को भी पेरिस का वारसा पर हावी होना वांछनीय नहीं प्रतीत होता था। उन्होंने अपने फ्रांसीसी मित्रों के संरक्षक रुख (Patronising attitude) और वारसा स्थित फ्रेंच सैनिक मिशन की संख्या तथा उस पर होने वाले व्यय की आलोचना भी की। किन्तु दोनों देशों की मैत्री जर्मनी

---

1. "In these circumstances, the French policy of alliance with the neighbours of Germany coincided perfectly with Poland's own needs. The France-Polish treaty of alliance of February, 1921 was an instrument of close political co-operation"

—*E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, Page 37.

की आक्रमण की आशंका के और उससे विरोध के सुदृढ़ आधार पर आश्रित थी, अतः वह मामूली असन्तोष से नहीं टूट सकती थी। परिणामस्वरूप सभी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में फ्रांस और पोलैण्ड ने एक-दूसरे का साथ दिया। **"क्या जेनेवा में, क्या निजी वार्ताओं में, फ्रेंच और पोलिश प्रतिनिधि मण्डल एक-दूसरे का बराबर साथ देते रहे तथा हर सार्वजनिक चर्चा में उन्होंने साथ-साथ मत दिया एवं एक से भाषण दिये।"**[1]

फ्रांस की ब्रिटेन के साथ संधि करने की विफल चेष्टा और ब्रिटिश-फ्रेंच मतभेद—पश्चिम में बेल्जियम और पूर्व में पोलैण्ड के साथ संधियां कर लेने के बाद भी फ्रेंच नेताओं को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने अब ब्रिटेन के साथ संधि करने का इरादा किया। फ्रांस के राजनीतिज्ञ केवल अरण्य-रोदन करना नहीं जानते थे, वे किसी भी अवसर को हाथ से न जाने देकर जर्मनी के आगे अपनी सैनिक लघुता की पूर्ति करने को दृढ़ प्रतिज्ञ थे। फ्रांस को यह विश्वास था कि राष्ट्रसंघ एक कमजोर अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, वह एक ऐसी बन्दूक है जो केवल खाली फायर ही कर सकती है तथा "वह एक ऐसा कुत्ता है जो भौंकेगा पर काटेगा नहीं (The League is a dog that will bark but will not bite.)"। ऐसी परिस्थिति में, शांति-सम्मेलन में सुरक्षा का वचन पाकर भी उससे ठुकरा दिये जाने पर, फ्रांस ब्रिटेन पर निरन्तर इस बात का दबाव डालता रहा कि वह जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध उसकी सहायता का वचन दे।

दिसम्बर १९२१ में फ्रांस ने ग्रेट ब्रिटेन के साथ एक निश्चित राजनीतिक समझौता करने का प्रस्ताव रखा। बातचीत में पहले तो ब्रिटेन ने झगड़े में पड़ने से इन्कार कर दिया, किन्तु बाद में फ्रेंच प्रधानमन्त्री ब्रियाँ (Briand) ने ब्रिटेन को एक संधि करने के लिये राजी कर ही लिया जिसकी अवधि दस वर्ष रखी गई। यह निश्चय किया गया कि यदि बिना किसी विवाद के जर्मनी ने फ्रेंच भूमि पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन फ्रांस को सैनिक सहायता देगा। यह समझौता १२ जनवरी १९२२ को केनिस में सम्पन्न हुआ किन्तु दूसरे ही दिन ब्रियाँ को प्रधानमन्त्री पद से मजबूर होकर त्याग-पत्र देना पड़ा और उसके स्थान पर हठी व अदूरदर्शी पायन्केर (Poincare) प्रधानमन्त्री नियुक्त हुआ। वह सम्पूर्ण या शून्य (All or nothing) की नीति में विश्वास रखता था, अतः उसने मांग की कि ब्रिटेन के साथ जो समझौता हुआ

---

1. "France and Poland ranged themselves side by side. At Geneva the French and Polish delegates were hand-in-glove in every private negotiation and spoke and voted together in every public debate."

है वह पारस्परिक सुरक्षा के आधार पर होना चाहिये, समझौते में 'फ्रेंच-भूमि' हटाकर 'फ्रांस' रखा जाना चाहिये, इस समझौते को ठोस सैनिक समझौता बनाया जाना चाहिये और इसकी अवधि दस वर्ष से बढ़ाकर तीस वर्ष कर देनी चाहिये। पायन्केर चाहता था कि ब्रिटेन न केवल फ्रांस पर सीधे जर्मन आक्रमण की दशा में सहायता का वचन दे, वरन् उसके मित्रों—पोलैण्ड आदि पर हमला होने की दशा में भी फ्रांस की सहायता करे क्योंकि वह सैनिक संधियों द्वारा इस दिशा में अपने मित्रों की सहायता के लिये बाधित था। इसके साथ ही वह यह भी स्पष्टीकरण चाहता था कि ब्रिटिश सेना किस प्रकार की सहायता देगी। उसने कहा कि यदि इस प्रकार का समझौता नहीं किया गया तो केवल गारण्टी-संधि का फ्रांस को कोई उपयोग नहीं होगा।

ब्रिटेन, स्पष्टतः, इतना आगे बढ़ने को तैयार नहीं था। प्रथम तो उसे यह भय था कि ऐसा करने से सम्भवतः दूसरे राष्ट्रों में उसके (ब्रिटेन) प्रति विरोधी भावना पैदा हो जायगी। दूसरे, इस समय तक ब्रिटेन और फ्रांस के पारस्परिक सम्बन्ध मधुर नहीं रहे थे। दोनों देशों के बीच अनेक तीव्र विवाद उत्पन्न हुए थे—वाशिंगटन सम्मेलन (१९२१-२२) में पनडुब्बियां समाप्त करने का ब्रिटिश अमेरिकन प्रस्ताव फ्रांस के विरोध के कारण ही स्वीकार नहीं हो सका था और क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर दोनों में उग्र मतभेद थे। अतः इन परिस्थितियों में, ब्रिटेन के लिये यह स्वाभाविक था कि वह फ्रेंच प्रस्ताव से सहमत न होते हुए अपनी स्थिति स्पष्ट कर दे, और इसी उद्देश्य से फरवरी १९२२ में लार्ड कर्जन द्वारा तैयार किये गये एक ज्ञापन में ब्रिटिश सरकार ने यह नीति सम्बन्धी स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया—

"जहां तक यह प्रश्न है कि ब्रिटिश लोकमत हमारी प्रत्याभूति का समर्थन करेगा, यह इसी विश्वास में होगा कि यह शर्त सिर्फ तब कार्यान्वित होगी जब कोई जर्मन सेना सचमुच फ्रांसीसी सीमान्त को लांघेगी······(अन्य स्थानों के दायित्वों के बारे में) दोनों शक्तियां किसी और की प्रतीक्षा न करती हुई 'मिलकर वे उपाय सोचेंगी, जो शीघ्र ही शांतिपूर्ण और न्याय-संगत समझौता होने के लिये आवश्यक हो।' निस्सन्देह इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि वे इकट्ठी मिलकर यह मामला राष्ट्रसंघ में भेजेंगी, पर यदि ऐसा है तो इस पर अनुबन्ध अनावश्यक है। दूसरी ओर संभाव्यतः फ्रांसीसियों का यह आशय है······कि इसका यह अर्थ लगाया जाय कि यूरोप के भविष्य के विवादों को निपटाना प्रथमतः ब्रिटेन और फ्रांस का काम है और शेष संसार तब तक देखता ही रहेगा जब तक हमारी दो सरकारें यह न तय कर लें कि क्या करना है········ब्रिटेन और फ्रांस की इस तरह की सैनिक संधि का परिणाम यही होगा कि अन्य शक्तियां प्रतिस्पर्धी, और सम्भव है कि [illegible], गठबन्धन न बनायेंगी।"

इस स्पष्टीकरण के बाद समझौते की कोई आशा नहीं रह गई थी। आखिर जून १६२२ में जब क्षतिपूर्ति-मामलों पर दोनों देशों में पुनः तीव्र मतभेद उठ खड़ा हुआ तो उक्त समझौता-वार्ता बिल्कुल भंग हो गई। श्री कार (Carr) के शब्दों में—

"उसने (ब्रिटेन) अपना बड़प्पन निभा लिया था; इसलिये अब उसने फ्रांसीसियों की सुरक्षा-तृष्णा शांत करने का स्पष्ट रूप से आशा-शून्य (Hopeless) कार्य कुछ समय के लिये एक ओर रख दिया।"[1]

ब्रिटिश-फ्रेंच मतभेद के कारण—उपरोक्त संदर्भ में प्रश्न यह उठता है कि ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य इस तरह के मतभेद के मूल कारण क्या थे, क्योंकि युद्ध काल के साथ ही इन दोनों राष्ट्रों के हित और दृष्टिकोण धीरे-धीरे इतने विरोधी होते गये कि ब्रिटिश-फ्रेंच नीतियों की यह विभिन्नता विश्वयुद्धों के मध्यवर्ती काल की एक प्रधान विशेषता बन गई। यदि ध्यान से देखा जाय तो इन दोनों राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदों के कारण संक्षेप में निम्नलिखित थे—

(क) सुरक्षा के प्रश्न पर मतभेद—फ्रांस और ब्रिटेन सुरक्षा के प्रश्न पर एकमत न थे। लॉयड जॉर्ज का विश्वास था कि जर्मनी को इतना पस्त कर दिया गया था कि वह आगामी ६० वर्ष तक अपनी खोयी हुई शक्ति पुनः नहीं प्राप्त कर सकता था। उधर क्लेमेंसो का विचार था कि "छः महीने में, एक साल में, पांच साल में जब वे (जर्मन) चाहेंगे पुनः हम पर आक्रमण करेंगे।" इसी भय के कारण वह अपने देश को जर्मनी के भावी आक्रमण के संकट से सुरक्षित करना चाहता था। फ्रांस हर तरह से अपने को सुरक्षित करके यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनने का अभिलाषी था जबकि ब्रिटेन 'शक्ति संतुलन' की अपनी परम्परागत नीति में विश्वास करता था। न वह जर्मनी को एकदम पंगु बनाना चाहता था और न फ्रांस को एकदम शक्तिशाली ही। ब्रिटेन के इस रवैये के विरुद्ध शिकायत करते हुए जब क्लेमेंसो ने लॉयड जार्ज से कहा—"युद्ध के बाद से आप हमेशा हम लोगों के विरुद्ध रहे हैं" तो लॉयड जॉर्ज का उत्तर था—"यह तो हमारी परम्परागत नीति है।" बात सही भी थी। जब १७वीं, १८वीं और १६वीं शताब्दियों में फ्रांस यूरोप का सबसे शक्ति सम्पन्न राष्ट्र गिना जाता था तो अपने शक्ति-संतुलन के

---

1. "It (Britain) had discharged its debt of honour; and it now abandoned for sometime to come the apparently hopeless task of satisfying the French appetite for security."
—*E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, Page 30

सिद्धान्त की रक्षा के लिये ब्रिटेन फ्रांस का विरोधी रहा था, परन्तु जब जर्मनी यूरोप के सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ तो १९०४ में शक्ति-संतुलन की रक्षा की खातिर ब्रिटेन ने फ्रांस से मित्रता कर ली। पुनश्च, प्रथम महायुद्ध के उपरांत फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिये ब्रिटेन को स्पष्ट सैनिक समझौते से आबद्ध करना चाहता था जबकि ब्रिटेन अपने व्यापक साम्राज्य और राष्ट्रमण्डल के कारण यूरोपीय महाद्वीप की छिछली राजनीति में उलझने से यथासम्भव दूर रहना चाहता था. साथ ही फ्रांस को एकदम रुष्ट करना भी उसे पसन्द न था। अतः उसने दोहरी कूटनीति का अवलम्बन किया। एक तरफ तो उसने फ्रांस द्वारा प्रस्तावित सभी शांति-योजनाओं के स्वागत का ढोंग रचा और प्रारम्भिक अवस्था में स्वयं ने भी ऐसी कुछ योजनाओं को प्रस्तावित किया, परन्तु जब उन पर अन्तिम स्वीकृति का समय आया तो वह चतुरतापूर्वक कन्नीकाट गया। १९२३ की पारस्परिक सहायता की प्रारूप-संधि, १९२४ के जेनेवा प्रोटोकोल, लोकार्नो संधियां आदि के बारे में ब्रिटेन की यही नीति रही।

(ख) **जर्मनी के सम्बन्ध में मतभेद**—ब्रिटिश-फ्रेंच मतभेदों का दूसरा कारण जर्मनी था। फ्रांस जर्मनी को नेस्तनाबूद करने पर तुला हुआ था और अपने युद्धकाल के सहयोगी ब्रिटेन से इस सम्बन्ध में सहायता का आकांक्षी था। इसके विपरीत ब्रिटेन अपने आर्थिक पुनरुत्थान के लिये जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाना चाहता था, क्योंकि युद्ध से पहले जर्मनी ब्रिटिश माल का बहुत बड़ा बाजार था और समृद्ध होने पर भविष्य में पुनः ब्रिटेन की एक बड़ी मण्डी बन सकता था। "दूकानदारों का राष्ट्र" ब्रिटेन १९१४-१८ के युद्ध की कटुताओं को भुलाकर जर्मनी को अपनी अर्थव्यवस्था को पुनर्गठित करने का अवसर देना चाहता था और इसीलिए उसने फ्रांस के जर्मनी से राइन प्रदेश को छीन लेने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया था। ब्रिटेन ने फ्रांस द्वारा रूर-आधिपत्य को भी अवैध ठहराया था और उसके इस कदम की कटु आलोचना की थी। हां यह अवश्य है कि १९२५ के लोकार्नो-समझौते के बाद स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। ब्रिटेन ने जर्मन आक्रमण के विरुद्ध फ्रांस को सहायता का वचन दिया और लगभग ७ वर्ष तक फ्रेंच दृष्टिकोण भी जर्मनी के प्रति पहले जैसा कठोर नहीं रहा। लेकिन हिटलर के उदय ने ब्रिटिश-फ्रेंच मतभेदों को पुनः साकार कर दिया। हिटलर ने राष्ट्रसंघ को ठुकराया और वर्साय संधि के उपबन्धों की अवहेलना की। फ्रांस ने विरोध ठाना लेकिन ब्रिटिश सहयोग का अभाव रहा। १९ जून, १९३५ को ब्रिटिश-जर्मन नौ-सेना समझौता फ्रांस का विरोध होते हुए भी सम्पन्न किया गया। जब १९३६ में हिटलर ने लोकार्नो समझौतों को अस्वीकृत

किया और राइन प्रदेश का सैन्यीकरण आरम्भ किया तो भी ब्रिटेन जर्मनी के प्रति उदारवादी तुष्टीकरण की नीति का पोषक बना रहा। फ्रांस को ब्रिटिश नीति के आगे हार खानी पड़ी। जब नाजी आक्रमण म्यूनिख वार्ता की स्थिति तक पहुंच गया तो अनिच्छा होते हुए भी फ्रांस को ब्रिटिश-मत के अनुसार कार्य करना पड़ा और पोलैण्ड पर जर्मन आक्रमण के समय भी ब्रिटेन ने ही अपने और फ्रांस दोनों की ओर से निर्णय लेते हुए फ्रांस को यह अनुभव करने पर विवश कर दिया कि उसे एक बार फिर जर्मनी से जूझना पड़ेगा।

(ग) **क्षतिपूर्ति सम्बन्धी मतभेद**—क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में दोनों राष्ट्रों में जो उग्र मतभेद थे उन पर पूर्ववर्ती अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि फ्रांस क्षतिपूर्ति की राशि इतनी विशाल रखना चाहता था कि जर्मनी उसे चुका सकने में असमर्थ रहे और फलस्वरूप फ्रांस को उस पर प्रभुत्व बनाये रखने का मौका मिलता रहे। इसके विपरीत क्षतिपूर्ति के प्रति ब्रिटेन का दृष्टिकोण द्वि मुखी था–प्रथम, वह अपने आर्थिक लाभ की दृष्टि से जर्मनी का आर्थिक पुनरुद्धार चाहता था, दूसरे, वह जर्मनी को साम्यवाद विरोधी शक्ति के रूप में देखना चाहता था। ब्रिटेन को भय था कि आर्थिक दृष्टि से एकदम कगाल जर्मन जनता विक्षुब्ध होकर क्रांति द्वारा कहीं रूस का मार्ग न अपनाले। ब्रिटेन को जर्मन शक्ति से कोई संकट न था क्योंकि जर्मन नौ–सेना विनष्ट की जा चुकी थी और अनेक सैनिक प्रतिबन्ध लगाते हुए जर्मनी को सैनिक दृष्टि से इतना शक्तिहीन कर दिया था कि कम से कम ६० वर्ष तक तो वह सिर भी नहीं उठा सकता था। क्षतिपूर्ति–राशि की वसूली के बारे में दोनों देशों में एक और भी मौलिक मतभेद था। फ्रांस को जर्मनी से क्षतिपूर्ति के रूप में जितनी राशि मिलनी थी उससे बहुत कम राशि उसे युद्ध–ऋण के रूप में चुकानी थी। अतः वह वसूली के मामले में रियायत दिया जाना अपने लिये हानिकारक मानता था। इसके विपरीत व्यापारिक राष्ट्र इंगलैण्ड क्षतिपूर्ति व युद्ध ऋण दोनों को आर्थिक दृष्टिकोण से हानिकारक मानते हुए दोनों ही के अन्त का पक्षपाती था।

(घ) **राष्ट्रसंघ के प्रति दृष्टिकोणों में मतभेद**—फ्रांस के लिये राष्ट्र-संघ तभी स्वागत योग्य था जबकि वह सामूहिक सुरक्षा द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा की एक महत्वपूर्ण प्रत्याभूति (Guarantee) सिद्ध हो। इसीलिए उसने संघ की सुरक्षा-व्यवस्था का उत्साहपूर्ण समर्थन किया, यद्यपि राष्ट्रपति विल्सन आदर्शवादी हठ के फलस्वरूप फ्रांस को प्रारम्भ में ही अपने इस प्रयास में असफलता मिली कि राष्ट्रसंघ को एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सेना से सुस–

ज्जित किया जाय। १९२३ में जब दसवें अनुच्छेद की पुनर्व्याख्या व उसकी प्रभावशीलता कम करने का प्रयत्न किया गया तो फ्रांस ने अपने प्रबल विरोध से उस प्रयास को असफल कर दिया। इसी तरह जब अमेरिकन राष्ट्रपति कूलिज (Coolidge) ने जेनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित किया तब फ्रांस ने इस आधार पर सम्मेलन का बहिष्कार किया कि इस ढंग के बाहरी सम्मेलन राष्ट्रसंघ को दुर्बल बनाते हैं। फ्रांस राष्ट्रसंघ को अपनी सुरक्षा व्यवस्था का एक प्रभावशाली साधन मानने में आस्था रखता हो—यह बात भी नहीं थी। उसे राष्ट्रसंघ की कमजोरी का भान था और इसीलिए उसने अन्य उपायों से अपने सुरक्षा साधनों को मजबूत बनाने के प्रयास किए। फिर भी, राष्ट्रसंघ के संविदा में सामूहिक सुरक्षा-सम्बन्धी जो व्यवस्थाएं विद्यमान थीं—उनका पूरा-पूरा प्रभावशाली प्रयोग फ्रांस के हितों के पक्ष में होता रहे—यह फ्रांस की नीति रही। इसके विपरीत ब्रिटेन की राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-व्यवस्था में विशेष दिलचस्पी नहीं थी। वह राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान, आर्थिक पुर्ननिर्माण, सामाजिक सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन बनाये रखने का एक उपयोगी साधन मानता था, लेकिन वह यह नहीं चाहता था कि संघ की सुरक्षा–व्यवस्थाओं को और अधिक शक्तिशाली बनाया जाए। वह उन राज्यों की सुरक्षा की झंझट में पड़ने के प्रति उदासीन था जिनमें उसकी कोई रूचि न थी। इसके अतिरिक्त उसकी दिलचस्पी इस बात में थी कि वह राष्ट्रसंघ को अपनी विदेश नीति का एक मोहरा बनाए। यही कारण था कि जापान ने मंचूरिया को हड़प लिया, इटली ने एबीसीनिया की स्वतंत्रता अपहरण कर ली, जर्मनी ने अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की मनमानी अवहेलना की तो भी राष्ट्रसंघ प्रभावशाली और ठोस कार्यवाही नहीं कर सका। यदि ब्रिटेन और फ्रांस सहयोग से कार्य करते और राष्ट्रसंघ के संविदा के प्रति ली गई अपनी शपथ को निष्ठापूर्वक निभाते तो राष्ट्रसंघ को शायद अपनी असम्मानजनक मौत का मुख इतनी जल्दी न देखना पड़ता। यह विशेषतः ब्रिटेन की दिलचस्पी का ही फल था कि जब रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण किया तो राष्ट्रसंघ ने बड़ी तत्परता दिखाते हुए रूस को संघ से निष्कासित कर दिया।

(ड.) निःशस्त्रीकरण, रूस, इटली, स्पेन आदि के सम्बन्ध में मतभेद— ब्रिटेन और फ्रांस के व्यापक मतभेद वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण तथ्य बन गये थे। तोपों की गर्जना में कंधे से कंधा भिड़ाकर चलने वाले दो साथी तोपों के शान्त होने पर एक दूसरे से टकराते हुए चल रहे थे—राजनीति का यह एक विचित्र किन्तु स्वाभाविक खेल था। निःशस्त्रीकरण के बारे में भी दोनों राष्ट्र एकमत नहीं थे। फ्रांस चाहता था—पहले सुरक्षा फिर

निःशस्त्रीकरण। परन्तु ब्रिटेन पहले निःशस्त्रीकरण समस्या पर बल देता था। इसी तरह ब्रिटेन रूसी साम्यवाद को नाजीवाद से भी बड़ा खतरा मानता था जबकि फ्रांस साम्यवादी रूस की अपेक्षा जर्मनी को अधिक खतरनाक समझता था। अतः जहाँ ब्रिटेन ने साम्यवाद के भय से जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई वहां फ्रांस ने जर्मनी से अपने को सुरक्षित रखने के लिए रूसी-मैत्रीको चुना और इस दिशा में वह प्रयत्नशील हुआ। इटली और स्पेन सम्बन्धी नीतियों में भी दोनों के विरोधी दृष्टिकोण रहे। ब्रिटेन इटली को इसलिये शक्तिशाली बनाना चाहता था कि एक तरफ तो वह फ्रांस की शक्ति को संतुलित कर सके और दूसरी तरफ जर्मनी के साथ रूस के विरुद्ध एक मजबूत दीवार का काम दे सके। फ्रांस इटली को, जर्मनी को नियंत्रित करने के साधन के रूप में शक्तिशाली बनाना चाहता था, किन्तु साथ ही उसे शक्तिबल में अपने से दुर्बल रखने का इच्छुक था। स्पेन के गृहयुद्ध के बारे में ब्रिटेन का मत था कि अप्रजातांत्रिक जर्मनी, इटली और स्पेन अवश्य ही अप्रजातांत्रिक रूस के विरुद्ध उपयोगी हथियार सिद्ध होंगे। किन्तु फ्रांस स्पेनिश गृहयुद्ध के सम्बन्ध में अस्पष्ट और अस्थिर था। न तो वह स्पेन के फ्रान्को का विरोध कर इटली की नाराजगी मोल लेना चाहता था और न फ्रान्को की विजय का स्वागत कर अपने उत्तरी अफ्रीका स्थित उपनिवेशों संचार-सम्बन्धों (Communications) के टूट जाने की संभावना का खतरा उठाना चाहता था। अन्त में परिस्थितियोंवश अनिच्छापूर्वक फ्रांस ने ब्रिटिश नीति का ही अनुसरण किया।

ब्रिटिश फ्रेंच मतभेदों ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गम्भीर रूप में प्रभावित किया। राष्ट्रसंघ इनके खेलों का अखाड़ा बन गया और प्रभावशाली रूप में शान्ति स्थापक का कार्य करने में असफल रहा। इन दो महान् राष्ट्रों के मतभेदों का जर्मनी, इटली आदि देशों ने पूरा लाभ उठाया। ये देश अपने को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने फ्रांस के सुरक्षा संगठन को क्षीण करने और अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों तथा राष्ट्रसंघ का अवहेलना करने में सफल हुए। इन सब बातों का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि विश्व एक बार फिर पहले से भी अधिक भयंकर महायुद्ध की चपेट में आ गया।

फ्रांस के अन्य राष्ट्रों के साथ समझौते और 'लघु-मैत्री-संघ' (The Little Entente)—ब्रिटेन के बढ़ते हुए असहयोगी रुख और रूर पर फ्रेंच आधिपत्य के प्रति ब्रिटेन के विरोधी रवैये ने फ्रांस को अपनी सुरक्षा के विषय में और भी अधिक शंकाशील बना दिया। अब उसे यूरोप में अपने अन्य नये मित्र बढ़ाने की तीव्र आवश्यकता अनुभव हुई। उसका ध्यान 'लघु मैत्री संघ' के राज्यों—चेकोस्लावाकिया, रोमानिया और यूगोस्लाविया पर गया। प्रारम्भ

में तो लघु मैत्री संघ के सदस्य बड़े राज्यों के चंगुल से बचना चाहते थे किन्तु फ्रांस ने सैनिक बंधन की ओर कदम उठाया जिसमें फ्रांसीसी सैनिक मिशन इन राज्यों में भेजने की चर्चा की गई। चूंकि लघु मैत्री-संघ के राज्य भी हंगरी के भय से एक दृढ़ सैनिक मित्रता को पसन्द कर रहे थे अत: ये सभी राज्य फ्रांस के वैदेशिक मामले में सर्वत्र समर्थक बन गये। फ्रांस ने जनवरी १६२४ में चैकोस्लावाकिया के साथ **फ्रैंको–चैकोस्लावाक समझौता (Franco Czechoslovak Pact)** किया। इसके अनुसार दोनों देशों ने अपने विवादों को शान्तिपूर्ण से ढंग हल करने का और शान्ति संधियों की रक्षा के लिये सम्मिलित प्रयत्न करने का निश्चय किया। यह भी निश्चय किया गया कि यदि जर्मनी और आस्ट्रिया मिलना चाहें अथवा इन दोनों देशों में राजतंत्र पुन: स्थापित करने की चेष्टा हो तो ऐसी परिस्थिति में दोनों एक दूसरे के साथ परामर्श करेंगे। चेकोस्लोवाकिया से समझौता करने के बाद **फ्रान्स ने ठीक इसी तरह के समझौते जून १६२६ में रूमानिया और नवम्बर १६२७ में यूगोस्लाविया के साथ किये।** लघु मैत्री-संघ के इन तीनों ही राज्यों के साथ की गयी संधियों में प्रधानत: सुरक्षा-समस्याओं पर पारस्परिक विचार-विमर्श की, आक्रमण की दशा में संयुक्त प्रतिरक्षा की तथा यूरोप में 'यथा-स्थिति' को कोई खतरा उत्पन्न होने पर संयुक्त कार्यवाही की व्यवस्था की गयी थी।

"लघु मैत्री-संघ" (The Little Entente) २ जुलाई १६२१ को अस्तित्व में आया था। **श्री कार के शब्दों में "लघु मैत्री-संघ उन तीन राज्यों की गुटबन्दी का गैर सरकारी नाम था जिन्हें आस्ट्रिया–हंगरी राजतंत्र के खंडित हो जाने से लाभ पहुंचा था। ये राज्य चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया थे।"**[1] इन तीनों ही राज्यों के समान हित और स्वार्थ थे। तीनों ही यह चाहते थे कि आस्ट्रिया में पुन: हैप्सबुर्ग (Hapsburg) वंश की प्रतिष्ठा न हो और आस्ट्रिया-हंगरी राज्यों से जो प्रदेश इन्हें मिले थे वे कभी वापिस न लौटाये जायं। तीनों राज्यों की अपनी-अपनी घरेलू व सुरक्षा समस्याएं थीं। **चेकोस्लोवाकिया** की राजधानी प्रेग (Prague) सीमान्त के इतने निकट बसी हुई थी कि जर्मनी से युद्ध छिड़ जाने पर जर्मन सैनिक उस पर कुछ ही दिनों अथवा घंटों में अधिकार कर सकते थे। इसी तरह यदि हंगरी आक्रमण करता तो चेकोस्लोवाकिया के लम्बे और संकरे भूमाग

---

1. "The little Entente was the un-official name for the alliance between the three states which profited most by the break up of the Austro-Hungarian monarchy : Czechoslovakia, Roumania and Yugoslavia."

—*E. H. Carr* : Op. Cit., P. 38

की प्रतिरक्षा करना कठिन हो जाता। मध्य यूरोप के सभी राज्यों में सैनिक दृष्टि से चेकोस्लोवाकिया सर्वाधिक सफलतापूर्वक जेय राज्य (Vulnerable state) था। रूमानिया का शासन भ्रष्टाचार के लिए बदनाम हो चुका था और रूमानियन सेना की क्षमता बालकन सेना की तुलना में कम थी। सोवियत यूनियन के बाद यूरोप में सबसे अधिक तेल रूमानिया में ही उत्पन्न होता था। अतः रूमानिया को दृढ़ रक्षा-आधार की आवश्यकता थी। यूगोस्लाविया चेकोस्लोवाकिया के समान घरेलू और विदेशी समस्याओं से ग्रस्त था। घरेलू समस्या सजातीय जातियों (Cognate races) को एकता के सूत्र में पिरोने की थी। विदेशी मामलों में यूगोस्लाविया के हित सर्वाधिक विविधतापूर्ण और विस्तृत थे। जहां चेकोस्लोवाकिया प्रधानतः मध्य यूरोप का देश था और रूमानिया बालकन देशों में से था वहां यूगोस्लाविया दोनों ही में समान रूप से शामिल था। उत्तर में, उसका सीमान्त वियना के एक सौ मील के भीतर था और दक्षिण-पूर्व में एजियन (Aegean) के पचास मील के भीतर। उसे हंगरी से अधिक भय नहीं था लेकिन एड्रियाटिक (Adriatic) में इटली की प्रमुख स्थिति से काफी ईर्ष्या थी। "यूगोस्लाविया यह मानता था कि इटली ने अपने उचित हिस्से से भी अधिक स्लाव क्षेत्र हड़प लिया था और साथ ही यह भी एक कुख्यात तथ्य था कि इटली यूगो-स्लाव राज्य को ही छिन्न-भिन्न करने के स्वप्न देख रहा था। यूगोस्लाविया के लोग तीव्र घृणा करते थे। दोनों युद्ध के बीच की अवधि में यूरोप में जितने भी आपसी झगड़े हुए उनमें यूगोस्लाविया और इटली का आपसी द्वेष सबसे पुराना कारण था।"

इस प्रकार तीनों ही लघु राज्य अपने क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए चिन्तित थे। इसीलिए इन्होंने १९२०-२१ में आपस में मिलकर मैत्री सन्धियां कीं। परिणामस्वरूप २ जुलाई १९२१ को मध्य यूरोप में "लघु मैत्री संघ" (Little Entente) की स्थापना हुई। इस मैत्री संधि के अनुसार तीनों राज्यों ने हैप्सबुर्ग वंश की पुनः प्रतिष्ठा तथा हंगरी को अपने प्रदेश लौटाने का विरोध करने का दृढ़ निश्चय किया। इस संघ का उद्देश्य वर्साय, सेन्ट जर्मेन, ट्रियनो और न्यूइली की संधियों द्वारा स्थापित प्रादेशिक व्यवस्थाओं को कायम रखना था। संघ के सदस्य प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न पर एक दूसरे से परामर्श करते थे और राष्ट्रसंघ में भी ये राज्य पारस्परिक सहयोग से कार्य करते थे। यद्यपि ये तीनों छोटे राष्ट्र थे, किन्तु अपने संयुक्त रूप में पांच करोड़ की महाशक्ति बनते थे।

लघु मैत्री संघ की गतिविधि प्रमुखतः तीन कालों में बांटी जा सकती है। प्रथम काल तो आरम्भ में १९२४ ई० तक था जिसमें यह संघ हंगरी के

उत्थान के भय से त्रस्त रहा। दूसरा काल उसके बाद का था जब लघु मैत्री संघ की प्रकृति बिल्कुल बदल गयी, वह बड़े राज्यों की राजनीति के चंगुल में फंस गया और फ्रांस तथा इटली ने इसे अपनी-अपनी दिशा में खींचने का प्रयास किया। फ्रान्स ने यद्यपि लघु गुट अथवा लघु मैत्री संघ के राज्यों से काफी बाद में क्रमशः १९२४, १९२६ और १९२७ में संधियां कीं, किन्तु आरम्भ से ही, औपचारिक या अनौपचारिक रूप से ऐसे सैनिक समझौते हो चुके थे जिनमें यह व्यवस्था थी कि फ्रान्सीसी सैनिक मिशनों की नियुक्ति की जायगी और लघु मैत्री संघ की सेनाओं के लिए फ्रान्स युद्ध सामग्री देगा। फ्रान्स ने अपनी संधियों द्वारा, जो लघु गुट के राज्यों के साथ अलग-अलग समय पर की गयीं, संघ के देशों को यह वचन दिया कि वह हंगरी से उनकी रक्षा करेगा और यूगोस्लाविया को इटली से विशेष रूप से बचायेगा। लघु मैत्री संघ के राज्य भी अब विदेशी मामलों में सर्वत्र फ्रान्स के विश्वासपात्र पिछलग्गू राज्य हो गये। लघु संघ का तीसरा काल तब आरम्भ हुआ जब हंगरी और फासिस्ट इटली में १९२७ में एक मैत्री संधि हो गयी और हंगरी की सरहद को फिर से सुधारने की चर्चा चल पड़ी।

लघु मैत्री संघ के राज्यों के साथ फ्रान्स की मित्रता का विशेष अन्तर्राष्ट्रीय महत्व था। लघु मैत्री संघ के सदस्यों ने, फ्रान्स द्वारा उन्हें सैनिक सुरक्षा दिये जाने के बदले में, वर्साय संधि को लागू कराने में फ्रान्स का साथ देने का वचन दिया था। इस प्रकार इस मैत्री सम्बन्ध का मंतव्य यूरोप में शांति-सम्मेलन की व्यवस्था को कायम रखना था। अब फ्रान्स का स्वार्थ और भी विस्तृत हो गया था तथा **"इस सारे प्रयत्न की सार्थकता इसी बात में थी कि फ्रांस की सुरक्षा-सीमा में वृद्धि हो गयी थी। अब वह न केवल वर्साय की संधि का पालन करने के लिए ही निश्चित रूप से वचनबद्ध था अपितु सारे यूरोपीय शांति समझौते के पालन के लिए भी। अब उसका सम्बन्ध केवल इसी बात से नहीं रह गया था कि वह जर्मनी को राइन तक ही सीमित रखे और पूर्व में उसे अपनी स्थिति सुदृढ़ नहीं बनाने दे। यह बात सर्वमान्य हो चुकी थी कि लिथुआनिया से पौलैन्ड को, हंगरी से चेकोस्लोवाकिया को, बलगेरिया से यूगोस्लाविया तथा रूमानिया की रक्षा करने एवं अपने मित्र-राष्ट्रों को उनके अल्पसंख्यकों के प्रति कर्तव्यों के जबरन तोड़-मरोड़ कर निकाले गये अर्थों की सुविधाओं से बचाने में भी फ्रान्स का हित था। इन सभी प्रश्नों पर उसके सुदृढ़ प्रभाव (Powerful influence) को देखते हुए फ्रांस का आश्रय लेने में ही सार था।"**[1]

1. "The importance of this move was that it enlarged France's conception of her own security. She was now definitely committed to the maintenance not only of the Versailles

अपने प्रयासों से सन् १९२०-२४ की अवधि में फ्रान्स यूरोप में शक्ति और गौरव की चरम सीमा पर पहुंच गया। वह पूर्व स्थिति (Status-quo) बनाये रखने का प्रबल समर्थक और संशोधनवाद (Revisionism) का कट्टर विरोधी था। "उसकी स्थिति की तुलना सन् १८१५ के शांति समझौते के बाद मैटरनिच की स्थिति से की जा सकती है। पौलैण्ड और लघु मैत्री संघ के साथ समझौते कर उसने "इसाई देश गुटबन्दी" (Holly Alliance) का आधुनिक प्रतिरूप ही तैयार कर लिया था।"[1]

इस गुटबन्दी से फ्रान्स को सुरक्षा तो मिली, पर समस्याएं अधिक बढ़ गयीं। फ्रान्स की गुटबन्दी का चरम लक्ष्य उसकी सुरक्षा और वर्साय की संधि व्यवस्था को बनाये रखना था। किन्तु फ्रान्स इतिहास के पन्नों से कुछ सीखने में असमर्थ रहा। जर्मनी के प्रति घृणा और भय की एक मात्र आधार-शिला पर फ्रान्स के नेता शांति और सुरक्षा का शीशमहल तैयार करना चाहते थे और इसका यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि राजनीतिक दांव-पेच के कारण यूरोप तेजी से विभक्त होता गया और गुटबन्दी की प्रणाली प्रश्रय पाती गयी। मैत्रीसंघ १९३३ तक अवश्य शक्तिशाली बना रहा, किन्तु शीघ्र ही इससे प्रभावित होकर अन्य राष्ट्रों ने, विशेषतः रूस और इटली ने, अपनी सुरक्षा के लिए नये गुटों को बनाना शुरू कर दिया। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली और उसका गुट फ्रान्स के प्रबल विरोधी के रूप में प्रकट हुआ और उधर ब्रिटिश रुख से परेशान तथा अपनी मान्यता प्राप्त करने को बेहाल

Treaty, but of the whole European peace settlement It was no longer her concern merely to keep Germany at bay on the Rhine and prevent her from strengthening her position in the east. It became a recognised French interest to support Poland against Lithuania, Czechoslovakia against Hungary, and even to save her friends from the inconvenience of a too rigorous interpretation of their obligations towards their minorities. In view of the powerful influence which she could exercise in all these questions, France was a patron well worth having."

—*E. H. Carr* : Op. Cit , page 42-43.

1 "During the period 1922-24 France, the possessor of a large, well equipped and victorious army and of enormous stocks of ammunitions, reached the summit of her prestige and power in Europe."

—*E. H. Carr* : Op. Cit , page 43.

सोवियत रूस रैपेलो संधि द्वारा धुरी राष्ट्रों की पंक्ति में सम्मिलित हो गया। **इस प्रकार जब यूरोप तीन दलों में बंट गया जिनका नेतृत्व फ्रांस, इटली और रूस के दल करने लग गये।** शांति-व्यवस्था के लागू होने के दस साल के भीतर ही यूरोप की ऐसी दशा हो गयी और इस सब के पीछे फ्रान्स की सुरक्षा की समस्या थी। सुरक्षा की दौड़ में आशंका और युद्ध की मनोवृत्ति पनपती गयी। अन्ततोगत्वा समस्या सुलझने के बजाय और अधिक उलझ गयी। इस प्रकार की गुटबंदियों ने न केवल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को गन्दा बनाया बल्कि समय आने पर इनका खोखलापन भी स्पष्ट हो गया। १९३८ में जब चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी के आक्रमण के रूप में लघु मैत्रीसंघ की परीक्षा की घड़ी उपस्थित हुई तो उस समय चेकोस्लोवाकिया का साथ संघ के अन्य सदस्यों ने नहीं दिया और साथ ही उसके साथ विश्वासघात करने वालों में फ्रान्स की भूमिका प्रमुख रही। तत्कालीन फ्रेंच प्रधानमन्त्री दलेदियर (Daladier) ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन के साथ मिलकर जर्मनी के साथ एक लज्जाजनक समझौता किया जो 'म्योनिक समझौता' (Munich Pact) के नाम से कुख्यात है। इस समझौते द्वारा फ्रान्स और इंगलैण्ड ने जर्मनी को संतुष्ट करने के लिये चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता के अपहरण को मंजूर कर लिया।

सोवियत रूस के सुरक्षा-प्रयास

रैपेलो (Repallo) की संधि:—सुरक्षा की इस दौड़ से सोवियत रूस भी अछूता नहीं रह सका। बोल्शेविक क्रांति के बाद रूस ने जर्मनी से पृथक संधि कर ली थी, अतः मित्रराष्ट्र तभी से उसके कट्टर विरोधी थे। युद्ध की समाप्ति के बाद भी साम्यवाद का भूत उन्हें भयभीत किये हुए था और वे रूस को अपने निकट सम्पर्क में लाकर प्रोत्साहित नहीं करना चाहते थे। रूस की नयी सरकार को अभी तक किसी भी अन्य देश ने मान्यता नहीं प्रदान की थी। मित्रराष्ट्र रूस का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से बहिष्कार करते थे।

बड़े राष्ट्र सोवियत रूस से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने से कतराते रहे, लेकिन फिर भी रूस से व्यापार की संभावनाओं की लम्बे समय तक उपेक्षा नहीं की जा सकी। सन् १९२१ में ब्रिटेन और रूस के मध्य एक व्यापारिक समझौता हुआ तथा ब्रिटिश "व्यापारिक शिष्ट मण्डल" (Trade Commission) मास्को भेजा गया। इटली ने भी ग्रेट ब्रिटेन का अनुकरण किया। १९२२ के प्रारम्भ तक रूस को इतनी मान्यता मिल गयी कि उसे भी राष्ट्र मण्डल का एक सदस्य मान लिया गया तथा जेनेवा में अप्रेल १९२२ में हुए सभी यूरोपीय देशों के आर्थिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। ब्रिटेन ने यह आशा की थी कि सम्मेलन में रूस एवं अन्य राष्ट्रों

में समझौता किया जा सकेगा। लेकिन फ्रेंच और बेल्जियम प्रतिनिधियों ने अपने दुराग्रह से ब्रिटेन की आशा पर पानी फेर दिया। उन्होंने यह मांग की कि सोवियत सरकार से किसी भी प्रकार की वार्ता तभी चलायी जाय जब वह जार कालीन रूस का अर्थात् युद्ध-पूर्व रूस का कर्ज चुकाना स्वीकार करे। लाल रूस को यह कभी स्वीकार्य न था।

आर्थिक सम्मेलन में विरोधी वातावरण से रूस क्षुब्ध हो गया। उसमें यह अनुभूति तीव्र रूप से जागृत हो उठी कि उसे अपने शक्तिशाली मित्रों की संख्या में वृद्धि करनी चाहिए। रूस का विक्षोभ शीघ्र ही जर्मनी के साथ मैत्री-संधि के रूप में प्रकट हुआ। राजनीतिक दृष्टि से "अछूत समझे जाने वाले" ये दोनों ही राष्ट्र अपने व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना और एक-दूसरे के निकट आना चाहते थे। जर्मनी असहाय था, वह रूस की मैत्री अर्जित करके मित्र-राष्ट्रों की अन्यायपूर्ण मांगों का प्रतिरोध करना चाहता था। रूस को अभी तक किसी बड़े राष्ट्र ने मान्यता प्रदान नहीं की थी। जर्मनी के साथ संधि द्वारा न केवल एक महाशक्ति द्वारा मान्यता मिलने की बल्कि आर्थिक विकास के लिए ऋण पाने की और फ्रान्स-पोलैण्ड गुट के विरुद्ध सहायता पाने की आशा भी थी। जेनेवा के आर्थिक सम्मेलन के विरोधी वातावरण ने रूस की उपरोक्त मानसिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि को पुष्ट किया। फलतः शीघ्र ही मित्रराष्ट्रों को चौंका देने वाली एक रूस-जर्मन संधि प्रकाश में आयी। आर्थिक सम्मेलन के एक सप्ताह बाद इटली में जेनेवा से कुछ ही मील की दूरी पर स्थिर रैंपेलो (Rapallo) नामक एक समुद्र तटीय आमोद-प्रमोद स्थान (Seaside resort) पर सोवियत और जर्मन प्रतिनिधि मण्डल गुप्त रूप से मिले। दोनों देशों के विदेश विभागों के अध्यक्षों वाल्थर राथेनो (Walther Rathenio) तथा जार्ज चिचेरिन (George Chicherin) ने १६ अप्रेल १९३२ को **"रैंपेलो सन्धि"** सम्पन्न की जिसके अनुसार जर्मनी ने सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान की। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने युद्ध से पहले लिए हुए सभी ऋणों और दावों को रद्द कर दिया।

वास्तव में "**संधि की शर्तों का इतना महत्व नहीं था जितना कि संधि होने का।**" इस संधि के द्वारा सोवियत संघ को एक बड़े राष्ट्र से पहली बार कूटनीतिक मान्यता प्राप्त हो गयी और साथ ही जर्मनी ने भी वर्साय संधि द्वारा अपने चारों ओर डाले गये घेरे को तोड़ने का प्रथम खुला प्रयास किया। रैंपेलो संधि के कारण दोनों देशों के सम्बन्ध दस वर्षों से भी अधिक समय तक मित्रतापूर्ण बने रहे। इस संधि ने मित्रराष्ट्रों को यह स्पष्ट कर दिया कि जर्मनी और सोवियत संघ को महत्वहीन देश मानने की नीति अनुपयुक्त है। फरवरी १९२४ में ब्रिटेन की मजदूर दलीय सरकार ने सोवियत

सरकार को मान्यता दे दी। अगस्त में दोनों देशों में एक समझौता भी हो गया जिसके अनुसार एक दूसरे के बकाया दावों को रद्द कर देने तथा रूस को एक गारन्टी देने की व्यवस्था की गयी।

रैपेलो संधि के बाद रूस को यह डर था कि यूरोपियन शक्तियां उसके विरुद्ध किसी गुट का निर्माण न करें। इसलिए उसने अपनी सुरक्षा के लिये पड़ौसी देशों के साथ अनेक **अनाक्रमण समझौते** (**Non-Aggression Pacts**) किये। ये राज्य थे—टर्की (१९२५, १९३५); जर्मनी (१९२६); अफगानिस्तान (१९२६); लिथुआनिया (१९२६); ईरान (१९२७); फिनलैंड इस्टोनिया, पोलैण्ड (१९३१); लेटविया, चेकोस्लोवाकिया (१९३३); यूगोस्लाविया और इटली (१९३३)। १९३२ में रूस ने फ्रांस के साथ भी एक तटस्थता की संधि की।

इटली की गुटबन्दी एवं यूरोपियन राष्ट्रों के अन्य समझौते

इटली उन पांच "प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों" में से एक था जिन्होंने शांति संधि की शर्तें निर्धारित की थीं। लेकिन जापान की भांति ही युद्ध के परिणामों से इटली की तृष्णा बुझी नहीं, बल्कि बढ़ गई। युद्ध के बाद द्वितीय महायुद्ध तक की पूरी अवधि में इटली जापान और भूतपूर्व शत्रु देशों की भांति 'असन्तुष्ट' और 'कष्टदायी' राज्य बना रहा। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसका असन्तोष बड़ा ही अशांतिकारक रहा।

इटली के इस असन्तोष के एकाधिक कारण थे। प्रथम महायुद्ध काल में इटली फ्रांस का मित्र था, लेकिन युद्धोपरांत फ्रांस द्वारा की जाने वाली गुटबन्दी उसके लिये चिन्ता और भय का कारण बन गई। इटली का असन्तोष गहरी जड़ें युद्ध के बाद से ही जमाने लगा। सन् १९१५ में युद्ध में मित्रराष्ट्रों की तरफ से सम्मिलित होते समय ही उसने अपना पुरस्कार ठहरा लिया था। लेकिन युद्ध के उपरान्त होने वाले पेरिस शांति सम्मेलन से उसे यह शिकायत हो गई कि उसके साथ न्याय नहीं हुआ। कारण स्पष्ट था कि उसको युद्ध की लूट में बहुत कम हिस्सा मिला था क्योंकि युद्ध काल में की गई गुप्त लंदन-संधि को, जिसमें इटली को अनेक लालच दिये गये थे, शांति-सम्मेलन में अमान्य ठहरा दिया गया था। इसी नाराजगी के कारण इटली ने यह रुख अपनाया था कि जहां फ्रांस वर्साय-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना चाहता था वहां इटली विजेता होते हुए भी संधि का संशोधन चाहने वाले जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया आदि का समर्थक था। इटली और फ्रांस में पश्चिमी भूमध्य सागर के बारे में भी गहरी प्रतिस्पर्धा थी। दोनों ही राष्ट्र इस पर अपने पूर्ण प्रभुत्व के इच्छुक थे। दोनों देशों में तनातनी का एक अन्य प्रमुख कारण यह था कि फ्रांस समुद्री बेड़े में इटली की समानता की मांग स्वीकार

करने को तैयार नहीं था और दूसरी तरफ इटली का कहना था कि उत्तर अफ्रीका में फ्रांस के पास ऐसे अनेक प्रदेश हैं जो इटली के पास होने चाहिये। इटली फ्रांस से विक्षुब्ध इसलिये भी था कि फ्रांस ने १९१९ में इटली को अधिक उपनिवेश देने का विरोध किया था।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि फ्रांस के सुरक्षा-प्रयास इटली और जर्मनी में काफी संदेह पैदा कर दें। फल यह हुआ कि फ्रांस के विरुद्ध अपने को सशक्त बनाये रखने के लिये इटली ने भी अपनी पृथक् गुटबन्दी बनानी शुरू कर दी। बेनिटो मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में फासीवाद के उत्थान के साथ ही इटली की विदेश नीति के दो प्रधान लक्ष्य बन गये—(१) एड्रियाटिक सागर का नियन्त्रण, और (२) मध्य यूरोप में इटली को सर्वोच्च शक्ति बनाना। प्रथम लक्ष्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक था कि अल्बानिया और इटली के मध्य अवस्थित ४७ मील चौड़े ओट्राण्टो (Otranto) के जलडमरुमध्य को अधिकार में ले लिया जाय। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर इटली ने १९२६ में अल्बानिया के साथ एक ऐसी संधि की कि वह लगभग उसका वशवर्ती राज्य बन गया। एड्रियाटिक के प्रवेश-मार्ग पर नियन्त्रण पा लेने से अब इस पर इटली का पूरा प्रभुत्व हो गया। मध्य यूरोप में सर्वोच्च शक्ति बनने के दूसरे लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती थी जब इटली विभिन्न मैत्री-संधियों और दृढ़ गुटबन्दी व सैन्यशक्ति के आधार पर यूरोप के राज्यों के संघ का नेता बन जाय। इसलिए मुसोलिनी की यह नीति बन गई कि सबसे पहले वह फ्रांस के विरोध में वर्साय संधि का संशोधन चाहने वाले राष्ट्रों का एक गुट तैयार करे। एतदर्थ, इटली ने १९२७ में हंगरी के साथ संधि की। इस संधि के बाद वह हंगरी की इस मांग का समर्थन करने लगा कि ट्रियानो (Trianon) संधि की प्रादेशिक व्यवस्थाएं उसके लिए अन्यायपूर्ण हैं, अतः इस संधि का पुनः संशोधन होना चाहिये। इसके बाद १९२८ में इटली ने टर्की और यूनान से तथा १९३० में आस्ट्रिया से मैत्री और तटस्थता की संधियां कीं। इटली के प्रभाववश १९३३ में टर्की और यूनान ने अनाक्रमण समझौता किया। सन् १९३० में इटली की राजकुमारी जोवन्ना (Giovanna) का विवाह बल्गेरिया-नरेश बोरिस के साथ होने से दोनों देशों का सम्बन्ध सुदृढ़ हुआ। सन् १९३३ में इटली और सोवियत रूस ने परस्पर एक अनाक्रमण समझौता किया। मुसोलिनी के प्रयत्नों से सन् १९३४ में इटली, आस्ट्रिया और हंगरी ने शांति बनाये रखने और यूरोप की आर्थिक उन्नति करने के लिये एक समझौता किया। इटली अभी तक आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण का घोर विरोधी था। मुसोलिनी को आशंका थी कि इस एकीकरण से जर्मनी ब्रेनर दर्रे तक पहुंच जायेगा और इटली में रहने

सरकार को मान्यता दे दी। अगस्त में दोनों देशों में एक समझौता भी हो गया जिसके अनुसार एक दूसरे के बकाया दावों को रद्द कर देने तथा रूस को एक गारन्टी देने की व्यवस्था की गयी।

रैपेलो संधि के बाद रूस को यह डर था कि यूरोपियन शक्तियां उसके विरुद्ध किसी गुट का निर्माण न करें। इसलिए उसने अपनी सुरक्षा के लिये पड़ोसी देशों के साथ अनेक **अनाक्रमण समझौते** (**Non-Aggression Pacts**) किये। ये राज्य थे—टर्की (१६२५, १६३५); जर्मनी (१६२६); अफगानिस्तान (१६२६); लियुआनिया (१६२६); ईरान (१६२७); फिनलैंड इस्टोनिया, पोलैण्ड (१६३१); लेटविया, चेकोस्लोवाकिया (१६३३); यूगोस्लाविया और इटली (१६३३)। १६३२ में रूस ने फ्रांस के साथ भी एक तटस्थता की संधि की।

इटली की गुटबन्दी एवं यूरोपियन राष्ट्रों के अन्य समझौते

इटली उन पांच "प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों" में से एक था जिन्होंने शांति संधि की शर्तें निर्धारित की थीं। लेकिन जापान की भांति ही युद्ध के परिणामों से इटली की तृष्णा बुझी नहीं, बल्कि बढ़ गई। युद्ध के बाद द्वितीय महायुद्ध तक की पूरी अवधि में इटली जापान और भूतपूर्व शत्रु देशों की भांति 'असन्तुष्ट' और 'कष्टदायी' राज्य बना रहा। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसका असन्तोष बड़ा ही अशांतिकारक रहा।

इटली के इस असन्तोष के एकाधिक कारण थे। प्रथम महायुद्ध काल में इटली फ्रांस का मित्र था, लेकिन युद्धोपरांत फ्रांस द्वारा की जाने वाली गुटबन्दी उसके लिये चिन्ता और भय का कारण बन गई। इटली का असन्तोष गहरी जड़ें युद्ध के बाद से ही जमाने लगा। सन् १६१५ में युद्ध में मित्रराष्ट्रों की तरफ से सम्मिलित होते समय ही उसने अपना पुरस्कार ठहरा लिया था। लेकिन युद्ध के उपरान्त होने वाले पेरिस शांति सम्मेलन से उसे यह शिकायत हो गई कि उसके साथ न्याय नहीं हुआ। कारण स्पष्ट था कि उसको युद्ध की लूट में बहुत कम हिस्सा मिला था क्योंकि युद्ध काल में की गई गुप्त लंदन-संधि को, जिसमें इटली को अनेक लालच दिये गये थे, शांति-सम्मेलन में अमान्य ठहरा दिया गया था। इसी नाराजगी के कारण इटली ने यह रुख अपनाया था कि जहां फ्रांस वर्साय-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना चाहता था वहां इटली विजेता होते हुए भी संधि का संशोधन चाहने वाले जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया आदि का समर्थक था। इटली और फ्रांस में पश्चिमी भूमध्य सागर के बारे में भी गहरी प्रतिस्पर्धा थी। दोनों ही राष्ट्र इस पर अपने पूर्ण प्रभुत्व के इच्छुक थे। दोनों देशों में तनातनी का एक अन्य प्रमुख कारण यह था कि फ्रांस समुद्री बेड़े में इटली की समानता की मांग स्वीकार

करने को तैयार नहीं था और दूसरी तरफ इटली का कहना था कि उत्तर अफ्रीका में फ्रांस के पास ऐसे अनेक प्रदेश हैं जो इटली के पास होने चाहिये। इटली फ्रांस से विक्षुब्ध इसलिये भी था कि फ्रांस ने १९१९ में इटली को अधिक उपनिवेश देने का विरोध किया था।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि फ्रांस के सुरक्षा-प्रयास इटली और जर्मनी में काफी संदेह पैदा कर दें। फल यह हुआ कि फ्रांस के विरुद्ध अपने को सशक्त बनाये रखने के लिये इटली ने भी अपनी पृथक् गुटबन्दी बनानी शुरू कर दी। बेनिटो मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में फासीवाद के उत्थान के साथ ही इटली की विदेश नीति के दो प्रधान लक्ष्य बन गये—(१) एड्रियाटिक सागर का नियन्त्रण, और (२) मध्य यूरोप में इटली को सर्वोच्च शक्ति बनाना। प्रथम लक्ष्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक था कि अल्बानिया और इटली के मध्य अवस्थित ४७ मील चौड़े ओट्राण्टो (Otranto) के जलडमरुमध्य को अधिकार में ले लिया जाय। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर इटली ने १९२६ में अल्बानिया के साथ एक ऐसी संधि की कि वह लगभग उसका वशवर्ती राज्य बन गया। एड्रियाटिक के प्रवेश-मार्ग पर नियन्त्रण पा लेने से अब इस पर इटली का पूरा प्रभुत्व हो गया। मध्य यूरोप में सर्वोच्च शक्ति बनने के दूसरे लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती थी जब इटली विभिन्न मैत्री-सधियों और दृढ़ गुटबन्दी व सैन्यशक्ति के आधार पर यूरोप के राज्यों के संघ का नेता बन जाय। इसलिए मुसोलिनी की यह नीति बन गई कि सबसे पहले वह फ्रांस के विरोध में वर्साय संधि का संशोधन चाहने वाले राष्ट्रों का एक गुट तैयार करे। एतदर्थ, इटली ने १९२७ में हंगरी के साथ संधि की। इस संधि के बाद वह हंगरी की इस मांग का समर्थन करने लगा कि ट्रियानो (Trianon) संधि की प्रादेशिक व्यवस्थाएं उसके लिए अन्यायपूर्ण हैं, अतः इस संधि का पुनः संशोधन होना चाहिये। इसके बाद १९२८ में इटली ने टर्की और यूनान से तथा १९३० में आस्ट्रिया से मैत्री और तटस्थता की संधियां कीं। इटली के प्रभाववश १९३३ में टर्की और यूनान ने अनाक्रमण समझौता किया। सन् १९३० में इटली की राजकुमारी जोवन्ना (Giovanna) का विवाह बल्गेरिया-नरेश बोरिस के साथ होने से दोनों देशों का सम्बन्ध सुदृढ़ हुआ। सन् १९३३ में इटली और सोवियत रूस ने परस्पर एक अनाक्रमण समझौता किया। मुसोलिनी के प्रयत्नों से सन् १९३४ में इटली, आस्ट्रिया और हंगरी ने शांति बनाये रखने और यूरोप की आर्थिक उन्नति करने के लिये एक समझौता किया। इटली अभी तक आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण का घोर विरोधी था। मुसोलिनी को आशंका थी कि इस एकीकरण से जर्मनी ब्रेनर दर्रे तक पहुंच जायेगा और इटली में रहने

वाले दक्षिणी टिरोल के जर्मनों की समस्या उग्र रूप ले लेगी। इस आशंका और भय से विमुक्त रहने के लिये ही इस समय इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता और अखण्डता का प्रबल समर्थक था। यूगोस्लाविया के साथ इटली मैत्री व सहयोग का पंचवर्षीय समझौता जनवरी १९२४ को ही कर चुका था।

अपने सभी सुरक्षा प्रयासों और अपनी गुटबन्दियों के मूल में इटली की शांति-भावना नहीं बल्कि शक्ति की भूख निहित थी। इटली में पुराने राष्ट्रों की सम्माननीय और शांतिप्रिय परम्परायें अभी तक नहीं आ पाई थीं। उसे यह स्मरण था कि उसने अपनी एकता लड़कर प्राप्त की है इसीलिए अपनी शक्ति और क्षेत्र का विस्तार करने के लिये वह युद्ध का आश्रय लेने से भी हिचकिचाने वाला नहीं था।

रोम का पैक्ट (१९३३)—इटली भी अपनी गुटबंदी की दिशा में दृढ़ता से अग्रसर हो रहा था, और उधर भीषण आर्थिक मन्दी के बाद हिटलर के उत्कर्ष के साथ फ्रांस पुनः अपनी सुरक्षा के लिये चिन्तित होने लगा था। हिटलर के उदय ने फ्रांस को ही नहीं अपितु सभी देशों को शांति और सुरक्षा के सम्बन्ध में चिन्तित कर दिया। मार्च १९३३ में जेनेवा से लौटते समय ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रेमजे मेकडोनेल्ड ने रोम में मुसोलिनी से मुलाकात की। बातचीत के दौरान मुसोलिनी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि यूरोप के पश्चिमी राष्ट्र एक निश्चित समय के लिये आपस में समझौता करके शांति बनाये रखने की गारण्टी दें। इस सुझाव के फलस्वरूप रोम में ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें काफी वाद-विवाद के पश्चात् एक समझौते पर पहुंचा गया जो 'रोम का पैक्ट' (१९३३) के नाम से जाना जाता है। चारों महाशक्तियों ने दस वर्ष तक शान्ति बनाये रखने के समझौते पर हस्ताक्षर किये। यह भी व्यवस्था की गई कि ये राष्ट्र अपने सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक, अन्तर्राष्ट्रीय और आर्थिक प्रश्नों पर परस्पर विचार-विमर्श करेंगे, निःशस्त्रीकरण को आगे बढ़ाने के लिए सम्मिलित रूप से विचार करते हुए आगे बढ़ेंगे। चारों राष्ट्र राष्ट्रसंघ के संविदा की धारा १९ के अनुसार संधियों के संशोधन का सिद्धान्त स्वीकार करने के लिये भी उद्यत हो गये।

लन्दन समझौता (१९३३)—रोम के उपरोक्त पैक्ट अथवा समझौते ने रूस के मस्तिष्क में हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के प्रति सन्देह की भावनाओं को और भी गहरा बना दिया। उसने इस समझौते को शान्ति और सुरक्षा की संधि नहीं माना बल्कि बोल्शेविज्म के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों की एक गुटबन्दी समझा। इसलिये उसने अपने सब पड़ौसी राज्यों के साथ एक सामान्य अनाक्रमण संधि का प्रस्ताव किया ताकि पाश्चात्य शक्तियों के षड़यंत्र

का निराकरण किया जा सके। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप जुलाई १९३३ में अफगानिस्तान, चैकोस्लोवाकिया, इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया, ईरान, पोलैंड, रूमानिया, सोवियत संघ, टर्की और यूगोस्लाविया के प्रतिनिधियों ने सोवियत दूतावास में तीन लन्दन समझौतों पर हस्ताक्षर किये। इन समझौतों में एक-दूसरे के प्रदेश की अनुल्लंघनीयता पर बल दिया गया और यह विश्वास प्रकट किया गया कि सब राष्ट्रों के लोग पैक्ट के अनुसार आक्रमण बन्द कर देंगे। इनमें पेरिस समझौते का अनुसमर्थन किया गया और आक्रांता की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि आक्रान्ता उस राष्ट्र को समझा जायगा जो अन्य राज्यों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करेगा अथवा औपचारिक ढंग से युद्ध घोषित किये बिना ही विदेशी भूमि पर आक्रमण करेगा, आर्थिक नाकाबन्दी (Blockade) करेगा या दूसरे राज्य पर आक्रमण करने वाले सशस्त्र दलों को अपने प्रदेश में संरक्षण प्रदान करेगा और किसी अन्य राज्य में आन्तरिक विवाद प्रोत्साहित करेगा अथवा किसी आक्रामक के पक्ष में अपनी नीति को पलट देगा। अन्य अनेक समझौतों और उप-संधियों की भांति ये लन्दन समझौते भी मृत शब्द बनकर ही रह गये।

बाल्कान समझौता (The Balkan Pact or Entente)—फ्रान्स-इटली की प्रतिद्वंद्विता और इटली की कूटनीतिक सफलता ने बाल्कान राज्यों तथा लघु मैत्री संघ (Little Entente) के देशों को भयभीत बना दिया था। परिणामतः सुरक्षा की खोज में और बाल्कान क्षेत्र का नेतृत्व प्राप्त करने के लिए टर्की के प्रयासों से १९३४ में बाल्कान मैत्री संघ (The Balkan Entente) अस्तित्व में आया। अपने पड़ौसियों से झगड़े सुलझाने के बाद टर्की ने १९३०, १९३१ और १९३२ में बाल्कान सम्मेलन बुलाने के आंदोलन का नेतृत्व किया जिसमें यूनान और बलगेरिया के झगड़ों में से कुछ तय हो गये। हिटलर के अभ्युदय के साथ ही ९ फरवरी, १९३४ को यूगोस्लाविया, रूमानिया, यूनान और टर्की ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के अनुसार हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने एक-दूसरे के सीमांतों की रक्षा की गारण्टी दी और बाल्कान राज्यों के सम्बन्ध में सभी कार्य पारस्परिक परामर्श से करने का निश्चय किया। इसके साथ ही हस्ताक्षरकर्त्ताओं में से किसी के द्वारा किसी अन्य बाल्कान राज्य से वार्ता करने के उद्देश्य को प्रकाश में रखने के लिए भी व्यवस्था की गई। एक गुप्त उप-सन्धि द्वारा यह निश्चित हुआ कि यदि हस्ताक्षरकर्त्ताओं में से किसी देश पर किसी गैर बाल्कान राज्य द्वारा किसी बाल्कान राज्य की सहायता से आक्रमण हुआ, तो उस बाल्कान राज्य के विरुद्ध भी समझौते की शर्तें लागू होंगी।

बाल्कान पैक्ट में बलगेरिया और अल्बानिया सम्मिलित नहीं हुए। उनके ऐसा करने के दो प्रमुख कारण थे—प्रथम कारण तो यह था कि ये

वाले दक्षिणी टिरोल के जर्मनों की समस्या उग्र रूप ले लेगी। इस आशंका और भय से विमुक्त रहने के लिये ही इस समय इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता और अखण्डता का प्रबल समर्थक था। यूगोस्लाविया के साथ इटली मैत्री व सहयोग का पंचवर्षीय समझौता जनवरी १९२४ को ही कर चुका था।

अपने सभी सुरक्षा प्रयासों और अपनी गुटबन्दियों के मूल में इटली की शांति-भावना नहीं बल्कि शक्ति की भूख निहित थी। इटली में पुराने राष्ट्रों की सम्माननीय और शांतिप्रिय परम्परायें अभी तक नहीं आ पाई थीं। उसे यह स्मरण था कि उसने अपनी एकता लड़कर प्राप्त की है इसीलिए अपनी शक्ति और क्षेत्र का विस्तार करने के लिये वह युद्ध का आश्रय लेने से भी हिचकिचाने वाला नहीं था।

रोम का पैक्ट (१९३३)—इटली भी अपनी गुटबंदी की दिशा में दृढ़ता से अग्रसर हो रहा था, और उधर भीषण आर्थिक मन्दी के बाद हिटलर के उत्कर्ष के साथ फ्रांस पुनः अपनी सुरक्षा के लिये चिन्तित होने लगा था। हिटलर के उदय ने फ्रांस को ही नहीं अपितु सभी देशों को शांति और सुरक्षा के सम्बन्ध में चिन्तित कर दिया। मार्च १९३३ में जेनेवा से लौटते समय ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रेमजे मेकडोनेल्ड ने रोम में मुसोलिनी से मुलाकात की। बातचीत के दौरान मुसोलिनी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि यूरोप के पश्चिमी राष्ट्र एक निश्चित समय के लिये आपस में समझौता करके शांति बनाये रखने की गारण्टी दें। इस सुझाव के फलस्वरूप रोम में ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें काफी वाद-विवाद के पश्चात् एक समझौते पर पहुंचा गया जो 'रोम का पैक्ट' (१९३३) के नाम से जाना जाता है। चारों महाशक्तियों ने दस वर्ष तक शान्ति बनाये रखने के समझौते पर हस्ताक्षर किये। यह भी व्यवस्था की गई कि ये राष्ट्र अपने सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक, अन्तर्राष्ट्रीय और आर्थिक प्रश्नों पर परस्पर विचार-विमर्श करेंगे, निःशस्त्रीकरण को आगे बढ़ाने के लिए सम्मिलित रूप से विचार करते हुए आगे बढ़ेंगे। चारों राष्ट्र राष्ट्रसंघ के संविदा की धारा १९ के अनुसार संधियों के संशोधन का सिद्धान्त स्वीकार करने के लिये भी उद्यत हो गये।

लन्दन समझौता (१९३३)—रोम के उपरोक्त पैक्ट अथवा समझौते ने रूस के मस्तिष्क में हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के प्रति सन्देह की भावनाओं को और भी गहरा बना दिया। उसने इस समझौते को शान्ति और सुरक्षा की संधि नहीं माना बल्कि बोल्शेविज्म के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों की एक गुटबन्दी समझा। इसलिये उसने अपने सब पड़ोसी राज्यों के साथ एक सामान्य अनाक्रमण संधि का प्रस्ताव किया ताकि पाश्चात्य शक्तियों के षड़यंत्र

का निराकरण किया जा सके। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप जुलाई १९३३ में अफगानिस्तान, चैकोस्लोवाकिया, इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया, ईरान, पोलैंड, रूमानिया, सोवियत संघ, टर्की और यूगोस्लाविया के प्रतिनिधियों ने सोवियत दूतावास में तीन लन्दन समझौतों पर हस्ताक्षर किये। इन समझौतों में एक-दूसरे के प्रदेश की अनुल्लंघनीयता पर बल दिया गया और यह विश्वास प्रकट किया गया कि सब राष्ट्रों के लोग पैक्ट के अनुसार आक्रमण वन्द कर देंगे। इनमें पेरिस समझौते का अनुसमर्थन किया गया और आक्रांता की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि आक्रान्ता उस राष्ट्र को समझा जायगा जो अन्य राज्यों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करेगा अथवा औपचारिक ढंग से युद्ध घोषित किये विना ही विदेशी भूमि पर आक्रमण करेगा, आर्थिक नाकाबन्दी (Blockade) करेगा या दूसरे राज्य पर आक्रमण करने वाले सशस्त्र दलों को अपने प्रदेश में संरक्षण प्रदान करेगा और किसी अन्य राज्य में आन्तरिक विवाद प्रोत्साहित करेगा अथवा किसी आक्रामक के पक्ष में अपनी नीति को पलट देगा। अन्य अनेक समझौतों और उप-संधियों की भांति ये लन्दन समझौते भी मृत शब्द वनकर ही रह गये।

वाल्कान समझौता (The Balkan Pact or Entente)—फ्रान्स-इटली की प्रतिद्वंद्विता और इटली की कूटनीतिक सफलता ने वाल्कान राज्यों तथा लघु मैत्री संघ (Little Entente) के देशों को भयभीत बना दिया था। परिणामतः सुरक्षा की खोज में और वाल्कान क्षेत्र का नेतृत्व प्राप्त करने के लिए टर्की के प्रयासों से १९३४ में वाल्कान मैत्री संघ (The Balkan Entente) अस्तित्व में आया। अपने पड़ौसियों से झगड़े सुलझाने के वाद टर्की ने १९३०, १९३१ और १९३२ में वाल्कान सम्मेलन बुलाने के आंदोलन का नेतृत्व किया जिसमें यूनान और वलगेरिया के झगड़ों में से कुछ तय हो गये। हिटलर के अभ्युदय के साथ ही ९ फरवरी, १९३४ को यूगोस्लाविया, रूमानिया, यूनान और टर्की ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के अनुसार हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने एक-दूसरे के सीमांतों की रक्षा की गारण्टी दी और वाल्कान राज्यों के सम्बन्ध में सभी कार्य पारस्परिक परामर्श से करने का निश्चय किया। इसके साथ ही हस्ताक्षरकर्त्ताओं में से किसी के द्वारा किसी अन्य वाल्कान राज्य से वार्ता करने के उद्देश्य को प्रकाश में रखने के लिए भी व्यवस्था की गई। एक गुप्त उप-सन्धि द्वारा यह निश्चित हुआ कि यदि हस्ताक्षरकर्त्ताओं में से किसी देश पर किसी गैर वाल्कान राज्य द्वारा किसी वाल्कान राज्य की सहायता से आक्रमण हुआ, तो उस वाल्कान राज्य के विरुद्ध भी समझौते की शर्तें लागू होंगी।

वाल्कान पैक्ट में वल्गेरिया और अल्वानिया सम्मिलित नहीं हुए। उनके ऐसा करने के दो प्रमुख कारण थे—प्रथम कारण तो यह था कि ये

दोनों देश इटली के पिछलग्गू देश थे जिन्हें इटली का संरक्षण प्राप्त था; दूसरा कारण यह था कि बल्गेरिया उन सीमान्तों का सदैव विरोध करता आया था जिनकी इस समझौते में पुष्टि की गई थी। वह यूनान और यूगोस्लाविया की सीमाओं में संशोधन चाहता था और वर्तमान प्रादेशिक व्यवस्था को बदलने को उत्सुक था जबकि बाल्कान पैक्ट वाले राष्ट्र इसे यथापूर्व बनाये रखना चाहते थे।

बल्गेरिया और यूगोस्लाविया का विरोध टर्की की अगुआई के कारण अधिक समय तक न चल सका। टर्की के आग्रह पर बल्गेरिया ने जनवरी १९३७ में यूगोस्लाविया के साथ एक समझौता किया जो "शाश्वत मैत्री का समझौता" (Pact of Perpetual Friendship) के नाम से प्रसिद्ध है। जुलाई १९३८ में बल्गेरिया अन्य चार बाल्कान देशों के साथ भी एक अनाक्रमण समझौते में शामिल हो गया। इसके अन्तर्गत यद्यपि उसने अपनी सीमाओं में परिवर्तन की मांग का औपचारिक ढंग से परित्याग नहीं किया तथापि वह इस बात के लिये सहमत हो गया कि अपनी सीमाओं को बदलने के लिये उसके द्वारा शक्ति प्रयोग नहीं होगा।

बल्गेरिया द्वारा यूगोस्लाविया और चार बाल्कान देशों के साथ समझौता करने से पूर्व दो मुख्य बातें और हुईं। जुलाई १९३४ में चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, यूनान और टर्की ने आक्रमण की व्याख्या के लिये सोवियत प्रस्ताव (Soviet Convention) पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके अतिरिक्त नवम्बर १९३४ में अंकारा में हुए एक अन्य सम्मेलन में एक और कदम उठाया गया जिसमें लघु मैत्री संघ के ढांचे के समान बाल्कान समझौते को व्यवहृत करने के लिये एक नियमित यन्त्र की स्थापना हुई। नियमित रूप से बैठने वाली चारों देशों के विदेश मंत्रियों की और एक परामर्शदात्री आर्थिक परिषद् नियुक्त की गई। इस तरह लगभग ६ करोड़ लोगों को एक चुस्त संघ के सूत्र में पिरो दिया गया।

बाल्कन मैत्री संघ अपने आप में एक शक्तिशाली संगठन सिद्ध नहीं हुआ। अनुभव ने इसे बिल्कुल कमजोर संगठन घोषित किया। संघ का प्रत्येक राज्य अपने अलग-अलग स्वार्थों को लेकर संघ में सम्मिलित हुआ था। उदाहरणार्थ, यूगोस्लाविया का स्वार्थ था कि बाल्कान प्रदेश में इटली के हस्तक्षेप को रोका जा सके तो यूनान संघ में इसलिये शामिल हुआ था कि उसमें इटली से संघर्ष करने का साहस नहीं था। इसीलिये संघ में शामिल होते समय उसने यह घोषणा भी कर दी थी कि वह किसी भी गैर-बाल्कान राष्ट्र के साथ युद्ध करने सम्बन्धी अपना कोई दायित्व नहीं मानता है। इस घोषणा के कारण यूनान-यूगोस्लाविया सम्बन्ध बिगड़ गये। कुछ दिनों

बाद जब यूगोस्लाविया और बल्गेरिया के सम्बन्ध सुधरे तो यूगोस्लाविया-बाल्कान मैत्री संघ के सदस्य राज्यों की अपेक्षा बल्गेरिया के अधिक निकट आ गया जो मैत्री संघ का सदस्य भी नहीं था।

बाल्कान मैत्री संघ यद्यपि ढीला-ढाला और दुर्बल संगठन सिद्ध हुआ, किन्तु वह द्वितीय महायुद्ध तक चलता रहा। महायुद्ध-काल में वह व्यवस्था विनष्ट हो गई जिसे स्थायित्व प्रदान करने के लिये संघ का निर्माण हुआ था।

सादाबाद का समझौता (१९३७):—जिस तरह बाल्कान मैत्री संघ की स्थापना में टर्की ने एक विशेष भूमिका अदा की थी, उसी प्रकार सादाबाद-समझौते की रचना में भी टर्की ही अगुआ बना। इस समझौते में अफगानिस्तान, ईरान, ईराक और टर्की सम्मिलित थे। सादाबाद में जुलाई १९३७ में हुए सम्मेलन में, हुए समझौते के अनुसार इन राज्यों ने एक दूसरे को उसकी सीमा की अखण्डनीयता का विश्वास दिलाया और अनाक्रमण के बारे में आश्वासन दिया। समझौते द्वारा यह भी निश्चित हुआ कि वे राज्य समान हित के प्रश्नों पर परस्पर विचार-विमर्श करेंगे।

बाल्टिक-समझौता (The Baltic Pact):—जर्मनी में नाजी-क्रान्ति की सफलता से आशंकित हो कर नवम्बर १९३४ में बाल्टिक राज्यों—लेटविया, लिथुआनिया और इस्टोनिया ने अपनी प्रादेशिक सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिये एक समझौता किया जो बाल्टिक समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार यह निश्चय हुआ कि हस्ताक्षरकर्त्ता देशों के विदेश मन्त्री आपस में नियमित विचार-विमर्श किया करेंगे और इस प्रकार वे समान विदेश नीति को विकसित करने का प्रयास करेंगे। सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी उन्होंने एक दूसरे को सहयोग देने का आश्वासन दिया। इस बात पर सभी सहमत हुए कि उनकी प्रतिरक्षा-समस्यायें समान हैं और सर्वश्रेष्ठ सुरक्षा इसी बात में है कि किसी भी युद्धरत देश के साथ पंक्तिबद्ध न हुआ जाय। जब हिटलर और मुसोलिनी ने छोटे राज्यों को हड़पना आरम्भ किया तो १२ जून १९३८ को बाल्टिक राज्यों ने एक विज्ञप्ति द्वारा तटस्थता की नीति का अनुसरण करने की घोषणा की। बाद में घटनाओं का क्रम कुछ इस प्रकार चला कि १९३९-४० में सोवियत रूस ने इन राज्यों पर कब्जा कर लिया और अन्त में अगस्त १९४० में ये राज्य सोवियत संघ के अभिन्न अंग बना लिये गये।

स्कैंडीनेवियन देशों का गुट (The Scandinavian Block):—जर्मनी और इटली में अधिनायकवादी शक्तियों के उत्कर्ष ने स्कैंडीनेवियन राज्यों में भी अरक्षा की स्थिति पैदा कर दी। ये विभिन्न छोटे-छोटे देश

प्रथम महायुद्ध में तटस्थ थे। युद्धोपरान्त इन्होंने पारस्परिक सहयोग की नीति अपनाई और राष्ट्रसंघ के बाहर साथ-साथ काम करने की प्रवृत्ति रखे रहे। इन देशों के विदेशमन्त्री सामान्य हित के प्रश्नों पर प्रायः विचार-विमर्श किया करते थे। इनके न्याय-शास्त्रियों ने अपने-अपने न्यायविधानों (Codes) को एकीकृत करने की चेष्टा की। ये देश आर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक सुरक्षा के सामान्य कार्यक्रम की अभिवृद्धि के लिये सचेष्ट थे। अतः जब अरक्षा की नवीन स्थिति पैदा हुई तो २७ मई १९३८ को फिनलैंड, डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह निश्चित किया गया कि ये देश युद्ध की स्थिति में किसी भी पक्ष के साथ अपने को पक्तिबद्ध नहीं करेंगे, पारस्परिक सहयोग में वृद्धि करते हुए अपनी प्रतिरक्षा को सुदृढ़ बनायेंगे। स्कैंडीनेवियन देशों की यह व्यवस्था टिकाऊ सिद्ध नहीं हो सकी। १९३९-४० में फिनलैण्ड पर रूस के सफल आक्रमण, १९४० में नार्वे पर जर्मन आक्रमण और डेनमार्क पर संरक्षणात्मक अधिकार ने इन देशों की प्रादेशिक सुरक्षा-पद्धति को पूर्णतः नष्ट कर दिया।

यूरोपीय संघ सम्बन्धी ब्रियां (Briand) योजनाः—सुरक्षा-प्रयासों की दौड़ में फ्रांस पहले से ही अग्रणी था। इस सम्बन्ध में प्रमुख फ्रेंच नेता ब्रियां का विश्वास था कि सुरक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन एक ऐसे यूरोपीय संघ की स्थापना करना है जो बौद्धिक क्रिया-कलापों, अन्तःसंसदीय सम्बन्धों, सार्वजनिक स्वास्थ्य, वैदेशिक व्यापार, श्रमिक कानून, वित्त, उद्योग, कृषि, आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग के लिये राष्ट्रसंघ से अलग एक प्रकार का यन्त्र हो। वास्तव में युद्धोपरान्त यूरोपीय विचार प्रणाली द्वि-मुखी हो चुकी थी—कभी तो राष्ट्रसंघ के विश्वव्यापी विचार सहारा पाते थे और कभी विपरीत पड़ जाते थे।

अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिये ब्रियां ने १९२९ में २६ राज्यों के प्रतिनिधियों के सम्मुख अपनी योजना प्रस्तुत की और कहा कि यूरोपीय संघ की संभावनाओं की छानबीन की जाये। ब्रियां के इस कार्य को विलियम मार्थिन ने 'an epoch-making initiative' की संज्ञा दी है। मई १९३० में ब्रियां ने इन्हीं सरकारों को इस सुझाव पर आधारित एक स्मृतिपत्र प्रस्तुत किया जिसमें यह कहा गया कि प्रस्तावित यूरोपियन संघ, राष्ट्रसंघ के अनुबन्ध की धारा २१ के अनुरूप होगा और उसके संगठन में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त संघ के कार्य संचालन हेतु एक स्थाई राजनीतिक समिति (Permanent Political Committee) होगी तथा एक सचिवालय की व्यवस्था भी की जावेगी। यह संघ सर्वोत्कृष्ट संप्रभु नहीं बल्कि यूरोप की सामाजिक, आर्थिक एवं राज-

नीतिक समस्याओं को सुलझाने वाली समन्वयकारी संस्था होगा जो यूरोप का राष्ट्रमण्डल स्थापित करेगा। सितम्बर १९३० में राष्ट्रसंघ की ११वीं असेम्बली ने प्रस्तावित यूरोपीय संघ के सम्बन्ध में एक जांच आयोग नियुक्त किया, लेकिन इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका। जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष, सर आस्टिन चेम्बरलेन का ब्रिटिश विदेशमन्त्री पद से पतन, मार्च १९३२ में ब्रियां की मृत्यु, १९२९ के बाद से ही निरन्तर बिगड़ती हुई आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों आदि ने इस योजना को कार्यान्वित नहीं होने दिया। इसके अतिरिक्त इस योजना के बारे में यूरोप के विभिन्न देशों में अनेक भ्रम थे। ब्रिटेन का विश्वास था कि यूरोपीय राजनीति में अपना प्रभाव बढ़ाने की फ्रांस की यह एक चाल है। सोवियत रूस समझता था कि यह योजना समाजवादी पद्धति का अन्त करने के लिये बनाई गई है और इसके विरुद्ध पश्चिमी राज्यों का एक षड्यन्त्र है। सोवियत रूस का संदेह निराधार भी नहीं था क्योंकि १९३० में फ्रांस ने यह आरोप लगाया था कि साम्यवादी पश्चिम की अर्थ-व्यवस्था को तहस-नहस करने के लिये यूरोप के बाजारों में अपना माल भर रहे हैं। इसके बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका सहित फ्रांस एवं अन्य पाश्चात्य राष्ट्रों ने सोवियत वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर दिया था। यूरोप के अन्यान्य छोटे राज्यों का विश्वास था कि इस योजना का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करना है। इन सभी कारणों ने ब्रियां-योजना की अर्थी निकाल दी और १९३८ तक जांच-आयोग की कार्यवाही को खत्म कर दिया। संपूर्ण योजना गलत-फहमी, ना-समझी, कटुता और घृणा के बीच नष्ट हो गई।

जर्मनी का उत्कर्ष और सुरक्षा—व्यवस्था का विघटन

सन् १९३३ में अप्रत्याशित रूप से जर्मनी में हिटलर का अभ्युदय हुआ और सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गगन-मण्डल अनिश्चितता, अस्थिरता और क्रान्ति-कारी कूटनीतिक परिवर्तनों के मेघों से आच्छादित हो गया। हिटलर वर्साय में जर्मनी के मुख पर लगायी गयी कालिमा धो डालने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था। अतः, **अपने राष्ट्र को एक बार फिर गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुंचा देने के लिए उसने अपने समक्ष तीन प्रमुख लक्ष्य बनाये**—(१) वर्साय सन्धि की व्यवस्था को और उसे बनाये रखने वाले तत्वों को क्षीण बनाना, (२) जर्मनी को यूरोप की सर्वोच्च शक्ति बनाना, एवं (३) फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध की गयी गुटबन्दी को छिन्न-भिन्न करना।

हिटलर ने सबसे पहले वर्साय संधि द्वारा जर्मनी पर लगाये गये **शस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रतिबन्ध तोड़े**। अक्टूबर १९३३ में उसने निःशस्त्रीकरण

सम्मेलन और राष्ट्रसंघ के बहिष्कार की घोषणा की और साथ ही दूसरे देशों के साथ अनाक्रमण समझौते करने की जर्मनी की उत्सुकता भी प्रकट की। मार्च १९३५ में सार-प्रदेश जर्मनी को वापिस मिलजाने के बाद हिटलर ने जर्मनी का पुनः सैन्यीकरण करने की घोषणा कर दी और अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) का नियम बनाया। यद्यपि मित्रराष्ट्रों ने इस कार्य को पसन्द नहीं किया किन्तु हिटलर अपनी योजना के अनुसार आगे बढ़ता रहा। मार्च १९३६ में हिटलर ने राइन प्रदेश में अपनी सेनाएं उतार दीं और इस तरह लोकार्नो तथा वर्साय की संधियों को पंगु बना दिया। राइन प्रदेश में जर्मन सेनाओं के जाते ही चारों ओर के देशों के कान खड़े हो गये और सब देश जर्मनी की मित्रता चाहने लगे। राइनलैण्ड पर अधिकार कर लेना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी। यह असैनिक क्षेत्र फ्रांस के लिए बड़ा महत्वपूर्ण था। राइनलैण्ड के असैनिक रहने की ही एकमात्र ऐसी शर्त थी जिसके कारण फ्रांस ने पेरिस शांति-सम्मेलन में राइनलैण्ड को जर्मनी से पृथक कर देने की मांग का परित्याग कर दिया था। राइन-क्षेत्र का जर्मनी द्वारा सैन्यीकरण फ्रांस की सुरक्षा-पंक्ति पर कठोर आघात था। फ्रांस इस समय आंतरिक संकटों और आर्थिक कठिनाइयों में उलझा हुआ था, वह अकेला जर्मनी को संधि-भंग करने से नहीं रोक सकता था और इटली तथा ब्रिटेन उसका साथ देने से कतरा रहे थे। शक्ति-संतुलन का पक्षपाती ब्रिटेन यूरोप में फ्रांस के बढ़ रहे प्रभाव को नियन्त्रित करने के लिए जर्मनी के उत्कर्ष को वांछनीय समझता था और इटली इस समय तक जर्मनी के निकट आ चुका था। जब मित्रराष्ट्रों ने राइनलैण्ड के सैन्यीकरण पर सिवाय मौखिक विरोध के कोई व्यावहारिक कदम नहीं उठाया तो हिटलर का दुस्साहस और भी अधिक बढ़ गया।

जर्मनी की सैन्यीकरण की नीति ने और उसके तीव्र अभ्युदय ने फ्रान्स एवं उसके मित्रों को विशेष रूप से चिन्तित बना दिया। परिणामस्वरूप १९३३ में लघु गुट (Little Entente) के राज्यों ने एक **"संगठन समझौता" (Pact of Organization)** किया जिसका उद्देश्य उन राज्यों के गुट को एक "उच्च अन्तर्राष्ट्रीय एकता" प्रदान करना था। इस समझौते के अनुसार इन देशों के विदेशमंत्रियों की एक स्थायी परिषद् बनायी गयी जिसका कार्य आर्थिक, वित्तीय और राजनीतिक मामलों में परस्पर घनिष्ठ सहयोग प्राप्त करना था। १९३३ में ही इन राज्यों ने अपनी रक्षा के लिए पोलैन्ड और सोवियत रूस के साथ लन्दन-समझौते किए।

फ्रान्स और उसके साथी राज्यों के सुरक्षा-प्रयास हिटलर की कूटनीति के आगे फीके पड़ते गए और शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गए। हिटलर ने इस

समय दोहरी नीति अपनायी—एक तरफ तो उसने फ्रान्स के साथी राज्यों और मित्रों को अपनी तरफ मिलाना शुरू किया और दूसरी तरफ शस्त्रीकरण और सैन्यीकरण के द्वारा वह अपनी शक्ति में अभिवृद्धि करता गया। अपनी पहली ही चाल से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत को स्तब्ध करते हुए **हिटलर ने जर्मनी के प्रबल शत्रु पोलैण्ड के साथ जनवरी १९३४ में दस-वर्षीय अनाक्रमण संधि कर ली।** इस तरह उसने पोलिश-गलियारे के कारण दोनों देशों के मध्य लम्बे समय से चली आ रही तनातनी को बहुत कुछ शान्त कर दिया। **पोलैण्ड-जर्मन अनाक्रमण संधि फ्रेन्च-सुरक्षा में पहली बड़ी दरार थी।** पोलैण्ड अपने शत्रु जर्मनी के साथ संधि के लिए इस कारण तत्पर हो गया था कि उसके प्रधानमंत्री पीलसद्स्की (Pilsudski) को यह विश्वास हो चुका था कि फ्रान्स "थोथा चना, बाजे घना" वाला देश था जो जर्मनी द्वारा आक्रमण होने पर पोलैण्ड की रक्षा नहीं कर सकेगा।

राइन प्रदेश में जर्मन फौजों के प्रवेश ने फ्रांस की पोल खोल कर रख दी। इस घटना से फ्रेंच प्रतिष्ठा को गम्भीर आघात पहुंचा और फ्रांस के मित्रों को उसकी शक्ति में संदेह होने लगा। उनमें यह शंका जाग उठी कि जो देश अपने महत्वपूर्ण सीमान्त पर ही जर्मन प्रवेश को नहीं रोक सका, वह जर्मन आक्रमण से अन्य देशों की क्या रक्षा कर सकेगा। वास्तव में यदि फ्रांस चाहता तो अपनी मजबूत सैनिक तैयारी की बदौलत राइनलैण्ड में अपनी सेना भेजकर हिटलर को वापस लौटने को बाध्य कर सकता था। आगे चल कर हिटलर ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया था। जर्मन सेनापतियों को यह निर्देश था कि यदि फ्रांस बलपूर्वक प्रतिरोध करे तो उन्हें राइन प्रदेश से वापस लौट आना चाहिए। पर फ्रांस का दुर्भाग्य यह था कि उसे अपने आत्म-बल पर विश्वास ही नहीं था।

राइनलैण्ड काण्ड की अपनी जबरदस्त कूटनीतिक धौंस की सफलता से प्रोत्साहित होकर और यूरोपियन राष्ट्रों में आतंक फैलाकर जर्मनी ने विभिन्न राष्ट्रों के प्रति मैत्री का हाथ पसारने का सामयिक कूटनीतिक दांव खेलने में तेजी दिखायी। **उसने फ्रांस के दोस्त 'लघु गुट' के राष्ट्रों के साथ विनिमय पद्धति के आधार पर व्यापार बढ़ाना शुरू किया।** वह उनसे कच्चा माल और खाद्यान्न लेकर बदले में उन्हें मशीनें तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें देने लगा। इन आर्थिक सम्बन्धों ने इन राज्यों में जर्मनी ने [illegible]जनीतिक प्रभुत्व इतना अधिक स्थापित कर दिया कि [illegible]नगस्ताव स्वी[illegible]ती विदेशमंत्री निकोलस टिटेलस्कू (Nicolus Titel[illegible]मक प्रकार [illegible] दिया गया। अब वहां जर्मन पक्षपाती नीति [illegible]) को [illegible]आकांक्षी हो ग[illegible]लगा। **यूगोस्लाविया भी जर्मनी की ओर** [illegible] (Metaxes) के अधि-

नायक यंत्र में भी यही प्रवृत्ति आरम्भ हुई। केवल चैकोस्लावाकिया ही फ्रांस के प्रति निष्ठावान बना रहा क्योंकि प्रथम तो उसकी जर्मन अल्पसंख्या के तीव्र असन्तोष ने और दूसरे लोकतंत्र के प्रति उसकी प्रगाढ़ आस्था ने उसे जर्मनी की तरफ नहीं झुकने दिया।

राइनलैण्ड काण्ड में फ्रांस की असफलता और निष्क्रियता ने फ्रांस के सुरक्षा-प्रयासों की कमर तोड़ कर रख दी। **इसके कारण फ्रांस-बेल्जियम संधि महत्वहीन और खोखली हो गई।** फ्रांस में कोई भरोसा न रखते हुए बेल्जियम ने स्वयं को अरक्षित अनुभव किया, अतः उसने सब संधियों को तोड़ते हुए यह घोषणा की कि वह अपने पड़ौसियों के झगड़ों में पूर्ण तटस्थ रहेगा। बेल्जियम की इस घोषणा पर ब्रिटेन और फ्रांस ने उसे लोकार्नो संधि की बाध्यताओं से मुक्त करते हुए यह वचन दिया कि आक्रमण की दशा में वे उसकी सहायता करेंगे। १९३७ में जर्मनी ने **बेल्जियम के साथ भी अनाक्रमण संधि की।** इस प्रकार हिटलर ने संधियों के उस जाल को क्षत-विक्षत कर दिया जो फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए पूर्व और पश्चिम में बनाया था।

फ्रैंको रशियन पैक्ट—हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी के उत्थान से चिन्तित होकर फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए नए शक्तिशाली मित्रों की तलाश में रूस की ओर दृष्टि डाली। रूस स्वयं भी जर्मनी की तरफ से भयग्रस्त था। इस समय हिटलर वर्साय की संधि तथा साम्यवाद के प्रति समान रूप से विष वमन कर रहा था। इन परिस्थितियों में जर्मनी से भयाक्रान्त दोनों राज्यों का एक दूसरे की तरफ आकर्षित होना सर्वथा स्वाभाविक था। फ्रांस सुरक्षा की दृष्टि से तो रूस की मैत्री चाहता ही था किन्तु इसके अतिरिक्त उसकी यह भी इच्छा थी कि रूस से उसे पर्याप्त मात्रा में तेल मिले और साथ ही मशीनों आदि का निर्यात भी रूस को हो सके। हिटलर जर्मनी के विकास और प्रसार का क्षेत्र पूर्व में रूसी प्रदेश समझता था, अतः रूस-जर्मन सम्बन्धों का कटु होना स्वाभाविक था। फ्रांस, जर्मनी और रूस के इस राजनीतिक वातावरण ने फ्रेंच-रशियन मैत्री की आधारभूमि तैयार कर दी, फलतः पहले तो १९३२ में फ्रांस ने रूस के साथ एक तटस्थता की संधि की और तब १९३५ में दोनों देशों के बीच एक **अनाक्रमण समझौता** हो गया जिसके अनुसार दोनों ने "अनुत्तेजित आक्रमण" की अवस्था में परस्पर एक-दूसरे को तुरन्त सहायता देने की प्रतिज्ञा की।

और ब्रिटेन के पारस्परिक विरोध की खाई बहुत कुछ पाट दी और उनमें फिर से घनिष्ठ मैत्री सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ। सन् १९३८ में दोनों देशों के मध्य एक दृढ़ सैनिक समझौता हो गया। जर्मनी से भयग्रस्त फ्रांस को इस समझौते से बड़ा आश्वासन मिला। इससे पूर्व फ्रांस ने इटली से भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया था और रोम में १९३५ में लेवाल-मुसोलिनी पैक्ट (Laval-Mussolini Pact) द्वारा दोनों ने पारस्परिक विवादों को तय करके मैत्री संधि कर ली थी। किन्तु भू-मध्य सागर में दोनों राज्यों के स्वार्थों में इतना अधिक संघर्ष था कि इस मैत्री का बाद में कोई मूल्य नहीं रह गया।

धुरी राष्ट्र और कोमिण्टर्न विरोधी समझौता (Axis Powers and Anti-Commintern Pact)—फ्रांस एवं अन्य यूरोपियन राष्ट्रों के सुरक्षा-जाल को काटने के लिए अपने साथियों की तलाश करते समय महान् कूट-नीतिज्ञ हिटलर ने मुसोलिनी का हृदय जीतने का प्रयास किया। अतः जब एबीसीनिया के प्रश्न पर राष्ट्रसघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए तो जर्मनी ने इटली का साथ दिया। इटली और जर्मनी आसानी से एक दूसरे के मित्र हो सकते थे क्योंकि साम्यवाद दोनों का ही सामान्य शत्रु था। दोनों एक ही सिद्धान्त में विश्वास करते थे और राज्य व्यवस्था की दृष्टि से दोनों में सादृश्यता थी। इटली पहले वर्साय-व्यवस्था का समर्थक था और इसको बनाए रखने में फ्रांस का सहयोगी था। मुसोलिनी ने हिटलर के उत्कर्ष का स्वागत नहीं किया था क्योंकि हिटलर प्रारम्भ से ही आस्ट्रिया पर आधिपत्य करना चाहता था जबकि इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का बहुत बड़ा समर्थक था, क्योंकि उसे यह सह्य नहीं था कि उसकी उत्तरी सीमा ब्रेनर के दर्रे पर आस्ट्रिया-जर्मनी के साथ मिल कर उसके लिए नया संकट पैदा कर दे। लेकिन अनेक मौलिक बातों पर मतभेद होने के कारण और भू-मध्य सागर पर अपने स्वार्थों के कारण इटली अधिक दिनों तक फ्रांस के पक्ष में भी नहीं रह सकता था। एबीसीनिया के युद्ध के कारण यूरोप की इन गुटबंदियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और जर्मनी तथा इटली के सम्बन्ध सुधरने लगे। **जर्मन-इटालियन गठबन्धन के लिए एबीसीनिया का युद्ध एक वरदान सिद्ध हुआ**। इस युद्ध के समय इटली के विरुद्ध, राष्ट्रसंघ द्वारा आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए गए जिनका सफल प्रतिरोध करने के लिए जर्मन सहायता की आवश्यकता पड़ी। मुसोलिनी ने अपने पूर्वाग्रह को छोड़ते हुए हिटलर के आस्ट्रिया को हड़पने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और जर्मनी ने युद्ध के समय इटली की अनेक प्रकार से मदद की। मुसोलिनी अब हिटलर की घनिष्ठ मैत्री का आकांक्षी हो गया। उसका कहना था कि वह

जर्मनी के साथ मिलकर वालशेविज्म अर्थात् साम्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करना चाहता है। उसने कहा कि वस्तुतः **जर्मन-इटली की मैत्री विश्व में "शांति स्थापना के लिए एक धुरी (Axis) है"**, यूरोप के अन्य शांति प्रिय राज्य इस धुरी के चारों ओर एकत्र होकर इस पुनीत कार्य में सहयोगी बनेंगे। **इसके बाद से ही जर्मनी और इटली तथा इनके गुट के अन्य राज्यों को धुरी-शक्तियां (Axis Powers) कहा जाने लगा।** इन्होंने जर्मनी के नेतृत्व में अपना मार्ग चुना। वे सभी वर्साय की व्यवस्था का उन्मूलन करने पर बल देने लगे।

जर्मनी को दूसरा बड़ा खतरा सोवियत संघ से था, अतः उसने २५ नवम्बर १९३६ को जापान के साथ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी कार्यवाहियों के विरुद्ध एक संधि करली। इस प्रकार जापान भी धुरी–राष्ट्रों के गुट में सम्मिलित हो गया। जापान १९३१ में मंचूरिया के मामले में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के कारण इंग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रांस से नाराज था। सन् १९३४ में समुद्री जहाजों की संख्या सीमित करने के प्रश्न पर जापान ने अमेरिका और अपने बेड़ों के ५:५:३ के अनुपात का घोर विरोध करते हुए समानता की मांग की। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा इस मांग की अस्वीकृति को जापान ने अपना राष्ट्रीय अपमान समझा और उसने इस अनुपात को निश्चित करने वाले पुराने समझौते को मानने से इन्कार कर दिया। जापान की इस नाराजगी का जर्मनी ने पूरा फायदा उठाया और उसके साथ उपरोक्त संधि करली। यह संधि कोमिंटर्न अर्थात् रूस से बाहर अन्य देशों में साम्यवाद का प्रसार करने वाली तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संस्था (Third Communist International) के विरुद्ध थी। इस सन्धि में यह निश्चित किया गया कि हस्ताक्षरकर्त्ता देश तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के कार्यों से एक–दूसरे को परिचित कराते रहेंगे, इससे रक्षा के उपायों पर परस्पर परामर्श करेंगे और इन्हें क्रियान्वित करने के लिये आपस में घनिष्ठ सहयोग रखेंगे। जर्मन-जापान की इस संधि पर एक वर्ष बाद ६ नवम्बर १९३७ को इटली ने भी हस्ताक्षर कर दिये। **इस प्रकार रोम–बर्लिन–धुरी अब रोम–बर्लिन–टोकियो–धुरी में परिणत हो गई।** तीन फासिस्ट तानाशाहों का यह मिलाप युद्धोत्तर काल के कूटनीतिक इतिहास का एक तर्कसंगत परिणाम था। इस समझौते में २४ फरवरी १९३९ को हंगरी और मंचूकाओ तथा २६ मार्च १९३९ को स्पेन भी शामिल हो गये।

हिटलर के उत्थान और उसकी कुटिल चालों के परिणामस्वरूप संसार एक बार फिर उस कुचक्र में आ गिरा, जिसमें वह प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व गिरा था। संसार के विभिन्न राज्य एक बार फिर दो शक्तिशाली एवं परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त हो चुके थे। एक गुट में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस,

सोवियत संघ, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका थे तो दूसरे गुट में जर्मनी, इटली और जापान थे। प्रथम गुट में अधिकांश सन्तुष्ट राज्य थे जिनके पास अपने विशाल साम्राज्य और प्रदेश थे, दूसरे गुट में असन्तुष्ट और साम्राज्य तथा उपनिवेश चाहने वाले राज्य थे। इस सम्बन्ध में एक बड़ी विचित्र बात यह थी कि हिटलर ने जिस धुरी-संगठन का निर्माण मित्रराष्ट्रों पर चोट करने के लिए किया था वह मित्रराष्ट्रों को इसलिये सुहाता रहा कि उन्होंने उस संगठन को सोवियत संघ के विरुद्ध शक्ति का एकीकरण समझा, और अन्त समय तक वे इस बात का पूरा अनुमान नहीं लगा सके कि यह साजिश उन्हीं के विरुद्ध हो रही थी।

अब हिटलर के सामने चैकोस्लोवाकिया का प्रश्न आया। २६ सितम्बर १६३८ को जर्मनी, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन म्यूनिख में हुआ और सारा सूडान प्रदेश जर्मनी को दे दिया गया। हिटलर की मृगतृष्णा इससे शान्त नहीं हुई और १६ मार्च १६३६ को, अपनी धमकियों की छाया में, चैक राष्ट्रपति से हिटलर ने एक ऐसे अधिकार पत्र पर हस्ताक्षर करवा लिये जिसमें चेकोस्लावाकिया ने जर्मनी की संरक्षता में रहना स्वीकार कर लिया।

नाजी-सोवियत अनाक्रमण समझौता (२३ अगस्त १६३६)—चैकोस्लोवाकिया की चौंका देने वाली घटना के शीघ्र बाद ही हिटलर ने अपनी एक दूसरी चाल से सम्पूर्ण मित्रराष्ट्रों को स्तब्ध कर दिया। अभी तक सोवियत रूस जर्मन-विरोधी गुट में समझा जाता था और हिटलर तथा मुसोलिनी साम्यवाद के विरुद्ध सदैव विष-वमन किया करते थे। साम्यवाद के विरोध में ही 'कोमिण्टर्न विरोधी समझौता' हुआ था। उस समय यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि जर्मनी और रूस जैसे दो कट्टर शत्रु कभी मैत्री का जामा पहन सकेंगे। किन्तु राजनीति में जो कुछ हो जाय, थोड़ा है। वास्तविक राजनीति (Real Politics) की आवश्यकताओं ने दोनों देशों को अपनी सुरक्षा के लिये ऐसा करने को बाधित किया और **२३ अगस्त १६३६ को दोनों देशों के मध्य अनाक्रमण समझौता और साथ ही एक गुप्त समझौता सम्पन्न हो गया।** रूस-जर्मन संधि ने समस्त मित्र एवं साथी राष्ट्रों को एकबारगी ही हिला डाला।

वस्तुतः इस समय मास्को में दो प्रकार की संधि वार्तायें चल रही थीं-पहली वार्ता ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के मध्य थी तथा दूसरी जर्मनी और रूस के मध्य। उस समय पोलैण्ड पर संभावित जर्मन आक्रमण के विषय में दोनों पक्ष रूस का सहयोग चाहते थे। मित्रराष्ट्रों ने रूस के साथ संधि करने का अथक प्रयास किया जो पोलैण्ड के इस दुराग्रह के कारण सफल नहीं

हो सका कि वह अपने देश में रूसी सेना का प्रवेश नहीं चाहता। दूसरी तरफ रूसियों की पहली शर्त यही थी कि आक्रमण की अवस्था में रूसी सेनाओं को पोलैण्ड में प्रवेश करने दिया जावे, क्योंकि तभी वे जर्मनी को अपने देश पर हमला करने से रोक सकते थे। मित्रराष्ट्रों के साथ संधि–वार्ता में गतिरोध होने पर रूस ने जर्मनी के साथ उपरोक्त समझौता कर लिया जिसमें यह तय हुआ कि दोनों देश एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ेंगे किसी तीसरे राज्य द्वारा उनमें से किसी पर भी आक्रमण होने की दशा में वे आक्रान्ता राज्य को सहायता नहीं देंगे और एक–दूसरे के विरुद्ध की जाने वाली गुटबंदियों से पृथक रहेंगे। इस संधि के साथ ही होने वाले गुप्त समझौते के अनुसार पूर्वी यूरोप को जर्मनी और रूस में बांटने की व्यवस्था की गई। यह गोपनीय समझौता १९४८ मे जाकर प्रकाशित हुआ।

नाजी–सोवियत अनाक्रमण समझौता होने में दूसरा सहायक कारण बाल्टिक राज्यों की स्वतंत्र स्थिति थी। जब तक जर्मनी पददलित और पंगु दशा में बना रहा तब तक इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया और फिनलैण्ड राज्यों की स्वतंत्र स्थिति से रूस ने कोई खतरा अनुभव नहीं किया, प्रत्युत वह इस आशा में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का पोषक बना रहा कि इन देशों में साम्यवादी क्रान्ति होने पर साम्यवादी शासन स्थापित हो जायेंगे। लेकिन १९३९ तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में महान् अन्तर आ चुका था। इस समय हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था जो बारम्बार साम्यवादी रूस के विध्वंस की बात किया करता था। इस अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने बाल्टिक राज्यों को असाधारण सामरिक महत्व दे दिया। फिनलैण्ड रूस के विख्यात नगर लेनिनग्राड से केवल १५ मील दूर था। अतः युद्ध की अवस्था में यदि बाल्टिक राज्य जर्मनी के साथ हो जाय तो रूस के लिये गम्भीर संकट पैदा हो सकता था। इस दशा में आत्मरक्षा की दृष्टि से रूस यह आवश्यक समझता था कि इन छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार करके बाल्टिक सागर में रूसी प्रभुत्व की स्थापना कर दी जाये। लेनिनग्राड की रक्षा के लिये रूस को सर्वाधिक चिन्ता इसलिए थी क्योंकि फिनलैण्ड की खाड़ी के दोनों ओर के प्रदेश और इस खाड़ी के अधिकांश टापू, सोवियत संघ से मैत्री न रखने वाले राज्यों के हाथ में थे। इस असुरक्षा की स्थिति को मिटाने के लिए रूस बाल्टिक राज्यों को अपने साथ मिलाये रखना चाहता था। अतः जब मित्रराष्ट्रों के साथ संधि करने और जर्मन विरोधी संघ का निर्माण करने की मास्को में चर्चा चली तो रूस ने एक महत्वपूर्ण शर्त यह रखी कि या तो बाल्टिक राज्यों तथा फिनलैण्ड को शांति–मोर्चे (Peace Front) में शामिल किया जाय या रूस को यह सुविधा प्रदान की जाय कि युद्ध छिड़ने की अवस्था

में वह इन राज्यों में अपनी सेनायें ले जा सके। किन्तु रूस की इस शर्त की पूर्ति नहीं हो सकती थी क्योंकि कोई भी बाल्टिक राज्य रूस द्वारा सुझाये गये विकल्पों को मानने को तैयार न था। ब्रिटेन इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता था कि वह इन स्वतंत्र राज्यों को रूसी शर्त मानने के लिये मनाने की कोशिश करे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि अपनी सुरक्षा का ख्याल रखते हुए रूस जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता करने का निश्चय कर लेता।

रूस से अनाक्रमण समझौता हिटलर की एक महान् कूटनीतिक विजय थी। रूस की तरफ से निश्चिन्त होते ही, समझौते के लगभग एक सप्ताह बाद ही पौलेण्ड के प्रश्न पर जर्मनी ने द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट कर दिया। इस रूस-जर्मन अनाक्रमण समझौते ने फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षा के लिये १९३५ में रूस से किये गये अनाक्रमण समझौते को बेकार बना दिया। फ्रांस के समस्त सुरक्षा प्रयास छिन्न-भिन्न हो गये और एक बार फिर १९४० में उसे जर्मन सेनाओं से पदाक्रान्त और पराजित होना पड़ा। पर विश्व के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि सफल कूटनीति से हिटलर की रण-नीति असफल रही और संसार हिटलर की महत्वाकांक्षाओं का शिकार होने से बच गया।

फ्रांस तथा अन्य देशों द्वारा सुरक्षा के लिये जो विभिन्न संधियां की गई उन्हें लैंगसम द्वारा वर्णित निम्नलिखित तालिका से अच्छी तरह समझा जा सकता है[1]—

फ्रेंच सधियां और समझौते	बेल्जियम (१९२०)	
	पोलैण्ड (१९२१)	लघु गुट (१९२०-२१)
	चैकोस्लोवाकिया (१९२४)	,,
	रूमानिया (१९२६)	,,
	यूगोस्लाविया (१९२७)	,,
	सोवियत रूस (१९३२, ३३)	
	इटली (१९३५)	
सोवियत संघ के अनाक्रमण समझौते	टर्की (१९२५, १९३५)	
	जर्मनी (१९२६)	
	अफगानिस्तान (१९२६)	
	लिथुआनिया (१९२६)	
	ईरान (१९२७)	

1. *Langsam* : World Since 1919, page 92.

	फिनलैण्ड, इस्टोनिया, पोलैण्ड (१९३१)	
	फ्रांस (१९३२, ३५)	
	लैटविया, चैकोस्लोवाकिया (१९३३)	
	यूगोस्लाविया, इटली (१९३३)	
	जर्मनी (१९३९)	
इटली के अनाक्रमण और तटस्थता के समझौते	चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया (१९२४)	
	रूमानिया, स्पेन (१९२५)	
	अलबानिया (१९२६, अपने राज्य में मिलाना १९३९)	
	हंगरी (१९२७)	
	तुर्की (१९२८)	(१९३०–१९३३)
	यूनान (१९२८)	"
	आस्ट्रिया (१९३०)	
	सोवियत रूस (१९३३)	
	फ्रांस (१९३५)	
	जर्मनी, जापान (१९३६)	
पोल संधियाँ और पैक्ट	फ्रांस, रूमानिया (१९२१)	
	लघु गुट (१९२२)	
	सोवियत रूस (१९३१–३४)	
	जर्मनी (१९३४)	
बाल्कान पैक्ट	यूनान	(१९३४)
	रूमानिया	"
	तुर्की	"
	यूगोस्लाविया	"

राष्ट्रसंघ द्वारा किये गये सुरक्षा के प्रयत्न

राष्ट्रसंघ विश्व-शांति का प्रत्याभूतक और शांति-व्यवस्था का प्रहरी था। परन्तु वह अपने इस महान् दायित्व को सफलतापूर्वक निभा सकेगा या नहीं, इसके बारे में विविध राष्ट्रों को शंका ही थी। विशेषत: फ्रान्स राष्ट्रसंघ की सुरक्षा प्रणाली से बहुत ही निराश था। वैसे संघ के संविदा के दसवें अनुच्छेद के कारण सदस्य-राष्ट्र तत्कालीन राजनीतिक और प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखने के लिए वचनबद्ध थे और सोलहवें अनुच्छेद में कर्तव्य-विमुख राष्ट्र के विरुद्ध अनुशास्तियों तथा दण्ड की व्यवस्था भी की गयी थी, किन्तु सैनिक कार्यवाही के लिए परिषद् की निर्विरोध सिफारिश आवश्यक थी। यही चिन्ता की बात थी, क्योंकि निर्विरोध सिफारिश की आशा कम ही की

जा सकती थी। फ्रांस संघ के संविधान को सुरक्षा की दृष्टि से अपर्याप्त और कमजोर समझता था क्योंकि–प्रथम तो इसमें आक्रमणात्मक कार्यवाही की स्पष्ट व्याख्या नहीं थी और दूसरे, आक्रमणकारी के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही का भी स्पष्ट निरूपण नहीं किया गया था।

फ्रान्स राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सभी साधनों का उपयोग करना चाहता था, अतः राष्ट्रसंघ में अविश्वास करते हुए भी वह उसकी उपेक्षा करने का इच्छुक नहीं था। अगर राष्ट्रसंघ के माध्यम से सामूहिक सुरक्षा और पारस्परिक सहायता के सिद्धान्तों को एक ठोस व्यावहारिक रूप दे दिया जाता तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति और भी सुरक्षित हो सकती थी। यही कारण था कि फ्रान्स ने अन्य देशों के साथ गुटबन्दियां करते हुए भी राष्ट्रसंघ के माध्यम से सुरक्षा और शांति के नाना-प्रयत्न किये। फ्रान्स के प्रयत्नों का उद्देश्य यह था कि आक्रमण की निश्चित परिभाषा दी जाये और साथ ही आक्रमणकारियों के विरुद्ध कौन सी कार्यवाही की जायेगी इसका भी स्पष्टीकरण किया जाय, क्योंकि केवल आर्थिक प्रतिबन्ध सुरक्षा-समस्या को सुलझाने में अपर्याप्त थे।

फ्रान्स एवं अन्य विविध देशों के द्वारा राष्ट्रसंघ की परिधि में सुरक्षा के विभिन्न प्रयत्न किये गये जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं–

(१) पारस्परिक सहायता की संधि का मसविदा (Draft Treaty of Mutual Assistance).
(२) जेनेवा प्रोटोकोल (Geneva Protocol)
(३) लोकार्नो संधियां (Locarno Treaties)
(४) पेरिस-पैक्ट या केलॉग-ब्रियां समझौता (Pact of Paris or Kellog-Briano Pact).
(५) जनरल एक्ट, १९२८ (The General Act, 1928)
(६) निःशस्त्रीकरण (Disarmament)

अब हम इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन करेंगे।

(१) पारस्परिक सहायता–सन्धि का मसविदा (Draft Treaty of Mutual Assistance):—प्रारम्भ से ही अनेक राष्ट्र लीग की शांति-स्थापना की योग्यता के प्रति संदेह युक्त थे, साथ ही वे अपने-अपने स्वार्थों से निर्देशित थे। युद्ध की समाप्ति के बाद आदर्शवाद के उत्साह में इन देशों ने राष्ट्रसंघ के संविदा अथवा प्रतिज्ञा–पत्र (Covenant) पर हस्ताक्षर कर दिये थे, किन्तु वे इसकी जिम्मेदारियों से बचना चाहते थे। संघ के सदस्यों में दो दृष्टिकोण व्याप्त थे। कुछ सदस्य-राज्य संविदा की सुरक्षा-व्यवस्थाओं को दुर्बल बनाने को प्रयत्नशील थे तो कुछ इन व्यवस्थाओं को शक्तिशाली बनाना चाहते थे।

१९२० की राष्ट्रसंघ की पहली असेम्बली में कनाडा ने प्रादेशिक अखण्डता वाली दसवीं धारा को विधान से निकालने का प्रस्ताव रखा था। १९२१ की दूसरी असेम्बली में डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन ने सोलहवीं धारा में संविदा के उल्लंघनकर्त्ता राष्ट्रों के विरुद्ध लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में यह संशोधन प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य अपना यह निर्णय करने में स्वतंत्र हो कि वास्तव में प्रस्तुत अवस्था में संविदा का उल्लंघन हुआ है अथवा नहीं, और यदि परिषद् यह निर्णय करे कि उल्लंघन हुआ है तथा इस सम्बन्ध में सदस्यों को भी वह अपना मत पहुंचा दे तो भी उस मत को बाध्यकारी नहीं होना चाहिए। प्रस्ताव में यह कहा गया कि प्रत्येक सरकार अपने लिए अनुमोदनों का रूप निर्धारित करेगी चाहे वे अनुमोदन कूटनीतिक हों, आर्थिक हों या सैनिक हों, और ये अनुमोदन धीरे-धीरे लागू किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी आग्रह किया गया कि युद्ध के आश्रय से संघ के सभी सदस्यों के साथ युद्ध की अवस्था आप ही आप उत्पन्न नहीं होगी। **स्पष्टतः इस प्रस्ताव का उद्देश्य और संविदा की सौलहवीं धारा की इस नवीन व्याख्या का अर्थ "संयुक्त सुरक्षा-व्यवस्था" का हृदय विदीर्ण करना था।** १९२३ की राष्ट्रसंघ की चौथी असेम्बली में कनाडा का यह प्रस्ताव पेश हुआ कि दसवीं धारा के अनुसार प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा के लिए परिषद् कोई उपाय सुझाते समय प्रत्येक राज्य की भौगोलिक तथा सामान्य स्थिति का ध्यान रखेगी और प्रत्येक देश की संसद स्वयं यह तय करेगी कि वह अपने साथी राज्यों की सुरक्षा के लिए क्या सहायता दे सकती है। यद्यपि कनाडा का यह प्रस्ताव ईरान के विरोध के कारण पास न हो सका किन्तु यह तथ्य अत्यधिक महत्व का था कि इस प्रस्ताव को २९ राज्यों का समर्थन प्राप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट हो गया कि किसी देश पर आक्रमण होने की दशा में अन्य देशों द्वारा उसे सहायता देने की आशा विशेष उज्जवल नहीं है। असेम्बली की दूसरी बैठक में आक्रान्ता देश के विरुद्ध प्रतिबन्धों की व्यवस्था करने वाली धारा सौलह के सम्बन्ध में १९ प्रस्ताव स्वीकृत हुए जिनका सबका आशय प्रतिबन्धों की व्यवस्था को शिथिल बनाना था। एक फ्रेंच आलोचक रे के शब्दों में **"इन प्रस्तावों में मूल धारा सौलह के स्थान पर कोई अन्य व्यवस्था न करते हुए इसे बिल्कुल पंगु बना दिया।"**

राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-व्यवस्था को दुर्बल बनाने के इन प्रयत्नों से फ्रांस बड़ा चिन्तित और विक्षुब्ध हो गया। उसके और अन्य राष्ट्रों के प्रयत्नों के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ की तीसरी असेम्बली ने निःशस्त्रीकरण प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त किये गये अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) से अनुरोध किया कि वह पारस्परिक सुरक्षा संबंधी

एक संधि का मसविदा तैयार करे। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड सेसिल (Lord Cecil) तथा फ्रेंच प्रतिनिधि कर्नल रैक्विन (Lt. Colonel Requin) ने पारस्परिक सुरक्षा सहायता सम्बन्धी दो मसविदे आयोग के सामने प्रस्तुत किये। इन दोनों का समन्वय किया गया और १६२२-२३ में पारस्परिक सहायता संधि का प्रारूप (The Draft Treaty of Mutual Assistance) तैयार हुआ। इस संधि के मसविदे में निम्नलिखित चार प्रस्ताव रखे गये—

(१) सब देशों को शस्त्रास्त्रों में कमी करनी चाहिए।

(२) शस्त्रास्त्र तभी घटाए जायं जबकि सुरक्षा का संतोषजनक आश्वासन मिल सके।

(३) ये आश्वासन (Guarantees) सामान्य होने चाहियें।

(४) इस प्रकार के आश्वासन उन्हीं देशों को दिए जायं जो शस्त्रास्त्र घटाने को तैयार हों।

राष्ट्रसंघ की चौथी सभा ने सितम्बर १६२३ में इन प्रस्तावों पर विचार किया और इनके आधार पर दो नए प्रस्ताव लार्ड सेसिल व कर्नल राक्विन द्वारा पेश किए गए और इनके आधार पर **पारस्परिक सहायता संधि का मसविदा या प्रारूप** तैयार किया गया। तत्पश्चात् इसकी प्रतियां राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों और अन्य विभिन्न गैर-सदस्य देशों के पास सम्मति एवं स्वीकृति के लिए प्रेषित कर दी गयीं।

संधि के प्रारूप का स्वरूपः—इस संधि के प्रारूप में यह घोषित किया गया था कि आक्रमणात्मक युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है तथा संधि को स्वीकार करने वाले देशों को यह वचन देना चाहिए कि उनमें से कोई भी ऐसा करने का अपराधी नहीं होगा। प्रारूप में लिखा गया कि युद्ध आरम्भ होने की दशा में चार दिन के भीतर राष्ट्रसंघ की परिषद् को यह निर्णय देना होगा कि आक्रमणकारी कौन है और आक्रांत देश को सहायता देने के लिए कौन से वित्तीय एवं सैनिक उपाय बर्ते जायं। सैनिक सहायता देने के लिए उन्हीं देशों से अनुरोध किया जाना था जो उसी गोलार्द्ध (Hemisphere) में स्थित हों जिसमें आक्रमणकारी राष्ट्र स्थित हैं। सैन्यबल के प्रयोग का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों पर नहीं वरन् केवल संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों पर रखा गया। ऐसे देश भी इस संधि को स्वीकार कर सकते थे जो राष्ट्रसंघ के सदस्य न हों। इस प्रारूप में यह भी व्यवस्था दी गई थी कि इसे स्वीकार करने वाले देशों को दो वर्ष के भीतर अपने शस्त्रास्त्र कम कर देने चाहियें अन्यथा उन्हें आक्रमण के विरुद्ध सामान्य सहायता नहीं दी जायगी। स्पष्ट है कि संधि के इस प्रारूप का निःशस्त्रीकरण से गहरा

संधि के प्रारूप में दी गयी व्यवस्थायें यह प्रकट करती हैं कि राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ करने का यह पहला महत्वपूर्ण प्रयास था। गेथोर्न हार्डी के शब्दों में—**"संधि का यह मसविदा एक आम गारन्टी और स्थानीय मैत्रियों की प्रणाली के अपने-अपने लाभों को समन्वित करने और उनकी त्रुटियों को दूर करने का एक अत्यधिक बुद्धिमत्तापूर्ण यत्न था।** इसमें युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध बताया गया था, और प्रत्येक हस्ताक्षरकर्त्ता पर सम्मिलित रूप से और पृथक-पृथक रूप से यह दायित्व था कि वह आक्रमणात्मक युद्ध में दूसरे की सहायता करे पर सैनिक, नौ-सैनिक या वायु-सैनिक कार्यवाही करने का दायित्व सिर्फ उन राज्यों पर डाला गया था, जो उस महाद्वीप में स्थित हों, जिसमें वह आक्रमण हुआ है।"[1] **श्री कार (Carr) के अनुसार सन्धि के प्रारूप में दी गई "व्यवस्था का उद्देश्य न केवल संविदा के अनुच्छेद १६ की मिट्टी खराब होने से बचाना था, जैसा कि साधारण-सभा में १९२१ के प्रस्तावों के समय उसकी हुई थी, अपितु सैनिक अनुशास्तियों को अपने आप ही लागू होने योग्य और अनिवार्य बना कर उस अनुच्छेद को दृढ़ बनाना भी था।"**[2]

संधि के प्रारूप का अस्वीकृत होना—अपने अनेक गुणों के बावजूद भी प्रारूप संधि को असफलता का मुंह देखना पड़ा। संधि के प्रारूप पर प्राप्त उत्तरों से पता चला कि १८ राष्ट्रों ने जिनमें फ्रान्स, इटली और जापान भी थे, सैद्धान्तिक तौर पर संधि को स्वीकार कर लिया था और १२ राज्यों ने जिनमें ब्रिटेन, जर्मनी, अमेरिका तथा रूस भी थे, संधि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। संधि को अस्वीकार करने वाले राज्यों की शिकायत थी कि संधि के प्रारूप में आक्रमण की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गयी है और आक्रमणकारी राज्य के साथ कठोर व्यवहार करने के लिए राष्ट्रसंघ-परिषद्

---

1. "The Draft Treaty was a highly ingenious attempt to combine the respective advantages of a general guarantee and a local system of alliances, while obviating their defects."
—*Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs, page 68.

2. "The effect was therefore not merely to counteract the whittling-away process which Article 16 of the Covenant had undergone *in the Assembly Resolutions of 1921*, but to strengthen that Article by making military sanctions automatic and obligatory."
—*E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, page 89.

को पर्याप्त अधिकार नहीं मिले हैं। विरोधी राज्यों का यह भी कहना था कि संधि में उस स्थिरता और विश्वसनीयता का अभाव है जो शस्त्रीकरण में विघटन का आवश्यक आधार है। ब्रिटेन, जो कि संधि के प्रारूप का मुख्य प्रस्तावक था, प्रारूप पर स्वीकृति देने से इसलिए मुकर गया था कि १९२३ में रैमजे मेक्डोनेल्ड के प्रधानमंत्रित्व में स्थापित श्रमदलीय सरकार इसे मानने को तैयार नहीं थी। उसने इस प्रारूप का घोर विरोध किया क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य विश्व-व्यापी था, अतः इससे ब्रिटिश सरकार के उत्तरदायित्व सारे संसार में ही शांति बनाने के लिए हो सकते थे। प्रारूप में उल्लेख था कि युद्ध क्षेत्र के पास वाले स्थानीय राज्य सैनिक सहायता द्वारा आक्रमणकारी को रोकने के अधिकारी होंगे। इसका अभिप्राय था कि विश्व के किसी गोलार्द्ध में युद्ध छिड़ जाने पर उस गोलार्द्ध में अवस्थित ब्रिटिश साम्राज्य के प्रदेश आक्रान्त (जिस पर आक्रमण हुआ हो) देश को सहायता देंगे जबकि अन्य प्रदेशों के राज्यों को तटस्थ ही रहना होगा। ग्रेट ब्रिटेन के लिए यह स्थिति एकदम अवांछनीय थी। उसने यह अनुभव किया कि ऐसी योजना द्वारा उसके ऊपर आतंक को दबाए रखने का बहुत अधिक भार पड़ जायगा। प्रारूप का एक अन्य दोष यह माना गया कि राष्ट्रसंघ की परिषद् को आक्रान्ता (आक्रमणकारी) के निर्णय करने आदि को बड़े व्यापक अधिकार दिए गए थे जिसे ब्रिटेन एवं अन्य देश उचित नहीं समझते थे।

इन सब कठिनाइयों और दोषों के कारण शांति एवं सुरक्षा का यह पहला राष्ट्रसंघीय प्रयास विफल हो गया।

(२) **जेनेवा प्रोटोकोल (Genova Protocol)**—प्रारूप-संधि ने अपनी असफलता के उपरांत भी यूरोपीय देशों को एक सही मार्ग बतला दिया और यह अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा कि एक अधिक स्थायी आधार पर सुरक्षा की स्थापना का कोई अन्य ढंग खोजा जाय। इस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति परिस्थितिक में भी बड़ा अन्तर आगया था। ब्रिटेन में स्थापित प्रथम श्रमदलीय सरकार का प्रधानमन्त्री रैमजे मेकडोनेल्ड स्वभाव से शान्तिवादी था और यूरोप से युद्ध की प्रवृत्ति को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता था। सौभाग्य से जब वह प्रधानमन्त्री बना तभी फ्रांस में उग्रवादी पोयन्केर (Poincare) के स्थान पर उदारवादी एरियो (Herriot) की सरकार बनी। शांतिवादी इन दो प्रधानमन्त्रियों के प्रयत्नों से समझौतेवादी वातावरण को सहारा मिला। इनके और अन्य राष्ट्रों के प्रयत्नों से डावेस योजना द्वारा क्षतिपूर्ति की जटिल समस्या का एक अस्थायी हल निकल जाने से भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में तनाव कम हुआ। इन सुधरी हुई परिस्थितियों में राष्ट्रसंघ द्वारा सुरक्षा की समस्या को हल करने के प्रयास पुनः आरम्भ हुए।

संधि के प्रारूप में दी गयी व्यवस्थायें यह प्रकट करती हैं कि राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ करने का यह पहला महत्वपूर्ण प्रयास था। गेथोर्न हार्डी के शब्दों में—**"संधि का यह मसविदा एक आम गारन्टी और स्थानीय मैत्रियों की प्रणाली के अपने-अपने लाभों को समन्वित करने और उनकी त्रुटियों को दूर करने का एक अत्यधिक बुद्धिमत्तापूर्ण यत्न था।** इसमें युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध बताया गया था, और प्रत्येक हस्ताक्षरकर्त्ता पर सम्मिलित रूप से और पृथक-पृथक रूप से यह दायित्व था कि वह आक्रमणात्मक युद्ध में दूसरे की सहायता करे पर सैनिक, नौ-सैनिक या वायु-सैनिक कार्यवाही करने का दायित्व सिर्फ उन राज्यों पर डाला गया था, जो उस महाद्वीप में स्थित हों, जिसमें वह आक्रमण हुआ है।"[1] **श्री कार (Carr) के अनुसार सन्धि के प्रारूप में दी गई "व्यवस्था का उद्देश्य न केवल संविदा के अनुच्छेद १६ की मिट्टी खराब होने से बचाना था, जैसा कि साधारण-सभा में १९२१ के प्रस्तावों के समय उसकी हुई थी, अपितु सैनिक अनुशास्तियों को अपने आप ही लागू होने योग्य और अनिवार्य बना कर उस अनुच्छेद को दृढ़ बनाना भी था।"**[2]

संधि के प्रारूप का अस्वीकृत होना—अपने अनेक गुणों के बावजूद भी प्रारूप संधि को असफलता का मुंह देखना पड़ा। संधि के प्रारूप पर प्राप्त उत्तरों से पता चला कि १८ राष्ट्रों ने जिनमें फ्रान्स, इटली और जापान भी थे, सैद्धान्तिक तौर पर संधि को स्वीकार कर लिया था और १२ राज्यों ने जिनमें ब्रिटेन, जर्मनी, अमेरिका तथा रूस भी थे, संधि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। संधि को अस्वीकार करने वाले राज्यों की शिकायत थी कि संधि के प्रारूप में आक्रमण की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गयी है और आक्रमणकारी राज्य के साथ कठोर व्यवहार करने के लिए राष्ट्रसंघ-परिषद्

---

1. "The Draft Treaty was a highly ingenious attempt to combine the respective advantages of a general guarantee and a local system of alliances, while obviating their defects."
—*Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs, page 68.

2. "The effect was therefore not merely to counteract the whittling-away process which Article 16 of the Covenant had undergone in the Assembly Resolutions of 1921, but to strengthen that Article by making military sanctions automatic and obligatory."
—*E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, page 89.

को पर्याप्त अधिकार नहीं मिले हैं। विरोधी राज्यों का यह भी कहना था कि संधि में उस स्थिरता और विश्वसनीयता का अभाव है जो शस्त्रीकरण में विघटन का आवश्यक आधार है। ब्रिटेन, जो कि संधि के प्रारूप का मुख्य प्रस्तावक था, प्रारूप पर स्वीकृति देने से इसलिए मुकर गया था कि १९२३ में रैमजे मेक्डोनेल्ड के प्रधानमंत्रित्व में स्थापित श्रमदलीय सरकार इसे मानने को तैयार नहीं थी। उसने इस प्रारूप का घोर विरोध किया क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य विश्व-व्यापी था, अतः इससे ब्रिटिश सरकार के उत्तरदायित्व सारे संसार में ही शांति बनाने के लिए हो सकते थे। प्रारूप में उल्लेख था कि युद्ध क्षेत्र के पास वाले स्थानीय राज्य सैनिक सहायता द्वारा आक्रमणकारी को रोकने के अधिकारी होंगे। इसका अभिप्राय था कि विश्व के किसी गोलार्द्ध में युद्ध छिड़ जाने पर उस गोलार्द्ध में अवस्थित ब्रिटिश साम्राज्य के प्रदेश आक्रान्त (जिस पर आक्रमण हुआ हो) देश को सहायता देंगे जबकि अन्य प्रदेशों के राज्यों को तटस्थ ही रहना होगा। ग्रेट ब्रिटेन के लिए यह स्थिति एकदम अवांछनीय थी। उसने यह अनुभव किया कि ऐसी योजना द्वारा उसके ऊपर आतंक को दबाए रखने का बहुत अधिक भार पड़ जायगा। प्रारूप का एक अन्य दोष यह माना गया कि राष्ट्रसंघ की परिषद् को आक्रान्ता (आक्रमणकारी) के निर्णय करने आदि को बड़े व्यापक अधिकार दिए गए थे जिसे ब्रिटेन एवं अन्य देश उचित नहीं समझते थे।

इन सब कठिनाइयों और दोषों के कारण शांति एवं सुरक्षा का यह पहला राष्ट्रसंघीय प्रयास विफल हो गया।

(२) **जेनेवा प्रोटोकोल (Genova Protocol)**—प्रारूप-संधि ने अपनी असफलता के उपरांत भी यूरोपीय देशों को एक सही मार्ग बतला दिया और यह अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा कि एक अधिक स्थायी आधार पर सुरक्षा की स्थापना का कोई अन्य ढंग खोजा जाय। इस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति परिस्थितिक में भी बड़ा अन्तर आगया था। ब्रिटेन में स्थापित प्रथम श्रमदलीय सरकार का प्रधानमन्त्री रैमजे मेकडोनेल्ड स्वभाव से शान्तिवादी था और यूरोप से युद्ध की प्रवृत्ति को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता था। सौभाग्य से जब वह प्रधानमन्त्री बना तभी फ्रांस में उग्रवादी पोयन्केर (Poincare) के स्थान पर उदारवादी एरियो (Herriot) की सरकार बनी। शांतिवादी इन दो प्रधानमन्त्रियों के प्रयत्नों से समझौतेवादी वातावरण को सहारा मिला। इनके और अन्य राष्ट्रों के प्रयत्नों से डावेस योजना द्वारा क्षतिपूर्ति की जटिल समस्या का एक अस्थायी हल निकल जाने से भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में तनाव कम हुआ। इन सुधरी हुई परिस्थितियों में राष्ट्रसंघ द्वारा सुरक्षा की समस्या को हल करने के प्रयास पुनः आरम्भ हुए।

इस बार यह अनुभव किया गया कि प्रारूप–संधि के दो आधारों "निःशस्त्रीकरण' और "सुरक्षा" में 'पंचायत' (Arbitration) को सम्मिलित कर दिया जाना चाहिए। इस तरह जहां पहले आक्रांता निश्चित करने के निर्णय का भार सघ की परिषद् पर छोड़ा गया था वहां अब यह भार मध्यस्थ या पंच पर छोड़ा जाना था। मेकडोनेल्ड इन विवादों पर मध्यस्थ के निर्णय अथवा पंच–निर्णय (Arbitration) का पक्षपाती था।

सितम्बर १९२४ में ब्रिटेन और फ्रांस के दोनों समाजवादी उदार प्रधान-मन्त्रियों (मेकडोनेल्ड एवं एरियो) ने निःशस्त्रीकरण, सुरक्षा तथा न्याय पर आधारित शस्त्रीकरण में विघटन सम्बन्धी एक संयुक्त प्रस्ताव राष्ट्रसंघ की पांचवीं सभा (Assembly) में प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव के आधार पर यूनानी प्रतिनिधि पोलिटिस (Politis) तथा चैकोस्लोवाक प्रतिनिधि बेनेस (Benes) ने एक योजना तैयार की जिसे राष्ट्रसंघ की सभा ने २ अक्टूबर १९२४ को स्वीकार कर लिया। **यही योजना जेनेवा प्रोटोकोल (Geneva Protocol) के नाम से प्रसिद्ध हुई।** इसका वास्तविक नाम "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए उप-संधि" (Protocol for the Pacific Settlement of International Disputes) है।

जेनेवा प्रोटोकोल की मुख्य व्यवस्थाएं–"पंचायत, निःशस्त्रीकरण और सुरक्षा" पर आधारित जेनेवा प्रोटोकोल की प्रमुख व्यवस्थाएं निम्नलिखित थीं—

(१) युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध माना जायगा और प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र आत्मरक्षा तथा राष्ट्रसंघ के आदेशों के पालन की दो अवस्थाओं को छोड़कर अन्य किसी अवस्था में युद्ध नहीं करेंगे।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के लिए अनिवार्य पंचायत (Compulsory arbitration) ही विधिवत तरीका है। यदि कोई राष्ट्र विवाद को सुलझाने के शांतिमय तरीके को अपनाने से अस्वीकार कर दे अथवा परिषद् (Council) सहित अन्य किसी मान्य तीसरे दल के फैसले को न माने अथवा परिषद् के बनाये गये अस्थायी उपायों का उल्लंघन करे तो वह राष्ट्र आक्रमणकारी ठहराया जायेगा। यदि परिषद् सर्वसम्मति से कोई निर्णय न ले पाये तो वह दो–तिहाई बहुमत से पक्ष–विपक्ष के दलों के बीच संघर्ष स्थगित करने की सलाह देगी और जो इस सलाह को अस्वीकार या इसका उल्लंघन करेंगे वे आक्रमणकारी ठहराये जायेंगे।

(३) जब परिषद् आक्रमणकारी ठहरा देगी तो वह प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों को आर्थिक एवं सैनिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए

आमन्त्रित करेगी। प्रोटोकोल में प्रतिवन्ध लगाने के तरीकों का विशद् विवरण दिया गया था।

(४) विभिन्न देशों के सभी वैधानिक झगड़ों का निर्णय अनिवार्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय द्वारा किया जायेगा।

(५) जिस समय न्यायालय अथवा परिषद् विवाद पर विचार कर रही होगी उस अवधि में कोई सैनिक तैयारी नहीं की जायगी।

(६) राष्ट्रसंघ विधान की धारा ११ के अनुसार घरेलू अधिकार क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) के विषयों पर भी संघ विचार कर सकेगा।

(७) युद्ध का सारा व्यय आक्रमणकारी राष्ट्र को अदा करना होगा।

(८) यदि १ मई १९२५ तक परिषद् के स्थायी सदस्यों का बहुमत और राष्ट्रसंघ के अन्य दस सदस्य इस प्रोटोकोल को स्वीकार करलें तो १५ जून १९२५ को जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन किया जायेगा।

जेनेवा प्रोटोकोल की समीक्षा–लाभ की दृष्टि से वास्तव में प्रोटोकोल राष्ट्रसंघ के नियमों में प्रगतिपूर्ण संशोधन था। इसकी यह प्रमुख नवीनता थी कि इसके द्वारा राष्ट्रसंघ के अनुबन्ध–पत्र में सुधार करना और पंच-निर्णय का आश्रय लेना अनिवार्य बनाकर अतिरिक्त सुरक्षा की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया था।[1] प्रोटोकोल ने आक्रमण के लक्षण, आक्रांता के विरुद्ध कठोर कार्यवाही, निःशस्त्रीकरण और मध्यस्थता के मार्ग द्वारा सुरक्षा-समस्या के समाधान की श्रेष्ठ आधार–भूमि प्रस्तुत की थी। संघ के संविदा में पहले दो बड़ी खामियां थीं—एक तो परिषद् के निर्णय के लिए सर्वसम्मत्ति की आवश्यकता थी जिसके अभाव में परिषद् बेकार थी और सर्वसम्मत्ति सरलता से प्राप्त भी नहीं हो सकती थी, दूसरी खामी यह थी कि राष्ट्रसंघ को घरेलू मामलों में कोई अधिकार क्षेत्र नहीं था। प्रथम दोष के निराकरण के लिए प्रोटोकोल ने सभी वैधानिक मामलों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने ले जाने का प्रबन्ध किया और यह व्यवस्था दी कि इस अदालत के निर्णय मान्य होंगे। दूसरा दोष भी घरेलू मामलों को सान्त्वना के तरीके से (Procedure of Concilation) निपटाने की व्यवस्था करके दूर किया गया। इसने राष्ट्रसंघ द्वारा घरेलू अधिकार क्षेत्र पर विचार की व्यव-

---

1. "The Principal novelty of the Protocol was its attempt to improve on the Covenant and to provide additional security through compulsory resort to arbitration."
—E. H Carr : op. cit.; page 90.

स्था कर दी। इस व्यवस्था से फ्रांस की सुरक्षा का भी बड़े अंश तक समाधान हो जाता था क्योंकि वर्साय की व्यवस्था की इसके द्वारा सुरक्षा होती थी।

किन्तु जेनेवा प्रोटोकोल फिर भी **दोषरहित नहीं था। प्रथम** तो संविदा के सौलहवें अनुच्छेद के अन्तर्गत परिषद् की शक्ति को मजबूत बनाने की ओर कोई प्रयत्न इसके द्वारा नहीं किया गया और न ही सैनिक वचनों को दायित्वपूर्ण बनाने के लिए कोई व्यवस्था दी गई। **दूसरे,** इसमें सुरक्षा का अर्थ १६१६ की "यथा–स्थिति" को कायम रखना मान लिया गया और उसमें आवश्यक संशोधनों के लिए कोई उपयुक्त प्रबन्ध नहीं किया। स्पष्ट है कि फ्रांस की जो मांग थी, उसकी पूर्ति करने की दिशा में प्रोटोकल में कोई खास कदम नहीं उठाया गया था सिवाय इसके कि वर्साय की संधि के अन्तर्गत क्षेत्रीय व्यवस्था को चिरस्थायी मान लिया गया। ई० एच० कार के कथनानुसार "दूसरे शब्दों में, प्रारूप में दिया हुआ यह बल तत्पश्चात् अनुबन्धन-पत्र की अन्य कई खामियों में से एक कहकर पुकारा गया—और यह थी इसकी १६१६ के समझौते और सुरक्षा में साम्य स्थापित करने की प्रवृत्ति एवं उस समझौते के सशोधन के लिए पर्याप्त संगठन करने की भूल।"[1]

जेनेवा प्रोटोकोल की स्वीकृति और उसके पतन के कारण—कूटनीतिक क्षेत्र में जेनेवा प्रोटोकोल को वही स्वागत मिला जो पारस्परिक सहायता संधि के प्रारूप को मिला था। प्रोटोकोल पर केवल उन्हीं १७ राज्यों ने हस्ताक्षर किये जिन्होंने सिद्धान्त: प्रारूप संधि को स्वीकार किया था। यद्यपि ब्रिटेन इस योजना के प्रारम्भ कर्ताओं में से था, परन्तु उसने और उसके उपनिवेशों ने ही इसका सर्वाधिक विरोध किया। २५ मार्च १६२५ को ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ की परिषद के सामने प्रोटोकोल की अस्वीकृति की घोषणा कर दी। ब्रिटिश स्वीकृति के अभाव में जेनेवा प्रोटोकोल का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं रह गया और फ्रांस को एक बार फिर ब्रिटेन के कारण निराशा पानी पड़ी।

प्रश्न उठता है कि ग्रेट ब्रिटेन ने ऐसा क्यों किया? इसके कारण प्राय: निम्नलिखित बताये जाते हैं—

---

1. "In other words, the Protocol accentuated what was after wards attacked as one of the weaknesses of the Covenant: its tendency to identify security with the maintenance of the 1919 settlement, and its failure to provide adequate machiry for the revision of that settlement."

पहला कारण यह समझा जाता है कि नवम्बर १९२४ में श्रमदलीय ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का पतन हो जाने के बाद शासनारूढ़ होने वाले बाल्डविन के अनुदार दल ने इसे अस्वीकार कर दिया। अनुदार दल वालों का कहना था कि विशेष आकांक्षापूर्ण संस्थाओं का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि इनके उत्तरदायित्व को निभाना पीछे कठिन हो जाएगा। इसलिये वे ऐसी कागजी संस्था से सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहते थे जिसका भविष्य संदिग्ध हो।

दूसरा कारण यह था कि ब्रिटेन यूरोप के झगड़ों में पड़ने का अनिच्छुक था।

तीसरे, अनुदार दल वाले केवल सैद्धान्तिक बातों पर आधारित एवं जनमत से कहीं आगे ऐसे प्रोटोकोल में अनुभव-तर्क का अभाव देख रहे थे।

चौथे, ब्रिटेन को यह आशंका थी कि ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें राष्ट्रसंघ अमेरिका जैसे किसी ऐसे देश को आक्रमणकारी घोषित कर दे जो राष्ट्रसंघ का सदस्य न हो। ब्रिटेन अमेरिका से झगड़ा मोल लेने की सम्भावना का भी स्वागत करने को तैयार नहीं था।

पांचवें, हार्डी का मत है कि ब्रिटिश सरकार का विरोध मुख्य रूप से इसके उपनिवेशों के विरोध के आधार पर था।[1] ब्रिटेन के स्वायत्तशासी उपनिवेश यूरोपीय संकट-स्थलों से बहुत दूर थे और यूरोपीय झंझटों में फंसना नहीं चाहते थे। कनाड़ा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड और भारत की सरकारें दो कारणों से घबरा रही थीं—एक तो यह कि प्रोटोकोल घरे- नीति में भी विदेशी हस्तक्षेप की अनुमति देता था और दूसरी यह यूरोप की सीमाओं के लिये किये जाने वाले विवादों में हाथ बंटाने होना पड़ता। कनाडियन प्रतिनिधि डैन्ड्यूरेन्ड (Dandurand शब्दों में कहा था—"युद्ध की अग्नि के विरुद्ध किये जा रहे इस बीमे में विभिन्न देशों के खतरे बराबर नहीं हैं। हम ज्वलनशील दूर अग्नि से सर्वथा सुरक्षित घर में रहते हैं।" भारत ने प्रो इसलिये विरोध किया कि एशिया में अशांति होने पर आर्थिक प्र जाने से उसका भारी बोझ उसे झेलना पड़ेगा।

व को पुनः
प्रस्ताव का
द्ध तथा जर्मनी
पार हो गया।
और

छठे, उपरोक्त देशों को यह भी बुरा लगा कि क्षेत्रीय व्यवस्था को न्यायपूर्ण न स्वीकार करने वाले जनमत प्रोटोकोल ने इसका समर्थन किया।

सातवें, सब विवादों में अनिवार्य मध्यस्थता या पंचाय Arbitration) का विचार बड़ा क्रान्तिकारी और मौलि

---

1. *Gathorn Hardy* : A Short History of Inte page 71-72.

की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं था। इसलिये ब्रिटिश जनता इसे स्वीकार करने को तैयार न थी।

आठवें, यह व्यवस्था कि आक्रांता को युद्ध का सब खर्चा भुगतना पड़ेगा, अबुद्धिमत्तापूर्ण थी क्योंकि इससे हर एक स्थिति में राष्ट्रसंघ की कार्य-वाहियों पर नियन्त्रण हो जाता है।

नवें, प्रतिबन्धों का प्रश्न संधिपत्र में ठीक से स्पष्ट नहीं किया गया यद्यपि राष्ट्रसंघ के निर्णय का उल्लंघन करने की नई सम्भावनाएं पैदा हो गयीं।

उपरोक्त सभी कारणों से जेनेवा प्रोटोकोल अस्वीकृत हो गया। यद्यपि राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-प्रणाली को सबल बनाने का यह दूसरा प्रयत्न भी असफल रहा, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि "यह प्रोटोकोल भू-मण्डल पर कानून द्वारा शान्ति स्थापित करने का बड़ा साहसपूर्ण प्रयास था।"[1] कार ने प्रोटोकोल का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन करते हुए लिखा है—

"इसने फ्रांस की सुरक्षा की मांग को पारस्परिक सहायता की संधि के मस्विदे की अपेक्षा इस दृष्टि से कम मात्रा में पूरा किया कि इसमें सैनिक कार्यवाही को आवश्यक नहीं बनाया गया था, इसने राष्ट्रसंघ के विधान की धारा १६ के अधीन कौंसिल के अधिकारों को सुदृढ़ नहीं किया। ....किन्तु प्रोटोकोल से फ्रांस की एक महत्वपूर्ण इच्छा-
.१६१६ के शान्ति समझौते और प्रादेशिक व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने
सहायता सााषा पूरी हो गई क्योंकि इस प्रोटोकोल का निर्माण करने वाली
ने हस्ताक्ष ने अपनी रिपोर्ट में यह स्पष्ट लिखा था कि वर्साय या पेरिस की
यद्यपि ब्रिटेनियों की किसी व्यवस्था का संशोधन इस प्रोटोकोल के अन्तर्गत
उपनिवेशों ने . विवाद का विषय नहीं वन सकता। इस प्रकार इस प्रोटोकोल
नें राष्ट्रसंघ कविधान की उन विशेषताओं को पुष्ट किया, जो वाद में उसकी
दी। ब्रिटिश कही जाने लगीं। ये विशेषताएं, एक तो सुरक्षा का तात्पर्य १६१६
मूल्य नहीं रहक व्यवस्था को वनाये रखना तथा दूसरा इसमें आवश्यक संशोधन
पानी पड़ी। क्त प्रवन्ध का न होना था।"[2]

प्रश्न उठीं **समझौता** (**Locarno Pact**)—**पृष्ठभूमि और लोकार्नो**–
प्राय: निम्नलिखित उप-संधि समाप्त हो गई और फ्रांस के मूल्यांकन में ब्रिटेन
फेर "शान्ति का दुष्ट" (Villain of the Peace) वन

---

1. "In other wor e League of Nations and the Rule of Law,
wards attacked
its tendency to ı
1919 settlement, ıternational Relations Between The Two
nary for the revisge 91.

गया। अब फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिये पुनः नया प्रयास प्रारम्भ किया। उसके लिये उपयुक्त केवल यही रास्ता रह गया कि वह राइन प्रदेश-सीमान्त (Rhineland Frontier) की ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्पष्ट गारण्टी सम्बन्धी मूल योजना का पुनः आश्रय ले, फर्क केवल यही था कि यह गारण्टी अब एक नये रूप में दी जानी थी। वास्तव में फ्रांस की मुख्य चिन्ता राइन सीमान्त से ही सम्बन्धित थी और इस सम्बन्ध में जर्मनी भी कम चिन्तित नहीं था। जर्मनी ने इस सम्बन्ध में रूर आधिपत्य काण्ड से पहले १९२२ में ही फ्रांस के सामने एक हल प्रस्तुत किया था। जर्मन प्रस्ताव में यह कहा गया था कि फ्रांस और जर्मनी ग्रेट ब्रिटेन तथा बेल्जियम के साथ मिलकर आपस में इस बात की प्रतिज्ञा करें कि एक पीढ़ी तक वे एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। यह प्रस्ताव अमेरिकन सरकार के माध्यम से किया गया था और अमेरिका से यह प्रार्थना की गई थी कि वह इस समझौते के ट्रस्टी (Trustee) के रूप में कार्य करे। उस समय इस प्रकार का प्रस्ताव जर्मनी के लिये अधिक लाभप्रद था क्योंकि फ्रांस द्वारा ही जर्मनी पर आक्रमण किये जाने की अधिक आशंका थी, न कि जर्मनी द्वारा फ्रांस पर। परन्तु तत्कालीन उग्रवादी फ्रेंच प्रधानमन्त्री पोयन्केर इस घाटे के सौदे के लिये तैयार नहीं था और इसीलिये उसने जर्मन-प्रस्ताव को एक "भौंडी चाल" कह कर अस्वीकार कर दिया। १९२३ में जर्मनी ने इस प्रस्ताव को पुनः दोहराया परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। जर्मन सरकार १९२२ में प्रस्ताव रखने के बाद से अगले दो वर्षों तक इस प्रस्ताव को दोहराती रही लेकिन ये सब प्रयत्न व्यर्थ ही गये।

जेनेवा प्रोटेकोल रद्द हो जाने के बाद जर्मनी ने अपने प्रस्ताव को पुनः प्रस्तुत किया। अबकी बार, नवीन परिस्थितियों में, फ्रांस ने जर्मन प्रस्ताव का स्वागत किया। इस समय [illegible] रुद्ध तथा जर्मनी

वातावरण बनाने में एक अन्य कारण से भी सहायता मिली थी। इस समय तीनों देशों के विदेशमंत्री शांतिवादी व्यक्ति थे और चाहते थे कि पारस्परिक मेल-जोल द्वारा राजनीतिक तनाव कम किया जाए।

इस प्रकार की सुधरी हुई परिस्थितियों में जर्मन विदेशमंत्री गुस्टाव स्ट्रैसमान (Gustav Stressman), फ्रेंच विदेशमंत्री ब्रियां (Aristide Briand) और ब्रिटिश मंत्री आस्टिन चैम्बरलेन (Austen Chamberlain) के पारस्परिक सहयोग से एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ। इस समझौते की अधिकांश बातें और शर्तें स्विटजरलैण्ड में मैगियोर (Maggiore) झील के किनारे लोकार्नो नामक कस्बे में १ अक्टूबर से १६ अक्टूबर १९२५ तक तय हुई थीं, **अतः इसे लोकार्नो समझौता (Locarno Agreement) कहा जाता है।** लोकार्नो सम्मेलन में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, चैकोस्लावाकिया और पोलैण्ड—इन सात राष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। सम्मेलन का वातावरण सर्वथा नवीन था जिसमें वर्साय की मनोवैज्ञानिक भूमिका नहीं थी। प्रतिनिधि लोग लोकार्नो की सरायों में आपस में बिना अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार का पालन किए हुए मिलते थे। कभी-कभी तो वे मैगियोर-झील में नौका-विहार करने निकल पड़ते थे और वहीं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के निदान पर विचार करते थे। वार्ता इतने सौहार्दपूर्ण वातावरण में होती थी कि उनकी शब्दावली में 'मित्र' और 'शत्रु' शब्दों को कोई स्थान न था। हिमाच्छादित शिखर के नीचे झील के नीले जल पर नौका-विहार करते समय बातचीत करने वाले तीनों महान् नेताओं—चैम्बरलेन, ब्रियां और स्ट्रैसमन की तसवीरें देश-विदेश के समाचारपत्रों में प्रकाशित होने के लिए भेजी जाती थीं। युद्ध के बाद यह पहला अवसर था, जब जर्मनी को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अन्य यूरोपियन राज्यों के साथ समानता का दर्जा दिया गया था, अन्यथा अब तक तो उसके साथ 'पराजित अछूत' का सा व्यवहार किया जाता रहा था। यूरोप की राजधानियों के कोलाहल से दूर इस सम्मेलन में इतने अधिक स्नेह और सौहार्द का वातावरण था कि इसे पुरानी कटुता और शत्रुता का अन्त करने वाली **'लोकार्नो भावना' (Locarno Spirit)** कहा जाने लगा। वास्तव में ऐसा लगता था मानो यूरोप में शान्ति की देवी एक बार फिर मुस्कराने लगी थी। लोग कहने लगे थे कि युद्ध की समाप्ति १९१८ में न होकर १९२५ में हुई है। चैम्बरलेन भी जब इंगलैण्ड वापिस लौटा तो उसने लोकार्नो समझौते की चर्चा करते हुए कहा—"लोकार्नो युद्ध और शांति के वर्षों के बीच की वास्तविक विभाजक रेखा है।"[1] फ्रेंच

1. "Locarno marks the real dividing line between the years of war and the years of peace."

—*Chamberlain*

विदेशमंत्री ब्रियां ने भी इस नए युग की प्रशंसा करते हुए यह उद्गार प्रकट किया कि यह "समझौते, मध्यस्थता और शान्ति" (Concilation, Arbitration and Peace) का युग है। इसी तरह स्ट्रैसमान ने भी घर लौट कर दिल की उमंग इन शब्दों में प्रकट की—"हम प्रत्येक अपने देश के नागरिक हैं ·········किन्तु साथ ही हम यूरोप के भी नागरिक हैं और सभ्यता के महान् सिद्धान्त द्वारा परस्पर संयुक्त हैं। हमें एक यूरोपियन विचार के प्रवक्ता होने का अधिकार है।"[1]

सम्मेलन में वार्तालाप के दौरान अनेक कठिनाइयां प्रस्तुत हुईं, किन्तु 'लोकार्नो भावना' के कारण अन्त में सभी का समाधान खोज लिया गया। ये प्रमुख कठिनाइयां निम्नलिखित थीं—

प्रथम बड़ी कठिनाई यह थी कि जर्मनी पश्चिम में फ्रांस और बेल्जियम के सीमान्त की तथा राइनलैण्ड की सुरक्षा की गारन्टी देने को तैयार था। लेकिन वर्साय की संधि द्वारा स्थापित अपनी पूर्वी सीमाओं की गारण्टी देने से इन्कार करता था। उसका यह स्पष्ट कहना था कि पूर्वी सीमान्त को वह अन्त नहीं समझता, यद्यपि उसको बदलवाने के लिए सैन्य शक्ति के प्रयोग की भी उसकी कोई इच्छा नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन भी इसी मत का पोषक था और केवल पश्चिमी सीमान्त की सुरक्षा की गारन्टी देने को उद्यत था, पूर्वी यूरोप के लिए कोई भी गारन्टी देने में उसने असमर्थता ही प्रकट की। फ्रांस का आग्रह था कि जर्मनी पोलैण्ड और चैकोस्लावाकिया को भी सीमान्त की सुरक्षा का आश्वासन दे और इस आश्वासन को समझौते में शामिल कर लिया जाय। इस गतिरोध का अन्त में यह हल निकाला गया कि दोनों सीमान्तों के लिए अलग-अलग संधियां हुईं। पूर्वी सीमान्त के लिए जर्मनी और पोलैण्ड तथा जर्मनी और चैकोस्लावाकिया के बीच मध्यस्थता संधियां (Arbitration Treaties) हों अर्थात् इन सीमाओं में विवाद होने पर उसे किसी मध्यस्थ को फैसले के लिए सौंपा जाय, किन्तु पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के लिए गारण्टी संधियां हों अर्थात् फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम की सीमाओं की सुरक्षा के लिए और राइनलैण्ड के विसैन्यकरण के लिए ये तीनों देश ग्रेट ब्रिटेन और इटली के साथ मिलकर पूर्ण आश्वासन दें।

दूसरी कठिनाई यह उपस्थित हुई कि जर्मनी ने उसे बिना शर्त राष्ट्र-संघ का सदस्य बना लेने को कहा। जर्मनी का यह आग्रह मानते हुए यह

---

1. "We are citizens each of his own country.....but we are also citizens of Europe and are joined together by a great conception of civilization. We have the right to speak of a European idea."

—*Stressman*

स्वीकार किया गया कि उपरोक्त संधियों के बाद जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाय।

तीसरी कठिनाई यह थी कि जर्मनी रूस के साथ रैपोलो की संधि कर चुका था। जर्मनी को भय था कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाने पर ऐसा अवसर आ सकता था कि उसे राष्ट्रसंघ की धारा १६ के अन्तर्गत रूस के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए बाधित किया जाय। उसके लिए ऐसा कोई भी कार्य करना रैपोलो की संधि के विरुद्ध होगा। जर्मनी की इस आशंका का उन्मूलन अन्य शक्तियों ने एक पत्र द्वारा किया जिसमें कहा गया था कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाने के पश्चात् भी जर्मनी संघ के विधान को क्रियान्वित करने में "अपनी सैनिक दशा और भौगोलिक अवस्था के अनुरूप" सहयोग प्रदान करेगा। वर्साय की संधि के द्वारा जर्मनी को एक बड़ी सीमा तक नि:शस्त्र कर दिया गया था, अत: इस पत्र का अर्थ यह निकाला गया कि जर्मनी से, नि:शस्त्र राष्ट्र होने के कारण यह आशा नहीं रखी जायगी कि वह संघ द्वारा समर्थित किसी रूस-विरोधी सैनिक कार्यवाही में योगदान दे।

लोकार्नो समझौते की विभिन्न संधियां—उपरोक्त कठिनाइयों का समाधान हो जाने के पश्चात् समझौता करने में कोई कठिनाई नहीं रही। लोकार्नो में सात राष्ट्रों द्वारा कुल सात संधियों की रूपरेखा तैयार की गयी–

(१) पहली तथा सबसे महत्त्वपूर्ण संधि जर्मनी, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम में पारस्परिक गारन्टी की संधि (Treaty of Mutual Guarantee) थी। इस संधि में इन सब राज्यों ने एक दूसरे को यह आश्वासन दिया कि वे वर्साय की संधि द्वारा निर्धारित जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम की सीमाओं की सुरक्षा तथा राइन प्रदेश के विसैन्यीकरण का वचन देते हैं। इस महत्त्वपूर्ण संधि को राइनलैण्ड समझौता (Rhineland Pact) और लोकार्नो संधि (Locarno Treaty) भी कहा जाता है। जर्मनी, बेल्जियम और फ्रान्स ने यह समझौता किया कि वे एक दूसरे पर तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त न तो कभी आक्रमण करेंगे और न एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध ही छेड़ेंगे। युद्ध छेडने की ये तीन व्यवस्थाएं थीं—'न्यायपूर्ण आत्मरक्षा' (Legitimate Defence), विसैन्यीकरण की व्यवस्था का ज्वलंत उल्लंघन (Flagrant Breach of Demilitarisation) तथा राष्ट्रसंघ द्वारा आदिष्ट सैनिक कार्यवाही। इस संधि के द्वारा इन राज्यों ने यह भी निश्चित किया कि वे "अपने बीच उत्पन्न होने वाले सब प्रकार के विवादों को शांतिपूर्ण उपायों से हल करेंगे तथा संधि का उल्लंघन करने वाले राज्य के विरुद्ध सम्मिलित कार्यवाही करेंगे। संधि के उल्लंघन के सम्बन्ध में संदेह होने पर यह निश्चित किया कि ऐसे मामले का निर्णय राष्ट्रसंघ की परिषद् को सौंपा

ायगा । इस संधि को लागू उस समय से होना था जबकि जर्मनी राष्ट्रसंघ ा सदस्य बन जाय ।

(२) लोकार्नो सम्मेलन की दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवीं ंधियां मध्यस्थता सम्बन्धी संधियां (Arbitration Treaties) थीं । ये चारों संधियां एक ओर जर्मनी के साथ और दूसरी ओर क्रमशः बेल्जियम, फ्रान्स, पोलैण्ड तथा चैकास्लोवाकिया के साथ अलग २ की गयीं । इनके द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि जर्मनी तथा संधि करने वाले अन्य राष्ट्रों में उत्पन्न होने वाले और कूटनीति द्वारा न सुलझाये जा सकने वाले विवाद निर्णय के लिए किसी मध्यस्थ अथवा न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपे जायेंगे । इस व्यवस्था के सम्बन्ध में यह स्मरणीय बात है कि यह व्यवस्था केवल संधि से उत्पन्न होने वाले विवादों पर ही लागू हो सकती थी, न कि पोलिश गलि-यारे जैसे पुराने विवादों पर ।

(३) सम्मेलन की छठी संधि फ्रान्स और पोलैण्ड तथा सातवीं संधि फ्रान्स और चैकोस्लोवाकिया के मध्य की गयी । ये दोनों गारन्टी संधियां थीं । इनमें यह व्यवस्था की गयी कि यदि लोकार्नो समझौते का पालन नहीं होता है और बिना किसी उत्तेजना के युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों राष्ट्र एक दूसरे की तुरन्त सहायता करेंगे ।

लोकार्नो सम्मेलन में तैयार किये गये उपरोक्त सातों संधियों के सम-झौते पर १ दिसम्बर १९२५ को सम्बन्धित देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये । लोकार्नो समझौता १४ दिसम्बर १९२६ से लागू हुआ । इस समझौते और जेनेवा प्रोटोकोल में समानता यह थी कि दोनों का प्रधान उद्देश्य राष्ट्र-संघ को शक्तिशाली बनाना और राष्ट्रसंघ के संविदा की १६वीं धारा की व्यवस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय शांति भंग करने वाले आक्रमणकारी राज्यों के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली रूप में लगाना था । दोनों में प्रमुख अन्तर यह था कि जहां जेनेवा प्रोटोकोल सम्पूर्ण विश्व के लिए था वहां लोकार्नो समझौता केवल जर्मनी की पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध में था ।

लोकार्नो समझौते के गुण अथवा सुपरिणाम—पेरिस के शान्ति-सम्मे-लन के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के इतिहास में लोकार्नो समझौता निश्चित रूप से एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी । गैथोर्न हार्डी के कथनानुसार— "यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर इसका तात्कालिक प्रभाव निश्चयात्मक रूप से अच्छा रहा । ब्रिटेन के आश्वासन से फ्रेन्च और जर्मन लोगों के मस्तिष्क में पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षा की भावनाओं को जन्म दिया था । इस भावना का उनके ऊपर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनके मस्तिष्क में

स्वीकार किया गया कि उपरोक्त संधियों के बाद जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाय।

तीसरी कठिनाई यह थी कि जर्मनी रूस के साथ रैपोलो की संधि कर चुका था। जर्मनी को भय था कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाने पर ऐसा अवसर आ सकता था कि उसे राष्ट्रसंघ की धारा १६ के अन्तर्गत रूस के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए बाधित किया जाय। उसके लिए ऐसा कोई भी कार्य करना रैपोलो की संधि के विरुद्ध होगा। जर्मनी की इस आशंका का उन्मूलन अन्य शक्तियों ने एक पत्र द्वारा किया जिसमें कहा गया था कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाने के पश्चात् भी जर्मनी संघ के विधान को क्रियान्वित करने में "अपनी सैनिक दशा और भौगोलिक अवस्था के अनुरूप" सहयोग प्रदान करेगा। वर्साय की संधि के द्वारा जर्मनी को एक बड़ी सीमा तक नि:शस्त्र कर दिया गया था, अत: इस पत्र का अर्थ यह निकाला गया कि जर्मनी से, नि:शस्त्र राष्ट्र होने के कारण यह आशा नहीं रखी जायगी कि वह संघ द्वारा समर्थित किसी रूस-विरोधी सैनिक कार्यवाही में योगदान दे।

लोकार्नो समझौते की विभिन्न संधियां—उपरोक्त कठिनाइयों का समाधान हो जाने के पश्चात् समझौता करने में कोई कठिनाई नहीं रही। लोकार्नो में सात राष्ट्रों द्वारा कुल सात संधियों की रूपरेखा तैयार की गयी—

(१) पहली तथा सबसे महत्त्वपूर्ण संधि जर्मनी, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम में पारस्परिक गारन्टी की संधि (Treaty of Mutual Guarantee) थी। इस संधि में इन सब राज्यों ने एक दूसरे को यह आश्वासन दिया कि वे वर्साय की संधि द्वारा निर्धारित जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम की सीमाओं की सुरक्षा तथा राइन प्रदेश के विसैन्यीकरण का वचन देते हैं। इस महत्त्वपूर्ण संधि को राइनलैण्ड समझौता (Rhineland Pact) और लोकार्नो संधि (Locarno Treaty) भी कहा जाता है। जर्मनी, बेल्जियम और फ्रान्स ने यह समझौता किया कि वे एक दूसरे पर तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त न तो कभी आक्रमण करेंगे और न एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध ही छेड़ेंगे। युद्ध छेडने की ये तीन व्यवस्थाएं थीं—'न्यायपूर्ण आत्मरक्षा' (Legitimate Defence), विसैन्यीकरण की व्यवस्था का ज्वलंत उल्लंघन (Flagrant Breach of Demilitarisation) तथा राष्ट्रसंघ द्वारा आदिष्ट सैनिक कार्यवाही। इस संधि के द्वारा इन राज्यों ने यह भी निश्चित किया कि वे "अपने बीच उत्पन्न होने वाले सब प्रकार के विवादों को शांतिपूर्ण उपायों से हल करेंगे तथा संधि का उल्लंघन करने वाले राज्य के विरुद्ध सम्मिलित कार्यवाही करेंगे। संधि के उल्लंघन के सम्बन्ध में संदेह होने पर यह निश्चित किया कि ऐसे मामले का निर्णय राष्ट्रसंघ की परिषद् को सौंपा

ायगा। इस संधि को लागू उस समय से होना था जबकि जर्मनी राष्ट्रसंघ
ा सदस्य बन जाय।

(२) लोकार्नो सम्मेलन की दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवीं
ंधियां मध्यस्थता सम्बन्धी संधियां (Arbitration Treaties) थीं। ये चारों
ंधियां एक ओर जर्मनी के साथ और दूसरी ओर क्रमशः बेल्जियम, फ्रान्स,
ोलैण्ड तथा चैकास्लोवाकिया के साथ अलग २ की गयीं। इनके द्वारा यह
यवस्था की गयी कि जर्मनी तथा संधि करने वाले अन्य राष्ट्रों में उत्पन्न
होने वाले और कूटनीति द्वारा न सुलझाये जा सकने वाले विवाद निर्णय के
लिए किसी मध्यस्थ अथवा न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपे जायेंगे।
इस व्यवस्था के सम्बन्ध में यह स्मरणीय बात है कि यह व्यवस्था केवल संधि
से उत्पन्न होने वाले विवादों पर ही लागू हो सकती थी, न कि पोलिश गलि-
ारे जैसे पुराने विवादों पर।

(३) सम्मेलन की छठी संधि फ्रान्स और पोलैण्ड तथा सातवीं संधि
फ्रान्स और चैकोस्लोवाकिया के मध्य की गयी। ये दोनों गारन्टी संधियां थीं।
इनमें यह व्यवस्था की गयी कि यदि लोकार्नो समझौते का पालन नहीं होता
है और बिना किसी उत्तेजना के युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों राष्ट्र एक दूसरे
की तुरन्त सहायता करेंगे।

लोकार्नो सम्मेलन में तैयार किये गये उपरोक्त सातों संधियों के सम-
झौते पर १ दिसम्बर १९२५ को सम्बन्धित देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर
किये। लोकार्नो समझौता १४ दिसम्बर १९२६ से लागू हुआ। इस समझौते
और जेनेवा प्रोटोकोल में समानता यह थी कि दोनों का प्रधान उद्देश्य राष्ट्र-
संघ को शक्तिशाली बनाना और राष्ट्रसंघ के संविदा की १६वीं धारा की
व्यवस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय शांति भंग करने वाले आक्रमणकारी राज्यों के
विरुद्ध अधिक प्रभावशाली रूप में लगाना था। दोनों में प्रमुख अन्तर यह था
कि जहां जेनेवा प्रोटोकोल सम्पूर्ण विश्व के लिए था वहां लोकार्नो समझौता
केवल जर्मनी की पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध में था।

लोकार्नो समझौते के गुण अथवा सुपरिणाम—पेरिस के शान्ति-सम्मे-
लन के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के इतिहास में लोकार्नो समझौता निश्चित
रूप से एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। गैथोर्न हार्डी के कथनानुसार—
**"यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर इसका तात्कालिक प्रभाव निश्चयात्मक
रूप से अच्छा रहा। ब्रिटेन के आश्वासन से फ्रेन्च और जर्मन लोगों के
मस्तिष्क में पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षा की भावनाओं को जन्म दिया था।
इस भावना का उनके ऊपर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनके मस्तिष्क में**

यह प्रश्न पैदा ही नहीं हुआ कि क्या ब्रिटेन के लिए अपने वचनों को निवाहना संभव होगा ।"[1]

लोकार्नो संधि की फ्रान्स व जर्मनी में बड़ी प्रशंसा की गयी और इसको विश्व-शांति के लिए एक बड़ा कदम बताया गया। इस समझौते के अनेक विशिष्ट सुपरिणाम निकले जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को मधुर बनाने में श्रेष्ठ भूमिका अदा की।

समझौते का पहला सुपरिणाम यह हुआ कि इसने फ्रान्स और जर्मनी की पुरानी शत्रुता, कटुता व वैमनस्य के आधार को नष्ट कर दिया। जर्मनी ने अल्सेस लोरेन पर फ्रान्स की प्रभुता स्वीकार करके, फ्रान्स को इस दुश्चिन्ता से मुक्त कर दिया कि उसकी पूर्वी सीमाएं असुरक्षित हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति की संभावनाओं को प्रोत्साहन मिला। अब तक जर्मनी की गिनती 'राजनीतिक अछूतों' में की जाती थी, परन्तु इस समझौते के अनुसार वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया और उसके साथ राष्ट्रों की बिरादरी में अच्छा सलूक होने लगा। यद्यपि फ्रान्स और जर्मनी में विप्लववादियों ने इस समझौते की आलोचना की किन्तु इसमें कोई संशय नहीं कि इसने विजेता और विजित के मध्य पारस्परिक सहयोग के प्रारम्भ का विशिष्ट कार्य किया। इसने उस कार्य को पूर्ण किया जिसकी शुरूआत डावेस योजना ने की थी। ये सब बातें ऐसी थीं जिनके बिना तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का निराकरण नहीं हो सकता था।

समझौते का दूसरा सुपरिणाम अथवा गुण यह था कि इसकी समस्त शर्तें सभी राष्ट्रों की सहमति और स्वेच्छा से निश्चित हुई थीं। वर्साय की संधि के समान इन शर्तों को बलपूर्वक किसी राष्ट्र पर थोपा नहीं गया था।

इसका तीसरा गुण यह था कि इसने राष्ट्रसंघ में जर्मनी को सदस्यता दिलाकर उसके संगठन में एक आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। अब तक राष्ट्रसंघ पर यह आरोप लगाया जाता था कि वह गत महायुद्ध की

---

1. "The immediate effect on international relations in Europe was undoubtedly most favourable. The sense of improved security which the British guarantee implanted in the minds of Frenchmen and Germans had an importance far outweighing that of the question whether, on occasion arising, it would prove possible for Great Britain to fulfil her obligation."

—*Gathorne Hardy* : A short History of International Affairs page 75-76

विजेता शक्तियों का संगठन है जिसका उद्देश्य वर्साय की संधि द्वारा थोपी हुई अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं को स्थायी बनाना है। किन्तु इस समझौते के परिणामस्वरूप ऐसे आरोप निष्प्राण हो गये क्योंकि अब संघ में पराजित पक्ष को अपनी शिकायतें रखने, विजेता राष्ट्रों के साथ बैठकर अपनी बात कहने और अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं के विरुद्ध प्रतिवाद करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस तरह राष्ट्रसंघ यह दावा करने के काबिल बना कि वह एक निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है।

इस समझौते का **चौथा** गुण यह था कि युद्ध के पश्चात् पहली बार एक ऐसा समन्वय प्रस्तुत किया गया जिसमें फ्रेन्च-सुरक्षा की आवश्यकता और वर्साय की संधि में जर्मनी द्वारा संशोधन की मांग—इन दोनों का समावेश हुआ। समझौते की व्यवस्थाएं फ्रांस और जर्मनी के लिए एक जैसी थीं। जर्मनी द्वारा सीमान्त व्यवस्था का उल्लंघन करने पर फ्रांस ब्रिटेन और इटली की सहायता पाने का अधिकारी था और इसी तरह फ्रांस द्वारा जर्मनी के सीमान्त का उल्लंघन होने पर इन राष्ट्रों को जर्मनी की सहायता करना आवश्यक था। इस तरह फ्रांस और जर्मनी दोनों ही अपनी सुरक्षा के प्रति आश्वस्त किये गये थे। इसके अतिरिक्त जहां फ्रान्स लोकार्नो समझौते को एंग्लो फ्रेन्च संधि का पुनरुज्जीवन समझता था वहां ब्रिटेन इसे अपनी परम्परागत शक्ति संतुलन की नीति मानता था। जैसा कि कार (Carr) का मत है कि "युद्ध के बाद पहली बार उसने फ्रांस और जर्मनी की आवश्यकताओं के बीच न्यायोचित तथा निष्पक्ष संतुलन स्थापित किया।"[1]

इसका **पांचवां** और अन्तिम सुपरिणाम यह था कि इसने उस प्रतिशोध पूर्ण नीति का अन्त करने का प्रयास किया जिसका सूत्रपात वर्साय की संधि ने किया था। यह समझौता ब्रिटेन, फ्रान्स और जर्मनी के सहयोग के नवयुग का श्री गणेश करने वाला माना गया। फ्रांस इसे ब्रिटिश-फ्रेन्च नीति का नवीनीकरण मानता था।

लोकार्नो संधियों ने तीनों शक्तियों को संतुष्ट कर अन्तर्राष्ट्रीय स्नेह और सौहार्द का वातावरण स्थापित कर दिया जिससे लैंगसम (Langsam) के शब्दों में वह "विश्व इतिहास में नवीन युग का मार्ग-दर्शक" बन गया।[2]

---

1. "It struck, for the first time since the war, a fair and impartial balance between French and German needs"
—*E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, page 97.

2. "The Locarno achievements were widely hailed as precursors of a new era in World History."
—*Langsam* : The World Since 1914, page 216.

इस समझौते से पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में हमेशा जर्मनी को कुचल डालने, उससे बदला लेने आदि की कटुता एवं शत्रुतापूर्ण चर्चाएं होती थीं, किन्तु अब इनका स्थान "लोकार्नो-भावना" ने, सुलह और शांति चर्चाओं ने ले लिया। यह समझौता पोयनकेर की उग्रतावादी नीति की इति श्री समझा गया। चेम्बरलेन ने इसे "युद्ध के और शांति के वर्षों की वास्तविक विभाजक रेखा" की संज्ञा सही ही दी क्योंकि नवम्बर १९१८ को प्रथम महायुद्ध समाप्त होने पर भी जो प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना निरन्तर सारे अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को गन्दा बना रही थी, उसकी समाप्ति लोकार्नो संधि के साथ १९२६ में हुई और एक बार ऐसा लगने लगा मानो काले मेघों को छिन्न-भिन्न करते हुए शांति की प्रकाश किरणें फूट पड़ी हों। फ्रेन्च विदेश मन्त्री ब्रियां ने इस समझौते के महत्व की चर्चा करते हुए घोषणा की थी-"यह जर्मनी के लिए शांति है, फ्रान्स के लिए शांति है। इसका अर्थ यह है कि हमने भयंकर एवं रक्तरंजित संघर्षों की उस सुदीर्घ श्रृंखला का अन्त कर दिया है जिसने इतिहास के पृष्ठों को काला किया है। हमने मातमों पर पहने जाने वाले काले पर्दों का भी अन्त कर दिया है, हमने युद्धों की सामग्री बन्द कर दी है, हमने विवादों को सुलझाने के लिए बर्बर और जंगली तरीकों का प्रयोग करना छोड़ दिया है। यह सही है कि हमारे बीच मतभेद अब भी हैं, परन्तु भविष्य में यह न्यायाधीश का उत्तरदायित्व होगा कि वह कानून की घोषणा करे। जो भी हो राइफलों, मशीनगनों और तोपों का जमाना लद गया, ये अब समझौते, मध्यस्थता और शांति के लिए मार्ग प्रशस्त कर रही हैं।"[1]

१७ अक्टूबर १९२५ को "The Times" ने टिप्पणी करते हुए लिखा-"एक सुदीर्घ यात्रा के सबसे कष्टकारक भाग की परिणति हो गयी है... आखिरकार संसार में नव प्रभात की प्रकाश-किरणें फूटने लगी हैं।"[2]

---

1. "Peace for Germany and for France; that means that we have done with the long series of terrible and sanguinary conflicts which have stained the pages of history We have done with black veils of mourning for suffering that can never be appeared done with war. done with brutal and sanguinary methods of settling our disputes. True differences between us still exist, but henceforth it will be for the judge to declare the law. Any way will rifles, machine guns. cannons clear the way for concilation, arbitration and peace."

—*Briand*

2. "....the worst of the long travel is overlast....the light of a new dawn is atlast breaking upon the world."

—*The Times* (17th Oct., 1925)

लोकार्नो समझौते के सुपरिणामों और मूल्य को आंकते हुए वाल तथा विलफ ने दर्शाया है कि—"लोकार्नो समझौते ने जर्मन सीमान्त सुस्थिर किया, जर्मनी के राष्ट्रसंघ में प्रवेश का मार्ग खोला। इससे पहले वह कानून का भंग करने वाला भयंकर व्यक्ति (Outlaw) समझा जाता रहा है। अन्य पराजित राष्ट्रों को संघ का सदस्य बना लेने पर भी इसे यह सुविधा नहीं दी गयी थी। किन्तु इस समझौते के बाद उसे अपने आकार, जनसंख्या तथा महाशक्ति के पुराने दर्जे के अनुसार संघ की कौंसिल का स्थायी सदस्य बनाया गया।"[1]

लोकार्नो संधि के बाद जर्मनी की ओर से न तो जबर्दस्ती संधि लादे जाने की चर्चा ही उठने लगी और न मित्रराष्ट्र युद्ध के अपराध की ही बात करने लगे।

लोकार्नो समझौते की आलोचना—परन्तु जिन लोगों ने यह सोचा था कि लोकार्नो संधियों से फ्रान्स और जर्मनी की मित्रता चिरस्थायी हो गयी है, वे भ्रम में थे। संधि पर हस्ताक्षर करने वालों में नवयुग का और नवीन भावना का इतना अधिक उत्साह था कि उस मनःस्थिति में वे इसकी मर्यादाओं, सीमाओं और दोषों को नहीं देख सके और समय ने यह सिद्ध कर दिखाया कि समझौते की सभी संधियां एक महान् कूटनीतिक भ्रम थीं। विश्व-शांति की स्थापना में एक महत्वपूर्ण कदम होते हुए भी लोकार्नो समझौता अनेक गम्भीर दोषों से युक्त था। जैसे-जैसे समय बीतता गया, इस समझौते के निम्नलिखित दोष स्पष्ट होते गये—

इस समझौते का **पहला** गंभीर दोष यह था कि इसके द्वारा जर्मनी ने अपनी पश्चिमी सीमाओं को तो वर्साय की संधि के अनुसार स्वीकार किया लेकिन इस प्रकार की स्वीकृति उसने पूर्वी सीमा को नहीं दी। इस मत का पोषण ब्रिटेन ने भी किया। इसका अर्थ यही हुआ कि जर्मन नैतिक दृष्टि से वर्साय की संधि की उन्हीं शर्तों को मानने को बाध्य था जिन्हें वह स्वेच्छा से स्वीकार करे। इसका दूसरे शब्दों में अभिप्राय था कि वर्साय संधि का प्रारूप पूर्णतः समाप्तप्राय: था और जर्मन स्वीकृति के उपरान्त ही उसकी शर्तों का कोई अर्थ था। इस प्रकार वर्साय की संधि को इस समझौते द्वारा क्षति पहुंची।

दूसरा दोष यह था कि ब्रिटेन ने भी पूर्वी यूरोप की समस्याओं से अपने आप को बचाने के लिए जर्मनी को पूर्वी सीमाओं को मानने के लिए बाध्य नहीं किया। वह कुछ ही सीमान्तों पर गारन्टी देने के लिए तैयार

---

1. International Relations, page 339.

हुआ और अन्य सीमान्तों की गारन्टी देने से उसने इन्कार कर दिया। इसका व्यावहारिक परिणाम, सुरक्षा की दृष्टि से, सीमान्तों को प्रथम और द्वितीय वर्ग में श्रेणीबद्ध कर देना ही हुआ। इस व्यवस्था ने यह भावना उत्पन्न की कि ब्रिटेन राष्ट्रसंघ की सब व्यवस्थाओं को समान रूप से स्वीकार नहीं करता और उनका पालन करने को उद्यत नहीं है, यद्यपि उसके द्वारा जोर देकर यही कहा गया था कि वह संघ के सविदा या अनुबन्ध-पत्र के अधीन अपने सभी कर्त्तव्यों को निभायेगा। ब्रिटेन ने वास्तव में अपने हित की दृष्टि से जर्मनी की पश्चिमी सीमा की सुरक्षा का आश्वासन दिया जबकि पूर्वी सीमा का नहीं। वह जर्मनी को पूर्णरूपेण पगु नहीं बनाना चाहता था। फ्रांस का यूरोप में मुकाबला करने तथा सोवियत रूस की साम्यवादी लपट को रोकने का उपाय जर्मनी ही कर सकता था। इसलिए पूर्वी सीमा में इंगलैण्ड की कोई दिलचस्पी नहीं थी। ब्रिटेन की इस भेद-भाव पूर्ण नीति से इस धारणा को बल मिला कि राष्ट्रसंघ की धाराओं को राष्ट्र उसी सीमा तक स्वीकार करे जिस सीमा तक वह राष्ट्र हित में हो। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन के इस कदम से पूर्वी यूरोप के देशों में अपनी सुरक्षा की चिन्ता व्याप्त हो गयी क्योंकि वे समझ गये कि ब्रिटेन राष्ट्रसंघ के समर्थन का चाहे जितना ढोल पीटे किन्तु वह पूर्वी यूरोप की सीमाओं की रक्षा के लिए युद्ध नहीं करेगा।

तीसरा दोष स्वाभाविक रूप से यही था कि **"अन्ततोगत्वा लोकार्नो संधि से वर्साय की संधि और संघ के अनुबन्ध-पत्र दोनों ही को हानि पहुंची।** उससे इस विचार को प्रोत्साहन मिला कि वर्साय की संधि की व्यवस्थाओं का पालन उस समय तक बन्धनकारी नहीं है जब तक कि उन्हें स्वेच्छापूर्वक स्वीकार न किया गया हो तथा ऐसे सीमान्त की प्रतिरक्षा के लिए सैनिक कार्यवाही करने की सरकारों से आशा नहीं की जा सकती जिनमें उनका प्रत्यक्ष हित निहित न हो। दस वर्ष बाद, लगभग सभी सरकारें इन्हीं धारणाओं के अनुसार कार्य करती हुई प्रतीत हुईं।"[1] इस समझौते में

1. "In the long run, the Locarno Treaty was destructive both of the Versailles Treaty and of the Covenant. It encouraged both the view that the Versailles Treaty, unless *confirmed* by other engagement of a voluntary character, lacked binding force, and the view that governments could not be expected to take military action in defence of *frontiers in* which they themselves were not directly interested. Ten years later, nearly all governments appeared to be *acting on* these assumptions."

—*E. H. Carr :* International Relations Between the Two Word Wars, p. 97.

निहित उपरोक्त दोषों का यह परिणाम हुआ कि वर्साय संधि की व्यवस्थाओं को तोड़ने में जर्मनी का साहस बहुत बढ़ गया और हिटलर ने राइनलैण्ड का सैन्यीकरण करके लोकार्नो संधि की इस प्रदेश की विसैन्यीकरण की व्यवस्था का भी खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन किया।

लोकार्नो समझौते का चौथा बड़ा दोष यह था कि इसने जर्मनी के पश्चिमी सीमांत को अनावश्यक महत्व दिया जब कि पूर्वी यूरोप की उपेक्षा की। इस समझौते की अव्यावहारिकता और खोखलेपन को मैन्डर (Linden A. Mander) ने बड़े सुन्दर ढग से स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **लोकार्नो समझौते का मूल्य बहुत सीमित था, क्योंकि ऐसी सामान्य कूटनीतिक स्थिति उत्पन्न हो सकती थी, जिसमें राइन प्रदेश की समस्या बिल्कुल गौण हो जाय। उदाहरणार्थ यदि जर्मनी परिषद् की बिना स्वीकृति लिए आस्ट्रिया के साथ मिल जाता या पोलैंड पर हमला करता तो फ्रांस का जर्मनी पर आक्रमण क्या न्यायोचित होता, यद्यपि लोकार्नो में जर्मनी के विरुद्ध आक्रमण न करने का दायित्व लिया गया था? इसके अतिरिक्त यदि पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ जाते या सुरक्षा का सामान्य ढांचा लड़खड़ा जाता तो क्या लोकार्नो सन्धियां जीवित रह सकती थीं? वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति विश्व में कहीं भी बिगड़ सकती थी, किन्तु इसमें राइन प्रदेश को ही विशेष महत्त्व दिया गया था। अतः लोकार्नो समझौता राइन प्रदेश से भिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में नितांत असमर्थ था।** [1]

---

1. "The Locarno agreements were of limited value because the general diplomatic situation might so develop as to reduce the Rhineland problem to a secondary factor" He argues, "Suppose that Germany joined Austria without getting the consent of the League Council, or made war on Poland, would France be justified in invading Germany in order to fulfil, its treaty obligations despite its undertaking at Locarno not to attack, invade or resort to war against Germany? If relations deteriorated, and the general fame work of security were weakened, could the Locarno pacts be expected to survive? In reality was more than a limited step depending for its continental usefulness upon a strengthening of the wider foundations of international society? Could the whole be achieved by a successive solution of the parties or was a more organic and comprehensive answer necessary? Time was to provide an eloquent answer."
—*Mander*: Foundations of Modern World Society.

समझौते का **पांचवां दोष** यह था कि कि यह एक बड़ी सीमा तक अवास्तविक था। ब्रिटेन ने इसके अन्तर्गत जो उत्तरदायित्व स्वीकार किये थे उन्हें पूरा करना उसके लिए सम्भव न था। जर्मनी द्वारा फ्रान्स पर आक्रमण किये जाने की स्थिति में वह फ्रान्स की सहायता कर सकता था लेकिन फ्रान्स द्वारा जर्मनी पर आक्रमण की दशा में वह जर्मनी की वास्तविक सहायता करने में अक्षम था क्योंकि एक तो जर्मनी उससे बहुत दूर था और दूसरे उसको सहायक सेना में केवल ८० हजार सैनिक थे जबकि फ्रांस के पास तीन लाख सैनिकों की सुसज्जित फौज थी।

समझौते का **छठा** दोष यह था कि इसने जर्मनी की अनेक जटिल समस्याओं को अछूता छोड़ दिया था, अतः उसका असन्तोष पनपते रहना स्वाभाविक था। जर्मन सरकार अल्सेस–लोरेन, यूपेन और मैलमेडी की क्षति भुगतने के लिए सहमत हो गई थी लेकिन वह डेंजिग, पोलिश गलियारे तथा ऊपरी साइलीशिया का परित्याग करने को तैयार नहीं थी। प्रो० शूमैन ने लिखा है कि पोलिश गलियारे, डेंजिग तथा ऊपरी साइलीशिया की क्षति "सभी देशभक्तों के हृदय में उत्तेजक घाव की भांति रही और कोई भी भविष्य में इन प्रदेशों की पुनः प्राप्ति की आशा नहीं त्याग सका। उनकी पुनः प्राप्ति के लिए पुनरुज्जीवित पोलैंड के नवीन अंग-विच्छेद की आवश्यकता थी और पोलैंड की पीठ पर फ्रान्स एवं लघु गुट (Little Entente) सीमाओं को यथावत् रखने के लिए दृढ़ता से कटिवद्ध खड़े थे।" वास्तव में द्वितीय महा-युद्ध का प्रारम्भ डेंजिग और पोलिश गलियारे के प्रश्न पर ही हुआ। शूमैन के अनुसार **पूर्वी सीमान्त जर्मनी का सदा बहने वाला नासूर था जिसके समाधान की लोकार्नो समझौते में कोई व्यवस्था न थी।** लोकार्नो में जर्मनी ने पूर्वी सीमा की गारन्टी करने से इन्कार कर दिया, वह केवल संशोधन के बलपूर्ण साधनों का आश्रय न लेने के लिए सहमत हुआ। इस सम्बन्ध में वाल्टर्स (Walters) ने लिखा है कि—"राष्ट्रवादी दल ने अपने स्वाभाविक विश्वास-घात से ही कार्य किया। इसके नेताओं ने व्यक्तिगत रूप से लोकार्नो के कृत्यों को स्वीकार किया और अधिक इसलिए, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि जर्मनी को अमेरिका से आर्थिक सहायता की अत्यधिक आवश्यकता थी और यह तभी प्राप्त हो सकती थी जबकि अमेरिकी धन लगाने वालों को यूरोप में शान्ति-काल का पूर्वाभास हो जाता। अतः इन्होंने अपने–आप को घोषित करने के लिए तब तक प्रतीक्षा की जब तक कि यह स्पष्ट नहीं हो गया कि उनके विरोध से संधियों की पूर्ति का निवारण नहीं होगा, और एक बार इसे निश्चित करके, इन्होंने अपने आप को सरकार से हटा लिया और एक नीति के विरुद्ध निन्दा का कार्यक्रम चलाया जिस (नीति) ने अल्सेस–लोरेन की क्षति को सदैव के लिए दृढ़ किया।"

संधि का सातवां दोष यह था कि इसने रूस के हृदय में शंका के बीज बो दिये। सोवियत रूस को लोकार्नो सम्मेलन में आमन्त्रित नहीं किया गया था, अतः उसके मन में पश्चिमी शक्तियों के इरादों के प्रति संशय उत्पन्न हो गया। जर्मनी की पूर्वी सीमाओं की अनिश्चितता को पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा स्वीकृति का अर्थ उसने यही लगाया कि यह जर्मनी को पूर्व की ओर आगे बढ़ने की मौन स्वीकृति है और जर्मनी कालान्तर में रूस को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील होगा। अतः रूस ने जर्मनी से रैपोलो की संधि के होते हुए भी बर्लिन से अनाक्रमण समझौते पर हस्ताक्षर किये और निश्चय किया कि किसी तीसरी शक्ति द्वारा आक्रमण होने की दशा में दोनों देश तटस्थ रहेंगे।

लोकार्नो समझौते का आठवां दोष यह था कि इसने पूर्वी यूरोप के राज्यों को असन्तुष्ट कर दिया और फ्रांस तथा उसके मित्रों—पोलैंड एवं चैकोस्लोवाकिया के मध्य मनोमालिन्य पैदा कर दिया। पोलैंड और चैकोस्लोवाकिया को यह सन्देह हो गया कि जर्मन-आक्रमण के विरुद्ध सहायता के अपने वचन के प्रति फ्रान्स निष्ठावान नहीं है। पोलैंड को यह बात कांटे की तरह चुभ रही थी कि राइन और विस्चला के दोनों सीमान्तों से भिन्न प्रकार का व्यवहार क्यों किया गया है, राइन की भांति ही उसके विस्चुला के सीमांत की सुरक्षा का आश्वासन भी दिया जाना चाहिए था।

नवें, लोकार्नो सन्धि का एक व्यावहारिक परिणाम यह निकला कि जर्मनी को राष्ट्रसंघ की परिषद् में स्थायी स्थान देने के प्रश्न पर एक संकट उठ खड़ा हुआ और पोलैंड, स्पेन, ब्राजील तथा चीन ने भी स्थाई स्थान की माँग की। ब्राजील ने तो इस प्रश्न पर राष्ट्रसंघ से ही विच्छेद कर लिया जिससे न्यूनाधिक मात्रा में संघ के विघटन का सूत्रपात हो गया।

अनेक दोषों के होने के उपरांत भी इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि लोकार्नो समझौते का अपना एक विशिष्ट स्थान है जिसने यूरोप में शान्ति और सौहार्द की स्थापना में बहुत योग दिया। इसका मुख्य उद्देश्य जर्मनी को उस समाज में मिलाना था जो अपने को संसार की शान्ति का संरक्षक कहता था और उस समाज की गोष्ठी थी राष्ट्रसंघ। लोकार्नो संधियों को यूरोप के पुनर्निर्माण के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना माना जाता है। चर्चिल ने तो इनको "यूरोप के पुनर्निर्माण की चरम सीमा" का नाम दिया था। वास्तव में अपनी असफलता के बावजूद लोकार्नो हमेशा के लिए राष्ट्रों के बीच "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व" का प्रतीक बन गया। जब १९५४ में हिन्द-चीन की समस्या पर विचार करने के लिए जेनेवा सम्मेलन हुआ तो तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ईडन और भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू ने अपनी-अपनी संसदों में भाषण देते हुए "लोकार्नो वातावरण" बनाने की अपील की थी।

(४) केलाग-ब्रियां अथवा पेरिस समझौता (Kellog Briand Pact or Pact of Paris)—पृष्ठभूमि:—पारस्परिक सहायता की प्रारूप संधि और जनेवा प्रोटोकोल युद्ध के आतंक को शांत करने और फ्रांस को सुरक्षा की गारन्टी करने में विफल रहे, लोकार्नो संधियों ने सुरक्षा की गारन्टी तो दी किन्तु इसका क्षेत्र सीमित था; अतः अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपनी प्रतिष्ठा-वृद्धि और सुरक्षा के लिए बेचैन फ्रांस चुप न बैठ सका। उसकी सुरक्षा की खोज निरन्तर जारी रही। लोकार्नो से उत्पन्न हुए आशावाद के वातावरण में फ्रांस के विदेश मंत्री ब्रियां ने ६ अप्रैल १९२७ को संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता के नाम एक संदेश में यह प्रस्ताव रखा कि फ्रांस और अमेरिका युद्ध को राष्ट्रीय नीति के रूप में अपनाने से इन्कार करें। फ्रांस ने सुझाव दिया कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ एक ऐसी संधि करने को उत्सुक है जिसमें युद्ध को अवैध घोषित किया जाय। सचमुच यह एक अजीब बात थी क्योंकि जब फ्रांस और अमेरिका के बीच संघर्ष का कोई कारण मौजूद नहीं था तो फ्रांस ने इस प्रकार के समझौते की बातचीत क्यों चलाई। बात दरअसल यह थी कि फ्रांस की स्थिति युद्ध के बाद भी सुरक्षाहीन थी, अतः वह एटलांटिक महासागर के उस पार के महान् राष्ट्र अमेरिका से समझौता कर उनके विशिष्ट मित्र तथा सहकारी के रूप में यूरोप में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता था। जो कुछ भी हो, २० जून को ब्रियां ने अपने उपरोक्त प्रस्ताव के अनुरूप एक ऐसी संधि का मसविदा (draft) भी पेरिस स्थित संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत को दे दिया और अमेरिकन परराष्ट्र मंत्री केलॉग (Kellog) ने बहुत विचार-विमर्श के उपरान्त ब्रियां के इस मसविदे का समर्थन एक प्रत्युत्तर-प्रस्ताव (Counter-proposal) रख कर दिया।

दोनों शक्तियों के मध्य युद्ध की किसी संभावना का पूर्वाभास न करते हुए अथवा युद्ध की अत्यल्प संभावना की कल्पना करके, दिसम्बर १९२७ में केलॉग ने ब्रियां द्वारा प्रस्तुत संधि के अपने प्रत्युत्तर-प्रस्ताव में यह परामर्श दिया कि युद्ध को रक्षाहीन करने वाली प्रस्तावित संधि को सभी राज्यों में सम्मिलित करते हुए सार्वभौमिक बना देना चाहिए। केलॉग का विचार था कि अन्य देश भी "राष्ट्रीय नीति के साधन" के रूप में युद्ध का परित्याग करने की घोषणा करने वाले इस समझौते में शामिल हों और जब इस तरह सभी राष्ट्र एक दूसरे के समीप आ जायेंगे तो युद्ध का भय भी समाप्त हो जायगा। अमेरिकन विदेशमंत्री के इस सुझाव से फ्रांस के लिए बड़ा धर्म-संकट उपस्थित हो गया। अमेरिका के साथ युद्ध न होने की संभावना के कारण उससे इस तरह का समझौता करने में कोई हानि न थी किन्तु अन्य देशों के साथ युद्ध कभी न छेड़ने की बात मानना उसके लिए विशेषतः कठिन

था। ब्रियां ने इस बात पर कि प्रस्तावित समझौता बहुपक्षीय होना चाहिए, बड़ा सोच विचार किया और अन्त में उसने इस पर अपनी सहमति दे दी। १३ अप्रेल १९२८ को युद्ध-परित्याग की घोषणा करने वाली एक सामान्य संधि का मसविदा बनकर तैयार हो गया जिसे केलॉग ने जर्मनी, ब्रिटेन, इटली, जापान आदि १४ राष्ट्रों को भेजा। इस मसविदे के कुछ संदिग्ध पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए केलॉग ने अमेरिकन अन्तर्राष्ट्रीय कानून एसोसियेशन के सम्मुख एक भाषण में कहा कि यह संधि विभिन्न राष्ट्रों के आत्म-रक्षा के अधिकार पर एवं वर्तमान दायित्वों या बाध्यताओं (Existing obligations) पर कोई प्रभाव नहीं डालती, इनके लिए युद्ध का आश्रय लिया जा सकता था। संधि का मसविदा इन व्याख्याओं के साथ ही विभिन्न राज्यों के पास भेजा गया।

विभिन्न देशों की जनता ने युद्ध को अवैध घोषित करने वाले इस मसविदे का बड़े उत्साह से स्वागत किया और अपनी सरकारों को इसे स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित करने में सहायता की। २७ अप्रेल और १९ मई को क्रमशः जर्मनी और ब्रिटेन ने कुछ व्याख्याओं अथवा शर्तों के साथ सन्धि के प्रारूप पर अपनी स्वीकृति प्रदान की। फ्रांस एवं अन्य विभिन्न राज्यों ने भी अपनी सहमति प्रेषित करते हुए संधि पर कुछ सीमायें लगायीं। अन्त में संधि के मसविदे पर विचार करने के लिए २७ अगस्त १९२८ को अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान, बेल्जियम, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया आदि १५ राष्ट्रों के प्रतिनिधि पेरिस में एकत्रित हुए और इन्होंने समझौते पर हस्ताक्षर किए। **यह समझौता 'पेरिस पेक्ट' या "केलाग-ब्रियां समझौता" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।** अन्य देशों को भी इसे स्वीकार करने का आमन्त्रण दिया गया। १९३३ तक ६५ देशों ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया। यह संख्या राष्ट्रसंघ के संविदा (Covenant) पर हस्ताक्षर करने वाले देशों से ७ अधिक थी। इस पर हस्ताक्षर न करने वाले अमेरिका के मुनरो-सिद्धांत से आशंकित अर्जेन्टाइना, ब्राजील, बोलिविया और सेलवेडोर थे। अरब के नज्दहजाज और यमन को इस पर हस्ताक्षर करने के लिए आमंत्रित ही नहीं किया गया था।

समझौते की व्यवस्थायें—केलॉग-ब्रियां समझौते अथवा पेरिस पेक्ट का वास्तविक नाम "युद्ध-परित्याग की सामान्य संधि" (General Treaty for the Renunciation of War) था। यह समझौता एक अत्यन्त छोटा और साधारण लेखपत्र था। इसमें प्रस्तावना के अतिरिक्त केवल ३ अन्य धारायें और थीं। संधि की प्रस्तावना में कहा गया था कि समझौता करने वाले पक्ष अपना यह परम कर्तव्य मानते हैं कि वे मानव जाति के कल्याण को

प्रोत्साहन दें, अपनी जनताओं के बीच कायम शान्तिपूर्ण और मैत्री के सम्बन्धों को स्थायित्व प्रदान करें, अपने पारस्परिक सम्बन्धों में शान्तिपूर्ण उपायों से परिवर्तन लायें तथा सभी सभ्य राष्ट्रों की इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकता स्थापित करें ताकि वे राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का परित्याग कर दें। **संधि की तीन धाराओं में प्रथम दो समझौते की वास्तविक व्यवस्थाओं को प्रकट करती थीं जबकि तीसरी धारा में "संधि की कार्यान्विति की तिथि का निर्देश और इसमें सम्मिलित होने वाले अन्य देशों के सम्बन्ध में व्यवस्था" की गई थी। संधि की प्रमुख दो धारायें निम्नानुसार थीं[1]—**

"उच्च संविदाकार पक्ष (High Contracting Parties) गम्भीरतापूर्वक अपने-अपने राष्ट्रों के नामों में यह घोषित करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध के आश्रय की निन्दा करते हैं और अपने एक-दूसरे के साथ सम्बन्धों में राष्ट्रीय नीति के एक यंत्र के रूप में इसका परित्याग करते हैं।"

"उच्च संविदाकार पक्ष सहमत होते हैं कि सभी विवादों अथवा झगड़ों का समाधान अथवा निर्णय, जो भी उनसे उत्पन्न हों और चाहे वे किसी भी स्वभाव एवं किसी भी उद्गम के हों, शांतिपूर्ण साधनों की अपेक्षा अन्य किसी भी प्रकार से नहीं होगा।"

---

1. **Text** *Article 1*

The High Contracting Parties solemnly declare in the names of their respective peoples that they condemn recourse to war for the solution of international controversies, and renounce it as an instrument of national policy in their relationship with one another.

Article 2

The High Contracting Parties agree that the settlement of solution of all disputes or conflicts of whatever nature or of whatever origin they may be, which may arise among them, shall never be sought except by pacific means.

Article 3

The present Treaty shall be ratified by the High Contracting Parties named in the preamble in accordance with their respective constitutional requirements and shall take effect as between them as soon as all their several instruments of ratification shall have been deposited at Washington.

स्पष्ट है कि पहली धारा में हस्ताक्षर करने वाले राज्यों ने अन्त-र्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध के उपाय के अवलम्बन की निन्दा की थी और दूसरी धारा में उनके द्वारा इस बात पर सहमति प्रकट की गयी थी कि वे पारस्परिक विवादों को केवल शांतिपूर्ण तरीकों से ही सुलझायेंगे ।

समझौते की सीमायें—ऊपर कहा जा चुका है कि केलॉग ब्रियां सम-झौते ने युद्ध को "राष्ट्रीय नीति के एक साधन के रूप में" अवैध घोषित कर दिया था किन्तु इस पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने इसे तभी स्वीकार किया था जब उनके द्वारा लगायी गयी कतिपय सीमाओं और शर्तों को मान लिया गया था । ये शर्तें समझौते के महत्व और प्रभाव को व्यावहारिक दृष्टि से एकदम कम कर देने वाली थीं । इन सीमाओं ने समझौते को किस तरह निष्प्रभाव बना दिया,इसका पता उन शर्तों या सीमाओं से चलता है जो प्रमुख राष्ट्रों ने लगायी थीं ।

संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश मन्त्री ने समझौते के निर्माण के समय ही यह लिख दिया था कि "प्रत्येक राज्य को यह निर्णय करने का एकमात्र अधिकार है कि क्या वर्तमान परिस्थितियों में आत्म-रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक है ।" इससे यह स्पष्ट था कि अमेरिका केवल अपने प्रदेश की रक्षा के लिए ही नहीं बल्कि मुनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) की सुरक्षा के लिए भी युद्ध कर सकता था । अमेरिकन सीनेट के सदस्य बोरा (Borah) ने इस समय कहा था—"हमारे नागरिकों के जीवन और उनकी सम्पत्ति के विरुद्ध किये गये वास्तविक अथवा संभावित आक्रमणों के निवारण हेतु हमें यह पूरा अधिकार है कि हम आवश्यकता पड़ने पर अपनी फौजें मेक्सिको या चीन भेज सकें ।"

फ्रांस ने इस संधि को निम्नलिखित सीमाओं के साथ स्वीकार किया—

(१) संधि उस समय तक लागू नहीं होगी जब तक सब देश इसे स्वीकार न कर लें ।

(२) प्रत्येक हस्ताक्षरकर्त्ता को वैध आत्म-रक्षा का अधिकार प्राप्त होना चाहिए ।

(३) यदि एक हस्ताक्षरकर्त्ता युद्ध न करने के अपने वचन का उल्लं-घन करता है तो अन्य सभी देशों को स्वतः अपनी बाध्यताओं से मुक्त समझा जाना चाहिए ।

ब्रिटेन ने समझौते को स्वीकार करते समय यह स्पष्ट कर दिया कि "विश्व में अनेक ऐसे प्रदेश हैं जिनका कल्याण और जिनकी अखण्डता हमारी शांति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है। इनको आक्रमणों से सुरक्षित रखना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए आत्म-रक्षा का कार्य है। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ब्रिटिश सरकार नयी संधि को इस शर्त के साथ स्वीकार कर रही है कि इससे उनकी यह स्वतंत्रता किसी प्रकार खंडित नहीं होगी।"

जापान के विदेशमन्त्री ने जापानी संसद में १९२९ में दिये गये अपने एक वक्तव्य में कहा कि—"मंचूरिया और मंगोलिया ऐसे प्रदेश हैं, जहां हम आत्म-रक्षा के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं।.....यदि मंचूरिया में शांति भंग हो तो जापान के लिए आत्म-रक्षा के रूप में वहां आवश्यक कार्यवाही करना न्यायोचित है। इन अवस्थाओं में जापान युद्ध-विरोधी समझौते का पालन करने को बाधित नहीं होगा।" जापान ने १९३१ में मंचूरिया की विजय के समय अपनी इसी आत्म-रक्षा की युक्ति की दुहाई दी थी। उसने यह तर्क उपस्थित किया था कि मंचूरिया की सुरक्षा उसके लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी ग्रेट ब्रिटेन के लिए स्वेज नहर की तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए पनामा नहर की। जापान ने तो अपने मंचूरियायी आक्रमण को केवल पुलिस कार्यवाही की संज्ञा दी थी। आगे जाकर इटली ने जब संधि का निन्दास्पद उल्लंघन किया और एबीसीनिया को हड़पना चाहा तो उसने अपनी अन्यायपूर्ण कार्यवाही को 'आत्मरक्षात्मक युद्ध' कहकर पुकारा। अन्य राष्ट्रों ने भी कैलाग-ब्रियां समझौते को स्वीकार करते समय इसी प्रकार की विविध सीमाएं लगा दी थीं।

संक्षेप में यह कहना चाहिए कि विभिन्न राष्ट्रों ने युद्ध के परित्याग का वचन दिया था लेकिन साथ ही इन तीन अवस्थाओं में युद्ध को उचित ठहराया था—

१—आत्मरक्षार्थ, २—पहले की गयी संधियों के दायित्वों का पालन करने हेतु, एवं ३—राष्ट्रसंघ के संविदा के दायित्वों को निभाने के लिए।

अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि महाशक्तियों द्वारा उपरोक्त
शर्तों और प्रतिबन्धों के साथ पेरिस समझौते या केलॉग-ब्रियां पेक्ट स्वीकार
करने के कारण यह समझौता व्यावहारिक दृष्टि से नितान्त प्रभावहीन हो
गया। राष्ट्रों ने वास्तव में उसे करारिक उत्तरदायित्व (Contractual
Obligation) की अपेक्षा सैद्धान्तिक घोषणा ही अधिक माना और इस
स्थिति को बनाये रखा कि हर राज्य अपने कृत्यों का एक मात्र निर्णायक
है। इस सम्बन्ध में एडविन बोरचर्ड (Edvin Borchard) ने यह सत्य ही
लिखा है कि c... them a... शर्तों (Reservations) को देखते हुए किसी ऐसे युद्ध
shall have .

की कल्पना करना बहुत कठिन था जो पिछली शताब्दी में लड़ा गया हो या भविष्य में लड़ा जाने वाला हो किन्तु जो उपरोक्त शर्तों में न आता हो। इसने युद्धों को अवैध ठहराने के स्थान पर विशेष युद्धों को न्यायपूर्ण ठहराने की ऐसी गम्भीरतम अनुमति प्रदान की जो अब तक कभी युद्धों को प्रदान नहीं की गयी थी।" वास्तव में 'राष्ट्रीय सुरक्षा' की परिभाषा में न केवल साम्राज्य, राष्ट्रीय हित से पूर्ण संधियां और राष्ट्रीय नीतियां ही थीं अपितु वे प्रदेश भी सम्मिलित किये जा सकते थे जिन्हें कोई राष्ट्र अपनी आक्रामक नीति का शिकार बनाना चाहता हो। अतः 'आत्मरक्षा' या 'राष्ट्रीय सुरक्षा' की समस्या इस समझौते की मूल भावना को नष्ट करने में सफल हो गयी।

समझौते की विशेषताएं—यह समझौता निस्संदेह उपरोक्त प्रतिबन्धों एवं शर्तों के कारण बहुत कुछ निष्प्राण हो गया था और इसमें आगे बताये जाने वाले अनेक दोष भी विद्यमान थे, किन्तु फिर भी यह समझौता बड़ा महत्वपूर्ण था और अपने में कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं ग्रहण किये था। इसकी ये विशेषताएं निम्नलिखित थीं—

प्रथम, इस समझौते ने युद्ध के प्रति एक नवीन नैतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इस रूप में यह निश्चित रूप से प्रभावशाली था। गैथोर्न हार्डी के शब्दों में, "एतिहासिक घटना के रूप में, नीति की दृष्टि से लगभग सब देशों द्वारा युद्ध का यह परित्याग अद्वितीय महत्व रखता है। यह युद्ध के प्रति एक नवीन नैतिक दृष्टिकोण का परिचायक था और इस रूप में इसके प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता।"[1] यह समझौता "इस दृष्टि से और भी विशेष महत्वपूर्ण था कि इसने राष्ट्रसंघ से बाहर संयुक्त-राज्य अमेरिका और सोवियत रूस जैसे महान् राज्यों को भी शांति के सामूहिक संगठन में सहयोग देने का आधार प्रदान किया।"[2]

---

1. "As a historical event, this almost universal repudiation of war as an instrument of policy seems to have a unique importance. As a gesture indication of a new ethical attitude to war, it was undemiably impressive."

—*Gathorn Hardy*; A Short History of International Affairs, page 183-84.

2. "It was particularly important in that it created a basis upon which the great nations outside the League, the United States of Russia, could take a direct interest in the collective organization of peace."

—*Gathorn Hardy*: Op. Cit., page 183-84.

द्वितीय, यह समझौता विश्व इतिहास में एक सीमा चिन्ह (Landmark) था। "इतिहास में यह पहला राजनीतिक समझौता था जिसका क्षेत्र लगभग सभी देश थे।"[1] इस समझौते को स्वीकार करने वाले ६५ देशों की संख्या राष्ट्रसंघ की तत्कालीन सदस्य-संख्या की अपेक्षा ७ अधिक थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ में सम्मिलित न होने वाले दो महत्वपूर्ण देशों में से संयुक्त राज्य अमेरिका तो इस समझौते के जन्म-दाताओं में से था और सोवियत रूस को, आरम्भ में कुछ हिचकिचाहट के बाद, इतना उत्साह चढ़ा था कि सामान्य अनुसमर्थन के पहले ही उसने इस पेरिस-समझौते को परस्पर लागू करने के लिए अपने पड़ौसी देशों से विशेष समझौते सम्पन्न किये।

तृतीय, यह समझौता कभी रद्द नहीं किया जा सकता था। राष्ट्रसंघ के सदस्य दो वर्ष का नोटिस देकर संघ से पृथक हो सकते थे, किन्तु इस समझौते में ऐसी किसी भी व्यवस्था का अभाव था जिसके द्वारा राष्ट्र अपने युद्ध-परित्याग की घोषणा ले पाते। एक वार ऐसी घोषणा कर देने के बाद उसे वापस लेने या अस्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

चतुर्थ, इस समझौते ने सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर परम्परागत राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को कुछ अंशों में खण्डित कर दिया, क्योंकि इसके द्वारा सब देशों ने, प्रभुता-सम्पन्न होते हुए भी, यह स्वीकार किया कि वे एक विश्व-समाज के सदस्य हैं और उसके हित के लिए युद्ध का परित्याग करने को सहमत हैं।

समझौते की आलोचना:—केलॉग-ब्रियां पेक्ट यद्यपि इतिहास की एक अपूर्व घटना थी, इसमें एक अपूर्व स्वागत अर्जित किया और नैतिक दृष्टि से इसने एक नवीन युग की सृष्टि की तथापि अपनी स्वीकृति के कुछ समय बाद ही इसे "निरर्थक" और "अव्यावहारिक" जैसे शब्द उपहार में मिलने लगे। इसे एक अनुबन्धीय दायित्व (Contractual Obligation) की अपेक्षा सैद्धान्तिक घोषणा कहा जाने लगा और "यह पूर्णतया प्लेटोनिक अन्तर्राष्ट्रीय चुम्बन रह गया, जिसने भविष्य के लिए कुछ भी आश्वासन नहीं दिया।"[2] समझौते की इस दुर्दशा के मूल में इसकी कुछ गम्भीर कमियां

1. "Imperfect thought it was, the Pact of Paris was a considerable land-mark. It was the first political agreement in history of almost universal scope."
—*E. H Carr* : International Relations Between the Two World Wars, page 119.

2. "An international kiss purely Platonic promising nothing for future."

छिपी पड़ी थीं। समझौता विभिन्न दृष्टिकोणों से अपर्याप्त और दोषपूर्ण था। इसके प्रमुख दोष निम्नानुसार थे—

समझौते का **पहला** बड़ा दोष यह था कि इसके निर्वचन या प्रवर्तन के लिए न तो किसी संगठन की स्थापना ही की गयी थी और न ऐसा विचार ही था। ऐसे साधन के अभाव में, जिसके द्वारा संधि की व्यवस्था की जा सकती या उसे क्रियान्वित किया जा सकता, इसका प्रभावहीन होना स्वाभाविक था। संधि के उल्लंघन पर किसी भी प्रकार के दण्ड या अनुशस्ति की व्यवस्था भी नहीं की गयी थी। इस प्रकार हस्ताक्षर करने वालों पर कोई ऐसी बाध्यता न थी कि वे अपने विवादों के समाधान के लिए शान्तिपूर्ण उपायों का ही आश्रय लें। **गेथोर्न हार्डी ने समझौते की इस कमी को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "इसका इससे अधिक ठोस कोई आधार नहीं था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य पूरी ईमानदारी से इसका पालन करें। इसमें इसका उल्लंघन करने वालों को दंडित करने की कोई व्यवस्थाएं नहीं थीं। इस युग में जब राज्य अपने को असुविधाजक प्रतीत होने वाले उत्तरदायित्वों के पालन की उपेक्षा कर रहे थे, यह समझौता राज्यों में ऐसा विश्वास नहीं उत्पन्न कर सकता था जिससे उन्हें निःशस्त्रीकरण की प्रेरणा मिले।"[1]**

समझौते का **दूसरा** गम्भीर दोष यह था कि हस्ताक्षरकर्त्ता देशों ने अनेक शर्तों के साथ इसे स्वीकार किया था, और इन शर्तों ने इसे सर्वथा प्रभावहीन बना दिया था। राज्यों द्वारा अपनी-अपनी व्याख्याओं के साथ स्वीकार किये जाने से व्यवहार में संधि अत्यधिक प्रतिबन्धित अथवा संकुचित हो गयी थी। यह समझ लिया गया था कि आत्मरक्षा अथवा पहले की संधियों के दायित्व को निभाने अथवा राष्ट्रसंघ के संविदा के दायित्वों की पूर्ति करने की आड़ में अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए कभी भी युद्ध किया जा सकता है। साथ ही यह भी समझ लिया गया था कि यदि एक हस्ताक्षर-कर्त्ता देश समझौते को भंग कर देगा तो अन्य सभी देश अपने आप समझौते से मुक्त हो जायेंगे। अतः जैसा शूमैन ने कहा है कि **"समझौता अपनी सबसे अधिक कमजोर कड़ी की अपेक्षा मजबूत नहीं था।"**[2] स्पष्ट है कि यह संधि युद्ध के खिलाफ गारन्टी नहीं थी। पुनश्च, समझौते में केवल आक्रमणात्मक युद्धों (Aggressive wars) को ही अवैध ठहराया गया था। इस तरह इस बात को भुला दिया गया था कि प्रायः युद्ध छेड़ने वाले सभी देशों

---

1. *Gathorn Hardy* : Op. Cit., page 184.
2. "The Pact was no stronger than its weakest link."
   —*Schuman* : International Politics.

से यही दावा होता है कि वे आत्मरक्षा के लिए लड़ रहे हैं। वास्तव में शब्दों के आकर्षक प्रयोगों के भीतर एक गम्भीर कूटनीतिक चाल छिपी थी जिसका सहारा लेकर प्रत्येक राज्य अपने आक्रमण को अनाक्रमण कह सकता था।

समझौते के उपरोक्त दोष का एक अत्यन्त गंभीर दुष्परिणाम यह निकला कि जिन हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए समझौते का उल्लंघन करना चाहा, वे युद्ध-घोषणा किये बिना ही युद्ध छेड़ने लगे। १९३१ में जापान ने चीन में ऐसा ही किया, वह कई वर्ष तक बिना घोषणा के ही युद्ध करता रहा। वास्तव में समझौता इस आशा के आधार पर बनाया गया था कि इसके द्वारा युद्ध-विरोधी लोकमत इतना प्रबल एवं जागरूक हो जायगा कि कोई राष्ट्र आक्रमणात्मक युद्ध का आश्रय लेना पसन्द नहीं करेगा। लेकिन यह आशा निराशा में परिणत हो गयी और युद्ध-लोलुप राष्ट्र 'युद्ध की अवैधता' को व्यवहार रूप में ऐसा अलिखित कानून मानने लगे जिसको तोड़ने का उन्हें कोई दंड नहीं दिया जा सकता था। इस तरह यह समझौता युद्ध बन्द करने की एक अतृप्त आकांक्षा मात्र बन कर रह गया।

इस समझौते की अग्नि-परीक्षा १९२९ में सोवियत रूस-चीन के, १९३१ में जापान-मंचूरिया के और १९३५-३६ में इटली-एबीसीनिया के युद्ध में हुई। इन तीनों अवसरों पर यह समझौता युद्ध रोकने में पूर्णतः असफल हुआ और इसकी दुर्बलतायें इसका उपहास उड़ाने लगीं। मंचूरिया के प्रश्न पर जब रूस-चीन संघर्ष हुआ और सोवियत रूस की सेनाओं ने मंचूरिया में प्रवेश किया तो जन-धन की अपार क्षति हुई। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश मन्त्री स्टिमसन (Stimson) ने पेरिस-समझौते को उद्धृत करते हुए दोनों पक्षों से अपने मतभेदों का शांतिपूर्ण साधनों से निर्णय करने का निवेदन किया। किन्तु इस पर सोवियत रूस ने अमेरिकन सरकार पर अपवित्र उद्देश्यों का आरोप लगाते हुए दृढ़तापूर्वक यह कहा कि जब अमेरिका ने सोवियत संघ की सरकार को मान्यता (Recognition) ही प्रदान नहीं की है तो उसका रूस को युद्धबन्दी का आग्रह करना कोई माने नहीं रखता। जब जापान ने १९३१ में मंचूरिया-विजय की तो उसने आत्मरक्षा के अधिकार का लाभ उठाया और अपने आक्रमण को आत्मरक्षार्थ की गई पुलिस कार्यवाही बताया। उसने अघोषित युद्ध छेड़ते हुए स्पष्ट घोषित किया कि मंचूरिया का प्रदेश उसके प्रभाव क्षेत्र में है और वह "इसमें जापानी सैनिकों की रक्षा करने के लिए पुलिस कार्यवाही करने को बाधित हुआ है, जागान यहाँ आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा है, अतः इस पर

पेरिस–समझौता लागू नहीं होता।" यद्यपि अमेरिका ने जापान के इस दावे को स्वीकार नहीं किया तथापि जापानी अन्याय को रोकने के लिए भी कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाया गया।

उपरोक्त तीनों घटनाओं से पेरिस–समझौते का खोखलापन स्पष्ट हो गया। **इन घटनाओं ने इस समझौते की निम्नांकित दुर्बलताओं को प्रकट किया:—**

(१) समझौते के अन्तर्गत ऐसी किसी उपयुक्त संस्था अथवा मशीनरी की व्यवस्था नहीं थी जो युद्ध करने वाले देशों को युद्ध बन्द करने के लिए प्रेरित कर सके।

(२) यदि कोई राज्य संधि को कार्यान्वित कराने के लिए किसी राष्ट्र का उसके उत्तरदायित्वों की तरफ ध्यान आकर्षित करने का प्रयास करे तो युद्धरत राष्ट्र अथवा राष्ट्रों द्वारा उसकी भावना को चुनौती दी जा सकती थी और उस राज्य के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियों तथा वैमनस्यों का जन्म हो सकता था। कारण यह था कि समझौते के अन्तर्गत किसी राष्ट्र विशेष या समिति को अधिकार नहीं था कि वह युद्धरत राष्ट्रों को युद्ध-विमुख करने का प्रयत्न प्रारम्भ करे।

(३) इस समझौते में संघर्ष के कारणों की जाँच करने तथा उसके निदान के लिए कोई सुनिश्चित व्यवस्था न थी।

इस तरह स्पष्ट है कि समझौता **"पैने दांतों और नुकीले पंजों से रहित सिंह"** था। इसमें कोरा आदर्शवाद और ऊंचे सिद्धान्त थे, उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने की आवश्यक व्यवस्थाएं नहीं थीं। समझौते ने पुनः इस बात की पुष्टि कर दी कि चिरशांति का युग केवल एक स्वप्न–मात्र है। यह समझौता वास्तव में इतना दुर्बल कभी सिद्ध न होता यदि हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य इसके प्रति निष्ठावान होते। **कार (Carr) ने लिखा है—"यह सचमुच ही संभव मालूम पड़ता है कि कुछ राज्य तो मुंह बचाने की इच्छा से इस समझौते में शामिल हुए थे, न कि उसकी उपयोगिता में किसी विश्वास के कारण।"**[1]

समझौते का **तीसरा** दोष और दुष्परिणाम यह सिद्ध हुआ कि इसने राष्ट्रसंघ के लिए भी एक चुनौती प्रस्तुत कर दी। **"राष्ट्रसंघ के *लगभग हर* सदस्य ने यह उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया था कि वह *कभी भी युद्ध* (आत्म-रक्षा को छोड़ कर) का आश्रय नहीं लेगा,** *अतः सामान्य बुद्धि का* **यह तकाजा प्रतीत होता था कि इस नये उत्तरदायित्व का** *समावेश अनुबन्ध-*

---

1. *E H. Carr* : Op. Cit., page 11

पत्र (Covenant) में कर उसे दृढ़ बनाया जाये।"[1] इसलिए सन् १९२९ में ब्रिटेन ने जब उपरोक्त परिणाम को प्राप्त करने के लिए अनुबन्ध–पत्र में संशोधनों का प्रस्ताव प्रस्तुत किया तो किसी को भी आश्चर्य नहीं हुआ। पेरिस-समझौता राष्ट्रसंघ के लिए एक और दृष्टि से भी चुनौती सिद्ध हुआ।

श्री कार के शब्दों में "पेरिस-समझौता एक नैतिक घोषणा थी जिसका आधार युद्ध-पाप (Sinfulness of War) की सामान्य भावना थी। अनुबन्ध पत्र एक राजनीति संधि था जिसके प्रमुख उपबन्धों का आधार वे बातें थीं जिन्हें १९१९ के राजनीतिज्ञ व्यवहार्य और इष्टकर (Expedient) मानते थे। पेरिस-समझौते के द्वारा सभी प्रकार के युद्धों की निन्दा की गयी थी। किन्तु उनमें से किसी के लिए भी दण्ड की व्यवस्था उसमें नहीं थी। अनुबन्ध–पत्र में कुछ युद्धों का आश्रय लेने की अनुमति थी और कुछ युद्धों का उसमें निषेध था। किन्तु निषिद्ध युद्धों के लिए दण्ड की व्यवस्था भी उसमें थी। आशय में इतने विभिन्न लेखों (Instruments) को एकीकृत करना और इस एकीकरण को आकर्षक बनाना अतिमानवीय कार्य ही था। यदि समझौते की धाराओं को अनुबन्ध–पत्र में ज्यों का त्यों शामिल कर दिया जाता तो ऐसा दस्तावेज तैयार हो जाता जिसके एक भाग में युद्ध का पूर्णतया निषेध होता और दूसरे भाग में किन्हीं स्थितियों में युद्ध का आश्रय लेने की अनुमति होती—यह निंदास्पद विरोधाभास ही होता। अगर आवयविक एकीकरण (Organic Fusion) की दिशा में और भी आगे बढ़ा जाता, तो हमारे सामने एक संशोधित अनुबन्ध--पत्र आता जिसमें कि सभी युद्धों का निषेध होता, किन्तु कुछ ही युद्धों के आश्रय पर दण्ड की उसमें व्यवस्था होती; इस प्रकार अनमने भाव से हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि अनुबन्ध-पत्र के कुछ भागों का उल्लंघन अपनी हानि किये विना ही किया जा सकता था।"

जो भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि पेरिस समझौता अपनी दुर्बलताओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का था। यह एक ओर तो ऐसा प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय समझौता था जिसे सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त हुई और दूसरी ओर यह अमेरिका की पृथकतावादी नीति की समाप्ति का सूचक था।

(५) **जनरल एक्ट या सामान्य अधिनियम (General Act)**—परस्पर पंचनिर्णय, अनाक्रमण और पारस्परिक सहायता सम्बन्धी प्रतिज्ञा के विकास के लिए प्रयत्न द्वारा राष्ट्रसंघीय सुरक्षा-पद्धति को दृढ़ करने की एक और अन्तिम चेष्टा सन् १९२८ में हुई। लोकार्नो संधियों के आधार पर असम्बली की एक समिति ने विवादों को सुलझाने के लिए बहुत से आदर्श

1. Ibid, page 120.

समझौतों के प्रारूप तैयार किये। असम्बली ने इन प्रारूपों का संग्रह करके सितम्बर १९२८ को "अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए एक सामान्य अधिनियम" (General Act for the Pacific Settlement of International Disputes) बनाया।

इस अधिनियम को चार अध्यायों में विभाजित किया गया। पहले अध्याय में समझौते सम्बन्धी धाराएं थीं जिनके अनुसार राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार के झगड़े जो राजनीति या कूटनीति से नहीं सुलझ सकते थे, एक द्वि-विध समझौता कमीशन को सौंप दिये जाते थे। यही बात लोकार्नो पेक्ट में भी कही गयी थी। विवादों का समाधान करने के लिए अब राष्ट्र-संघ के सदस्यों को अन्य राष्ट्रों से संधि करने का अधिकार प्राप्त था। अधि-नियम के दूसरे अध्याय में न्याय सम्बन्धी विवादों को सुलझाने की धाराओं का उल्लेख था। इसके अनुसार सभी वैधानिक झगड़े निर्णय के लिए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप दिये जाते थे, वैसे पार्टियां बीच-बचाव या समझौता आदि के अन्य उपाय भी काम में ला सकती थीं। तीसरे अध्याय में बीच-बचाव सम्बन्धी मामलों का उल्लेख था। यह तरीका तभी अपनाया जाता था जबकि समझौता असफल हो जाता। बीच-बचाव करने वालों का निर्णय मान्य था। यदि समझौता कमीशन एक महिने में विवादों का निप-टारा करने में असफल रहता तो मामला फिर पाँच व्यक्तियों से निर्मित आर-बिटनल-ट्रिब्यूनल को पेश किया जाता था जो इसी कार्य के लिए स्थापित किया गया था। यह ट्रिब्यूनल वैधानिक नियमों की कार्यान्विति उसी प्रकार कर सकता था जिस प्रकार स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय करता था। चौथे अध्याय में सामान्य मामलों से सम्बन्धित धाराएं थीं। एक धारा ऐसी थी जिसके अनुसार सदस्यों को ऐसे कदम उठाने से रोका गया था जो वैधानिक निर्णयों के प्रतिकूल अथवा शांति के लिए की गयी व्यवस्थाओं के विरोध में होते।

यह सामान्य अधिनियम इतना लचीला था कि इसे सभी देशों में लागू किया जा सकता था, किन्तु दुर्भाग्यवश इसे सफलता नहीं मिली। पहला अध्याय अधिक उपयोगी न था। समझौते कमीशन की धाराओं का उल्लेख पहले ही अनेक संधियों में हो चुका था लेकिन उनका व्यावहारिक उपयोग कभी नहीं किया गया। दूसरे अध्याय में जो व्यवस्थाएं की गयीं थीं वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की धारा में पहले से ही विद्यमान थीं। सन् १९३५ के अन्त तक केवल २३ राज्यों ने इस अधिनियम को स्वीकार किया। होलैण्ड और स्वीडन ने केवल प्रथम दो अध्याय ही माने। इस तरह इस अधिनियम की व्यावहारिक उपयोगिता न रह सकी और सामूहिक सुरक्षा-

पद्धति स्थापित करने की राष्ट्रसंघ की अन्तिम महत्त्वपूर्ण चेष्टा भी असफल हो गयी।

निःशस्त्रीकरण (Disarmament)

समस्या और कठिनाइयां—प्रथम महायुद्ध के बाद द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत को आन्दोलित कर देने वाली सुरक्षा की खोज की समस्या के साथ निःशस्त्रीकरण की समस्या का जुड़ा रहना स्वाभाविक है क्योंकि दोनों एक-दूसरे से पृथक नहीं अपितु घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। राष्ट्रों के बीच जब तक शस्त्रों की होड़ वर्तमान है तब तक वास्तविक शांति और सुरक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शस्त्रीकरण की वृद्धि को रोकने में असफलता ही वह सबसे बड़ा कारण था जिसने सारे संसार को प्रथम महायुद्ध की ज्वालाओं में झोंक दिया था; और तभी से संसार के राजनीतिज्ञ गम्भीरतापूर्वक यह अनुभव करने लगे कि चिर शांति की स्थापना के लिए निःशस्त्रीकरण पर बल दिया ही जाना चाहिये। प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयास लगभग प्रदर्शन मात्र थे किन्तु ८ जनवरी, १९१८ को शांतिदूत अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने पहली बार हृदय से और निष्ठापूर्वक निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त पर बल देते हुए कहा कि "राष्ट्रीय शस्त्रों को केवल आन्तरिक शांति की रक्षा तक ही सीमित कर देना चाहिये।" इस सिद्धान्त का ही यह प्रभाव था कि पेरिस के शांति-सम्मेलन में जर्मनी का निःशस्त्रीकरण इसलिये नहीं किया गया कि वह पराजित हो चुका था एवं उसके शस्त्रीकरण से विश्व को आक्रमण का पुनः भय था अपितु यह इसलिये हुआ कि विश्व के निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह प्रथम पग था और लगभग सभी राष्ट्रों ने इस निश्चय को प्रकट किया कि राष्ट्रसंघ का यह प्रथम कर्तव्य होगा कि वह विश्व-शांति की स्थापना के लिये शस्त्रों को सीमित करे।

उपरोक्त निश्चय के अनुसार संघ के संविदा के आठवें अनुच्छेद द्वारा संघ के सदस्यों ने यह माना कि "राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान रखते हुए किसी भी राष्ट्र के शस्त्रास्त्रों की निम्नतम सीमा निर्धारित करना शांति बनाये रखने के लिये आवश्यक है।" इस स्वीकृति के अनुसार एक तरफ तो मित्र-राष्ट्रों ने नैतिक रूप में जर्मनी को यह वचन दिया कि जर्मनी का निःशस्त्रीकरण कर दिये जाने के बाद व्यापक निःशस्त्रीकरण किया जायगा, और दूसरी ओर उन्होंने शस्त्रास्त्रों की कमी में "राष्ट्रीय सुरक्षा" को सर्वप्रमुख मान लिया। इसका अभिप्राय यही था कि मित्रराष्ट्र अपनी सुरक्षा का ख्याल रखते हुए अपना निःशस्त्रीकरण करेंगे। वास्तव में ये दोनों ही बातें कुछ परस्पर विरोधी थीं और इन दोनों सिद्धान्तों में संघर्ष ही निःशस्त्रीकरण की समस्या बन गया।

प्रश्न यह उठा कि व्यापक निःशस्त्रीकरण की दिशा में किस तरह कदम उठाया जाय ? सभी शांति चाहते थे और शांति की उपलब्धि शक्ति-संचय के द्वारा करना चाहते थे । सब समझते थे कि उनकी सेना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये अनिवार्य है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती । सेनाएं और शस्त्रीकरण की होड़ शांति के लिये निःसन्देह खतरनाक है, पर उनका अभाव या उनमें कमी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से और भी अधिक खतरनाक हो सकती थी । सभी यह सोचते थे कि उनके हथियार तो सुरक्षा के लिये हैं, औरों के हथियार आक्रमण के लिये हैं । निःशस्त्रीकरण के विरुद्ध इस तरह के तर्क बराबर उपस्थित किये जाते थे । इसके अतिरिक्त दो विभिन्न विचारधाराओं के कारण निःशस्त्रीकरण की समस्या और भी जटिल हो गई । एक विचारधारा यह थी कि पहले सुरक्षा का प्रश्न हल हो तब निःशस्त्रीकरण का, दूसरी विचारधारा के पक्षपाती प्रत्यक्षरूप में निःशस्त्रीकरण की समस्या का निदान ढूंढना चाहते थे । पहली विचारधारा का अगुआ फ्रांस था जबकि इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि दूसरी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे । पराजित राष्ट्र निःशस्त्रीकरण ही चाहते थे क्योंकि वे पंगु हो चुके थे और विजयी राष्ट्रों को अपनी ही स्थिति में देखना चाहते थे । किन्तु गुप्त रूप से वे भी अपनी सैनिक-शक्ति को दृढ़ देखना चाहते थे । फ्रांस जैसे राष्ट्र इस बात के प्रबल विरोधी थे । फ्रांस का कहना था कि शस्त्रीकरण घातक है लेकिन निःशस्त्रीकरण उससे भी अधिक घातक है । उसका तर्क था कि बाघ से मिलने के लिये निःशस्त्र होकर जाना बेवकूफी नहीं तो और क्या है ? पोलैण्ड पूर्वी सीमा के भय से अपनी सैनिक समृद्धि के लिये लालायित था । उधर रूस समाजवाद का पक्षधर बन चुका था और परम्परागत प्रजातान्त्रिक राज्यों की नींव खोखली करने में लगा हुआ था । इटली और यूगोस्लाविया के सम्बन्ध मधुर न थे और बाल्कान अब भी खतरनाक क्षेत्र बना हुआ था । इस तरह के सन्देह, अविश्वास और विस्फोटक वातावरण की नींव पर निःशस्त्रीकरण का महल खड़ा करना एक दुष्कर कार्य था ।

निःशस्त्रीकरण की समस्या जटिल से जटिलतर होती गयी क्योंकि इस बारे में जो भी निर्णय होते थे वे किसी भी देश पर नैतिक रूप में ही लागू हो सकते थे और राजनीति के खेल में नैतिक प्रतिबन्धों की अवहेलना करना बड़ा सरल था । राष्ट्रों के शस्त्रीकरण की सीमा निर्धारित करने के लिये कोई कमीशन नियुक्त किये जाने में कठिनाई यह थी कि वह राष्ट्रों की गुप्त बातों को जान जायेगा ।

निःशस्त्रीकरण की समस्या चाहे कितनी भी विकट रही हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९१९ से १९३९ तक इसका समाधान ढूंढने के

अनवरत प्रयास राष्ट्रसंघ में और राष्ट्रसंघ से बाहर किये जाते रहे। संसार का यह दुर्भाग्य था कि अन्ततः दो विश्वयुद्धों के बीच का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की दुःखान्त कहानी बन गया।

राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास

युद्ध के समाप्त होने के तुरन्त बाद निःशस्त्रीकरण के लिये उपयुक्त वातावरण में राष्ट्रसंघ की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ और शस्त्रास्त्रों में सन्तोषजनक पाबंदी लगाने के शुभ अवसर का लाभ उठाते हुए लॉयड जॉर्ज ने यह प्रस्ताव रखा कि "राष्ट्र-संघ-विधान पर हस्ताक्षर हो जाने के पूर्व प्रमुख शक्तियों के बीच उनके शस्त्रास्त्रों की मात्रा सीमित करने के बारे में समझौता हो जाना चाहिये। राष्ट्रसंघ की सफलता की पहली शर्त यह है कि बड़े राज्यों के बीच एक पक्का समझौता हो जाय कि वे सैनिक क्षेत्रों में एक दूसरे से होड़ नहीं करेंगे। यदि राष्ट्रसंघ–विधान पर हस्ताक्षर होने के पूर्व यह समझौता न हुआ तो राष्ट्रसंघ एक विडम्बना मात्र होगा। इससे यह बात प्रमाणित हो जायगी कि राष्ट्रसंघ के प्रमुख प्रवर्तकों को उनके प्रभाव में कोई विश्वास नहीं है। पर यदि राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्य······अपने शस्त्रास्त्रों पर पाबन्दी लगा दें तो यूरोप के सभी छोटे–मोटे राज्य भी अपनी सैनिक शक्ति को सीमित रखेंगे······।"

राष्ट्रों के मध्य उपरोक्त पक्का समझौता भले ही न हो सका किन्तु राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई और उसके संविदा (Covenant) के **आठवें अनुच्छेद** में निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी निम्नलिखित व्यवस्थाएं दी गईं—

इस अनुच्छेद के **प्रथम प्रकरण** में यह व्यवस्था थी कि "संघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया है कि शांति की स्थापना के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुकूल न्यूनतम बिन्दु तक राष्ट्रीय शस्त्रों की कमी और सामान्य कार्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के दृढ़ीकरण की आवश्यकता है।"

दूसरे प्रकरण में यह वर्णित था कि "प्रत्येक राज्य की भौगोलिक अवस्था एवं परिस्थितियों का लेखा रखकर परिषद् विभिन्न सरकारों द्वारा विचार और कार्यवाही के लिए शस्त्रास्त्रों में कमी सम्बन्धी योजनाएं बनाये।"

चौथे प्रकरण में यह अंकित था कि "जब बहुत सी सरकारें इन योजनाओं को अपना लेंगी तो उसके बाद उसमें निश्चित शस्त्रों की सीमाएं परिषद् की सहमति के बिना नहीं तोड़ी जा सकेंगी।"

पांचवें प्रकरण में लिखा गया कि "संघ के सदस्य सहमत हैं कि व्यक्तिगत साहस द्वारा युद्ध सामग्री के निर्माण के लिए स्पष्ट रूप से गम्भीर

हस्तक्षेप किये जा सकते हैं। परिषद् यह परामर्श देगी कि ऐसे निर्माण से सम्बद्ध कुटिल प्रभाव किस प्रकार हटाये जा सकते हैं।"

छठे प्रकरण ने संघ के सदस्यों को "अपने शस्त्रों के परिमाण, अपने सामूहिक एवं वायु सम्बन्धी कार्यक्रम तथा युद्ध जैसे उद्देश्यों के लिए उपयुक्त उनके उद्योगों की अवस्था की पूर्ण एवं स्पष्ट सूचना के पारस्परिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी ठहराया।"

आठवें अनुच्छेद के अतिरिक्त **२३वें अनुच्छेद के 'द' प्रकरण** ने यह व्यवस्था की कि "संघ के सदस्य संघ को उन देशों के साथ शस्त्र एवं युद्ध-सामग्री के व्यापार का निरीक्षण-कार्य सौंप देंगे जिनमें कि सामान्य हित के लिए इस यातायात पर नियन्त्रण आवश्यक है।"

स्थायी परामर्शदाता आयोग एवं अस्थायी मिश्रित आयोग की स्थापना—संविदा के आठवें अनुच्छेद के द्वितीय प्रकरण के अनुपालन में जनवरी १९२० में, राष्ट्रसंघ के संविदा के अनुच्छेद ९ के अन्तर्गत एक स्थायी परामर्शदाता आयोग (Permanent Advisory Commission) बनाया गया। इस आयोग में उन लोगों को नियुक्त किया गया जो परिषद् के सदस्य-राज्यों की स्थल, जल और वायुसेना के विशेषज्ञ होते थे। इन सैनिक विशेषज्ञों से निःशस्त्रीकरण की आशा करना वैसा ही था जैसा पादरियों के किसी आयोग से नास्तिकता की घोषणा की आशा रखना। इस आयोग ने शीघ्र ही खोज करके सूचना दी कि एक सैनिक समूह के निःशस्त्रीकरण की आशा करना निरर्थक है। इस पर नवम्बर १९२० में संघ की असेम्बली द्वारा इसमें राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में विशेषज्ञ समझे जाने वाले ६ असैनिक (Civilian) व्यक्ति बढ़ाकर **अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission)** के रूप में इसका पुनर्निर्माण किया गया। सैनिक और असैनिक दोनों सदस्यों से युक्त इस मिश्रित आयोग को संघ की दूसरी असेम्बली ने निःशस्त्रीकरण की संधि का मसविदा तैयार करने का काम सौंपा। स्थायी परामर्शदात्री व अस्थायी मिश्रित आयोग ने मिलकर कार्य करना प्रारम्भ किया और शस्त्रों के ऊपर एक वार्षिक पुस्तक का प्रकाशन शुरू किया जिसमें शस्त्रों के सामानों व विभिन्न सरकारों द्वारा उनके आयात-निर्यात के विषय में रिपोर्ट दी जाती थी। इस उपयोगी पुस्तक का प्रकाशन १९३९-४० तक होता रहा। मिश्रित आयोग ने स्थायी आयोग के सहयोग से, अक्टूबर १९२४ में अस्तित्वहीन होने से पूर्व, निःशस्त्रीकरण समस्या सुलझाने के लिए प्रयत्न किये। एक प्रयत्न राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप स्थल सेना को स्थिर करने सम्बन्धी लार्ड इशर (Lord Esher) की योजना थी। दुर्भाग्यवश यह योजना सफल नहीं हो पाई। इस योजना

के अनुसार "सेनायें ३० हजार सैनिकों की कल्पित यूनिटों (Imaginary Units) में विभाजित की जानी थीं और कुल यूनिट (युद्धपोतों के समान) हर राष्ट्र के लिए निर्धारित किये जाने थे। इस प्रकार फ्रांस को ६ यूनिट या १ लाख ८० हजार सैनिकों की सेना मिलनी थी तो इटली को ४ यूनिट, ग्रेट ब्रिटेन को ३ यूनिट आदि।" इस सीधी-सादी योजना की लगभग प्रत्येक यूरोपीय देश के सैनिक विशेषज्ञों द्वारा आलोचना की गई और "दिखाऊ तौर पर यह तर्क दिया गया कि कुछ टनों का युद्धपोत तो थोड़े-बहुत अंशों में एक प्रामाणिक वस्तु है और बन्दूकों के रूप में उसका अधिकतम पूरक (Maximum Complement) ज्ञात है किन्तु ३०,००० सैनिकों के यूनिट की शक्ति का कोई माप नहीं हो सकता तथा उसके शस्त्रास्त्रों के अनुपात में उसकी शक्ति लगभग बिलकुल ही अनिश्चित हो सकती है।" इस प्रयत्न की असफलता के बाद दूसरा असफल प्रयत्न १९२२ की पांच शक्तियों की संधि के सिद्धांतों को अहस्ताक्षरकर्त्ताओं द्वारा स्वीकार कराने का था। तीसरे प्रयत्न के फलस्वरूप पारस्परिक सहायता सन्धि का प्रारूप तैयार किया गया जिसमें निःशस्त्रीकरण को सामूहिक सुरक्षा का मूलाधार बताया गया। अस्थायी मिश्रित आयोग एवं स्थायी परामर्शदात्री आयोग ने निःशस्त्रीकरण समस्या के हल के लिए चार सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिन्हें १९२२ में संघ की तीसरी असेम्बली ने स्वीकार कर लिया। ये सिद्धांत इस प्रकार थे:—

(१) निःशस्त्रीकरण की कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि वह व्यापक रूप से सब पर लागू न हो।

(२) अनेक राज्य अपने शस्त्रास्त्रों में कमी करने की स्थिति में तब तक नहीं आ सकते जब तक उन्हें सुरक्षा के लिए पर्याप्त आश्वासन न मिल जाय।

(३) ऐसे आश्वासन की व्यवस्था एक ऐसी प्रतिरक्षात्मक सन्धि द्वारा की जा सकती है जिसमें प्रत्येक राज्य एक दूसरे को सुरक्षा का आश्वासन तो दे ही लेकिन यह आश्वासन भी दे कि आक्रमण की स्थिति में प्रत्येक राज्य आक्रान्त देश की रक्षा के लिए युद्ध करेगा।

(४) इस आश्वासन की क्रियान्विति केवल तभी सम्भव है जबकि सामान्य योजनानुसार शस्त्रास्त्रों में कमी की जा चुकी हो।

पारस्परिक सहायता-सन्धि के प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) की असफलता के बाद मध्यस्थता (Arbitration) के उपाय से सुरक्षा की समस्या हल करने का प्रयत्न किया गया। शूमैन के शब्दों में **मध्यस्थता से सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण** का नया मार्ग ढूंढा गया।

इसका अनुसरण करते हुए, अस्थायी मिश्रित आयोग ने संघ को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधानार्थ जेनेवा प्रोटोकोल की तैयारी में सहायता दी जिसे १९२४ में संघ का निर्विरोध अनुमोदन मिला, किन्तु अन्त में इसे भी असफलता का मुँह देखना पड़ा।

निःशस्त्रीकरण के सामान्य उपायों के विफल होने पर १९२५ की छठी असेम्बली ने परिषद् से यह निवेदन किया कि वह शस्त्रास्त्रों को घटाने और मर्यादित करने का सम्मेलन बुलाने की तैयारी के लिए आवश्यक अध्ययन कराये। चूंकि अक्टूबर १९२४ के बाद से ही अस्थायी मिश्रित आयोग ने काम करना बन्द कर दिया था अतः छठी असेम्बली के निवेदन को ध्यान में रखते हुए परिषद् ने मिश्रित आयोग को समाप्त कर दिया और इसके स्थान पर **निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए सज्जीकरण आयोग (Preparatory Commission for the Disarmament Conference)** की नियुक्ति की।

सज्जीकरण या प्रारम्भिक आयोग (Preparatory Commission)—१२ दिसम्बर १९२५ को नियुक्त इस आयोग के सदस्य परिषद् में विद्यमान राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, संघ के कुछ अन्य सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे और संघ के सदस्य न होने पर भी संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस तथा जर्मनी के प्रतिनिधियों को इसमें आमंत्रित किया गया। अमेरिका एवं जर्मनी ने तुरन्त ही और सोवियत रूस ने अगले वर्ष यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। सज्जीकरण अथवा प्रारम्भिक अथवा तैयारी आयोग की प्रथम बैठक मई १९२६ में हुई और दिसम्बर १९३० तक यह अस्तित्व में रहा।

सज्जीकरण आयोग के सामने निःशस्त्रीकरण का प्रश्न बड़ी ही पेचीदगी और जटिलता से भरा हुआ था जिसे सुलझाना कोई सरल कार्य न था। **आयोग के कार्य में निम्नलिखित चार बड़ी कठिनाइयां थीं—**

(१) **पहली कठिनाई** स्थल सेना के नियन्त्रण के सम्बन्ध में थी। समस्या यह थी कि सैनिकों की सही संख्या किस तरह आंकी जाय। अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) वाले फ्रांस आदि देश अनिवार्य सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद मुक्त हुए व्यक्तियों की गणना सैनिकों में नहीं करना चाहते थे जबकि ब्रिटेन, अमेरिका आदि राष्ट्र, जिनमें अनिवार्य सैनिक व्यवस्था नहीं थी, ऐसे सुशिक्षित व्यक्तियों को सेना में न होने पर भी सैनिक समझते थे। जहां तक सैनिक-सामग्री का प्रश्न है, जर्मनी के प्रतिनिधिमंडल की मांग थी कि सभी महत्वपूर्ण शस्त्रास्त्रों की स्पष्ट सांख्यिक सीमा (Numerical limitation) निर्धारित की जाय जैसी कि वर्साय की संधि में उसके (जर्मनी) लिए निश्चित की गयी थी।

(२) **दूसरी कठिनाई** यह थी कि नौ-शक्ति के नियन्त्रण में इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद था कि इसका स्वरूप क्या हो। ग्रेट ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधिमण्डल यह नियन्त्रण दो प्रकार का चाहते थे—प्रथम तो यह कि प्रत्येक देश के लिए रखे जाने वाले कुल जहाजों के टनों की संख्या निश्चित हो जाय और द्वितीय यह कि हर प्रकार से जहाजों का अलग अलग सीमन हो अर्थात् युद्धपोत, क्रूजर, विध्वंसक वायुयान-वाहक, पनडुब्बी आदि प्रत्येक प्रकार के जहाज के लिए पृथक रूप से टनों की संख्या निश्चित हो। ब्रिटेन एवं अमेरिका के विपरीत फ्रेंच और इटालियन प्रतिनिधिमण्डल की मांग केवल यह थी कि पहले प्रकार का नियन्त्रण स्थापित हो यानि समुद्री बेड़े का सीमन कुल टन (total tonnage) निश्चित कर लिया जाय।

(३) **तीसरी बड़ी कठिनाई** अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं देखभाल की थी। फ्रांस और उसके साथी राष्ट्रों की यह इच्छा थी कि विभिन्न देशों द्वारा शस्त्रास्त्रों के सीमित करने की व्यवस्था का पालन करवाने के लिए एक सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण पद्धति होनी चाहिए। इसके विपरीत ब्रिटेन आदि देशों का यह मत था कि निःशस्त्रीकरण योजना के पालन के लिए उचित यही है कि विभिन्न देशों की सदाशयता और ईमानदारी पर भरोसा रखा जाय।

(४) **चौथी कठिनाई** यह थी कि आय-व्ययक (Budgets) के संबंध में फ्रांस व्यय का सीमन (Limitation of expenditure) चाहता था जबकि ब्रिटेन और इटली परस्पर सम्मत रूप में व्यय का विस्तृत प्रकाशन (Detailed publicity of expenditure in an agreed form) आवश्यक समझते थे। अमेरिकन और जर्मन प्रतिनिधिमण्डलों का दृष्टिकोण था कि आय-व्यय के बारे में किसी प्रकार का ठहराव करना उचित नहीं है।

आयोग ने इन विभिन्न दृष्टिकोणों को लिपिबद्ध किया। वह इस बात के गम्भीर प्रयास करने लगा कि उपरोक्त जटिलतायें सुलझ जायं। आयोग के समक्ष एक जटिलता यह भी थी कि किस प्रकार सैनिक विषयों को राजनीतिक विषयों से अलग किया जाय, स्वतन्त्र किया जाय क्योंकि जब तक ऐसा नहीं होता, गुत्थी के सुलझने की अपेक्षा जटिल होने की संभावना ही अधिक थी।

सज्जीकरण आयोग पांच वर्ष तक निरन्तर प्रयत्न करने पर भी और एक नहीं बल्कि सात बैठकें करने पर भी निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी मतभेदों को सुलझा नहीं सका। ३० नवम्बर १९२७ को रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव (Litvinove) के नेतृत्व में सोवियत प्रतिनिधिमण्डल ने सज्जीकरण आयोग के शरद् अधिवेशन में जान डाल दी। लिटविनोव ने प्रभावपूर्ण ढंग से यह अपील की कि एक वर्ष के भीतर सब देशों द्वारा जल, स्थल और वा

सेनाओं की सम्पूर्ण समाप्ति कर दी जाय तथा अनिवार्य सैनिक सेवा, सैन्य अधिकारियों और युद्ध मंत्रालयों का अन्त कर दिया जाय। यद्यपि पूर्ण एवं सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण (Total and universal disarmament) का यह एक क्रांतिकारी प्रस्ताव था तथापि इसे सफलता न मिली। हां, यह अवश्य हुआ कि इस क्रांतिकारी सोवियत प्रस्ताव के विरोध में पहली बार आयोग के सदस्यों की लगभग सर्वसम्मति हुई और यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। ऐसी स्थिति में, आयोग ने असेम्बली से संकेत पाकर मध्यस्थता और सुरक्षा-समिति (Committee on Arbitration and Security) नियुक्त की और दो वर्षों तक निःशस्त्रीकरण समस्या एक बार फिर पृष्ठभूमि में चली गयी।

६ नवम्बर १६३० को आयोग का सातवां और अन्तिम अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में भी 'सीमन सिद्धान्तों' (Principles of limitations) सम्बन्धी मतभेदों को दूर करने की दिशा में प्रगति नहीं की जा सकी। ये मतभेद आयोग की पिछली सभी कार्यवाहियों में बराबर रोड़े अटकाते चले आ रहे थे। किन्तु फिर भी इस बार, ६ दिसम्बर १६३० को, आयोग ने निःशस्त्रीकरण की योजना का एक अस्थायी प्रारूप प्रस्ताव (Dummy Draft Convention) पास करने में सफलता अर्जित की। ६० धाराओं वाले इस प्रस्ताव की मुख्य व्यवस्थायें ये थीं—

(१) बजट द्वारा स्थल युद्ध की रण-सामग्री पर नियन्त्रण किया जाय।

(२) सैनिकों की संख्या बिना किसी भेद-भाव के नियन्त्रित की जाय और प्रशिक्षित सुरक्षित सैनिकों (Trained Reserves) का विचार न किया जाय।

(३) अनिवार्य सैनिक सेवा के वर्षों की अवधि घटायी जाय।

(४) नौ सैनिक जहाजों पर १६२२ के वाशिंगटन सम्मेलन की तथा १६३० के लन्दन सम्मेलन की व्यवस्थाओं को लागू किया जाय।

(५) हवाई अस्त्रों का नियन्त्रण अश्व-शक्ति (Horse-power) के आधार पर हो।

(६) रासायनिक एवं जीवाणु फैलाने वाले (Bacteriological) युद्धों को रोका जाय।

(७) एक स्थायी निःशस्त्रीकरण आयोग की रचना की जाय जो निःशस्त्रीकरण की प्रगति के बारे में समय-समय पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता रहे।

इस प्रस्ताव (Draft Convention) में प्रशिक्षित एवं सुरक्षित सेनाओं के नियन्त्रण, स्थल तथा जल सेनाओं के शस्त्रों के अथवा वायु-सेना की सामग्री के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं सुझाया गया था।

सज्जीकरण आयोग के इस प्रस्ताव का, कार के मतानुसार, व्यावहारिक मूल्य बहुत कम था और फरवरी १९३२ में होने वाले निःशस्त्रीकरण सम्मेलन ने उसका उपयोग भी नहीं किया। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रस्ताव विश्व–निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आधार-स्तम्भ बना। इससे निःशस्त्रीकरण-सम्बन्धी वे मूलभूत मतभेद सामने आ गये जिनका सामना सम्मेलन को करना पड़ सकता था। सज्जीकरण आयोग के पांच वर्षों के श्रम का केवल यही परिणाम सामने आया था। अब मार्ग प्रशस्त हो चुका था और इस प्रस्ताव को मुख्य आधार मानकर जेनेवा में ३ फरवरी १९३२ को निःशस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित किया गया।

जेनेवा का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन (Geneva Disarmament Conference)—जेनेवा का विश्व-निःशस्त्रीकरण सम्मेलन निःशस्त्रीकरण की दिशा में राष्ट्रसंघ का महत्वपूर्ण प्रयास था। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात थी कि **तत्कालीन परिस्थितियां इस अत्यधिक महत्वाकांक्षी शांति-प्रयास के अनुकूल नहीं थीं।** समझौतावादी नीति के समर्थक स्ट्रैसमान और ब्रियां क्रमशः अक्टूबर १९२९ एवं मार्च १९३२ में परलोक गमन कर चुके थे। सभी राष्ट्र अत्यन्त सशंकित तथा आर्थिक मन्दी से तबाह थे। सभी एक दूसरे से अलग रहना चाहते थे। जापान की साम्राज्यवादी नीति के कारण मंचूरिया पर आक्रमण की घटना घट चुकी थी और शंघाई में जापान चीन के विरुद्ध युद्धरत था। जर्मनी और इटली में सर्वाधिकारवादी शासन स्थापित हो चुके थे। संसार के रंगमंच पर उस साल इतनी बड़ी २ घटनाएं घटित हो चुकी थीं कि प्रोफेसर टोयन्बी ने उस साल को "आतंक का वर्ष" की संज्ञा दी है। अतः ऐसे समय में राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा करना दुराशा थी। बिना सर्वसम्मति के कोई अन्तर्राष्ट्रीय सवाल हल भी नहीं किया जा सकता था।

विधि की विडम्बना और क्रूर-व्यंग के फलस्वरूप ऐसे प्रतिकूल वातावरण में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का अधिवेशन ३ फरवरी १९३२ को प्रारम्भ हुआ जिसमें ६१ राज्यों ने भाग लिया। इनमें से पांच राज्य ऐसे भी थे जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे। सम्मेलन की अध्यक्षता ब्रिटेन के भूतपूर्व विदेशमंत्री हैन्डरसन ने की। वह एक गैर-सरकारी व्यक्ति की हैसियत से ही अध्यक्षता कर रहा था। यह एक अप्रत्याशित संयोग था क्योंकि अपनी नियुक्ति के समय वह ब्रिटिश श्रमदलीय सरकार में विदेश मंत्री था लेकिन

अगस्त में इस सरकार का पतन हो गया, तत्पश्चात् आम चुनावों में वह संसद का सदस्य नहीं चुना जा सका और इस तरह एक गैर-सरकारी व्यक्ति की हैसियत से उसे सम्मेलन का अध्यक्ष बने रहना पड़ा। यदि इस सम्मेलन की अध्यक्षता तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का कोई उच्च पदाधिकारी करता तो वह सम्मेलन के मामलों पर विचार करने एवं किसी निर्णय पर पहुंचने में अधिक समर्थ हो सकता था। सम्मेलन का अन्तिम परिणाम तो संभवतः वही होता जो कि होना था किन्तु फिर भी सम्मेलन को गिराने वाले टाल-मटोल और हिचकिचाहट से तो बचा ही जा सकता था।[1] इतना ही नहीं, हैन्डरसन और तत्कालीन प्रधान मंत्री मैकडोनेल्ड के मध्य सम्बन्ध भी मधुर नहीं थे।

निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में आने वाले प्रतिनिधियों के दृष्टिकोणों में इतना अधिक मतभेद था कि वे २३२ व्यक्ति अपने साथ ३३७ प्रस्ताव लेकर आये थे। इन पर विशेष विचार करने के लिए पांच मुख्य समितियां—बजट सम्बन्धी नियंत्रण, राजनीतिक समस्याओं के विचार तथा स्थल, जल और वायु सेना के नियंत्रण—के लिए बनायी गयीं थीं।

सम्मेलन के समक्ष सबसे पहला काम था—सज्जीकरण आयोग (Preparatory Commission) की रिपोर्ट पर विचार करना, जिसके छः साल का परिश्रम इसमें बर्बाद हुआ था। कार (Carr) ने तो स्पष्ट कहा है कि **"जहां तक निःशस्त्रीकरण का प्रश्न है, सज्जीकरण आयोग ने इस दिशा में मार्ग-प्रशस्त करने की अपेक्षा मार्ग के गड्ढों की सूचना ही अधिक दी थी। इसीलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि निःशस्त्रीकरण सम्मेलन ने आयोग से लगभग बिल्कुल ही भिन्न मार्ग अपनाया, यद्यपि आयोग के परिश्रम का सम्मान करने के लिए उसने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि आयोग द्वारा तैयार किये गये प्रारूप प्रस्ताव को वह 'आधार' मानकर चलेगा।"**[2] इसके बाद सम्मेलन के सदस्यों के बीच ५ फरवरी को फ्रेन्च प्रति-

---

1. *E. H Carr*: International Relations Between the Two World Wars, page 183.
2. "The Preparatory Commission had provided more signposts to the pitfalls of disarmament than to *promising lines of* advance; and it is not surprising that the Conference, though it passed a resolution adopting the Commission's draft convention as a "framework" for its labours should in fact have steered an altogether different course."
—*E. H. Carr*: Op. Cit, page 184.

निधि मण्डल ने एक स्मरण–पत्र वितरित कर इस दिशा में पहला कदम उठाया। **फ्रेन्च प्रतिनिधि आन्द्रे तारद्यू (Andre Tardiu) ने सम्मेलन को सफल बनाने के लिए इस स्मरण-पत्र द्वारा यह प्रस्ताव रखा कि अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की एक निरोधात्मक तथा दण्डात्मक सेना बनायी जाय,** दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ की अपनी पुलिस हो। इस प्रस्ताव में कहा गया कि जिन राज्यों के पास युद्धपोत, बड़ी पनडुब्बियां या भारी तोपखाना हो, उनका यह कर्त्तव्य हो कि आवश्यकता पड़ने पर वे राष्ट्रसंघ-पुलिस को उनका उपयोग करने दें। इसके साथ ही बमवर्षक वायुयानों के प्रयोग का एकाधिकार राष्ट्रसंघ पुलिस को ही दिया जाना चाहिए। फ्रान्स के इस प्रस्ताव का यूरोप के अनेक छोटे २ राष्ट्रों ने समर्थन किया, किन्तु यह प्रस्ताव ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका को अच्छा नहीं लगा क्योंकि वे अन्तर्राष्ट्रीय सेना के सुझाव का सदा ही विरोध करते थे। जर्मनी ने इस प्रस्ताव को निःशस्त्रीकरण के वास्तविक प्रश्न को टालने की कुचेष्टा के रूप में ग्रहण किया। जर्मनी ने सम्मेलन में यह मांग की कि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र एवं वर्साय की संधि में उसके साथ किया गया वचन पूरा होना चाहिए। जर्मनी का निःशस्त्रीकरण इस आधार पर किया गया था कि अन्य देशों के शस्त्रास्त्र भी कम कर दिये जायेंगे। जर्मनी ने स्पष्टतः कहा कि अब या तो अन्य देशों के शस्त्रों को कम कर दिया जाय या जर्मनी को अन्य देशों के बराबर शस्त्र रखने दिये जायं। जर्मनी की मांग के मूल में यह विचार निहित था कि वह सैनिक दृष्टि से फ्रान्स की तुलना में कम न रहे। उसका कहना था कि यदि फ्रान्स की सैन्य शक्ति कम नहीं की गयी तो वह अरक्षित रह जायगा, अतः मार्ग केवल यही था कि या तो मित्र राष्ट्र अपनी सेना कम करके जर्मनी के स्तर पर आ जायं या जर्मनी को उनके स्तर तक पहुंचने की अनुमति दी जाय। फ्रान्स जर्मनी की इस समानता की मांग को स्वीकार करने का कट्टर विरोधी था। उसका सर्वोपरि लक्ष्य सुरक्षा था जिसका अर्थ था शस्त्रीकरण में उसकी श्रेष्ठता। वह तो अपनी सुरक्षा की दृष्टि से जर्मनी के निःशस्त्रीकरण को स्थायी बना देना चाहता था। उसका एक तर्क यह भी था कि अन्तर्राष्ट्रीय सेना के अभाव में यदि उसकी सेना कम करके जर्मनी की सेना के बराबर कर दी जाती है तो उसकी सुरक्षा खतरे में पड़ जायगी। फ्रान्स और जर्मनी के विरोधी दृष्टिकोण और हठवादी आचरण से सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया।

फ्रेन्च प्रस्ताव के बाद ब्रिटिश प्रस्ताव आया। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जॉन साईमन ने गुणात्मक निःशस्त्रीकरण (Qualitative disarmament) का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय यह था कि शस्त्रास्त्रों पर संख्या का नियन्त्रण न हो, बल्कि कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार के शस्त्रास्त्रों को बिल्कुल ही

समाप्त कर दिया जाय जो रक्षात्मक युद्ध की अपेक्षा आक्रमणात्मक युद्ध में अधिक काम आ सकते हों। इस सुस्पष्ट प्रस्ताव को बहुत अधिक समर्थन मिला। भारी तोपों टैंकों, पनडुब्बियों, बमवर्षक वायुयानों और गैस को अनेक प्रतिनिधिमण्डलों ने विशेष रूप से आक्रमणात्मक शस्त्रों की कोटि में रखा लेकिन जब इस प्रश्न को कि कौन से हथियार आत्मरक्षा के लिए हैं और कौनसे आक्रमण के लिए—नौ-सैनिक, थल-सैनिक और वैमानिक विशेषज्ञों के तीन आयोगों के सामने रखा गया, तो यह स्पष्ट हो गया कि आक्रमणात्मक और प्रतिरक्षात्मक शस्त्रों में सबका एक मत हो सकना कठिन है। कई प्रतिनिधि सभी प्रकार के टैंकों को आक्रमणकारी मानते थे जबकि फ्रेन्च प्रतिनिधि मण्डल केवल ७० टन से अधिक के टैंक को (जो अभी अस्तित्व में भी नहीं आया था), आक्रमणात्मक मानता था और ब्रिटिश प्रतिनिधिमण्डल केवल २५ टन की सीमा निर्धारित कर रहा था। इसी तरह जहां एक ओर ब्रिटिश एवं अमेरिकन प्रतिनिधिमण्डल पनडुब्बियों को आक्रमणात्मक और युद्धपोतों को प्रतिरक्षात्मक मानते थे वहां दूसरी ओर अन्य प्रतिनिधिमण्डल इससे ठीक उल्टा सोचते थे। इस तरह शस्त्रास्त्रों का आक्रमणात्मक एवं प्रतिरक्षात्मक वर्गों में विभाजन करना बड़ी टेढ़ी खीर थी। एक शस्त्र एक राष्ट्र के लिए प्रतिरक्षात्मक हो सकता था तो दूसरे के लिए वही आक्रमणात्मक प्रमाणित हो सकता था। ब्रिटिश नौ-सैना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए प्रतिरक्षात्मक वस्तु थी जबकि जर्मनी के लिए आक्रमणात्मक। जर्मनी के प्रतिनिधिमण्डल के पास तो इस वर्गीकरण की कसौटी भी एक ही थी। उसकी दृष्टि में वर्साय की संधि में निषिद्ध सभी शस्त्रास्त्र आक्रमणात्मक कोटि में आते थे और बाकी सब प्रतिरक्षात्मक श्रेणी में। चूंकि ब्रिटिश प्रस्ताव पर कोई मतैक्य नहीं हो सका अतः इसकी भी वही गति हुई जो फ्रेन्च प्रस्ताव की हो चुकी थी।

सोवियत संघ ने सम्मेलन में एक तीसरा प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय यह था कि अस्त्र-शस्त्रों में शीघ्रातिशीघ्र काफी मात्रा में कटौती की जाय और अन्ततोगत्वा सभी प्रकार के हथियारों पर सदा के लिए नियन्त्रण लगा दिया जाय। रूस के इस पूर्ण निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव की सभी देशों ने खिल्ली उड़ायी। चूंकि अब तक फ्रेंच, ब्रिटिश और रूसी तीनों प्रस्तावों में कोई भी प्रस्ताव सर्वमान्य नहीं हो सका था अतः नतीजा यह हुआ कि सम्मेलन का काम ठप्प पड़ गया।

सम्मेलन निःशस्त्रीकरण की समस्या के समाधान में लगा था कि इसी मध्य क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए लोसाने सम्मेलन प्रारम्भ हो गया और निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का ध्यान उस ओर आकृष्ट हो जाने से उसके काम में कुछ विलम्ब हो गया। इसके बाद जब निःशस्त्रीकरण सम्मेलन

निधि मण्डल ने एक स्मरण-पत्र वितरित कर इस दिशा में पहला कदम उठाया। फ्रेन्च प्रतिनिधि आन्द्रे तारद्यू (Andre Tardiu) ने **सम्मेलन को सफल बनाने के लिए इस स्मरण-पत्र द्वारा यह प्रस्ताव रखा कि अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की एक निरोधात्मक तथा दण्डात्मक सेना बनायी जाय,** दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ की अपनी पुलिस हो। इस प्रस्ताव में कहा गया कि जिन राज्यों के पास युद्धपोत, बड़ी पनडुब्बियां या भारी तोपखाना हो, उनका यह कर्त्तव्य हो कि आवश्यकता पड़ने पर वे राष्ट्रसंघ-पुलिस को उनका उपयोग करने दें। इसके साथ ही बमवर्षक वायुयानों के प्रयोग का एकाधिकार राष्ट्रसंघ पुलिस को ही दिया जाना चाहिए। फ्रान्स के इस प्रस्ताव का यूरोप के अनेक छोटे २ राष्ट्रों ने समर्थन किया, किन्तु यह प्रस्ताव ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका को अच्छा नहीं लगा क्योंकि वे अन्तर्राष्ट्रीय सेना के सुझाव का सदा ही विरोध करते थे। जर्मनी ने इस प्रस्ताव को निःशस्त्रीकरण के वास्तविक प्रश्न को टालने की कुचेष्टा के रूप में ग्रहण किया। जर्मनी ने सम्मेलन में यह मांग की कि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र एवं वर्साय की संधि में उसके साथ किया गया वचन पूरा होना चाहिए। जर्मनी का निःशस्त्रीकरण इस आधार पर किया गया था कि अन्य देशों के शस्त्रास्त्र भी कम कर दिये जायेंगे। जर्मनी ने स्पष्टतः कहा कि अब या तो अन्य देशों के शस्त्रों को कम कर दिया जाय या जर्मनी को अन्य देशों के बराबर शस्त्र रखने दिये जायं। जर्मनी की मांग के मूल में यह विचार निहित था कि वह सैनिक दृष्टि से फ्रान्स की तुलना में कम न रहे। उसका कहना था कि यदि फ्रान्स की सैन्य शक्ति कम नहीं की गयी तो वह अरक्षित रह जायगा, अतः मार्ग केवल यही था कि या तो मित्र राष्ट्र अपनी सेना कम करके जर्मनी के स्तर पर आ जायं या जर्मनी को उनके स्तर तक पहुंचने की अनुमति दी जाय। फ्रान्स जर्मनी की इस समानता की मांग को स्वीकार करने का कट्टर विरोधी था। उसका सर्वोपरि लक्ष्य सुरक्षा था जिसका अर्थ था शस्त्रीकरण में उसकी श्रेष्ठता। वह तो अपनी सुरक्षा की दृष्टि से जर्मनी के निःशस्त्रीकरण को स्थायी बना देना चाहता था। उसका एक तर्क यह भी था कि अन्तर्राष्ट्रीय सेना के अभाव में यदि उसकी सेना कम करके जर्मनी की सेना के बराबर कर दी जाती है तो उसकी सुरक्षा खतरे में पड़ जायगी। फ्रान्स और जर्मनी के विरोधी दृष्टिकोण और हठवादी आचरण से सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया।

फ्रेन्च प्रस्ताव के बाद ब्रिटिश प्रस्ताव आया। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जॉन साईमन ने गुणात्मक निःशस्त्रीकरण (Qualitative disarmament) का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय यह था कि शस्त्रास्त्रों पर संख्या का नियन्त्रण न हो, बल्कि कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार के शस्त्रास्त्रों को बिल्कुल ही

समाप्त कर दिया जाय जो रक्षात्मक युद्ध की अपेक्षा आक्रमणात्मक युद्ध में अधिक काम आ सकते हों। इस सुस्पष्ट प्रस्ताव को बहुत अधिक समर्थन मिला। भारी तोपों टैंकों, पनडुब्बियों, बमवर्षक वायुयानों और गैस को अनेक प्रतिनिधिमण्डलों ने विशेष रूप से आक्रमणात्मक शस्त्रों की कोटि में रखा लेकिन जब इस प्रश्न को कि कौन से हथियार आत्मरक्षा के लिए हैं और कौनसे आक्रमण के लिए—नौ-सैनिक, थल-सैनिक और वैमानिक विशेषज्ञों के तीन आयोगों के सामने रखा गया तो यह स्पष्ट हो गया कि आक्रमणात्मक और प्रतिरक्षात्मक शस्त्रों में सबका एक मत हो सकना कठिन है। कई प्रतिनिधि सभी प्रकार के टैंकों को आक्रमणकारी मानते थे जबकि फ्रेन्च प्रतिनिधि मण्डल केवल ७० टन से अधिक के टैंक को (जो अभी अस्तित्व में भी नहीं आया था), आक्रमणात्मक मानता था और ब्रिटिश प्रतिनिधिमण्डल केवल २५ टन की सीमा निर्धारित कर रहा था। इसी तरह जहां एक ओर ब्रिटिश एवं अमेरिकन प्रतिनिधिमण्डल पनडुब्बियों को आक्रमणात्मक और युद्धपोतों को प्रतिरक्षात्मक मानते थे वहां दूसरी ओर अन्य प्रतिनिधिमण्डल इससे ठीक उल्टा सोचते थे। इस तरह शस्त्रास्त्रों का आक्रमणात्मक एवं प्रतिरक्षात्मक वर्गों में विभाजन करना बड़ी टेढ़ी खीर थी। एक शस्त्र एक राष्ट्र के लिए प्रतिरक्षात्मक हो सकता था तो दूसरे के लिए वही आक्रमणात्मक प्रमाणित हो सकता था। ब्रिटिश नौ-सैना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए प्रतिरक्षात्मक वस्तु थी जबकि जर्मनी के लिए आक्रमणात्मक। जर्मनी के प्रतिनिधिमण्डल के पास तो इस वर्गीकरण की कसौटी भी एक ही थी। उसकी दृष्टि में वर्साय की संधि में निषिद्ध सभी शस्त्रास्त्र आक्रमणात्मक कोटि में आते थे और बाकी सब प्रतिरक्षात्मक श्रेणी में। चूंकि ब्रिटिश प्रस्ताव पर कोई मतैक्य नहीं हो सका अतः इसकी भी वही गति हुई जो फ्रेन्च प्रस्ताव की हो चुकी थी।

सोवियत संघ ने सम्मेलन में एक तीसरा प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय यह था कि अस्त्र-शस्त्रों में शीघ्रातिशीघ्र काफी मात्रा में कटौती की जाय और अन्ततोगत्वा सभी प्रकार के हथियारों पर सदा के लिए नियन्त्रण लगा दिया जाय। रूस के इस पूर्ण निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव की सभी देशों ने खिल्ली उड़ायी। चूंकि अब तक फ्रेंच, ब्रिटिश और रूसी तीनों प्रस्तावों में कोई भी प्रस्ताव सर्वमान्य नहीं हो सका था अतः नतीजा यह हुआ कि सम्मेलन का काम ठप्प पड़ गया।

सम्मेलन निःशस्त्रीकरण की समस्या के समाधान में लगा था कि इसी मध्य क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए लोसाने सम्मेलन प्रारम्भ हो गया और निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का ध्यान उस ओर आकृष्ट हो जाने से उसके काम में कुछ विलम्ब हो गया। इसके बाद जब निःशस्त्रीकरण सम्मेलन

पुनः सक्रिय हुआ तो **अमेरिकन राष्ट्रपति हूअर की तरफ से एक चौथा प्रस्ताव आया।** २२ जून १९३२ को हूअर ने विभिन्न राष्ट्रों के शस्त्रास्त्रों में वर्तमान अनुपात बनाये रखते हुए इसे वास्तविक रूप से घटाने पर बल दिया। अमेरिकन प्रस्ताव का आधारभूत सिद्धान्त यह था कि वर्तमान शस्त्रास्त्रों और सशस्त्र सेना में एक तिहाई कमी की जाय। इस प्रस्ताव का जर्मनी, इटली और रूस ने स्वागत किया जबकि ब्रिटेन, फ्रान्स और जापान ने घोर विरोध। ब्रिटेन ने तो इस प्रस्ताव को एक 'कपटपूर्ण योजना' की संज्ञा दी। अमेरिकन प्रस्ताव के हिसाबी तरीके से सेना में कमी करने का छोटे-छोटे देशों ने इसलिए विरोध किया क्योंकि उनके पास सेना की संख्या पहले से ही कम थी। अधिकांश देशों के विरोध के फलस्वरूप अमेरिकन प्रस्ताव भी निष्प्राण होकर पहले वाले प्रस्तावों की पंक्ति में बैठ गया।

स्पष्ट है कि सम्मेलन को सफल बनाने के लिए अब तक जितनी भी योजनायें उपस्थित की गयीं वे फ्रांस और जर्मनी के दृष्टिकोणों में मौलिक मतभेद के कारण ही अधिकांशतः असफल हुईं। **आखिरकार २० जुलाई को सम्मेलन के सामने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जिसमें यह उल्लिखित किया गया कि निम्नलिखित बातों पर समझौता हो गया है—**

(१) बमवर्षा निषिद्ध करना, वायुयानों की संख्या सीमित करना तथा असैनिक वायुयानों का विनियमन (regulation), (२) भारी तोपखाना और वृहत् आकार (जो निश्चित नहीं किया गया था) के टैंकों को सीमित करना एवं (३) रासायनिक युद्ध निषिद्ध करना।

४१ प्रतिनिधिमण्डलों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया, ८ राज्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया, दो राज्यों—जर्मनी, रूस ने विरोध किया और इटली सहित ८ राज्य अनुपस्थित रहे।

१६ सितम्बर १९३२ का दिन सम्मेलन के लिए दुर्भाग्यपूर्ण साबित हुआ। जर्मन प्रतिनिधिमण्डल सदा ही इस सिद्धान्त पर जोर देता रहा था कि अन्य राष्ट्रों को भी वर्साय की संधि के अनुसार अपना निःशस्त्रीकरण कर लेना चाहिए या पुनर्शस्त्रीकरण (Rearming) का जर्मनी का अधिकार मान लेना चाहिए। १६ सितम्बर को जर्मनी ने अपनी समानता की मांग स्वीकृत न होने के कारण यह घोषणा की कि सम्मेलन के भावी कार्य में जर्मनी केवल तभी भाग लेगा, जबकि "राष्ट्रों के समान अधिकार का सिद्धान्त स्पष्ट और निश्चित रूप से मान लिया जायगा।" सभी राष्ट्र यह समझते थे कि जर्मनी इस सम्मेलन का केन्द्र बिन्दु है और यदि उसने भाग नहीं लिया तो सम्मेलन का कोई उद्देश्य नहीं रहेगा। अतः फ्रेंच सरकार द्वारा जर्मनी को सुविधाएं देने के विरोध पर भी, यह चेष्टा की जाने लगी कि जर्मनी फिर सम्मेलन में

भाग लेने लौट आये। इसी बीच फ्रांस ने एक नई 'सुरक्षा योजना' प्रस्तुत की और यह प्रस्ताव रखा कि शस्त्रास्त्रों के निर्माण पर सभी देशों में राज्य का एकाधिकार (State-monopoly) रहे। इस प्रस्ताव पर किसी का विशेष ध्यान आकर्षित नहीं हुआ क्योंकि इस समय जर्मनी को सम्मेलन में पुनः लौटा लेने का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण था। आखिर दिसम्बर १९३२ में, जर्मनी और फ्रांस के मतभेद को दूर करने के लिए पांच महाशक्तियों - फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी और इटली का एक सम्मेलन हुआ। पांच दिन के कठोर परिश्रम के बाद अन्त में ११ दिसम्बर १९३२ को यह घोषणा की गयी कि "जर्मनी को ऐसे किसी भी समझौते में शामिल होने के समान अधिकार प्राप्त हैं जिसके अनुसार सभी देशों को सुरक्षा प्राप्त हो सके।" इन शर्तों पर जर्मनी ने सम्मेलन में पुनः शामिल होना स्वीकार कर लिया। इस घोषणा अथवा समझौते पर टिप्पणी करते हुए हार्डी (Hardy) ने लिखा है कि "जर्मनी और फ्रान्स के नारों का एक ऐसे वाक्य में समन्वय किया गया जिसको दोनों अपनी अलग-अलग व्याख्याओं के साथ स्वीकार करने के लिए तैयार थे। इससे यद्यपि जर्मनी को सम्मेलन में भाग लेने के लिये थोड़े दिनों के लिये मना लिया गया तथापि इससे समस्या का वास्तविक निराकरण नहीं हुआ।"[1] समस्या मूलरूप में अभी यथापूर्व थी। जर्मनी कूटनीति की प्रथम विजय हासिल कर चुका था, सम्मेलन में पुनः आ गया था, किन्तु फिर भी फ्रांस के पास 'सुरक्षा' रूपी तुर्प का पत्ता (Trump Card) मौजूद था।

२ फरवरी १९३३ को सम्मेलन का काम पुनः आरम्भ हुआ। इस समय तक यूरोप के इतिहास में एक नये युग का समारम्भ हो चुका था। जर्मनी के प्रति फ्रांस के कठोर रुख ने जर्मनी में नाज़ी पार्टी के उत्थान को विशेष सहारा दिया था और ३० जनवरी को हिटलर जर्मनी का प्रधानमन्त्री (Chancellor) बन चुका था। वर्साय संधि का अन्त करना उसका प्रमुख उद्देश्य था। फ्रांस की हठवादिता पूर्ववत् थी। दुराग्रह के पथ पर चलते हुए वह अब भी अपनी सुरक्षा की मांग पर अड़ा हुआ था और चाहता था कि निःशस्त्रीकरण से पहले सुरक्षा-समझौते हों। इधर जर्मनी और इटली की

---

1. "The Slogans of Germany are France were thus combined in a single phrase, which each was prepared to accept subject to its own interpretation. But though Germany was induced for a moment to resume her seat at the conference, no verbal ingenuity could touch the substance of the problem."
—*Gathorn Hardy*

मांग थी कि **सुरक्षा से पहले निःशस्त्रीकरण** होना चाहिये। दोनों पक्षों के मौलिक मतभेदों के फलस्वरूप सम्मेलन पहले से ही असफलता के पथ पर अग्रसर हो रहा था कि २४ फरवरी को जापान ने यह सूचना दी कि वह राष्ट्रसंघ से अलग हो रहा है। यद्यपि जापान के प्रतिनिधि सम्मेलन के कार्यों में अभी भी भाग ले रहे थे, तथापि राष्ट्रसंघ से पृथक होने की उसकी घोषणा से सम्मेलन की सफलता की आशा और भी अधिक धूमिल हो गई। जर्मनी का रुख कठोरतर होता जा रहा था, अतः सम्मेलन की सफलता के लिये एक बार फिर प्रयास किया गया। सम्मेलन के अंधकारमय भविष्य को संभवतः उज्जवल बनाने के लिए इंगलैण्ड का प्रधानमन्त्री मेकडोनेल्ड एक योजना के साथ जेनेवा आया। उसने सम्मेलन की कार्यवाही में कुछ दिनों के लिए एक नई जान डाल दी। १६ मार्च १९३३ को उसने जर्मनी को कुछ रियायतें देते हुए नये प्रस्ताव रखे जिसको **'मेकडोनेल्ड योजना'** कहा जाता है। इस योजना में पहली बार सम्मेलन को समझौते का पूर्णरूप दिखाई पड़ा। **'मेकडोनेल्ड योजना' पांच भागों में बंटी हुई थी** और इसमें मुख्यतः उन सब प्रस्तावों का संग्रह था जिनके स्वीकार कर लिये जाने की अधिकाधिक आशा थी। **पहला भाग** सुरक्षा के बारे में था और केलाग-पैक्ट के भंग या भंग होने की आशंका में कार्यवाही करने के बारे में विचार किया गया था। योजना के **दूसरे भाग** में प्रत्येक देश के लिए कम से कम ५ साल के लिए सैनिकों की संख्या एक तालिका के अनुसार रखने का प्रस्ताव किया गया था। इस तालिका में प्रत्येक राज्य के लिए सैनिकों की संख्या निश्चित कर दी गई थी। योजना के **तीसरे भाग** में युद्ध सामग्री पर गुणात्मक आधार पर विचार किया गया था, **चौथा भाग** रासायनिक एवं कीटाणु-युद्ध पर पाबन्दी लगाने सम्बन्धी था जबकि **अन्तिम पांचवें भाग** में एक ऐसे निःशस्त्रीकरण आयोग का प्रस्ताव किया गया था जिसको निरीक्षण एवं नियन्त्रण के व्यापक अधिकार प्राप्त हों।

'मेकडोनेल्ड योजना' पर लगभग ४ सप्ताह तक वादविवाद होता र[illegible] जिससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि मौलिक सिद्धान्तों पर मतभेद काफ[illegible] गहरे हैं। इधर जर्मनी के रवैये में एकदम परिवर्तन आता जा रहा था औ[illegible] यह आभास होने लगा था कि वह पुनः शस्त्रीकरण की दिशा में कोई महत्[illegible] पूर्ण कदम उठाने वाला है। १६ मई १९३३ को अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवे[illegible] ने सम्मेलन में भाग लेने वालों से किसी समझौते पर पहुंचने की अपील[illegible] क्योंकि उनका विश्वास था कि स्वार्थ एवं अदूरदर्शिता के कारण ही म[illegible] की शान्ति भंग होने वाली है। रूजवेल्ट ने अपने संदेश में आक्रमणात्मक अ[illegible] पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने को कहा। रूजवेल्ट की यह अपील सम्मेलन की

समस्या फ्रेंच-जर्मन विरोध को नहीं सुलझा सकी। हिटलर ने इस अपील के तुरन्त बाद की गई अपनी घोषणा में अवश्य नरम रुख प्रकट किया लेकिन फ्रांस अपने दुराग्रह पर अटल था। उसको कोई योजना पसन्द नहीं थी। २२ मई १९३३ को अमेरिकन सचिव नॉर्मन डेविस ने यह घोषणा की कि आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक या आर्थिक कार्यवाही करने का विरोध अमेरिका नहीं करेगा। किन्तु फ्रांस पर इसका भी कोई असर नहीं हुआ। इस परिस्थिति में सम्मेलन को कुछ समय के लिये इस विश्वास के साथ स्थगित कर दिया गया कि अन्तरिम काल में निजी वार्ता के द्वारा स्थिति में सुधार हो जायेगा।

सम्मेलन के अवकाश-काल में निःशस्त्रीकरण विषय पर वार्तालप होता रहा। आर्थर हैण्डरसन यूरोप की मुख्य राजधानियों में "निःशस्त्रीकरण अभियान" पर घूमते रहे। इस अभियान से शीघ्र ही यह पता चला गया कि फ्रांस अपनी सेना घटाने के लिये तैयार नहीं हो सकता। किन्तु समझौता करना नितान्त आवश्यक था। अतः १४ **अक्टूबर १९३३ को ब्रिटिश विदेश-मंत्री सर जान साइमन ने फ्रेंच सुरक्षा और जर्मन समानता की मांगों का समन्वय करते हुए एक समझौता-प्रस्ताव पेश किया।** प्रस्ताव में यह कहा गया कि चार वर्ष तक जर्मनी अपनी वर्तमान हीन स्थिति बरदाश्त करले और उसके बाद अन्य शक्तियां भी अपने शस्त्रास्त्रों में कमी करना प्रारम्भ करदें। हिटलर ने तीन घण्टे के भीतर ही बर्लिन से इसका नकारात्मक उत्तर भेज दिया और साथ ही यह घोषणा की कि उसने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन एवं राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी है।[1] वास्तव में जर्मनी की यह नीति एक दिन पहले ही मंत्रिमण्डल की बैठक में निर्धारित हो चुकी थी। जर्मनी की इस घोषणा से निःशस्त्रीकरण सम्मेलन क्रियात्मक रूप से समाप्त और मृतप्रायः हो गया। ६ महिने तक सम्मेलन में कोई प्रगति नहीं हुई। इस अवधि में जर्मनी सहित प्रमुख राष्ट्र कूटनीतिक पत्र व्यवहार द्वारा विचारों का आदान-प्रदान नहीं करते रहे।

---

1. "We are prepared to disarm to the point of the last machine gun but if they, by tricks, wish to postpone and begin begging the question instead of answering it Germany will have no way left but to arm feverishly, for now it refuses to be an unarmed power, ringed round by a group of powers whose cannons are directed against all the twenty-four powers, towards German frontier and whose members are always jealous of the sky-touching minarets of government houses of the Reich."

—*Hitler*

फरवरी १९३४ में ईडन महोदय पेरिस, बर्लिन और रोम गये। ईडन के बर्लिन-वास के समय हिटलर ने यह प्रस्ताव रखा कि जर्मनी अपनी सेना के लिये कोई भी सीमा स्वीकार करने को समानता के आधार पर तैयार है। उसने यह भी प्रस्ताव रखा कि जर्मनी वायुसेना का ऐसा कोई भी प्रतिशत निश्चित करने के लिये प्रस्तुत है जो उसके पड़ौसी राष्ट्रों की वायुसेना की संयुक्त संख्या के ३० प्रतिशत या फ्रांस की वायुसेना की संख्या के ५० प्रतिशत से जो भी कम हो। १९ मार्च को फ्रांस से यह प्रश्न किया गया कि वह इस शर्त पर आगे बातचीत करने के लिये तैयार है या नहीं। उत्तर में फ्रेंच सरकार ने जर्मन पुनःशस्त्रीकरण के प्रति विरोध प्रकट करते हुए यह मत व्यक्त किया कि किसी निःशस्त्रीकरण-समझौते के पहले गारण्टी आवश्यक है। फ्रांस ने यह भी कहा कि निःशस्त्रीकरण से पूर्व यह भी निश्चित किया जाय कि समझौते का पालन न किये जाने पर जुर्माना लगे। इस पर ब्रिटिश सरकार ने फ्रेंच सरकार से पुनः पूछा कि जिस प्रकार की गारण्टी फ्रांस परमावश्यक समझता है, उसका स्वरूप क्या है और क्या गारण्टी दिये जाने पर वह हिटलर के प्रस्ताव का समर्थन करेगा? इसी मध्य जर्मनी का बजट प्रकाशित हुआ जिसमें सैनिक व्यय में काफी वृद्धि दिखाई गई थी। स्थिति पर इस बजट का असर पड़े बिना नहीं रह सका। १० अप्रेल को फ्रेंच सरकार ने यह उत्तर दिया कि अभी हाल में प्रकाशित जर्मन बजट से स्पष्ट होता है कि जर्मनी स्वयं प्रस्ताव पर वार्ता करने की मुद्रा में नहीं है। जर्मनी पुनः-शस्त्रीकरण करना चाहता है अतः चाहे कोई भी गारण्टी क्यों न दी जाय, फ्रांस जर्मनी के पुनःशस्त्रीकरण के किसी भी प्रस्ताव से सहमत नहीं हो सकता। फ्रांस के इस उत्तर के पश्चात् सम्मेलन का भविष्य निश्चित रूप से अन्धकार-पूर्ण बन गया, यद्यपि २९ मई १९३४ को इसका अन्तिम अधिवेशन अवश्य हुआ। इस अधिवेशन में हुई बहस से दोनों विचारधाराओं की पुनः पुष्टि हुई। ब्रिटेन, अमेरिका और इटली पहले निःशस्त्रीकरण फिर सुरक्षा के पक्ष-पाती थे जबकि फ्रांस और उसके साथी राष्ट्र तथा रूस पहले सुरक्षा तब निःशस्त्रीकरण का विचार रखते थे। सम्मेलन अन्ततः पुनः स्थगित कर दिया गया। आर्थर हैण्डरसन ने स्पष्टतः फ्रांस को निःशस्त्रीकरण की असफलता के लिये दोषी ठहराया। अपने दो वर्ष के कार्यकाल में निरन्तर प्रयासों के बाद भी यह सम्मेलन एक भी बन्दूक, टैंक या हवाई जहाज कम नहीं कर सका। **१९३४ के बाद सम्मेलन का कोई भी अधिवेशन नहीं हुआ, यद्यपि नियमानुसार इसको समाप्त नहीं किया गया था।** १९३५ में सम्मेलन के अध्यक्ष हैण्डरसन की मृत्यु भी हो गई।[1]

---

1. *Lee-Benns* : European History Since 1870, page 430.

फ्रांस अपनी सुरक्षा की दुहाई देते हुए निःशस्त्रीकरण योजनाओं का विरोध कर ही रहा था और उधर अन्य देशों में भी अब पुनर्शस्त्रीकरण प्रतियोगिता आरम्भ हो गई। जून १९३३ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ३२ नये लड़ाकू जहाजों के निर्माण की स्वीकृति दी और जापान ने भी तत्काल ही इससे अधिक जहाजों के निर्माण की घोषणा करदी। जुलाई में अमेरिकन नौ-सेना ने हवाई द्वीप के पास युद्धाभिनय (Manoeuvere) का प्रदर्शन किया। अगस्त में जापान ने इसका प्रत्युत्तर उत्तर पश्चिमी प्रशांत में व्यापक नौ-सैनिक युद्धाभिनय से दिया। फ्रांस और इटली भी पीछे नहीं रहे तथा ग्रेट ब्रिटेन ने भी तेजी से तैयारी शुरू कर दी। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी द्रुत गति से शस्त्रास्त्रों के निर्माण में पहले ही अग्रसर हो चुका था। १६ मार्च १९३५ को जर्मनी ने वर्साय संधि के पांचवें भाग को भंग करते हुए अपने देश में अनिवार्य सैनिक सेवा की व्यवस्था कर दी। मार्च १९३६ में हिटलर ने वर्साय संधि की धारा ४२-४३ को तथा लोकार्नो संधि को भंग करते हुए विसैन्यीकृत राइन प्रदेश में अपनी फौजें भेज दीं। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण योजनाओं का घोर उपहास किया गया और इस सम्बन्ध में अब तक जो भी प्रयास किये गये थे वे सब मिट्टी में मिला दिये गये। शूमैन (Schuman) ने सत्य ही लिखा है कि—

"१६ वर्ष तक उपरांत पराजय का घेरा बंद कर दिया गया। राष्ट्र-संघ के द्वारा संसार के निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का आरम्भ जर्मनी के एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण से शुरू हुआ था और जर्मनी के एक-पक्षीय पुनःशस्त्रीकरण से इन प्रयासों का अन्त हो गया। यूरोप की सामूहिक बुद्धि सुरक्षा की प्राप्ति में असफल हो जाने के उपरान्त, आत्मघात की तैयारियों में लग गयी।"[1]

पुनश्च, शूमैन के ही अनुसार—

"निःशस्त्रीकरण केवल एक याद रह गया था।……वर्साय के बाद दो दशाब्दियों में परम्परागत निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों के द्वारों पर बड़े

---

1. "After 16 years, the circle of frustration was closed. *Efforts* at world disarmament through the league had begun with the unilateral disarmament of Germany. The efforts ceased with the unilateral rearmament of Germany. The collective intelligence of Europe, having failed to achieve security, turned towards preparations for suicide."
—*Frederick L. Schuman* ; International Politics, page 232.

अक्षरों में अंकित "असफलता" के अक्षर पश्चिमी संसार के आगामी विनाश के अक्षर हो गये ।"[1]

राष्ट्रसंघ के बाहर निःशस्त्रीकरण के प्रयास

राष्ट्रसंघ के बाहर भी निःशस्त्रीकरण करने के अनेक प्रयत्न किये गये और यहां भी अन्य अनेक प्रश्नों की ही भांति महाशक्तियों में विभिन्न मतभेद अपना प्रभाव जमाये रहे। राष्ट्रसंघ के बाहर निःशस्त्रीकरण के लिए जितनी भी चेष्टाएं हुईं उनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference), 1921–22.

(२) जेनेवा नौ-सैनिक सम्मेलन (Geneva Naval Conference), 1927

(३) लन्दन नौ-सैनिक सम्मेलन (London Naval Conference), 1930.

(४) अंगोरा प्रोटोकोल (Angora Protocol), 1930.

(५) द्वितीय लन्दन नौ-सैनिक सम्मेलन (London Naval Conference), 1935.

(१) **वाशिंगटन सम्मेलन (१६२१–२२)**—राष्ट्रसंघ ने जिस समय अपना निःशस्त्रीकरण का कार्य आरम्भ किया, उसी समय वाशिंगटन में राष्ट्रसंघ से सर्वथा पृथक एक नौ-सेना-निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का आयोजन अमेरिकन राष्ट्रपति हार्डिंग के निमन्त्रण पर हुआ था। १२ नवम्बर १६२१ को आयोजित यह सम्मेलन यद्यपि मोटे तौर पर प्रशांत महासागर की समस्याओं को हल करने की दृष्टि से समवेत हुआ था, परन्तु इसमें विभिन्न राष्ट्रों की जलीय शक्ति को नियन्त्रित करने के भी विशेष प्रयत्न किये गये। सम्मेलन में आरम्भ में विश्व की पांच महाशक्तियां—अमेरिका ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली शामिल हुईं किन्तु बाद में प्रशांत सागर से सम्बन्धित तीन राष्ट्रों—चीन, पोलैण्ड और पुर्तगाल को तथा किसी अन्य कारणवश बेल्जियम को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया।

---

1. "Disarmament had become a memory......The letters of FAILURE, written large over the partals of successive disarmament conferences during the two decades after Versailles, became letters of impending catastrophe for the Western world." —Ibid, 233

सफलता का रहस्य—अनुकूल पृष्ठभूमि—वाशिंगटन सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न देशों में नौ-सेना के विस्तार के लिये होने वाली व्ययसाध्य एवं अन्तर्राष्ट्रीय शांति में बाधक उग्र-प्रतिद्वंद्विता को रोकना था। सम्मेलन के प्रारम्भिक भाषण में ही अमेरिकन राज्य मन्त्री चार्ल्स इवान्स ह्यूगेस (Charles Evans Huges) ने घोषित किया कि ब्रिटेन एवं जापान के समझौता करने को तैयार होने पर अमेरिका भी नये जंगी जहाजों के निर्माण का कार्य छोड़ सकता है। इस भाषण का सम्मेलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। वास्तव में वाशिंगटन सम्मेलन एक सबसे सफल निःशस्त्रीकरण सम्मेलन सिद्ध हुआ क्योंकि तत्कालीन सभी परिस्थितियां समझौते के अनुकूल प्रमाणित हुईं। सम्मेलन में केवल नौ-सैनिक निःशस्त्रीकरण की समस्या पर ही विचार किया गया, निःशस्त्रीकरण के सम्पूर्ण व्यापक प्रश्न पर नहीं। इसके अतिरिक्त प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस की नौ-सैनिक शक्ति नष्ट-प्रायः हो गई थी, अतः अब केवल ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रांस और इटली—ये पांच नौ-सैनिक शक्तियां ही शेष रह गई थीं और इनमें भी प्रथम तीन ही महत्वपूर्ण थीं। ब्रिटेन, अमेरिका और जापान की नीतियों में कोई सीधा संघर्ष नहीं था, इनमें से किसी में भी एक-दूसरे के प्रदेशों के प्रति अधिकार लिप्सा नहीं थी। परिणामस्वरूप सुरक्षा का भी कोई जटिल प्रश्न उपस्थित नहीं था।

ब्रिटेन और जापान दोनों ही राष्ट्रों में जहाज-निर्माण के क्षेत्र में अमेरिका से प्रतियोगिता करने की सामर्थ्य भी नहीं बची थी। १९०२ की एंग्लो-जापानी संधि (Anglo-Japanese Alliance) के बाद से ही जब जापान और ब्रिटेन नौ-सैनिक बेड़ों का निरन्तर विस्तार करने लगे थे तभी अमेरिका इन दोनों के संयुक्त बेड़े का मुकाबला करने का संकल्प कर चुका था। १९१६ से अमेरिका ने विशाल नौ-निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया और अमेरिकन नौ-मन्त्री जोसिफस डेनियल्स (Jnsephus Daniels) ने घोषणा की कि—"यदि ग्रेट ब्रिटेन ने इस पर बल दिया कि बरतानिया समुद्र की लहरों पर शासन करे (Britain rules the waves) तो अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन में एक नया जहाज बनने पर दो और आवश्यकता पड़ने पर पांच नए जहाज बनाएगा।" प्रथम महायुद्ध की गम्भीर क्षतियों के बाद नौ-सैनिक प्रतियोगिता करने की सामर्थ्य संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त अन्य किसी देश में शेष नहीं रही थी। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन तो युद्धऋण में भी डूबा हुआ था। इस परिस्थिति में ब्रिटेन और जापान दोनों ही समझौता करने की मुद्रा में थे। जापान को तो अमेरिका के बराबर नौ-शक्ति की आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जहां अमेरिका को अटलांटिक और प्रशांत

के दोनों महासागरों में अपना सामुद्रिक बेड़ा रखना था वहां जापान को अपना वेड़ा केवल एक ही सागर में रखना था। इस स्थिति में उसे ब्रिटेन एवं अमेरिका से कुछ कम नौ-सेना रखने में कोई आपत्ति न थी।

फ्रांस और इटली भी समझौते के पक्ष में थे क्योंकि उनके वेड़े प्रमुखत: भू-मध्य सागर में ही सीमित थे और इसीलिए वे ब्रिटेन और अमेरिका के साथ बराबरी का दावा नहीं करते थे। युद्ध में हुए महाविनाश के कारण फ्रांस नौ-सैनिक प्रतियोगिता में पड़ना नहीं चाहता था और इटली फ्रांस के साथ समानता पाकर सन्तुष्ट हो जाने को तैयार था। स्वयं अमेरिका नौ-सैनिक प्रतियोगिता को एक महंगा सौदा समझता था, अत: उसका अन्त करने के लिए उत्सुक था। स्पष्ट है कि इतनी अनुकूल परिस्थितियों में वाशिंगटन सम्मेलन की सफलता संदिग्ध नहीं हो सकती थी।

समझौते की व्यवस्थाएं—वाशिंगटन सम्मेलन ने १२ नवम्बर १९२१ से ६ फरवरी १९२२ तक कार्य किया और इस अवधि में उसने ऐसी ७ संधियां की जिनका उद्देश्य नौ-सैनिक प्रतिद्वंद्विता का अन्त करना एवं सुदूर-पूर्व की कुछ समस्याओं का निराकरण करना था।

सम्मेलन की महत्वपूर्ण पहली संधि "Five Power Treaty Limiting Naval Armament" थी जिस पर ६ फरवरी १९२२ को हस्ताक्षर हुए। यह संधि ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रांस और इटली के मध्य हुई। इसमें प्रत्येक देश के लिए बड़े युद्ध-पोतों और वायुयानवाहक-पोतों के कुल टनों की मात्रा निश्चित की गई। बड़े युद्ध-पोत का अर्थ ८ इंच से बड़ी तोपवाले तथा १० हजार टन वाले जंगी जहाज से था। भविष्य में युद्ध-पोतों की संख्या और टनेज की सीमाएं निर्धारित करने में यह तय हुआ कि अमेरिका, ब्रिटेन, जापान और इटली के युद्ध-पोतों और टनेज का अर्थात् नौ-सैनिक-शक्ति का अनुपात ५ : ५ : ३ : १·६७ : १·६७ होगा। दूसरे शब्दों में संयुक्त राज्य अमेरिका के पास अधिक से अधिक ५२,५०० टन के बड़े जंगी जहाज, ग्रेट ब्रिटेन के पास ५२,५०० टन के जहाज (जिनमें अधिकांश छोटे तथा अमेरिका की अपेक्षा पुराने थे), जापान के पास ३१,५०० टन के जहाज, फ्रांस के पास १७,५०० के जहाज, और इटली के पास भी १७,५०० टन के जहाज रखे जाने निश्चित हुए। वायुयान-वाहक जहाजों (Aircraft Carriers) के लिए टनेज की मात्रा इस प्रकार निश्चित हुई—संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन १,३५,००० टन, जापान ८१,००० टन, फ्रांस और इटली ६०,००० टन। अन्य प्रकार के जहाजों—क्रूजरों, विध्वंसकों (Destroyers) पनडुब्बियों आदि की मर्यादा के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका। ग्रेट-ब्रिटेन पनडुब्बियों को पूर्णत: समाप्त करना चाहता था जबकि

फ्रांस इसका घोर विरोधी था। वायु एवं स्थल सेना को घटाने के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हुआ। लेकिन महाशक्तियों ने नौ-सैनिक शक्ति में उपरोक्त अनुपात बनाये रखने की दृष्टि से अपने ४० प्रतिशत अधिक जहाज नष्ट करने और १० वर्ष तक नये नौ-सैनिक निर्माण को बन्द करने तथा समुद्री छुट्टी मनाने (Naval Holiday) का निश्चय किया। सन्धि द्वारा यह भी निश्चय हुआ कि १०,००० टन से बड़ा युद्धपोत और २७,००० टन से बड़ा एवं ८ इंच से बड़ी तोपों वाला जहाज न बनाया जाय। अमेरिका चाहता था कि छोटे जंगी जहाजों के सम्बन्ध में भी कोई फैसला हो जाय, पर ब्रिटेन इसके पक्ष में न था। उसका कहना था कि सारे संसार में फैले हुए ब्रिटिश-साम्राज्य की रक्षा करने के लिए छोटे जंगी जहाजों के निर्माण में किसी प्रकार के नियन्त्रण को स्वीकार करना संभव नहीं है।

एक अन्य संधि में प्रशांत महासागर के नौ-सैनिक अड्डों के सम्बन्ध में भी निर्णय हुआ। यह तय किया गया कि जापान, ग्रेट-ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका सधि में उल्लिखित अड्डों के अतिरिक्त नये अड्डों का निर्माण न करें। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ग्रेट-ब्रिटेन ने ११० देशांतर रेखा से पूर्व में नये अड्डे न बनाने का आश्वासन दिया जबकि उसका सुदूर पूर्व में बनाया जाने वाला सिंगापुर का विशालतम नौ-सैनिक अड्डा इस रेखा के बिल्कुल पास १०३·५० देशान्तर पूर्व में था।

सम्मेलन में की गई एक अन्य सन्धि के द्वारा युद्ध में विषैली गैसों का प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया और पनडुब्बियों का प्रयोग मर्यादित कर दिया गया। परन्तु इस सन्धि पर फ्रांस ने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया, अतः इसे कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका।

उपरोक्त सैनिक संधियों के अतिरिक्त सम्मेलन में दो राजनीतिक संधियां भी हुईं जो **चार-शक्ति-समझौता (Four Power Pact)** और **नौ-शक्ति समझौता (Nine Power Pact of Treaty)** के नाम से प्रख्यात हैं। प्रथम समझौते के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान ने परस्पर निश्चय किया कि वे प्रशांत महासागर के भीतर एक-दूसरे के अधिकारों का सम्मान करेंगे और किसी अन्य शक्ति द्वारा आक्रमण की स्थिति में एक-दूसरे की सहायता करेंगे। साथ ही में यह भी निश्चित हुआ कि परस्पर विवाद की स्थिति में वे एक-दूसरे से परामर्श करके विवाद सुलझाने का प्रयास करेंगे। दूसरे समझौते के द्वारा सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी देशों ने यह प्रतिज्ञा की कि चीन की प्रादेशिक अखण्डता, स्वतन्त्रता और संप्रभुता का आदर करेंगे और साथ ही सम्पूर्ण चीन के लिए 'खुले दरवाजे के सिद्धांत' (Open Door Principle) का समर्थन करेंगे। यह भी तय

किया गया कि चीन के भीतर संधि पर हस्ताक्षरकर्त्ता देशों में से कोई भी देश ऐसी कोई भी सुविधा प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करेगा जिससे मित्र देशों के नागरिकों और उनकी प्रजा को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने की संभावना हो।

वाशिंगटन सम्मेलन का मूल्यांकन—वाशिंगटन सम्मेलन का प्रथम एवं द्वितीय विश्व-युद्धों के मध्य में हुए अनेक निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं सफल सम्मेलन था। इसने युद्धपोतों के निर्माण की तात्कालिक प्रतियोगिता को नियन्त्रित किया। ब्रिटेन, अमेरिका एवं जापान को पूर्वी एशिया में नये नौ-सैनिक अड्डे बनाने या प्राप्त करने का निषेध किया और वर्तमान अड्डों में अधिक किलेबन्दी तथा शस्त्रीकरण पर रोक लगाई। इस सम्मेलन में हुए समझौते का यह सुपरिणाम निकला कि नौ-सैनिक प्रतियोगिता लगभग दस वर्ष तक रुक गई अथवा एकदम मन्थर पड़ गई तथा विशाल जंगी जहाजों पर होने वाला भारी व्यय भी कुछ वर्षों के लिये टल गया। इसके द्वारा महाशक्तियों की नौ-सैनिक-विकास की महत्वाकांक्षाओं पर एक अंकुश लगा। अब संयुक्त राज्य अमेरिका फिलिपाइन द्वीप समूह, गुआम और समोआ में नवीन नौ-सैनिक अड्डों का विकास नहीं कर सकता था, यद्यपि हवाई द्वीप समूह के अड्डे को विकसित करने का अधिकार उसे अवश्य मिल गया। इसी तरह ग्रेट-ब्रिटेन, हांगकांग एवं वेई-हेई-वाई (Wei-Hei-Wai) के अड्डों का विकास नहीं कर सकता था, यद्यपि सिंगापुर के अड्डों को बढ़ाने में उस पर कोई रोक नहीं थी। जापान अब बेनिन तथा क्यूराइल द्वीपसमूहों, अमामीओशिमा, ल्यू-क्यू-द्वीपसमूह फारमोसा और पेस्काडोर्स (Pescadores) में अपने नौ-सैनिक अड्डों का निर्माण नहीं कर सकता था। वास्तव में नौ-सैनिक निःशस्त्रीकरण की दिशा में सम्मेलन की यह एक महत्वपूर्ण सफलता थी। **मेकनेअर और लाच** (Mac-Nair and Lach) **के शब्दों में**—"**चतुः शक्ति प्रशांत संधि और पंचशक्ति नौ-सैनिक संधि का शस्त्रास्त्रों पर विशाल व्यय को बचाने और ब्रिटिश-जापानी मैत्री सन्धि को समाप्त करने के अतिरिक्त, यह परिणाम हुआ कि एक ओर अमेरिका और दूसरी ओर जापान या ग्रेट ब्रिटेन के मध्य युद्ध की सम्भावना अनिश्चित काल के लिए टल गई।**"[1]

वाशिंगटन सम्मेलन नौ-सैनिक निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति का सूचक अवश्य बना किन्तु यह अपने उद्देश्यों में पूर्ण सफल हुआ हो—ऐसी बात न थी। बड़े जंगी जहाजों के बारे में निर्णय ले लिया गया था

---

1. *Mac-Nair and Lach*: Modern Far Eastern International Relations, page 180.

लेकिन अन्य प्रकार के छोटे जहाजों के सम्बन्ध में कोई समझौता न हो सका था। इसका परिणाम यह निकला कि छोटे लड़ाकू जहाजों के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा चलती रही जिससे सुरक्षा की भावना बढ़ने की अपेक्षा कम हो गई। ब्रिटेन छोटे-छोटे जंगी जहाज बनाता रहा—अन्य राज्यों की यह शिकायत हमेशा बनी रही। उधर ब्रिटेन यह शिकायत करता रहा कि फ्रांस सैनिक जहाज बनाने की ओर कदम उठा रहा है। वाशिंगटन-समझौते ने दो और कठिनाईयां पैदा कीं। इसमें फ्रांस और इटली की नौ-सैनिक शक्ति में समानता स्वीकार करली गई थी, किन्तु फ्रांस के लिए यह निर्णय असन्तोषजनक था। उसका तर्क था कि इटली को तो केवल भूमध्य सागर में अपनी रक्षा करनी है जबकि फ्रांस को भूमध्य सागर के अतिरिक्त उत्तरी सागर एवं अटलांटिक महासागर के तट की भी रक्षा करनी है। इस तर्क के आधार पर फ्रांस ने सम्मेलन में मांग की कि उसकी नौ-सैनिक शक्ति इटली की शक्ति से अधिक हो। चूंकि इस विषय पर कोई समझौता नहीं हो सका अतः फ्रांस का बढ़ता हुआ असंतोष बाद में बड़ा दुःखदायी बन गया। इसी तरह की कठिनाई जापान के सम्बन्ध में पैदा हुई। जापान ने अमेरिका एवं ब्रिटेन के प्रभाव के कारण अपने जहाजों में कमी करना स्वीकार कर लिया था अन्यथा उसे इस बात से असंतोष ही था। इसके अतिरिक्त चीन को भी उसे बड़ी अनिच्छा से अधिक राजनीतिक सुविधायें प्रदान करनी पड़ीं। उदाहरणार्थ, सांटुंग प्रायःद्वीप को जापान ने चीन को लौटा देने का वचन दिया। यही नहीं, जापान को अपनी अन्य महत्वाकांक्षाओं पर भी अंकुश लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस सबका परिणाम अन्त में अच्छा नहीं निकला। कार के अनुसार, "जापान इसमें अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझता था और आगे चलकर इस समझौते को भंग करने का प्रयत्न करना उसके लिए स्वाभाविक था।"

उपरोक्त कुछ प्रकट पराजयों के बावजूद यह कहना होगा कि वाशिंगटन सम्मेलन ने महत्वपूर्ण सफलतायें अर्जित कीं। इस सम्मेलन की सफलता का रहस्य वास्तव में उन तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में निहित था जिनकी चर्चा हम 'अनुकूल पृष्ठभूमि' के उपशीर्षक में कर चुके हैं।

चूंकि वाशिंगटन सम्मेलन बड़े युद्धपोतों और वायुयान वाहकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के जहाजों पर कोई नियन्त्रण स्थापित नहीं किया गया था, अतः इस कार्य के लिये एक सम्मेलन आयोजित करने हेतु अमेरिकन राष्ट्रपति कूलिज ने १० फरवरी, १९२७ को ब्रिटेन, जापान, फ्रांस एवं इटली को आमन्त्रित किया। ब्रिटेन एवं जापान ने तो निमन्त्रण स्वीकार कर लिया किन्तु इटली ने इस आधार पर अपनी असह[illegible] कर दी कि

लीग—

अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण वह अपनी नौ-सैनिक शक्ति में और अधिक कटौती कर सकने में असमर्थ है। फ्रांस ने अपनी अस्वीकृति का कारण यह बताया कि इससे राष्ट्रसंघ के निःशस्त्रीकरण-प्रयासों में बाधा पहुंचेगी। फ्रांस एवं इटली का निषेध हो जाने पर अमेरिका, ब्रिटेन एवं जापान-इन तीनों राष्ट्रों ने मिल कर ही जेनेवा में २० जून १९२७ को सम्मेलन किया।

(२) **जेनेवा-सम्मेलन (Geneva Conference), १९२७**:— २० जून १९२७ को समवेत होने वाले इस सम्मेलन में तीनों राष्ट्रों-अमेरिका, ब्रिटेन और जापान के जो प्रतिनिधि सम्मिलित हुए वे विख्यात नौ-सेनापति एवं नौ-विशेषज्ञ थे। वे अपना धन्धा नहीं समाप्त करना चाहते थे और उनसे यह आशा करना व्यर्थ था कि वे नौ-सैन्य शक्ति घटाने के सच्चे प्रयास करेंगे। ऐसी परिस्थिति में इस सम्मेलन की सफलता पहले से ही निश्चित रूप से सन्दिग्ध थी। सम्मेलन की कार्यवाही को देखने से भी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि इसमें भाग लेने वाले देश पहले से ही इसको असफल बनाने को तैयार बैठे थे।

सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रस्ताव रखा कि उसके तथा ग्रेट ब्रिटेन के लिये सब प्रकार के क्रूजर जहाजों के टनों की समान मात्रा निश्चित की जाय। उसका सुझाव था कि ब्रिटेन और अमेरिका चार-चार लाख टन के युद्धपोत रखें जिसमें २५ बड़े जहाज और २० छोटे जहाज हों। ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव पर पूर्ण असहमति प्रकट करते हुए यह तर्क उपस्थित किया कि उसके विश्वव्यापी साम्राज्य को देखते हुए प्रस्तावित टनों की मात्रा बहुत कम है। उसका कहना था कि ७० युद्धपोतों से कम से उसका काम नहीं चल सकता क्योंकि उसे लगभग समस्त विश्व से रसद मंगानी पड़ती है। ब्रिटेन ने यह भी कहा कि ८ इंची तोपों वाले तथा ६ इंची तोपों वाले क्रूजरों के टनों की मात्रा एक साथ नहीं मिलायी जानी चाहिए और चूंकि उसके नौ-सैनिक अड्डे सारे विश्व में फैले हुए हैं अतः उसे छोटे क्रूजर अधिक दिये जाने चाहिये। ब्रिटेन को यह बिलकुल स्वीकार्य नहीं था कि नौ-सेना के विषय में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ उसकी समानता (Parity) मानी जाए। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका बड़े-क्रूजरों की संख्या में वृद्धि और समानता पर आग्रह कर रहा था। दोनों राष्ट्रों में इस प्रश्न पर कोई मतैक्य न हो सका, फलतः ४ अगस्त १९२७ को सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी गई। सम्मेलन में जापानी प्रतिनिधियों की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं रही। वे चुपचाप ब्रिटेन और अमेरिका के संघर्ष को देखते रहे।

जेनेवा-सम्मेलन की असफलता का यह कारण तो था ही कि सम्मेलन में उपस्थित प्रतिनिधि सम्मेलन की सफलता के इच्छुक नहीं थे और ब्रिटेन तथा अमेरिका के मतों में काफी अन्तर था। लेकिन कुछ और भी ऐसे अप्रत्यक्ष कारण थे जिन्होंने सम्मेलन के वातावरण को प्रतिकूल बनाया। सम्मेलन के अधिवेशन के दिनों में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में ऐसी विचारधारा प्रबल हो रही थी जो गणितीय समता के सिद्धान्त को किसी भी अंश में मानने की मूलतः विरोधी थी। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने का आशय व्यावहारिक रूप से अमेरिका की प्रधानता स्वीकार कर लेना समझा जाता था। समाचार पत्रों द्वारा फैलायी गयी भ्रांतियों ने भी सम्मेलन की विफलता के हाथ मजबूत किये। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश जनता में यह धारणा व्याप्त हो गयी थी कि अमेरिका के अस्त्र-शस्त्र निर्माता पूंजीपति वर्ग जेनेवा सम्मेलन को असफल बनाने के लिए विशेप रूप से प्रयत्नशील हैं। वास्तव में यह धारणा निराधार भी नहीं थी। दो वर्ष बाद यह रहस्योद्‌घाटन हुआ कि विलियम सियरर नामक एक व्यक्ति को अमेरिकन पूंजी-पतियों ने जेनेवा में इसलिए रखा था कि वह सम्मेलन को किसी न किसी तरह असफल बनाने का प्रयास करे।

जेनेवा-सम्मेलन की असफलता निःशस्त्रीकरण-प्रयासों की एक गंभीर पराजय थी जिसकी काली छाया राष्ट्रसंघ पर तो पड़ी ही लेकिन जिससे एंग्लो-अमेरिकन सम्बन्ध भी खराब हो गये। ब्रिटेन में एंग्लो-जापानी संधि को पुनः दोहराने की बात चलने लगी और अमेरिकन भी इस निष्कर्ष पर पहुंचने लगे कि उनके राष्ट्र को अपनी नौ-सेना में इतनी वृद्धि करनी चाहिए, जिससे अन्य राष्ट्र भयभीत होकर अपनी नौ-सैनिक शक्ति सीमित करने को बाध्य हो जायं। परिणामस्वरूप, १३ फरवरी १९२९ को अमेरिकन कांग्रेस ने राष्ट्रपति को १० हजार टन के नये १५ क्रूजर तथा एक वायुयानवाहक जलपोत बनाने की आज्ञा दी।

(३) लन्दन का नौ-सैनिक सम्मेलन (London Naval Conference), १९३०:—जेनेवा-सम्मेलन की असफलता के बाद युद्धपोतों के निर्माण में तीव्र वृद्धि का जो निश्चय अमेरिका ने किया वह निस्सन्देह अन्य देशों को भयभीत कर देने वाला था। ब्रिटेन के लिए यह विशेष चिन्ता का विषय था। यद्यपि जेनेवा-सम्मेलन की काली छाया ने ब्रिटिश अमेरिकन सम्बन्धों में तनाव पैदा कर दिया था, किन्तु सौभाग्यवश सुलह के लिए आवश्यक राजनीतिक वातावरण मौजूद था। १९२९ में अमेरिका में हूवर (Hoover) राष्ट्रपति पद पर आसीन हो चुका था और उसके तीन महीने बाद ब्रिटेन में मेकडोनेल्ड के नेतृत्व में श्रमदलीय-सरकार सत्ता-

रूढ़ हो गयी थी। उधर अमेरिकन प्रतिनिधि श्री गिब्सन (Gibson) ने २२ अप्रेल १९२९ को यह घोषणा करके राजनीतिक वातावरण सुधार दिया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका प्रत्येक देश के लिए चार प्रकार के जहाजों—बड़े युद्धपोतों, वायुयान वाहकों, १० हजार टन से कम के जंगी जहाजों और पनडुब्बियों के टनों की संख्या को सीमित करने व घटाने के लिए तैयार है। अमेरिका की इस घोषणा के उपरान्त ब्रिटेन भी, केलॉग-ब्रियां समझौते के बाद, अपने क्रूजरों की संख्या ७० से ५० तक घटाने को तैयार हो गया। इसके अतिरिक्त इस समय लगभग सारा विश्व आर्थिक संकट से ग्रस्त था और शस्त्रीकरण की होड़ सभी को एक भारी बोझ प्रतीत हो रही थी। कनाडा की डोमिनियन सरकार इस बात का निरन्तर आग्रह कर रही थी कि ब्रिटेन एवं अमेरिका नौ-सेना के प्रश्न पर मेलमिलाप कर लें। ऐसे अनुकूल वातावरण में ही अक्टूबर १९२९ में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मेकडोनेल्ड की संयुक्त राज्य अमेरिका की सद्भावना यात्रा हुई। इस यात्रा के परिणाम-स्वरूप सुलह की आशाओं को बड़ा बल मिला और अन्ततोगत्वा यह निश्चय किया गया कि जनवरी १९३० में लन्दन में एक नौ-सैनिक सम्मेलन का आयोजन किया जाय जिसमें "वाशिंगटन शक्तियां" सम्मिलित हों। इस निश्चय के फलस्वरूप ८ अक्टूबर १९२९ को ही ब्रिटिश सरकार ने इस नौ-सैनिक सम्मेलन के लिए अमेरिका, जापान, फ्रांस एवं इटली को विधिवत् आमन्त्रित कर दिया। इस बार फ्रांस और इटली ने भी निमन्त्रण स्वीकार कर लिया यद्यपि इससे समस्या का समाधान और भी जटिल हो गया।

लन्दन का नौ-सैनिक सम्मेलन २१ जनवरी १९३० से आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन में ब्रिटेन ने इस बात पर बल दिया कि महाशक्तियों को सब प्रकार के युद्धपोतों के निर्माण को घटाना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने ब्रिटिश प्रस्ताव का समर्थन करते हुए यह मांग की कि उसे ब्रिटेन के साथ समानता (Parity) मिलनी चाहिए। ब्रिटेन क्रूजरों की अपनी आवश्यकता ७० से घटाकर ५० कर देने पर पहले ही तैयार हो चुका था। जापान की मांग यह थी कि उसे ब्रिटेन एवं अमेरिका के बड़े क्रूजरों का ७० प्रतिशत रखने का अधिकार होना चाहिए। इटली अपनी नौ सेना में कमी इस शर्त पर करने को तैयार था कि उसकी घटी हुई जलशक्ति महाद्वीपीय शक्तियों के अर्थात् फ्रान्स के बराबर होनी चाहिए। फ्रान्स की मांग यह थी कि इटली और उसकी आवश्यकताओं को समानता के सिद्धान्त से नहीं आंका जा सकता। उसने कहा कि इटली को केवल भूमध्य सागर के तट की रक्षा करनी है जबकि फ्रांस पर अटलांटिक और भूमध्य सागरीय—इन दो समुद्र तटों की रक्षा करने का उत्तरदायित्व है, अतः उसकी नौ-सेना इटली से अधिक होनी

चाहिए। वास्तव में फ्रान्स को उसकी सुरक्षा की समस्या बेचैन किये हुए थी और इस दृष्टि से वह प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन से लाभ उठाना चाहता था। फ्रेन्च प्रतिनिधियों ने इसीलिए इस बात पर भी बल दिया कि औपनिवेषिक प्रदेशों के कारण यह आवश्यक है कि फ्रान्स क्रूजरों का एक बड़ा बेड़ा रखे। फ्रान्स ने वाशिंगटन-अनुपात को अन्य जहाजों पर लागू करने तथा इटली के समानता के दावे—दोनों बातों को अस्वीकार कर दिया। सम्मेलन में पनडुब्बियों के प्रश्न पर भी गहरा मतभेद था। ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका इनकी समाप्ति करने के पक्ष में थे, फ्रान्स और जापान इससे सहमत नहीं थे।

समझौता-व्यवस्थाएं—लन्दन सम्मेलन में संधि वार्ता तीन महीने तक चलती रही, परन्तु इस दीर्घ अवधि में भी फ्रान्स और इटली में समानता के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका। फलत: सम्मेलन की समाप्ति पर जो नौ-सैनिक संधि हुई, उस पर केवल ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान ने हस्ताक्षर किये। फ्रान्स और इटली ने नौ-सैनिक शक्ति सीमित करने वाली मुख्य धाराओं पर हस्ताक्षर नहीं किये। इस संधि के द्वारा जो महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं की गयीं वे निम्नलिखित थीं—

(१) तीनों महाशक्तियों ने १९३६ तक नये बड़े युद्धपोत न बनाने का निश्चय किया।

(२) ग्रेट ब्रिटेन ने अपने पांच जंगी जहाजों को, अमेरिका ने तीन जंगी जहाजों को और जापान ने एक जंगी जहाज को नष्ट कर देने का निश्चय किया ताकि वाशिंगटन सम्मेलन में निश्चित किये गये ५ : ५ : ३ का अनुपात कायम रखा जा सके।

(३) यह निश्चय किया गया कि वायुयान वाहक जहाजों में ६·१ इंच से बड़ी तोपें न लगायी जायं और वाशिंगटन सम्मेलन में निर्धारित टनेज को यथापूर्व रखा जाय।

(४) पनडुब्बियों का आकार २००० टन तथा तोपों का ५·१ इंच तक सीमित किया गया और प्रत्येक देश को २८०० टन एवं ६·१ इंची तोपों वाली केवल ३ पनडुब्बियां रखने का अधिकार प्रदान किया गया।

(५) क्रूजरों के सम्बन्ध में यह निश्चित हुआ कि अमेरिका ज्यादा टन वाले बड़े क्रूजर बना ले और ब्रिटेन छोटे क्रूजर तैयार कर ले किन्तु उनकी टनों की मात्रा कम न हो। क्रूजरों की, इस प्रकार, दो श्रेणियां बनायी गयी—एक ६·१ इंच से अधिक बड़ी तोपों वाले क्रूजर और दूसरे इससे छोटी तोपों वाले क्रूजर। पहली श्रेणी के क्रूजरों की जो सीमाएं निर्धारित हुईं वे इस प्रकार थीं—संयुक्त राज्य अमेरिका १,८०,००० टन के

१८ क्रूजर, ब्रिटिश साम्राज्य १,४६,००० टन के १५ क्रूजर, जापान १,०८,४०० टन के १२ क्रूजर रखेंगे। दूसरे श्रेणी के क्रूजरों के टनों की मात्रा इस प्रकार मर्यादित की गयीं—ब्रिटेन १,९२,००० टन, संयुक्त राज्य अमेरिका १,४३,५०० टन, जापान १,००,४५० टन। विध्वंसक जहाज ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका १,५०,००० टन के तथा जापान (Japan) १,००,४५० टन के रख सकते थे।

(६) संधि ने ब्रिटेन, अमेरिका और जापान तीनों देशों को ५२,७०० टन की पनडुब्बियां रखने की अनुमति प्रदान की।

(७) नौ-सेना को सीमित करने का समझौता केवल ब्रिटेन, अमेरिका एवं जापान के बीच हुआ था। फ्रान्स और इटली के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की गयी थी। इस परिस्थिति का प्रतिकार करने के लिए संरक्षक धारा (Safe-guarding Clause) के द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि यदि हस्ताक्षर करने वाले किसी राज्य की सुरक्षा, हस्ताक्षर न करने वाले किसी राज्य के युद्धपोतों के निर्माण से खतरे में पड़ती हों तो वह नोटिस देकर उपरोक्त मर्यादाओं का अतिक्रमण करके अपनी नौ-शक्ति का विस्तार कर सकता है।

(८) व्यापारिक जहाजों नष्ट को करने वाली पनडुब्बियों के लिए यह नियम बनाया गया कि डुबोने से पहले जहाज के यात्रियों और चालकों को सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया जाय।

(९) इस संधि की अवधि ३१ दिसम्बर १९३६ तक रखी गयी और यह निश्चय उल्लिखित किया गया कि १९३५ में एक नया सम्मेलन आयोजित हो।

लन्दन संधि १ जनवरी १९३१ से लागू कर दी गयी। लन्दन सम्मेलन के निर्णयों की यद्यपि ब्रिटेन, अमेरिका और जापान तीनों ही देशों में काफी आलोचना हुई, किन्तु जापान में सर्वाधिक असन्तोष फैला। जापानी प्रधान नौ-सैनिक कार्यालय के एक अफसर ने लन्दन-संधि के विरोध में आत्म-हत्या कर ली और संधि पर हस्ताक्षर करने वाले जापानी नौ-सेना मंत्री को स्वदेश लौटने पर एक कटार भेंट की गयी जो इस बात का संकेत था कि वह भी यही मार्ग (आत्महत्या का) अपना ले। लन्दन सम्मेलन में जापान द्वारा पहली बार वाशिंगटन-संधियों द्वारा उस पर लादी गयी असमानताओं के प्रति विरोध व्यक्त करते हुए यह आग्रह किया गया था कि उसे अपनी नौ-सेना को ब्रिटेन एवं अमेरिका के बराबर करने का अधिकार दिया जाय। लेकिन अन्य राज्य जापान की इस मांग को पूरा करने को तैयार न थे। अन्त में जापानी मांग को आंशिक रूप में पूरा करने के लिए ही यह निश्चय किया

गया था कि यदि कोई राज्य अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए नौ-शक्ति में वृद्धि करना चाहे तो वह ऐसा कर सकता है। इस व्यवस्था के मूल में यही गूढार्थ छिपा था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर प्रत्येक राज्य नौ-सैनिक निःशस्त्रीकरण की सीमाओं का उल्लंघन मनमाने तरीके से कर सकता था। पर जापान को इस उपबन्ध से कोई खुशी नहीं हुई। जापानी जनता ने इसे अपना राष्ट्रीय अपमान समझा कि उनके राष्ट्र को नौ-सैनिक क्षेत्र में ब्रिटेन और अमेरिका के समकक्ष नहीं माना गया। इस असंतोष का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि १९३४ में जापान ने अमेरिका को सूचित कर दिया कि या तो उसे ब्रिटेन एवं अमेरिका की तुलना में समान नौ-सैनिक सुविधा दी जाय अन्यथा वह स्वयं को किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से बाधित नहीं समझेगा। चूंकि ब्रिटेन और अमेरिका ने जापानी मांग को स्वीकार नहीं किया अतः १९३७ में जापान ने इस मामले में पूर्ण स्वतंत्रता ग्रहण कर ली। उधर हिटलर के उत्कर्ष एवं अन्यान्य कारणों से अन्य महाशक्तियों को भी अपनी नौ-सैनिक शक्ति का विस्तार करने को बाधित होना पड़ा और इस प्रकार लन्दन-संधि की व्यवस्थाऐं अन्त में केवल कागज पर रह गयीं। विश्व उस समय तो एकदम स्तम्भित रह गया जब ब्रिटिश सरकार ने १८ जून १९३५ को ब्रिटिश-जर्मन समुद्री समझौते (Anglo-German Naval Agreement) पर हस्ताक्षर कर दिये और इस प्रकार वर्साय संधि द्वारा लादी गयी व्यवस्थाओं को खण्डन करने की दिशा में जर्मनी को प्रोत्साहित किया। ब्रिटिश-जर्मन समझौते द्वारा ब्रिटिश सरकार ने जर्मनी के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया कि वह वर्साय संधि द्वारा लादी गयी नौ-सैनिक पावन्दियों की उपेक्षा कर सकता है और सभी प्रकार के जहाज (जिनमें वर्साय संधि द्वारा निषिद्ध पनडुब्बियां भी सम्मिलित थीं) रख सकता है। इस संधि के कारण सुरक्षा एवं निःशस्त्रीकरण प्रयासों का पूरा जनाजा निकल गया।

(४) अंगोरा प्रोटोकोल (Angora Protocol), १९३०—लण्दन नौ सैनिक संधि की नकल करते हुए कुछ अन्य देशों ने भी सामुद्रिक निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का प्रदर्शन किया। ३० अक्टूबर १९३० को यूनान और टर्की ने अंगोरा प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य समुद्री अस्त्रों में प्रतियोगिता समाप्त करना था। इसी प्रकार के एक प्रोटोकोल पर टर्की एवं सोवियत संघ के मध्य भी हस्ताक्षर हुए।

(५) द्वितीय लण्दन सम्मेलन (London Naval Conference), १९३५—नौ-सेना के निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अन्तिम प्रयास के रूप में ९ दिसम्बर १९३५ को द्वितीय लण्दन सम्मेलन का आरम्भ हुआ। यह पांच

देशों का नौ-सैनिक सम्मेलन था जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और इटली ने भाग लिया। दुर्भाग्यवश प्रारम्भ से ही परिस्थितियां इसकी सफलता के लिए अनुकूल नहीं थीं। भूमध्य सागर में फ्रांस और इटली के मध्य प्रतियोगिता थी, आर्थिक संकट का व्यापक असंतोष हिटलर को जन्म दे चुका था, जापान और इटली क्रमशः मंचूरिया एवं एबीसीनिया काण्डों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को क्षुब्ध कर चुके थे, नौ-शक्ति-अभिवृद्धि के रूस एवं जर्मनी के प्रयासों ने निःशस्त्रीकरण समस्या को और भी जटिल बना दिया था और साथ ही ब्रिटेन एवं अमेरिका की तुलना में समानता-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध जापान वाशिंगटन-संधि को अमान्य करते हुए यह घोषित कर चुका था कि ३१ दिसम्बर, १६३६ के बाद वह इस संधि से बाध्य नहीं रहेगा।

ऐसे अपशकुनों के वातावरण में शुरू होने वाले द्वितीय लण्दन सम्मेलन में जापान ने ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर जल सेना रखने की माँग की। चूंकि इस प्रस्ताव को मानने के लिए ब्रिटेन एवं अमेरिका सहमत नहीं हुए, अतः १५ जनवरी १६३६ को जापान सम्मेलन से पृथक हो गया। एबीसीनिया संकट के कारण इटली ने भी सम्मेलन का परित्याग कर दिया। जापान और इटली के सहयोग से वंचित होने पर भी संधि-वार्ता चलती रही और अन्त में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने नौ-सैनिक शस्त्रों पर अंकुश लगाने व सामुद्रिक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से "नौ-सैनिक शस्त्रों के परिसीमन की संधि" (Treaty for the Limitation of Naval Armaments) पर २५ मार्च १६३६ को हस्ताक्षर किये। इटली और जापान द्वारा संधि का बहिष्कार हो जाने के कारण इसका कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रह गया। इस संधि की विशेषता यह थी कि इसने बड़े युद्धपोतों की सीमा ३५,००० टन तथा १४ इंची तोपों तक और जापान द्वारा इसका पालन न होने पर १६ इंची तोपों तक निश्चित की। वायुयान वाहक जहाज २३००० टन तथा ६१ इंची तोपों तक सीमित कर दिये गये। इसी तरह हल्के समुद्री जहाज ८००० टन तक एवम् पनडुब्बियां २००० टन तक मर्यादित कर दी गयीं। इस संधि में अनेक संरक्षक (Safe-guarding) धाराओं की व्यवस्था की गयी जिनके अनुसार विशेष परिस्थिति में निर्धारित सीमाओं से बड़े जहाज भी बनाये जा सकते थे। जब १६३८ में ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका को यह सूचना मिली कि जापान ने ४०,००० टन के युद्धपोत बनाये हैं तो उन्होंने ४५००० टन के युद्धपोत बनाना शुरू कर दिया। शस्त्रीकरण की यह प्रतियोगिता द्वितीय विश्व युद्ध की भूमिका थी।

निःशस्त्रीकरण-प्रयासों की विफलता के कारण

हमने देखा कि १६१६ से १६३५ के मध्य, निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए, राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत और इसके बाहर, कई प्रकार के

प्रयत्न किये गये; परन्तु वे असफल रहे और अन्ततोगत्वा संसार को दूसरा महायुद्ध लड़ना पड़ा। आखिर क्या बात थी कि महान् शक्तियों को भी इस दिशा में असफल रहना पड़ा? हम नीचे उन विभिन्न कारणों का अध्ययन करेंगे जिनकी वजह से निःशस्त्रीकरण के कुछ राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्न ही नहीं अपितु राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के और उसके अन्तर्गत होने वाले विश्व-निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के प्रयासों को भी असफलता का मुख देखना पड़ा।

(१) निःशस्त्रीकरण प्रयासों के असफल होने का पहला मुख्य कारण यह था कि **संसार के विभिन्न राष्ट्रों को वास्तविक शान्ति में कोई आस्था न थी।** शान्ति की बातें करते समय भी उनके हृदय में घृणित और स्वार्थपूर्ण इरादे छिपे रहते थे। विश्व की महाशक्तियां ऊपर से शान्ति का ढोंग रचती थीं जबकि अन्दर ही अन्दर शस्त्रों के उत्पादन और युद्ध की तैयारियों में व्यस्त थीं। राष्ट्रों के मन शान्ति और सहयोग के स्थान पर संदेह और अविश्वास से परिपूर्ण थे। **हर राष्ट्र अपने शस्त्रास्त्रों के उत्पादन को "राष्ट्रीय सुरक्षा" का बाना पहनाता था और जब दूसरा राष्ट्र शस्त्रों की वृद्धि करता तो उसे युद्ध-लिप्सु कहता था।** कहने का आशय यह है कि लगभग प्रत्येक राष्ट्र का आचरण "मुख में राम बगल में छुरी" जैसा था।

राष्ट्रों के असहयोगी आचरण का जीता-जागता स्वरूप राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में होने वाले निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में देखने को मिला। सर अल्फ्रेड जिम्मर्न (Sir Alfred Zimmern) का स्पष्ट मत है कि विश्व स्तर पर होने वाले इस महान् निःशस्त्रीकरण सम्मेलन को विफलता का सामना इसीलिए करना पड़ा क्योंकि इसमें भाग लेने वाले राष्ट्रों में सहयोग की भावना का अभाव था और सम्मेलन सही अर्थ में एक शांति-सम्मेलन न होकर राजनीतिक सम्मेलन बन गया था। सम्मेलन में विभिन्न राष्ट्र शान्ति की समस्या सुलझाने के लिए नहीं, बल्कि अपनी प्रभुता बनाए रखने और दूसरों की शक्ति न बढ़ने देने के लिए एकत्र हुए थे। कोई भी राज्य सच्चे दिल से शस्त्रास्त्र घटाने को तैयार न था। हर देश अपने शस्त्रों को आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक समझता था और दूसरों के हथियारों का उद्देश्य आक्रमण समझता था। सम्मेलन का वातावरण विषाक्त था। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी वाद-विवाद सहयोग के नहीं अपितु प्रतिस्पर्द्धा की भावना के वातावरण में हुआ था। इस प्रकार के प्रतियोगी आधार पर ५० राष्ट्रों अथवा केवल महाशक्तियों की ही एक स्वीकृति संधि की रचना की आशा करना एक वृत्त को समचतुर्भुज (Square) करने में सफलता प्राप्त करने की आशा करना था।[1]

---

1. *Alfred Zimmern* : The League of Nations, page 415–17.

(२) नि:शस्त्रीकरण प्रयासों एवं नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता का दूसरा कारण यह था कि समस्या के सम्बन्ध में **विभिन्न राज्यों के दृष्टिकोणों में उग्र मतभेद थे**। उदाहरणार्थ, फ्रांस नि:शस्त्रीकरण से पहले सुरक्षा की स्थापना आवश्यक मानता था और राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता में शांति एव सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सेना का पक्षपाती था। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन का कहना था कि शस्त्रास्त्रों की उपस्थिति में सुरक्षा का वातावरण कभी सम्भव नहीं हो सकता, अतः पहले नि:शस्त्रीकरण की समस्या का समाधान होना चाहिए और तब सुरक्षा का प्रश्न उठना चाहिए। ब्रिटेन एवं अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय सेना की स्थापना के भी विरोधी थे और इस सुझाव को अक्रियात्मक एवं अनेक प्रकार की कठिनाइयां तथा पेचीदगियां उत्पन्न करने वाला समझते थे। यही नहीं, फ्रांस की सुरक्षा की मांग जर्मनी की समानता की मांग से सर्वथा प्रतिकूल थी, इन दोनों का समन्वय असम्भव था और इनके संघर्ष की चट्टान से टकराकर ही समस्त नि:शस्त्रीकरण प्रयासों की नौका डूबनी शुरू हुई थी।

(३) नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन एवं नि:शस्त्रीकरण के अन्यान्य प्रयासों की विफलता का तीसरा मौलिक कारण यह था कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो भी कदम उठाए गए उनके परिणामस्वरूप केवल एकपक्षीय नि:शस्त्रीकरण ही सम्भव हो सका। **महाशक्तियों ने नि:शस्त्रीकरण के सिद्धान्त में अविश्वास और पक्षपातपूर्ण व्यवहार का नग्न प्रदर्शन किया**। उदाहरणार्थ "प्रथम महायुद्ध के विजेताओं ने जर्मनी का नि:शस्त्रीकरण तो बलपूर्वक कर दिया, किन्तु वचनबद्ध होने पर भी वे अपने नि:शस्त्रीकरण को बराबर टालते रहे। यह व्यवहार न केवल उनके स्वार्थपूर्ण उद्देश्य का परिचायक था बल्कि उनकी बेईमानी का भी दिग्दर्शक था। जब उन्हें स्वयं को नि:शस्त्रीकरण में अविश्वास था तो फिर वे उसे सफल भी कैसे बना सकते थे।" वास्तव में महाशक्तियों की धूर्तता एवं बेईमानी ने जर्मनी में कटुता के विष-वृक्ष को निरन्तर सिंचित किया।

(४) चौथा कारण यह था कि **शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने वाली कम्पनियों ने नि:शस्त्रीकरण सम्मेलनों को विफल बनाने का पूरा-पूरा प्रयास किया**। संसार के लगभग सभी देशों में अधिकांश शस्त्रास्त्रों का उत्पादन व्यक्तिगत औद्योगिक संस्थानों द्वारा होता था। नि:शस्त्रीकरण हो जाने का अनिवार्य परिणाम यह होता कि इन संस्थानों के अत्यधिक लाभदायक व्यवसाय को भारी क्षति उठानी पड़ती। शस्त्रास्त्र-निर्माण-व्यवसाय में अपने निहित स्वार्थों के कारण व्यक्तिगत संस्थानों के स्वामियों और संचालकों ने नि:शस्त्रीकरण के सभी प्रयासों को विफल करने की सदैव चेष्टा की। इन

कभी विभिन्न सरकारों के प्रतिनिधि निःशस्त्रीकरण प्रस्तावों पर विचार करते थे तब ये संस्थान उन प्रस्तावों में रोड़ा अटकाने के लिए गोपनीय ढंग से अपने प्रतिनिधि भेजते थे। उद्योगपतियों की यह भूमिका एक तथ्य द्वारा भली प्रकार समझी जा सकती है। १९२७ ई० में जब जेनेवा में नौ-सैनिक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ तो अमेरिकन पूंजीपतियों ने सियरर (Shearer) नामक व्यक्ति को जेनेवा इसलिए भेजा ताकि वह सम्मेलन को किसी तरह सफल न होने दे। सम्मेलन के विफल होने पर सियरर ने पूंजीपतियों से अपने पारिश्रमिक की मांग की। जहाजी कम्पनियों ने उसे केवल ५१,२३० डालर दिए जबकि इस कार्य के लिए उसे २,५५,६५५ डालर देने का वायदा किया गया था। सियरर द्वारा इन कम्पनियों पर शेष राशि वसूल करने के लिए मुकदमा चलाया गया तो जनता को यह पता लगा कि निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों को विफल बनाने के लिए शस्त्रास्त्र निर्माताओं द्वारा किस प्रकार के हीन प्रयत्न किए जाते हैं।

(५) निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों की विफलता का पांचवां प्रमुख कारण यह था कि **शस्त्रीकरण की यथार्थ व्याख्या और स्वरूप निर्धारण के बारे में विभिन्न राष्ट्रों में मतैक्य नहीं था।** राष्ट्रों में इस प्रश्न पर गम्भीर मतभेद था कि रक्षात्मक अथवा आक्रमणकारी शस्त्रों के बीच क्या विभेद है। निःशस्त्रीकरण करने का अभिप्राय यह नहीं है कि युद्धपोतों, क्रूजरों, पनडुब्बियों, तोपों, टैंकों अथवा लड़ाकू विमानों की संख्या मर्यादित की जाय। आधुनिक युग में युद्ध इतने विशाल और व्यापक स्वरूप वाले हो गए हैं कि सामान्य जीवन में और नागरिक सेवा में काम आने वाली वस्तुयें बात की बात में युद्धोपयोगी सामग्री के रूप में परिवर्तित की जा सकती हैं। शान्तिकालीन प्रयोजनों के लिए विभिन्न सामग्री तैयार करने वाले कल-कारखाने त्वरित गति से और अत्यन्त सरलतापूर्वक शस्त्र-कारखानों में परिवर्तित किए जा सकते हैं। अतः इस परिस्थिति में निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में यह प्रश्न सदैव अपनी काली छाया डालता रहा कि शस्त्रास्त्रों के सही स्वरूप का क्योंकर निर्धारण हो और इन अपरिमित साधनों पर नियन्त्रण कैसे किया जाय। इसके अतिरिक्त एक गम्भीर कठिनाई यह थी कि प्रतिदिन एक नया आविष्कार जन्म लेता था और उस आविष्कार के जन्म के साथ ही मनुष्य के विनाश की नवीन सम्भावनायें प्रस्तुत हो जाती थीं। अतः समस्या यह थी कि यदि प्रचलित शस्त्रास्त्रों के सम्बन्ध में कोई समझौता हो भी जाय तो नए सम्भावित शस्त्रास्त्रों को उस समझौते में किस भांति सम्मिलित किया जाय?

(६) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता का छठा कारण **विभिन्न राष्ट्रों की युद्ध सम्बन्धी मनोवृत्ति में मौलिक मतभेद था।** कुछ राष्ट्र

युद्ध का सहारा लेने को उत्सुक थे तो कुछ शांति के उपासक। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सत्ता हड़पने के लिए अपने देश के नागरिकों का ध्यान विदेश नीति में ही उलझाना चाहते थे ताकि उन्हें अपने देश की आन्तरिक वस्तुस्थिति का पता न लग सके। ऐसे नेताओं का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शांतिमय तरीकों से करने की बात सोचना निरी बेवकूफी है। फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी के नेता युद्ध को मानव जाति के लिए न केवल आवश्यक अपितु गौरवपूर्ण मानते हुए उसे शौर्य, साहस, वीरता, त्याग और बलिदान आदि श्रेष्ठ गुणों को विकसित करने वाला समझते थे। शांतिवाद उनकी दृष्टि में नपुंसकता था। मुसोलिनी का कहना था कि युद्ध पुरुष के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना नारी के लिए मातृत्व। ऐसे जंगखोरों की सामरिक प्रवृत्ति की चट्टान से टकराकर नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन की नौका चूर-चूर हो गई।

(७) **उपनिवेशों की सुरक्षा का प्रश्न** नि:शस्त्रीकरण-प्रयासों के मार्ग में सातवीं बाधा था। पश्चिमी यूरोप के राज्यों का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। ब्रिटेन विश्वव्यापी साम्राज्य का मालिक था। संसार भर में उसके उपनिवेश फैले हुए थे। इन उपनिवेशों पर अपना अपवित्र अथवा अनैतिक शासन बनाए रखने के लिए साम्राज्यवादी राज्यों को निरन्तर ही सैनिक शक्ति की आवश्यकता बनी रहती थी, अत: उनके नि:शस्त्रीकरण-प्रयास केवल प्रदर्शनी हुण्डी होते थे। उनका आचरण "हाथी के दांत दिखाने के और, खाने के और" जैसा था। ऐसे वातावरण में शस्त्रास्त्रों को घटाने के प्रयासों का असफल होना अस्वाभाविक न था।

(८) नि:शस्त्रीकरण-प्रयासों एवं सम्मेलनों की मौत का आठवां प्रमुख कारण यह था कि **समस्या को सुलझाने का प्रयत्न मौलिक रूप से नहीं, वरन् ऊपरी तौर से तथा प्राविधिक रूप से किया गया था।** इसकी विवेचना करते हुए हुजर तथा डिग्रेजिया (Huszar and De-Grazia) ने लिखा है कि—

"इस प्रकार के तरीके की सफलता सुनिश्चित थी क्योंकि नि:शस्त्रीकरण मुख्यत: शस्त्रास्त्र को सीमित करने की प्राविधिक समस्या नहीं है अपितु वह एक ऐसे प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्थापित करने की मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक समस्या है जिसमें हथियारों के अतिरिक्त दूसरे उपायों के द्वारा सुरक्षा की गारन्टी देने तथा विवादों को हल करने की क्षमता हो। प्राविधिक उपाय घोषणाओं में अत्यधिक विश्वास करते हैं। शस्त्रास्त्र की दौड़ को जन्म देने वाली आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक परिस्थितियों का मामला करने के बजाय प्रतिनिधि संधियों के द्वारा हथियारों को

मर्यादित और गैर-कानूनी करने की आशा करते थे। ....इस काल में जितने भी प्रयत्न किए गए, उनमें राष्ट्रसंघ की आदि धारणा को छोड़ कर जिसकी बाद में उपेक्षा की गई, बीमारी के ऊपरी लक्षणों का इलाज किया गया, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का अनुसन्धान अथवा निदान नहीं किया गया।"[1]

निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयत्न एवं सम्मेलनों ने शांति के मार्ग को प्रशस्त करने की अपेक्षा कंटक में ही अधिक बनाया क्योंकि इनकी असफलता ने वैमनस्य एवं भ्रांतियां को बढ़ावा दिया। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ कि १६१६ में जिस कुचक्र से मनुष्य बचना चाहता था, वह एक बार फिर पूरे वेग से चलने लगा। निःशस्त्रीकरण की सारी आशायें लुप्त हो गईं; शस्त्रीकरण द्वारा सब-के-सब आत्महत्या करने की तैयारी में लग गए और संसार उसी अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति में पहुंच गया जिसमें यूरोप प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर था।[2] इटली, जर्मनी, फ्रांस, पोलैण्ड और यूरोप के अन्य छोटे बड़े सभी राज्य युद्ध की तैयारी में लग गए। करोड़ों रुपयों की विशाल राशि खर्च करके फ्राँस ने "मेजिनो-लाइन" तैयार की। फ्रांस की पूर्वी सीमा पर इस 'लाइन' को तैयार करने में इन्जीनियरों ने अपनी सारी कुशलता खर्च कर दी। जमीन की सतह के नीचे किलेबंदियाँ

---

1. "Such an approach was found to fail, since disarmament is not primarily a technical problem of limiting armaments but a psychological and political problem of setting up an effective international organisation capable of guaranteeing security and settling disputes by other means than those of arms. The formal approach placed for too much faith in declarations. Instead of dealing with economic psychological and political conditions that might lead to armament race, delegates hoped to limit certain armaments and outlaw others by treaties.... In all the attempts made in this period, except for the original concept of the League of Nations which was so soon ignored, only the symptoms of a disease were being treated; the disease of international anarchy itself was not deeply investigated or diagnosed."

—*Huszar and De Grazia* : An outline of International Relation. page 53–54

2. *Schuman* : International Politics, page 232–33.

युद्ध का सहारा लेने को उत्सुक थे तो कुछ शांति के उपासक। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सत्ता हड़पने के लिए अपने देश के नागरिकों का ध्यान विदेश नीति में ही उलझाना चाहते थे ताकि उन्हें अपने देश की आन्तरिक वस्तुस्थिति का पता न लग सके। ऐसे नेताओं का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शांतिमय तरीकों से करने की बात सोचना निरी बेवकूफी है। फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी के नेता युद्ध को मानव जाति के लिए न केवल आवश्यक अपितु गौरवपूर्ण मानते हुए उसे शौर्य, साहस, वीरता, त्याग और बलिदान आदि श्रेष्ठ गुणों को विकसित करने वाला समझते थे। शांतिवाद उनकी दृष्टि में नपुंसकता था। मुसोलिनी का कहना था कि युद्ध पुरुष के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना नारी के लिए मातृत्व। ऐसे जंगखोरों की सामरिक प्रवृत्ति की चट्टान से टकराकर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की नौका चूर-चूर हो गई।

(७) **उपनिवेशों की सुरक्षा का प्रश्न** निःशस्त्रीकरण-प्रयासों के मार्ग में सातवीं बाधा था। पश्चिमी यूरोप के राज्यों का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। ब्रिटेन विश्वव्यापी साम्राज्य का मालिक था। संसार भर में उसके उपनिवेश फैले हुए थे। इन उपनिवेशों पर अपना अपवित्र अथवा अनैतिक शासन बनाए रखने के लिए साम्राज्यवादी राज्यों को निरन्तर ही सैनिक शक्ति की आवश्यकता बनी रहती थी, अतः उनके निःशस्त्रीकरण-प्रयास केवल प्रदर्शनी हुण्डी होते थे। उनका आचरण "हाथी के दाँत दिखाने के और, खाने के और" जैसा था। ऐसे वातावरण में शस्त्रास्त्रों को घटाने के प्रयासों का असफल होना अस्वाभाविक न था।

(८) निःशस्त्रीकरण-प्रयासों एवं सम्मेलनों की मौत का आठवां प्रमुख कारण यह था कि **समस्या को सुलझाने का प्रयत्न मौलिक रूप से नहीं, वरन् ऊपरी तौर से तथा प्राविधिक रूप से किया गया था।** इसकी विवेचना करते हुए हुजर तथा डिग्रेजिया (Huszar and De-Grazia) ने लिखा है कि—

"इस प्रकार के तरीके की सफलता सुनिश्चित थी क्योंकि निःशस्त्रीकरण मुख्यतः शस्त्रास्त्र को सीमित करने की प्राविधिक समस्या नहीं है अपितु वह एक ऐसे प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्थापित करने की मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक समस्या है जिसमें हथियारों के अतिरिक्त दूसरे उपायों के द्वारा सुरक्षा की गारन्टी देने तथा विवादों को हल करने की क्षमता हो। प्राविधिक उपाय घोषणाओं में अत्यधिक विश्वास करते हैं। शस्त्रास्त्र की दौड़ को जन्म देने वाली आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक परिस्थितियों का मामला करने के बजाय प्रतिनिधि संधियों के द्वारा हथियारों को

मर्यादित और गैर-कानूनी करने की आशा करते थे। ....इस काल में जितने भी प्रयत्न किए गए, उनमें राष्ट्रसंघ की आदि धारणा को छोड़ कर जिसकी बाद में उपेक्षा की गई, बीमारी के ऊपरी लक्षणों का इलाज किया गया, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का अनुसन्धान अथवा निदान नहीं किया गया।"[1]

निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयत्न एवं सम्मेलनों ने शांति के मार्ग को प्रशस्त करने की अपेक्षा कंटक में ही अधिक बनाया क्योंकि इनकी असफलता ने वैमनस्य एवं भ्रांतियां को बढ़ावा दिया। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ कि १९१९ में जिस कुचक्र से मनुष्य बचना चाहता था, वह एक बार फिर पूरे वेग से चलने लगा। निःशस्त्रीकरण की सारी आशायें लुप्त हो गईं; शस्त्रीकरण द्वारा सब-के-सब आत्महत्या करने की तैयारी में लग गए और संसार उसी अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति में पहुंच गया जिसमें यूरोप प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर था।[2] इटली, जर्मनी, फ्रांस, पोलैण्ड और यूरोप के अन्य छोटे बड़े सभी राज्य युद्ध की तैयारी में लग गए। करोड़ों रुपयों की विशाल राशि खर्च करके फ्रांस ने "मेजिनो-लाइन" तैयार की। फ्रांस की पूर्वी सीमा पर इस 'लाइन' को तैयार करने में इन्जीनियरों ने अपनी सारी कुशलता खर्च कर दी। जमीन की सतह के नीचे किलेबंदियाँ

---

1. "Such an approach was found to fail, since disarmament is not primarily a technical problem of limiting armaments but a psychological and political problem of setting up an effective international organisation capable of guaranteeing security and settling disputes by other means than those of arms. The formal approach placed for too much faith in declarations. Instead of dealing with economic psychological and political conditions that might lead to armament race, delegates hoped to limit certain armaments and outlaw others by treaties... In all the attempts made in this period, except for the original concept of the League of Nations which was so soon ignored, only the symptoms of a disease were being treated; the disease of international anarchy itself was not deeply investigated or diagnosed."

—*Huszar and De Grazia* : An outline of International Relation. page 53-54

2. *Schuman* : International Politics, page 232-33.

की गई। इन किलों में बड़ी-बड़ी पलटनें रह सकती थीं और उनकी सुख-सुविधाओं तथा चिकित्सा आदि का पूर्ण प्रबन्ध था। इस्पात, सीमेन्ट और कंक्रिट से बनाए गए ये किले इतने मजबूत थे कि तोपों, बमों और टैंकों से भी उन्हें नहीं तोड़ा जा सकता था। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि ऊपर से देख कर कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि जमीन के नीचे इतने बड़े-बड़े किले मौजूद हैं। लेकिन फ्रांस का चिर शत्रु जर्मनी, फ्रांस का गुरु था। फ्रांस को जवाब देने के लिए हिटलर ने भी समानान्तर रूप से किलेबंदियों की एक श्रृंखला तैयार कराई थी जिसे "सीगफ्रीड-लाइन" कहा जाता था। यह किलेबंदी "मेजिनो-लाइन" को भी मात देने वाली थी। इस तरह प्रत्येक देश आत्मघाती युद्ध की तैयारी में लगा हुआ था। युद्धोन्माद के ऐसे वातावरण में नि:शस्त्रीकरण-प्रयासों की अर्थी निकल जाना नितान्त स्वाभाविक था।

EXERCISES

1. "Long before the echoes of the Great War had died down, France victorious but worried, embarked upon a prolonged search for security." Examine the foreign policy of France in the inter-war period in the light of the above statement.
   "महायुद्ध की अन्तिम प्रतिध्वनि समाप्त होने के पूर्व ही विजयी किन्तु चिन्तित फ्रांस ने सुरक्षा के उपायों की खोज प्रारम्भ कर दी थी।" उपरोक्त कथन की पृष्ठभूमि में दो महायुद्धों के मध्य फ्रांस की विदेश नीति की विवेचना कीजिये।

2. "The most persistent single factor in European affairs in the year following 1919 was the French demand for security."—Carr. Discuss.
   "१९१९ के उपरान्त यूरोपीय घटना-चक्र का सबसे महत्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य फ्रांस की सुरक्षा मांग था।" (कार) विवेचना कीजिये।

3. Examine the main trends in the foreign policy of France between 1918 and 1930.
   १९१८ से १९३० के मध्य की फ्रेंच विदेश-नीति की मुख्य प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

4. What were the difficulties in the way of close Anglo-French Co-operation in foreign policy after the end of the First World War?
   प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद विदेश नीति में ब्रिटिश-फ्रेंच निकट सहयोग के मार्ग में क्या कठिनाइयां थी?

5. Examine the circumstances that led to the formation of the Little Entente and the significance of the association of France with it.
लघुमैत्री संघ निर्माण के उत्तरदायी कारण तथा फ्रांस द्वारा उसमें सम्मिलित होने के महत्व को प्रकट कीजिये ।

6. What attempts were made towards regional security outside the framework of the League of Nations ?
राष्ट्रसंघ के बाहर क्षेत्रीय सुरक्षा के लिये क्या प्रयास किये गये ?

7. "The Pact of Locarno was generally hailed as an epoch making event which marked a final reconciliation between the victors and the vanquished and constituted big step forward towards world peace." Discuss.
"लोकार्नो समझौते के युग का परिवर्तनकारी घटना के रूप में स्वागत किया गया जिसने विजेता एवं विजित के मध्य समाधान कर विश्व-शान्ति के मार्ग में एक महान् पग रखा ।" इस कथन की व्याख्या कीजिये ।

8. "In the long run the Locarno Treaty was destructive both of the Versailles Treaty and the League Covenant." Explain this statement.
"कालान्तर में लोकार्नो समझौता वर्साय की संधि तथा राष्ट्रसंघ के नियम के विनाश का कारण बना ।" इस कथन की व्याख्या कीजिये ।

9. Describe briefly the main provisions of the Locarno Treaties. Were they the real dividing lir...
years of war and the years of peace ?
...ौते की मुख्य व्यवस्थाओं का संक्षिप्त ...फलता के कारणों की ...तथा शान्तिकाल के ... विश्व युद्धों के मध्य ...

...the sphere of Naval ...carno ...onference of 1922 to ...time a...

...भन्न प्रयासों का, १६२२ ...के लन्दन नौ-सेना सम्मेलन ...त क्यों

...ive tl... ...igue ...f the Washington Trea-

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सुरक्षा की भावना को ध्यान में रखते हुए क्या प्रयास किये गये ?

12. "The Pact of Paris was a historical event of unique importance." Discuss.
"पेरिस-समझौता असाधारण महत्व की एक ऐतिहासिक घटना थी।" विवेचना करिये।

13. "The High Contracting parties solemnly declare in the names of their respective peoples that they condemn recourse to war for the solution of international controversies and renounce it as an instrument of national policy." (Briand Kellog Pact) Comment.
"समझौता करने वाले पक्ष अपनी जनताओं के नाम पर गम्भीर रूप से यह घोषणा करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिये युद्ध के उपाय के अवलम्बन की निन्दा करते हैं और राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में इसका परित्याग करते हैं।" विवेचना कीजिये।

14 What were the circumstances which led to the Kellog-Briand Pact of 1928 ? Explain its main terms and show why it failed in its purpose to outlaw war.
किन परिस्थितियों में १९२८ का Kellog Briand Pact सम्पन्न हुआ ? इस समझौते की प्रमुख शर्तों को स्पष्ट करते हुए बताइये कि वह अपने उद्देश्य-युद्ध के बहिष्कार में असफल क्यों हुआ ?

15. "I-- --ct though it was, the Pact of Paris was a consi- the year ..ndmark." Discuss
security.
"१९१९ के ? पेक्ट अपूर्ण ही था तथापि वह एक महत्वपूर्ण पग था।"
स्थायी तथ्य प्र ये।

3 Examine theme of its signature the Kellog-Briand Pact re- between 1918 more than an expression of hope rather than १९१८ से १९k for the enforcement of peace." Explain
की आलोचनात्मक ment
केलोग-ब्रियां-पैक्ट पर हस्ताक्षर हुए उसी समय से

4. What were the करने की व्यवस्था की अपेक्षा आशा की भावना की French Co-ope
First World Wa एक था।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
प्रथम महायुद्ध की सिncipal clauses of the Geneva Protocol ?
सहयोग के मार्ग में क्य s which led to its failure.

जेनेवा प्रोटोकोल के प्रमुख अनुबन्धों का उल्लेख कीजिये तथा उसकी असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिये ।

18 Give a critical account of the Draft Treaty of Mutual Assistance.
पारस्परिक सहायता की प्रारूप संधि का आलोचनात्मक विवरण दीजिये ।

19. Analyse the factors responsible for the failure of collective security.
सामूहिक सुरक्षा की असफलता के लिये उत्तरदायी कारणों का विश्लेषण कीजिये ।

20. What efforts were made to solve the problem of disarmament under the auspices of the League of Nations ? How far were they successful ?
राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण की दिशा में क्या प्रयत्न किये गये ? वे कहां तक सफल हुए ?

21. What were the attempts made towards regional disarmament outside the League of Nations ? What were the causes of the failure of such attempts ?
राष्ट्रसंघ के बाहर क्षेत्रीय निःशस्त्रीकरण की दशा में क्या प्रयत्न किये गये ? इन प्रयत्नों की असफलता के क्या कारण थे ?

22. What were the main elements of the problem of disarmament ? Discuss the causes of the failure of efforts for disarmament between the two World Wars.
निःशस्त्रीकरण समस्या के प्रमुख तत्व क्या थे ? दो विश्व युद्धों के मध्य निःशस्त्रीकरण के लिये किये गये प्रयत्नों की असफलता के कारणों की विवेचना कीजिये ।

23. Discuss the various efforts made in the sphere of Naval Disarmament from the Washington Conference of 1922 to London Naval Conference of 1935.
नौ–सेना–सम्बन्धी निःशस्त्रीकरण के विभिन्न प्रयासों का, १६२२ के वाशिंगटन सम्मेलन से लेकर १६३५ के लन्दन नौ–सेना सम्मेलन तक वर्णन कीजिये ।

24. Examine the causes and results of the Washington Treaties of 1921–22.

१६२१-२२ की वाशिंगटन संधियों के कारण तथा परिणामों की विवे-चना कीजिये।

25. Account for the failure of the Disarmament Conference of 1930-32.

१६३०-३२ के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता के कारणों को बताइये।

अध्याय-६

इटली में फासीवाद का उदय, इटली की विदेश नीति एवं स्पेन का गृह-युद्ध

[RISE OF FASCISM IN ITALY, THE FOREIGN POLICY OF ITALY & THE SPANISH CIVIL WAR]

"अतृप्त इटली, ताक-झांक करता हुआ, भ्रष्टाचार एवं दुर्भाग्य की गन्ध से प्रवृत्ति द्वारा आकर्षित होकर इधर-उधर बेचैनी से फिरता है-किसी पर पीछे से आक्रमण करने को तथा थोड़े से लूट के माल को ले भागने को तैयार रहता है।"

—बिस्मार्क

१९१९ से पूर्व तक की संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

फासिस्ट इटली के उत्थान और पतन की कहानी कहने से पहले दो शब्द १९१९ से पूर्व तक के इटली की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विषय में लिख देना उचित होगा। इटली के शासक सदा ही महत्वाकांक्षी रहे हैं, लेकिन इटली की भौगोलिक परिस्थितियों और आर्थिक स्थिति ने उनकी महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश का काम किया है। यही कारण है कि उन्होंने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए और महत्वाकांक्षाओं की सिद्धि के लिए सदैव एक 'श्रृगाल-नीति' का अनुसरण किया अर्थात् इटली के शासक एक श्रृगाल या गीदड़ की भांति लघु एवं निर्बल राष्ट्रों को अपने हमले का शिकार बनाते रहे, पहले से ही घातक रूप से चोट खाये हुओं को नोचते रहे, और महान् हिंसक प्राणियों की दावतों में बची हुई हड्डियों को लूटते-खसोटते रहे। शूमैन (Schuman) के शब्दों में बिस्मार्क के समय से ही राजनीति के क्षेत्र में इटली ने श्रृगाल की भूमिका अदा की।[1]

इटली की महत्वाकांक्षाओं में वास्तविक सचेतनता का पुनर्जागरण १८७० के बाद देखने को मिला। १८७० के फ्रेंचो-प्रशियन युद्ध ने

---

1. *Schuman* : International Politics, page 435.

जर्मनी और इटली दोनों ही राष्ट्रों के एकीकरण की प्रक्रिया को पूरा कर दिया और वे यूरोप की महाशक्तियों की पंक्ति में बैठने लगे। यद्यपि इटली का स्थान अपनी भौगोलिक एवं आर्थिक कमजोरियों के कारण सबसे छोटी शक्ति के रूप में ही रहा। **१८७० के बाद से ही विदेश नीति के क्षेत्र में इटली की तीन महत्वाकांक्षाएं सजीव रहीं।**

(१) इटालियन भाषा-भाषी प्रदेशों को विदेशी शासन से मुक्त करा के इटली में सम्मिलित करना।

(२) अफ्रीका में विशाल साम्राज्य की स्थापना करना।

(३) भूमध्य सागर पर इतना प्रभुत्व स्थापित कर देना कि उसे एक 'रोमन झील' कहा जा सके।

अपनी उपरोक्त तीनों आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए धूर्त, अवसरवादी, 'शृगाल-नीति' का आश्रय लेते हुए इटली ने बिस्मार्क के इस कथन की सत्यता को प्रमाणित किया—"अतृप्त इटली, ताक-झांक करता हुआ भ्रष्टाचार एवं दुर्भाग्य की गंध से प्रवृत्ति द्वारा आकर्षित होकर इधर-उधर बेचैनी से फिरता है-किसी पर पीछे से आक्रमण करने को तथा थोड़े से लूट के माल को ले भागने को तैयार रहता है।" उसका आचरण यही रहा कि विभिन्न शक्तियों से संधिबद्ध होने पर भी युद्ध आदि के अवसरों पर एक चतुर सियार की भांति वह इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि किस पक्ष के जीतने की आशा है, और जब उसे किसी पक्ष की विजय का विश्वास हो गया तभी वह उस पक्ष में सम्मिलित होकर लूट के माल में अपना हिस्सा मांगता रहा।

सन् १८८२ में इटली त्रिगुट संधि (Triple Alliance) का सदस्य बना। इस संधि में वह स्वयं, जर्मनी और आस्ट्रिया सम्मिलित थे। लेकिन जब लीबिया के सम्बन्ध में अपनी योजनाओं पर फ्रेन्च-समर्थन पाने का अवसर आया तो उसने १९०२ में फ्रान्स को यह आश्वासन देकर अपनी "शृगाल-नीति" का परिचय दिया कि वह फ्रेन्च-जर्मन युद्ध में फ्रान्स के विरुद्ध नहीं लड़ेगा। अपनी त्रिगुट संधि के बावजूद, इटली प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर से कूदा क्योंकि १९१५ की लण्दन की गुप्त संधि में मित्र राष्ट्रों ने उसे यह लालच दिया कि विजयोपरान्त वे उसे ब्रेनर दर्रे तक दक्षिणी ट्रिरोल, ट्रीस्टे, गोरिजिया, इस्ट्रिया और डालमेशिया का एक बड़ा भाग देंगे। यद्यपि उसके भूतपूर्व मित्रों-आस्ट्रिया और जर्मनी ने भी उसे फ्रान्स का अफ्रीका का साम्राज्य देने की तत्परता दिखायी थी लेकिन वह मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में इसलिए सम्मिलित हो गया कि इसमें उसे अधिक लाभ था।

प्रथम महायुद्ध के बाद की निराशा और फासीवाद का उदय और प्रभाव

प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय हुई, इटली भी विजेताओं की

पंक्ति में बैठा, किन्तु उसे अनुभव यही हुआ कि जीतकर भी वह हार गया है। जिस लूट के माल को पाने की आशा से इटली युद्ध में कूदा था, युद्ध के बाद उसे लूट का वह माल नहीं मिला। पेरिस के शांति सम्मेलन ने, वर्साय की संधि ने उसकी समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया। राष्ट्रपति विल्सन के विरोध के कारण उसकी अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षा अतृप्त रह गयी और भूमध्य सागर में प्रभुत्व जमाने की उसकी आकांक्षा एंग्लो-फ्रेन्च अनिच्छा के कारण पूरी नहीं हुई, फ्यूम (Fiume) उसे नहीं मिला। मित्र राष्ट्रों और अमेरिका के दुहरे प्रहार से इटली की झोली में केवल निराशा और असंतोष के बीज पड़े। उसकी शृगाल-नीति उसी के दुःख व निराशा का कारण बन गयी, यद्यपि बाद में अपनी इसी नीति के द्वारा उसने एक बार फिर इटली के गौरव के सपने देखे जो द्वितीय महायुद्ध में जाकर अन्त में पुनः मिट्टी में मिल गये। प्रथम महायुद्ध में इटली के ६ लाख सैनिक काल के ग्रास बने और हताहत हुए, १२ अरब डालर खर्च हुए और लगभग ३ अरब डालर की नागरिक क्षति हुई। लेकिन इस सारे बलिदान और त्याग के बदले में उसे लूट का इतना अल्प हिस्सा मिला कि जिसकी कल्पना इटली ने नहीं की थी। उसे केवल अफ्रीका में लीबिया के सीमान्त को ठीक करते हुए कुछ प्रदेश मिले, निकट पूर्व में डोडेकनीज और रोडस् टापू मिले, उत्तर में आस्ट्रिया से ट्रैण्टिनो, टिरोल, ट्रीस्टे, इस्ट्रिया तथा जारा और लागोस्टा टापू प्राप्त हुए। इस तरह सम्पूर्ण डालमेशियन तट पर हावी होने, अल्बानिया पर कब्जा जमाने, फ्यूम एवं लघु एशिया का आदालिया (Adalia) हस्तगत करने तथा अफ्रीका के जर्मन साम्राज्य को पाने की उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई। शांति-सम्मेलन के बाद उसने अपने को "असंतुष्ट" राज्यों की श्रेणी में पाया। १९१९ के शांति-समझौते से उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान में वृद्धि नहीं, वरन् ह्रास ही हुआ। इटली को वास्तव में संधि की उन व्यवस्थाओं से मर्मान्तक आघात पहुंचा जिनके परिणामस्वरूप फ्रान्स को ६० लाख व्यक्तियों की आवादी वाली २ लाख ५३ हजार वर्गमील भूमि और ब्रिटेन को ९० लाख से भी अधिक जन-संख्या वाली ९ लाख ८९ हजार वर्गमील भूमि मिली जबकि उनके साथ कंधे से कंधा अड़ाकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध करने वाले विजेता इटली को केवल १६ लाख ७२ हजार व्यक्तियों वाली ८ हजार ९०० वर्गमील भूमि प्राप्त हुई। इटली के लिए "लण्डन संधि" पेरिस-सम्मेलन में "कूटनीतिक शव" में परिवर्तित हो गयी। पेरिस के समझौते ने उसको शांति की लाश पर निराशा का उन्माद और आहत अभिमान ही दिया।

पेरिस-सम्मेलन से मिले निराशा और असन्तोष के उपहार ने इटली की तत्कालीन संसदीय सरकार को बहुत बदनाम कर दिया। महायुद्ध के

कारण इटली की आर्थिक दशा भी अत्यन्त शोचनीय हो गयी। उसकी मुद्रा का मूल्य ७० प्रतिशत कम हो गया। वस्तुओं के मूल्य आकाश छूने लगे। जनसाधारण का जीवन-निर्वाह कठिन हो गया। इस आर्थिक पतन की अवस्था ने इटली की पहले से ही कमजोर राजनीतिक अवस्था को एक अन्तिम धक्का दिया। असन्तुष्ट और निराश जनता का प्रजातंत्रीय शासन पद्धति से विश्वास हट गया। स्थान-स्थान पर विद्रोह फूटने लगे, हड़तालें रंग जमाने लगीं। इस अर्द्ध-अराजकता की स्थिति में धनिक लोग साम्यवाद के प्रसार के भय से आतंकित हो उठे। इटली के सभी वर्ग राष्ट्रीय अपमान के प्रतिकार और सम्मानित एवं गौरवपूर्ण स्थिति की प्रतिष्ठा के लिए बेचैन हो गये। ऐसे समय इटली में मुसोलिनी का उदय हुआ और उसके नेतृत्व में फासिस्ट दल फलने-फूलने लगा। फासीवाद वास्तव में इटली में किसानों और मजदूरों की साम्यवादी क्रांति को विफल बनाने के लिए जमींदारों और पूंजीपतियों द्वारा समर्थित आन्दोलन था जो इटली की संसदीय सरकार की अक्षमता, अराजकता, साम्यवाद के आतंक और जनता के सभी वर्गों के तीव्र संतोष का सहारा पाकर तेजी से सफलता की सीढ़ियां चढ़ता गया।

फासीवादी आन्दोलन को तेजी से लोकप्रियता इसलिए हासिल हुई कि जनता का प्रत्येक वर्ग किसी न किसी कारण से तत्कालीन समाजवादी सरकार से रुष्ट था। दूकानदार इसलिए नाराज थे कि सरकार मूल्य निश्चित कर रही थी और कर बढ़ा रही थी। जमींदारों को कृषक संघों से और भूमि के पुनर्वितरण से नाना-आशंकाएं थीं। मिल मालिक हड़तालों से और श्रमिकों की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। वे और अन्य पूंजीपति शासन से असंतुष्ट थे क्योंकि वह उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ था। मध्यम वर्ग भी तत्कालीन शासन में असुरक्षा के भय से ग्रस्त था। सैनिक सेवा से निवृत सिपाही, छात्रगण एवं अन्य युवक मजदूर आन्दोलनों से तथा राज-नीतिज्ञों की अयोग्यता से पीड़ित, व्यथित और परेशान थे तथा ऐसे किसी भी आन्दोलनों में मिलने को तैयार थे जो उनके राष्ट्र में एक सुदृढ़ तथा देशभक्त सरकार स्थापित कर सके।

फासिस्ट आन्दोलन के नेता मुसोलिनी ने इन सब समस्याओं को हल करने का वचन दिया। जनता में आशा की किरण फूट पड़ी। अद्भुत साहस और संगठन शक्ति के धनी तथा कुशल प्रवक्ता मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट दल निरन्तर शक्तिशाली बनता गया। आन्दोलन ने नगरों और गांवों में जोर पकड़ा। फासिस्टों की जो संख्या १९१९ में कुल २२,००० थी वह १९२१ में ५ लाख पर पहुंच गयी। मुसोलिनी ने अपने अनुयायियों को सैनिक ढंग से काली कमीजों (Black Shirts) की अनुशासित सेना में संगठित

किया। इस सेना के अपने उच्च अधिकारी पद, सांकेतिक चिन्ह, सज्जा तथा अभिवादन पद्धति आदि थे। यह सेना भयभीत मध्यम वर्ग की सुरक्षा की गारण्टी जैसी लगती थी। ऐसी भव्य शक्ति से मुसोलिनी समाजवादी और अन्य प्रगतिशील आन्दोलनों को तहस-नहस करने लगा।

मई १९२१ के निर्वाचनों में ३५ सीट जीतने के बाद नवम्बर १९२१ में फासिस्टों ने अपनी नियमित राजनीतिक पार्टी की स्थापना करली। लेकिन संवैधानिक रूप अपना लेने के बाद भी फासिस्टों ने अपना पुराना कार्यक्रम नहीं छोड़ा और वे तेल की बोतलों, गदाओं, छूरों और बन्दूकों से अपना आतंक जमाते रहे। २४ अक्टूबर १९२२ को फासिस्ट नेता मुसोलिनी ने नेपल्स में एक सभा की और अन्तिम कार्यवाही की योजना पर बातचीत करने के उपरान्त तत्कालीन सरकार को यह धमकी दी कि यदि शासन सत्ता उसे न सौंप दी गयी तो रोम पर चढ़ायी कर दी जायगी। २७ अक्टूबर १९२२ को ३०,००० फासिस्ट सैनिकों ने चार विभिन्न दलों में विभाजित होकर रोम की ओर प्रयाण कर दिया। एक विनाशकारी गृहयुद्ध से बचने के लिए सम्राट विक्टर इमेनुअल तृतीय (Victor Emmanuel III) ने तत्कालीन मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दिलवाकर, ३१ अक्टूबर १९२२ को मुसोलिनी को प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया और वह शीघ्र ही इटली का पूरा तानाशाह एवं सर्वेसर्वा बन गया। फासिस्टों ने शीघ्र ही समस्त विरोधी दलों को निर्दयतापूर्वक दबा दिया, प्रेस की स्वतन्त्रता छीन ली, स्थानीय स्वायत्तता एवं जनतांत्रिक संस्थाओं तथा पद्धतियों को नष्ट कर दिया। निर्वाचन नियमों को फासिस्ट दल के पक्ष में परिवर्तित कर दिया गया। चेम्बर ऑफ डैपुटीज (Chamber of Deputies) को भंग कर दिया गया और २२ निगमों की परिषद् (A Council for 22 Corporations) की स्थापना की गयी। संक्षेप में, मुसोलिनी के नेतृत्व में, इटली में पूर्णतः फासिस्ट तानाशाही प्रतिष्ठित हो गयी।

फासिस्ट क्रांति का प्रभाव—गेथोर्न हार्डी ने लिखा है **"इतिहास के व्यापक दृष्टिकोण से इटली के हाल के इतिहास में अक्टूबर १९२२ में फासिस्ट शासन की स्थापना को सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की घटना कहा जा सकता है।"**[1] व्यक्तिवाद, प्रजातंत्रवाद, समाजवाद, और शांतिवाद

---

1. 'In the longer perspective of history, the event which will probably be regarded as that of greatest international importance in the recent history of Italy will be the establishment of the Fascist regime in Oct., 1922."

—*Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs, page 152.

की शत्रु फासिस्ट क्रांति ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को गंभीर रूप में प्रभावित किया। इसके पहले कि हम फासिस्ट इटली की द्वितीय महायुद्ध तक की विदेश-नीति की विवेचना करें, इस प्रभाव को संक्षेप में जान लेना चाहिए।

फासिस्ट क्रांति का **प्रथम** प्रभाव यह पड़ा कि इसने यूरोप के अन्य देशों में भी प्रजातंत्र विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि मुसोलिनी ने एक बार यह घोषणा की थी कि फासिसज्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका दूसरे देशों से आयात किया जा सके, किन्तु फिर भी फासिस्ट क्रांति ने यूरोप में सर्वाधिकारवादी लहर को प्रेरणा दी। इटली के फासिस्ट शासन तंत्र से बहुत कुछ प्रेरित होकर जर्मनी, स्पेन आदि में अधिनायकवाद की स्थापना हुई।

फासिस्ट क्रांति का **दूसरा** प्रभाव संसार में शांति विरोधी वातावरण प्रस्तुत करने में परिलक्षित हुआ। मुसोलिनी ने स्पष्ट घोषणा की कि "हम अनन्त शांति की मूर्खता को अस्वीकार करते हैं," "हमें सदैव शक्ति सम्पन्न होना चाहिए।" शक्ति बल और दुराग्रह में आस्था रखने वाली ऐसी घोषणाओं ने राष्ट्रसंघ द्वारा प्रतिपादित सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को आघात पहुंचाया। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय जगत का वातावरण तनावपूर्ण एवम् दूषित बना।

फासिस्ट क्रांति का **तीसरा** प्रभाव यह हुआ कि साम्यवाद विरोधी आन्दोलन में तीव्रता आयी। फासिस्ट क्रांति बहुत कुछ साम्यवाद के भय से अनुप्राणित हुई थी, अतः यह स्वाभाविक था कि फासिस्टों ने शक्ति हथियाने के बाद सोवियत रूस एवं अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध विश्व-वमन करना शुरू कर दिया।

इसका चौथा प्रभाव यह हुआ कि इसने पूंजीवादी राष्ट्रों में इटली एवं जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति को बल पहुंचाया। फासीवाद के साम्यवाद विरोधी रूप ने ब्रिटेन जैसे व्यापारिक एवं पूंजीवादी राष्ट्र का इस सीमा तक समर्थन प्राप्त कर लिया कि वे ऊपर से राष्ट्रसंघ में अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के ठेकेदार बनते हुए इटली और जर्मनी की अनुचित कार्यवाहियों के प्रति नाराजगी का झूठा प्रदर्शन करते रहे जबकि अन्दर से उन्होंने इटली और जर्मनी को हर कार्य में इसलिए स्वतंत्रता दी कि ये दोनों राष्ट्र साम्यवाद के विरुद्ध ढाल का काम देंगे। इसीलिए जब स्पेन के गृहयुद्ध में इटली ने विद्रोहियों को सहायता दी और एबीसीनिया की स्वतंत्रता का उसने अपहरण किया तो पश्चिमी देश केवल खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे और इस तरह उन्होंने शांति विरोधी शक्तियों को बल पहुंचाया।

स्पष्ट है कि इटली की फासिस्ट क्रांति ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत को अपने प्रभाव का जामा पहनाने में पर्याप्त सफलता अर्जित की।

इटली की विदेश नीति

फासिस्ट विदेश नीति के मूल तत्व—मुसोलिनी कहा करता था कि "फासिज्म वह दर्शन है जो राज्य की सत्ता की सर्वोच्चता में विश्वास करता है और शक्ति, अनुशासन तथा एकता पर बल देता है।" इसीलिए यह स्वाभाविक था कि मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट इटली उग्र विदेश नीति का श्री गरोश करता।

प्रारम्भ में मुसोलिनी ने यह घोषणा की कि वह देश के वैदेशिक मामलों में फासीवाद का प्रयोग नहीं करेगा अथवा दूसरे शब्दों में फासीवाद को वह वैदेशिक राजनीति से पृथक रखेगा। परन्तु उसने अपने इस विचार को शीघ्र ही बदल दिया और अपनी सभी कूटनीतिक चालों (Diplomatic moves) में फासीवाद को प्रविष्ट कर दिया।

इटली के साथ मित्रराष्ट्रों ने विश्वासघात किया था। वर्साय की संधि द्वारा लूट का 'वाजिव' माल न मिलने के कारण और पूर्व उल्लिखित अन्य बातों के कारण उसका राष्ट्रीय सम्मान आहत एवं व्यथित था। इसीलिए मुसोलिनी की विदेश नीति का सर्वोपरि उद्देश्य था—राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और गौरव की पुन: प्राप्ति। वह चाहता था **कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इटली एक सम्मानित स्थान प्राप्त करे, भूमध्य सागर में वह अपनी पूर्ण प्रभुता स्थापित करे, अफ्रीका में अपना विशाल औपनिवेषिक साम्राज्य बनाये तथा वर्साय की संधि का संशोधन करे।**

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति तभी हो सकती थी जबकि सबसे पहले इटली सैनिक-शक्ति से सुदृढ़ होता। अत: मुसोलिनी ने सैनिक शक्ति के विकास को अपने कार्यक्रम का प्रथम अंग बनाया। **१९३७ में उसने घोषणा की कि 'फासीवादी इटली का प्रमुख कर्त्तव्य अपनी समस्त जल, थल और वायु-सेनाओं को हर समय तैयार रहने की स्थिति में अवस्थित करना है। हमें इतना मुस्तैद रहना होगा कि हम ५ लाख व्यक्तियों को एक क्षण में पुन: शस्त्र-सज्जित कर सकें। और केवल तभी हमारे अधिकारों और हमारी मांगों को मान्यता प्राप्त होगी।"**[1] अपने सैनिक विकासवाद की इस घोषणा से मुसोलिनी ने स्पष्ट कर दिया कि इटली उग्र राष्ट्रवादी एवं साम्राज्यवादी वैदेशिक नीति का पोषक था। वह अपनी परम्परागत 'श्रृगाल नीति' के अनु-

---

1. "The main duty of Fascist Italy is to keep her army, navy and air force always ready. We shall have to be alert so that we can rearm 5 million men in a moment. And only then our rights and demands will gain recognition."

—*Mussolini*

सार आचरण करते हुए पड़ौसियों के मूल्य पर अपना भौतिक विस्तार करना चाहता था। जान-बूझकर जनसंख्या के दबाव (The plea of population pressure) को यूरोप, भूमध्य सागर और अफ्रीका में भौतिक मांगों (प्रादेशिक विस्तार तथा उपनिवेषों की स्थापना आदि) के कारण रूप में उपस्थित कर दिया जाता था। वास्तव में उपनिवेषों की विजय और साम्राज्य-विस्तार उसके कार्यक्रम का दूसरा प्रमुख अंग था। उसका विश्वास था कि विश्व की आंखों में इटली की प्रतिष्ठा तभी बढ़ सकती थी जब इटली यह सिद्ध कर दे कि उसमें अपनी रक्षा करने की ही नहीं, वरन् दूसरों पर विजय प्राप्त करने की भी क्षमता है। सैनिक प्रतिष्ठा और साम्राज्य विस्तार द्वारा ही इटली को उसका विगत गौरव पुनः प्राप्त हो सकता था। इटली कच्चे माल की प्राप्ति और जनसंख्या वृद्धि की समस्याओं के समाधान के लिए भी उपनिवेषो को हस्तगत करना चाहता था। १९२६ में मुसोलिनी ने कह दिया था कि "हम भूमि के भूखे हैं क्योंकि हमारी जनसंख्या में वृद्धि हो रही है और हम ऐसा चाहते भी हैं।"[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि **मुसोलिनी** का एक प्रमुख उद्देश्य भूमध्य **सागर में पूरी प्रभुता स्थापित करके उसे 'रोमन झील' के रूप में परिवर्तित** करना था। इटली इस प्रभुत्व का भूखा इसलिए था कि उसके वाणिज्य का ८० प्रतिशत भूमध्य सागर की सतह पर होता था और भूमध्य सागर के किनारे बसे हुए किसी भी देश की अपेक्षा उसका तटवर्ती प्रदेश अधिक था। चूंकि वर्साय की संधि और राष्ट्रसंघ दोनों ही उसके मार्ग की रुकावटें थीं अतः उसका एक अन्य उद्देश्य इन्हें ठिकाने लगाना था। फासिस्ट इटली ने इसीलिए पहले इनका उपहास किया, फिर इन्हें चुनौती दी और तब घृणास्पद ढंग से इन्हें ठोकर मार दी। भूमध्य सागर का मामला इटली के लिए कितना महत्वपूर्ण था और इस सम्बन्ध में इटली की क्या नीति थी—इसे स्पष्ट करते हुए कैथरिन डफ (Katharine Duff) ने लिखा है—"स्थिति कुछ ऐसी थी कि भूमध्य सागर उसका साम्राज्य होने के बजाय उसके लिए एक जेल के समान था; कोरसिका, माल्टा, ट्यूनिस तथा साइप्रस उस जेल के सींकचे थे जबकि जिब्राल्टर और स्वेज इसके दरवाजों की रक्षा करते थे, तथा यूनान, तुर्की और मिश्र उसको घेरने वाली जंजीर को पूरा करने को तैयार थे। पहले जेल के सींकचों को तोड़ने और उसके बाद महासागर की ओर बढ़ने के लिए कृतसंकल्प, जिसके बिना वह अर्द्ध-स्वतंत्र ही समझा जाना चाहिए; इटली संभवतः लीबिया को सूडान के द्वारा 'इथियोपिया' से जोड़ कर हिन्द महा-

1. "We are hungry for land, because we are prolific and intend to remain so."
Mussolini

सागर की ओर तथा फ्रान्सीसी उत्तरी अफ्रीका के रास्ते अटलांटिक की ओर बढ़ता।"

फासिस्ट मुसोलिनी की विदेश नीति की सफलता का मार्ग तभी प्रशस्त हो सकता था जब वह अपने विरोधियों से साम, दाम, दण्ड, भेद किसी भी उपाय से निपट सके। **मुसोलिनी ने देखा कि ब्रिटेन और फ्रान्स उसके घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। अतः उसने उनके साथ एक को दूसरे के विरुद्ध करने, दोनों ही को जर्मनी के खिलाफ उकसाने और इन सबको सोवियत रूस के विरुद्ध-कर देने की चाल खेली।** पश्चिम को शिथिल बना देने के लिए वह कॉमिन्टर्न–विरोधी समझौते (Anti-Comintern Pact) में जर्मनी के साथ सम्मिलित हुआ, फ्रान्स और ब्रिटेन दोनों को चालाकी में छका देने के लिए उसने साम्यवाद से स्पेन की रक्षा करने के बहाने वहां हस्तक्षेप किया और अपने को सैनिक तथा कूटनीतिक रूप से सुदृढ़ स्थिति में लाने के लिए वह हिटलर को पूर्ण सहयोग देते हुए भी द्वितीय महायुद्ध के प्रथम चरण में तटस्थ रहा। लेकिन जब उसने देखा कि पश्चिम का भविष्य अन्धकारमय है तो 'श्रृगाल-नीति' पर चलते हुए उसने जर्मनी की तरफ से १९४० में फ्रांस पर हमला कर दिया ताकि धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, जापान आदि) की विजय होने के बाद वह लूट का एक बड़ा हिस्सा हड़प सके।

वैदेशिक सम्बन्ध (१९२२–१९४५)—फासिस्ट इटली की विदेश नीति के सिद्धान्तों और उद्देश्यों (Principles and Objectives) को जान लेने के बाद अब हम उसके वैदेशिक सम्बन्धों के वास्तविक वर्णन पर आते हैं। १९२२ से १९४५ तक इटली के विभिन्न देशों से जो सम्बन्ध रहे और इटली की विदेश नीति का जिस ढंग से संचालन होता रहा, उन सबको हम निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—

(१)	इटली और यूनान	(Italy and Greece)
(२)	इटली और फ्रांस	(Italy and France)
(३)	इटली और यूगोस्लाविया	(Italy and Yugoslavia)
(४)	इटली और एबीसीनिया	(Italy and Abyssinia)
(५)	इटली और अल्बानिया	(Italy and Albania)
(६)	स्पेन का गृहयुद्ध और इटली का उसमें हस्तक्षेप	(The Spanish Civil War and Italy's Intervention)
(७)	इटली द्वारा आस्ट्रिया का परित्याग	(Austria deserted by Italy)
(८)	इटली और जर्मनी के मध्य १९३९ का समझौता	(Pact of 1939 between Italy and Germany)

(९) द्वितीय विश्व युद्ध : इटली तथा जर्मनी (World War II : Italy and Germany)

(१) **इटली और यूनान (Italy and Greece)**—मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का तेजी से विकास हुआ। १९२३ में लोजान की संधि (Treaty of Laussane) द्वारा रोड्स (Rhodes) और डोडेकनीज द्वीप (Dodecanese Islands), जो उसे १९२० में यूनान को दे देने पड़े थे, पुनः प्राप्त हो गये। इस क्षेत्र में इटली द्वारा एक सुदृढ़ नौ-सैनिक अड्डा स्थापित कर दिया गया और पूर्वी भू-मध्यसागरीय क्षेत्र में इटली की स्थिति काफी सुधर गई। परन्तु इसी वर्ष इटली और यूनान के सम्बन्धों में विगाड़ आया। २३ अगस्त को अल्बानिया की सीमा निर्धारित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के इटालियन सदस्यों की यूनानी प्रदेश के भीतर हत्या कर दी गई। इस पर मुसोलिनी ने यूनान को २४ घण्टे का यह अल्टीमेटम दिया कि इटालियन अधिकारियों की सहायता से मामले की जांच हो, ५ दिन के भीतर अपराधियों को मृत्यु दण्ड दिया जाय, यूनानी ध्वज को इटालियन ध्वज के आगे झुका दिया जाय और ५ करोड़ लीरा (इटालियन सिक्का) हर्जाने के रूप में इटली को दिये जायं। यूनान के लिये इटली की इस प्रकार की धमकी एक राष्ट्रीय अपमान था, अत: उसने इटली की मांगों को स्वीकार नहीं किया और उन्हें अपनी राष्ट्रीय सर्वोच्च प्रभुसत्ता के प्रतिकूल समझा। यूनान ने इस मामले में निर्णय के लिये राष्ट्रसंघ से प्रार्थना की। परन्तु मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ की पूर्णत: उपेक्षा कर दी। इटालियन फौजों ने यूनान के **कोरफू टापू (Island of Corfu)** पर बम-वर्षा करके ३१ अगस्त १९२३ को उस पर अधिकार जमा लिया। यूनान ने पुन: राष्ट्रसंघ से हस्त-क्षेप की प्रार्थना की। इस पर यह विषय पेरिस की राजदूत-परिषद् को सौंप दिया गया क्योंकि इटालियन प्रतिनिधि ने राष्ट्रसंघ में यह तर्क प्रस्तुत किया था कि यह विषय परिषद् के क्षेत्राधिकार में न आकर राजदूत-सम्मेलन के क्षेत्राधिकार में आता है। राजदूत परिषद् ने जो कि मित्र राष्ट्र सरकारों के प्रमुख अंग के रूप में सर्वोच्च परिषद् का स्थान ले चुकी थी, मामले की जांच करके यह निर्णय दिया कि यूनान की हत्याओं की जांच करके अप-राधियों को दण्ड देना चाहिये, क्षमा-याचना एवं ५ करोड़ लीरा की क्षति-पूर्ति करनी चाहिये तथा इटली को भी कोरफू द्वीप पर से अपना अधिकार हटा लेना चाहिये। ब्रिटिश प्रभाव के फलस्वरूप इटली ने निर्णय को स्वीकार किया और जब यूनान ने जुर्माने की रकम अदा कर दी तो इटली ने २७ सितम्बर को कोरफू टापू खाली कर दिया। यहां यह उल्लेखनीय है कि काउण्ट कार्लोस्फोर्जा के मतानुसार ब्रिटिश सरकार के अल्टीमेटम के कारण

मुसोलिनी ने कोरफू पर से अपने अधिकार को हटाया। असली कारण जो भी रहा हो, इसमें कोई संशय नहीं कि इटली ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा की और क्षतिपूर्ति की विशाल राशि अर्जित की। इस सफलता ने इटली में मुसोलिनी की लोकप्रियता में बड़ी वृद्धि कर दी।

(२) **इटली और फ्रांस (Italy and France)**—प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्षों बाद तक इटली और फ्रांस के सम्बन्ध असन्तोषजनक रहे। लैंगसम (Langsam) के शब्दों में "युद्धोत्तर प्रारम्भिक वर्षों में इटली के सबसे अधिक खतरनाक वैदेशिक सम्बन्ध फ्रांस के साथ रहे।" १९१९ के पेरिस सम्मेलन में इटली प्रधान विजेता शक्तियों में से एक था। किन्तु फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका द्वारा उसके हितों की उपेक्षा किये जाने से ही इटली को लूट के माल में वांछित हिस्सा नहीं मिला।

मुसोलिनी द्वारा सत्ता हथिया लेने के बाद फ्रांस और इटली के मतभेद और भी अधिक उग्र हो गये और दोनों खुलकर विरोधी खेमों (Opposite Camps) में आ गये। **जिन कारणों से दोनों राष्ट्रों के मध्य विवाद और मनोमालिन्य सिर उठाते रहे वे इस प्रकार थे:—**

प्रथम, फ्रांस और इटली के राजनीतिक आदर्श एक-दूसरे के विरोधी थे। फ्रांस प्रजातंत्र का पक्षपोषक और फ्रेंच क्रांतिकारी आदर्शों में विश्वास करने वाला था। इसके विपरीत इटली राज्य के सर्वाधिकारवाद एवं निरंकुशवाद का समर्थक था और उसमें प्रजातंत्र के प्रति कट्टर शत्रुता के भाव थे।

दूसरे, फ्रांस और फासिस्ट इटली के सम्बन्ध तब स्पष्टतः बिगड़ गये जब फ्रांस ने अनेक फासिस्ट विरोधी इटालियनों को अपने यहाँ आश्रय दिया और उन्हें फ्रेंच नागरिकता प्रदान की।

तीसरे, मुसोलिनी की फासिस्ट सरकार ने फ्रांस द्वारा अधिकृत कार्सिका (Corsica), सेवाय (Savoy) और नीस (Nice) पर अपना दावा किया। इटली की इन मांगों के फलस्वरूप दोनों राष्ट्रों में वर्तमान कटुता और भी अधिक बढ़ गई।

चौथे, इटली ने सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण टेनजियर (Tangier) बन्दरगाह की मांग की और भू-मध्य सागर में फ्रांस के प्रभुत्व को चुनौती दी। १९२७ में इटली ने ऐसे समय युद्धपोतों का एक स्क्वेड्रन टेनजियर भेजा जबकि फ्रांस और स्पेन में टेनजियर के भविष्य पर पत्र व्यवहार हो रहा था। इटली द्वारा पैदा की गई इन परिस्थितियों से बाधित होकर फ्रांस को टेनजियर के प्रश्न पर विचार-विमर्श करने के लिये इटली को निमंत्रित करना पड़ा और १९२८ में हुई संधि के द्वारा इटली को टेनजियर के प्रशासन में भाग लेने का अधिकार मिला। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए बेंस (Benns)

ने लिखा है कि इससे "एक महान् शक्ति के रूप में इटली की स्थिति की रक्षा हो गई और रोम में इस परिणाम को मुसोलिनी की महान् कूटनीतिक विजय समझा गया।"

पांचवें, पेरिस शांति सम्मेलन में अपने "वाजिब एवं न्यायपूर्ण अधिकारों" (Just rights) की उपेक्षा कर दिये जाने के लिये इटली ने फ्रांस को उत्तरदायी ठहराया।

छठे, पश्चिमी भू-मध्य सागरीय प्रदेश में एक इटालियन नौसैनिक अड्डे की स्थापना को लेकर दोनों राष्ट्रों के मध्य जबरदस्त शत्रुता पैदा हो गई। इस प्रश्न पर दोनों ही राष्ट्रों में वाशिंगटन-सम्मेलन (१९२१-२२), जेनेवा सम्मेलन (१९२७) तथा लंदन सम्मेलन (१९३०) में खुलकर झड़पें हुईं। लंदन सम्मेलन तो विशेषकर इसीलिये भंग हो गया क्योंकि इटली फ्रांस के साथ अपनी नौ सैनिक समानता का दुराग्रह करता रहा।

सातवें, इटली को यह पसंद नहीं था कि ट्यूनीसिया (Tunisia) में फ्रेंच प्रभुत्व स्थापित रहे। इसका कारण यह था कि ट्यूनीसिया में रहने वाले इटालियन निवासियों की संख्या फ्रेंच निवासियों से अधिक थी। इटालियनों के इस बहुमत के आधार पर फासिस्ट सरकार ने ट्यूनीसिया में इटली के प्रभुत्व की मांग की फलतः दोनों देशों में मनोमालिन्य उग्र हो गया।

आठवें, १९२२ से १९३३ तक इटली निरन्तर इस बात का आग्रह करता रहा कि शांति संधियों में संशोधन किया जाना चाहिये। लेकिन फ्रांस ने इटली की इस मांग का हमेशा विरोध किया और इस तरह दोनों राज्यों के मध्य तनातनी बनी रही।

फ्रांस-इटली वैदेशिक सम्बन्धों में उपरोक्त कारणों की वजह से तो विगाड़ आया ही किन्तु **इसके अतिरिक्त दोनों में दक्षिण-पूर्वी यूरोप के प्रश्न पर भी तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए।** दोनों ही राष्ट्र दक्षिण-पूर्वी यूरोप में अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के आकांक्षी थे और इस प्रतिस्पर्धा में विजय पाने के लिये दोनों ही ने एक--दूसरे के विरोधी गुट बनाने शुरू किये। इधर दक्षिण-पूर्वी यूरोप के लघु राज्य फ्रांस अथवा इटली के साथ गठ बन्धन करने के तो इच्छुक थे, परन्तु वे इन दोनों में से किसी के भी प्रभुत्व को स्वीकार करने को बिल्कुल तैयार न थे। फ्रांस और इटली दोनों ही राष्ट्र इन लघु राज्यों को अपनी-अपनी तरफ आकर्षित करने का प्रयास करने लगे। प्रारम्भ में इटली को फ्रांस की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। १९२४ तक जहां फ्रांस केवल चैकोस्लोवाकिया के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर सका वहां इटली ने चैकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया दोनों के साथ गठबन्धन

कर लिया। मैत्री गुट बनाने की यह होड़ निरन्तर तेज होती गई, किन्तु दक्षिण-पूर्वी यूरोप में पूर्ण सर्वोच्चता अथवा प्रभाव स्थापित करने में फ्रांस या इटली किसी को भी सफलता नहीं मिली। प्रभुता के क्षेत्रों को दोनों ही ने कम-वेशी बांट खाया। इटली ने १६२६ में रूमानिया और स्पेन से, १६२७ में अल्बानिया और हंगरी से, १६२८ में टर्की और यूनान से तथा १६३२ में सोवियत संघ से मैत्री-संधियां स्थापित कीं। दूसरी तरफ फ्रांस ने १६२६ में रूमानिया के साथ, १६२७ में यूगोस्लाविया और १६३३ में सोवियत संघ के साथ संधियां सम्पन्न कीं।

अपने फ्रांस विरोधी दृष्टिकोण के कारण ही **इटली ने ब्रिटिश-फ्रेंच विवाद में ब्रिटेन का पक्ष लिया।** ब्रिटेन का पक्ष लेने में एक प्रमुख कारण यह भी निहित था कि इटली को ब्रिटिश कूटनीतिक और आर्थिक सहायता की बड़ी आवश्यकता थी। इसीलिये क्षतिपूर्ति की समस्याओं में वाद-विवाद के दौरान इटली ने ब्रिटेन का ही समर्थन किया। इन दोनों राष्ट्रों में तब और भी अधिक निकटता देखने को मिली जब १६२४ में चेम्बरलेन ने रोम-यात्रा की।

सन् १६३३ तक इटली की विदेश-नीति का एक लक्ष्य फ्रांस का विरोध करना और उसके विरुद्ध युद्धबंदी करना बना रहा। लेकिन १६३३ में जर्मनी में हिटलर के सत्तारूढ़ होने के साथ ही फ्रांस-इटली सम्बन्धों में एक परिवर्तन आया। नाज़ी हिटलर के आक्रमणकारी और घोर उग्रवादी व्यवहार ने फ्रांस और इटली के मध्य सहयोग का मार्ग-प्रशस्त कर दिया। फलत: सन् १६३५ में दोनों राष्ट्रों के मध्य एक संधि सम्पन्न हुई। इटली के तानाशाह मुसोलिनी और फ्रांस के लेवाल (Laval) ने इस **फ्रांको-इटालियन समझौते या रोम पैक्ट (Rome Pact)** पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के द्वारा दोनों देशों ने आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता पर संकट आने की दशा में परस्पर विचार-विमर्श करने का निश्चय किया और यूरोप में 'यथा-स्थिति' बनाये रखने की आवश्यकता पर बल दिया। इस संधि के फलस्वरूप दोनों राष्ट्रों की औपनिवेशिक शत्रुता एवं प्रतिस्पर्धा (Colonial rivalry) समाप्त हो गई। फ्रांस के ४४,५०० वर्गमील के अफ्रीकी प्रदेश इटली को दे दिये गये और फ्रेंच-ट्यूनीसिया में भी इटलीवासियों को कुछ विशेषाधिकार मिले।

फ्रांस और इटली के सम्बन्धों का सुधरता हुआ यह रूप अधिक समय तक कायम नहीं रहा और **एबीसीनिया (इथोपिया) पर इटालियन** ›
के कारण उसमें एक बार फिर बिगाड़ आ गया। दोनों के सम्बन्धों में पुन: इसलिये पैदा हुई कि जब राष्ट्रसंघ की परिषद् ने इटली को '
(Aggressor, घोषित किया तो फ्रांस ने इसका कोई विरोध नहीं ।

ने लिखा है कि इससे "एक महान् शक्ति के रूप में इटली की स्थिति की रक्षा हो गई और रोम में इस परिणाम को मुसोलिनी की महान् कूटनीतिक विजय समझा गया।"

पांचवें, पेरिस शांति सम्मेलन में अपने "वाजिब एवं न्यायपूर्ण अधिकारों" (Just rights) की उपेक्षा कर दिये जाने के लिये इटली ने फ्रांस को उत्तरदायी ठहराया।

छठे, पश्चिमी भू-मध्य सागरीय प्रदेश में एक इटालियन नौसैनिक अड्डे की स्थापना को लेकर दोनों राष्ट्रों के मध्य जबरदस्त शत्रुता पैदा हो गई। इस प्रश्न पर दोनों ही राष्ट्रों में वाशिंगटन-सम्मेलन (१९२१-२२), जेनेवा सम्मेलन (१९२७) तथा लंदन सम्मेलन (१९३०) में खुलकर झड़पें हुई। लंदन सम्मेलन तो विशेषकर इसीलिये भंग हो गया क्योंकि इटली फ्रांस के साथ अपनी नौ सैनिक समानता का दुराग्रह करता रहा।

सातवें, इटली को यह पसंद नहीं था कि ट्यूनीसिया (Tunisia) में फ्रेंच प्रभुत्व स्थापित रहे। इसका कारण यह था कि ट्यूनीसिया में रहने वाले इटालियन निवासियों की संख्या फ्रेंच निवासियों से अधिक थी। इटालियनों के इस बहुमत के आधार पर फासिस्ट सरकार ने ट्यूनीसिया में इटली के प्रभुत्व की मांग की फलतः दोनों देशों में मनोमालिन्य उग्र हो गया।

आठवें, १९२२ से १९३३ तक इटली निरन्तर इस बात का आग्रह करता रहा कि शांति संधियों में संशोधन किया जाना चाहिये। लेकिन फ्रांस ने इटली की इस मांग का हमेशा विरोध किया और इस तरह दोनों राज्यों के मध्य तनातनी बनी रही।

फ्रांस-इटली वैदेशिक सम्बन्धों में उपरोक्त कारणों की वजह से तो बिगाड़ आया ही किन्तु **इसके अतिरिक्त दोनों में दक्षिण-पूर्वी यूरोप के प्रश्न पर भी तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए।** दोनों ही राष्ट्र दक्षिण-पूर्वी यूरोप में अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के आकांक्षी थे और इस प्रतिस्पर्धा में विजय पाने के लिये दोनों ही ने एक-दूसरे के विरोधी गुट बनाने शुरू किये। इधर दक्षिण-पूर्वी यूरोप के लघु राज्य फ्रांस अथवा इटली के साथ गठ बन्धन करने के तो इच्छुक थे, परन्तु वे इन दोनों में से किसी के भी प्रभुत्व को स्वीकार करने को बिल्कुल तैयार न थे। फ्रांस और इटली दोनों ही राष्ट्र इन लघु राज्यों को अपनी-अपनी तरफ आकर्षित करने का प्रयास करने लगे। प्रारम्भ में इटली को फ्रांस की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। १९२४ तक जहां फ्रांस केवल चैकोस्लोवाकिया के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर सका वहां इटली ने चैकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया दोनों के साथ गठबन्धन

कर लिया। मैत्री गुट बनाने की यह होड निरन्तर तेज होती गई, किन्तु दक्षिण-पूर्वी यूरोप में पूर्ण सर्वोच्चता अथवा प्रभाव स्थापित करने में फ्रांस या इटली किसी को भी सफलता नहीं मिली। प्रभुता के क्षेत्रों को दोनों ही ने कम-वेशी बांट खाया। इटली ने १९२६ में रूमानिया और स्पेन से, १९२७ में अलबानिया और हंगरी से, १९२८ में टर्की और यूनान से तथा १९३२ में सोवियत संघ से मैत्री-संधियां स्थापित कीं। दूसरी तरफ फ्रांस ने १९२६ में रूमानिया के साथ, १९२७ में यूगोस्लाविया और १९३३ में सोवियत संघ के साथ संधियां सम्पन्न कीं।

अपने फ्रांस विरोधी दृष्टिकोण के कारण ही इटली ने ब्रिटिश-फ्रेंच **विवाद में ब्रिटेन का पक्ष लिया।** ब्रिटेन का पक्ष लेने में एक प्रमुख कारण यह भी निहित था कि इटली को ब्रिटिश कूटनीतिक और आर्थिक सहायता की बड़ी आवश्यकता थी। इसीलिये क्षतिपूर्ति की समस्याओं में वाद-विवाद के दौरान इटली ने ब्रिटेन का ही समर्थन किया। इन दोनों राष्ट्रों में तब और भी अधिक निकटता देखने को मिली जब १९२४ में चेम्बरलेन ने रोम-यात्रा की।

सन् १९३३ तक इटली की विदेश-नीति का एक लक्ष्य फ्रांस का विरोध करना और उसके विरुद्ध युद्धबंदी करना बना रहा। लेकिन १९३३ में जर्मनी में हिटलर के सत्तारूढ होने के साथ ही फ्रांस-इटली सम्बन्धों में एक परिवर्तन आया। नाजी हिटलर के आक्रमणकारी और घोर उग्रवादी व्यवहार ने फ्रांस और इटली के मध्य सहयोग का मार्ग-प्रशस्त कर दिया। फलत: सन् १९३५ में दोनों राष्ट्रों के मध्य एक संधि सम्पन्न हुई। इटली के तानाशाह मुसोलिनी और फ्रांस के लेवाल (Laval) ने इस **फ्रांको-इटालियन समझौते या रोम पैक्ट (Rome Pact)** पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के द्वारा दोनों देशों ने आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता पर संकट आने की दशा में परस्पर विचार-विमर्श करने का निश्चय किया और यूरोप में 'यथा-स्थिति' बनाये रखने की आवश्यकता पर वल दिया। इस संधि के फलस्वरूप दोनों राष्ट्रों की औपनिवेशिक शत्रुता एवं प्रतिस्पर्धा (Colonial rivalry) समाप्त हो गई। फ्रांस के ४४,५०० वर्गमील के अफ्रीकी प्रदेश इटली को दे दिये गये और फ्रेंच-ट्यूनीसिया में भी इटलीवासियों को कुछ विशेषाधिकार मिले।

फ्रांस और इटली के सम्बन्धों का सुधरता हुआ यह रूप अधिक समय तक कायम नहीं रहा और **एवीसीनिया (इथोपिया) पर इटालियन आक्रमण के कारण उसमें एक बार फिर बिगाड़ आ गया।** दोनों के सम्बन्धों में कटुता पुन: इसलिये पैदा हुई कि जब राष्ट्रसंघ की परिषद् ने इटली को 'आक्रान्ता' (Aggressor) घोषित किया तो फ्रांस ने इसका कोई विरोध नहीं किया।

इसके अतिरिक्त फ्रांस ने संघ द्वारा इटली पर लगाये जाने वाले आर्थिक प्रतिबन्धों का भी समर्थन किया। फ्रांस के इस रुख से इटली का रुष्ट हो जाना स्वाभाविक था। लेकिन कुछ समय बाद ही फ्रांस-इटली सम्बन्धों में पुनः परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ और अन्त में, नाज़ी जर्मनी के भय से, फ्रांस और ब्रिटेन ने इटली के प्रति तुष्टिकरण की नीति (Appeasement Policy) अपना ली। इटली को सन्तुष्ट करने के लिये वे इतना आगे बढ़ गये कि एबीसीनिया का १/३ भाग इटली को उपहार रूप में दे देने तक की योजना बना ली गई, यद्यपि यह योजना कार्यरूप में कभी परिणत न की जा सकी। लेकिन इस योजना के क्रियान्वित न होने का कोई असर नहीं हुआ क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस की तुष्टिकरण की नीति से उत्साहित होकर इटली ने एबीसीनिया पर सैन्य-बल से अधिकार जमा लिया। अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का ठेकेदार बताने वाले ब्रिटेन और फ्रांस एबीसीनिया की स्वतन्त्रता की हत्या का तमाशा खड़े-खड़े देखते रहे।

एबीसीनिया के प्रश्न पर फ्रांस-इटली सम्बन्धों में जो गिरावट शुरू हुई थी वह मित्रता के स्तर पर वापिस कभी न लौट सकी। **इन दोनों के सम्बन्ध तब और भी कटु हो गये जब जर्मनी और इटली में १९३६ में एक समझौता हो गया** और इस तरह 'रोम-बर्लिन धुरी' स्थापित हो गई। जर्मन-मित्रता के मूल्य के रूप में इटली ने आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ एकीकरण का विरोध त्याग दिया। १९३९ में जर्मनी और इटली के मध्य 'फौलादी समझौता' (Steel Pact) हुआ जिसके द्वारा दोनों देशों ने युद्ध छिड़ने की अवस्था में पारस्परिक सैनिक सहायता का वचन दिया। इटली-जर्मनी की मित्रता ने फ्रांस और अन्य मित्रराष्ट्रों के लिये गम्भीर सिर-दर्द पैदा कर दिया। फ्रांस की सुरक्षा को जर्मन खतरा बढ़ गया और इटली ने जर्मनी को वर्साय संधि भंग करने को उकसाया। इसके अलावा इटली ने कोर्सिका, सेवाय और नीस पर अपनी मांगों को दोहराना शुरू कर दिया। फ्रांस और इटली के कटुतम सम्बन्धों की चरम सीमा तक पहुंची जब जर्मनी ने १९४० में फ्रांस पर हमला बोल दिया और इटली जर्मनी के पक्ष में युद्ध क्षेत्र में कूद पड़ा।

(३) इटली और यूगोस्लाविया (Italy and Yugoslavia)—कार का कथन है कि **"इटली के लिये यूगोस्लाविया की शत्रुता दो महायुद्धों के बीच की अवधि में यूरोप के सर्वाधिक चिरस्थायी संघर्षों में से एक थी।"**[1] इटली और यूगोस्लाविया के मध्य विवादों और मतभेदों का प्रधान कारण

1. "The enmity of Yugoslavia for Italy was one of the most persistent of all European fends." —Carr

पेरिस शान्ति सम्मेलन में इटली द्वारा अधिक क्षेत्रों को मांग किया जाना था। युद्धकाल में १६१५ में गुप्तरूप से की गई लण्दन-संधि के अनुसार मित्रराष्ट्रों द्वारा यह वायदा किया गया था कि शान्ति-समझौते के समय इटली को एड्रियाटिक क्षेत्र (Adriatic region) का एक बड़ा भाग दिया जायगा। लेकिन दक्षिणी टिरोल (South Tyrol), ट्रीस्ट (Triest), इस्ट्रिया (Istria) आदि में गैर-इटालियनों का बहुमत था, अत: यह बड़ा कठिन था कि विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रतिकूल कार्य करके इन क्षेत्रों का इटली को हस्तान्तरण कर दिया जाय। तिस पर भी पेरिस-शान्ति सम्मेलन में ब्रिटेन और फ्रांस ने यह घोषणा की कि मित्र राष्ट्र लण्दन की गुप्त संधि द्वारा इटली को एड्रियाटिक का एक बड़ा भाग देने को वचनबद्ध हैं।

विल्सन ने गुप्त लण्दन-संधि को मानने से इन्कार कर दिया। विल्सन के सिद्धान्तों और अपने हस्ताक्षरों के प्रति निष्ठा के प्रश्न को लेकर ब्रिटेन व फ्रांस में मतभेद हो गया। विल्सन ने दक्षिणी टिरोल सम्बन्धी अपनी जिद्द छोड़ दी क्योंकि उससे सम्बन्धित सौदा एक शत्रु की बलि चढ़ाते हुए किया गया था। लेकिन जब नवगठित यूगोस्लाविया राज्य प्रतिद्वंद्वी दावेदार के रूप में सामने आया, तब विल्सन टस से मस नहीं हुए। इधर इटली ने विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर फ्यूम (**Fiume**) **पर अपना दावा प्रस्तुत किया** जबकि लण्दन-संधि द्वारा उसे फ्यूम दिये जाने का वचन नहीं दिया गया था। **फ्यूम का यह प्रश्न यूगोस्लाविया और इटली के मध्य कटु विवाद का कारण बन गया।** यदि फ्यूम इटली को दिया जाता तो यूगोस्लाविया के राष्ट्रीय हित को नुकसान पहुंचता था। इसके अतिरिक्त, आर्थिक दृष्टिकोण से भी फ्यूम यूगोस्लाविया के लिये अत्याज्य था। इटली को फ्यूम के दे दिये जाने का अभिप्राय यही निकलता कि यूगोस्लाविया पूर्ण रूप से इटली के अधीन हो जाता। दूसरी तरफ इटली के लिये भी फ्यूम पर अधिकार करना बड़ा लाभदायक एवं महत्वपूर्ण था। बाल्कान क्षेत्र में वाणिज्य-विस्तार तथा प्रादेशिक प्रसार की दृष्टि से फ्यूम इटली के लिये आवश्यक था। जब फ्यूम के इस प्रश्न का पेरिस शान्ति सम्मेलन में कोई समाधान नहीं किया जा सका तो मित्रराष्ट्रों ने इस प्रश्न को दोनों शक्तियों द्वारा पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा सुलझाने के लिये छोड़ दिया।

अब इटली ने, जो कि फ्यूम लेने पर तुला हुआ था, राष्ट्रसंघ के संविदा की उपेक्षा करते हुए यूगोस्लाविया के विरुद्ध शक्ति-प्रयोग किया। इस तरह राष्ट्रसंघ का अपने शक्तिशाली सदस्य-राज्यों में से एक के साथ पहली बार संघर्ष शुरू हुआ। **शार्प और किर्क (Sharp and Kirk) के शब्दों में,** **"इटली की एड्रियाटिक नीति ही वह अवसर था जिसने संघ को अपनी सदस्य**

महाशक्तियों में से एक के साथ संघर्ष की स्थिति में ला खड़ा किया।"[1] १९१९ में एक गैर-सरकारी इटालियन सेना ने कवि द' अनुनजियो (D' Annunzio) के नेतृत्व में, किन्तु इटली सरकार की मौन उपेक्षा से उत्साहित हो, फ्यूम पर कब्जा कर लिया। लेकिन अगले वर्ष इटली और यूगोस्लाविया के मध्य हुई १९२० की रैपेलो संधि (**Treaty of Rapallo**) के अनुसार फ्यूम को एक स्वतंत्र नगर मान लिया गया।

फिर भी, समस्या का संतोषजनक समाधान नहीं हुआ था। इस व्यवस्था से इटली और यूगोस्लाविया दोनों ही असंतुष्ट थे, अतः दोनों के मध्य विवाद जारी रहा। १९२० में ही मित्रराष्ट्रों ने भी सम्पूर्ण सीमान्त-विवाद से अपने हाथ खींच लिए और दोनों राष्ट्रों को आपस में निपट लेने के लिए छोड़ दिया। दोनों के मध्य सम्बन्धों में कुछ सुधार के लक्षण तब प्रकट हुए जब मुसोलिनी के हाथ में इटली की शासन सत्ता आयी। १९२४ में मुसोलिनी ने रैपेलो संधि में संशोधन किया और **यूगोस्लाविया के साथ रोम की संधि** (२७ जनवरी १९२४) सम्पन्न की। इस संधि के अनुसार इटली ने जारा (Zara) बन्दरगाह छोड़ कर सम्पूर्ण डालमेशियन किनारा यूगोस्लाविया को दे दिया किन्तु और बाकी स्थानों में, उसे लण्दन संधि से भी अधिक अनुकूल शर्तें मिलीं जिनमें फ्यूम नगर पर अधिकार भी शामिल था। यूगोस्लाविया को फ्यूम में वाणिज्य के अधिकार अवश्य स्वीकृत हुए। इस प्रकार दोनों देशों के मध्य लम्बे समय से चलते आ रहे विवाद का अन्त हुआ और दोनों राष्ट्रों में मैत्री सम्बन्धों की शुरूआत हुई। अगले वर्ष, १९२५ में हुए नेटियूनो **सम्मेलन (Nettiuno Convention, 1925)** के द्वारा इटली और यूगोस्लाविया ने एक दूसरे को आर्थिक सुविधाएं प्रदान करने का निश्चय किया।

इटली और यूगोस्लाविया के ये मधुर सम्बन्ध अधिक समय तक नहीं बने रहे। अल्बानिया के प्रश्न के रूप में उन्हें झगड़े की एक और जड़ मिल गयी। फ्रांस और यूगोस्लाविया के मध्य हुई मैत्री संधि के जवाब में इटली ने १९२७ में अल्बानिया के साथ एक संधि की। इस संधि के मूल में अल्बानिया पर इटली के पहले वाले प्रभाव की पुनर्स्थापना का मुसोलिनी का उद्देश्य निहित था। वास्तव में इटली पेरिस सम्मेलन में ही यह मांग कर चुका था कि लण्दन संधि के अन्तर्गत अपने अधिकारों का परित्याग करने के बदले में, मित्रराष्ट्रों को अल्बानिया के मामलों में इटली की 'विशेष स्थिति' (Special status) स्वीकार करनी चाहिए। अल्बानिया के साथ संधि करने का यूगोस्ला-

---

1. "The Adriatic policy of Italy was the occasion of the League's first clash with one of its great-power-members."
—*Sharp and Kirk*

विया पर विपरीत प्रभाव पड़ा। नेटियूनो-सम्मेलन के विरुद्ध यूगोस्लाविया में पहले ही असंतोष भड़क रहा था और इटली विरोधी दंगे हो रहे थे, अत: ऐसे वातावरण में यूगोस्लाविया के लोगों को यह सन्देह हो गया कि इटली उसके पड़ौसी राज्यों के साथ मित्रता स्थापित करके यूगोस्लाविया को घेरने का प्रयत्न कर रहा है। यदि सच पूछा जाय तो इस सन्देह के लिए यूगोस्लाविया के पास पर्याप्त कारण थे। इटली और हंगरी में १६२७ में संधि स्थापित हो चुकी थी और बल्गेरिया के प्रति भी इटली का मैत्री-व्यवहार था। इन बातों से यूगोस्लाविया के लोगों में इटली के प्रति भय और संदेह पैदा हो गया था। फिर इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि मुसोलिनी की विदेशी नीति का प्रमुख उद्देश्य बालकान क्षेत्र (Balkan region) में इटली का विस्तार था। अतः इस पृष्ठभूमि में अल्बानिया और हंगरी के साथ इटली की संधि ने तथा बल्गेरिया के प्रति उसके मैत्री-व्यवहार ने यूगोस्लाविया को चौंका दिया और जब अल्बानिया पर इटली का प्रभाव विशेष रूप से छाने लगा तो इटली और यूगोस्लाविया के सम्बन्धों में तनाव पैदा हो गया।

परन्तु इटली ने यूगोस्लाविया पर कूटनीतिक सफलता प्राप्त की। अब तक यूगोस्लाविया फ्यूम, जारा और डालमेशिया से सम्बन्धित नेटियूनो सम्मेलन (Nettiuno Convention) की सम्पुष्टि (Ratification) का विरोध करता आ रहा था। किन्तु यूगोस्लाविया अधिक समय तक इटली की मांग का प्रतिरोध नहीं कर सका। यूगोस्लाविया के लिए विशेषतः ऐसी स्थिति में इटली की मांग का विरोध करना संभव भी न था जबकि इटली ने टर्की और यूनान से भी मैत्री संधियां सम्पन्न करली हों। अन्त में १६२६ में यूगोस्लाविया ने सैलोनिका क्षेत्र (Salonika Zone) के बारे में इटली के साथ एक संधि की और अपनी पहली वाली मांगों का परित्याग कर दिया। **इस प्रकार, लीबेन्स (Lee Benns) के शब्दों में अपने शासन की प्रथम दशाब्दी में "मुसोलिनी एड्रियाटिक सागर पर इटली के आधिपत्य को दृढ़ करने, भूमध्य सागर में उसके सम्मान की वृद्धि करने तथा दक्षिण-पूर्व यूरोप में अपने कूटनीतिक तथा आर्थिक प्रभाव को विस्तृत करने में सफल हुआ।"**

जर्मनी में हिटलर के उदय के बाद इटली और यूगोस्लाविया के सम्बन्धों में पुनः बिगाड़ हुआ। हिटलर के उग्र एवं आक्रमणकारी व्यवहार तथा दृष्टिकोण से इटली और फ्रांस दोनों ही चौकन्ने थे। दोनों को यह विश्वास था कि हिटलर आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का अपहरण करने को दृढ़-प्रतिज्ञ है। परिणामस्वरूप, दोनों ही राष्ट्रों में सहयोग का मार्ग निकल आया और १६३४ में तो फ्रेन्च विदेशमन्त्री की रोम यात्रा भी हुई जिसमें सामान्य हितों की समस्याओं पर विचार किया गया। इससे यूगोस्लाविया

सशंकित हो उठा। उसने समझा कि यदि इटली और फ्रांस में मैत्री गठ-बन्धन स्थापित हो गया तो आस्ट्रिया पर अपना प्रभुत्व जमाना इटली के लिए सरल हो जायगा। यूगोस्लाविया का यह सन्देह उस समय आंशिक रूप में सत्य सिद्ध हो गया जब १९३४ में इटली ने आस्ट्रिया और हंगरी से समझौते के लिए बातचीत चलायी।

इटली और यूगोस्लाविया में तनाव तब चरम सीमा तक पहुंच गया जब अक्टूबर १९३४ में यूगोस्लाविया और बार्थो (Barthon) का राजा अलेक्जेन्डर तथा फ्रेन्च विदेश मन्त्री दोनों ही को किसी अज्ञात हत्यारे द्वारा मर्सेलीज (Marseilles) में मार दिया गया। यूगोस्लाविया ने इटली को इस हत्या के लिए दोषी ठहराया। यूगोस्लाव सरकार ने इस मामले को राष्ट्रसंघ के सम्मुख रखने का निश्चय किया किन्तु अन्त में उसे फ्रेन्च सर-कार द्वारा ऐसा करने से रोक दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक, इटली और यूगोस्लाविया के सम्बन्धों में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ।

वास्तव में, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि मुख्यत: मुसो-लिनी के प्रयत्नों के कारण ही एड्रियाटिक में इटली का प्रभुत्व (Supre-macy) स्थापित हुआ, यूरोपियन राजनीति में इसकी स्थिति दृढ़ हुई तथा दक्षिण-पूर्वी यूरोप में उसके राजनीतिक एवं व्यापारिक हित समृद्ध हुए। मुसोलिनी ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत में इटली की प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाने में सफलता प्राप्त की।

(४) इटली और एबीसीनिया (Italy and Abyssinia)—

पृष्ठभूमि और कारण:—इस समय तक मुसोलिनी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में अनेक सफलताएं प्राप्त करते हुए भी ऐसा कोई भी महान् कार्य नहीं किया था जो उसकी दृष्टि में इटली के लिए स्थायी गौरव की बात कही जा सकती। मुसोलिनी युद्ध को मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक समझता था, जितना नारी के लिए मातृत्व। उसे स्मरण था कि इटली ने अपनी एकता लड़कर प्राप्त की है, इसलिए अपनी शक्ति और क्षेत्र का विस्तार करने के लिए वह अब भी युद्ध का आश्रय लेना ही उचित समझता था। मुसोलिनी ने इटलीवासियों में आक्रमण द्वारा भूमि प्राप्त करने की मनोवृत्ति पैदा कर दी थी, अब इसका केवल प्रयोग करना था। उसने यह प्रयोग एबीसीनिया पर आक्रमण कर के किया। लेकिन एबीसीनिया पर आक्रमण का आधार केवल यह मानसिक मनोवृत्ति ही नहीं थी। वास्तव में इसके पीछे अन्य अनेक गूढ़ कारण विद्यमान थे।

प्रथम, १९२९-३० से लेकर १९३२ तक चलने वाली आर्थिक मन्दी से इटलीवासी व्यथित हो चुके थे। केवल बेकारों की संख्या बढ़-

कर ही २॥ लाख हो गयी थी। आर्थिक संकट के साथ-साथ सामाजिक जटिलताएं भी बड़ी विषम हो गयी थीं। प्रजातान्त्रिक स्वतन्त्रताओं के नष्ट हो जाने के कारण देश में असंतोष बढ़ता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में देशवासियों का ध्यान दूसरी ओर बटाना आवश्यक था और यह काम एक चकित कर देने वाली उखाड़-पछाड़ की विदेश नीति द्वारा किया जा सकता था।

दूसरे, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति इटली के अनुकूल थी। नाजी जर्मनी के उत्कर्ष से भयभीत होकर मित्रराष्ट्र इटली के प्रति सहयोगी और तुष्टिकरण की नीति अपनाने में कल्याण समझ रहे थे।

तीसरे, जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण करके और पश्चिमी शक्तियों ने अपने निष्क्रिय आचरण का प्रदर्शन करके इटली को अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रोत्साहित कर दिया था। राष्ट्रसंघ ने भी मंचूरिया में अपनी कमजोरी प्रकट करके मुसोलिनी के साहस को बढ़ा दिया था।

चौथे, इटली साम्राज्य-निर्माण की दौड़ में देर से सम्मिलित हुआ था, और १९३५ तक अफ्रीका में एबीसीनिया, मिश्र, लाइबीरिया और दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर सम्पूर्ण महाद्वीप यूरोपीय शक्तियों के साम्राज्यान्तर्गत था। इनमें से भी एबीसीनिया ही एक मात्र ऐसा देश था जिस पर इटली अधिकार करने की आशा कर सकता था। रोम सरकार यह स्पष्ट कर चुकी थी कि फासीवाद का मुख्य उद्देश्य साम्राज्य विस्तार है। पेरिस की शान्ति संधियां और टर्की के उदय ने एशिया माइनर (Asia Minor) में इटली के विस्तार पर अंकुश लगा रखा था, अतः इटली के सामने केवल दो ही मार्ग बचे हुए थे—डेन्यूब (Danube) और बालकान क्षेत्र में विस्तार या अधिक अफ्रीकन भूमि पर कब्जा।

पांचवें, मुसोलिनी का कहना था कि इटली की बढ़ती हुई जनसंख्या को खिलाने और बसाने के लिए नये उपनिवेशों का अपहरण आवश्यक था। एबीसीनिया केवल ६० लाख की आबादी, किन्तु ३ लाख ५० हजार वर्ग मील के क्षेत्रफल वाला देश था जिससे इटली की अतिरिक्त जनसंख्या की समस्या का समाधान हो सकता था।

छठे, इटली एबीसीनिया पर हमला करके न केवल १८९६ में अडोवा की हार का प्रतिशोध लेना चाहता था, बल्कि एबीसीनिया में उसे अपने कल-कारखानों के विकास के लिए प्रचुर मात्रा में खनिज पदार्थ, इमारती लकड़ी, ऊन, कहवा, रुई आदि कच्चा माल भी मिल सकता था।

सातवें, एबीसीनिया के समीपस्थ प्रदेश इरिट्रिया और सुमालीलैंड पहले से ही इटली के अधिकार में थे जिन्हें एबीसीनिया के साथ जोड़कर वह विशाल साम्राज्य बना सकता था।

आठवें, मुसोलिनी ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि एबीसीनिया पर आक्रमण करके वह इस बर्बर देश को सभ्यता का पाठ पढ़ाना चाहता था।

परन्तु इन सब कारणों के होते हुए भी अभी रंगमंच साफ नहीं था। यद्यपि ब्रिटेन और फ्रांस, एबीसीनिया में इटली के विशिष्ट हितों को मान्यता दे चुके थे, किन्तु १९०६ की त्रिगुट संधि (Tripartite Agreement) द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस एवं इटली एबीसीनिया की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने को सहमत हो चुके थे। **इटली की एबीसीनिया को हड़पने की इच्छा में सबसे बड़ा बाधक फ्रान्स था।** पड़ौसी होने के नाते कई कारणों से, जिनका इटली–फ्रांस सम्बन्धों की चर्चा के समय विवरण दिया जा चुका है, पेरिस और रोम में बड़ा वैमनस्य था। **ब्रिटेन इटली के एबीसीनिया पर अधिकार का और इटली की प्रभाव–वृद्धि का तीन कारणों से समर्थक नहीं था**—(१) इससे ब्रिटिश सरकार की एड्रियाटिक सागर की और उत्तर–पूर्वी अफ्रीका की प्रभुता संकट में पड़ सकती थी, (२) इसका ब्रिटिश अफ्रीका के अन्य प्रदेशों पर प्रभाव पड़ता, और (३) इससे मुसोलिनी को अफ्रीका में अधिकाधिक प्रादेशिक विस्तार का प्रोत्साहन मिलता तथा वह भू–मध्य सागर पर अपना नियन्त्रण बढ़ाके उसे प्राचीन रोमनों की भांति 'हमारा समुद्र' (Mare Nostrum) बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों को जाने वाले महामार्ग की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न कर सकता था।

परन्तु मुसोलिनी के सौभाग्य से, जहां जापान की मंचूरिया विजय ने राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा–व्यवस्था के खोखलेपन को सिद्ध कर दिया वहां हिटलर के उत्कर्ष और उसकी आस्ट्रियन नीति ने ब्रिटेन एवं फ्रांस को इटली की मित्रता प्राप्ति के लिए उत्सुक बना दिया ताकि उनसे असंतुष्ट इटली कहीं जर्मनी के खेमे में न चला जाय। परन्तु समय ने सिद्ध कर दिया कि दो सर्वाधिकारवादी राष्ट्रों को मिलाने से रोकने का यह उनका थोथा प्रयास था। जो भी हो, इटली की दोस्ती को लालायित फ्रांस ने अपने चिरशत्रु, जर्मनी से सुरक्षा पाने की खोज में इटली का दामन पकड़ना उचित समझा और परिणामस्वरूप ७ जनवरी १९३५ को **फ्रेंको–इटालियन अथवा लेवाल–मुसोलिनी समझौता** (Franco–Italian or Laval–Mussolini Pact) सम्पन्न हुआ। इस समझौते की व्यवस्थाओं के अनुसार पेरिस ने रोम को लीबिया से लगा हुआ ४५ हजार वर्गमील का तथा इरिट्रिया (Eritrea) के साथ लगा फ्रेंच सुमालीलैंड का प्रदेश दिया। इससे उसे सहारा का एक भाग तथा अदन की खाड़ी पर एक मार्ग मिल गया। फ्रेंच सुमालीलैंड के शासन केन्द्र जिबूती से एबीसीनिया की राजधानी अदिसअबाबा (Addis-Ababa) को जाने वाली फ्रेंच रेल्वे में भी कुछ भाग इटली को मिला। इसी

प्रकार, ट्यूनीसिया में इटालियनों को नागरिकता के विशेष अधिकार मिले और आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए दोनों देशों ने एक-दूसरे को सहयोग का वचन दिया। मुसोलिनी के कथनानुसार लेवाल (Laval) ने गुप्त रूप से उसे एबीसीनिया में मनमानी करने की स्वतन्त्रता दी गई जिसका लाभ उठाते हुए इटली ने अपने दो सेनापतियों—डिबोना और ग्रेजियानी को २३ फरवरी १९३५ के दिन एक विशाल सेना के साथ इरिट्रिया भेज दिया। एबीसीनिया पर आक्रमण करने की पूरी तैयारियों की यह भूमिका थी।

एबीसीनिया पर आक्रमण के पूर्व ही ५ दिसम्बर १९३४ को इटालियन सुमालीलैंड के साथ लगे वालवाल (Walwal) में एबसीनिया और इटली की सेनाओं में एक साधारण मुठभेड़ हो गई (देखिए अध्याय ३, इटली-एबीसीनिया-विवाद)। उस समय दोनों राष्ट्रसंघ के सदस्य थे, पेरिस पेक्ट से सम्बद्ध थे और १९२८ में दोनों के मध्यएक संधि भी हुई थी। एबीसीनिया को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने में इटली ही उसका प्रबल समर्थक था। पर वालवाल घटना के कारण जब इटली ने क्षमा-याचना तथा क्षतिपूर्ति की मांग की तो एबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। जब उसकी सरहद पर इटली की फौजें जमा होने लगीं तो उसने फिर राष्ट्रसंघ को विरोध-पत्र भेजा। इसी बीच मार्च १९३५ में, जनमत जानने के बाद, सार (Saar) को जर्मनी के साथ संयुक्त कर दिया गया और मार्च १६ को हिटलर ने वर्साय सधि की सैनिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन करते हुए अनिवार्य सैनिक भर्ती (Conscription) शुरू कर दी। हिटलर के इन दो कदमों के कारण नवीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न हुई और ब्रिटेन एवं फ्रांस ने यह निश्चय कर लिया कि राष्ट्रसंघ में ऊपरी दिखावे के लिए भले ही वे इटली की कार्यवाही को अनुचित ठहरायें लेकिन उनकी वास्तविक नीति इटली को नाराज न करने की रहेगी। मुसोलिनी यह भी जानता था कि इंगलैंड द्वारा राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों में पूर्ण निष्ठा रखने की घोषणा के बावजूद वह ऐसी किसी कार्यवाही में सम्मिलित नहीं होगा जिसमें राष्ट्रसंघ की ओर से आक्रमणकारी के खिलाफ लगाई जाने वाली अनुशास्तियों को निबाहने में उसे सक्रिय रूप से सहयोग देना पड़े। वह यह भी जानता था कि ब्रिटेन और फ्रांस में एक समझौता हो चुका था जिसमें दोनों ने ऐसा कोई काम करना मंजूर नहीं किया था जिसके कारण युद्ध आरम्भ हो जाए। इसके अतिरिक्त १९३५ में आस्ट्रिया की रक्षा के निमित्त ही इटली, फ्रान्स और ब्रिटेन का एक मोर्चा कायम हुआ था जिसे 'स्ट्रेसा-मोर्चा' (Stressa-front) कहते हैं। स्ट्रेसा-सम्मेलन में हिटलर की गतिविधियों की गम्भीर आलोचना की गई थी और इटली को यह आश्वासन दिया गया था कि मित्रराष्ट्रों की जर्मनी के विरुद्ध सहायता करने के बदले में वे इटली के एबीसीनिया पर अधिकार को सहन कर लेंगे।

इसीलिए उन्होंने राष्ट्रसंघ में एबीसीनिया के मामले में मुसोलिनी का साथ देते हुए विवाद को टालने की नीति अपनाई और राष्ट्रसंघ की परिषद् ने मामले को सितम्बर १९३५ तक स्थगित कर दिया। इस समय तक इटली ने आक्रमण की भी पूरी तैयारी कर ली।

आक्रमण और राष्ट्रसंघ तथा मित्रराष्ट्रों का रूख—सारी परिस्थितियों को अपने अनुकूल पाकर इटली ने झाड़ी में छिपे बाघ की तरह अपने शिकार पर आक्रमण कर सारे विश्व को चकित कर दिया। ३ अक्टूबर १९३५ को जब एबीसीनिया में मशीनगनों की गड़गड़ाहट और वायुयानों की भनभनाहट सुनाई पड़ने लगी तो स्पष्ट हो गया कि इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया है। यह काले लोगों पर गोरे लोगों की चढ़ाई थी, निर्बलों की स्वतन्त्रता को लूटने का बलवानों का षड़यन्त्र था और संयोगवश इस आक्रमण का दिन भी वही था जिस दिन हिटलर ने भी संधियों का अस्वीकरण करना आरम्भ किया था।

एबीसीनिया द्वारा राष्ट्रसंघ में इटली के आक्रमण का प्रश्न उठाया गया और मन्चूरिया काँड में अपनी कमजोरी प्रकट कर देने के बाद इस बार भी यदि राष्ट्रसंघ कोई कदम न उठाता तो उसकी राजनीतिक पंगुता तुरन्त प्रकट हो जाती। अतः संघ की परिषद् ने इस बार ७ अक्टूबर १९३५ को **इटली को आक्रान्ता घोषित कर दिया** और असेम्बली ने १८ नवम्बर को सदस्य राज्यों से यह अपील की कि वे इटली को कच्चा माल, वित्त और शस्त्रास्त्र न भेजें तथा न ही उससे कोई माल मंगायें। **राष्ट्रसंघ ने अपने इतिहास में पहली बार किसी राज्य के विरुद्ध ऐसे आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए।** लेकिन संघ का यह कार्य उस सर्कस मास्टर की तरह था जो प्रतिबन्धों रूपी बिजली के चाबुक से बाघ को कब्जे में कर लेना चाहता था। पर इटली रूपी नरभक्षक बाघ तो इतना भूखा था कि शिकार को उसके चंगुल से छुड़ा लेना राष्ट्रसंघ रूपी सर्कस मास्टर के लिए सम्भव न था। यही नहीं, जब इटली पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने की चर्चा हुई तो मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ से अलग हो जाने की धमकी दी। यह तो पहले से ही संकल्प कर चुका था, अतः अपनी अग्रगामी नीति का पालन जेनेवा के साथ या जेनेवा के बिना या जेनेवा के विरुद्ध भी करना चाहता था।

राष्ट्रसंघ द्वारा लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध तभी कामयाब हो सकते थे जबकि उसके पास अधिकाधिक ताकत होती और उसकी सदस्य महाशक्तियां उससे सहयोग करतीं। वह तो जर्मनी और जापान के निकल जाने से पहले ही निर्बल हो चुका था। आस्ट्रिया, हंगरी, अल्बानिया और जर्मनी ने इटली के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने से साफ इन्कार कर दिया। संयुक्त राज्य

अमेरिका अपनी संकीर्ण राष्ट्रीयता की परिधि में सिकुड़े हुए यूरोप के झंझटों में सिर खपाना नहीं चाहता था। इतना ही नहीं, इटली के साथ उसका बड़ा अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध था। ब्रिटेन इटली को तंग करके अपने ऊपर युद्ध का खतरा मोल नहीं लेना चाहता था। उसे भय था कि कहीं एबीसीनिया से हार-कर लौटा तो यूरोप में उछल-कूद करेगा। फ्रांस राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को मजबूत करना चाहता था लेकिन इटलीको नाराज करके उसे हिट-लर का मित्र भी नहीं बनने देना चाहता था। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ से फ्रांस को कोई आशा भी न रह गई थी क्योंकि वह तो तेजी से पाताल की ओर ढकेला जा रहा था। ऐसी परिस्थितियों में फ्रेंच और ब्रिटिश विदेश मन्त्रियों "लेवाल" (Laval) तथा "सेमुअल होर" (Samuel Hoare) ने **इटली को संतुष्ट करने के लिए ७ दिसम्बर १९३५ को एक गुप्त समझौता किया** जिसके अनुसार इटली को एबीसीनिया से ६० हजार वर्गमील का विशाल प्रदेश दिलवाने और इसके बदले में इटली द्वारा एबीसीनिया को असब के बन्दरगाह तथा समुद्र तट से जोड़ने के लिये छोटा सा प्रदेश दिलवाने की व्यवस्था थी। साथ ही ब्रिटेन और फ्रांस इस बात के लिए भी तैयार थे कि दक्षिणी एबीसीनिया में इटली को उसके एक मात्र औद्योगिक विकास के लिए १,६०,००० वर्गमील का प्रदेश दिलवा दिया जाय। इस तरह स्पष्ट है कि इटली को बिना युद्ध किये ही दो-तिहाई एबीसीनिया दिलवा देने का यह ब्रिटिश फ्रेंच षड्यन्त्र था। पर दुर्भाग्यवश यह गुप्त समझौता समाचार पत्रों में प्रकाशित हो गया और इसके फलस्वरूप उठने वाली जबरदस्त प्रतिक्रियाओं की लहरों में दोनों ही देशों के विदेश-मन्त्रियों 'लेवाल' एवं 'होर' को डूब जाना पड़ा। इधर इटली ने आरम्भ में तो एबीसीनिया में विशेष प्रगति नहीं की लेकिन फिर तेजी से बढ़ते हुये **उसने ५ मई १९३६ को एबीसीनिया की राजधानी अदिस-अबाबा पर अधिकार कर लिया।** ९ मई को मुसोलिनी ने सम्पूर्ण एबीसीनिया को इटली के साम्राज्य का भाग बनाने की घोषणा की और ४ जुलाई को राष्ट्रसंघ की परिषद् ने इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध वापिस ले लिये।

इटली एबीसीनिया को निगल गया और शांति-सम्मेलन में उसका जो अपमान हुआ था, वह इस घटना से धुल गया। फासिस्ट इटली की राष्ट्रीय और सैनिक प्रतिष्ठा की धाक जम गई। शीघ्र ही यूरोप के विभिन्न राज्यों ने इटली के इस नये साम्राज्य को मान्यता प्रदान कर दी। १९३७ में, यूरोपियन राज्यों के अप्रत्यक्ष समर्थन से प्रोत्साहित होकर, इटली ने राष्ट्रसंघ से इस्तीफा दे दिया।

सन् १९३६ में इटली ने एबीसीनिया, इरिट्रिया तथा इटालियन सुमालीलैंड को संयुक्त करके 'इटालियन पूर्वी अफ्रीका' (Italian East

Africa) के नाम से एक नये राज्य की स्थापना की घोषणा की। एबीसीनिया के विकास के लिये एक छः-वर्षीय योजना की भी घोषणा की गई।

एबीसीनिया युद्ध के परिणाम—एबीसीनिया-युद्ध दो महायुद्धों के बीच में घटित होने वाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक था। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इस युद्ध के अनेक उल्लेखनीय परिणाम निकले।

पहला परिणाम था राष्ट्रसघ की दुर्बलता को प्रदर्शित कर देना। एबीसीनिया युद्ध से यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रसंघ प्रबल राष्ट्रों के आक्रमण से छोटे और निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने में असमर्थ है। वास्तव में यह राष्ट्रसंघ की और सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की शोचनीय विफलता थी। मुसोलिनी ने संविधान को तोड़ा और उसे सामूहिक रूप से कोई दण्ड नहीं दिया गया।[1] संघ की असफल चेष्टाओं को देख लोगों के मन में इस संस्था की महत्ता के सम्बन्ध में गम्भीर संशय उत्पन्न हो गये। एबीसीनिया दुर्घटना ने शक्ति की विजयी पा इस बात की पुष्टि कर दी कि "शक्ति ही न्याय है।" इसने यह भी प्रमाणित कर दिया कि "अन्तर्राष्ट्रीयता में एक ही नैतिकता है—और वह है सबल राष्ट्र बन कर रहना, तथा एक ही अभिशाप है—कमजोर राष्ट्र बनना।"

दूसरा परिणाम यह निकला कि इस युद्ध के फलस्वरूप इटली एवं जर्मनी की घनिष्ठता बढ़ी। जर्मनी ने, इटली पर आर्थिक प्रतिबन्ध लागू होने के बाद, इटली को शस्त्रास्त्रों से और अन्य सब प्रकार से बड़ी सहायता दी। संकटकाल की इस मदद ने इटली को जर्मनी के खेमे में ला खड़ा किया और "रोम-बर्लिन धुरी" पूर्ण हुई। ब्रिटेन और फ्रांस की दबी-दबी और लुका-छिपी की सहायता-नीति से इटली में उनके प्रति तीव्र विक्षोभ पैदा हुआ। फलतः 'पेरिस के आहत अपमान' ने जोर मारा और ब्रिटेन-फ्रांस के प्रति इटली का मैत्रीपूर्ण रुख विनष्ट हो गया।

तीसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इसने राष्ट्रसंघ की नपुंसकता का पर्दाफाश करते हुये अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता एवं आक्रमणकारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। हिटलर ने इसका लाभ उठाते हुये लोकार्नो संधि को भंग और राइन प्रदेश का शस्त्रीकरण किया। स्पेन के गृह-युद्ध से इटली और जर्मनी दोनों ने खुला हस्तक्षेप किया। जर्मनी ने एबीसीनिया के प्रश्न पर इटली को समर्थन दिया और बदले में इटली ने आस्ट्रिया की स्वतंत्रता का आग्रह छोड़ दिया जिसके फलस्वरूप जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने में मिला लिया और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के ठेकेदार बनने वाले ब्रिटेन, फ्रांस तथा राष्ट्रसंघ तमाशा देखते रहे। उन्होंने यह नहीं सोचा

1. ...oll : International Relations, page 396.

कि एबीसीनिया में इटली को मौका देना हिटलर के हाथ में लम्बी रस्सी देना है जिससे वह शांति का गला घोंट देगा। इस घटना के बाद से ही जर्मनी, इटली और जापान स्वयं ही कानून बन गये, जो जो इच्छा हो करने लगे और संधियों को फूंक से उड़ाने लगे। किसी भी मूल्य पर शांति कायम रखने की जो नीति अपनाई गई थी, उसका भीषण परिणाम यही हुआ कि वही नीति गले का पत्थर बन गई। धीरे-२ यह जहर फैलता गया, विश्वास मिटता गया और फिर द्वितीय महायुद्ध के रूप में बर्बरता का जो नग्न नृत्य आरम्भ हुआ उसकी कोई सीमा ही नहीं रही।

चौथा परिणाम ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को आघात लगने का था। अब नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली उसे दुर्बल एवं कायर समझने लगे, जबकि छोटे राष्ट्रों में यह धारणा उत्पन्न हो गई कि ब्रिटेन के आक्रमण का प्रतिरोध करने सम्बन्धी वचनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

पांचवां परिणाम यह हुआ कि फ्रांस के लिये एबीसीनिया काण्ड एक महान पराजय बन गया। उसकी दोगली नीति पूर्णतः असफल सिद्ध हुई। लेवाल (Laval) के अनुसार, "प्रतिबन्ध इसलिये लगाये गये थे ताकि ब्रिटेन और राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध न टूट जायं, और वे सीमित रूप में (In moderation) इसलिये लगाते गये थे ताकि इटली से सम्बन्ध न टूटें और युद्ध को रोका जा सके।" लेकिन फ्रांस की सभी आशाओं पर तुषारापात हो गया। फ्रांस ने न केवल राष्ट्रसंघ के सदस्यों का विश्वास खो दिया बल्कि वह इटली की मित्रता से भी वंचित हो गया। इटली जर्मनी के विरुद्ध एक मित्र के स्थान में उसके शत्रु जर्मनी का मित्र बन गया। फ्रांस के साथ मैत्री-सम्बन्धों से बधे छोटे राष्ट्रों में भी फ्रांस के प्रति अविश्वास पैदा हुआ। एबीसीनिया विजय के कारण इटली की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई एवं भूमध्य सागर में वह फ्रांस का खतरनाक प्रतिद्वन्द्वी बन गया।

छठा और अन्तिम उल्लेखनीय परिणाम यह निकला कि इटली को एबीसीनिया की विजय अन्ततः बड़ी महंगी पड़ी। अब तक फ्रांस एवं जर्मनी के मध्य वह एक प्रकार की संतुलन-शक्ति (Balancing Power) बना हुआ था, किन्तु अब जर्मनी पर उसकी निर्भरता अधिकाधिक बढ़ गई। वह मित्र-राष्ट्रों के सहयोग से वंचित होकर पूर्णतः बर्लिन का कृपाकांक्षी होने लगा और उसने पतनोन्मुख प्रजातंत्रों के विरुद्ध शक्तिशाली जर्मनी की मैत्री को अधिक मूल्यवान समझा। परन्तु जैसा कि शूमैन (Schuman) का मत है—"मुसोलिनी इस बात को न समझ सका कि यदि वह निश्चित रूप से, एक अधिक शक्तिशाली शक्ति के साथ, विशेषतः उस शक्ति के साथ जिसका शासक एक पागल हो, मित्रता कर लेगा तो वह स्वयं एक सेवक बन जायगा,

तथा सम्मिलित विजय से बहुत कम लाभ प्राप्त कर सकेगा, तथा पराजित होने पर सब कुछ खो बैठेगा।"[1]

एबीसीनिया-युद्ध के जो परिणाम निकले उन्हें संक्षेप में बताते हुए काउन्ट स्फोर्जा ने लिखा है—"ईथियोपिया में मुसोलिनी की सफलता ने स्पेन में उसका हस्तक्षेप संभव बनाया। स्पेन का गृहयुद्ध और उसके सम्बन्ध में पेरिस और लन्दन की नीति ही मुख्य रूप से यूरोप के बौद्धिक और नैतिक पतन के कारण थे, इससे फ्रांस का म्यूनिख में अपने मित्र चैकोस्लोवाकिया के साथ विश्वासघात उत्पन्न हुआ और इसने पोलैण्ड के विरुद्ध हिटलर के आक्रमण और यूरोपियन युद्ध को जन्म दिया तथा १० जून १९४० को मुसोलिनी फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध में कूदा।"

हार्डी के शब्दों में, "इस (एबीसीनिया विजय के) समय से युद्धोत्तर इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ प्रारम्भ हुआ। एबीसीनिया पर इटली के नग्न और लज्जास्पद आक्रमण ने समूचे विश्व को मौलिक रूप से प्रभावित किया, इंगलैण्ड के लिये इसका अर्थ उसकी विदेश नीति की आधारभूत संस्था राष्ट्रसंघ का विनाश था, फ्रांस के लिये इसका अभिप्राय उसके कट्टर शत्रु जर्मनी को प्रोत्साहन और मित्रों की प्राप्ति थी तथा इटली के लिये अन्ततोगत्वा इसका अभिप्राय डैन्यूब में उसके प्रभाव की समाप्ति और ब्रेनर दर्रे तक जर्मन सेनाओं का पहुंचना था।"[1]

(५) **इटली और अल्बानियां (Italy and Albania)**:—अल्बानियां के नये राज्य का उदय १९१२ और १९१३ के दो बाल्कान युद्धों में हुआ था तथा उसे एक स्वतंत्र राज्य के रूप में मान्यता दे दी गयी थी। विलियम वीड (William Weid) नामक एक जर्मन राजकुमार को अल्बानिया का प्रधान नियुक्त किया गया, लेकिन उस देश के उद्दण्ड निवासियों के कारण वह राज्य का शासन चलाने में असमर्थ होकर उस समय वापिस जर्मनी लौट गया जब प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। युद्ध काल में यद्यपि सरकारी-तौर पर अल्बानिया ने तटस्थ रहने का प्रयास किया, किन्तु आस्ट्रिया, इटली और सर्बिया ने उसे युद्धक्षेत्र में परिवर्तित कर दिया। लन्दन की गुप्त संधि में यह निश्चित किया गया कि इटली को अल्बानिया का वेलोना (Valona) बन्दरगाह मिलेगा तथा इटली ही अल्बानिया के वैदेशिक सम्बन्धों का भार भी संभालेगा। युद्ध समाप्ति के बाद स्थिति यह थी कि लगभग सम्पूर्ण देश पर इटालियन सेना का अधिकार था। किन्तु इटालियन सेना अपने अधिकार को बनाये नहीं रख सकी।

1. *Schuman* : International Politics, page 437.
2. *Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs, page 418

क्योंकि स्वयं अल्वानिया निवासियों ने और यूगोस्लाविया वालों ने, जो कि एड्रियाटिक के पूर्वी किनारे पर इटालियन सेना को अपनी सुरक्षा के लिए खतरा मानते थे, इसका विरोध किया। पेरिस सम्मेलन में इटली ने अल्वानिया को इटली का एक संरक्षण प्राप्त राज्य (A mandate) बनाने की मांग भी की लेकिन विल्सन ने विरोध करते हुए अल्वानिया के लोगों को अपनी सरकार खुद बनाने का अधिकार दिया।

सन् १९२० में इटालियन सेना को अल्वानिया से पूर्णतः हटना पड़ा और अल्वानिया एक स्वतंत्र राज्य की हैसियत से राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। अल्वानिया की आन्तरिक अवस्था बिगड़ने लगी तो अहमद जोगू (Ahmad Zogu) नामक एक युवा मुस्लिम सरदार ने अवसर का लाभ उठाते हुए १९२२ में शक्ति हथिया ली। १९२४ में बिशपनोली (Bishop Noli) ने जोगू को देश से निकाल फेंका। किन्तु जब नोली भी देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में असफल रहा तो अहमद जोगू वापिस अल्वानिया लौट आया और नोली ने भागकर इटली में शरण ली। इस शासन परिवर्तन के एक महीने बाद ही अल्वानिया के गणराज्य होने की घोषणा की गयी और जोगू को राष्ट्रीय असेम्बली द्वारा गणराज्य का राष्ट्रपति चुना गया।

जोगू ने यद्यपि अपने पैर मजबूती से जमाने चाहे, लेकिन शीघ्र ही उसे आर्थिक सहायता के लिए इटली की ओर झुकना पड़ा। इटली के प्रयत्नों से १९२५ में अल्वानिया में एक राष्ट्रीय बैंक स्थापित किया गया और अत्यल्प अवधि में ही इटली ने अल्वानिया को पर्याप्त मात्रा में धन कर्जा दिया। इस प्रकार इटली को अल्वानिया पर अपना प्रभाव स्थापित करने का पूर्ण अवसर मिला और ओट्रेन्टो स्ट्रेट (The Otranto Strait) इटली के पूर्ण नियंत्रण में आ गया। एड्रियाटिक सागर पर पूरा अधिकार पाने के लिए इटली के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि वह ओट्रेन्टो के जलडमरूमध्य नियंत्रण प्राप्त करे। यूगोस्लाविया ने इस योजना का घोर विरोध किया क्योंकि इससे भूमध्य सागर तक पहुंचने की उसकी स्वतंत्रता को खतरा उत्पन्न होता था।

१९२६-२७ तक अल्वानिया में इटली के सहयोग से विभिन्न विकास योजनाएं लागू की गयीं और इटालियन सैनिक अधिकारियों द्वारा अल्वानिया की फौज का पुनर्गठन किया गया। इसी बीच अल्वानिया में एक विद्रोह भड़क उठा और राष्ट्रपति जोगू ने इटली से सहायता की प्रार्थना की। परिणामस्वरूप अल्वानिया की राजधानी टिराना (Tirana) में २७ नवम्बर १९२६ में इटली और अल्वानिया के मध्य एक संधि हुई। टिराना की संधि (The Treaty of Tirana) द्वारा निम्नलिखित व्यवस्था की गयी :—

(१) अल्बानिया पर किसी भी प्रकार के आक्रमण को इटली और अल्बानिया दोनों के द्वारा दोनों के हितों के लिए खतरनाक समझा जायगा।

(२) दोनों में से कोई भी अन्य देश के साथ ऐसी किसी सैनिक या राजनीतिक संधि में सम्मिलित नहीं होगा जो उनमें से किसी के भी हितों को हानि पहुंचाती हो।

(३) अल्बानिया की रजामन्दी (Consent) से इटली अल्बानिया के घरेलू और वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करेगा।

इसी तरह, टिराना की संधि से अल्बानिया एक प्रकार से इटली का संरक्षित राज्य बन गया। मुसोलिनी ने शनैः शनैः अल्बानिया पर पूरा प्रभुत्व स्थापित करके इटली की एक चिरवांछित अभिलाषा पूरी की यद्यपि वह इतने से ही संतुष्ट न था और शिकार के भूखे बाघ की तरह अल्बानिया को पूरी तरह हड़प जाने के अवसर की ताक में था।

टिराना की संधि से यूगोस्लाविया सशंकित हो उठा क्योंकि उसे भय लगा कि अल्बानिया पर अपना प्रभुत्व जमाकर इटली यूगोस्लाविया के हितों पर प्रहार कर सकता है। अतः यूगोस्लाविया ने इटली के साथ की गयी अपनी उस पहले की संधि को पुनर्जीवित नहीं किया जिसकी अवधि १९२६ में समाप्त हो गयी। यूगोस्लाविया ने अल्बानिया के साथ अपने सीमा-विवादों का लाभ उठाते हुए सैनिक तैयारियां करना शुरू कर दिया और अल्बानिया से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए। जब इटली ने अल्बानिया का समर्थन किया तो दोनों में युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगा किन्तु कुछ तटस्थ राज्यों की मध्यस्थता के कारण मामला तय हो गया। इटली-अल्बानिया सहयोग से चिन्तित होकर नवम्बर १९२७ में यूगोस्लाविया ने फ्रांस से मैत्री-संधि करली **और इसके प्रत्युत्तर में अल्बानिया तथा इटली के** मध्य एक २० वर्षीय **रक्षात्मक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये।**

१ सितम्बर १९२७ को जोगू ने अपने आपको अल्बानिया का राजा घोषित कर दिया और जोग प्रथम (Zog I) की उपाधि ग्रहण की। १९३० में इटली ने अल्बानिया की मुद्रा-व्यवस्था (Currency system) के निरीक्षण (Supervision) का अधिकार ग्रहण किया और अगले वर्ष ही टिराना की संधि पुनः दोहरायी गयी।

लेकिन **अब इटली-अल्बानिया सम्बन्धों की** मधुरता क्षीण होने लगी **और अल्बानिया में इटली विरोधी भावनाएं** पनपने लगीं। १९३२ में राजा जोग (King Zog) ने इटली और अल्बानिया के मध्य चुंगी संघ (Customs union) की स्थापना के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और इटालियन मिशनरियों द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों तक को बन्द कर दिया। १९३४

में अल्बानिया के राजा ने अल्बानिया की फौज में इटालियन अफसरों के अधिकारों को कम करने का प्रयत्न किया। उसने अल्बानिया में आने वाले इटालियनों को रोकने की भी कोशिश की। किन्तु इन प्रयत्नों में उसे बहुत कम सफलता मिली।

अल्बानिया के इटली विरोधी व्यवहार ने इटली को विक्षुब्ध कर दिया और तब मुसोलिनी ने, शिकार को हड़प जाने का उचित अवसर जानकर, **इटालियन फौजों को अल्बानिया पर कूच का हुक्म दे दिया।** १६३६ में पवित्र ईसाई दिवस गुड फ्रायडे के दिन आक्रमण करके अल्बानिया को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। राजा जोग अपने परिवार के साथ पलायन कर गया। इटली के राजा विक्टर इमेनुअल तृतीय को **"King of Italy and Emperor of Ethiopea and Albania"** घोषित किया गया। जर्मनी को मुसोलिनी की योजना का पहले से ही पता था और यूरोप के अन्य राज्यों ने भी इटली-अल्बानिया संघ को मान्यता दे दी।

स्पेन का गृह-युद्ध और इटली का उसमें हस्तक्षेप
(Spanish Civil War & Intervention of Italy)

इटली की एबीसीनिया पर विजय ने फासिस्ट शक्तियों द्वारा पाश्चात्य प्रजातंत्रों की एकता की परीक्षा लेने का कार्य किया, लेकिन राष्ट्रसंघ की अकर्मण्यता और मित्र-राष्ट्रों की निष्क्रियता ने उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि आक्रमण का मार्ग तो फूलों की शय्या थी। एबीसीनिया युद्ध के बाद स्पेन के गृहयुद्ध की दूसरी घटना घटित हुई जिसने चरम सीमा पर पहुंचकर द्वितीय महायुद्ध को निकट ला दिया।

एबीसीनिया के युद्ध ने इटली और जर्मनी का वैमनस्य दूर किया, किन्तु स्पेन के गृहयुद्ध ने दोनों को प्रगाढ़ मित्र बनाया।[1] इस गृहयुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी दोनों ने खुलकर हस्तक्षेप किया और परस्पर मैत्रीसूत्र को दृढ़ बनाया। मुसोलिनी ने स्पेन के मामलों में १६३४ से ही दिलचस्पी लेना प्रारम्भ कर दिया था। उस वर्ष मार्च में रोम में उसने एक राजतंत्रवादी प्रतिनिधि मण्डल का स्वागत किया और "स्पेन की वर्तमान सरकार के विरुद्ध दलों को आवश्यक सहायता देने" की स्वीकृति दी। फरवरी १६३६ के चुनावों में स्पेन में वामपक्षी दलों ने सफलता प्राप्त की और मई के मध्य में मुसोलिनी ने हिटलर को, जिसने स्वयं भी स्पेन में नाजी-विद्रोह का संगठन प्रारम्भ कर दिया था, संकेत दिया कि वह स्पेन के वामपक्ष के प्रति उत्तरोत्तर झुकाव से बहुत बुरी तरह चिन्तित है। बाद में, १७ जुलाई १६३६ को जब स्पेन में

---

1. *Imgram :* Years of Crisis, page 160.

(१) अल्बानिया पर किसी भी प्रकार के आक्रमण को इटली और अल्बानिया दोनों के द्वारा दोनों के हितों के लिए खतरनाक समझा जायगा।

(२) दोनों में से कोई भी अन्य देश के साथ ऐसी किसी सैनिक या राजनीतिक संधि में सम्मिलित नहीं होगा जो उनमें से किसी के भी हितों को हानि पहुंचाती हो।

(३) अल्बानिया की रजामन्दी (Consent) से इटली अल्बानिया के घरेलू और वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करेगा।

इसी तरह, टिराना की संधि से अल्बानिया एक प्रकार से इटली का संरक्षित राज्य बन गया। मुसोलिनी ने शनैः शनैः अल्बानिया पर पूरा प्रभुत्व स्थापित करके इटली की एक चिरवांछित अभिलाषा पूरी की यद्यपि वह इतने से ही संतुष्ट न था और शिकार के भूखे बाघ की तरह अल्बानिया को पूरी तरह हड़प जाने के अवसर की ताक में था।

टिराना की संधि से यूगोस्लाविया सशंकित हो उठा क्योंकि उसे भय लगा कि अल्बानिया पर अपना प्रभुत्व जमाकर इटली यूगोस्लाविया के हितों पर प्रहार कर सकता है। अतः यूगोस्लाविया ने इटली के साथ की गयी अपनी उस पहले की संधि को पुनर्जीवित नहीं किया जिसकी अवधि १९२९ में समाप्त हो गयी। यूगोस्लाविया ने अल्बानिया के साथ अपने सीमा-विवादों का लाभ उठाते हुए सैनिक तैयारियां करना शुरू कर दिया और अल्बानिया से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए। जब इटली ने अल्बानिया का समर्थन किया तो दोनों में युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगा किन्तु कुछ तटस्थ राज्यों की मध्यस्थता के कारण मामला तय हो गया। इटली-अल्बानिया सहयोग से चिन्तित होकर नवम्बर १९२७ में यूगोस्लाविया ने फ्रांस ने मैत्री-संधि करली और **इसके प्रत्युत्तर में अल्बानिया तथा इटली के मध्य एक २० वर्षीय रक्षात्मक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये।**

१ सितम्बर १९२७ को जोगू ने अपने आपको अल्बानिया का राजा घोषित कर दिया और जोग प्रथम (Zog I) की उपाधि ग्रहण की। १९३० में इटली ने अल्बानिया की मुद्रा-व्यवस्था (Currency system) के निरीक्षण (Supervision) का अधिकार ग्रहण किया और अगले वर्ष ही टिराना की संधि पुनः दोहरायी गयी।

लेकिन **अब इटली-अल्बानिया सम्बन्धों की मधुरता क्षीण होने लगी और अल्बानिया में इटली विरोधी भावनाएं पनपने लगीं।** १९३२ में राजा जोग (King Zog) ने इटली और अल्बानिया के मध्य चुंगी संघ (Customs union) की स्थापना के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और इटालियन मिशनरियों द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों तक को बन्द कर दिया। १९३४

में अल्बानिया के राजा ने अल्बानिया की फौज में इटालियन अफसरों के अधिकारों को कम करने का प्रयत्न किया। उसने अल्बानिया में आने वाले इटालियनों को रोकने की भी कोशिश की। किन्तु इन प्रयत्नों में उसे बहुत कम सफलता मिली।

अल्बानिया के इटली विरोधी व्यवहार ने इटली को विक्षुब्ध कर दिया और तब मुसोलिनी ने, शिकार को हड़प जाने का उचित अवसर जानकर, **इटालियन फौजों को अल्बानिया पर कूच का हुक्म दे दिया।** १९३९ में पवित्र ईसाई दिवस गुड फ्रायडे के दिन आक्रमण करके अल्बानिया को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। राजा जोग अपने परिवार के साथ पलायन कर गया। इटली के राजा विक्टर इमेनुअल तृतीय को **"King of Italy and Emperor of Ethiopea and Albania"** घोषित किया गया। जर्मनी को मुसोलिनी की योजना का पहले से ही पता था और यूरोप के अन्य राज्यों ने भी इटली-अल्बानिया संघ को मान्यता दे दी।

स्पेन का गृह-युद्ध और इटली का उसमें हस्तक्षेप
(Spanish Civil War & Intervention of Italy)

इटली की एबीसीनिया पर विजय ने फासिस्ट शक्तियों द्वारा पाश्चात्य प्रजातंत्रों की एकता की परीक्षा लेने का कार्य किया, लेकिन राष्ट्रसंघ की अकर्मण्यता और मित्र-राष्ट्रों की निष्क्रियता ने उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि आक्रमण का मार्ग तो फूलों की शय्या थी। एबीसीनिया युद्ध के बाद स्पेन के गृहयुद्ध की दूसरी घटना घटित हुई जिसने चरम सीमा पर पहुंचकर द्वितीय महायुद्ध को निकट ला दिया।

एबीसीनिया के युद्ध ने इटली और जर्मनी का वैमनस्य दूर किया, किन्तु स्पेन के गृहयुद्ध ने दोनों को प्रगाढ़ मित्र बनाया।[1] इस गृहयुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी दोनों ने खुलकर हस्तक्षेप किया और परस्पर मैत्रीसूत्र को दृढ़ बनाया। मुसोलिनी ने स्पेन के मामलों में १९३४ से ही दिलचस्पी लेना प्रारम्भ कर दिया था। उस वर्ष मार्च में रोम में उसने एक राजतंत्रवादी प्रतिनिधि मण्डल का स्वागत किया और "स्पेन की वर्तमान सरकार के विरुद्ध दलों को आवश्यक सहायता देने" की स्वीकृति दी। फरवरी १९३६ के चुनावों में स्पेन में वामपक्षी दलों ने सफलता प्राप्त की और मई के मध्य में मुसोलिनी ने हिटलर को, जिसने स्वयं भी स्पेन में नाजी-विद्रोह का संगठन प्रारम्भ कर दिया था, संकेत दिया कि वह स्पेन के वामपक्ष के प्रति उत्तरोत्तर झुकाव से बहुत बुरी तरह चिन्तित है। बाद में, १७ जुलाई १९३६ को जब स्पेन में

1. *Imgram :* Years of Crisis, page 160.

(१) अल्बानिया पर किसी भी प्रकार के आक्रमण को इटली और अल्बानिया दोनों के द्वारा दोनों के हितों के लिए खतरनाक समझा जायगा।

(२) दोनों में से कोई भी अन्य देश के साथ ऐसी किसी सैनिक या राजनीतिक संधि में सम्मिलित नहीं होगा जो उनमें से किसी के भी हितों को हानि पहुंचाती हो।

(३) अल्बानिया की रजामन्दी (Consent) से इटली अल्बानिया के घरेलू और वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करेगा।

इसी तरह, टिराना की संधि से अल्बानिया एक प्रकार से इटली का संरक्षित राज्य बन गया। मुसोलिनी ने शनैः शनैः अल्बानिया पर पूरा प्रभुत्व स्थापित करके इटली की एक चिरवांछित अभिलाषा पूरी की यद्यपि वह इतने से ही संतुष्ट न था और शिकार के भूखे बाघ की तरह अल्बानिया को पूरी तरह हड़प जाने के अवसर की ताक में था।

टिराना की संधि से यूगोस्लाविया सशंकित हो उठा क्योंकि उसे भय लगा कि अल्बानिया पर अपना प्रभुत्व जमाकर इटली यूगोस्लाविया के हितों पर प्रहार कर सकता है। अतः यूगोस्लाविया ने इटली के साथ की गयी अपनी उस पहले की संधि को पुनर्जीवित नहीं किया जिसकी अवधि १९२९ में समाप्त हो गयी। यूगोस्लाविया ने अल्बानिया के साथ अपने सीमा-विवादों का लाभ उठाते हुए सैनिक तैयारियां करना शुरू कर दिया और अल्बानिया से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए। जब इटली ने अल्बानिया का समर्थन किया तो दोनों में युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगा किन्तु कुछ तटस्थ राज्यों की मध्यस्थता के कारण मामला तय हो गया। इटली-अल्बानिया सहयोग से चिन्तित होकर नवम्बर १९२७ में यूगोस्लाविया ने फ्रांस से मैत्री-संधि करली और **इसके प्रत्युत्तर में अल्बानिया तथा इटली के मध्य एक २० वर्षीय रक्षात्मक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये।**

१ सितम्बर १९२७ को जोगू ने अपने आपको अल्बानिया का राजा घोषित कर दिया और जोग प्रथम (Zog I) की उपाधि ग्रहण की। १९३० में इटली ने अल्बानिया की मुद्रा-व्यवस्था (Currency system) के निरीक्षण (Supervision) का अधिकार ग्रहण किया और अगले वर्ष ही टिराना की संधि पुनः दोहरायी गयी।

लेकिन **अब इटली-अल्बानिया सम्बन्धों की** मधुरता क्षीण होने लगी **और अल्बानिया में इटली विरोधी भावनाएं पनपने लगीं।** १९३२ में राजा जोग (King Zog) ने इटली और अल्बानिया के मध्य चुंगी संघ (Customs union) की स्थापना के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और इटालियन मिशनरियों द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों तक को बन्द कर दिया। १९३४

में अल्बानिया के राजा ने अल्बानिया की फौज में इटालियन अफसरों के अधिकारों को कम करने का प्रयत्न किया। उसने अल्बानिया में आने वाले इटालियनों को रोकने की भी कोशिश की। किन्तु इन प्रयत्नों में उसे बहुत कम सफलता मिली।

अल्बानिया के इटली विरोधी व्यवहार ने इटली को विक्षुब्ध कर दिया और तब मुसोलिनी ने, शिकार को हड़प जाने का उचित अवसर जानकर, **इटालियन फौजों को अल्बानिया पर कूच का हुक्म दे दिया।** १९३९ में पवित्र ईसाई दिवस गुड फ्रायडे के दिन आक्रमण करके अल्बानिया को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। राजा जोग अपने परिवार के साथ पलायन कर गया। इटली के राजा विक्टर इमेनुअल तृतीय को **"King of Italy and Emperor of Ethiopea and Albania"** घोषित किया गया। जर्मनी को मुसोलिनी की योजना का पहले से ही पता था और यूरोप के अन्य राज्यों ने भी इटली-अल्बानिया संघ को मान्यता दे दी।

स्पेन का गृह-युद्ध और इटली का उसमें हस्तक्षेप
(Spanish Civil War & Intervention of Italy)

इटली की एबीसीनिया पर विजय ने फासिस्ट शक्तियों द्वारा पाश्चात्य प्रजातंत्रों की एकता की परीक्षा लेने का कार्य किया, लेकिन राष्ट्रसंघ की अकर्मण्यता और मित्र-राष्ट्रों की निष्क्रियता ने उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि आक्रमण का मार्ग तो फूलों की शय्या थी। एबीसीनिया युद्ध के बाद स्पेन के गृहयुद्ध की दूसरी घटना घटित हुई जिसने चरम सीमा पर पहुंचकर द्वितीय महायुद्ध को निकट ला दिया।

एबीसीनिया के युद्ध ने इटली और जर्मनी का वैमनस्य दूर किया, किन्तु स्पेन के गृहयुद्ध ने दोनों को प्रगाढ़ मित्र बनाया।[1] इस गृहयुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी दोनों ने खुलकर हस्तक्षेप किया और परस्पर मैत्रीसूत्र को दृढ़ बनाया। मुसोलिनी ने स्पेन के मामलों में १९३४ से ही दिलचस्पी लेना प्रारम्भ कर दिया था। उस वर्ष मार्च में रोम में उसने एक राजतंत्रवादी प्रतिनिधि मण्डल का स्वागत किया और "स्पेन की वर्तमान सरकार के विरुद्ध दलों को आवश्यक सहायता देने" की स्वीकृति दी। फरवरी १९३६ के चुनावों में स्पेन में वामपक्षी दलों ने सफलता प्राप्त की और मई के मध्य में मुसोलिनी ने हिटलर को, जिसने स्वयं भी स्पेन में नाजी-विद्रोह का संगठन प्रारम्भ कर दिया था, संकेत दिया कि वह स्पेन के वामपक्ष के प्रति उत्तरोत्तर झुकाव से बहुत बुरी तरह चिन्तित है। बाद में, १७ जुलाई १९३६ को जब स्पेन में

1. *Imgram :* Years of Crisis, page 160.

गृहयुद्ध का श्रीगणेश हुआ तो इटली विद्रोहियों के नेता जनरल फ्रान्को के पक्ष में युद्ध में कूद पड़ा क्योंकि इससे उसे अनेक लाभ थे। स्पेन में अपना प्रभाव बढ़ जाने से पश्चिमी भूमध्य-सागर में इटली की स्थिति सुदृढ़ हो सकती थी, वह जिब्राल्टर और माल्टा होकर ब्रिटेन से भारत जाने वाले मार्ग को अपने बमवर्षकों और क्रूजरों द्वारा असुरक्षित बना सकता था तथा स्पेन पर अधिकार पाने के बाद वह फ्रांस का उसके उत्तरी अफ्रिकन उपनिवेषों से सरलतापूर्वक सम्बन्ध विच्छेद कर सकता था। अब इसके पहले कि स्पेन के गृहयुद्ध में हस्तक्षेप करने वाली विभिन्न विदेशी शक्तियों के स्वार्थों की चर्चा की जाय, यह उचित होगा कि हम स्पेनिश गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि जान लें।

गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि—प्रथम विश्व संग्राम के समय स्पेन बिल्कुल तटस्थ था। वहां की शासन प्रणाली संसद की सहायता से वंशक्रमानुगत राजतंत्र द्वारा चलायी जाती थी। अतः संसदीय प्रणाली को प्रश्रय प्राप्त था। **परन्तु स्पेन लोकतंत्र की आधुनिक भावनाओं के विकास के लिए उर्वर भूमि कभी नहीं रही थी।** वहां मध्यकालीन परम्पराओं—चर्च, राजतंत्र, निरंकुश राजसत्ता, सेना और सैनिक अधिकारियों के षड़यंत्रों का साम्राज्य था।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद स्पेन की आंतरिक आर्थिक व्यवस्था गिरने लगी और अन्य परस्पर विरोधी शक्तियों के फलस्वरूप उसका सवैधानिक ढांचा भग्न सा प्रतीत होने लगा। एक ओर गणतंत्रात्मक समाजवादी क्रांतिकारी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो दूसरी ओर कैरेलोनिया में पृथकतावादी आन्दोलन में तेजी आ गयी। इसके अतिरिक्त अन्य सैनिक गुट सिर उठाने लगे जो राजनीतिज्ञों के प्रभाव के बाहर थे। साथ ही साथ साम्यवाद की भी लहर वहां पहुंच गयी। इन सभी शक्तिशाली दलों के संघर्ष ने स्पेन में विक्षुब्ध अवस्था उत्पन्न कर दी, आन्तरिक स्थिति को अराजकतापूर्ण बना दिया और प्रजातंत्र शासन की आशाओं को दुर्बल कर दिया। इसी समय स्पेन के उपनिवेष मोरक्को में स्पेन के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इसे कुचलने के लिए स्पेन की फौजें उतार दी गयीं लेकिन फिर भी विद्रोहियों ने स्पेन की एक बड़ी फौज को विनष्ट कर दिया। इससे स्पेन में एक तूफान पैदा हो गया। इस घटना का उत्तरदायित्व स्पेन के राजा अलफोन्सो से त्रयोदश (Alfanso XIII) के कुशासन पर ही मढ़ा गया। ऐसे अवसर पर जनरल प्रीमोदी रिवेरा (General Prime De Rivera) ने सेना द्वारा राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया और सम्राट के निकट सम्पर्क में सैनिक डायरेक्टोरेट (Military Directorate) के प्रेसीडेन्ट के रूप में शक्ति हड़प ली। किन्तु यह शासन बहुत शीघ्र ही जनता में अप्रिय हो गया। अप्रैल १९३१ के चुनाओं में गणतंत्रवादियों और समाजवादियों की विजय हुई तथा अलफोन्सो राज्यगद्दी छोड़कर फ्रांस पलायन कर गया।

अल्फोन्सो के भाग जाने के बाद स्पेन में जमोरा (Zamora) के नेतृत्व में सामयिक गणतंत्री सरकार की स्थापना हुई। जून १९३१ में फिर नये आम चुनाव हुए और वे गणतंत्र एवं राजशाही के मध्य स्पर्द्धा के आधार पर हुए। गणतंत्रवादियों को भारी बहुमत मिला, अत: स्पेन को गणतंत्र घोषित कर दिया गया और **गणतंत्र के सिद्धान्तों पर आधारित देश का नया संविधान बना।**

आगामी वर्ष आर्थिक संकट, आन्तरिक सुधार और राजनीतिक उथल-पुथल के थे। प्रारम्भ से ही अस्थिर गणराज्य के नवीन संविधान में देश में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था स्थापित करने, धन और भूसम्पत्ति का उचित विवरण करने, सामाजिक उपयोग के लिए मुआवजा देकर सम्पत्ति छीनने आदि का आदर्श स्थापित किया गया था। नयी गणतंत्रवादी सरकार ने पदों और उपाधियों को समाप्त कर दिया, चर्च की राजकीय सहायता बन्द कर दी, स्कूलों की शिक्षा-व्यवस्था चर्च से छीनकर अपने हाथों में ले ली और अनेक क्रांतिकारी भूमि सुधार किये। नयी सरकार को, नवीन संविधान में उल्लिखित आदर्शों की प्राप्ति के लिए कठोर रुख अपनाना ही पड़ा, क्योंकि तत्कालीन स्थिति ही ऐसी थी। १९३३ तक वहां जमींदारों और चर्च के अधिकारियों के पास सारे देश की आधे से अधिक भूमि थी। उस समय राष्ट्रीय सम्पत्ति का ३०% भाग चर्च के नियंत्रण में था और चर्च को राज्य से प्रतिवर्ष एक करोड़ डालर की सहायता दी जाती थी। जमींदारों और चर्च अधिकारियों के अतिरिक्त तीसरा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग सैनिक अधिकारियों का था जिस पर राष्ट्रीय बजट का ३०% व्यय किया जाता था। सैनिक अधिकारियों की संख्या की विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि प्रति छः सैनिकों पर एक अफसर और प्रति १५० सैनिकों पर एक जनरल था। कृषक जमींदारों की कृपा पर जीवित थे। अतः ऐसी शोचनीय स्थिति को दूर करने के लिए अजाना (Azana) के प्रधानमंत्रित्व में गणतंत्र-वादी सरकार ने चर्च की सम्पूर्ण सम्पत्ति जब्त कर ली, उसे राजकीय सहायता बन्द कर दी, जेसुइटों को देश से निकाल दिया, सेना के २२ हजार अफसरों में से १० हजार को पेन्शन देकर रिटायर कर दिया और उनके विशेषाधिकार छीन लिए, नया भूमि कानून बनाकर राजा की और बड़े जमींदारों की जमींदारियां खत्म कर दीं तथा इन्हें भूमिहीन कृषकों में बांटने की योजना बनायी। वास्तव में अजाना सरकार ने स्पेन की जनता के लिए १८ महीने में उससे अधिक कार्य किया जो राजाओं ने पिछले १५० वर्षों में किया था।

लेकिन इस राजनीतिक क्रांति ने स्पेन में संतोष की उत्पत्ति नहीं की। क्रांतिकारी सुधारों ने पदमुक्त सैनिक अधिकारियों, पुरोहितों, राजतंत्रवादियों

और जमींदारों में घोर अशान्ति के बीज बो दिये और वे गणतंत्रवादी सरकार को विनष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। १० अगस्त १९३२ को अवकाश-प्राप्त सैन्य-अधिकारियों तथा जमींदारों ने मैड्रिड तथा सेविल (Seville) में विद्रोह का असफल प्रयास किया। इधर साम्यवादी जोर पकड़ने लगे और साथ ही मार्क्सवादी संगठन भी बनाये जाने लगे। गणराज्य के समर्थकों में भी फूट बढ़ती गयी। इस फूट और प्रतिक्रियावादी दलों के परिणामस्वरूप नवम्बर १९३३ के चुनाओं में वामपंथी (Leftist) दलों का पराभव और दक्षिणपंथी (Rightist) तथा केन्द्रीय दलों की जीत हुई। इन दलों ने फरवरी १९३६ तक दो वर्ष की अवधि में अजाना सरकार के सुधारों को रद्द करने का प्रयास किया जबकि सत्तारूढ़ दल ने विरोधी दलों को विनष्ट करने की कोशिश की। गिल रोबल्स (Gil Robles) के नेतृत्व में क्रांति-विरोधी सेनाएं तैयार की जाने लगीं। करोड़पति जुआन मार्च (Juan March) ने खुलकर आर्थिक सहायता दी। जनरल सान जुरजो (San Jurjo) सैनिक विद्रोह के लिए हिटलर की सहायता मांगने जर्मनी गया। स्पेन में जगह-जगह विद्रोहात्मक कार्यवाहियां और हड़तालें होने लगीं। मैड्रिड तथा बर्सीलोना की हड़तालों को बुरी तरह कुचल दिया गया। आस्टूरिया के खनिकों की हड़ताल कुचलने में विदेशी मूर फौजों से सहायता ली गयी। फलस्वरूप लगभग ४ हजार व्यक्तियों और सैंकड़ों मकानों का नाश हुआ। **वास्तव में यह भावी गृहयुद्ध की पहली झलक थी।** सन् १९३४ तक स्पेन की जेलें लगभग ३५ हजार राजनीतिक कैदियों से भर गयीं। दोनों ही पक्ष एक दूसरे को पछाड़ने के मरणान्तक संघर्ष में संलग्न हो गए।

फरवरी १९३६ में नये चुनाव हुए। इसमें गणराज्य समर्थक विभिन्न दलों ने परस्पर संयुक्त होकर "लोकप्रिय मोर्चा" (Popular Front) बनाया और चुनावों में सभी विरोधी पक्षों से ५७ सीटें अधिक प्राप्त कर शासन-सत्ता सम्भाली। इस नई सरकार ने विरोधियों को कुचल डालने का भीषण दमन-चक्र चलाया। फलत: समस्त देश में अराजकता की स्थिति पैदा हो गई।

इस अनिश्चितता एवं अराजकता की दशा में असन्तुष्ट सैन्य अधिकारी विदेशी शक्तियों-विशेषत: इटली एवं जर्मनी—की सहायता से गणराज्य के विरुद्ध सैनिक तैयारियां करने लगे। जनरल सान जुरजो ने बर्लिन में दो बार हिटलर से मुलाकात की। इधर सत्तारूढ सरकार ने भी अनेक सुरक्षात्मक कदम उठाते हुए सन्देहास्पद सैन्याधिकारियों को स्पेन के दूरवर्ती प्रदेशों एवं उपनिवेशों में बिखेर दिया ताकि वे स्पेन में विद्रोह का आयोजन करने में सफल न हो सकें। मोरक्को स्थित स्पेनिश सेना के प्रधान सेनाध्यक्ष जनरल फ्रांको को केनारी द्वीप (Canaris Islands) भेजा गया।

पूर्व निर्धारित षड़यन्त्र के अनुसार गृह-युद्ध का श्री गणेश नवम्बर १६३६ में होना था, लेकिन एक दुर्घटनावश यह १७ जुलाई को ही प्रारम्भ हो गया। १३ जुलाई को गणराज्य के सैनिकों द्वारा एक प्रमुख राजपक्षपाती कॉल्वो सोटेलो (Colvo Sotelo) की हत्या कर दी गई। सोटेलो राजतन्त्र का प्रबल समर्थक, सेना का पोषक और तत्कालीन गणतन्त्रवादी शासन का कठोर आलोचक रूढ़िवादी नेता था। इस हत्या ने सैनिक अधिकारियों को क्रोध से पागल बना दिया। **१७ जुलाई को मोरक्को में मेल्लिला (Melilla) दुर्ग की एवं अन्य स्थानों की सेना ने विद्रोह कर दिया। इसी दिन जनरल फ्रांको ने केनारी द्वीप से मोरक्को आकर विद्रोह का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। इस** विद्रोह की तैयारी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले जनरल सान जुरजो की एक वायुयान दुर्घटना में मृत्यु हो जाने से ही यह उत्तरदायित्व जनरल फ्रांको को वहन करना पड़ा। सेना के ६० प्रतिशत अधिकारियों, दो-तिहाई सैनिकों, अधिकांश नौ-सेना एवं वायुसेना ने फ्रांको को सहयोग दिया अतः एक विशाल सेना लेकर फ्रांको स्पेन की तत्कालीन सरकार के विरुद्ध स्पेन की ओर चल दिया। **इस तरह स्पेन में भीषण गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ।**

मैड्रिड की ओर बढ़ती हुई विद्रोही सेना से देश को बचाने की मर्मान्तिक अपील गणराज्य सरकार द्वारा की गई और लगभग ५० हजार स्वयंसेवक सैनिक एकत्र हो गये जो प्रायः कृषक, श्रमिक, समाजवादी एवं साम्यवादी थे। इन्हें यद्यपि कोई सैनिक शिक्षा नहीं मिली थी किन्तु ये गणराज्य सरकार को बचाने और प्रतिक्रियावादियों को पराजित करने के अदम्य साहस से भरपूर थे। यह विचारधाराओं का संघर्ष था और ये सैनिक अपनी विचारधारा की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देने को कटिबद्ध थे। गणराज्य सरकार का समर्थन स्पेन के सभी क्रान्तिकारी और मौलिक सुधारवादी (Radical) दल कर रहे थे। फ्रांको को पादरी-पुरोहितों, जमींदारों, अनुदार राजनीतिज्ञों और सैन्याधिकारियों का सहयोग था। तिस पर इटली और जर्मनी जैसे युद्धोन्मत्त राष्ट्र भी उसकी पीठ पर थे। अकेले मुसोलिनी के १ लाख 'स्वयं सेवक' फ्रांको की सहायतार्थ स्पेन में रक्त की होली खेल रहे थे। यदि फ्रांको को इतनी विशाल विदेशी सहायता प्राप्त न होती तो गणराज्य सरकार सम्भवतः विद्रोहियों को कुचल कर रख देती। लेकिन स्पेन पर यह आक्रमण तो एक प्रकार से धुरी राष्ट्रों का आक्रमण था जिसे ब्रिटिश, फ्रेंच और अमेरिकन अहस्तक्षेप की तथा ढुलमुल नीति का अप्रत्यक्ष समर्थन मिला। वास्तव में स्पेन का यह गृहयुद्ध प्रजातन्त्र और फासिज्म के मध्य संघर्ष का प्रतीक था जिसमें फासिस्टों ने अपने विद्रोह को साम्यवाद के विरुद्ध धर्म-युद्ध की संज्ञा देकर पश्चिमी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों को किंकर्त्तव्य विमूढ़ कर दिया। आयरलैण्ड के कैथोलिकों ने भी स्पेनिश चर्च की रक्षा के नाम पर फ्रांको का साथ

दिया। अकेला सोवियत रूस ही जन, धन और शस्त्रबल से गणराज्य सरकार की सहायता को युद्ध में कूदा। **सचमुच में स्पेन का गृहयुद्ध विभिन्न विरोधी गुटों द्वारा एक दूसरे का बलाबल देखने के लिए उठाया जाने वाला अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-राजनीति का परीक्षणात्मक गुब्बारा बन गया (The Spanish Civil War was a trial baloon of International power politics)।**

इटली द्वारा फ्रांको को सहायता देने का कारण—स्पेनिश गृहयुद्ध में सर्वाधिक सक्रिय भाग लेने वाली शक्ति इटली थी। इस युद्ध में इटली ने इतनी विशाल मात्रा में सक्रिय हस्तक्षेप किया था मानों युद्ध इटली की भूमि पर लड़ा जा रहा हो। एक अंग्रेज समाचार-पत्र-प्रवक्ता के अनुसार स्पेन में लड़ने वाले इटालियन सैनिकों की संख्या लगभग २ लाख से भी अधिक थी। इसके अतिरिक्त इटली ने फ्रांको को प्रचुर मात्रा में रण सामग्री एवं धन की भी सहायता दी थी। निश्चय ही इस सहायता के पीछे मुसोलिनी के अनेक उद्देश्य एवं लाभ निहित थे—

प्रथम, स्पेनिश हस्तक्षेप के सफल होने पर इटली भूमध्यसागर में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सकता था। भूमध्यसागर को 'रोमन झील' बनाना इटली की विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य था। इस क्षेत्र में ब्रिटेन और फ्रांस उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। ब्रिटेन का जिब्राल्टर पर अधिकार था। फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ही अपने पूर्वी एवं अफ्रीकन साम्राज्य की सुरक्षा के लिए पश्चिमी भूमध्यसागर को अपने नियंत्रण में रखना चाहते थे। इटली एबीसीनिया विजय से भूमध्यसागर के पूर्वी भाग पर अपना प्रभुत्व पहले ही स्थापित कर चुका था। अब स्पेन में अपनी कठपुतली सरकार की स्थापना करके वह भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकता था। इसमें सफलता पाने का यह स्वाभाविक परिणाम होता कि इटली स्पेन के अधिकार में विद्यमान प्रदेश में बेलियारिक (Balearic Islands) में एवं स्पेनिश मोर्चों में अपने हवाई तथा समुद्री अड्डे बना सकता था। वह स्यूटा (Ceauta) को जिब्राल्टर के प्रति स्पर्द्धी अड्डे के रूप में विकसित कर सकता था। इस तरह वह ब्रिटेन के स्वेज नहर और भारत जाने वाले मार्ग तथा फ्रांस के उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेशों को जाने वाले मार्ग को काटकर दोनों की स्थिति दुर्बल कर सकता था। इन उपायों के द्वारा पश्चिमी भूमध्य-सागर में ब्रिटेन और फ्रांस का प्रभाव नगण्य बन जाना निश्चित था। इटली को स्पेन के केनारी द्वीप समूह (Canaries Islands) में अड्डे मिलने की भी आशा थी, वैसे गृहयुद्ध के दौरान ही मेजोरका (Majorca) टापू में वह अपना हवाई अड्डा बना चुका था। फ्रांको ने मुसोलिनी को यूरोप एवं अफ्रीका में अड्डे देने की बात भी कही थी। सामरिक दृष्टि से इतने महत्वपूर्ण लाभ

प्राप्त होने की संभावना से इटली द्वारा फ्रांको के पक्ष में स्पेनिश गृहयुद्ध में हस्तक्षेप करना स्वाभाविक था।

दूसरे, खनिज सम्पत्ति के आकर्षण ने भी मुसोलिनी को स्पेन के गृहयुद्ध में कूद पड़ने को लालायित किया था। स्पेन में लोहा, तांबा, जस्ता, रांगा आदि अनेक युद्धोपयोगी वस्तुओं का खानें थीं जो इटली की रण-सज्जा में अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती थीं।

तीसरे, फ्रांको फासिस्ट विचारधारा का व्यक्ति था, अतः मुसोलिनी वैदेशिक नीति के महत्वपूर्ण मामलों में उसके सहयोग के विषय में आश्वस्त रह सकता था।

चौथे, इटली और जर्मनी दोनों ही का उद्देश्य साम्यवाद का विध्वंस करना था। जनरल फ्रांको स्पष्ट रूप से साम्यवाद के विरुद्ध युद्ध करने की घोषणा कर चुका था। अतः यह स्वाभाविक था कि इटली स्पेन के गृहयुद्ध में फ्रांको का पक्षपोषण करता।

जर्मनी द्वारा फ्रांको को सहायता देने के कारण—जर्मनी ने भी स्पेन के गृहयुद्ध में लगभग ३६ हजार सैनिक, ३ हजार से ५ हजार तक टैकनीशियन, प्रचुर रण-सामग्री और एक छोटी किन्तु शक्तिशाली वायुसेना द्वारा फ्रांको की सहायता की थी। स्पेन में फ्रांको की विजय उसके लिये भी अनेक प्रकार से लाभदायक थी—

प्रथम, जर्मनी पश्चिमी प्रजातंत्र राज्यों से बदला लेने की तैयारियां कर रहा था। हिटलर ने देखा कि यदि स्पेन में फ्रांको की फासिस्ट सरकार स्थापित हो जाती है तो फ्रांस को अपनी सभी सीमाओं की रक्षा के लिये प्रयत्नशील होना पड़ेगा तथा अपनी पर्याप्त सैनिक शक्ति राइन सीमा से हटाकर अन्य सीमाओं पर भेजनी पड़ेगी। सामरिक दृष्टि से यह स्थिति जर्मनी के अनुकूल होगी। फ्रांस के पृष्ठभाग में एक मित्र-शक्ति की स्थापना से फ्रांस की सामरिक स्थिति निर्बल हो जायगी।

दूसरे, हिटलर भी इटली के समान ही स्पेन में सामरिक अड्डे प्राप्त करने का आकांक्षी था। फ्रांको की विजय से उसे स्पेन के उत्तर-पूर्व में ऐसे सैनिक अड्डे मिल सकते थे जहाँ से वह अटलांटिक महासागर में ब्रिटिश बेड़े पर सांघातिक प्रहार करने में सक्षम हो सकता था।

तीसरे, जर्मनी को स्पेन में अपनी नवीन रण-पद्धति, नवीन रण-सामग्री, यांत्रिक तथा हवाई सेना आदि के परीक्षण के लिए एक प्रयोगशाला मिल रही थी। हिटलर का विचार था कि स्पेन के गृहयुद्ध में सहायता देने से उसे यह पता लग जायेगा कि यूरोप में एक महायुद्ध छिड़ने की स्थिति में जर्मन सेनापति कहां तक सफलतापूर्वक अपनी नयी प्रशिक्षा और नीति-कुशलता

का प्रयोग कर सकेंगे। हिटलर का यह विचार सैनिक नीति की दृष्टि से वास्तव में बड़ा उपयोगी था। स्पेन में अपने अनुभव के आधार पर ही उसने द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में अपने वायुयानों तथा आन्तरिक दस्तों की सहायता से विद्युत युद्ध (Blitz Krieg) की नई युद्धकला का सफल प्रयोग किया।

सोवियत संघ द्वारा गृहयुद्धों में हस्तक्षेप के कारण—इटली और जर्मनी के विपरीत सोवियत रूस ने स्पेन के गृहयुद्ध में फ्रांको के शत्रुओं को सहायता दी। सोवियत संघ ही केवल एक ऐसा देश था जिसने स्पेन की गणराज्य सरकार को टैंकों, वायुयानों, शस्त्रास्त्रों और सैनिकों द्वारा पूरी सहायता दी। सोवियत रूस के इस रुख के पीछे निम्नलिखित प्रबल कारण निहित थे—

पहला कारण यह था कि यूरोप में विकासमान फासिस्ट शक्ति के उदय से उसके अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया था। हिटलर पहले से ही रूस का घोर शत्रु था और फासिस्ट फ्रांको भी साम्यवाद के विरुद्ध युद्ध करने की अपनी नीति स्पष्ट कर चुका था। स्पेन में फ्रांको की विजय का यह स्पष्ट अर्थ था कि जर्मनी के हाथ मजबूत होते। रूसी राजनीतिज्ञ इस परिस्थिति से बचने के लिये स्पेनिश युद्ध में गणराज्य सरकार की ओर से कूदे। रूस ने गणराज्य सरकार को जिस विशाल मात्रा में सहायता देना शुरू किया, उसकी तरफ संकेत करते हुये ब्रिटिश विदेशमंत्री इडन ने १६ नवम्बर को लोकसभा में यह घोषणा की कि, "(स्पेन में सेनायें एवं सैन्य-सामग्री भेजने के लिये) कुछ देश जर्मनी या इटली की अपेक्षा अधिक दोषी हैं।"

दूसरा कारण यह था कि रूस अपने मित्र फ्रांस को अरक्षित अवस्था से बचाना चाहता था। फ्रांस के साथ उसने १६३५ में ही पारस्परिक सहायता संधि (Mutual Assistance Pact) की थी। स्पेन में फ्रांको-शासन स्थापित हो जाने से फ्रांस की दक्षिणी सीमा असुरक्षित होती थी। साथ ही फ्रांस की मैत्री से हिटलर को विशेष सामरिक लाभ प्राप्त होने का डर था। इन परिस्थितियों में रूसी राजनीतिज्ञों के लिये यह स्वाभाविक था कि वे स्पेनिश गणराज्य सरकार की सहायता करने का निर्णय लेते और ब्रिटेन तथा फ्रांस को भी सहायता करने की अपील करते।

जर्मनी, इटली और रूस की स्पेनिश गृहयुद्ध में दोनों पक्षों को दी जाने वाली सहायता का वर्णन करते हुये एक ब्रिटिश प्रेक्षक ने कहा था कि यदि फ्रांको को जर्मन एवं इटालियन सहायता न मिलती तो विद्रोह प्रथम कुछ सप्ताहों में ही समाप्त हो जाता और यदि अक्टूबर १६३६ में सोवियत रूस

स्पेनिश सरकार की सहायता को न आता तो वह जल्दी ही परास्त हो जाती।[1]

ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका का स्पेन के गृहयुद्ध की ओर दृष्टिकोण—स्पेन के गृहयुद्ध की लपेट में यूरोप के लगभग सभी राष्ट्र आगये। राष्ट्रसंघ को इससे विशेष दिलचस्पी इसलिये नहीं रही कि यह सैद्धान्तिक ढंग से स्पेन का अन्दरूनी मामला था। फिर भी जिस तरह स्पेनिश गृह-युद्ध का स्वरूप बदल रहा था उसको देख कर यह अनुमान किया जाता था कि दुनिया की प्रगतिशील शक्तियों की सहानुभूति और मदद गणतान्त्रिक स्पेन को अवश्य ही प्राप्त होगी; किन्तु दुर्भाग्यवश सिवाय सोवियत रूस के और कोई स्पेन के गणतन्त्र को बचाने के लिये आगे नहीं आया। **अपने को प्रजातन्त्र के रक्षक कहने वाले ब्रिटेन और फ्रांस ने इस समय भी वही रुख अपनाया जो एबीसीनिया कान्ड के समय था।** फासिस्ट-आन्दोलन को सहारा देकर उसको बढ़ाना और फिर उसको साम्यवादी रूस के विरुद्ध उभाड़ देना, ब्रिटेन और फ्रांस के उदारवादी शासकों की निश्चित नीति थी। इसीलिये वे हिटलर और मुसोलिनी के सभी कुकृत्यों को माफ करने की मुद्रा में थे। अमेरिका भी ब्रिटेन और फ्रांस के समान ही स्पेनिश गृह-युद्ध में 'अहस्तक्षेप' का समर्थक था। वह 'रूको और देखो' की नीति पर चल रहा था। इन तीनों ही राष्ट्रों की अहस्तक्षेप (Non-intervention) की नीति फ्रांको और उसके सहयोगियों को लाभ पहुंचाने वाली थी क्योंकि उन्हें तो हिटलर और मुसोलिनी से शस्त्रबल और सैन्यबल की पूरी सहायता मिलती रही, लेकिन तटस्थता की नीति के कारण पेरिस, लन्दन और वाशिंगटन ने स्पेन की गणराज्य सरकार को यह सामग्री बेचना बन्द कर दिया। **ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका द्वारा जो हस्तक्षेप न किये जाने का निर्णय लिया गया था इसके पीछे कोई नैतिकता का आदर्श नहीं था बल्कि सभी के अपने अपने निहित स्वार्थ थे।**

ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री चैम्बरलेन एक शांतिवादी था किन्तु उसका झुकाव विद्रोहियों की ओर था। सम्पूर्ण ब्रिटिश मंत्रिमंडल में ईडन ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इटली का विरोधी समझा जाता था, इसलिये चैम्बरलेन से उसकी कभी नहीं पटती थी। ब्रिटेन में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिनकी सहानुभूति गणतांत्रिक स्पेन के प्रति थी, पर ब्रिटेन की अधिकांश जनता उदासीन थी। उन्हें रूस के गृहयुद्ध में विदेशी हस्तक्षेप का परिणाम याद था, वे अनुदार एवं पूंजीवादी अखबारों से प्रभावित थे, अतः कुछ कर सकने में सक्षम न थे। **ब्रिटिश राज्य के ऐसे अनेक राजनीतिक स्वार्थ थे जिनके कारण चैम्बरलेन के अनुदार मंत्रिमंडल ने अहस्तक्षेप की शरीफाना पौशाक पहनी—**

---

1. *Gathorn Hardy*: A Short History of International Affairs, page 426.

पहला स्वार्थ जिब्राल्टर को सुरक्षित बनाये रखने का था। ब्रिटेन को भूमध्यसागर में जिब्राल्टर पर फ्रांको की सेना का खतरा था, अत: वह फ्रांको को नाराज करने के पक्ष में न था।

दूसरा राजनीतिक स्वार्थ साम्यवाद विरोधी शक्तियों के हाथ मजबूत करने का था। साम्यवाद का पिशाच ब्रिटिश जनता को प्रत्येक क्षण घेरे रहता था, अत: लन्दन ने यह धारणा बना ली कि अप्रजातंत्रीय स्पेन, जर्मनी तथा इटली साम्यवादी रूस के विरुद्ध उपयुक्त दुर्ग रहेंगे, अत: यदि रूस को आगे बढ़ने से रोकने के लिये इन दुर्गों को प्रयोग में लाया जा सके तो इन्हें सहायता देने व मजबूत करने की नीति ब्रिटेन के हाथ में होगी। चैम्बरलेन का कहना था कि फ्रांको स्पेन में साम्यवाद के विध्वंस में लड़ रहा है।

ब्रिटेन का झुकाव विद्रोहियों की ओर होने का तीसरा कारण यह था कि ब्रिटिश पूंजीपतियों ने स्पेन की रिओ टिन्टो (Rio Tinto) तथा अन्य खानों में पूंजी लगा रखी थी। इनको भय था कि स्पेन की गणराज्य सरकार गृहयुद्ध में विजयी होने पर खानों का राष्ट्रीयकरण करके उनकी पूंजी जब्त कर लेगी। इसीलिये वे फ्रांको के समर्थक थे और ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण को अपने पक्ष में प्रभावित कर रहे थे।

फ्रांस का नेतृत्व लियो ब्लूम (Leon Blum) तथा दालिदयर (Daladier) कर रहे थे। ब्लूम के प्रधानमंत्रित्व में स्थापित फ्रेंच "लोकमोर्चादल" की सरकार से आशा की जाती थी कि "लोक मोर्चा" से बनी स्पेन की गणतांत्रिक सरकार को फ्राँस की सहायता मिलेगी। फ्रांस के वामपंथियों का भी यही विचार था। लेकिन वहां के दक्षिणपंथी फासिस्टवाद से साम्यवाद को अधिक खतरनाक समझते थे और उनकी दृष्टि में गणतांत्रिक स्पेन साम्यवादी स्पेन था। यद्यपि ब्लूम गणतांत्रिक स्पेन की सहायता का इच्छुक था, लेकिन अन्य सभी फ्रांसीसियों की भांति वह भी यही सोचता था कि फ्रांस का मुख्य हित ब्रिटेन के साथ कदम मिलाने में ही है, क्योंकि फ्रांस अकेले कोई कदम उठाकर सफलता अर्जित नहीं कर सकता। ग्रेट ब्रिटेन का समर्थन **प्राप्त करके ही आगे बढ़ने के निश्चय** का यह स्वाभाविक निष्कर्ष था कि **फ्रांस, फ्रांको की विजय को अपने** लिये संभावित खतरा मानते हुए भी, **ब्रिटेन की तरह गणतांत्रिक स्पेन को** उसके अपने भाग्य पर छोड़ दे। फ्रांको से भय का कारण यह था कि उसके शासन से उत्तरी अफ्रीका के फ्रेंच साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने तथा दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर एक नये शत्रु राज्य के बन जाने की सम्भावना थी। फ्रांस जानता था कि हिटलर, मुसोलिनी और फ्रांको की संयुक्त शक्ति उसके लिये कितनी मंहगी पड़ सकती थी। फिर भी ब्रिटिश प्रभाव के कारण वह यह सोचकर आश्वस्त हो जाता

था कि नाजी जर्मनी का मुख्य लक्ष्य साम्यवादी रूस और फासिज्म की क्रोधाग्नि पहले सोवियत संघ के विरुद्ध भड़केगी। फ्रांस का यह विश्वास, हिटलर की उन दिनों बारम्बार की गई इन घोषणाओं से और भी दृढ़ हो गया कि जर्मनी के विस्तार का वास्तविक क्षेत्र पूर्व है, पश्चिम नहीं। अन्त-र्राष्ट्रीय राजनीति की इस पेचीदगी और असुरक्षा की स्थिति से ग्रस्त फ्रांस को अपना कल्याण केवल इसी में सूझा कि वह ब्रिटेन का दामन पकड़कर उसके साथ-साथ घूमे। फ्रांस को ऐसे आड़े समय में मित्रों की प्रबल आवश्यकता थी, अतः लन्दन से मित्रता दृढ़ करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग उसके पास न था। इसके अलावा फ्राँस को यह आशा भी थी कि अहस्तक्षेप के अपने इस कदम से वह इटली को खुश बनाये रख सकेगा।

लन्दन की भांति वाशिंगटन भी साम्यवाद के भविष्य का विरोधी था। प्रथम महायुद्ध ने अमेरिका को विश्व का सबसे धनवान देश बना दिया था और अमेरिकन मध्यम वर्ग के लिये साम्यवादी सिद्धान्त उतना ही अवांछनीय था जितना कि यूरोप में संयुक्त स्वार्थों के लिये। अमेरिकन सरकार साम्यवाद को घृणा की दृष्टि से देखते हुये यह विश्वास करती थी कि फासिस्ट राज्य की स्थापना से साम्यवाद के मार्ग में रुकावट होगी। इसके अतिरिक्त अमेरिका पृथकतावादी नीति का समर्थक था और अमेरिकन कांग्रेस यूरोप के मामलों में यथासम्भव सक्रिय भाग लेने की विरोधी थी। इन्हीं सब कारणों से अमेरिका ने यही उचित समझा कि स्पेन के गृहयुद्ध में तटस्थता की जाय और "रुको तथा देखो" की नीति का अवलम्बन करना चाहिये। २ जून १९३७ को जब प्रतिनिधि सभा के ४ सदस्यों ने विदेशमंत्री से कहा कि "तटस्थता एक्ट" (Neutrality Act) जर्मनी और इटली के लिये भी प्रयुक्त किया जाना चाहिये ताकि वे फ्रांको को शस्त्रास्त्रों और सैनिकों की सहायता न दे सके, तो इसके उत्तर में विदेश मंत्री द्वारा कहा गया कि—"यह हमारा युद्ध नहीं है। हमें सावधान होना चाहिये, और शान्त रहना चाहिये।"

ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका जैसे शक्तिशाली लोकतन्त्रों की स्पेन की लोक-तन्त्रीय सरकार के प्रति यह घातक नीति ही फ्रांको की विजय और गणराज्य सरकार की पराजय का कारण बनी। स्पेन की गृह–कलह का परिणाम बहुत कुछ महान् विदेशी शक्तियों के दृष्टिकोण द्वारा निश्चित हुआ। लेकिन इस अहस्तक्षेप की नीति ने सर्वाधिकारवादी शक्तियों के साहस को बढ़ा दिया कि वे शीघ्रातिशीघ्र महायुद्ध छेड़कर पश्चिमी लोकतन्त्रों के विनाश का स्वप्न देखने लगी।

अहस्तक्षेप (Non-intervention) की नीति—स्पेन के गृहयुद्ध में, अपने–अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर, ब्रिटेन, फ्रांस आदि ने युद्ध का क्षेत्र

सीमित करने के लिए **अहस्तक्षेप की जिस नीति का आश्रय लिया** उसका यह **आशय** था कि **कोई भी अन्य देश स्पेन के किसी पक्ष को शस्त्रास्त्रों और सैनिकों की सहायता न दे।** स्पेन में संघर्ष प्रारम्भ होने के समय से ही यह भय होने लगा था कि कहीं यह गृहयुद्ध यूरोपीय महायुद्ध का रूप न धारण कर ले। फासिस्ट देश फ्रांको की विजय के लिए कटिबद्ध थे और यदि यूरोपीय देश उसका विरोध करते तो महायुद्ध का छिड़ जाना असम्भव नहीं था। ब्रिटेन, फ्रांस तथा अन्य कोई प्रजातन्त्रीय देश महायुद्ध का खतरा उठाने को तैयार नहीं था। अतः, महायुद्ध की सम्भावना को मूर्तरूप धारण करने से रोकने के लिए १ अगस्त १९३६ को फ्रांस की ओर से लियो ब्लूम (Leou Blum) ने ब्रिटेन और इटली की सरकारों के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि उपरोक्त तीनों देश स्पेन के गृहयुद्ध के किसी भी पक्ष को युद्धोपयोगी सामग्री न दें। ब्रिटिश सरकार तो इस प्रकार के किसी प्रस्ताव की ताक में थी ही। उसने फौरन इसे मंजूर कर लिया और साथ–ही–साथ यह प्रस्ताव भी रखा कि स्पेनिश गृहयुद्ध में अहस्तक्षेप के लिए जो व्यवस्था हो, उसमें अन्य देशों को भी सम्मिलित किया जाय। इस सुझाव का सोवियत रूस सहित लगभग ३० देशों ने स्वागत किया, जिसमें पुर्तगाल, इटली और जर्मनी की सैद्धांतिक स्वीकृति भी सम्मिलित थी। अगस्त में यूरोप की मुख्य शक्तियों ने, जिनमें जर्मनी, इटली और सोवियत संघ भी थे, एक अहस्तक्षेप समझौते Non-intervention Agreement) पर हस्ताक्षर किये। समझौते को तुरन्त कार्यान्वित करने के लिए ९ सितम्बर १९३६ को लन्दन में एक अन्तर्राष्ट्रीय **"अहस्तक्षेप समिति"** (Non-intervention Committee) की स्थापना भी कर दी गई।

इटली और जर्मनी ने अहस्तक्षेप की नीति को सिद्धांततः भी स्वीकार इसलिए कर लिया था कि उन्हें विश्वास था कि कुछ ही दिनों में स्पेन की गण-राज्य सरकार का तख्ता पलट कर फ्रांको विजेता के रूप में मैड्रिड में प्रवेश कर जायगा। वैसे उनकी तरफ से स्वयं सेवक, सैनिक और शस्त्रास्त्र गुप्त रूप में फ्रांको की सहायता के लिए पहुंच ही रहे थे। फासिस्ट देशों ने अहस्तक्षेप समझौते को मानने का क्षणिक प्रदर्शन इसलिए किया था कि यदि स्पेन की गण-राज्य–सरकार कुछ समय के लिये किसी प्रकार की विदेशी सहायता से महरूम हो जाती तो यह बात जनरल फ्रांको के हित में निश्चित रूप से लाभकारी होती किन्तु फ्रांको की विजय का मार्ग उतना सुलभ नहीं रहा जितना उसके समर्थक समझते थे। उनकी तरह सोवियत रूस भी अपने हितों की रक्षा के लिए स्पेन की गणतांत्रिक–सरकार की सहायता करने लगा और फ्रांको का मार्ग संकटमय बन गया।

ऐसी स्थिति में हिटलर और मुसोलिनी के लिये यह सम्भव न था कि वे अपने साथी फ्रांको को विषम स्थिति में छोड़ दें। फलतः १८ नवम्बर १९३६ को इटालियन और जर्मन सरकारों ने 'फ्रांको की सरकार' को मान्यता (Recognition) प्रदान कर दी। इसके बाद क्रिसमस १९३६ तक जर्मनी ने लगभग ३६ हजार सैनिक फ्रांको की सहायता के लिये भेजे। एक जर्मन पत्रकार के अनुसार इस समय जर्मनी में स्पेन के लिए सैनिक भेजने का यह ढंग था कि स्वयंसेवकों के स्थान पर पूरी पलटनों को स्पेन जाने की आज्ञा दी जा रही थी।[1] अक्टूबर की समाप्ति तक सोवियत रूस ने भी खुल्लमखुल्ला यह घोषणा कर दी कि राज्यों द्वारा अहस्तक्षेप नीति का पालन न किये जाने पर वह स्वयं भी इसके पालन के लिए बाध्य नहीं होगा। इधर इटली पहले से ही पूरी तरह फ्रांको की सहायता को जुटा हुआ था। फरवरी १९३७ तक इटालियन सेना के चार डिवीजन और कम से कम ४० हजार सैनिक स्पेन पहुंच गये थे।[2] यही नहीं, इनका नेतृत्व इटली को नियमित सेना के सेनापति कर रहे थे और मुसोलिनी यह घोषणा कर चुका था कि स्पेन में बोलशेविक राज्य की स्थापना के परिवर्तन को इटली कभी सहन नहीं करेगा।

उपरोक्त परिस्थितियों में 'अहस्तक्षेप समिति' का कार्य निश्चित रूप से बड़ा कठिन हो गया। जर्मनी, इटली और रूस स्पेनिश युद्ध में पुरजोर हस्तक्षेप करते रहे और इस सारे समयमें अहस्तक्षेप समिति सब देशोंसे 'तटस्थता कानून' का पालन करने की प्रार्थना करती रही। १५ फरवरी १९३७ को इटालियन सरकार ने एक आदेश निकाला कि २० फरवरी के बाद इटली का कोई व्यक्ति स्पेन में सैनिक सेवा के लिये नहीं जायेगा, परन्तु यह आदेश केवल एक दिखावा था क्योंकि मार्च के प्रथम सप्ताह तक इटालियन सेनाएं तेजी से स्पेन पहुंचती रहीं। इसके बाद फ्रांको को दी जाने वाली फासिस्ट शक्तियों को दी जाने वाली सैनिक सहायता में कमी आ गई क्योंकि फ्रांको को युद्ध जीतने के लिए आवश्यकता से भी अधिक सहायता दी जा चुकी थी। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, एक अनुमान के अनुसार इटली के लगभग २ लाख से ३ लाख तक सैनिक स्पेनिश युद्ध–भूमि में फ्रांको के साथ कंधा मिलाकर रक्त की होली खेल रहे थे।

फ्रांको को पूर्ण सहायता पहुंचा देने के बाद फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी ने गम्भीर कूटनीतिक चाल चलते हुए अहस्तक्षेप समिति की बैठकों में अधिक रुचि लेना शुरू किया ताकि फ्रांको विरोधी पक्ष को विदेशी

---

1. *Gathorn Hardy*: A Short History of International Affairs, page 436.
2. Ibid, page 438.

सहायता पहुंचाने के मार्ग में हर सम्भव रोड़ा अटकाया जा सके। काफी विचार–विमर्श के बाद अन्त में अहस्तक्षेप समिति ने एक नौ–सैनिक गश्त और सीमांत निगरानी की प्रणाली स्थापित करने का समझौता किया तथा **१६ अप्रेल से यह गश्त और निगरानी शुरू हो गई।** यह काम कुछ समय तक सुचारु रूप से चलता रहा, पर इसी बीच फ्रांको की नौ-सैनिक नाकेबन्दी को तोड़ने के स्पेनिश सरकार ने बमवर्षा शुरू की और इस क्रम में २६ मई को स्पेनिश बन्दरगाह इविजा (Iviza) में आया हुआ जर्मन युद्ध–पोत 'ड्यूसलैंड' (Deutschland) बमबारी के कारण नष्ट हो गया। इसका बदला लेने के लिये दो दिन बाद ही जर्मन नौ–सेना ने स्पेन के एलमेरिया (Almeria) नामक नगर पर बमवर्षा की। १६ जून को जर्मनी ने आरोप लगाया कि उसके क्रूजर ला-इप-जिग (Leipzig) पर पनडुब्बियों से हमला किया गया है। स्पेन की गणराज्य सरकार ने इस आरोप का खण्डन किया। जर्मनी इटली ने स्पेनिश सरकार के विरुद्ध सयुक्त विरोध-प्रदर्शन करने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस को आमन्त्रित किया। लेकिन जब ब्रिटेन–फ्रांस इसमें सम्मिलित नहीं हुये तो जर्मनी व इटली गश्त के कार्य से अलग हो गये। उन्होंने नौ–सैनिक गश्त (Patrol) से अपने सभी जहाज हटा लिये। पुर्त्तगाल ने भी अपने सीमांत पर देखभाल की सुविधाओं को बन्द कर दिया और फ्रांस भी ऐसा करने में पीछे न रहा। **परिणामस्वरूप सीमान्तों की निगरानी बन्द हो गई और अहस्तक्षेप समिति का सारा कार्य ठप्प पड़ गया।**

अहस्तक्षेप समिति को निर्जीव होने से बचाने के लिए और अपने को शांतिवादी नीति का नैतिक प्रवक्ता सिद्ध करने के लिये ब्रिटेन फिर आगे आया। **उसने १४ जुलाई को अहस्तक्षेप समिति में समस्या के समाधान के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किये—**

(१) नौ-सैनिक जहाजों द्वारा किया जाने वाला गश्त और निरीक्षण बन्द कर दिया जाय, इसके स्थान पर स्पेनिश बन्दरगाहों में निरीक्षक नीयत किये जाएं और स्थलीय सीमान्तों का निरीक्षण पुनः प्रारम्भ किया जाय।

(२) दोनों पक्षों की सेनाओं में लगने वाले विदेशी सैनिकों को स्वदेश वापिस लौटाने के कार्य का निरीक्षण करने के लिये आयोग स्थापित किये जायें।

(३) जब विदेशी सैनिकों की वापिसी के कार्य में पर्याप्त प्रगति हो जाय तब दोनों पक्षों को युद्धावस्था की मान्यता और इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार प्राप्त होने वाले अधिकार दिये जायें।

प्रस्ताव रख दिये गये, उन पर विचार–विमर्श चलता रहा और एक साल के बाद जाकर कहीं वे स्वीकार हुये। लेकिन इस अवधि के

दौरान अनेक नवीन घटनायें घटित हो गईं। २ जनवरी १९३७ को 'शरीफाना समझौता' (Gentlemen's Agreement) हो जाने के बाद भी इटली ब्रिटेन के विरुद्ध मध्यपूर्व के देशों में विष-वमन करता रहा। इसी समय वे खबरें आने लगीं कि स्पेनिश सरकार और तटस्थ देशों के जहाजों पर भूमध्य-सागर में अज्ञात देश की पनडुब्बियों द्वारा क्रूरतापूर्ण हमले किये जा रहे हैं। सभी जानते थे कि जनरल फ्रांको के पास इस प्रकार की पनडुब्बियां नहीं थीं और इसीलिये सबका शक इटालियन सरकार पर गया। स्पेन सोवियत संघ की सरकारों ने तो सार्वजनिक तौर पर इटली को इसके लिये दोषी ठहराया। १७ अगस्त को ब्रिटिश जल-सेना को आदेश दे दिया गया कि बिना चेतावनी के ब्रिटिश जहाजों पर आक्रमण करने वाली पनडुब्बियों पर प्रत्याक्रमण करके उन्हें समुद्री डाकुओं की भांति नष्ट कर दिया जाय। इस स्थिति में फ्रांस ने यह प्रस्ताव रखा कि भूमध्य सागर में दिलचस्पी रखने वाले सभी देशों का एक सम्मेलन बुलाकर समस्या पर विचार किया जाय। फ्रेंच सरकार के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुये १० **सितम्बर १९३७ को नियोन (Nyon) में भूमध्यसागरीय शक्तियों का सम्मेलन हुआ।** जर्मनी और इटली ने सम्मेलन का बहिष्कार किया। इनकी अनुपस्थिति में ही सम्मेलन ने भूमध्य सागर में पनडुब्बियों के हमले पर विचार करके इनको रोकने का प्रबन्ध किया। ब्रिटिश और फ्रेंच बेड़ों द्वारा प्रधान सामुहिक व्यापार-मार्गों और प्रादेशिक समुद्रों की रक्षा के लिये नौ-सैनिक गश्त की व्यवस्था की गई। अन्त में ३० सितम्बर को इटली भी पूर्वी भूमध्य सागर की रक्षा के लिये इस रक्षा-व्यवस्था में शामिल हो गया और "अज्ञात शक्ति की पनडुब्बियों के आक्रमण बन्द हो गये।"

जहां तक जनरल फ्रान्को को विदेशी सहायता मिलने का प्रश्न था, उसमें किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ा और जर्मनी तथा इटली यथापूर्व आवश्यकतानुसार उसकी सहायता करते रहे। अक्टूबर १९३७ में इटली ने सरकारी तौर पर यह स्वीकार किया कि उसके ४० हजार सैनिक स्पेन में लड़ रहे हैं। इटालियन हस्तक्षेप का और भी अधिक प्रामाणिक रूप तब सामने आया जब २९ अक्टूबर को मुसोलिनी ने स्पेन के गृहयुद्ध में मारे गये सैनिकों के सम्बन्धियों को पुरस्कार वितरित किये और उसी समय हताहतों की एक सूची प्रकाशित की गयी। इस सूची के अनुसार उस समय तक इटली के स्पेन में मृत एवं घायल सैनिक संख्या ७६३ तथा २६७५ थी। लैंगसम (Langsam)ने अपनी पुस्तक 'The World Since 1919' में लिखा है कि जून १९३९ में इटालियन सैनिक सरकारी पत्र में दिये गये एक विवरण के अनुसार इटली ने स्पेन में एक लाख सैनिक भेजे थे और इटली के नौ-सेना के १४०

जहाजों ने ८७० कार्य पूरे किये थे। फरवरी १९४१ में मुसोलिनी ने फ्रान्को को अपनी सैनिक सहायता का २७॥ करोड़ डालर का बिल भेजा था जिसका फ्रान्को ने भुगतान नहीं किया।

६ नवम्बर को इटली, जर्मनी और जापान के कोमिन्टर्न विरोधी समझौते (Anti-Comintern Pact) में सम्मिलित हुआ और १२ दिसम्बर को मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा की। लन्दन की हस्तक्षेप समिति और राष्ट्रसंघ फ्रान्को को दी जाने वाली सहायता रोकने में पूर्णतः असमर्थ रहे। वास्तव में ऐसी परिस्थिति में एक प्रजातन्त्रात्मक समिति की रक्षा के लिये ब्रिटेन और फ्रान्स को अपनी अदूरदर्शितापूर्ण अहस्तक्षेप नीति का परित्याग कर देना चाहिए था। गणतांत्रिक सरकार बार-बार यह माँग कर रही थी कि कपटपूर्ण अहस्तक्षेप नीति का अन्त करके उसे यह मौका दिया कि वह विदेशी सरकारों से सैन्य-सामग्री खरीद सके। पर उसकी इस अपील पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और उसे बलि के बकरे की तरह कट जाने दिया गया।

फ्रान्को की विजय और गृहयुद्ध की समाप्तिः—उपरोक्त परिस्थितियों में फ्रान्को की सफलता निश्चित थी। धुरी राष्ट्रों की वायुसेनाओं ने बार्सीलोना, मेड्रिड आदि नगरों पर भयंकर बमवर्षा की और इटालियन पनडुब्बियों ने इस ढंग से सामुद्रिक नाकेबन्दी करली कि स्पेनिश सरकार को कोई विदेशी सहायता न पहुंच सकी। इस नाकेबन्दी के फलस्वरूप स्पेन में दुर्भिक्ष की स्थिति पैदा हो गयी लेकिन गणतांत्रिक सरकार के सैनिकों ने अदम्य उत्साह के साथ एक-एक चप्पा ज़मीन की रक्षा के लिए घोर संघर्ष किया। सोवियत संघ के नागरिक और सिपाही भी स्वयंसेवकों के रूप में युद्ध में जूझे। पर इटली-जर्मनी की विशाल सैनिक शक्ति के सम्मुख ये सब प्रयास व्यर्थ गये। उस समय सोवियत रूस आज जैसा शक्तिशाली नहीं था। दूसरे, स्पेन और रूस की सीमायें मिली-जुली नहीं थीं, अतः वह स्पेन को उस मात्रा में मदद नहीं कर सकता था जिस मात्रा में फ्रांको को इटली और जर्मनी कर रहे थे। फिर भी सोवियत रूस ने यथासंभव उस परिस्थिति में जो भी हो सकता था, किया।

फ्रान्को और उसके साथियों ने स्पेनिश सरकार पर तिहरा आक्रमण किया था—अफ्रीका में स्पेनिश मोरक्को पर, स्पेन के प्रान्तों की राजधानियों पर और राजधानी मैड्रिड पर। पहली योजना में उन्हें पूरी सफलता मिली किन्तु दूसरी और तीसरी योजनाओं की पूर्ति में उन्हें सामान्य जनता के प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। फिर भी नवम्बर १९३६ तक विद्रोही मेड्रिड के बाहरी प्रदेश तक पहुंच गये। स्पेनिश सरकार ने वेलेन्शिया

(Valencia) को अपनी राजधानी बनाया लेकिन बाद में अक्टूबर १९३७ को उसे बार्सीलोना (Barcelona) पलायन करना पड़ा। सेन्ट पैट्रिक दिवस (St. Patrick's Day) पर सन् १९३८ में धुरी राष्ट्रों के बमवर्षकों ने २४ घन्टों में १२ बार बार्सीलोना पर बमवर्षा की। पैट्रिक कार्डीनल हेज ने न्यूयार्क में फ्रान्को की सफलता के लिए सामान्य जनता में प्रार्थना की। १५ अप्रेल १९३८ को विद्रोही सेनाओं ने विनारोज (Vinarog) पर कब्जा कर लिया। यह नगर सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण था। इसने बार्सीलोना में स्थित स्पेनिश सरकार का सम्बन्ध शेष स्पेन से एकदम विछिन्न कर दिया। लेकिन सरकार ने अनुभव व साहस का परिचय देते हुए एब्रो (Ebro) नदी के साथ-साथ भयंकर प्रत्याक्रमण करके अनेक स्थानों पर विद्रोही सेनाओं के मोर्चे भंग कर दिये। पर बुझने वाले दीपक की यह अन्तिम लौ थी। फ्रान्को ने धुरीराष्ट्रों की विशाल सैनिक मदद से २३ दिसम्बर १९३८ को कैटेलोनिया तथा बार्सीलोना पर निर्मम आक्रमण किया और २६ जनवरी १९३९ को बार्सीलोना पर कब्जा कर लिया। खुशी में झूमते हुए मुसोलिनी ने यह घोषणा की—"हमारे शत्रु धूल चाट रहे हैं।" उधर मेड्रिड का पतन और साथ ही गृह-युद्ध का अन्त भी सन्निकट आ गया। ३२ महीने के घोर संघर्ष के बाद २८ मार्च १९३९ को फ्रान्को की सेनाएं मेड्रिड में घुस गयीं, लेकिन फ्रान्को को खुश करने की गरज से २७ फरवरी १९३९ को ही ब्रिटेन एवं फ्रांस ने फ्रान्को सरकार को कानूनी मान्यता (Dejure Recognition) दे दी। १ अप्रेल को संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा भी इन जनतांत्रिक शक्तियों ने फ्रान्को को उसकी इच्छानुसार ऋण दिलाकर संतुष्ट करने का प्रयास किया।

स्पेनिश गृहयुद्ध का महत्व और परिणाम तथा इटली पर इसका प्रभाव-१७ जुलाई १९३६ से लेकर २८ मार्च १९३९ तक चलने वाला स्पेनिश गृह-युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी। "यह गृह-युद्ध यद्यपि स्पेन की भूमि पर हुआ था तथापि इसने यूरोपीय गृह-युद्ध के कई लक्षण ग्रहण कर लिये थे"[1] और इसके परिणाम भी अत्यन्त दूरगामी हुए।

प्रथम महत्वपूर्ण कूटनीतिक परिणाम यह निकला कि जर्मनी और इटली में प्रगाढ़ दोस्ती पैदा हुई। इस युद्ध ने एन्टी-कोमिन्टर्न पैक्ट को पुष्ट

---

1. "The Spanish Civil War assumed many of the aspects of European Civil War fought on Spanish territory."

—*Carr*: Op. Cit., page 262.

किया, यूरोप में फासिस्ट शक्तियों की स्थिति को मजबूत किया और पाश्चात्य राष्ट्रों तथा रूस के मध्य मनोमालिन्य की खाई अधिक चौड़ी कर दी।

दूसरा परिणाम यह निकला कि धुरी-राष्ट्र अर्थात् इटली एवं जर्मनी इस बात से आश्वस्थ हो गये कि लन्दन और पेरिस साम्यवाद के हौवे से बुरी तरह आशंकित हैं तथा साम्यवाद का भय दिखाकर एवं साम्यवाद के विध्वंस में उन्हें सहयोग देने की बात कहकर उनसे अपना उल्लू भली-भांति सिद्ध किया जा सकता है। स्पेन के गृह-युद्ध से फासिस्ट शक्तियों को पाश्चात्य लोकतंत्रों की निर्बलता का भान हो गया।

तीसरा परिणाम यह हुआ कि इस युद्ध ने राष्ट्रसंघ के पहले से ही लड़खड़ाते भवन को एक और गहरा धक्का दिया। स्पेन की गणतांत्रिक सरकार बलि के बकरे की तरह मदद के लिए मिमियाती रही लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस की तुष्टिकरण की नीति के कारण राष्ट्रसंघ कोई प्रभावशाली कार्यवाही नहीं कर सका। स्पेन में फासिस्ट शक्तियों के नग्न आक्रमण को रोकने में राष्ट्रसंघ की पंगुता ने उसकी प्रतिष्ठा को गम्भीर आघात पहुंचाया। यद्यपि २ अक्टूबर १९३७ को साधारण सभा में यह प्रस्ताव पारित हुआ कि स्पेनिश भूमि पर विदेशी सैनिकों की उपस्थिति एक सत्य है और उन्हें तुरन्त पूर्णतः वापिस हटा लिया जाना चाहिए, लेकिन यह प्रस्ताव एक पवित्र इच्छा मात्र बनकर रह गया।

चौथा परिणाम हिटलर की विस्तारवादी आकांक्षाओं को प्रोत्साहन देने का निकला। फासिस्ट शक्तियां पाश्चात्य राष्ट्रों की निष्क्रियता और तुष्टिकरण की नीति से प्रोत्साहित होकर शक्ति के मद में झूमने लगी। इटली की स्पेनिश गृह-युद्ध में व्यस्तता का लाभ उठाकर हिटलर ने आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला लिया और पश्चिमी शक्तियां स्वतंत्रता की इस हत्या का तमाशा देखती रहीं।

अन्त में जैसा कि काउन्ट स्फोर्जा का मत है—"इथोपिया में मुसोलिनी की सफलता ने स्पेन में उसका हस्तक्षेप संभव बनाया। स्पेन का गृह-युद्ध और उसके सम्बन्ध में पेरिस तथा लन्दन की नीति ही यूरोप के बौद्धिक और नैतिक पतन के कारण थे। इससे फ्रांस का म्यूनिख में अपने मित्र चेकोस्लोवाकिया के साथ विश्वासघात उत्पन्न हुआ और उसने पोलैण्ड के विरुद्ध हिटलर के आक्रमण तथा यूरोपियन युद्ध को जन्म दिया एवं १० जून १९४० को मुसोलिनी फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध में कूदा।" स्पेनिश गृह-युद्ध में यद्यपि इटली को भारी हानि उठानी पड़ी, किन्तु उसे ब्रिटेन व फ्रांस पर धौंस जमाने और उनसे अधिक रियायतें पाने का स्वर्ण अवसर मिल गया। नवम्बर १९३८ से ही इटालियन पार्लियामेंट में फ्रांस से 'ट्यूनिसिया,

ज बूती, कोर्सिका, नीस, सेवाय' वापिस लेने के नारे लगने लगे। स्पेन में फ्रान्को की विजय से पश्चिमी भूमध्य सागर में इटली-विरोधी गुट बन जाने का मुसोलिनी का भय मिट गया और फ्रांस के विरुद्ध पश्चिम में एक मित्र भी मिल गया। परन्तु रोम के नये सीजर मुसोलिनी को स्पेनिश युद्ध से कुछ घाटा भी हुआ। फासिज्म को स्पेन में विजय तो मिली, पर इटली को कुछ भी प्रादेशिक लाभ नहीं हुए। इटालियन साम्राज्य में एक वर्गमील की भी वृद्धि नहीं हुई जबकि इस युद्ध में उसके एबीसीनिया से भी अधिक इटालियन सिपाही मारे गये। इसके अतिरिक्त फ्रान्को पर डूचे (मुसोलिनी) से अधिक प्रभाव फ्यूरर (हिटलर) का ही था। इन सब परिणामों को देखकर मुसोलिनी शांत नहीं बैठ सकता था क्योंकि इसका असर उसकी तानाशाही पर भी पड़ सकता था। इसलिए इस घाटे की पूर्ति उसने दूसरी तरह से करने की सोची। राष्ट्रसंघ की निर्बलता और लन्दन-पेरिस की दब्बू नीति का परिचय पाकर उसने अप्रेल १६३६ में आक्रमण द्वारा अल्बानिया को अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया।

(७) इटली द्वारा आस्ट्रिया का परित्याग (Austria deserted by Italy)— इटली द्वारा स्पेनिश गृह-युद्ध में हस्तक्षेप के साथ ही पश्चिमी राज्यों के साथ उसके मैत्री-सम्बन्धों का टूटना शुरू हो गया। अतः, आत्म-रक्षा के दृष्टिकोण से इटली को आस्ट्रिया के बारे में जर्मन-मांग का समर्थन और इस प्रकार आस्ट्रिया के संरक्षण का परित्याग करना पड़ा। फिर भी ब्रिटेन की मैत्री पाने के लिये इटली के प्रयास जारी रहे और ब्रिटेन भी इटली को एकदम असन्तुष्ट कर देने वाली कार्यवाहियों से बचने का प्रयास करता रहा।

उपरोक्त प्रयासों के फलस्वरूप २ जनवरी १६३७ को **"आंग्ल-इटालियन शरीफाना समझौता"** (**Anglo-Italian Gentlemen's Agreement**) सम्पन्न हुआ। इस समझौते में दोनों देशों ने स्पेन की तटस्थता और अखंडता को स्वीकार किया तथा भूमध्यसागरीय क्षेत्र में "पारस्परिक अधिकारों एवं स्वार्थों को मानने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त पारस्परिक अच्छे सम्बन्धों को क्षति पहुंचाने वाले कार्यों को रोकने के निमित्त अपनी श्रेष्ठतम चेष्टाओं को प्रयुक्त करना स्वीकार किया। इसी मास दोनों राष्ट्रों के मध्य अपने-अपने पूर्वी अफ्रीकन उपनिवेशों में कतिपय जातियों के चरागाहों और पानी देने के अधिकारों के सम्बन्ध में तथा ब्रिटिश सुमालीलैण्ड में इटली के औपनिवेशिक अधिकारों पर मतैक्य स्थापित हो गया।

उपरोक्त मैत्री सम्बन्धों के कुछ समय बाद ही अपनी लीबिया यात्रा में मुसोलिनी ने मुसलमानों के साथ मित्रता का हाथ बढ़ाते हुए १६ मार्च १६३७ को उनके संरक्षक होने की घोषणा की। यह अरब देशों में ब्रिटिश एवं फ्रेंच

प्रभुता को खुली चुनोती थी। इसके बाद ही इटली ने उत्तरी अफ्रीका, मिश्र, फिलस्तीन और सीरिया से ब्रिटेन तथा फ्रांस के विरुद्ध विष-वमन करना शुरू कर दिया।

२३ सितम्बर १९३७ को मुसोलिनी ने बर्लिन यात्रा की और जर्मनी की विशाल सैनिक तैयारियों को देखकर भावी युद्ध में जर्मनी की विजय के प्रति अपने आपको आश्वस्त किया। ६ नवम्बर १९३७ को उसने **टोकियो-बर्लिन एण्टीकोमिण्टर्न पैक्ट (Tokyo–Berlin Anti-Comintern Pact)** पर हस्ताक्षर किये और ११ दिसम्बर १९३७ को वह राष्ट्रसंघ से पृथक हो गया। उसने ये सारे कार्य जर्मनी से अपने मैत्री-सम्बन्धों को और भी दृढ़ करने की दृष्टि से किये। ७ जनवरी १९३८ को इटली ने अपनी नौ-सेना बढ़ाने के विशाल आयोजन की घोषणा कर के इंगलैण्ड को चिन्तित कर दिया। इसी मध्य हिटलर ने १९३८ में आस्ट्रिया पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया और मुसोलिनी का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को हड़पने में मुसोलिनी ने हिटलर का विरोध नहीं किया क्योंकि वह इस समय स्पेनिश गृह-युद्ध में बुरी तरह उलझा हुआ था। इसके अतिरिक्त हिटलर ने मुसोलिनी को इन शब्दों में आश्वासन दिया कि—**"यदि उसे (मुसोलिनी को) किसी भी सहायता की आवश्यकता हो अथवा उसे कभी कोई खतरा हो तो उसे यह विश्वास करना चाहिये कि मैं उसका साथ दूंगा चाहे इसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो और चाहे सारा संसार ही उसके विरुद्ध क्यों न खड़ा हो जाय।"** और तब मुसोलिनी ने जर्मनी एवं आस्ट्रिया के सम्मेलन को स्वीकार कर लिया।

परन्तु इटली में इसकी उग्र प्रतिक्रियायें हुई। स्वतंत्र आस्ट्रिया का अस्तित्व इटली की सुरक्षा और उसके हितों की दृष्टि से आवश्यक था। इटलीवासियों को भय था कि आस्ट्रिया और जर्मनी का संयुक्तिकरण जर्मनी को अधिक शक्तिशाली बना देगा और इटली के दक्षिणी टिरोल के जर्मन लोग जर्मनी के साथ संयुक्त होने का आन्दोलन छेड़ देंगे। इसके अतिरिक्त इटालियनों में मुसोलिनी की आस्ट्रियन नीति के विरुद्ध इसलिये भी प्रतिक्रिया हुई कि आस्ट्रिया का चांसलर Schuschnigg इटली-वासियों में बड़ा लोकप्रिय था और मुसोलिनी ने उसका परित्याग कर दिया था। इटलीवासियों को संतुष्ट करने के लिये मुसोलिनी ने हिटलर से प्रार्थना की कि Schuschnigg को क्षमा कर दिया जाये और उसे आस्ट्रिया त्यागने की अनुमति दे दी जाय। मुसोलिनी की यह प्रार्थना मान ली गई। इटालियनों को चिन्तामुक्त करने के लिये १६ अप्रेल १९३८ को मुसोलिनी ने ब्रिटेन के साथ **"सियानोपर्थ समझौता" (Ciano Perth Agreement)** सम्पन्न किया। इस समझौते के

अनुसार ब्रिटेन द्वारा इटली की एबीसीनिया विजय को मान्यता प्रदान कर दी गई और इटली ने "गृह-युद्ध की समाप्ति के पश्चात्" स्पेन से अपने स्वयं-सेवकों को हटा लेना स्वीकार किया। वास्तव में "एक तरफ तो यह समझौता फासीवाद के प्रति ब्रिटिश तुष्टिकरण की अभिव्यक्ति था तो दूसरी ओर आस्ट्रिया-जर्मनी संयुक्तिकरण के उत्तर में जर्मन विरोधी चाल के रूप में इसकी मुसोलिनी की ओर से व्याख्या हुई। लेकिन इतना होने पर भी इटली-जर्मनी सम्बन्धों में तब काफी सुधार हुआ जब मुसोलिनी के निमत्रण पर हिटलर ने रोम-यात्रा की।

इस समय चैम्बरलेन इटली को संतुष्ट करने तथा उसे हिटलर से पृथक रखने के लिये बड़ा व्यग्र और आतुर था। परिणामस्वरूप १६ नवम्बर १९३८ को ऐंग्लो इटालियन पेक्ट संपुष्ट एवं क्रियान्वित किया गया। वस्तुतः यह समझौता १६ अप्रेल को ही हो चुका था (सियानो-पर्थ समझौता)। इस समझौते को "स्पेनिश गृहयुद्ध की समाप्ति के पश्चात्" क्रियान्वित होना था परन्तु बाद में इसकी समाप्ति (२८ मार्च १९३९) से पहले ही इसे १६ नवम्बर १९३८ से लागू कर दिया गया।

(८) इटली और जर्मनी के मध्य १९३९ का समझौता (Pact of 1939 between Italy and Germany) :—हिटलर ने अपनी रोम-यात्रा के समय मुसोलिनी के समक्ष यह प्रस्ताव रखा था कि एण्टी-कोमिण्टर्न पेक्ट को एक पूर्ण सैनिक समझौते का रूप दे दिया जाये। उस समय तो इटली इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ, क्योंकि उसके देशवासी ऐसे समझौते के पक्ष में न थे। लेकिन बाद में परिस्थितियोंवश उसने इस प्रस्ताव को मान लेने का निर्णय ले लिया। इसका प्रथम कारण तो फ्रांस और जर्मनी के मध्य एक सैनिक-समझौता सम्पन्न किये जाने की चर्चा था और दूसरे, फ्रांस तथा इटली के मध्य वैमनस्य भी बढ़ता जा रहा था क्योंकि इटालियन संसद में फ्रांस से कोर्सिका और ट्यूनीसिया वापिस लेने की जोरदार मांग की जाने लगी थी।

उपरोक्त परिस्थितियों में मुसोलिनी ने इसी में कुशलता समझी कि जर्मनी की विपुल सैनिक शक्ति का भरोसा करते हुये इटली के भाग्य को उसके साथ जोड़ दिया जाय। फलतः २२ मई १९३९ को इटली और जर्मनी के मध्य एक राजनीतिक तथा सैनिक समझौता सम्पन्न हुआ जो **"फौलादी समझौता"** (Steel Pact) के नाम से विख्यात है। इस समझौते के अनुसार दोनों ही देशों ने पारस्परिक विचार-विमर्श, सामान्य-हितों की रक्षा, पारस्परिक राजनीतिक एवं कूटनीतिक समर्थन, सैनिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में सहयोग, एक पक्ष के किसी अन्य देश से "युद्ध के अनुरूप कठिनाइयों" में फंसने पर पारस्परिक सैनिक सहायता आदि का दृढ़ निश्चय किया गया। समझौते में यह भी

तय किया गया कि हंगरी, जापान और मांचुको के साथ मित्रवत् सम्बन्ध रखे जायेंगे। एक गुप्त उपसंधि में उन्होंने प्रचारार्थ विशेषज्ञों के आदान-प्रदान की स्वीकृति भी दी। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस समझौते पर इटली की इस जानकारी के बावजूद हस्ताक्षर हुये कि हिटलर स्टालिन के साथ वार्ता कर रहा है।

जर्मनी के साथ "फौलादी समझौता" (Steel Pact) कर लेने पर भी इटली सुरक्षात्मक दृष्टि से जर्मनी की अपेक्षा कमजोर ही रहा; क्योंकि प्रथम तो उसकी भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की थी कि जर्मनी की अपेक्षा फ्रांस और इंगलैण्ड उस पर अधिक सरलता से आक्रमण कर सकते थे और दूसरे वह जर्मनी की अपेक्षा सैन्य बल में निर्बल भी था

(९) द्वितीय विश्वयुद्ध : इटली और जर्मनी (Second World War : Italy and Germany)—जर्मनी के साथ सैनिक समझौता सम्पन्न हो जाने पर भी, पोलैण्ड का प्रश्न मुसोलिनी को चिन्तित करता रहा। वह यह भली-भांति जानता था कि इटली में चार साल तक भी युद्ध जारी रखने की क्षमता न थी और पश्चिमी यूरोप पोलैण्ड के बारे में जर्मनी की मांग से सहमत होने वाला न था। इसीलिये उसने युद्ध का समर्थक होते हुये भी पोलैण्ड के मामले में शांतिपूर्ण समझौते का प्रयास किया, यद्यपि दम्भपूर्वक वह कहता ही रहा कि यदि जर्मनी "अर्द्ध रात्रि में" युद्ध के लिये तैयार होगा तो इटली "बारह बजने में पांच मिनट पहले" ऐसा कर लेगा।

मुसोलिनी ने अपनी वास्तविक शक्ति आंकते हुये, हिटलर को पोलैण्ड पर आक्रमण करने से रोकने का असफल प्रयत्न किया। हिटलर ने अपने पक्ष में कहा कि पश्चिमी यूरोप सैन्य शक्ति की दृष्टि से दुर्बल है, अतः पोलैण्ड के मामले में वह निष्क्रियता एवं उदासीनता का परिचय देगा और इस तरह पोलैण्ड के विरुद्ध युद्ध सीमित ही रहेगा। इसी मध्य २४ अगस्त १९३९ को रूसी जर्मन अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर हो गये और उसके ठीक एक दिन बाद २५ अगस्त को हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। २५ अगस्त को ही एंग्लो-पोलिश समझौता भी सम्पन्न हुआ, अतः इन परि-स्थितियों में मुसोलिनी ने हिटलर को सूचित किया कि यदि जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण करेगा और यह संघर्ष स्थानीय ही बना रहेगा तभी इटली जर्मनी को सहायता देगा, किन्तु यदि मित्र राष्ट्रों ने पोलैण्ड का पक्ष लेते हुये जर्मनी पर प्रत्याक्रमण किया तो इटली तटस्थ रहेगा। मुसोलिनी की इस बात के कारण हिटलर को उस समय पोलैण्ड पर आक्रमण स्थगित करना पड़ा। २६ अगस्त को मुसोलिनी ने हिटलर को पोलैण्ड पर आक्रमण करने से रोकने का पुनः प्रयास किया। इस बात से हिटलर बड़ा क्षुब्ध एवं क्रोधित

हुआ किन्तु फिर भी इटली की अहस्तक्षेप की नीति को स्वीकार करते हुये उसने इटली से औद्योगिक एवं कृषि मजदूरों की पूर्ति करने की प्रार्थना की।

मुसोलिनी द्वारा बारम्बार रोके जाने के बावजूद भी हिटलर ने १ सितम्बर १९३९ को युद्ध छेड़ दिया तो फौलाद समझौते और सब प्रेक्षकों की आशाओं के विपरीत इटली इस युद्ध में जर्मनी की ओर से सम्मिलित नहीं हुआ। इसके विपरीत २ सितम्बर को मुसोलिनी ने हिटलर को सूचना दी कि यदि जर्मनी पोलैण्ड के आक्रमण को स्थगित कर देगा तो पश्चिमी यूरोप जर्मनी के साथ बातचीत के लिये तैयार हो जायेंगे। इधर तुष्टिकरण की नीति में असफल होने पर ब्रिटेन और फ्रांस ने भी घोषणा कर दी कि यदि जर्मन फौजें पोलैण्ड के मोर्चों से हटा ली जायेंगी तो वे इटली की मध्यस्थता स्वीकार कर लेंगे, अन्यथा पोलैण्ड की रक्षा के लिये उन्हें आगे आना होगा। हिटलर द्वारा यह प्रस्ताव ठुकरा दिये जाने पर ३ सितम्बर १९३९ को ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

हिटलर की इस कार्यवाही से मुसोलिनी बड़ा चिन्तित हो गया। पोलैण्ड में जर्मनी की सफलता ने, जर्मनी के रूस के साथ समझौते, और रूस के फिनलैण्ड पर आक्रमण आदि सब घटनाओं ने मुसोलिनी को परेशानी में डाल दिया। उधर जर्मनी मुसोलिनी से इसलिये क्षुब्ध हो गया कि इटली द्वारा उसे सहयोग नहीं मिल रहा था। दक्षिणी टिरोल के प्रश्न पर इटली-जर्मनी सम्बन्धों में और भी तनाव आ गया क्योंकि टिरोल के जर्मन लोग जर्मनी के साथ संयुक्त होने के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त पोलैण्ड में जर्मनी की निर्दयता ने इटालियनों में घृणा पैदा कर दी और दूसरी तरफ हिटलर की नाराजगी इस बात से और बढ़ गयी कि पोलैण्ड में इटली का राजदूतावास अभी तक बन्द नहीं किया गया था। इन सब बातों के कारण, सैनिक समझौता होने के बावजूद, युद्ध की प्रारम्भिक स्थिति में इटली और जर्मनी के पारस्परिक सम्बन्ध मधुर नहीं रहे।

युद्ध में जर्मनी की प्रारम्भिक सफलताओं को देखकर इटली ने अपनी परम्परागत शृगाल नीति से युद्ध के परिणामों को देखने और तटस्थ रहते हुये जर्मनी को अधिकतम सहायता पहुंचाने का निश्चय किया। वह युद्ध में कूदने के लिये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगा क्योंकि उसके लिये मित्र राष्ट्रों पर उस समय तक हमला करना ठीक न था जब तक उनमें भी इटली पर प्रत्याक्रमण करने की क्षमता विद्यमान हो और साथ ही उस समय आक्रमण करना बहुत विलम्ब से था जबकि जर्मनी मित्र राष्ट्रों को जीत चुका हो। वास्तव में इटली की दृष्टि में आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर और शुभ समय वही था जबकि मित्र राष्ट्रों की पराजय लगभग निश्चित हो चुकी हो

किन्तु उन्होंने आत्मसमर्पण न किया हो।[1] ऐसे समय में पहले से ही मरे को मार कर विजेता होने की वाहवाही सरलता से प्राप्त की जा सकती थी और साथ ही लूट के माल में हिस्सा बटाने का दावा भी किया जा सकता था।

आखिर मुसोलिनी की दृष्टि में उपयुक्त अवसर आ ही गया। हिटलर द्वारा फ्रांस को लगभग पूरी तरह पछाड़ देने के बाद ११ जून १९४० को बारह बजे मुसोलिनी ने युद्ध में सम्मिलित होने की शुभ घड़ी समझी। इस अवसर पर एक हर्षोन्मत्त जनसमुदाय को सम्बोधित करते हुए डूचे (Duce) ने कहा—"**भाग्य द्वारा निश्चित की गयी घड़ी आ पहुंची है, हम अपने को समुद्र में बांधने वाली प्रादेशिक तथा सैनिक शृंखलाओं को तोड़ना चाहते हैं, हम अवश्य विजयी होंगे ताकि इटली में, यूरोप में और सम्पूर्ण विश्व में एक न्यायपूर्ण शान्ति की स्थापना हो सके।**" अब मुसोलिनी जर्मनी की ओर से पूरी तरह युद्ध में कूद पड़ा। जब २२ जून १९४१ को हिटलर ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तो मुसोलिनी ने साथ दिया और जब उसी वर्ष दिसम्बर में जापान ने पर्ल हारबर पर बमवर्षा की तो मुसोलिनी ने संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। इस प्रकार रोम-बर्लिन-टोकियो (Italy, Germany, Japan) पूर्ण सहयोग के साथ मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध जूझने लगे। १९४२ से युद्ध में मोड़ आया और जर्मन सेनाएं पराजित होने लगीं। जून १९४३ में मित्रराष्ट्रों ने सिसिली तथा रोम पर बमवर्षा की। २४ जुलाई १९४३ को फासिस्ट ग्रान्ड समिति ने मुसोलिनी के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया। २५ जुलाई को मुसोलिनी को अपदस्त कर बन्दी बना लिया गया तथा मार्शल पीट्रो बादोलियो (Marshal Badoglio) प्रधान मंत्री बना। बादोलियो ने एक ओर जर्मनी से इटली की रक्षा का अनुरोध किया और दूसरी ओर एक गुप्त वार्ता द्वारा ३ सितम्बर को मित्रराष्ट्रों से एक अस्थायी संधि कर ली। १२ सितम्बर को मुसोलिनी एक नाजी हवाई छतरी दस्ते द्वारा मुक्त करा लिया गया और १८ सितम्बर को उत्तरी इटली के सालो (Salo) में एक फासीवादी रिपब्लिकन सरकार की स्थापना हुई। इटली का राजा और मार्शल बादोलियो दक्षिण की ओर भाग गये। १३ अक्टूबर १९४३ को राजा और बादोलियो ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ब्रिटेन तथा अमेरिका ने उनकी "सहयुद्धरत" (Co-belligerents) कहकर प्रशंसा की। ४ जून १९४४ को मित्रराष्ट्रीय फौजों ने रोम पर कब्जा कर लिया। शीघ्र ही मित्रराष्ट्रीय सेनाएं पो नदी की घाटी में पहुंच गयी और इटली को अपनी शोचनीय हार का मुख देखना पड़ा। रुष्ट एवं क्रुद्ध स्वदेश-वासियों ने २८ अप्रेल १९४५ को अपने नेता मुसोलिनी (Il Duce) और उसकी प्रेयसी पेताच्ची (Patacci) को गोली से उड़ा दिया।

---

1. *Schuman* : International Politics, page 549.

युद्ध के पश्चात् इटली में प्रजातांत्रिक सरकार की स्थापना की गयी। जून १९४६ में एक जनमत संग्रह द्वारा इटलीवासियों ने राजतंत्र को समाप्त कर एक गणतंत्र की स्थापना का निश्चय किया। १० जून १९४६ को इटली एक गणतंत्र बन गया।

EXERCISES

1. Account for and trace the growth of Fascism in Italy.
   इटली में फासिज्म के प्रारम्भ और प्रगति के कारण बताइये।

2. Describe the reasons which led to the rise of Fascists in Italy and explain the circumstances which led to the Italo-Abyssinian War
   उन कारणों का वर्णन कीजिये जिनके परिणामस्वरूप इटली में फासिस्ट-वादियों का अभ्युदय हुआ तथा उन परिस्थितियों की विवेचना कीजिये जिनके कारण इटली-एबीसीनिया युद्ध हुआ।

3. Give a critical account of the foreign policy of Italy between the two World Wars.
   दो महायुद्धों के मध्य की इटली की विदेश नीति की आलोचनात्मक विवरण दीजिये।

4. Give a critical analysis of the development of Rome-Berlin Axis from 1933 to 1935.
   १९३३ से १९३५ तक होने वाले रोम-बर्लिन-धुरी के निकास का आलो-चनात्मक विश्लेषण दीजिये।

5. Give a brief history of the Italian Conquest of Abyssinia. What were its results ?
   इटली की एबीसीनिया विजय के संक्षिप्त इतिहास का उल्लेख कीजिये। इसके क्या परिणाम हुये ?

6. How do you account for the aggressive designs of the Fascist powers leading to the Second World War ? How far were the democracies responsible for them ?
   आप फासिस्ट शक्तियों के आक्रामक साधनों को द्वितीय विश्व-युद्ध के लिये किस तरह उत्तरदायी समझते हैं ? इन आक्रामक रुखों को प्रोत्सा-हित करने में प्रजातंत्रात्मक राज्य कहां तक उत्तरदायी थे ?

7. Comment—"The Spanish Civil War of 1936 was a trial baloon of international power politics"
   "१९३६ के स्पेन का गृह–युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों की राजनीति का एक परीक्षण था।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।

8. Analyse the causes of the Spanish Civil War. Why it has been regarded as an *event of international significance ?*
स्पेन के गृह–युद्ध के कारणों का विश्लेषण कीजिये। इसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की घटना क्यों माना गया है ?

9. Trace Fascist Italy's relation with Germany.
जर्मनी के साथ फासिस्ट इटली के सम्बन्ध बताइये।

10. *Discuss the factors that* influence Italy's foreign policy during the decade following the First World War.
उन कारणों की विवेचना कीजिये जिन्होंने प्रथम विश्व युद्ध के बाद की दशाब्दी में इटली की विदेशनीति को प्रभावित किया।

11. Trace Franco-Italian relation from 1919 to 1945.
१६१६ से १६४५ तक के फ्रैंच-इटली सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये।

12. Trace Italo-Yugoslav relation between the two World Wars.
दो–विश्व युद्धों के मध्य के इटली-यूगोस्लाविया सम्बन्धों को बताइये।

13. "The enmity of Yugoslavia for Italy was one of the most persistent of all European feuds in the period between the *two wars.*" Comment.
इटली के लिये यूगोस्लाविया की शत्रुता दो महायुद्धों के बीच की अवधि में यूरोप के सर्वाधिक चिरस्थायी संघर्षों में से एक की विवेचना कीजिये।

14. "In the longer perspective of history the event which will probably be regarded as that of greatest international importance in the recent history of Italy will be the establishment of the Fascist regime in October, 1922." Discuss.
"इतिहास के व्यापक दृष्टिकोण से इटली के हाल के इतिहास में अक्टूबर १६२२ में फासिस्ट शासन की स्थापना को सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की घटना कहा जा सकता है।" विवेचना कीजिये।

15. "The Spanish Civil War assumed many aspects of European Civil War fought on Spanish territory." Comment.
"स्पेनिश गृह-युद्ध यद्यपि स्पेन की भूमि पर हुआ था तथापि उसने यूरोपीय गृह-युद्ध के कई लक्षण धारण कर लिये थे।" विवेचना कीजिए।

16. 'The Spanish Civil War caused anxieties in the other states of Europe." Discuss the attitude of Great Britain, France, Italy, Germany and the Soviet Union.
"स्पेन के गृह युद्ध ने यूरोप के अन्य राज्यों में चिन्ता व दिलचस्पी उत्पन्न कर दी।" ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी और रूस के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिये।

17. Write a detailed note on the "Non-Intervention Agreement."
"हस्तक्षेप समझौते" पर विस्तृत टिप्पणी लिखिये।

अध्याय—७

नाजी जर्मनी का उदय; जर्मनी की विदेश-नीति

[RISE OF NAZI GERMANY; THE FOREIGN POLICY OF GERMANY]

"एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में जर्मन शक्ति के पुनरूज्जीवन का अकेला तथ्य न केवल इस समय के यूरोपियन इतिहास पर अपितु कुछ अंशों में समूचे विश्व के इतिहास पर हावी रहा है।"

—हार्डी

"जर्मन सीमाएं अवसर का परिणाम या प्रतिफल हैं और केवल ऐसी अस्थायी सीमाएं हैं जो विभिन्न समयों में होने वाले राजनीतिक संघर्षों के फलस्वरूप स्थापित हुई हैं.........राज्य की सीमाएं मनुष्यों द्वारा स्थापित की जाती हैं और उन्हीं के द्वारा बदली भी जा सकती हैं"।

—हिटलर

पृष्ठभूमि-वाइमर गणराज्य की नीति

प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी के होहेन-जोलर्न राजवंश के साथ ही साथ राजतन्त्र का भी अवसान हो गया और प्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली की स्थापना की गयी। राजतन्त्र विरोधी विद्रोह के परिणामस्वरूप जर्मन सम्राट कैसर ने सिंहासन त्याग कर (६ नवम्बर १६१८) परिवार सहित होलैण्ड में शरण ली और हर एवर्ट (Herr Ebert) के नेतृत्व में जर्मनी में गणतन्त्र की घोषणा की गयी। १६ जनवरी १६१६ को जर्मन लोकसभा के चुनाव हुए और ६ फरवरी को वाइमर (Weimar) नगर में एवर्ट ने असेम्बली को आहूत किया। एवर्ट को जर्मन प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति चुना गया और उसने शीडमैन (Scheidemann) को चान्सलर नियुक्त किया। शीडमैन ने अपने मन्त्रीमण्डल की रचना बहुमत वाले समाजवादी दल, सैन्टर और डेमोक्रेटिक दलों की सहायता से की। यह मिला-जुला मन्त्रीमण्डल 'वाइमर कोएलिशन' (Weimar Coalition) के नाम से प्रख्यात हुआ।

नवनिर्वाचित संविधान सभा ने वाइमर नगर में एक नवीन गण-तांत्रिक संविधान की रचना का कार्य प्रारम्भ किया जो ३१ जुलाई १९१९ को पूरा हो गया। ११ अगस्त १९१९ को इस नवीन संविधान का, जो वाइमर संविधान के नाम से विख्यात है, समारम्भ हुआ। इस संविधान द्वारा जर्मनी में एक संघात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी, व्यवस्थापिका के दो सदनों की व्याख्या की गयी और उसके निर्वाचन के लिए सानुपातिक प्रतिनिधित्व (*Proportional Representation*) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इस संविधान में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और स्वीट्जरलैण्ड की राजनीतिक पद्धतियों के अनेक तत्व लिए गये लेकिन अपने १५ वर्ष के जीवन में यह बड़ा अप्रिय और दुर्भाग्यग्रस्त रहा और इसकी विफलताओं ने हिटलर के उत्कर्ष में बड़ा योग दिया। पेग (**Carl H. Pegg**) के कथनानुसार—

"वाइमर-संविधान अपने उत्तम मूल अधिकारों की सूची के साथ जर्मन जनता के लिये आवश्यकता से अधिक जनतांत्रिक था और यही तथ्य उसकी असफलता के मूल कारणों में एक बन गया। संविधान की रचना के बहुत पहले से ही यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि जर्मनी के जनतन्त्रीकरण के सम्बन्ध में कोई प्रयास नहीं हुआ है। राज्य के यन्त्र के संचालन का उत्तर-दायित्व उन्हीं लोगों के हाथ में था जो प्राचीन साम्राज्य से सम्बद्ध थे। सेना, न्यायपालिका और यहां तक शिक्षालयों में गणतन्त्रीकरण के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया। राष्ट्रीय जीवन की संगठित शक्तियों में लगभग सभी शक्तियां गणतांत्रिक शासन को विरोधी थीं। जर्मन जाति की वह बहुसंख्या जो वास्तविक प्रभाव डालने की क्षमता रखती थी, वह मानती थी कि प्रजा-तन्त्र की अपेक्षा प्रशा का निरंकुशवाद कहीं ज्यादा अच्छा है। वास्तव में, आदि से अन्त तक तथाकथित गणतान्त्रिक पद्धति आन्तरिक जीवन से शून्य एक खाली छिलके से कुछ ही अधिक थी।"[1]

---

1. "The Weimar Constitution with its excellent bill of rights, was far too democratic for the German people and therein lay one of the reasons for its failure. Long before the constitution was completed, it was perfectly clear that no real effort was being made, or was likely to be made, to democratic Germany. The machinery of state remained solidly in the hands of the men of the old empire. No real effort was made to republicanise the army, the judiciary or even the schools. Nearly every organised force in the nation's life was hostile to a republican regime. The vast

नवीन गणतन्त्र की स्थापना के बाद जर्मनी के समक्ष सबसे मुख्य प्रश्न शान्ति की शर्तों को स्वीकार करने का उपस्थित हुआ। मई १९१९ में जर्मन राष्ट्रीय महासभा की एक बैठक में सभी दलों ने वर्साय की संधि में सन्निहित शर्तों की निन्दा की। जून में मित्रराष्ट्रों द्वारा इन शर्तों को मंजूर करने के बारे में जर्मनी को एक अल्टीमेटम दिया गया। शीडमैन शर्तों को मंजूर करने में असमर्थ था, अतः उसने त्यागपत्र दे दिया। अब गुस्टाव बेवर (Gustav Baver) चान्सलर बना। २३ जून को असेम्बली ने संधि की शर्तें स्वीकार कर लीं और २८ जून १९१९ को जर्मनी द्वारा संधि पर हस्ताक्षर कर दिये गये। इस प्रकार वाइमर गणतन्त्र का वर्साय की अपमान-जनक संधि और मित्र-राष्ट्रों के सम्मुख कायरतापूर्ण आत्म-समर्पण के साथ समारम्भ हुआ और गणतन्त्र के नेताओं को गद्दार कहा जाने लगा। कार (Carr) के शब्दों में **"वाइमर गणतन्त्र का प्रारम्भ बहुत ही निराशाजनक परिस्थितियों में हुआ। उसे चारों ओर अव्यवस्था, असंगठन और अकिंचनता का सामना करना पड़ा। उसका पहला कार्य वर्साय की संधि का अनुसमर्थन करना था। इस कारण जर्मन जनता के मन में उसका नाम राष्ट्रीय अपमान के साथ जुड़ गया।"**[1] आर्थिक रूप से पंगु, राजनीतिक रूप से जाति-बहिष्कृत, सैनिक रूप से पराजित, राष्ट्रीय रूप से अपमानित और शारीरिक रूप से क्लांत जर्मनी की जनता का १९२० में एक ही नारा बन गया— "वर्साय का अन्त हो।"

वाइमर गणराज्य की विदेश नीतिः—उपरोक्त परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था कि वाइमर गणराज्य की विदेश नीति का प्रधान लक्ष्य जर्मनी

---

majority of Germans who were capable of exerting real influence were convinced that Prussianism was superior to democracy. Indeed, from beginning to the end, the so-called republican system was little more than an empty shell devoid of inward life."

—*Carl H. Pegg* : Contemporary Europe in World Focus, page 43.

1. "The Weimar Republic started life in the most discouraging conditions. It was faced everywhere with disorder, disorganization and destitution. Its first task was to ratify the Versailles Treaty and its name was thus associated in German minds with a national disgrace."

—*E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, page 44.

को पुनः सभ्य राष्ट्रों की पंक्ति में बिठाना और वर्साय की संधि के घावों की मरहम–पट्टी करना हो। वर्साय संधि द्वारा अपनी प्रभुसत्ता पर लगायी गयी सीमाओं से मुक्ति पाकर ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने युद्ध-पूर्व के प्रभाव और शक्ति को पुनः प्राप्त कर सकता था। इसलिए गणराज्य ने विशेषतः अपने सम्मुख निम्नलिखित उद्देश्यों को प्रधानता दी—

(१) क्षतिपूर्ति की राशि को कम करना और अन्ततः उसे समाप्त करा देना।

(२) जर्मन प्रदेश से विदेशी सेनाओं के आधिपत्य को समाप्त कराना।

(३) मित्र राष्ट्रीय नियंत्रण-आयोग को समाप्त कराना।

(४) सैनिक एवं नौ-सैनिक विषयों में अपनी स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करना।

(५) राइन प्रदेश के सैन्यीकरण और उसकी रक्षा करने के अपने अधिकार को पुनर्जीवित करना।

(६) विदेशों में जर्मन अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा की प्रभावशाली व्यवस्था करना।

(७) जर्मनी-सीमाओं का पुनर्निर्धारण कराना ताकि डैन्जिग एवं पोलिश-गलियारे पर जर्मनी का पुनः आधिपत्य हो सके और अपर साइलेशिया का भी राष्ट्रीयता के आधार पर अधिक उचित निर्धारण किया जा सके।

(८) अपने उपरोक्त एवं अन्य कार्यों द्वारा जर्मनी को विश्व की महान् शक्तियों में पुनः एक सम्मानित एवं समान स्थान प्राप्त कराना।

संक्षेप में, लैंगसम (Langsam) के शब्दों में कहा जा सकता है कि "१९१९ से १९३२ तक जर्मन कूटनीति का प्रधान लक्ष्य यह था कि पितृ-भूमि के लिए राष्ट्रों के परिवार में अच्छी प्रतिष्ठा वाले एक सदस्य के रूप में पुनः प्रवेश प्राप्त कर लिया जाय।"

उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जर्मनी को शक्तिशाली राष्ट्रों का सहयोग अपेक्षित था। परन्तु जर्मन राजनीतिज्ञ इस प्रश्न पर एकमत न थे कि किन राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उस समय दो विचारधाराएं विद्यमान थीं—(१) **पूर्वाभिमुखी विचारधारा** के व्यक्ति उस समय जर्मनी की तरह ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अछूत समझे जाने वाले साम्यवादी रूस के साथ सहयोग के पक्षपाती थे, एवं (२) **पश्चिमाभिमुखी विचारधारा** वाले राजनीतिज्ञ अपने भूतपूर्व पश्चिमी शत्रुओं—फ्रांस और ब्रिटेन के साथ समझौते व सहयोग को श्रेयस्कर समझते थे।

आरम्भ में पहले पक्ष की अर्थात् **पूर्वाभिमुखी नीति के** समर्थकों की विजय हुई। लिप्सन (Lipson) के अनुसार वाइमर गणतंत्र के प्रारम्भिक वर्षों में "जर्मनी ने अपने को राष्ट्रों के बीच एक बहिष्कृत और नैतिक अपाहिज व्यक्ति महसूस किया" जिसे पेरिस शान्ति-सम्मेलन में अपमानित किया गया और राष्ट्रसंघ की सदस्यता के अयोग्य समझा गया। यही नहीं, २० मार्च १९२० के जनमत संग्रह में अपर साइलीशिया की जनता के बहुमत द्वारा जर्मनी के पक्ष में मतदान करने पर भी अपर साइलीशिया का जर्मनी और पोलैण्ड के मध्य विभाजन कर दिया गया। इन कारणों से जर्मन जनता पश्चिमी राष्ट्रों से और भी अधिक क्षुब्ध होकर साम्यवादी रूस की ओर उन्मुख हुई जो स्वयं पश्चिमी शक्तियों द्वारा बहिष्कृत होने से मित्रों की तलाश में था। दोनों पक्षों की इस मानसिक पृष्ठभूमि ने दोनों को एक दूसरे के प्रति मैत्री की दिशा में आगे बढ़ाया, परिणामस्वरूप अप्रेल १९२२ में दोनों देशों के मध्य रैपेलो (Rapallo) संधि सम्पन्न हुई। इस संधि के द्वारा जर्मनी ने रूस की साम्यवादी सरकार को वैधानिक मान्यता प्रदान की और दोनों देशों ने सभी युद्ध-दावों तथा युद्धपूर्व के ऋणों को रद्द कर दिया।

लेकिन पश्चिम के प्रति इस उपेक्षापूर्ण नीति के कारण जर्मनी अपनी विदेश नीति के तात्कालिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा। इसके अतिरिक्त फ्रांस और बेल्जियम ने जनवरी १९२३ में रूर पर अधिकार करके जर्मनी की पहले से ही लड़खड़ाती दशा को एक और प्रबल आघात पहुंचाया। **इन परिवर्तित परिस्थितियों में पश्चिमाभिमुखी नीति के समर्थकों का प्रभाव बढ़ने लगा।** १९२३ में इस विचारधारा के नेता डा० स्ट्रेसमान (Stressmann) जर्मनी के विदेश मंत्री बन गये। १९२९ तक उसके नेतृत्व में जर्मनी में पश्चिमाभिमुखी नीति की प्रधानता बनी रही। इस नीति के समर्थकों का यह दृढ़ विचार था कि मित्र राष्ट्रों की सहायता और सहयोग से ही जर्मन गणराज्य का उत्थान संभव है, अतः "पूर्तिकरण और शान्तिकरण" की नीति (Policy of Fulfilment and Reconciliation) पर चलना चाहिए।

स्ट्रेसमान ने जिस विदेश नीति का अवलम्बन किया उसके दो मूलभूत उद्देश्य थे—फ्रांस के साथ मैत्री बढ़ाना और जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सम्मानित सदस्य बनाना। फ्रांस को मित्र बनाने के लिए उसने बारम्बार उसे पश्चिमी सीमा की सुरक्षा की गारंटी संधि करने के लिए कहा। २६ सितम्बर १९२३ को उसने रूर आधिपत्य के विरुद्ध अपनायी गयी "निष्क्रिय प्रतिरोध" की नीति का परित्याग करते हुए मित्रराष्ट्रों से जर्मनी की क्षतिपूर्ति की अदायगी की क्षमता की जांच करने की प्रार्थना की। जर्मनी के इस समझौतावादी रुख

का स्वागत किया गया और क्षतिपूर्ति के प्रश्न की जांच के लिए डावेस समिति की नियुक्ति कर दी गयी। डावेस योजना से जर्मनी को प्राणवायु मिली। एक ओर तो उसकी आर्थिक स्थिरता को दूर करने के लिए प्रयास किये जाने लगे और दूसरी ओर १८ नवम्बर १९२४ तक फ्रांस तथा बेल्जियम ने रूर प्रदेश से अपनी फौजें हटा लीं। फ्रांस को मित्र बनाने के प्रयासों में भी स्ट्रैसमान ने महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक सफलता प्राप्त की। लोकार्नो संधि के द्वारा फ्रांस और जर्मनी ने परस्पर यह वचन दिया कि वे एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे और प्रत्येक को यह अधिकार होगा कि दूसरे पक्ष द्वारा अनुत्तेजित आक्रमण की दशा में वह संधि पर हस्ताक्षर करने वाले ब्रिटेन आदि अन्य राष्ट्रों से सहायता की मांग करे। इस संधि के अन्तर्गत जर्मनी ने फ्रांस और बेल्जियम के साथ मिलने वाली अपनी पश्चिमी सीमाओं को वर्साय की संधि द्वारा निर्धारित रूप में स्वीकार कर लिया और साथ ही अल्सेस-लोरेन पर अपने दावे को छोड़ देने तथा राइन प्रदेश को विसैन्यीकृत क्षेत्र बनाये रखने की बात भी मान ली। वास्तव में लोकार्नो दो महायुद्धों के मध्य के यूरोपियन इतिहास में एक नवीन युग का संदेशवाहक बन गया। कोनराड हीडन (Konrad Heidan) के शब्दों में "तब (लोकार्नो के बाद) यूरोपीय महाद्वीप के दो प्रमुख राष्ट्रों ने, दो बड़े शत्रुओं में शान्ति, समझौते पर आधारित एक गम्भीर ईमानदार शान्ति, की स्थापना का एक प्रयत्न प्रारम्भ हुआ जो लगभग ७ वर्ष तक चलता रहा। जर्मनी के लिए स्ट्रैसमान, फ्रांस के लिए ब्रियां के नाम, अपने मित्रतापूर्ण मध्यस्थ सर चेम्बरलेन के साथ, इस प्रयत्न से बंधे हुए हैं।" १९२६ में तीनों ही नेताओं को सम्मिलित रूप में नोबल शान्ति पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया गया।

स्ट्रैसमान की नीति की अगली सफलता जर्मनी का राष्ट्रसंघ में प्रवेश था। १९२६ में राष्ट्रसंघ का स्थायी सदस्य बन जाने से जर्मनी को न केवल सभ्य एवं सम्मानित राष्ट्रों की पंक्ति में बैठने का अवसर मिला बल्कि उसे और भी अनेक लाभ हुए। सन् १९२७ में मित्रराष्ट्रों के आयोग जर्मनी से हटा लिये गये और इसी वर्ष एक जर्मन प्रतिनिधि स्थायी मैण्डेट आयोग (Permanent Mandates Commission) का सदस्य बना। १९२८ में स्ट्रैसमान के प्रयत्नों से जर्मनी ने युद्ध विरोधी केलॉग ब्रियां पैक्ट पर हस्ताक्षर किये और क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर पुनर्विचार हुआ। इसके परिणामस्वरूप १९२९ में यंग योजना स्वीकार हुई जिसके द्वारा क्षतिपूर्ति की राशि एक बड़ी सीमा तक कम कर दी गयी। अगस्त १९२९ के हेग सम्मेलन में स्ट्रैसमान ने फ्रांस को इस बात के लिए मना लिया कि मित्रराष्ट्रीय सेनाएं सितम्बर १९२९ में अर्थात् निश्चित समय से ५ वर्ष पूर्व ही राइन प्रदेश खाली करना

शुरू कर दें और जून १९३० तक उस प्रदेश से पूरी तरह हट जायं। इस समझौते के फलस्वरूप १९३० में राइन प्रदेश मित्रराष्ट्रों की सेनाओं से मुक्त हो गया।

स्ट्रैसमान की कूटनीतिक सफलताएं जर्मनी के लिए निश्चित रूप से लाभदायक सिद्ध हुई लेकिन जर्मन राष्ट्रवादी अपनी मांगों को तीव्रतर करते गये और इस बात पर बल देने लगे कि जर्मन विदेश नीति उग्र बनायी जाय। इसी समय अक्टूबर १९२९ में स्ट्रैसमान का देहावसान हो गया।

स्ट्रैसमान की मृत्यु के बाद उसकी विदेश नीति को डा० कर्टियस (Curtius) ने जारी रखा, किन्तु उसे शीघ्र ही अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। १९३० की भीषण आर्थिक मन्दी ने जर्मनी पर सर्वाधिक विनाशकारी प्रभाव डाला, अतः वहां उग्र राष्ट्रीयतावादी एवं फासिस्ट तत्वों को बल मिला। ये तत्व पहले से ही शनैः-शनैः प्रबल हो रहे थे क्योंकि पश्चिमी राष्ट्रों के बाद मैत्री की उपरोक्त नीति से जर्मनी की अधिकांश मांगें पूरी नहीं हो पाई थीं। ये मांगें मुख्य रूप से जर्मनी का पूर्वी सीमांत ठीक करना, आस्ट्रिया के साथ एकीकरण, उपनिवेशों की प्राप्ति, युद्ध-अपराध के कलंक का परिमार्जन, शस्त्रीकरण और सैन्यीकरण में अन्य देशों के साथ समानता, क्षतिपूर्ति की राशि का संशोधन आदि के बारे में थीं। वाइमर गणराज्य इन्हें प्राप्त करने में असफल रहा, अतः जनता में उसके प्रति असन्तोष बढ़ता ही गया। यद्यपि ९ जनवरी १९३२ को जर्मन प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा कर दी कि जर्मनी क्षतिपूर्ति के रूप में भविष्य में कोई अदायगी नहीं करेगा, तो भीषण आर्थिक संकट के कारण हिटलर और उसके अनुयायी पश्चिमाभिमुख, नीति को जनता की दृष्टि में असफल सिद्ध करने में सफल हुआ। हिटलर ने जर्मन जनता की सभी मांगों को पूरा करने का आश्वासन दिया, अतः उसे जनता का समर्थन मिला और १९३३ में वाइमर गणतन्त्र की जीवन-लीला को समाप्त करके वह जर्मन राष्ट्र का सर्वेसर्वा और नेता (Fuhrer) बन गया।

जर्मन जनता ने वाइमर गणतन्त्र के राजनीतिज्ञों को वह प्रतिष्ठा न देकर, जितनी उन्हें मिलनी चाहिए थी, गम्भीर भूल की। हिटलर अपनी अदूरदर्शी नीति के फलस्वरूप जर्मनी को एक बार फिर विनाश की गर्त में ले गया जब कि "जर्मन एकता के चतुर शिल्पकार बिस्मार्क के समान स्ट्रैसमान की नीति इस सत्य की दूरदर्शितापूर्ण अनुभूति पर आधारित थी कि जब जर्मनी को, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो जाय, ऐसी नीति का अवलम्बन नहीं करना चाहिए जिससे ब्रिटेन, रूस अथवा अमेरिका से युद्ध करना पड़ जाय।"

हिटलर और नाजी पार्टी का उत्कर्ष

बारह वर्ष तक जर्मनी का भाग्य-विधाता बना रहने वाला एडोल्फ हिटलर नाजी दल का नेता और आस्ट्रिया का नागरिक था। उसका जन्म आस्ट्रिया के ब्रौनो नामक स्थान के चुंगी विभाग के एक सामान्य कर्मचारी के घर २० अप्रेल १८८९ को हुआ। अपनी युवावस्था के प्रारम्भिक दिनों में उसने एक महान् चित्रकार बनने की असफल चेष्टा की। वियना में शाही अकादमी (Imperial Art Acadamy) में प्रवेश न पाने पर उसने घरों में पेन्टर का कार्य करके अपनी आजीविका कमाना शुरू किया। इसी समय उसके भव्य विचार परिपक्व हुए। उसमें साम्यवादियों और यहूदियों के प्रति घोर घृणा के भाव पैदा हुये। जर्मन राष्ट्रीयता तथा जर्मन जाति की श्रेष्ठता व महत्ता का वह पुजारी हो गया और संसदीय शासन-प्रणाली में उसे कोई आस्था न रही।

हिटलर स्वभाव से ही एक शांतिपूर्ण जीवन की अपेक्षा साहस और शौर्य से भरी सैनिक जिन्दगी अच्छी समझता था। अंत: प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर वह जर्मन सेना में भर्ती हुआ। युद्ध में अपनी वीरतापूर्ण कृत्यों के लिये उसने आयरन क्रोस पुरस्कार प्राप्त किया। परन्तु १९१८ में जर्मनी की पराजय मे वह विक्षिप्त सा हो गया। जर्मन जाति की सर्वोच्चता में अगाध निष्ठा रखने वाले इस उग्र देशभक्त ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि युद्ध में अपनी अक्षमता के कारण जर्मन जाति को पराजित होना पड़ा है। उसके मतानुसार इस पराजय का प्रधान कारण साम्यवादियों, समाजवादियों और यहूदियों का देशद्रोह था। युद्ध के बाद होने वाली वर्साय की संधि ने उसके तन-बदन में आग लगा दी और वह अपने हृदय में दो कठोर निश्चय कर बैठा। एक ओर तो राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने के उद्देश्य से उसने जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव को पुनर्जीवित करने तथा वर्साय संधि की कलंक-कालिमा को धोने का दृढ़ संकल्प किया और दूसरी ओर साम्यवादियों व यहूदियों को उनके तथाकथित देशद्रोह का मजा चखाने के लिये वह कृत-संकल्प हो गया।

युद्ध की समाप्ति के बाद १९१८ में म्यूनिख आने पर हिटलर की नियुक्ति गुप्तचर विभाग में हुई। अपने काम के सिलसिले में उसने पता लगाया कि जर्मन श्रम दल के नाम से ६ व्यक्तियों का गुप्त दल काम कर रहा है जिसकी बैठकें म्यूनिख शराबखाने (Beer Hall) के पिछले कमरे में होती रहती हैं। हिटलर इस दल का सातवां सदस्य बन गया और उसके अथक परिश्रम द्वारा उसी वर्ष दल का सुदृढ़ संगठन स्थापित हो गया। हिटलर ने दल के विस्तार में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। वह शीघ्र ही इसका नेता बन गया। उसने अपने चारों ओर वफादार लोगों को एकत्र कर लिया और साथ

ही दल का नाम बदलकर **"राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रम दल"** (National **Socialist German Laboar Party) या सक्षेप में "नाजी दल"** (Nazi-Party) रख दिया। १६२० में उसने दल के आदि संस्थापक ड्रेक्सटर (Drexter) को दल से निष्कासित करके नाजी दल में सर्वोच्च शक्ति हथियाली और हैस (Hess), गोरिंग (Goering), रोजनबर्ग (Rosenberg), गोबल्स (Gobbles) आदि की सहायता से दल को शक्तिशाली बनाया। ये सदस्य ही आगे चलकर उसके दल के प्रधान आधार-स्तम्भ बने। इस दल का एक समाचार पत्र भी प्रकाशित होने लगा। १६२० में ही दल की नीति और कार्यक्रम की प्रथम आधिकारिक व्याख्या की गई। दल के २५ सूत्री कार्यक्रम में निम्नलिखित बातों को प्रमुख स्थान दिया गया—(१) वर्साय संधि का अस्वीकरण, (२) जर्मनी से छीने गये प्रांतों की पुनः प्राप्ति, (३) जर्मन सैन्य शक्ति का प्रसार, (४) जर्मन-करण को पूर्ण करना और विदेशी हस्तक्षेप को रोकना, (५) समाजवादियों, साम्यवादियों और यहूदियों को कुचलना, एवं (६) भ्रष्टाचार पर आधारित संसदात्मक शासन-प्रणाली का अन्त करना। हिटलर ने कहा कि जर्मन शुद्ध आर्य नस्ल के हैं, वे जहां-जहां भी रहते हैं वे प्रदेश उनके हैं, वे संसार के सर्वश्रेष्ठ लोग हैं, अतः हर दृष्टि से उन्हें अधिकार है कि वे संसार के सब लोगों पर शासन करें। हिटलर ने राज्य को मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ संगठन बताते हुए एक सर्वग्राही राज्यवाद (Totalitarianism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

हिटलर न तो शान्ति का समर्थक था न अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का। वह शक्ति का उपासक था और युद्ध को राष्ट्रीय शक्ति का अनिवार्य परिणाम मानता था। उसके दल की प्रत्येक कार्यवाही गुप्त होती थी और उसकी सबसे बड़ी अपील राष्ट्रीय गौरव की अपील होती थी। सन् १६२३ में उसके दल ने तत्कालीन सरकार के विरुद्ध विद्रोह (Putsch) का असफल प्रयास किया। देशद्रोह के अपराध में उसे पांच वर्ष का कारावास दण्ड मिला किन्तु ८ मास बाद ही उसे छोड़ दिया गया। इस अल्पकाल में लैंड्सबर्ग के जेलखाने में रहते हुए उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मेरा संघर्ष" (Mein **Kampf**) लिखी। हिटलर की यह पुस्तक जातीय उच्चता के सिद्धान्त पर आधारित विश्व-प्रभुत्व की एक योजना थी। इसे नाजियों का पवित्र धर्मग्रंथ समझा जाता था। सत्ता-प्राप्ति के बाद हिटलर ने जिस वैदेशिक नीति को अंगीकार किया था उसके मुख्य आधार उसने अपनी "मीन कैम्फ" में ही निर्धारित कर दिये थे। एक स्थान पर उसने लिखा था कि—

"जर्मनी के सीमांत आकस्मिकता के परिणाम हैं और वे केवल अस्थायी सीमान्त हैं जिनकी स्थापना विभिन्न समयों पर लड़े गए राजनीतिक

संघर्षों के फलस्वरूप हुई है।........राज्यों की सीमाएं मनुष्यों के द्वारा स्थापित की जाती हैं और मनुष्यों के द्वारा उन्हें बदला भी जा सकता है।"[1]

इसी पुस्तक में दूसरे स्थान पर उसने लिखा है कि "जर्मनी अपने वर्तमान सीमांतों के कच्चे माल में आत्मनिर्भरता एक अत्यधिक सीमित मात्रा में प्राप्त कर सकता है और खाद्यान्न के उत्पादन में तो बिल्कुल नहीं कर सकता। इसका एक मात्र इलाज यही है कि वह रहने योग्य अधिक स्थान प्राप्त करे।......इसलिए यदि हम अनाज की स्थिति की सुरक्षा को मुख्य प्रश्न मानते हैं तो उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक भूमि यूरोप में ही होनी चाहिए।.....यह अधिक जनसंख्या को अधिकार में करने का प्रश्न नहीं है, परन्तु कृषि के लिए स्थान प्राप्त करने का सवाल है। इसके अतिरिक्त कच्चा माल पैदा करने वाले क्षेत्र उपनिवेशों की अपेक्षा जर्मनी के पड़ोस में यूरोप में अधिक उपयोगी हो सकते हैं।"[2]

हिटलर का अन्तिम लक्ष्य **तीसरी बार महान् जर्मन साम्राज्य** (Third Reich) का निर्माण था। शार्लमैन द्वारा आठवीं शताब्दी में "पवित्र रोमन साम्राज्य" के रूप में जर्मनी का प्रथम साम्राज्य स्थापित किया गया था, १८७१ से १९१८ तक का जर्मन साम्राज्य द्वितीय साम्राज्य था, अब तीसरी बार इसका निर्माण नाजी दल का चरम उद्देश्य था। इस "तृतीय राइक" (Third Reich) के वृहत्तर जर्मनी में जर्मन रक्त वाले सब व्यक्तियों का समावेश आवश्यक था। इस समय अनेक जर्मन आस्ट्रिया, हालैण्ड, चेकोस्लावाकिया, अल्सेस आदि अन्य देशों में रहते थे। हिटलर के

---

1. "The German frontiers are the outcome of chance and are only temporary frontiers that have been established as the result of political struggles which took place at various times....State frontiers are established by human beings and may be changed by human beings."

2. "Germany within her existing frontiers could attain only a very limited self sufficiency in raw materials, and none at all in food stuffs....If then, we accept the security of our food situation as the principal question, the space necessary to insure it can only be sought in Europe.....It is not a matter of acquiring population, but of graining space for agricultural use. Moreover areas producing raw material can be more usefully sought in Europe immediate proximity to the Reich than overseas."

—*Hitler*

मतानुसार इन सब जर्मन प्रदेशों का जर्मनी में विलीनीकरण अवश्यम्भावी था। हिटलर के अन्य प्रमुख कार्यक्रम ये थे—वर्साय की तथा सेन्ट ज़र्मेन की संधियों को रद्द करना, जर्मनी को युद्धापराधी ठहराने वाली संधि-व्यवस्थाओं का निराकरण करना, यहूदियों को जर्मनी से निकाल फेंकना, क्षति-पूर्ति की राशि में संशोधन कराना, उपनिवेशों को पुनः प्राप्त करना, सब नागरिकों को रोजी-रोटी दिलाना, उन्हें अच्छे जीवन के साधनों को प्राप्त कराना, ब्याज की ऊंची दरों को समाप्त करना, सब ट्रस्टों और बड़ी दुकानों व फर्मों का राष्ट्रीयकरण करना, कृषि-क्षेत्र में सुधार करना, वृद्ध व्यक्तियों की राज्य द्वारा देख-रेख का प्रबन्ध करना, शस्त्रास्त्र निर्माण के एवं सैन्य क्षेत्र में अन्य देशों के साथ समानता का आधार प्राप्त करना और ब्रिटेन व इटली को मित्र बना कर फ्रांस तथा सोवियत रूस को कुचल डालना। हिटलर ब्रिटेन से इसलिये मैत्री स्थापित करने के पक्ष में था कि वह जर्मन जाति के पश्चात् अंग्रेजों को दूसरी प्रधान आर्य जाति मानता था। इटली से वह मैत्री का इसलिये इच्छुक था कि प्रथम तो जर्मनी और इटली के हित समान थे क्योंकि फ्रांस दोनों का ही शत्रु था, और दूसरे दोनों के राजनैतिक विचार समान थे क्योंकि दोनों ही की प्रवृत्ति फासिस्टवादी तथा यहूदी-विरोधी थी। **टायनबी (Toynbee) के शब्दों में, "यदि रूस और फ्रांस हिटलर की शत्रुता के मौलिक और स्थाई लक्ष्य थे तो ब्रिटेन और इटली उसकी मैत्री के मौलिक लक्ष्य थे।"** जर्मनी की मित्रता का तीसरा लक्ष्य जापान था। हिटलर का विश्वास था कि यहूदी यूरोपीय राष्ट्रों को धोखा दे सकते थे, लेकिन जापान जैसे एशियाई राष्ट्रीय राज्य को नहीं। जर्मनी की ये मित्रतायें रक्षात्मक नहीं वरन् आक्रामक होनी थी क्योंकि हिटलर का कहना था कि "राष्ट्र का भाग्य केवल शक्ति के एक पारस्परिक विस्तार की एक समान सफलता की संभावना में ही परस्पर बंधते हैं," तथा 'एक मैत्री, जिसके उद्देश्य में युद्ध का प्रयोजन निहित नहीं होता, अर्थहीन और मूल्यहीन होती है।"

हिटलर ने "मीनकैम्फ" में विश्व की प्रमुख जातियों (Races) को तीन वर्गों में विभाजित किया—(१) संस्कृति की प्रणेता श्वेत वर्ण की आर्य जातियां, जैसे जर्मन और ब्रिटिश, (२) संस्कृति की प्रसारक पीत वर्ण की जातियां, जैसे जापानी, एवं (३) अर्द्ध सभ्य काली जातियां और संस्कृति की विनाशक यहूदी जाति। हिटलर काली जातियों को स्वशासन के योग्य नहीं समझता था। वह जर्मन जाति को शुद्धतम आर्य जाति मानते हुये जर्मनी को विश्व का सिरमौर बनाने का अभिलाषी था।

जेल से निकलने के बाद हिटलर ने अगले ७ वर्ष तक अपने सिद्धान्तों के प्रचार और पार्टी के संगठन के लिये भगीरथ प्रयास किया। यद्यपि इस

समय हिटलर जेल जाने के कारण जर्मन नागरिकता खो चुका था और जर्मन सेना में भर्ती होने के कारण आस्ट्रियन नागरिकता से भी वंचित हो चुका था, फिर भी वह अथक श्रम करता हुआ अपने कार्य में जुटा रहा। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये हिंसा, शक्ति, छल-कपट, प्रचार आदि के साधनों का आश्रय लेते हुये उसने आन्तरिक क्षेत्र में वर्साय की संधि को अपने प्रचार का मुख्य साधन बनाया। **उसने घोषणा की कि–**

"वर्साय की शान्ति-संधि का क्या उपयोग किया जा सकता है? ....इनमें से प्रत्येक बात को इस जाति के दिल और दिमाग में इस तरह भर दिया जा सकता है कि अन्ततः ६ करोड़ नर-नारियों के दिल की यह लज्जा और घृणा की सोंझी भावना एक जाज्वल्यमान सागर बन जाये, जिस भट्टी में से मजबूत फौलाद का एक संकल्प पैदा हो, और उससे एक आवाज निकले—हम फिर हथियार लेंगे।"

वाह्य क्षेत्र में हिटलर ने साम्यवादी विरोधी प्रचार द्वारा पश्चिमी राष्ट्रों, विशेषत: ब्रिटेन की मैत्री की प्राप्ति का कार्यक्रम बनाया और साथ ही धौंस-धमकी, छल-कपट, हिंसा आदि द्वारा एक के बाद एक प्रदेश को हड़पने की नीति का प्रतिपादन किया। वास्तव में हिटलर ने "मीनकैम्फ" (Mein Kampf) द्वारा नाजी दल को एक विशद् और निश्चित दर्शन प्रदान किया। यह ग्रंथ नाजी दल की बाइबिल बन गया।

हिटलर ने अपने दल के लिये स्वास्तिक का ध्वज-चिन्ह् निश्चित किया, दल के सदस्यों के लिये भूरी कमीज का सैनिक गणवेश (Uniform) नियत किया और अभिवादन का नया ढग बताया। उसने नाजो सभाओं की रक्षा के लिये और विरोधी दलों की सभाओं को भंग करने के लिये सैनिक वेशधारी तूफानी दस्तों (Sturnabteilungen S. A.) का संगठन किया तथा नाजी नेताओं की रक्षा के लिये सफेद खोपड़ी के चिन्ह् से अलंकृत काली वर्दीधारी अंगरक्षकों (Schutzstaffeln S.S.) के दल का निर्माण किया। कुशल सगठनकर्त्ता और प्रचार के अस्त्र में विशेष आस्था रखने वाले हिटलर ने प्रचार की दृष्टि से सम्पूर्ण जर्मनी को अनेक हिस्सों में विभाजित किया। प्रत्येक हिस्से में सुशिक्षित प्रभावशाली व्याख्याता भेजे जाने लगे। हिटलर स्वयं अपनी अद्‌भुत भाषण कला से जर्मन जनता को मन्त्रमुग्ध करके उसे प्रभावित करने लगा।

इस धुआंधार प्रचार और अथक परिश्रम के बावजूद १९२८ तक हिटलर और उसका नाजी दल अधिक लोकप्रिय न हो सका। दिसम्बर १९२४ में चुनावों में दल को पहले की अपेक्षा १८ सीटें कम मिलीं अर्थात् कुल १४ सीटों पर उसे सफलता मिली लेकिन १९२८ में यह संख्या घट कर मात्र १२

पर आ गई और मत भी केवल ८ लाख १० हजार प्राप्त हुये। परन्तु १९२८ के बाद दल की शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। मार्च १९२९ में दल की सदस्य संख्या १ लाख २० हजार थी, मार्च १९३० में वह बढ़ कर २ लाख १० हजार तक पहुंच गई। नाजी दल के सदस्यों में अधिकांश व्यक्ति वे थे जिनका सम्बन्ध निम्न मध्यम वर्ग के साथ था। आर्थिक संकट के सबसे भयंकर परिणाम इसी वर्ग को भोगने पड़े थे, अतः इस वर्ग ने नाजी दल को दिल खोल कर सहायता पहुंचाई। १९३० के निर्वाचनों में संसार के सभी बुद्धिजीवी और शांतिप्रेमियों को यह जानकर दुःखद आश्चर्य हुआ कि नाजी दल को दिये गये मतों की संख्या ८ लाख १० हजार से बढ़कर ६४ लाख १ हजार पर पहुंच गई है। इसके बाद इस संदेह की काली छाया फैलने लगी कि वाइमर गणतंत्र की मृत्यु नजदीक है। परन्तु इतना सब होते हुए भी हिटलर का उत्कर्ष वास्तव में धूमकेतु की भांति इतना आकस्मिक था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुशल प्रेक्षक १९३२ तक भी यह कल्पना नहीं कर सके कि जर्मनी में हिटलर और उसका दल कभी सत्ता हथियाने की स्थिति में आ सकेगा। अक्टूबर १९३२ में जर्मन विद्वान डा० अर्नोल्ड वुल्फर्स (Arnold Wolfers) ने लन्दन के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की राजकीय संस्था (Royal Institute of International Affairs) में भाषण देते हुये यह भविष्यवाणी की थी कि जर्मनी में एक दल द्वारा तानाशाही की आशंका समाप्त हो चुकी है। विख्यात ब्रिटिश इतिहासकार टायनबी ने दिसम्बर १९३२ में यह मत प्रकट किया कि, "बहुत सी बातें अस्पष्ट हो सकती हैं, किन्तु एक बात निश्चित है कि नाजी दल पतनोन्मुखी है।" और-तो-और, हिटलर के चांसलर बनने से कुछ ही दिन पूर्व राष्ट्रपति हिन्डनबर्ग (Hindenbeig) ने स्ट्रासेर (Strasser) को आश्वासन दिया था कि, मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूं कि वह बोटेमियन सिपाही (हिटलर) कभी भी जर्मनी का चांसलर नहीं बनेगा। ....मैं उसे पोस्टमास्टर बना दूंगा और वह दिन में सौ बार मेरा मुख चाट सकता है।" लेकिन ये सब धारणायें मिथ्या सिद्ध हुयीं और जनवरी १९३३ में हिटलर एक पोस्टमास्टर नहीं, वरन् जर्मनी का प्रधानमंत्री (Chancellor) बन गया और नाजी क्रांति सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई।

हिटलर और उसके नाजी दल के उत्कर्ष के कारण—हिटलर और उसके दल ने इस प्रकार जो अप्रत्याशित सफलता अर्जित की उसके मूल में अनेक गम्भीर आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण निहित थे।

(१) **वर्साय का अपमान**—प्रथम महायुद्ध जर्मन-लोगों के होठों से मुस्कान छीन कर उनकी आंखों में आंसू पहले ही भर चुका था किन्तु बाद में वर्साय की शांति-व्यवस्था ने तो जर्मनी को नैतिक एवं भौतिक दृष्टि से

एकदम पंगु बना दिया। लैंगसम के अनुसार वर्साय की संधि से "यूरोप जर्मन प्रदेश का आठवां भाग तथा ७० लाख व्यक्ति कम हो गए, उसके सारे उपनिवेश, १५% कृषि योग्य भूमि, १२% पशु, १०% कारखाने छिन गए। उसके व्यापारी जहाज ५७ लाख टन से घटकर केवल ५ लाख टन रह गए, ब्रिटेन की नौसेना से स्पर्धा करने वाली उसकी नौशक्ति बिलकुल नष्ट कर दी गई, स्थलसेना की अधिकतम संख्या एक लाख निश्चित कर दी गई। उसे अपने कोयले के २/५ भाग से, लोहे के २/३ भाग से, जस्ते के ७/१० भाग से तथा आधे से अधिक सीसे से हाथ धोना पड़ा। उपनिवेशों के छिन जाने से उसे रबड़ और तेल की भारी कमी हो गयी। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं ने उसके उद्योग-धन्धों और व्यापार को बिल्कुल चौपट कर दिया। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चैक पर हस्ताक्षर कर दिए। [1]

वर्साय संधि की अपमानजनक शर्तों ने जर्मनों की राष्ट्रीय भावना पर आघात किया और परिणामस्वरूप विजेताओं के प्रति उनका प्रतिशोधात्मक रुख और भी कठोर हो गया। जहां वर्साय संधि के कारण एक तरफ बुजुर्ग जर्मन लोगों में निराशा और उत्साहहीनता की भावना घर कर गयी वहां युवक एवं सैनिक वर्ग पितृ भूमि के पुनरुत्थान के लिए व्याकुल हो उठा। वर्साय संधि को अपने माथे पर एक काला धब्बा मानते हुए वे अपने पुराने गौरव को पुन: पाने के लिए तड़फने लगे और एक ऐसे नेता की आकांक्षा करने लगे जो देश के अपमान को धोकर उनके राष्ट्र को पुन: गौरव-पद पर आसीन कर सके। जनता की इस प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुए हिटलर ने जर्मन राष्ट्रीय गौरव की पुन: प्राप्ति का आकर्षक नारा लगाकर युवकों, सैनिकों, मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों को अपने पक्ष में कर लिया। नाजीदल का उग्रवादी कार्यक्रम और "वर्साय का अन्त हो" का नारा जर्मन जनता को बड़ा प्रिय लगा।

इस सम्बन्ध में प्रो० लिप्सन (Lipson)[2] का मत है कि हिटलर के सत्तारूढ़ होने का वास्तविक कारण वर्साय की संधि नहीं थी। स्ट्रैसमान के शासनकाल में जर्मनी की स्थिति बहुत अच्छी हो गयी थी। राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करके जर्मनी राष्ट्रों के परिवार में समानता के स्तर पर आ चुका था, जर्मन भूमि पर से विदेशी सेना हट चुकी थी, अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में अन्य राज्यों के साथ जर्मनी की समानता का दावा स्वीकार हो चुका था और क्षतिपूर्ति का दायित्व भी लगभग समाप्त सा हो चला था। जिस समय

1. *Langsam* : World Since 1919, page 29.
2. *Lipson* : Europe in the 19th and the 20th Centuries.

हिटलर का उत्थान हुआ उस समय तक जर्मनी अपनी बेड़ी की अन्तिम कड़ियों को काट चुका था। इन परिस्थितियों में वर्साय संधि को हिटलर के उत्थान का कारण बताना उपयुक्त नहीं लगता, हां वर्साय संधि को नाजी दल की सफलता का आंशिक कारण अवश्य कहा जा सकता है। लिप्सन के इस तर्क में पर्याप्त बल होते हुए भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्ट्रैसमान का शासनकाल वे सब उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं कर सका था जिनकी जर्मन जनता को अपेक्षा थी। साथ ही जर्मन जनता अपनी पराजय, अपमान और वर्साय के अन्याय को ठीक उसी तरह नहीं भुला सकी थी जिस तरह फ्रान्स १८७१ के अपने अपमान को नहीं भुला सका था। हिटलर और उसके नाजी दल ने वर्साय संधि के अपमान को मिटाने के लिए "हम फिर हथियार लेंगे" का नारा लगा कर अपने आप को सच्चा देशभक्त प्रमाणित करने की सफल चेष्टा की।

(२) **जातीय परम्परा एवं चरित्र**—हिटलर और उग्रवादी नाजी दल के उत्कर्ष का एक दूसरा कारण स्वयं जर्मन जाति की परम्परा थी। जर्मन जाति में स्वाभाविक रूप से विद्यमान सैनिक मनोवृत्ति तथा अनुशासन एवं वीर पूजा की भावना ने हिटलर के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त कर दिया। हिटलर के व्यक्तित्व में उन्हें एक ऐसा व्यक्ति मिल गया जो उनका 'फ्यूरर' (Fuhrer) बन सकता था। प्रो० शूमैन (Schuman) ने ठीक ही लिखा है कि—"राष्ट्रों के आन्तरिक जीवन का पता उसके नेतृत्व के प्रतीकों से चल जाता है। जर्मनी का इतिहास एक राष्ट्रीय नायक से शुरु हुआ, तीन राष्ट्रीय राजवंशों के नेतृत्व में चलता रहा और एक राष्ट्रीय नेता की देखरेख में ही समाप्त हुआ। ये नायक हर्मन, हाटेन स्टोफेन, हैप्सबर्ग, होटेन जोलर्न और हिटलर थे।"[1]

(३) **संसदात्मक शासन प्रणाली के विरुद्ध अरुचि**—नाजी दल की शक्ति के विकास का तीसरा कारण था प्रजातांत्रिक लोकसभात्मक शासन प्रणाली के विरुद्ध जर्मन जनता की अरुचि। अधिकांश जर्मन, लोकसभात्मक शासन प्रणाली जिस ढंग से कार्य कर रही थी, उससे असंतुष्ट थे क्योंकि उन्हें वे दिन याद थे जबकि लोकसभा में अनुशासन और व्यवस्था की दृढ़ व्यवस्था थी, वाद-विवाद और फजीतियों का वातावरण नहीं था। जर्मन जनता यह देखकर बड़ी विक्षुब्ध थी कि तत्कालीन राजनीतिज्ञ केवल थोथे वचन बोलते और थोथी प्रतिज्ञाएँ करते रहते थे। अतः जर्मन जनता उस समय एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति को जर्मनी के भाग्य-विधाता के रूप में देखने को उत्सुक थी जो उसके देश को और उसको तत्कालीन शोचनीय स्थिति से मुक्ति दिलवा सके। जनता की इस मनोदशा ने हिटलर के उत्कर्ष में बड़ा योग दिया।

1. *Schuman* : International Politics, page 494-95.

(४) **वाइमर गणतंत्र के प्रति असंतोष**--जर्मनी की समस्याओं को हल करने में गणराज्य की अक्षमता भी जर्मनी में तानाशाही की स्थापना का एक प्रमुख कारण बनी। नवीन गणराज्य का जन्म ही अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में हुआ और अपने १५ वर्ष के जीवन में इसकी अप्रियता और विफलताओं ने हिटलर के उत्कर्ष में बड़ा सहयोग दिया। इसे अपने जन्म के साथ ही वर्साय की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े, क्षतिपूर्ति और नि:शस्त्रीकरण के कड़वे घूँट पीने पड़े, रूर पर फ्रेन्च अधिकार तथा मुद्रास्फीति का दारुण दु:ख भोगना पड़ा। यद्यपि रूर के प्रदेश से बाद में फ्रेन्च सेनाएँ हटा ली गयीं, किन्तु तब तक वे जर्मनी को दिवालिया बना गयीं। वाइमर गणतंत्र ने अपने १५ वर्षीय जीवन-काल में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यद्यपि अनेक सुविधाएँ प्राप्त कीं किन्तु वह अपने अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्यों--डैंजिग और पोलिश गलियारे की पुन: प्राप्ति, आस्ट्रिया के साथ एकीकरण, उपनिवेशों की प्राप्ति, शस्त्रीकरण एवं सैन्यीकरण के मामलों में अन्य राष्ट्रों के साथ समान अधिकारों को प्राप्ति आदि को पाने में असफल ही रहा। इसके अतिरिक्त गणराज्य के लोकतंत्रवादी संविधान में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होने से राइकस्टाग (Reichstag) में अनेक दल उत्पन्न हो गये जो अपना अधिकांश समय पारस्परिक झगड़ों और तू-तू, मैं-मैं में बरबाद करते थे। इन अनेक दलों के कारण गणराज्य कुशल और दृढ़ प्रशासन की व्यवस्था नहीं कर सका। इस स्थिति से असंतुष्ट और रुष्ट जर्मन जनता की आस्था अधिनायकवादी शासन के प्रति ही बनी रही। उदारवादी प्रजातंत्र के प्रति लोगों के मन में किसी दृढ़ निष्ठा का उदय नहीं हुआ और वे सोचने लगे कि जर्मन देश का इतिहास तो फ्रैड्रिक महान् की परम्पराओं से प्रभावित है, यहाँ तो विस्मार्क की आवश्यकता है।

यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों में कोई भी शासन प्रणाली आशा का दीपक एकदम दीप्त नहीं कर सकती थी किन्तु असफलता का कलंक गणराज्य पर ही लगा और हिटलर जैसे व्यक्ति ने जनता के इस असंतोष का पूरा फायदा उठाया। जब राजतन्त्र शेष हो चुका, गणतन्त्र असफल हो गया तो हिटलर को तानाशाह बनने का अवसर मिला।

(५) **१६३० की आर्थिक मन्दी**:--उपरोक्त कारणों के होने पर भी नाजी पार्टी को वैसी सफलता नहीं मिलती, यदि जर्मनी में १६३० का भीषण आर्थिक संकट, जो वर्साय संधि का ही एक परिणाम था, उत्पन्न नहीं हुआ होता। वास्तव में, हार्डी के मतानुसार, हिटलर की सफलता का प्रधान कारण वर्साय का अपमान नहीं, वरन् हिटलर के अन्दर भरा हुआ "राज-

नीतिक नेतृत्व का गुण तथा आर्थिक संकट की सहवर्ती निराशा थी।"[1] जर्मनी में आर्थिक संकट अन्य सब देशों से अधिक भयंकर था और जर्मन जनता जितनी तबाह थी उतनी शायद किसी अन्य देश की जनता नहीं थी। आर्थिक प्रलय ने जर्मन जनता के मध्यम और निम्न मध्यम वर्ग का विनाश कर दिया। किसानों, छोटे दूकानदारों, कारीगरों, सरकारी कर्मचारियों, विधवाओं, अवकाश प्राप्त कर्मचारियों, भूत-पूर्व सैनिक अधिकारियों आदि की जीवन भर की बचत मुद्रास्फीति द्वारा निगल ली गयी। हिटलर ने ऐसे समय बारम्बार यह घोषणा की कि जर्मन जनता की इस दुर्दशा का कारण वह सरकार है जो साम्राज्यवादी देशों के सामने घुटने टेक चुकी है। नाजी दल ने यंग योजना का पहले ही विरोध किया था और कहा था कि जर्मनी इसका आर्थिक भार वहन नहीं कर सकता। लेकिन स्ट्रैसमान और उसके साथियों का यह मत था कि अन्य देशों के साथ सुलह और समझौते की नीति तथा क्षतिपूर्ति की राशि की अदायगी जर्मनी को समृद्ध बनायेगी। १९३० के आर्थिक संकट ने यह सिद्ध कर दिया कि स्ट्रैसमान की नीति भ्रांतिपूर्ण थी और नाजियों का तर्क सही था।

हिटलर ने जर्मनी के पूंजीपतियों और यहूदियों को आर्थिक संकट के लिए कोसा और मध्यम तथा निम्न मध्यम वर्ग में विद्यमान पूंजीपति-विरोधी भावना को बड़ी खूबी से उभाड़ कर उनका सहयोग प्राप्त किया। शूमन के अनुसार आर्थिक संकट ने जर्मनी में ६० लाख व्यक्तियों को बेरोजगार बना दिया, दिवालियापन और निर्धनता को बढ़ाया।[2] अधिकांश बेरोजगार व्यक्तियों और ऋण-बोझ से दबे कृषक हिटलर के नाजी दल में सम्मिलित होने लगे। कृषक जनता, साम्यवाद के वैयक्तिक सम्पत्ति के उन्मूलन के सिद्धान्त से भयभीत होकर विशेष रूप से हिटलर की अनुयायी बनने लगी क्योंकि वह उसे बोलशेविज्म और यहूदियों से रक्षा करने का आश्वासन दे रहा था। जून १९३१ में कृषकों पर तीन अरब डालर का ऋण था,[3] नाजियों ने इन ऋणों को रद्द करने का आन्दोलन किया, अत: कृषक स्वाभाविक रूप से नाजी दल की ओर झुकने लगे। उद्योगपतियों ने भी नाजी दल को सहयोग और आर्थिक सहायता प्रदान की क्योंकि वे इसके द्वारा ट्रेड यूनियनों को नष्ट करना चाहते थे तथा साम्यवादियों से अपनी

---

1. *Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs, page 305.
2. *Schuman* : International Politics.
3. *Langsam* : World Since 1919, page 223.

सम्पत्ति की रक्षा के इच्छुक थे। फ्रिट्स थेसीन (Frits Thyssen) जैसे उद्योगपतियों ने साम्यवाद से भयभीत होकर हिटलर का समर्थन किया।[1]

जर्मनी के मध्यम वर्ग और बेकार लोग कट्टर यहूदी विरोधी थे क्योंकि उनमें यह भावना घर कर गयी थी कि जर्मनी की पराजय यहूदियों के कारण ही हुई थी। हिटलर ने उनकी इस यहूदी विरोधी भावना को उभाड़ कर अपना उल्लू सीधा किया। बड़े-बड़े पूंजीपति यहूदी लोग ही थे, अतः हिटलर ने कहा कि इन्हें देश से निकाल देना चाहिए ताकि जर्मन जाति अपने देश में समुचित आर्थिक स्थान प्राप्त कर सके। उन दिनों कानून, डाक्टरी, महाजनी और व्यापार में यहूदियों का ही बोलबाला था। इसलिए हिटलर द्वारा यहूदियों के विरोध के कारण जर्मन डाक्टर, वकील, व्यापारी आदि नाजी दल की ओर आकृष्ट हुए।

जर्मनी के भीषण आर्थिक संकट को दूर करने के लिए जब तत्कालीन जर्मन प्रधानमन्त्री ब्रूनिंग (Bruning) ने व्यय में भारी कटौती करनी चाही तो पार्लियामेंट ने इसका तीव्र विरोध किया। फलतः उसे विशेषाधिकार लेकर शासन करने को बाधित होना पड़ा। शासन के इस कदम ने हिटलर की तानाशाही के मार्ग को और भी सुगम बना दिया।

वास्तव में आर्थिक संकट ने हिटलर और उसके दल को संजीवनी बूटी प्रदान की। नाजियों ने अधिकांश जर्मनों पर यह छाप छोड़ दी कि नाजी दल ही एक मात्र ऐसा दल है जो जर्मनी को आर्थिक संकट से शीघ्रातिशीघ्र उभारकर, उसे उत्तम दशा प्रदान कर सकता है। परिणामस्वरूप ज्यों-ज्यों आर्थिक संकट की भीषणता बढ़ती गयी, नाजी दल की शक्ति में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। मई १९२८ में राइकस्टाग में नाजी दल के केवल १२ सदस्य थे, परन्तु सितम्बर १९३० में इनकी संख्या बढ़कर १०७ और जुलाई १९३२ में २३० हो गयी और इस तरह नाजी दल ६०८ सदस्यों वाला राइकस्टाग का सबसे बड़ा दल हो गया।

(६) **हिटलर का व्यक्तित्व**—हिटलर और नाजी दल की शक्ति के विकास का एक सर्वाधिक प्रभावशाली कारण स्वयं हिटलर का असाधारण व्यक्तित्व था। वह एक मंजा हुआ राजनीतिक खिलाड़ी था। वह अतिशय प्रतिभावान एवं महान् वक्ता था जिसमें 'फ्यूरर' (नेता) बनने के सभी गुण मौजूद थे। उसमें एक विचित्र मोहिनी शक्ति थी जो जर्मन समाज को आकर्षित करने की अपूर्व क्षमता से परिपूर्ण थी। हार्डी के अनुसार, "उसमें विलक्षण प्रतिभा का गुण था, चाहे वह प्रतिभा दिव्य न होकर राक्षसी

---

1. Ibid, page 223.

थी।"[1] एफ० ली० बेन्स के शब्दों में, "हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था, एक चतुर जन-नेता था और एक श्रेष्ठ अभिनेता था। वह एक साधन-सम्पन्न आंदोलनकारी, एक अक्लांत कार्यकर्त्ता तथा एक योग्य संगठन-कर्त्ता था।"[2] हिटलर के स्वर लहरी को सुनने के लिए दूर-दूर से श्रोतागण एकत्र हो जाते थे। उसमें राजनीति के दांव-पेचों को अपनी आवश्यकतानुसार कार्यान्वित करने की अद्भुत योग्यता थी और इसी में उसकी उन्नति का रहस्य था। वह किसी कार्य के विभिन्न खतरों को सही आंकने की सहज क्षमता रखता था तथा जनता की मनोभावनाओं एवं मनोविज्ञान को समझने की विलक्षण सामर्थ्य का धनी था।

हिटलर प्रचार के महत्व को खूब अच्छी तरह पहचानता था। सौभाग्य से उसको एक ऐसा व्यक्ति भी मिल गया जो प्रचार-कला में निपुण था। वह था उसका प्रचार मन्त्री डा० गोबल्स। "झूठी बात को इतना दोहराओ कि वह सत्य ही बन जाय"—यह था गोबल्स के प्रचार-सिद्धांत का मूल जिससे जर्मनी की अन्य पार्टियां अनभिज्ञ थीं। हिटलर के अद्भत व्यक्तित्व और प्रचार-कार्य के माध्यम से नाजियों ने जर्मन जनता के दिल पर सरलता से कब्जा कर लेने में सफलता पाई।

(७) **आकर्षक कार्यक्रम**—हिटलर का अत्यन्त आकर्षक तथा जर्मन-जनता की इच्छाओं, परम्पराओं और विचारधाराओं के अनुकूल कार्यक्रम भी उसके उत्कर्ष का एक कारण था। हिटलर का कार्यक्रम एक प्रकार से जर्मन-विचारों और विश्वासों का एक सार था। जनता जिन बातों को चिर काल से सोचती, मानती और चाहती थी, उन्हें हिटलर ने खुल्लमखुल्ला कहना शुरू किया और उन्हें पूरा करने का वचन भी दिया। चूंकि हिटलर जर्मन-आकांक्षाओं का मूर्त रूप था, अतः उसे जनता का हार्दिक समर्थन मिला। जर्मन जनता वर्साय की संधि को अपमानजनक मानती थी, हिटलर ने उसे छिन्न-भिन्न करने का संकल्प प्रकट किया। जनता फ्रैड्रिक महान्, बिस्मार्क और कैसर जैसे वीर नायकों की पुजारी थी, सैनिक मनोवृत्ति में आस्था रखती थी और राजतन्त्र तथा अधिनायकवाद की समर्थक रही थी। हिटलर ने जनता की इस भावना को उधाड़ा, लोकतन्त्र को "मूर्खों, पागलों और कायरों की

---

1. *Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs, page 303.
2. "Hitler was an adept psychologist, a clever demagogue, and a master, showman, he was a resourceful agitator, a tireless worker, and an able organiser."
—*F. Lee Benns* : Europe Since 1914.

व्यवस्था" बताया, "शक्ति ही अधिकार है" के सिद्धांत में विश्वास प्रकट किया और सैनिकवाद के गीत गाकर अपनी तानाशाही के लिए मार्ग-प्रशस्त कर लिया। नाजी दल ने विभिन्न जर्मन विचारकों द्वारा प्रतिपादित किये गये उन विचारों को अपनाया जो जनता में लोकप्रिय थे—उदाहरणार्थ फ्रेड्रिक द्वितीय का सैनिकवाद, हिगल का राज्य की सर्वोच्चता का सिद्धांत, फिक्टे (Fichte) की वीरपूजा, नोवेलिस का "शक्ति ही अधिकार है" का सिद्धांत, मार्क्स का यहूदी-विरोध, लिस्ट की जर्मनी के प्रसार के लिए अतिरिक्त प्रदेशों की मांग तथा होस्टन स्टीवर्ट चेम्बरलेन का जर्मन अथवा आर्यजाति की उच्चता का विचार।

हिटलर का उग्र राष्ट्रीयता के विचारों से ओतप्रोत कार्यक्रम सहज ही जर्मन जनता में लोकप्रिय हो गया। जर्मनों ने हिटलर को अपने देश के उद्धारक नेता के रूप में ग्रहण किया और उसे बिस्मार्क एवं कैसर के समान समझते हुए उसका अन्धानुकरण करने में अपना कल्याण समझा।

(८) **साम्यवाद का भय**—नाजियों की सफलता का एक कारण जर्मनी में साम्यवाद का बढ़ता हुआ खतरा बतलाया जाता है। रूस में साम्यवाद की जो लहर प्रारम्भ हुई थी उसका प्रभाव जर्मनी पर भी पड़ रहा था और जर्मन साम्यवादी दल दिन-प्रतिदिन प्रगति कर रहा था। नवम्बर १९३२ के चुनावों में साम्यवादियों ने राइकस्टाग में १०० स्थान प्राप्त कर लिये थे। हिटलर इस बात से भलीभांति परिचित था कि साम्यवादी दल उसके मार्ग का सबसे बड़ा कांटा सिद्ध हो सकता था और इस कांटे को केवल पूंजीपतियों के समर्थन से ही नहीं प्रत्युत् जनसाधारण के सहयोग के बल पर ही हटाया जा सकता था। इसीलिए उसने और उसके दल ने जर्मन उद्योग-पतियों तथा धनकूबेरों से रुपया पाने के लिए उनके समक्ष साम्यवादी क्रांति की आशंका बड़े अतिरंजित रूप में उपस्थित की। हिटलर का विश्वास था कि साम्यवाद का निराकरण करने के लिए पूंजीपति नाजी दल के पक्ष में अपनी थैलियों के मुख खोल देंगे। हिटलर का यह विश्वास बड़ी सीमा तक सही सिद्ध हुआ। हिटलर ने सामान्य जर्मन जनता के हृदय में भी साम्यवाद के भूत का डर बैठा दिया। वह लोगों से कहा करता था कि साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीयता का सिद्धांत जर्मन राष्ट्रीयता के लिए सबसे अधिक खतरनाक है और यदि नाजी-पार्टी शक्तिशाली नहीं बनी तो साम्यवादी शक्ति सम्पन्न होकर राज्य पर अपना अधिकार कर लेंगे और जर्मनी के सारे राष्ट्रीय मनसूबे धूल में मिल जावेंगे। हिटलर की इन बातों का प्रभाव जर्मन जनता पर काफी पड़ा और 'झूठी' राष्ट्रीयता के नाम पर नाजी पार्टी जनता का समर्थन पाने में सफल हुई। हिटलर ने जर्मनी में साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया जबकि साम्यवाद का संकट वस्तुतः इतना उग्र नहीं था।

(९) **जर्मन युवकों, सेना और नौकरशाही का समर्थन**—नाजीवाद की सफलता का एक बड़ा कारण यह था कि जर्मन युवकों, सैनिकों एवं राज-कर्मचारियों ने नाजियों को पर्याप्त समर्थन प्रदान किया। १९१४ से १९३० के मध्य में जर्मन-विश्वविद्यालयों के छात्रों की संख्या में लगभग ६० प्रतिशत वृद्धि हुई थी। युद्धोपरांत जर्मनी की दशा इतनी शोचनीय थी कि छात्रों को रोजगार नहीं मिल पा रहा था और वे अपनी दशा सुधारने की आशा छोड़ बैठे थे। इस अवस्था में उन्हें केवल विध्वंस में ही अपने उद्धार का मार्ग दृष्टिगोचर होता था और इसलिए नाजी दल का कार्यक्रम उनके आकर्षण का केन्द्र बन गया। नाजी दल को सेना और नौकरशाही का सहयोग भी मिला। हिटलर का उग्र राष्ट्रवादी कार्यक्रम और उसकी पुनः शस्त्रीकरण की मांग का सैनिकों में बड़ा स्वागत हुआ। उन्हें नाजियों का साम्यवाद-विरोध भी आकर्षक लगा। नौकरशाही ने नाजी दल को इसलिए समर्थन दिया कि एक ओर तो वाइमर गणतन्त्र की प्रजातांत्रिक पद्धति से असंतोष था और दूसरी ओर हिटलर का अनुशासन एवं देशप्रेम पर आग्रह उसकी मनोवृत्ति के अनुकूल था।

पापेन षड्यन्त्र और हिटलर द्वारा सत्ता प्राप्त करना—उपरोक्त विभिन्न कारणों के आधार पर और अपने प्रबल भाग्य से हिटलर निरन्तर सफलता की सीढियां चढ़ता गया। १९३२ में वह पहली बार राष्ट्रपति पद के चुनाव के लिये हिन्डनबर्ग के मुकाबले में खड़ा हुआ, इस समय उसने जर्मन नागरिकता प्राप्त करने के लिए बर्लिन के दूतावास में एक सहायक (Attache) की नौकरी स्वीकार करली थी। इस चुनाव में यद्यपि हिटलर हार गया, किन्तु हिन्डनबर्ग जैसे प्रतिष्ठित और सर्वमान्य व्यक्ति के मुकाबले में उसे ३७ प्रतिशत अर्थात् १ करोड़ ३४ लाख वोट मिले। यह नाजी पार्टी के बढ़ते हुए प्रभाव और हिटलर की प्रबल लोकप्रियता का प्रमाण था। ३१ जुलाई १९३२ के राइकस्टाग के चुनावों में नाजियों को १ करोड़ ३७ लाख ४५ हजार वोट मिले अथवा कुल मतों का ३७ प्रतिशत प्राप्त हुआ। किन्तु इसके बाद नाजी पार्टी की लोकप्रियता में कमी होना दृष्टिगोचर हुआ। जर्मनी में आर्थिक संकट की तीव्रता पूर्वापेक्षा कम हो गई और ६ नवम्बर १९३२ के चुनावों में नाजियों के वोट घटकर १ करोड़ १७ लाख ३७ हजार अथवा ३३ प्रतिशत ही रह गये और नाजी दल के सदस्यों की संख्या भी घटकर २३० से १९६ रह गई। इन परिस्थितियों में हिटलर के सत्तारूढ़ होने की कोई आशा नहीं की जाती थी। इस समय राइकस्टाग में नाजी दल सबसे बड़ा होने पर भी बहुमत नहीं रखता था। किन्तु हिटलर का भाग्य प्रबल था, अतः नाजीवाद की अन्तिम विजय निर्वाचन-परिणामों के कारण नहीं अपितु एक गम्भीर राजनीतिक षड्यन्त्र के कारण हुई।

यह राजनीतिक षड़यन्त्र अन्तिम प्रजातन्त्रवादी चांसलर कुर्तवॉन-श्लीचर (Kurt Von Schleicher) के विरुद्ध रचा गया और इसका रचयिता उसका पुराना मित्र फ्रांज वॉन पापेन (Franz Von Papen था। पापेन श्लीचर को अपदस्थ करके स्वयं सत्ता प्राप्त करना चाहता था और इसके लिए उसने हिटलर का एक साधन के रूप में प्रयोग किया। जर्मनी के अनेक उद्योगपतियों का सहयोग प्राप्त करके राष्ट्रपति हिन्डनवर्ग को वोल्शेविज्म के संकट का भय दिखाकर यह कहा गया कि हिटलर ही जर्मनी को वोल्शेविज्म से बचा सकेगा। इसके परिणामस्वरूप ३० जनवरी १९३३ को हिन्डनवर्ग ने वोल्शेविज्म से जर्मनी की रक्षा के लिए श्लीचर को पदच्युत करके हिटलर को प्रधानमन्त्री (Chancellor) तथा पापेन को उपप्रधानमंत्री बनाया। इस प्रकार **"संवैधानिक तरीकों" से जर्मन गणतन्त्र की हत्या कर दी गई और हिटलर का कहना सत्य प्रमाणित हुआ कि "मैं वैध उपायों से शक्ति हस्तगत करूंगा।"**

हिटलर ने सत्ता अवश्य वैध उपायों से प्राप्त की लेकिन इसे बनाये रखने और अपनी शक्ति को निरन्तर सुदृढ़ करने के लिये उसने वैध-अवैध सभी उपायों का आश्रय लिया। सत्ता में आने के बाद उसने जर्मन व्यवस्थापिका अर्थात् राइकस्टाग (Reichstag) को भंग कर दिया। ५ मार्च १९३३ को नये चुनावों की घोषणा हुई। परन्तु उससे कुछ ही दिनों पूर्व २७ फरवरी १९३३ को रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में राइकस्टाग के भवन में आग लग गई। कुछ विद्वानों का मत है कि यह अग्निकांड नाजीदल का ही किया हुआ था।[1] परन्तु हिटलर ने उसे साम्यवादी षडयंत्र की संज्ञा दी। इस बहाने वामपक्ष नेताओं को जेलों में ठूंस दिया गया और वामपक्षी दलों को निर्वाचन की स्वतंत्रता से वंचित कर दिया गया। साम्यवादियों का आरोप था कि हिटलर के प्रबल समर्थक और राइकस्टाग के सभापति गोरिंग के निवास स्थान से एक गलियारा भूमि के भीतर से होता हुआ राइकस्टाग के भवन के निचले भाग तक पहुंचता था और इसी गुप्त मार्ग से नाजियों द्वारा राइकस्टाग भवन में जानबूझ कर इसलिये आग लगाई गई ताकि साम्यवाद को पूरी तरह बदनाम किया जा सके। जो भी हो, हिटलर ने इस अग्निकांड की आड़ में राजनीतिक दमन का तीव्र चक्र चलाया। दमन के इस वातावरण में नाजीदल राइकस्टाग में बहुमत प्राप्त करने में सफल हो गया। अत्यन्त उत्तेजनात्मक परिस्थितियों में ३ करोड़ ९० लाख नागरिकों ने मतदान किया। ६४७ सीटों में से नाजियों को २८८, राष्ट्रवादियों को ५२, सोशियल डेमोक्रेटों को १२०, साम्यवादियों को ८१ और सैन्टर पार्टियों को ९१ सीटें मिलीं। इस तरह यद्यपि नाजियों ने अब-

---

1. *John Gunther* : Inside Europe, page 42-50.

स्थापिका अर्थात् राइकस्टाग में बहुमत प्राप्त कर लिया किन्तु फिर भी उन्हें वोट केवल ४४ प्रतिशत ही मिले और ८ प्रतिशत राष्ट्रवादियों के साथ मिलकर वे ५२ प्रतिशत का ही अल्प बहुमत पा सके।

हिटलर ने अब पूर्णत: नाजी मंत्रिमण्डल संगठित किया। १४ जुलाई १९३० को एक विधि द्वारा नाजी दल के अतिरिक्त किसी अन्य दल का संगठन अवैध घोषित कर दिया गया। "२१ मार्च १९३३ को वर्लिन से १७ मील दक्षिण–पश्चिम में राजवंश के प्राचीन स्थान पोट्सडम (Potsdam) के पुराने गरिसन चर्च में विशेष धार्मिक समारोह, घण्टे-घण्टियों के निनाद और तोपों की गड़गड़ाहट के साथ तृतीय जर्मन साम्राज्य या राईक (Third Reich) की स्थापना की गई, प्रशियन राजाओं की समाधियों पर पुष्पहार चढ़ाये गये तथा हिटलर और हिन्डनबर्ग के भाषण हुए। इसके २ दिन बाद २३ मार्च सन् १९३३ को हिटलर की प्रेरणा से राइकस्टाग ने ४ वर्ष के लिये मंत्रिमण्डल को पूर्ण अधिकार देने का कानून (Enabling Act) पास करके गणराज्य की अन्त्येष्टि करते हुए हिटलर की तानाशाही का श्रीगणेश किया।" १ दिसम्बर १९३३ को एक अन्य विधि द्वारा राज्य और नाजी दल की एकता की घोषणा की गई। २ अगस्त १९३४ को हिन्डनबर्ग का देहान्त हो गया। १४ अगस्त १९३४ को एक जनमत संग्रह द्वारा राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के पदों को एक में मिलाने की व्यवस्था की गई। ये दोनों पद "राइकस्फ्यूरर" (Reichs–Fuhrer) के नाम से मिला दिये गये और हिटलर जर्मनी का भाग्य-विधाता, सर्वेसर्वा और समस्त कानूनों का निर्माता बन गया। वह अब राज्य का प्रधान था, शासन का प्रधान था, सेना का प्रधान था और दल का प्रधान था। एक शब्द में नाजी दल राष्ट्र का और हिटलर नाजी दल का प्रतीक बन गया। नाजी-क्रांति पूर्ण हो गई और यूरोपीय महाद्वीप में इस तरह एक अन्य सर्वाधिकारवादी राज्य की स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नाजी क्रांति का प्रभाव—जर्मनी की नाजी क्रांति का न केवल यूरोप बल्कि सारे सभ्य संसार पर गहरा प्रभाव पड़ा। शूमैन के शब्दों में, "जिस प्रकार १९१८ से पूर्व की ५ दशाब्दियों में यूरोप एवं विश्व की राजनीति कैसर के द्वितीय जर्मन साम्राज्य (Second Reich) के चारों ओर घूमती थी उसी प्रकार १९३३ में हिटलर के उत्कर्ष के बाद वह तृतीय जर्मन साम्राज्य (Third Reich) के चारों ओर परिभ्रमण करने लगी।"[1] इसी तरह हार्डी के मतानुसार, "एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में जर्मन शक्ति की पुनरूज्जीवन का अकेला तथ्य न केवल इस समय के यूरोपियन इतिहास पर अपितु कुछ अंशों में सम्पूर्ण विश्व के इतिहास पर हावी रहा।"[2]

1. *Schuman :* International Politics, page 553.
2. *Hardy* : A Short History of International Affairs, page 357.

नाजी क्रांति ने सचमुच अखिल विश्व पर अपना प्रभाव डाला। **ई० एच० कार ने लिखा है कि "यह प्रभाव दो प्रकार का था। कुछ देशों में हिटलरी तानाशाही की क्रूरताओं के प्रति नैतिक क्रोध की भावना सर्व प्रधान थी। अन्य देशों में इस बात की गहरी चिन्ता थी कि १६१६ के शांति समझौते को खुली चुनौती दी गयी है। दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया पहले प्रकार की प्रतिक्रिया से अधिक प्रभावपूर्ण प्रतीत होती थी। ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में, जहां क्रोध—न कि डर—की ही भावना प्रधान थी, जर्मनी के प्रति नीति में कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं हुआ। इटली और सोवियत संघ में, जहां की सरकारें स्वयं ही हिंसा द्वारा सत्तारूढ़ हुई थीं, नैतिक भर्त्सना के लिए गुंज़ाइश कम थी। हर हिटलर के सत्तारूढ़ होने के अन्तर्राष्ट्रीय परिणामों की तीव्र आशंका से इन देशों ने एकाएक अपनी नीति बदल दी।"**[1]

सचमुच हिटलर का उत्कर्ष एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटना थी जिसकी विभिन्न देशों में गम्भीर प्रतिक्रियाएं हुईं और उनकी वैदेशिक नीति ने आकस्मिक एवं दूरगामी परिवर्तन को जन्म दिया।

हिटलर और उसके नाजी दल के उत्कर्ष की सर्वप्रथम प्रतिक्रिया जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों—चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया में हुई। नाजी क्रांति के समय लघु मैत्री संघ के ये तीनों देश जिनेवा के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग ले रहे थे। वहीं पर तीनों देशों के विदेश-मंत्रियों ने परस्पर मिलकर एक "एकता समझौता" किया जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि तीनों देशों के परराष्ट्रमंत्रियों की एक परिषद् बने जो समय-समय पर इसकी बैठकें करके सामान्य हितों की बातों पर विचार करे।

नाजीवाद के उदय के बाद **'हंगरी और जर्मनी एक दूसरे के निकट आने लगे'** क्योंकि दोनों ही देश वर्साय संधि द्वारा सताये गये थे और दोनों ही लघु मैत्री संघ के देशों से घृणा करते थे। इस समय हंगरी में नाजीवाद से सहानुभूति रखने वाला जुलियस गोम्बस प्रधानमंत्री था। मैत्री का वातावरण पैदा होने पर दोनों ही देशों के नेता एक दूसरे के देश में भ्रमण करने लगे और यह सम्भावना जन्म लेने लगी कि यदि द्वितीय-महायुद्ध छिड़ गया तो हंगरी संभवतः जर्मनी का साथ देगा।

नाजी क्रांति की **तीसरी प्रतिक्रिया चतुःशक्ति संघ (Four Powers Pact) थी।** १५ जुलाई १६३३ को रोम में सम्पन्न हुई इस संधि के द्वारा फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी और इटली ने शांति की रक्षा और निःशस्त्रीकरण की प्रगति के उद्देश्य से परस्पर विचार-विमर्श करने का वचन दिया। यह संधि

---

1. *E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, page 198-99.

इटली की प्रेरणा से हुई क्योंकि वह चाहता था कि जर्मनी शक्तिशाली राष्ट्र बने। ऐसा होने पर ही वह वर्साय संधि के सुधार की बात कर सकता था।

नाजी क्रांति की सफलता के कारण पोलैण्ड को यह भय सताने लगा कि शक्तिशाली हिटलर पोलिश गलियारे का अन्त करने का प्रयास करेगा। साथ ही नाजी कार्यक्रम को देखकर यह भी निश्चित लगता था कि रूस-जर्मन संघर्ष अवश्यंभावी है जिसमें पोलैण्ड की धरती रणभूमि के रूप में प्रयुक्त होगी। **पोलैण्ड के लिये जर्मनी का खतरा अब राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न हो गया, अतः वह जर्मनी के साथ समझौता कर लेने में ही अपना कल्याण समझने लगा।** उधर मित्रहीन नाजी जर्मनी भी मित्रों की तलाश में था। परिणामतः जनवरी १९३४ में दोनों देशों के मध्य समझौता हो गया। जर्मन और पोलिश समाचार पत्रों ने एक-दूसरे के विरुद्ध विष उगलना बन्द कर दिया।

नाजी क्रांति के फलस्वरूप **सर्वाधिक क्रांतिकारी परिवर्तन सोवियत संघ की विदेश-नीति में हुए।**[1] जर्मनी में साम्यवाद विरोधी सरकार की स्थापना से और पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्य के नग्न नृत्य से मित्रहीन सोवियत संघ अपनी सुरक्षा के लिये चिन्तित हो गया। अपने को खतरों से घिरा हुआ देखकर अपनी परराष्ट्र नीति में आमूल परिवर्तन करते हुए सोवियत रूस ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता यह सोचकर स्वीकार करली कि संभवतः राष्ट्रसंघ विश्व-शांति और सुरक्षा को मजबूत बनाने के सम्बन्ध में अब ईमानदारी से काम करेगा। इसके अतिरिक्त एक तरफ तो जर्मनी के सामान्य खतरे को रोकने के लिये, फ्रांस और रूस के मध्य मित्रता बढ़ने लगी और दूसरी तरफ जापान के विरुद्ध अपनी सुरक्षा मजबूत करने के उद्देश्य से रूस संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। उसने अमेरिका को समुचित आश्वासन देकर उसकी मान्यता भी प्राप्त करली। अमेरिका और फ्रांस से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के बाद रूस ने चेकोस्लोवाकिया के साथ भी एक पारस्परिक सुरक्षा संधि करली।

नाजी क्रान्ति के प्रति **इटली और आस्ट्रिया में भी गंभीर प्रतिक्रियायें** हुईं। नाजी और फासिस्ट विचारधाराओं में काफी एकरूपता होने के कारण इटली की नाजी क्रान्ति के प्रति प्रारम्भिक प्रतिक्रिया बड़ी अनुकूल थी, लेकिन आस्ट्रिया के प्रश्न पर दोनों देशों में मनोमालिन्य पैदा हो गये। इटली जर्मन-आस्ट्रिया के संयोग का विरोध था। उधर आस्ट्रिया की मनोदशा ने भी पलटा खाया। जो आस्ट्रिया नाजी क्रान्ति से पहले जर्मनी से संयोग की मांग कर रहा था वह नाजियों की अधिनायकवादी गतिविधियों

---

1. *G. Hardy* : A Short History of International Affairs, p. 364.

से सशंकित हो उठा और उसने जर्मनी के साथ संयोग का आन्दोलन बन्द कर दिया। इसके साथ ही १९३४ में आस्ट्रिया और इटली तथा हंगरी के मध्य विभिन्न राजनीतिक एवं आर्थिक समझौते हुए। अन्त में एबीसीनिया संकट के कारण जर्मन-इटालियन समझौता हो जाने के कारण रोम-बर्लिन धुरी का विकास हुआ।

जर्मनी में नाजियों के उत्कर्ष से फ्रान्स में अरक्षा की भावना बढ़ गयी, फलतः वह रूस, इटली और चैकोस्लावाकिया के साथ मैत्री स्थापित करने की दिशा में अग्रसर हुआ। फ्रान्स और इटली के मध्य लेवाल-मुसोलिनी समझौते के द्वारा जनवरी १९३५ में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना हुई, यद्यपि हितों और स्वार्थों में गम्भीर अन्तरों के कारण यह मैत्री अल्प जीवी सिद्ध हुई। इस फ्रांस-इटली मैत्री संघ की चर्चा करते हुए ई० एच० कार ने लिखा है—"हिटलर ने सत्तारूढ़ होने से जो कूटनीतिक उथल-पुथल हुई, उसमें अन्तिम महत्वपूर्ण उथल-पुथल फ्रान्स और इटली में पुनर्मैत्री थी।"

नाजी क्रान्ति का एक गम्भीर परिणाम यह निकला कि हिटलर के साम्यवादी विरोधी रुख के कारण ब्रिटेन एवं अमेरिका के सरकारी क्षेत्रों में जर्मनी में प्रजातन्त्र की हत्या को विशेष चिन्ता की दृष्टि से नहीं देखा गया। उन्होंने हिटलर के उत्कर्ष को अपने सोवियत विरोधी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वांछनीय समझा। परिणामस्वरूप वे ऐसे किसी भी कदम को उठाने में हिचकिचाते रहे जिससे हिटलर के रुष्ट होने का भय हो। इसके विपरीत उन्होंने हिटलर के प्रति संतुष्टीकरण नीति का अनुसरण किया और इस प्रकार १९३८ के कुख्यात म्यूनिक समझौते की पृष्ठभूमि तैयार की।

हिटलर के उद्भव ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर जबरदस्त प्रहार किया। नाजी क्रांति के बाद लगभग सभी यूरोपियन राष्ट्र अपनी सुरक्षा-व्यवस्थाओं को मजबूत करने में जुट गये। न केवल महाशक्तियों ने अपनी गुटबन्दियों को मजबूत किया बल्कि पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्र भी अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो उठे। इसीलिए बालकान मैत्रीसंघ (Balkan Entente) का उदय हुआ। वास्तव में जिन देशों को जर्मनी के आक्रमण का भय था, अब सभी ने जर्मनी के समीपवर्ती देशों से समझौता करने की चेष्टा की। इस प्रकार हिटलर के आगमन से यूरोप के रंगमंच पर तहलका मच गया। स्वयं जर्मनी भी अपनी रक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ करने के प्रयत्नों में लग गया, फलतः रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण हुआ।

नाजी क्रांति ने सुरक्षा और शस्त्रीकरण की दौड़ को तीव्रतम गति देकर चारों तरफ संदेह और भय का वातावरण व्याप्त कर दिया। इसने अत्यन्त गम्भीर, दूरगामी एवं विनाशकारी परिणामों की आधारभूमि तैयार की, अतः शीघ्र ही द्वितीय महायुद्ध के काले बादल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर मण्डराने लगे। हिटलर का उत्कर्ष प्रत्यक्ष रूप से १९३९ के सितम्बर में प्रारम्भ होने वाले भीषण नरसंहार और विध्वंस के साथ सम्बद्ध हो गया।

हिटलर की विदेश नीति के उद्देश्य और उपाय

नाजी जर्मनी की विदेश नीति हिटलर की प्रसिद्ध पुस्तक "मीन कैम्फ" (Mein Kampf) पर आधारित थी। इसके मुख्य उद्देश्य निम्न-लिखित थे—

(१) **आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार जर्मन जाति के सब व्यक्तियों का एक बृहत्तर जर्मनी में एकीकरण:**—वर्साय संधि की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत जर्मनी से अनेक प्रदेश छीन लिए गये थे और जर्मन भाषा-भाषी आस्ट्रिया को जर्मनी से पूर्णतः पृथक करते हुए दोनों के एकीकरण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। हिटलर की विदेश नीति का यह प्रमुख लक्ष्य था कि आस्ट्रिया, डैंजिग, स्विट्जरलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया और बाल्टिक राज्यों में रहने वाले जर्मनों को "विदेशी दासता के बन्धन से मुक्त करके" जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित किया जाय।

(२) **वर्साय एवम् सेन्ट जर्मेन की शांति संधियों की समाप्ति**—हिटलर की दृष्टि में वर्साय और सेन्ट जर्मेन की संधियां जर्मनी के मुख पर तमाचा थीं। अतः उसकी विदेश नीति का दूसरा प्रमुख लक्ष्य इन अपमान-जनक संधियों को रद्द करना था। वर्साय की कलंकित संधि को अपने प्रचार का महत्वपूर्ण अस्त्र बनाकर वह जर्मन जनता में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति घोर घृणा का बीजारोपण करके शस्त्रीकरण एवं युद्ध के लिए उन्हें भड़काना चाहता था।

(३) **जर्मन जनता की बढ़ती हुई आबादी के लिए अधिक प्रदेशों एवं स्थान की प्राप्तिः**—हिटलर की वैदेशिक नीति का लक्ष्य जर्मनी को विश्व की सर्वोच्च महाशक्ति बनाना था और यह तभी संभव था जबकि जर्मनी का प्रादेशिक विस्तार किया जाय। हिटलर ने "मीन कैम्प" में स्पष्ट लिखा था कि इस प्रसार की दिशा रूस और उस पर आश्रित राज्य हैं। हिटलर ने वस्तुतः पूर्व की ओर बढ़ने की प्राचीन जर्मन नीति को पुनर्जीवित किया। इस तरह उसका उद्देश्य डैन्यूब की घाटी तथा बालकान प्रायद्वीप पर नियन्त्रण स्थापित करना और ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि के अनुसार श्वेत रूस, यूक्रेन एवं बाल्टिक राज्यों पर आधिपत्य जमाना था।

अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु नाजी जर्मनी के लिए युद्ध की तैयारी करना और उचित-अनुचित सभी उपायों का आश्रय लेना सर्वथा स्वाभाविक था। अपनी वैदेशिक नीति के उद्देश्यों को किस प्रकार प्राप्त करना है—इसे "मीन कैम्फ" में स्पष्ट कर दिया गया था। उसमें कहा गया था कि—

जर्मनी के "पीड़ित प्रदेश उग्र विरोध-प्रदर्शनों द्वारा पितृ-देश में वापिस नहीं लाये जा सकते, बल्कि कठोर आघात करने में समर्थ तलवार द्वारा ही लाये जा सकते हैं। इस तलवार का निर्माण करना आन्तरिक नेतृत्व का कार्य है; इसके निर्माण कार्य की रक्षा करना और युद्ध में साथी खोजना विदेश नीति का कार्य है।"

स्पष्ट है कि हिटलर की विदेशी नीति की धारा मुख्यतः तीन दिशाओं में प्रवाहित होनी थी–(१) वर्साय संधि की अवहेलना करते हुए एक समर्थ तलवार का निर्माण; (२) युद्ध-कार्य के लिए मित्रों की खोज; एवम् (३) क्षेत्रीय विस्तार। इन तीनों दिशाओं में अग्रसर होने के लिए हिटलर ने धमकी, धौंस, शांति का दंभ और आडम्बर, संधिभंग और युद्ध आदि के सभी अन्यायपूर्ण उपायों का अवलम्बन किया। स्थायी शांति का घोर शत्रु होते हुए भी हिटलर ने अपने अनेक उद्देश्य बन्दर-भभकी और धौंस से तथा यह कहते हुए पूरे किये कि वह तो शांति का इच्छुक है लेकिन उसकी यह प्रादेशिक मांग न्यायपूर्ण और अन्तिम है जिसकी पूर्ति के बाद अशांति का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वास्तव में "मीन कैम्फ" में दिये गये यदि हिटलर के नाना अवतरणों का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि "विश्वशक्ति अथवा कुछ नहीं" (World Power or Nothing) ही हिटलर का अन्तिम लक्ष्य था। अपनी अद्वितीय तथा अविजित शक्ति द्वारा विश्व-आधिपत्य का स्वप्न पूरा करना ही उसका ध्येय था और उसके लिए "रक्त एवं लौह" (Blood and iron) का प्रयोग करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं।

नाजी जर्मनी की विदेश नीति के प्रमुख कार्य

अब हम उन प्रमुख कार्यों की एक-एक करके चर्चा करेंगे जो हिटलर ने अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किये।

(१) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का बहिष्कार व राष्ट्रसंघ का परित्याग- वर्साय संधि द्वारा यह निश्चित हुआ था कि जर्मनी का निःशस्त्रीकरण सामान्य निःशस्त्रीकरण का प्रथम पग है। अतः राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जर्मनी ने यह मांग रखी कि वर्साय व्यवस्था के अनुसार या तो अन्य देश भी जर्मनी की भांति अपनी सेनाओं और शस्त्रास्त्रों में कमी कर दें अन्यथा जर्मनी को भी अन्य देशों की भांति सेना रखने और शस्त्रीकरण करने का समान

अधिकार होगा। वर्साय संधि की बेड़ियों को काट डालने के लिए हिटलर का यह एक अत्यन्त चतुर कूटनीतिक हथियार था। चूंकि फ्रान्स जर्मनी की समानता (Parity) की मांग का प्रबल विरोध कर रहा था और हिटलर की नीति का मुख्य आधार शस्त्रीकरण था अतः हिटलर ने "शांति, समानता और सम्मान" के उच्च प्रजातांत्रिक सिद्धांतों की दुहाई देते हुए १४ अक्टूबर १६३३ को नाटकीय ढंग से निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का बहिष्कार करने की घोषणा करते हुए राष्ट्रसंघ की सदस्यता का परित्याग करने का नोटिस भी दे दिया। इस अवसर पर जर्मन जनता को अपने एक संदेश में उसने कहा—"जर्मनी की पहली सरकारें राष्ट्रसंघ में इस आशा से सम्मिलित हुई थीं कि यह विभिन्न जातियों के संघर्षों के न्यायपूर्ण निपटारे का निष्पक्ष मंच होगा अतः इसके लिए यह आवश्यक है कि जर्मन जनता को इसमें समानता के अधिकार प्राप्त हों।" उसने यह घोषणा की कि समान अधिकारों के अभाव में राष्ट्रसंघ का सदस्य होना ६½ करोड़ जर्मन लोगों के "सम्मान-प्रेमी राष्ट्र और इसकी सरकार के लिए असहनीय अपमान है।"

वास्तव में हिटलर का यह कदम एक महान् सैनिक शक्ति का निर्माण करने की एक संकटपूर्ण योजना थी क्योंकि वर्साय संधि के दायित्वों का उल्लंघन करने से फ्रांस द्वारा एक विरोधात्मक युद्ध प्रारम्भ कर देने का खतरा था। किन्तु हिटलर ने अपने इस पहले कूटनीतिक दाव से पश्चिमी राजनीतिज्ञों में हलचल मचाकर भी सावधानी और सतर्कतापूर्ण नीति पर चलते हुए १८ अक्टूबर, १६३३ को यह घोषणा की कि निःशस्त्रीकरण में जर्मनी की पूरी आस्था है और वह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए शक्ति का आश्रय नहीं लेगा। इसके विपरीत वह अन्य देशों के साथ अनाक्रमण समझौते करने को तैयार है। हिटलर की यह दूसरी घोषणा अशान्त पश्चिमी राष्ट्रों को शांत कर देने के लिए काफी थी।

उपरोक्त घोषणाओं के बाद हिटलर ने १२ नवम्बर, १६३३ को जर्मन जनता से राष्ट्रसंघ के परित्याग के प्रश्न पर मतसंग्रह किया जिसमें ६५% मतदाताओं ने हिटलर का पक्ष लिया। हिटलर का यह कार्य सार्वजनिक रूप से शस्त्रीकरण की ओर पहला पग था, वैसे गोपनीय रूप में नाजी मंत्रिमण्डल ४ अप्रेल १६३३ को ही युद्ध-योजनाओं का निर्माण करने और युद्ध की तैयारियाँ करने का निश्चय कर चुका था।

(२) **पोल-जर्मन अनाक्रमण समझौता** (२६ जनवरी, १६३४)—हिटलर ने अपनी कूटनीतिज्ञता का प्रखर परिचय उस समय दिया जबकि उसने एक वर्ष की अवधि में ही २६ जनवरी १६३४ को पोलैण्ड से अनाक्रमण समझौता सम्पन्न कर लिया। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य था कि हिटलर

ने अपने प्रवल शत्रु को मित्ररूप में परिणत कर दिया और इस तरह पिछले १५ वर्षों से दोनों तरफ के समाचारों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध किये जाने वाले विषवमन और विरोधी प्रचार पर सील लगा दी। दरअसल में १९१९ के उपरान्त जितनी कटु भावनाएं जर्मनी और पोलैण्ड के बीच विद्यमान थीं, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं थीं। युद्ध के बाद विभिन्न संधियों द्वारा पोलैण्ड को सबसे अधिक जर्मन प्रदेश दिये गये थे। पोलिश गलियारे का प्रश्न दोनों के मध्य जीवन-मरण का प्रश्न बना हुआ था और पोलैण्ड द्वारा शासित प्रदेशों में जर्मन अल्पसंख्यक राष्ट्रसंघ से पोलिश अत्याचारों की बराबर शिकायत करते चले आये थे। इसलिए जब दोनों देशों ने संधि द्वारा एक दूसरे को यह आश्वासन दिया कि आने वाले दस वर्षों तक वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे तो हिटलर के इस विलक्षण नीति-चातुर्य से समूचा विश्व आश्चर्य चकित रह गया।

दो कट्टर शत्रुओं की यह मैत्री निःसन्देह विस्मयजनक थी किन्तु दोनों ही पक्षों ने कुछ विशेष उद्देश्यों एवं निहित स्वार्थों से प्रेरित होकर पारस्परिक समझौते पर हस्ताक्षर किये थे। हिटलर ने अपने कार्यों द्वारा पश्चिमी यूरोप के देशों को भयभीत कर अपना शत्रु बना लिया था, और चूंकि उसने साम्यवादियों को भी उत्पीड़ित किया था अतः वह सोवियत रूस को भी अपना मित्र नहीं बना सकता था। कार के मतानुसार इस समय जर्मनी को सर्वथा मित्रहीन होने का भय था।[1] इन परिस्थितियों में हिटलर ने यही उचित समझा कि पोलैण्ड के साथ शत्रुता का वातावरण समाप्त करके मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया जाय। इस मैत्री से जर्मनी को अनेक लाभ थे। प्रथम, जर्मनी यद्यपि अपना विस्तार कई दिशाओं में चाहता था किन्तु वह इस निर्णय पर पहुंचा था कि उसे सबसे पहले दक्षिण की ओर बढ़ना चाहिये। साथ ही हिटलर की नीति यह थी कि जर्मन साम्राज्य का विस्तार शनैः शनैः हो, क्योंकि सभी दिशाओं में एक साथ बढ़ने से चारों ओर से शत्रुओं द्वारा घिर जाने की संभावना थी और जर्मनी उस समय इतना सक्षम न था कि वह सभी शत्रुओं से अकेला जूझ सकता। ऐसी स्थिति में एक शत्रु से एक समय में निपटने की नीति निरापद थी। पोलैण्ड के साथ मैत्री-संधि का दूसरा बड़ा लाभ प्रचारात्मक था। इस संधि के द्वारा हिटलर संसार के सामने यह प्रदर्शित कर सकता था कि वह शान्तिपूर्ण नीति का पक्षपाती है और शान्ति की स्थापना के लिये अपने कट्टर शत्रु को भी गले लगाने में कोई संकोच नहीं करता, इस समझौते का तीसरा लाभ यह था कि इस समय सार घाटी में

1. *Carr* : International Relations Between the Two World Wars, page 200.

जनमत संग्रह होने वाला था और शान्तिवादी नीति अपनाने से सार के जर्मनी में मिलने की संभावना में वृद्धि होती थी । पोलैण्ड से मेल का चौथा लाभ यह था कि पोलैण्ड की तरफ से चिन्तामुक्त होकर हिटलर अन्य दिशाओं में विशेषकर दक्षिण में आस्ट्रिया की ओर अधिक सरलता से बढ़ सकता था । यद्यपि पोलैण्ड से की जाने वाली यह अनाक्रमण संधि १० वर्ष के लिये थी, किन्तु हिटलर तो केवल शक्ति-सम्पन्न होने का अवसर पाना चाहता था, और इसीलिये उसने ५ वर्ष बाद ही १९३९ में डैन्जिग को हड़पने के लिये आक्रमण कर दिया । फिर भी १९३४ में पोलैण्ड के साथ संधि कर लेना हिटलर की दूरदर्शिता थी ।

पोलैण्ड ने जिन प्रेरणाओं से यह अनाक्रमण समझौता किया, वे भी इतनी ही प्रबल थीं । १५ वर्षों से वह दो शत्रु राष्ट्रों—जर्मनी और रूस—के बीच असुविधापूर्वक रह रहा था । उसका एक साथी, फ्रांस, उससे दूर था । इसके अतिरिक्त लोकार्नो संधि से फ्रांस की यह प्रवृत्ति पहले ही स्पष्ट हो चुकी थी कि वह अपनी सुरक्षा की चिन्ता पहले करेगा और पोलैण्ड के हितों की बाद में । साथ ही चतुःशक्ति-समझौते पर हस्ताक्षर करके अभी हाल ही में उसने पोलैण्ड की भावनाओं को गहरी चोट पहुंचाई थी । इन सब बातों के अलावा जर्मनी अब एक महाशक्ति के रूप में उदित हो रहा था अतः आपत्ति के समय फ्रांस की सहायता मिल सकना पहले से भी अधिक अनिश्चित हो गया था । पोलैण्ड यह भी समझता था कि जर्मनी और रूस का संघर्ष अनिवार्य है तथा पोलैण्ड की धरती ही इस युद्ध में रणभूमि के रूप में प्रयुक्त होगी । इन खतरों को देखते हुए वह अब अपने दोनों ही बड़े पड़ोसियों से शत्रुता नहीं कर सकता था । दोनों चक्की के पाटों में पिसने से बचने के लिये उसे दोनों में से किसी एक को मित्र बना लेना आवश्यक था । चूंकि जर्मनी उसे अधिक शक्तिशाली और अधिक विश्वसनीय प्रतीत हुआ, अतः उसने जर्मनी के साथ संधि कर ली । पोलैण्ड का विश्वास था कि अनाक्रमण की जो स्थिति १० वर्षों तक स्थिर रह सकती है, उसे अधिक स्थाई भी बनाया जा सकेगा; और इस दिशा में एक प्रयोग कर देखना अनुपयोगी न होगा ।

(३) आस्ट्रिया को हड़पने का विफल प्रयास (२५ जुलाई, १९३४)— पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण संधि के बाद जर्मनी पूर्वी सीमा से निश्चिन्त हो गया । अब हिटलर ने जर्मन भाषा-भाषी अपनी मातृ-भूमि आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ एकीकरण (Anschluss) का प्रयत्न किया । इस प्रकार का कोई भी प्रयत्न सेंट जर्मेन की संधि द्वारा वर्जित था । कार (Carr) के शब्दों में "आस्ट्रिया को अपनी विदेश नीति का प्रथम लक्ष्य बनाने सम्बन्धी हिटलर का

निश्चय कई मानों में दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ।"[1] सन् १६१६ से १६३३ तक की अवधि में यह बात संशयहीन थी कि अधिकांश आस्ट्रियन जनता जर्मनी के साथ एकीकरण की इच्छुक थी, लेकिन नाजी क्रांति के कारण अधिकांश आस्ट्रियन लोगों का यह मत बदल गया था। "न तो सोशियल-डेमोक्रेट, जो कि आस्ट्रियन संसद में सबसे अधिक बहुमत वाली पार्टी के थे, और न ही यहूदी, जो कि पर्याप्त संख्या में थे और वियना में जिनका काफी प्रभाव था, यह सोचते थे कि नाजी जर्मनी में उनके साथियों की जो हालत हुई है, वैसी ही उनकी भी हालत बने। केथोलिक धर्माधिकारी भी जिनका आस्ट्रियन राजनीति में काफी प्रभाव था, जर्मन नाजियों द्वारा जर्मनी में उनके अनुयायियों पर किये गये अत्याचारों के कारण नाजियों के विरोधी बन चुके थे। अविश्वास के इन विशेष कारणों के अतिरिक्त, परम्परा से आराम पसन्द आस्ट्रियन जर्मनी के नये शासन की पाशविक और दमनपूर्ण क्षमता को संदेह की दृष्टि से देखते थे। यह सम्भव हो सकता है कि हिटलर के सत्तारूढ़ होने के बाद किसी भी समय यदि आस्ट्रिया में स्वतंत्र मतदान (Free Vote) होता तो जर्मनी के साथ संघ बनाने के पक्ष में ही बहुमत होता। किन्तु यह बहुमत १६३३ के पहले, सम्भव बहुमत के समान अत्यधिक और निर्विवाद (Overwhelming and incontestable) किसी भी स्थिति में नहीं होता।"[2]

जो भी हो, नाजी क्रान्ति की आस्ट्रिया में प्रथम प्रतिक्रिया अनुकरण (Imitation) की हुई। आस्ट्रिया में जर्मनी से एकीकरण के पक्षपाती हिटलर प्रेरित नाजी दल के संगठन को खतरनाक ढंग से प्रभावशाली होते देखकर आस्ट्रियन प्रधानमन्त्री डॉल्फस (Dollfuss) ने यही निष्कर्ष निकाला कि आस्ट्रिया में लोकतंत्रवाद की सफलता नहीं हो सकती है। अतः उसने मुसोलिनी की तरह आस्ट्रिया में फासिस्ट-प्रणाली स्थापित करने का निश्चय किया। उसके इस निर्णय की प्रथम शिकार सोशियल डेमोक्रेट (Social Democrates) हुए। मार्च १६३३ में डॉल्फस ने संविधान को स्थगित कर प्रतिनिधि सभा में सोशियल डमोक्रेटों के विरोध को अमान्य कर दिया। उसने नाजी पार्टी के विरुद्ध "राष्ट्रीय पार्टी" नामक एक दूसरे दल का संगठन किया और एक आदेश निकाल कर "राष्ट्रीय पार्टी" के अतिरिक्त अन्य सभी राजनीतिक दलों को भंग कर दिया। सोशियल डेमोक्रेटों ने सरकार के इस कदम का घोर विरोध किया, किन्तु डॉल्फस ने "हीमवेर" (Heimwehr) नामक एक गैर-सरकारी सैनिक संगठन की सहायता से सोशियल डेमोक्रेट

1. "Hitler's decision to make Austria the first object of his foreign policy proved in many respects unfortunate."
—*Carr* : Op. Cit., page 204.

2. *Carr* : Op. Cit., page 204-5.

पार्टी को बुरी तरह कुचल डाला । लेकिन डॉल्फस की यह एक गम्भीर भूल थी क्योंकि आस्ट्रिया में केवल सोशियल डेमोक्रेट पार्टी ही नाजियों की प्रगति को रोकने में सरकार की काफी सहायता कर सकती थी ।

सोशियल डेमोक्रेट पार्टी को खत्म करने के बाद डॉल्फस ने आस्ट्रियन नाजी पार्टी का भी अनेक उपायों से दमन किया । लेकिन, जर्मनी की अप्रत्यक्ष सहायता के कारण, नाजीदल समाप्त नहीं किया जा सका । ३० हजार से ५० हजार के लगभग आस्ट्रियन नाजी डॉल्फस के दमन से बचने के लिये जर्मनी भाग गये । हिटलर ने इन नाजियों को संगठित करके एक "आस्ट्रियन लिजिन" की स्थापना कर दी जिसका काम आस्ट्रो-जर्मन सीमान्त पर गड़बड़ी पैदा करना था । जुलाई १९३४ में नाजी लोगों ने डॉल्फस को समाप्त करके आस्ट्रिया में नाजी सरकार स्थापित करने का षडयन्त्र रचा । जर्मनी में रहने वाले "आस्ट्रियन लिजिन" के नाजियों में अभूतपूर्व हलचल दिखाई देने लगी । सशस्त्र आस्ट्रियनों से भरी हुई लारियां प्रत्येक रात सीमान्त की ओर जाती थी और वापिस खाली म्यूनिख लौटती थी । २५ जुलाई १९३४ को आस्ट्रि-यन नाजियों के एक दल ने वियना में संघीय चांसरी (Federal Chancery) पर अधिकार कर लिया और भाग निकलने के समय डॉल्फस की हत्या कर दी । उसी समय नाजियों का एक दूसरा दल वियना के रेडियो स्टेशन में घुस गया और उसने ऐलान कर दिया कि डा० डॉल्फस ने त्याग-पत्र दे दिया है । इसी तरह का ऐलान कुछ इसी समय म्यूनिख-रेडियो से भी हुआ । संभवतः यह देश के अन्य भागों में व्यापक विद्रोह के लिए इशारा था । लेकिन नाजियों की यह योजना सफल न हो सकी । विद्रोहियों को जनता का समर्थन नहीं मिला और सरकारी फौजों ने शीघ्र ही इस विद्रोह को दबा दिया । शाम होते-होते वियना में पूर्ण शांति कायम हो गई, अधिकांश नाजी षड्यंत्रकारी पकड़ लिये गये । इस समय, आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए कृत-संकल्प इटली ने एकदम कठोर रुख अपनाते हुए शीघ्र ही आस्ट्रियन सीमान्त पर अपनी फौजें भेज दीं और इस तरह आस्ट्रिया को हड़पने की नाजी चाल पूरी तरह विफल हो गई । मुसोलिनी ने यह चेतावनी दे दी कि यदि हिटलर आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न करेगा तो इटली से युद्ध छिड़ जायगा । हिटलर ने इस समय युद्ध टालना ही उपयुक्त समझा ।

सामान्यतः यही माना गया कि जर्मन सहायता के बिना उपरोक्त विद्रोह संगठित नहीं किया जा सकता था । कई लोग तो हिटलर को डॉल्फस की मृत्यु के लिये नैतिक रूप से उत्तरदायी मानते थे । लेकिन हिटलर ने, बदनाम होकर भी, बदनामी झेलने से साफ इन्कार कर दिया । उसने यह घोषणा की कि जुलाई की घटना में उसका कोई हाथ न था । उसने इस बात की घ-

म्वार अस्वीकार किया कि आस्ट्रिया की स्वतंत्रता पर खतरा पैदा करना या उसके घरेलू मामले में हस्तक्षेप करने का उसका कोई विचार भी न था ।[1] आस्ट्रिया के षडयंत्रकारियों और जर्मन नाजियों में कोई स्पष्ट सम्बन्ध भी प्रमाणित नहीं हो सका, फिर भी हिटलर ने षडयंत्रकारियों के बिचवानिये के रूप में काम करने वाले आस्ट्रिया के जर्मन राजदूत डॉ० रीथ को वापिस बुला लिया और उसके स्थान पर वॉन पापेन को राजदूत बनाकर वियना भेजा । अब हिटलर ने आस्ट्रिया के प्रति अपनी नीति कुछ दिनों के लिये परिवर्तित कर दी ।

इस घटना का यूरोपीय राजनीति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा । प्रथम तो हिटलर ने यह समझ लिया कि आस्ट्रिया को हड़पने के लिए पहले मुसोलिनी को खुश करना और उसका समर्थन पाना आवश्यक है । दूसरे, हिटलर एवं जर्मनी के उत्कर्ष से भयभीत होकर सोवियत रूस ने राष्ट्रसंघ में प्रविष्ट होना उपयुक्त समझा । इधर इटली प्रारम्भ में जर्मन-विरोधी गुट में सम्मिलित हुआ, परिणामस्वरूप लेवाल तथा मुसोलिनी ने ७ जून १९३५ को फ्रैन्को-इटालियन समझौते पर हस्ताक्षर किये । इधर फ्रांस ने पूर्वी यूरोप के देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध बढ़ाना शुरू कर दिया । हिटलर से सशंकित फ्रांस और आस्ट्रिया के मध्य १९३५ में एक संधि सम्पन्न हुई ।

(४) सार की प्राप्ति, वर्साय संधि की सैनिक धाराओं का भंग और शस्त्रीकरण का प्रारम्भ—वर्साय की संधि के अनुसार १५ वर्ष बाद १९३५ में सार की घाटी में एक जनमत संग्रह के द्वारा यह निश्चय होना था कि भविष्य में सार प्रदेश जर्मनी का अंग बने, फ्रांस के अधीन रहे या राष्ट्रसंघ द्वारा शासित हो । इस जनमत संग्रह का निर्णय जर्मनी के पक्ष में रहा और तदनुसार १ मार्च १९३५ को सार का प्रदेश जर्मनी को वापिस मिल गया । सार घाटी को पाने के बाद एक बार फिर पश्चिमी राष्ट्रों को धोखा देने के लिए हिटलर ने घोषणा की कि पश्चिम में अब कोई नया प्रदेश लेने की उसकी कोई आकांक्षा नहीं है । इसी मध्य, एक चतुर कूटनीतिक खिलाड़ी की तरह उसने ग्रेट ब्रिटेन के साथ वायु सेना के नियंत्रण के लिये वायु-समझौते (Air Pact) की चर्चा आरम्भ की । इसी समय पुनः शस्त्रीकरण सम्बन्धी ब्रिटिश श्वेतपत्र में जर्मन शस्त्रीकरण के निर्देश से तथा १२ मार्च को फ्रांस द्वारा अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि दुगुनी कर दिये जाने से जर्मनी को अपने शस्त्रीकरण का स्वर्ण अवसर मिल गया । उसने वर्साय संधि के सैनिक प्रतिबन्धों से मुक्त होने का उपयुक्त अवसर समझते हुए १६ मार्च १९३५ को यह घोषणा कर दी कि जर्मनी वर्साय संधि की सैनिक व्यवस्थाओं से बंधा

1. *Hayes and Cold* : History of Europe, Vol. II, page 406.

हुआ नहीं है और अब उसकी शान्तिकालीन सेना में ३६ डिवीजनों की ५ लाख ५४ हजार स्थल सेना होगी। हिटलर ने ब्रिटेन और फ्रांस के समकक्ष वायु सेना के निर्माण का भी संकल्प प्रकट किया और साथ ही यह घोषणा भी की कि जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा के नियम लागू किये जायेंगे। "राष्ट्रीय प्रतिरक्षा सेना पुनर्निर्माण विधि" (Law for the Reconstruction of the National Defence Forces) की घोषणा करते हुए यह स्पष्टीकरण किया गया कि चूंकि मित्रराष्ट्रों ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया है, अतः वर्साय संधि के निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं का पालन कानूनी और नैतिक दृष्टि से जर्मनी के लिये आवश्यक नहीं है तथा जर्मनी को भी शस्त्रीकरण करने का अधिकार है।

राजनीतिक शतरंज का चतुर खिलाड़ी हिटलर जानता था कि शस्त्रीकरण सम्बन्धी उसकी उपरोक्त घोषणाओं से मित्रराष्ट्रों में एक तूफान उठ खड़ा होगा। इसलिये राजकीतिक शतरंज की गहरी चाल चलते हुए हिटलर ने शान्तिपूर्ण उपायों में अगाध विश्वास प्रकट करके ब्रिटेन और फ्रांस के प्रधानमंत्रियों को संधि चर्चा के लिए बर्लिन में निमंत्रित किया। हिटलर का यह एक विलक्षण कूटनीतिक जाल था क्योंकि ऐसी संधि-वार्ता को स्वीकार करना ही वर्साय की संधि-व्यवस्थाओं में शंका प्रकट करना और इस प्रकार संधि की अवहेलना करना था। ग्रेट ब्रिटेन हिटलर का चाल संभवतः न भांप पाया और इसीलिए २५ मार्च को साइमन तथा इडन बर्लिन पहुंचे। अपनी बातचीत के दौरान में हिटलर ने अपने ब्रिटिश अतिथियों से कहा कि वह वायु समझौते का स्वागत करने को तैयार है, परन्तु उसे पूर्वी यूरोप अथवा मध्य यूरोप के लिये लोकार्नो संधियां मान्य नहीं हैं। उसने ब्रिटिश नेताओं को सूचित किया कि जर्मन सेना की जो सीमा निर्धारित की जा चुकी है उसे कम नहीं किया जा सकता तथा जर्मनी की वायु सेना फ्रांस के बराबर ही होनी चाहिये। ब्रिटेन को प्रसन्न रखने के लिये हिटलर ने यह प्रस्ताव रखा कि जर्मन नौ सेना, ब्रिटिश नौ सेना के ३५ प्रतिशत से अधिक न होगी। इसके साथ ही उसने निःशस्त्रीकरण में अपना प्रगाढ़ विश्वास प्रकट करते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि यदि सभी देश निःशस्त्रीकरण कार्यान्वित करने को उद्यत हों तो वह भी ऐसा करने के लिये तैयार है।

ब्रिटेन अवश्य जर्मन कूटनीति का मोहरा बन गया, किन्तु फ्रांस हिटलर द्वारा वर्साय संधि की सैनिक धाराओं को भंग करने से बड़ा विक्षुब्ध एवं भयभीत हुआ। उसने ब्रिटेन के साथ मिलकर राष्ट्रसंघ में यह प्रस्ताव रखा कि जर्मनी के कार्य पर विचार किया जाये और वर्साय संधि का उल्लंघन करने के लिये जर्मनी की भर्त्सना की जाये। राष्ट्रसंघ की परिषद् का अधिवेशन होने

से पूर्व ही ब्रिटिश, फ्रेंच और इटालियन राजनीतिज्ञों ने स्ट्रेसा (Stressa) **में एक सम्मेलन का आयोजन किया** ताकि इन तीनों देशों की सरकारें मिलकर जर्मनी के कार्य का विरोध कर सकें। स्ट्रेसा सम्मेलन ११ अप्रेल १९३५ से १४ अप्रेल तक चला। इसमें जर्मनी के खिलाफ निन्दा का प्रस्ताव पास किया गया क्योंकि उसने वर्साय संधि के अन्तर्गत मंजूर किये गये अपने कर्त्तव्यों को अस्वीकार कर दिया था। सम्मेलन में तीनों देशों के प्रतिनिधियों द्वारा वर्साय-व्यवस्था की रक्षा करने में परस्पर सहयोग करने की सम्मिलित घोषणा भी की गई। लेकिन स्ट्रेसा घोषणा केवल धमकी मात्र ही सिद्ध हुई क्योंकि इसको लागू करने के लिये कोई कार्यवाही नहीं की गई। उल्टे, इससे जर्मनी में बहुत रोष फैला। हिटलर विशेषत: ब्रिटेन से बड़ा नाराज हुआ क्योंकि एक तरफ तो वह जर्मनी से समझौता और दूसरी तरफ उसकी भर्त्सना कर रहा था। १७ अप्रेल को संघ की परिषद् ने भी ब्रिटिश-फ्रेंच प्रस्ताव को पास कर दिया। परन्तु ऐसी भर्त्सनाओं अथवा निन्दाओं से जर्मनी का कोई अहित नहीं होता था। शाब्दिक विरोध का मूल्य भी क्या था? जर्मन पुन-र्शस्त्रीकरण अब एक तथ्य था जिसे कोई रोक नहीं सकता था।

राष्ट्रसंघ और मित्रराष्ट्रों की उपरोक्त निष्क्रियता से हिटलर का साहस बढ़ता चला गया। ब्रिटेन की तरफ से हिटलर इसलिये निश्चित था कि वह उसके सामने जलसेना-सम्बन्धी समझौते का आकर्षक प्रस्ताव रख चुका था और ब्रिटेन ऊपर से जर्मनी की निन्दा करते हुये भी भीतर से उसे नाराज न करके उसके साथ नौ-सैनिक समझौता करने को उत्सुक था। हिटलर के कदम से फ्रांस और रूस विशेष भयभीत थे, इसीलिये इन्होंने २ मई को जर्मनी के विरुद्ध '**फ्रैन्को सोवियत पेक्ट**" कर लिया। इसी प्रकार चेको-स्लोवाकिया और सोवियत रूस के मध्य १६ मई को "**चैक-सोवियत समझौता**" हो गया। परन्तु इसी समय जर्मनी ने ब्रिटेन से समझौता करके अपने शत्रुओं में फूट डाल दी।

(५) **एंग्लो-जर्मन नाविक समझौता (१८ जून १९३५)**—एंग्लो-जर्मन नाविक संधि हिटलर की आक्रमणात्मक नीति (Aggressive Policy) का पांचवां चरण था। जर्मनी द्वारा सैनिक कानून पास किये जाने की प्रति-क्रियास्वरूप मित्रराष्ट्रों में उत्पन्न होने वाली जर्मन विरोधी भावनाओं को शान्त करने तथा पश्चिमी राष्ट्रों में फूट के बीज बोने के लिये हिटलर ने २१ मई १९३५ को जर्मन संसद (Reichstag) में एक बड़ा कूटनीतिपूर्ण भाषण दिया। इस भाषण में उसने 'न्याय' और 'शान्ति' की दुहाई देते हुए युद्ध को पूर्णत: घृणित बताया, बहुपक्षीय (Multilateral) समझौतों को युद्धों का मूल कारण बताया और पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौतों को

अपनी शांतिवादी नीति का प्रमाण बताते हुए निःशस्त्रीकरण में अपनी पूर्ण आस्था प्रकट की। हिटलर ने अपने इस भाषण में यह आश्वासन दिया कि वह भविष्य में वर्साय एवं लोकार्नो की संधि व्यवस्थाओं का पालन करेगा। अपने इस भाषण में सोवियत संघ के विरुद्ध विष-वमन करके हिटलर ने पश्चिमी राज्यों की सोवियत विरोधी भावनाओं को उकसा कर जर्मनी के प्रति सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयास किया।

परन्तु हिटलर के इस भाषण की सबसे मुख्य बात यह थी कि उसमें उस प्रस्ताव को दोहराया गया जो उसने सबसे पहले ब्रिटिश प्रतिनिधियों-साइमन और ईडन के सम्मुख प्रस्तुत किया था और जिसमें जर्मनी एवं इंगलैण्ड के मध्य नाविक समझौते की बात की गई थी। इस समझौते का प्रस्ताव दोहरा कर हिटलर ने इस समय बड़े कूटनीतिक चातुर्य का परिचय दिया। हिटलर इस बात से परिचित था कि शक्ति-संतुलन के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले ब्रिटेन को फ्रैन्को-सोवियत समझौता अच्छा नहीं लगा था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटेन जर्मनी की स्थल एवं वायुसेना के विकास को अपने हितों के विरुद्ध नहीं समझता है, किन्तु अपनी नाविक श्रेष्ठता की रक्षा के लिये वह जागरूक रहता है। हिटलर का इस प्रकार का सोचना तत्कालीन परिस्थितियों का सही मूल्यांकन था। ब्रिटेन ने जर्मनी का विश्वास किया। जून १९३५ में हिटलर ने रिब्बन ट्राप (Ribben Trop) को अपना विशेष राजदूत बनाकर समझौते के कार्य के लिये लन्दन भेजा। १८ जून को तत्कालीन ब्रिटिश विदेशमंत्री सर सैमुअल होर तथा रिब्बन ट्राप ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसके द्वारा यह निश्चित हुआ कि जर्मनी की नौ सेना, ब्रिटेन की नौ सैनिक शक्ति की ३५ प्रतिशत होगी।

यह नाविक समझौता हिटलर की एक महान् कूटनीतिक विजय थी क्योंकि इस समझौते में अप्रत्यक्ष रूप से इस बात की स्वीकृति निहित थी कि ब्रिटेन जर्मनी द्वारा वर्साय संधि की अवहेलना करते हुए स्थल और वायुसेना के निर्माण के जर्मन-प्रयत्नों का विरोध नहीं करेगा। इस संधि से स्ट्रेसा सम्मेलन के जर्मन विरोधी गुट में फूट पड़ गई, ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस और इटली से अलग हो गया। इस संधि द्वारा जर्मनी को पनडुब्बियां बनाने का भी अधिकार प्राप्त हो गया जिनका वर्साय की संधि में हर स्थिति में निषेध किया गया था। ब्रिटिश विश्वासघात से फ्रांस और इटली में बड़ा असन्तोष पैदा हो गया। हार्डी के शब्दों में "यदि हर हिटलर के प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य 'स्ट्रेसा मोर्चे' की एकता को हिलाना था तो उसने निश्चय ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया था।"[1] इस समझौते पर टिप्पणी करते हुए स्वयं रिब्बन ट्राप ने

---

1. "If the primary purpose of Herr Hitler's offer had been to shake the solidarity of the 'Stresa Front' it had certainly

लिखा—"इस समझौते का सबसे बड़ा महत्व यह था कि इससे ब्रिटेन वर्साय की संधि की शस्त्रास्त्र सम्बन्धी व्यवस्थाएं तोड़ने के लिए तैयार हो गया।"

ग्रेट ब्रिटेन वर्साय-संधि भंग के लिये फ्रांस एवं इटली के क्रोध का भाजन अवश्य बना, किन्तु कार ने इसे अंग्रेजों की समझदारी एवं सामान्य बुद्धि का परिणाम बताया है। उसका कहना है कि फ्रांस ने किसी भी प्रकार का समझौता करने से इन्कार करके जर्मनी को थल सेना का असीमित पुनर्शस्त्रीकरण करने के लिए उत्साहित कर दिया था जब कि ग्रेट ब्रिटेन ने समझौता करने की तत्परता दिखाकर जर्मन नौ-सैनिक शक्ति के विस्तार की महत्वपूर्ण सीमा निश्चित कर दी। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि पहले जो कुछ हो चुका था, उससे यह समझौता इतना असंगत मालूम पड़ता था कि फ्रांस, इटली और सोवियत संघ में उस से इतनी हैरानी हुई जितनी ब्रिटेन द्वारा जेनेवाप्रस्ताव का अगुआ बनने के समय भी जर्मनी में नहीं हुई थी।[1]

(६) लोकार्नो संधियों का भंग, राइन प्रदेश का सैन्यीकरण (७ मार्च १९३६)—हिटलर की आक्रामक नीति का छठा चरण लोकार्नो संधियों की शर्तों का उल्लंघन करके राइन प्रदेश का पुनर्शस्त्रीकरण था। हिटलर ने पुनर्शस्त्रीकरण का यह पग बड़े उपयुक्त अवसर पर उठाया। इस समय एबीसीनिया पर इटली के आक्रमण ने ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के स्ट्रेसा-मोर्चे (Stressa Front) को विनष्ट कर दिया था और पश्चिमी देश तथा राष्ट्रसंघ आक्रमण की समस्या को सुलझाने में व्यस्त थे। इसके अतिरिक्त एबीसीनिया प्रश्न का प्रत्येक निर्णय जर्मनी के पक्ष में लाभकारी था। यदि इस निर्णय में इटली की हार होती तो आस्ट्रिया-जर्मनी एकीकरण के एक प्रबल विरोधी का पराभव होता, और यदि इटली की जीत होती तो पश्चिमी राष्ट्रों एवं राष्ट्रसंघ की निष्क्रियता तथा नपुंसकता का ढिंढोरा पिट जाता जिससे जर्मनी को और भी साहसपूर्ण कदम उठाने की प्रेरणा मिलती। राइन प्रदेश का सैन्यीकरण करने से हिटलर को एक बड़ा लाभ यह था कि जहां उसका शत्रु फ्रांस पहले इस प्रदेश के विसैन्यीकृत होने से इस ओर से निश्चिन्त था तथा अपने पूर्वी यूरोप के मित्रों को सहायता देने में अधिक समर्थ था वहां अब उसे इस रक्षा सीमा की के लिए सुदृढ़ दुर्गपंक्ति बनाना एवं सेना रखना अनिवार्य हो गया।

हिटलर ने इन सब बातों एवं एबीसीनिया युद्ध के पूरे ब्यौरे का विचार करते हुए राइनलैण्ड में अपनी फौजें भेज देने का निश्चय कर लिया।

---

achieved its object."

—*Gathorn Hardy*: A Short History of International Affairs, page 40[illegible].

1. *Carr*: International Relations Between the Two World Wars, page 220-21.

अपनी शांतिवादी नीति का प्रमाण बताते हुए निःशस्त्रीकरण में अपनी पूर्ण आस्था प्रकट की। हिटलर ने अपने इस भाषण में यह आश्वासन दिया कि वह भविष्य में वर्साय एवं लोकार्नो की संधि व्यवस्थाओं का पालन करेगा। अपने इस भाषण में सोवियत संघ के विरुद्ध विष-वमन करके हिटलर ने पश्चिमी राज्यों की सोवियत विरोधी भावनाओं को उकसा कर जर्मनी के प्रति सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयास किया।

परन्तु हिटलर के इस भाषण की सबसे मुख्य बात यह थी कि उसमें उस प्रस्ताव को दोहराया गया जो उसने सबसे पहले ब्रिटिश प्रतिनिधियों-साइमन और ईडन के सम्मुख प्रस्तुत किया था और जिसमें जर्मनी एवं इंगलैण्ड के मध्य नाविक समझौते की बात की गई थी। इस समझौते का प्रस्ताव दोहरा कर हिटलर ने इस समय बड़े कूटनीतिक चातुर्य का परिचय दिया। हिटलर इस बात से परिचित था कि शक्ति-संतुलन के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले ब्रिटेन को फ्रैन्को-सोवियत समझौता अच्छा नहीं लगा था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटेन जर्मनी की स्थल एवं वायुसेना के विकास को अपने हितों के विरुद्ध नहीं समझता है, किन्तु अपनी नाविक श्रेष्ठता की रक्षा के लिये वह जागरूक रहता है। हिटलर का इस प्रकार का सोचना तत्कालीन परिस्थितियों का सही मूल्यांकन था। ब्रिटेन ने जर्मनी का विश्वास किया। जून १९३५ में हिटलर ने रिब्बन ट्राप (Ribben Trop) को अपना विशेष राजदूत बनाकर समझौते के कार्य के लिये लन्दन भेजा। १८ जून को तत्कालीन ब्रिटिश विदेशमंत्री सर सैमुअल होर तथा रिब्बन ट्राप ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसके द्वारा यह निश्चित हुआ कि जर्मनी की नौ सेना, ब्रिटेन की नौ सैनिक शक्ति की ३५ प्रतिशत होगी।

यह नाविक समझौता हिटलर की एक महान् कूटनीतिक विजय थी क्योंकि इस समझौते में अप्रत्यक्ष रूप से इस बात की स्वीकृति निहित थी कि ब्रिटेन जर्मनी द्वारा वर्साय संधि की अवहेलना करते हुए स्थल और वायुसेना के निर्माण के जर्मन-प्रयत्नों का विरोध नहीं करेगा। इस संधि ने स्ट्रेसा सम्मेलन के जर्मन विरोधी गुट में फूट पड़ गई, ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस और इटली से अलग हो गया। इस संधि द्वारा जर्मनी को पनडुब्बियां बनाने का भी अधिकार प्राप्त हो गया जिनका वर्साय की संधि में हर स्थिति में निषेध किया गया था। ब्रिटिश विश्वासघात से फ्रांस और इटली में बड़ा असन्तोष पैदा हो गया। हार्डी के शब्दों में "यदि हर हिटलर के प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य 'स्ट्रेसा मोर्चे' की एकता को हिलाना था तो उसने निश्चय ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया था।"[1] इस समझौते पर टिप्पणी करते हुए स्वयं रिब्बन ट्राप ने

---

1. "If the primary purpose of Herr Hitler's offer had been to shake the solidarity of the 'Stresa Front' it had certainly

लिखा—"इस समझौते का सबसे बड़ा महत्व यह था कि इससे ब्रिटेन वर्साय की संधि की शस्त्रास्त्र सम्बन्धी व्यवस्थाएं तोड़ने के लिए तैयार हो गया।"

ग्रेट ब्रिटेन वर्साय-संधि भंग के लिये फ्रांस एवं इटली के क्रोध का भाजन अवश्य बना, किन्तु कार ने इसे अंग्रेजों की समझदारी एवं सामान्य बुद्धि का परिणाम बताया है। उसका कहना है कि फ्रांस ने किसी भी प्रकार का समझौता करने से इन्कार करके जर्मनी को थल सेना का असीमित पुनर्शस्त्रीकरण करने के लिए उत्साहित कर दिया था जब कि ग्रेट ब्रिटेन ने समझौता करने की तत्परता दिखाकर जर्मन नौ-सैनिक शक्ति के विस्तार की महत्वपूर्ण सीमा निश्चित कर दी। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि पहले जो कुछ हो चुका था, उससे यह समझौता इतना असंगत मालूम पड़ता था कि फ्रांस, इटली और सोवियत संघ में उस से इतनी हैरानी हुई जितनी ब्रिटेन द्वारा जेनेवाप्रस्ताव का अगुआ बनने के समय भी जर्मनी में नहीं हुई थी।[1]

(६) **लोकार्नो संधियों का भंग, राइन प्रदेश का सैन्यीकरण (७ मार्च १९३६)**—हिटलर की आक्रामक नीति का छठा चरण लोकार्नो संधियों की शर्तों का उल्लंघन करके राइन प्रदेश का पुनर्शस्त्रीकरण था। हिटलर ने पुनर्शस्त्रीकरण का यह पग बड़े उपयुक्त अवसर पर उठाया। इस समय एबीसीनिया पर इटली के आक्रमण ने ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के स्ट्रेसा-मोर्चे (Stressa Front) को विनष्ट कर दिया था और पश्चिमी देश तथा राष्ट्रसंघ आक्रमण की समस्या को सुलझाने में व्यस्त थे। इसके अतिरिक्त एबीसीनिया प्रश्न का प्रत्येक निर्णय जर्मनी के पक्ष में लाभकारी था। यदि इस निर्णय में इटली की हार होती तो आस्ट्रिया-जर्मनी एकीकरण के एक प्रबल विरोधी का पराभव होता, और यदि इटली की जीत होती तो पश्चिमी राष्ट्रों एवं राष्ट्रसंघ की निष्क्रियता तथा नपुंसकता का ढिंढोरा पिट जाता जिससे जर्मनी को और भी साहसपूर्ण कदम उठाने की प्रेरणा मिलती। राइन प्रदेश का सैन्यीकरण करने से हिटलर को एक बड़ा लाभ यह था कि जहां उसका शत्रु फ्रांस पहले इस प्रदेश के विसैन्यीकृत होने से इस ओर से निश्चिन्त था तथा अपने पूर्वी यूरोप के मित्रों को सहायता देने में अधिक समर्थ था वहां अब उसे इस रक्षा सीमा की के लिए सुदृढ़ दुर्गपंक्ति बनाना एवं सेना रखना अनिवार्य हो गया।

हिटलर ने इन सब लाभों एवं एबीसीनिया युद्ध के शुभ मुहूर्त का विचार करते हुए राइनलैण्ड में अपनी फौजें भेज देने का निश्चय कर लिया।

---

achieved its object."

—*Gathorn Hardy:* A Short History of International Affairs, page 402.

1. *Carr*: International Relations Between the Two World Wars, page 220-21.

किन्तु प्रकट रूप में उसने यह कार्य अपनी शांतिवादी नीति की दुहाई तथा फ्रांस पर दोषारोपण के साथ किया। मई १९३५ में किये गये फ्रैंको-सोवियत समझौते को जर्मनी आरम्भ से ही केवल उसके विरुद्ध की गई गुटबन्दी, तथा इस कारण लोकार्नो संधि से असंगत मानता था। अतः जब फरवरी १९३६ में फ्रैंच संसद में यह समझौता अनुसमर्थन (Ratfication) के लिए प्रस्तुत किया गया, तब हिटलर ने इसका पुनः साहसपूर्ण प्रति-प्रहार (Counter-storke) करने का निश्चय किया। हिटलर ने इस समझौते को पूर्णतः अनुचित बताते हुए एक फ्रैंच पत्रकार के साथ अपनी भेंट में यह घोषणा की कि फ्रांस और जर्मनी की शत्रुता की बात एकदम बेहूदा है। जब हिटलर को "मीन कैम्फ" के उन उद्धरणों की याद दिलाई गई जिसमें उसने फ्रांस के विरुद्ध आग उगलते हुए अपना भयंकर रोष अभिव्यक्त किया था तो हिटलर ने प्रत्युत्तर में कहा कि इस पुस्तक की रचना उस समय हुई थी जब फ्रांस ने जबरदस्ती रूर पर अधिकार कर लिया था। उसने पत्रकार को विश्वास दिलाया कि अब वह इस पुस्तक के नये संस्करण में आवश्यक संशोधन कर देगा। इस भेंट के द्वारा उसने फ्रांस को अपनी मैत्री का पूरा-पूरा भरोसा दिलाया। हिटलर ने यह नाटक इतनी अच्छी तरह खेला कि फ्रैंच सरकार को उसकी नीयत में विश्वास पैदा होने लगा और उसने अपने बर्लिन स्थित राजदूत को यह आदेश भेजा कि वह इस विषय में हिटलर से मिलकर अधिक जानकारी प्राप्त करे।

फ्रांस स्वाभाविक रूप से यह आशा कर रहा था कि हिटलर उसके पास मैत्री के प्रस्ताव भेजेगा किन्तु इसके स्थान पर हिटलर द्वारा ७ मार्च को ब्रिटेन, फ्रांस एवं इटली को अचानक नाटकीय ढंग से यह सूचना दी गई कि जर्मन सेनाएं राइन प्रदेश में प्रवेश कर रही है। हिटलर का यह कदम वर्साय की सन्धि की धारा ४२-४३ तथा लोकार्नो की संधि की दूसरी धारा का स्पष्ट उल्लंघन था। किन्तु हिटलर ने इस उल्लंघन के लिए पूरी तरह फ्रांस को ही दोषी ठहराया। उसने कहा कि "चूंकि फ्रांस ने फ्रैंको-सोवियत समझौते के अन्तर्गत ऐसे कर्त्तव्य स्वीकार कर लिए है जो कि लोकार्नो संधि के अन्तर्गत फ्रांस द्वारा स्वीकार किये गये कर्त्तव्यों से असंगत हैं, इसलिए वह संधि 'आन्तरिक आशय' ('Inner-meaning') से रहित हो चुकी है। इस कारण जर्मनी इस संधि से अपने आपको अब बाध्य नहीं मानता।" जिस ज्ञापन (Memorandum) में हिटलर ने यह सूचना दी थी, उसमें अनेक प्रस्ताव भी थे। जर्मनी ने यह प्रस्तावित किया था कि वह सीमांत के दोनों ओर समान दूरी तक एक नया निःसैन्यीकृत क्षेत्र स्थापित करने, लोकार्नो संधि के नमूने पर एक ऐसी नई संधि करने जिसमें राइन प्रदेश सम्बन्धी

धाराएं न हों, और अपने पूर्वी पड़ोसियों के साथ अनाक्रमण समझौते करने तथा राष्ट्रसंघ में पुनः शामिल होने के लिए राजी है। हिटलर ने पश्चिमी देशों को यह सूचना भी दी कि वह औपनिवेशिक प्रश्न का शांतिपूर्ण निपटारा चाहता है।

जर्मनी द्वारा राइन प्रदेश के सैन्यीकरण से फ्रांस में तहलका मच गया। फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री मो० सारो (Sarourt) तथा विदेशमन्त्री मो० फ्लादें (Flandin) जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए ब्रिटेन को राजी करने हेतु ११ मार्च को लन्दन गये, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने इसका विरोध किया।[1] "स्वेच्छापूर्वक की गई एक सन्धि को जर्मनी द्वारा इस प्रकार अस्वीकार कर देने से ब्रिटिश लोकमत को दुःख तो बहुत अधिक हुआ किन्तु कुल मिलाकर वह हिटलर के पिछले कृत्यों की भर्त्सना करने की अपेक्षा भविष्य में हिटलर द्वारा किये जाने वाले प्रस्तावों पर विचार करना ही अधिक पसन्द करता था।"[2] ब्रिटेन का यह भी विचार था कि जर्मनी ने अपने ही एक ऐसे प्रदेश में फौजें भेजी हैं, जहां अन्यायपूर्ण रीति से उनका प्रवेश अभी तक वर्जित था।[3] ब्रिटेन के तैयार न होने पर फ्रांस ने अकेले जर्मनी के विरुद्ध सेनाएं भेजने का साहस नहीं किया और जर्मन सेनाएं राइन प्रदेश में बनी रहीं। हां, यह अवश्य हुआ कि उसकी प्रेरणा से लन्दन में १४ मार्च को राष्ट्रसंघ की एक बैठक बुलायी गई जिसने जर्मनी के कार्य की निन्दा का प्रस्ताव पास करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। परिषद् ने केवल यह निर्णय दिया कि जर्मनी ने "विसैन्यीकृत क्षेत्र में सेना को प्रविष्ट कराकर तथा वहां उन्हें स्थाई रूप से रखकर" वर्साय संधि का उल्लंघन किया है। इसी बीच में हिटलर ने राइन के सैन्यीकरण पर जर्मन जनता का मत लिया और ९८·८७ प्रतिशत जनता ने उसके इस कार्य का समर्थन किया। जनता के समर्थन से प्रोत्साहित होकर हिटलर ने पुनः ३१ मार्च को अपने शांति प्रस्ताव ब्रिटेन और फ्रांस को भेजे। इस पर, फ्रेंच सरकार से परामर्श के बाद, ७ मई को, ब्रिटिश सरकार ने एक प्रश्नावली (Questionnaire) जर्मनी के पास इस आशा से भेजी कि जर्मनी के प्रस्तावों का और भी स्पष्टीकरण प्राप्त हो सके। हिटलर ने इस प्रश्नावली का उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी प्रत्युत् उसने राइन प्रदेश में और भी तेजी से सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण कर दिया। कार का विचार है कि हिटलर ने प्रश्नावली का उत्तर सम्भवतः इसलिए न दिया हो कि प्रश्नावली की भाषा ने उसे अप्रसन्न कर

---

1. *Hardy* : Op. Cit., page 422.
2. *E. H. Carr* : Op. Cit., page 230.
3. *Churchill* : The Second World War, Vol. I, page 236.

दिया हो।[1] पूरे ग्रीष्मभर, राजनीतिक जगत एबीसीनिया–पतन में उलझा रहा और लोकार्नो वार्ताओं की ओर उसका ध्यान नहीं गया। सितम्बर में, जब इन वार्ताओं को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न किया गया, तब कठिनाइयां अजेय प्रतीत हुईं। जर्मनी इस बात के लिए तो तैयार था कि पश्चिम के लिए नया गारन्टी समझौता किया जाय, लेकिन वह सोवियत संघ से किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहता था और बिना किसी प्रकार के पूर्वी समझौते के पश्चिमी समझौता फ्रांस को अस्वीकार्य था।

वर्साय और लोकार्नो संधियों की व्यवस्थाओं का उल्लंघन करके राइन प्रदेश में सेनाएं भेजने के विरोध में मित्रराष्ट्रों को वास्तव में कठोर कार्यवाही करनी चाहिए थी। यदि ब्रिटेन और फ्रांस अथवा केवल फ्रांस राइन प्रदेश में हिटलर को रोकने के लिए अपनी फौजें भेज देते तो जर्मनी को अपनी सेनाओं को वापिस बुलाने के लिए बाध्य होना पड़ता। स्वयं हिटलर ने आस्ट्रिया के चांसलर शुशनिग से एक भेंट के दौरान में इस बात को स्वीकार किया था।[2] हिटलर के सेनापतियों का विचार था कि सम्भवतः ब्रिटेन और फ्रांस राइन प्रदेश में जर्मन सेनाओं के प्रवेश को कभी बर्दाश्त नहीं करेंगे, अतः उन्होंने हिटलर की इस योजना का विरोध किया था, परन्तु चतुर शिकारी हिटलर का यह विश्वास था कि मित्रराष्ट्र इस विषय पर केवल मौखिक विरोध ही करेंगे, कोई क्रियात्मक पग नहीं उठायेंगे। हिटलर का सोचना पूर्णतः सही निकला और आरम्भ में उसका विरोध करने वाले जर्मन सेनापतियों को अब अपने फ्यूरर की अन्तर्दृष्टि एवं निर्णय शक्ति व प्रतिभा पर अधिक भरोसा हुआ। उनके इस भरोसे ने हिटलर की तानाशाही को अधिक सुदृढ़ किया।

मित्रराष्ट्रों ने हिटलर को सफलतापूर्वक सैनिक दृष्टि से रोकने का एक बहुमूल्य अवसर खो दिया। राइन प्रदेश के किलेबन्दी ने फ्रांस के पोलैण्ड, रूस और अन्य पूर्वी यूरोपियन देशों के साथ किये गये सैनिक समझौतों को निरर्थक बना दिया। १८ मई १९३६ को जर्मन विदेश मन्त्री न्यूरथ द्वारा मास्को के अमेरिकन राजदूत को कहे गये ये शब्द स्पष्ट प्रमाणित हुए कि—"हमारी किलेबन्दी पूरी होते ही मध्य यूरोप के देशों को यह ज्ञात हो जायगा कि फ्रांस जर्मन प्रदेश में प्रविष्ट नहीं हो सकता, उस समय उनकी विदेश नीति बदल जायगी और 'जर्मनी का समर्थक' एक नया गुट विकसित हो जायगा।"[3] पश्चिमी सीमा पर किलेबन्दी का एक परिणाम यह हुआ कि जर्मनी को पूर्व में लड़ने के लिए अधिक सेना प्राप्त करने की [illegible]

1. *E. H. Carr*, op. cit., p. 230
2 *Churchil*, The Second War, Vol. I, P. 286
3. *Churchill* : Op. Cit., page 185.

बना हो गयी। साथ ही स्वयं फ्रांस की सुरक्षा खतरे में पड़ने के कारण अब उसके लिए यह संभव न रहा कि वह आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया एवं अपने अन्य पूर्वी यूरोप के मित्रों की सहायता कर सके। हिटलर के कदम का एक परिणाम यह निकला कि बेल्जियम ने फ्रांस के साथ सैनिक संधि का परित्याग करके और अपने समस्त पुराने समझौतों तथा वायदों को त्यागकर पूर्णतः तटस्थ रहने की घोषणा कर दी (१४ अक्टूबर १९३६)। इस पर नवम्बर में, ब्रिटेन ने यह स्पष्ट घोषणा की कि "यदि बेल्जियम पर अकारण आक्रमण किया गया तो वह हमारी सहायता पर भरोसा कर सकता है।" कुछ दिन पश्चात् इसी प्रकार का विश्वास उसने फ्रांस को भी दिलाया। डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन भी तटस्थ हो गये। इसके अतिरिक्त, जर्मनी के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर, पोलैण्ड, स्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया, यूगोस्लाविया, हंगरी और बलगेरिया अब हिटलर के मित्र बन गये। इनको फ्रांस या ग्रेट ब्रिटेन पर कोई भरोसा न रहा। इन सब बातों से राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को मार्मिक आघात पहुंचा तथा ब्रिटेन एवं फ्रांस की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। अमेरिका इस समय पहले से ही तटस्थता की नीति का अनुसरण कर रहा था।

२४ अगस्त १९३६ को जर्मनी ने अपनी अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि भी एक वर्ष से बढ़ाकर दो वर्ष कर दी ताकि एक समर्थ तलवार के निर्माण का कार्य अधिक तेजी से चल सके।

(७) **रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी (Rome-Berlin-Tokio Axis) का निर्माण**:—हिटलर की आक्रमणात्मक नीति का सातवां चरण जर्मन-नेतृत्व में रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण करना था। "आल्पस के दक्षिण के महान् व्यक्ति" (मुसोलिनी) को मित्र बनाना हिटलर की व्यूह-रचना का एक मूलभूत अंग था। इटली और जर्मनी सरलता से एक दूसरे के मित्र भी हो सकते थे क्योंकि साम्यवाद 'ड्यूचे' और 'फ्यूरर' दोनों का सामान्य शत्रु था। दोनों एक से सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे और राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से दोनों ही देश एक समान थे; **किन्तु फिर भी दोनों में प्रारम्भ में मित्रता न थी**। आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर दोनों में गहरे मतभेद थे। इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को अपने अस्तित्व के लिए बड़ा आवश्यक मानता था। उसे यह सह्य नहीं था कि उसकी उत्तरी सीमा ब्रेनर दर्रे पर आस्ट्रिया जर्मनी के साथ संयुक्त होकर उसके लिए एक नया संकट पैदा करे। वास्तव में इटली, ब्रिटेन और फ्रांस—ये तीनों ही देश आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता के पक्ष में थे और इनके सम्मिलित विरोध के कारण ही १९३४ में हिटलर आस्ट्रिया को नहीं हड़प सका था। इसके

अतिरिक्त, जर्मनी और आस्ट्रिया के संयोग से बालकान देशों में जर्मनी का प्रभाव बढ़ जाने की संभावना थी जबकि इटली इस प्रदेश को अपना प्रभाव क्षेत्र मानता था।

परन्तु मतभेदों की यह खाई अधिक समय तक अस्तित्व में न रह सकी। एबीसीनिया का युद्ध हिटलर के लिए वरदान सिद्ध हुआ, बिल्ली के भाग से छींका टूटा। एबीसीनियाकांड से एक ओर इटली तथा दूसरी ओर राष्ट्रसंघ, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के बीच तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया। ब्रिटेन-फ्रांस के प्रयत्नों के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये। इस तरह इटली कठिन परिस्थिति में फंस गया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की यथार्थताओं ने इटली के लिए एक ही मार्ग रह जाने दिया और वह मार्ग था जर्मनी से मित्रता का। इधर हिटलर ने भी मुसोलिनी का हृदय जीतने का स्वर्णिम अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। उसने राष्ट्रसंघ द्वारा लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों का सफल प्रतिरोध करने के लिए मुसोलिनी को प्रत्येक संभव सहायता दी। इसके अतिरिक्त इटली की एबीसीनिया विजय को स्वीकृति प्रदान करने वाला प्रथम राज्य बन कर भी उसने इटली की सद्भावना जीत ली। किन्तु ४ जुलाई १९३६ को इटली पर से आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिये जाने पर हिटलर को यह चिन्ता सताने लगी कि कहीं फ्रांस और ब्रिटेन के साथ इटली के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध पुनः स्थापित न हो जायें। लेकिन भाग्य ने हिटलर का साथ दिया। १७ जुलाई १९३६ को स्पेन का गृह युद्ध छिड़ गया जिसमें इटली ने जनरल फ्रांको का पक्ष लिया और हिटलर ने इटली को पूरा-पूरा समर्थन देते हुए शस्त्रा-स्त्रों से विद्रोही फ्रान्को की पूरी मदद की। इस गृहयुद्ध ने दोनों देशों के सम्बन्ध घनिष्ठ बना दिये। अन्ततः २५ अक्टूबर १९३६ को इटली [illegible] विदेश मन्त्री सियानो (Ciano) एवं जर्मन विदेश मन्त्री न्यूरथ ने [illegible] समझौता किया। इस समझौते के द्वारा जर्मनी ने एबीसीनिया पर इटली का प्रभुत्व स्वीकार किया और इटली ने उसे वहां आर्थिक सुविधाएं देने का वचन दिया। यह भी निश्चय हुआ कि डैन्यूब घाटी में यथा-स्थिति कायम रखने, स्पेन में फ्रान्को के आन्दोलन का समर्थन करने और साम्यवाद का [illegible] का विरोध करने में वे परस्पर सहयोग करते रहेंगे। इटली ने यह स्वीकार किया कि लोकार्नो के ढंग का कोई भी समझौता हो, उसे [illegible] तक सीमित रखा जाय और राष्ट्रसंघ के विधान से १६वीं धारा निकाल दी जाय। इटली ने ११ जुलाई १९३६ को हुए आस्ट्रो-जर्मन समझौते पर अपनी स्वीकृति दे दी। इसके अनुसार आस्ट्रिया को जर्मन [illegible] गया और इटली ने आस्ट्रिया-जर्मन एकीकरण के विरोध का [illegible]

दिया। वास्तव में सियानो-न्यूरथ गुप्त समझौते ने दोनों देशों के सम्बन्धों को घनिष्ठतर बना दिया और १ नवम्बर १९३६ को मुसोलिनी ने बर्लिन-रोम-धुरी के निर्माण की चर्चा की।

इटली से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के बाद हिटलर ने "मीन कैम्फ" की योजना के अनुसार जापान से मैत्री स्थापित करने का यत्न किया। उस समय सोवियत रूस, जर्मनी और जापान दोनों के ही साम्राज्यों के प्रसार में बाधक था। अतः हिटलर ने २५ नवम्बर १९३६ को जापान के साथ "एण्टी कोमिन्टर्न पैक्ट" (Anti-Comintern Pact) किया जिसमें दोनों देशों ने विदेशों में साम्यवाद का प्रसार करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय रूसी संस्था कोमिन्टर्न के कार्यों के सम्बन्ध में एक दूसरे को आवश्यक सूचनाएं देने का, कोमिन्टर्न के एजेन्टों के विरुद्ध निरोधक एवं दण्डात्मक कार्यवाहियों में सहयोग देने का और सोवियत संघ के साथ किसी प्रकार की राजनीतिक संधि न करने का वचन दिया। हिटलर ने इस समझौते से ब्रिटेन को प्रसन्नता प्रदान की क्योंकि पूंजीवादी ब्रिटिश राष्ट्र भी साम्यवाद को अपना प्रबल शत्रु समझता था। लगभग एक वर्ष बाद ६ नवम्बर १९३७ को इटली ने भी एन्टी-कोमिन्टर्न पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये और **इस प्रकार रोम-बर्लिन धुरी अब रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी में परिणत हो गयी।** ये तीनों (जर्मनी, इटली और जापान) धुरी–राष्ट्र (Axis Powers) कहलाने लगे। बाद में हंगरी, मंचुकुओ, और स्पेन भी इस पैक्ट में सम्मिलित हो गये। अब परिस्थिति यह थी कि यूरोप स्पष्टतः दो गुटों में विभाजित हो गया—एक तरफ धुरी राष्ट्रों का गुट और दूसरी तरफ मित्र तथा साथी राष्ट्रों (फ्रांस, ब्रिटेन, रूस एवं अन्य मित्र राष्ट्र) का गुट। इन दोनों के सैद्धान्तिक और व्याव–हारिक मतभेद इतने गहरे थे कि मुसोलिनी यह कहा करता था कि—

"दोनों संसारों के मध्य संघर्ष किसी समझौते की अनुमति नहीं दे सकता। या तो हम रहेंगे या वे।"

(८) **आस्ट्रिया का जर्मनी में विलय (Anschluss) मार्च १९३८:–** आस्ट्रिया पर अधिकार ने हिटलर की आक्रामक नीति का आठवां चरण पूरा किया। हिटलर आस्ट्रिया पर अपना आधिपत्य जमाने के लिये आव-श्यक आधारभूमि पहले से ही तैयार कर रहा था। उसके निरन्तर दबाव के फलस्वरूप ११ जुलाई १९३६ को एक आस्ट्रो-जर्मन समझौता (Austro-German Agreement) सम्पन्न हुआ। इस समझौते की शर्तों के अनु-सार (१) जर्मनी ने आस्ट्रिया की सार्वभौमिकता (Sovereignty) को मान्यता प्रदान की; (२) दोनों ही राज्यों ने एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में और साथ ही आस्ट्रिया के नाजियों के मामले में हस्तक्षेप न करने का

अतिरिक्त, जर्मनी और आस्ट्रिया के संयोग से बालकान देशों में जर्मनी का प्रभाव बढ़ जाने की संभावना थी जबकि इटली इस प्रदेश को अपना प्रभाव क्षेत्र मानता था।

परन्तु **मतभेदों की यह खाई अधिक समय तक अस्तित्व में न रह सकी।** एबीसीनिया का युद्ध हिटलर के लिए वरदान सिद्ध हुआ, बिल्ली के भाग से छींका टूटा। एबीसीनियाकांड से एक ओर इटली तथा दूसरी ओर राष्ट्रसंघ, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के बीच तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया। ब्रिटेन–फ्रांस के प्रयत्नों के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये। इस तरह इटली कठिन परिस्थिति में फंस गया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की यथार्थताओं ने इटली के लिए एक ही मार्ग रह जाने दिया और वह मार्ग था जर्मनी से मित्रता का। इधर हिटलर ने भी मुसोलिनी का हृदय जीतने का स्वर्णिम अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। उसने राष्ट्रसंघ द्वारा लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों का सफल प्रतिरोध करने के लिए मुसोलिनी को प्रत्येक संभव सहायता दी। इसके अतिरिक्त इटली की एबीसीनिया विजय को स्वीकृति प्रदान करने वाला प्रथम राज्य बन कर भी उसने इटली की सद्भावना जीत ली। किन्तु ४ जुलाई १६३६ को इटली पर से आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिये जाने पर हिटलर को यह चिन्ता सताने लगी कि कहीं फ्रांस और ब्रिटेन के साथ इटली के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध पुनः स्थापित न हो जायें। लेकिन भाग्य ने हिटलर का साथ दिया। १७ जुलाई १६३६ को स्पेन का गृह युद्ध छिड़ गया जिसमें इटली ने जनरल फ्रांको का पक्ष लिया और हिटलर ने इटली को पूरा–पूरा समर्थन देते हुए अस्त्र–शस्त्रों से विद्रोही फ्रान्को की पूरी मदद की। इस गृहयुद्ध ने दोनों देशों के सम्बन्ध घनिष्ठ बना दिये। अन्ततः २१ अक्टूबर १६३६ को इटली के विदेश मन्त्री सियानो (Ciano) एवं जर्मन विदेश मन्त्री न्यूरथ ने एक गुप्त समझौता किया। इस समझौते के द्वारा जर्मनी ने एबीसीनिया पर इटली का प्रभुत्व स्वीकार किया और इटली ने उसे वहां आर्थिक सुविधाएं देने का वचन दिया। यह भी निश्चय हुआ कि डैन्यूब घाटी में यथा–स्थिति कायम रखने, स्पेन में फ्रान्को के आन्दोलन का समर्थन करने और साम्यवादी मत का विरोध करने में वे परस्पर सहयोग करते रहेंगे। इटली ने यह स्वीकार किया कि लोकार्नो के ढंग का कोई भी समझौता हो, उसे पश्चिमी यूरोप तक सीमित रखा जाय और राष्ट्रसंघ के विधान से १६वीं धारा निकाल दी जाय। इटली ने ११ जुलाई १६३६ को हुए आस्ट्रो–जर्मन समझौते पर अपनी स्वीकृति दे दी। इसके अनुसार आस्ट्रिया को जर्मन राज्य मान लिया गया और इटली ने आस्ट्रिया–जर्मन एकीकरण के विरोध का परित्याग कर

दिया। वास्तव में सियानो-न्यूरथ गुप्त समझौते ने दोनों देशों के सम्बन्धों को घनिष्ठतर बना दिया और १ नवम्बर १९३६ को मुसोलिनी ने बर्लिन-रोम-धुरी के निर्माण की चर्चा की।

इटली से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के बाद हिटलर ने "मीन कैम्फ की योजना के अनुसार जापान से मैत्री स्थापित करने का यत्न किया। उस समय सोवियत रूस, जर्मनी और जापान दोनों के ही साम्राज्यों के प्रसार में बाधक था। अतः हिटलर ने २५ नवम्बर १९३६ को जापान के साथ "एण्टी कोमिन्टर्न पैक्ट" (Anti-Comintern Pact) किया जिसमें दोनों देशों ने विदेशों में साम्यवाद का प्रसार करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय रूसी संस्था कोमिन्टर्न के कार्यों के सम्बन्ध में एक दूसरे को आवश्यक सूचनाएं देने का, कोमिन्टर्न के एजेन्टों के विरुद्ध निरोधक एवं दण्डात्मक कार्यवाहियों में सहयोग देने का और सोवियत संघ के साथ किसी प्रकार की राजनीतिक संधि न करने का वचन दिया। हिटलर ने इस समझौते से ब्रिटेन को प्रसन्नता प्रदान की क्योंकि पूंजीवादी ब्रिटिश राष्ट्र भी साम्यवाद को अपना प्रबल शत्रु समझता था। लगभग एक वर्ष बाद ६ नवम्बर १९३७ को इटली ने भी एन्टी-कोमिन्टर्न पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये और **इस प्रकार रोम-बर्लिन धुरी अब रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी में परिणत हो गयी।** ये तीनों (जर्मनी, इटली और जापान) धुरी-राष्ट्र (Axis Powers) कहलाने लगे। बाद में हंगरी, मंचुकुओ, और स्पेन भी इस पैक्ट में सम्मिलित हो गये। अब परिस्थिति यह थी कि यूरोप स्पष्टतः दो गुटों में विभाजित हो गया—एक तरफ धुरी राष्ट्रों का गुट और दूसरी तरफ मित्र तथा साथी राष्ट्रों (फ्रांस, ब्रिटेन, रूस एवं अन्य मित्र राष्ट्र) का गुट। इन दोनों के सैद्धान्तिक और व्याव-हारिक मतभेद इतने गहरे थे कि मुसोलिनी यह कहा करता था कि—

"दोनों संसारों के मध्य संघर्ष किसी समझौते की अनुमति नहीं दे सकता। या तो हम रहेंगे या वे।"

(८) आस्ट्रिया का जर्मनी में विलय (Anschluss) मार्च १९३८:— आस्ट्रिया पर अधिकार ने हिटलर की आक्रामक नीति का आठवां चरण पूरा किया। हिटलर आस्ट्रिया पर अपना आधिपत्य जमाने के लिये आव-श्यक आधारभूमि पहले से ही तैयार कर रहा था। उसके निरन्तर दबाव के फलस्वरूप ११ जुलाई १९३६ को एक आस्ट्रो-जर्मन समझौता (Austro-German Agreement) सम्पन्न हुआ। इस समझौते की शर्तों के अनु-सार (१) जर्मनी ने आस्ट्रिया की सार्वभौमिकता (Sovereignty) को मान्यता प्रदान की; (२) दोनों ही राज्यों ने एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में और साथ ही आस्ट्रिया के नाजियों के मामले में हस्तक्षेप न करने का

निश्चय किया, एवं (३) आस्ट्रिया ने अपने को एक जर्मन राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया (Confirmed herself as a German State)। व्यवहारतः इस संधि ने आस्ट्रिया को जर्मनी के अन्तर्गत एक राज्य के रूप में परिणत कर दिया तथा हिटलर द्वारा आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ पूर्णतः संयुक्त कर देने की योजनाओं को बल प्रदान किया। इटली प्रारम्भ में आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता बनाये रखने को कृत-संकल्प था, किन्तु एबीसीनिया के मामले में जर्मन सहायता प्राप्त करने के लिये मुसोलिनी ने आस्ट्रो-जर्मन समझौते पर अपनी सहमति दे दी। इस प्रकार, इस समझौते के कारण इटली, आस्ट्रिया और हंगरी जर्मनी के कक्ष में आ गये और आस्ट्रिया-जर्मनी संयुक्तीकरण की संभावनायें लगभग निश्चित प्रतीत होने लगीं।

आस्ट्रो-जर्मन समझौता सम्पन्न होने के ५ दिन बाद ही हिटलर ने आस्ट्रिया के नाजियों को विध्वंसकारी कार्यवाहियां (Subversive Activities) पुनः अपना लेने की सलाह दी। इसके पहले ही कट्टर नाजी विरोधी आस्ट्रियन वाइस चांसलर स्टारहेनबर्ग (Starhenburg) पदच्युत किया जा चुका था। हिटलर को यह पूर्ण आशा थी कि आस्ट्रियन नाजियों द्वारा उपद्रव खड़ा किये जाने पर उनके हितों की रक्षा के बहाने जर्मन फौजों को आस्ट्रिया में भेजना सरल हो जायेगा। हिटलर ने जर्मन सेनापतियों को भी आदेश दे दिया कि वे आस्ट्रिया पर अधिकार करने के लिये सैनिक योजनायें तैयार करें। इस समय जर्मनी अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि एक वर्ष से बढ़ाकर दो वर्ष कर चुका था और शस्त्रीकरण पर प्रतिवर्ष लगभग १०० करोड़ पौंड खर्च करने लगा था। इसके अतिरिक्त स्पेन के गृहयुद्ध ने तथा १९३७ में लार्ड हैलिफैक्स की बर्लिन यात्रा ने हिटलर को इस बात से आश्वस्त कर दिया था कि यदि उसने आस्ट्रिया में सैनिक कार्यवाही का समारम्भ किया तो पश्चिमी राष्ट्र उसका सक्रिय प्रतिरोध करने का साहस नहीं करेंगे।

उपरोक्त अनुकूल परिस्थितियों में १९३८ के प्रारम्भ में हिटलर ने अपनी मातृभूमि को जर्मनी में सम्मिलित करने का निश्चय कर लिया। ४ फरवरी १९३८ को हिटलर ने जर्मन प्रधान सेनापति फ्रिच को पद त्यागने के लिये वाध्य किया और स्वयं जर्मन सेना का सर्वोच्च सेनापति बन गया। उधर हिटलर के संकेत पर, नाजी आस्ट्रिया के प्रमुख नगरों में जबरदस्त आन्दोलन छेड़ चुके थे और इस आन्दोलन को दबाने के लिये कठोर कार्यवाही करते हुए आस्ट्रियन सरकार ने नाजी दल पर प्रतिबंध लगा दिया था। जर्मन-हस्तक्षेप के उपयुक्त इन परिस्थितियों से उत्साहित होकर १२ फरवरी १९३८ को हिटलर ने आस्ट्रियन प्रधानमंत्री कुर्टशुशनिग (Kurt Schuschnigg) को

बवेरिया की आल्पस पर्वतमाला में साल्जबुर्ग से १० मील दक्षिण में अपने प्रिय निवास-स्थान बर्खटेसगाडेन (Berchtesgaden) में बुलाकर धमकाते हुए कहा[1]—"**आधे घंटे में मेरी सेनायें आस्ट्रिया को जीत सकती हैं, उन्हें रोकने वाला कोई नहीं है। मुसोलिनी मेरा मित्र है, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया के लिये उंगली भी नहीं उठायेगा और फ्रांस में उसे रोकने की शक्ति नहीं है। किन्तु मैं व्यर्थ में आस्ट्रियनों का रक्त नहीं बहाना चाहता अतः उसे (शुशनिग को) निम्नलिखित मांगें स्वीकार कर लेनी चाहिये-(१) सुप्रसिद्ध नाजी नेता जाईसिग क्वार्ट (Seyss Inquart) को आस्ट्रिया का गृहमंत्री बनाया जाय,** (२) वित्तमंत्री का पद भी किसी नाजी को दिया जाय, (३) सब नाजी कैदी छोड़ दिये जायं और (४) पदमुक्त किये गये समस्त नाजी अधिकारियों को पुनः नियुक्त किया जाय।" हिटलर की इन मांगों को स्वीकार कर लेने का स्पष्ट एवं स्वाभाविक अर्थ आस्ट्रिया का संपूर्ण शासनसूत्र नाजियों को सौंप देना था जिसे अधिकांश आस्ट्रियावासी तत्कालीन मनोदशा में संभवतः स्वीकार नहीं करते। अतः शुशनिग को यह कहना पड़ा कि हिटलर की इन मांगों को यदि वह मान भी ले तो भी वह इस बात की गारंटी नहीं कर सकता कि आस्ट्रिया इन्हें स्वीकार कर लेगा। इस पर हिटलर ने क्रोधावेश में मेज पर घूंसा मारते हुए शुशनिग को कमरे से बाहर निकाल दिया। निराश और हतप्रभ शुशनिग वियना वापिस लौट आया।

२० फरवरी को हिटलर ने जर्मन संसद (राइकस्टाग) में भाषण देते हुए रूस की घोर निन्दा की तथा जर्मन देश से बाहर रहने वाले जर्मनों को "संरक्षण" देने का वचन दिया। हिटलर का भाग्य इन दिनों प्रबल था, अतः उसी दिन ब्रिटिश विदेशमंत्री एन्थोनी ईडन ने अपनी सरकार की संतुष्टीकरण की नीति से असंतुष्ट होकर पदत्याग कर दिया और हैलीफैक्स ने उसके स्थान पर विदेश मंत्रालय संभाला। ब्रिटिश राजनीतिक घटनाचक्र के इस परिवर्तन से हिटलर को अब और भी अधिक विश्वास हो गया कि वह आस्ट्रिया को सुगमतापूर्वक हड़प सकेगा।

भयग्रस्त शुशनिग सरकार ने काफी सोच-विचार के बाद हिटलर की सभी मांगों को पूरा कर दिया, किन्तु हिटलर की तृष्णा तो संपूर्ण आस्ट्रिया को हड़प जाने की थी। उसके संकेत से २१ फरवरी से नाजियों ने बड़े जोरशोर से आस्ट्रिया के विभिन्न केन्द्रों में जर्मनी के साथ संयुक्त होने के पक्ष में सभाओं, विद्रोहों और स्वस्तिक झंडों का प्रदर्शन शुरू कर दिया। २६ फरवरी को हिटलर ने आस्ट्रिया के प्रमुख नाजियों को आमन्त्रित किया। आस्ट्रिया में भयंकर रूप धारण करते हुए नाजी आन्दोलन

1. *Churchill*: Op. Cit., page 235-236.

को दबाने के प्रयत्नों में सफलता की आशा न होने पर शुशनिग ने ८ मार्च को यह घोषणा की कि आस्ट्रिया के भविष्य को निश्चित करने के लिये १३ मार्च को आस्ट्रिया में जनमत संग्रह किया जायगा। उस समय शुशनिग को यह आशा थी कि ६० से ८० प्रतिशत आस्ट्रियन आस्ट्रिया की स्वतंत्रता का समर्थन करेंगे। जब ६ मार्च को हिटलर ने यह सुना तो वह अत्यन्त विक्षुब्ध एवं क्रोधित हुआ। उसने १० मार्च से ही आस्ट्रिया पर आक्रमण करने की योजनायें तैयार करलीं। ११ मार्च को शुशनिग को यह अल्टीमेटम दिया गया कि वह जनमत संग्रह को स्थगित करदे। शुशनिग ने इस अल्टीमेटम को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि आस्ट्रियन नाजी भी अशांति एवं उपद्रव फैलाने का कार्य बंद कर देंगे। ११ मार्च का सारा दिन षडयंत्रों और धमकियों में डूबा रहा। शाम को ६ बजे जनमत संग्रह स्थगित होने की घोषणा कर दी गई और इसके ठीक डेढ़ घंटे बाद ७½ बजे हिटलर ने शुशनिग को यह दूसरा अल्टीमेटम दिया कि (१) शुशनिग अपने पद से त्यागपत्र देदे और जाइसिग क्वार्ट को चांसलर (प्रधानमंत्री) बनाया जाय, (२) मंत्रिमंडल में नाजियों को दो-तिहाई स्थान दिये जायें, और (३) नाजी पार्टी पर से सारे प्रतिबंधों को उठा लिया जाय। हिटलर की इन मांगों को भी स्वीकार कर लिया गया। इस अल्टीमेटम के मिलने के तुरन्त बाद उसी शाम को रेडियो पर अपना अन्तिम भाषण देते हुए शुशनिग ने कहा "मुझे यह धमकी दी गई है कि यदि मैं और मेरी सरकार दोनों त्यागपत्र नहीं देंगे और यदि राष्ट्रपति जर्मनी द्वारा मनोनीत व्यक्ति को प्रधानमंत्री नहीं नियुक्त करेंगे तो साढ़े सात बजे जर्मन सेना आस्ट्रिया में प्रवेश कर जायगी। इस भयंकर स्थिति में राष्ट्रपति रक्त बहाने को तैयार न थे, इसलिये [illegible] के सामने झुकना पड़ा। उन्होंने आस्ट्रियन सेना को बिना प्रतिरोध पीछे हट जाने का आदेश दे दिया है। मैं आस्ट्रियन जनता से विदा ले रहा हूँ। ईश्वर आस्ट्रिया की रक्षा करे।" रात को ८ बजे नये [illegible] ने रेडियो पर राष्ट्र को सूचना दी कि जर्मन सेनायें [illegible] बढ़ रही हैं और वे यहां इसलिये आ रही हैं [illegible] जा सके। वास्तव में यह सब एक सुनियोजित षडयंत्र था। [illegible] में कहीं भी शान्ति-व्यवस्था को खतरा नहीं था। यह केवल जर्मन [illegible] प्रवेश को एक वैधानिक रंग देने का बहाना था और जर्मन [illegible] ही आस्ट्रिया में प्रवेश करना शुरू कर दिया था।

रात को १० बजे तक जर्मन सेना के अग्रगामी [illegible] सीमा में बहुत आगे तक प्रविष्ट हो गये। शीघ्र ही सम्पूर्ण आस्ट्रिया पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हो गया। १२ मार्च को हिटलर [illegible]

गया जहां लिन्त्स (Lintz) में नये प्रधानमंत्री क्वार्ट के स्वागत के प्रत्युत्तर में उसने कहा—"मैं जब इस शहर में पहली बार निकला था तो मैंने अपनी आत्मा के भीतर यह अनुभव किया था कि नियति ने मुझे यह काम सौंपा है कि मैं अपनी जन्मभूमि को महान् जर्मन राइक में वापिस लाऊं। मैंने इसे अपना कर्त्तव्य माना और अब मैंने इसे पूरा कर दिया है।" १४ मार्च को हिटलर ने एक विजेता के रूप में वियना में प्रवेश किया। उसने आस्ट्रियन संसद को भंग कर दिया और नये चुनाव कराने की आज्ञा दी जिसमें ९९·७३ प्रतिशत जनता ने हिटलर का समर्थन किया। वास्तव में यह मत-संग्रह समूचे जर्मन प्रभाव में किया गया था, अतः आस्ट्रियन लोकमत हर तरह से दब गया था। फिर जैसी स्थिति में ये चुनाव हुए थे उसमें इस तरह का परिणाम निकलना एकदम स्वाभाविक था। मत-संग्रह के बाद एक सरकारी घोषणा द्वारा आस्ट्रिया को जर्मन राइक में सम्मिलित कर लिया गया। इस तरह २० वर्ष के जीवन के पश्चात् आस्ट्रिया-गणतंत्र संसार के नक्शे से लुप्त हो गया और "मीन कैम्फ" का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम पूरा हो गया।

आस्ट्रिया पर अधिकार के परिणाम—आस्ट्रिया पर आधिपत्य के परिणामस्वरूप जर्मनी को अनेक आर्थिक, कूटनीतिक एवं सामरिक लाभ प्राप्त हुए और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी इस घटना का विशेष प्रभाव पड़ा।

(i) आस्ट्रिया-जर्मनी संयुक्तीकरण से जर्मनी की न केवल जनशक्ति ६० लाख बढ़ गई बल्कि दक्षिण-पूर्वी यूरोप में सैनिक एवं राजनीतिक दृष्टि से उसकी धाक जम गई।

(ii) इससे इटली, यूगोस्लाविया और हंगरी से जर्मनी का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। जर्मनी को मध्य डैन्यूब घाटी के सब रेल मार्गों, स्थल मार्गों और नदी मार्गों पर पूरा नियंत्रण मिल गया। चैकोस्लावाकिया के बोहीमिया और मोराविया के जिले अब दोनों ओर से जर्मन चक्की के पाटों के बीच आगये। चैकोस्लावाकिया शेष यूरोप से करीब-करीब अलग हो गया और उसका व्यापार अब अधिकांशतः जर्मनी की कृपा पर आश्रित हो गया। जर्मनी के इस लाभ के सम्बन्ध में स्वयं चर्चिल ने लोकसभा में कहा था कि—"वियना पर अधिकार से नाजी जर्मनी को दक्षिण-पूर्वी यूरोप के सड़क, नदी और रेल के सभी मार्गों का सैनिक और आर्थिक नियंत्रण मिल गया है।"[1]

(iii) आस्ट्रिया के जर्मन साम्राज्य में मिल जाने से जर्मनी को बड़ा भारी आर्थिक लाभ हुआ। आस्ट्रिया ने उसे लोहे और मैगनेसाइट की नई

1. *Churchill* : The Second World War, Vol. I, page 235-236.

को उसने कहा भी था—यह चैकों के लिये बड़ा असुविधाजनक होगा।[1] ३० जनवरी १६३६ को जर्मन संसद (Reichstag) में अपने भाषण में हिटलर ने यह रहस्योद्घाटन किया था कि उसने २८ मई १६३८ को यह आदेश प्रसारित कर दिया था कि २ अक्टूबर तक चैकोस्लावाकिया के विरुद्ध फौजी कार्यवाही की जाय।

चैकोस्लोवाकिया पर प्रत्यक्ष आक्रमण अथवा उसका जर्मनी में सीधा विलय संभव नहीं था क्योंकि चैकोस्लावाकिया के फ्रांस और रूस से घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध थे और दोनों ही उसे जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सहायता का निश्चय वचन दे चुके थे। अत: हिटलर ने धमकियों वार्ताओं और समझौतों की नीति से चैकोस्लोवाकिया को प्राप्त करने का निश्चय किया।

जर्मन आक्रमण के कारण:-हिटलर के पास चैकोस्लोवाकिया को हस्तगत करने के अनेक प्रबल आकर्षक कारण थे:—

पहला कारण इसका सामरिक महत्व था। बिस्मार्क कहा करता था—"जो बोहीमिया का नियंत्रण करता वह यूरोप का नियंत्रण करता है।" मध्य यूरोप की डैन्यूब की घाटी को उत्तरी यूरोप के मैदान से अलग करने वाली कारपेथियन और स्यूडेटीज पर्वतमालाओं को पार करने वाले सुगम मार्ग प्राचीनकाल से बोहीमिया की एल्ब, मोराविया, कोडर एवं विस्चुला नदियों के साथ तथा मोरावियन गेट के दर्रे से होकर गुजरते हैं। अत: हिटलर यदि मध्य यूरोप का स्वामी बनना चाहता था तो उसे इस पर अधिकार करना जरूरी था।

प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में जिन नये राज्यों की स्थापना हुई थी उनमें चैकोस्लोवाकिया जर्मन विरोधी फ्रांस की गुटबंदी का बड़ा महत्वपूर्ण अंग था। डैन्यूब क्षेत्र में जर्मन-विस्तार को रोकने के लिये यह एक ढ़ाल समझा जाता था। फ्रैंच-सोवियत सहयोग में यह एक महत्वपूर्ण कड़ी था और पूर्वी जर्मनी के प्रमुख सैनिक केन्द्रों पर वायु-मार्ग से चारों ओर आक्रमण करने के लिये एक अमूल्य केन्द्र था। यही कारण था कि जहां फ्रांस हमेशा चैकोस्लोवाकिया की अखंडता और स्वतंत्रता बनाये रखने के लिये तत्पर रहता था वहां इसके सामरिक महत्व को समझते हुए हिटलर इसे निगल जाना चाहता था।

दूसरा कारण यह था कि शक्तिशाली चैक सेना जर्मनी के अस्तित्व को विशेष संकट पैदा कर सकती थी। चैकोस्लोवाकिया की सेना १६३८ तक काफी शक्तिशाली हो चुकी थी और यूरोप को स्कोडा के गोला-बारूद तैयार करने वाले एक बड़े कारखाने से प्रचुर युद्ध सामग्री मिल रही थी। चैकोस्लो-

---

1. *Churchill : Op. Cit.*, page 251.

वाकिया जर्मनी से सदैव आशंकित रहता था, अतः उसने जर्मनी से अपनी रक्षा के लिये बोहीमिया के पहाड़ों में सुदृढ़ किलेबंदी कर रखी थी। उसकी यह सैनिक शक्ति हिटलर की नजरों में हमेशा खटकती थी।

तीसरा कारण यह था कि हिटलर जैसा घाघ राजनीतिज्ञ यह जानता था कि चैकोस्लोवाकिया के मित्र समय पर उसकी सहायता नहीं कर सकते। रूस के लिए सहायता भेजना तब तक संभव न था जब तक कि पोलैण्ड और रूमानिया अपने देशों में से सोवियत सेनाओं को गुजरने की अनुमति प्रदान न कर दें। किन्तु उस समय पोलैण्ड और रूमानिया रूस के विरोधी थे और जर्मनी के मित्र, अतः चैकोस्लोवाकिया में रूस के हस्तक्षेप की संभावना नहीं के बराबर थी। जहां तक फ्रांस का प्रश्न था, वह पहले ही इतना अधिक पस्त-हिम्मत था कि उससे जर्मनी से लड़ाई मोल लेने की आशा नहीं की जा सकती थी। तीन तरफ से जर्मनी द्वारा घिरा हुआ चैकोस्लोवाकिया बिना विशेष खतरा उठाये जर्मनी का शिकार बन सकता था।

चौथे, चैकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप के लिये हिटलर के पास जर्मन अल्पसंख्यकों की रक्षा का एक सुन्दर तर्क था। १९३० की जनगणना के अनुसार चैकोस्लोवाकिया में ३२ लाख ३१ हजार ६०० जर्मन रहते थे। ये मुख्य रूप से स्यूडेटीज (Sudetes) पर्वतमाला के प्रदेश में बसे हुए थे, अतः स्यूडेटन (Sudeten) जर्मन कहलाते थे। नवोदित राज्य चैकोस्लोवाकिया की यह सबसे बड़ी कमजोरी थी कि जिस राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर चैक लोगों ने अपने नये राष्ट्र का निर्माण किया उसमें उन्होंने इतनी अधिक संख्या में उग्र जर्मन जाति के लोगों को शामिल कर लिया था। यही नहीं, चैकोस्लोवाकिया में पोल, मगयार, स्लोवाक आदि अनेक अन्य जातियां भी निवास करती थीं और यदि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को चैकोस्लोवाकिया पर लागू किया जाता तो उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाना अनिवार्य था। चूंकि हिटलर का लक्ष्य सब जर्मनों को एक शासनसूत्र में लाना था, अतः उसने यह प्रचार आरम्भ किया कि चैक जनता स्यूडेटन जर्मनों को बुरी तरह दबा रही है और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें जर्मनी में मिलाया जाना चाहिए। २० फरवरी १९३८ को राइकस्टाग में दिये गये अपने भाषण में उसने यह घोषणा की कि—"हमारे सीमान्त से लगे दो राज्यों (चैकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड) में दस लाख से अधिक जर्मन रहते हैं, जर्मनी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जर्मन बन्धुओं की रक्षा करे, उन्हें वैयक्तिक और राजनैतिक विचारों की स्वतंत्रता प्रदान करे।" परन्तु हिटलर का इस तरह का आरोप चैकोस्लोवाकिया का अंग-भंग करने के उसके षड्यंत्र की एक कड़ीमात्र था, क्योंकि चैक सरकार जर्मन अल्पसंख्यकों के साथ जितना अच्छा

बर्ताव करती थी उतना अच्छा बर्ताव किसी दूसरे देश में अल्पसंख्यकों के साथ नहीं होता था। जर्मन लोग चैकों से काफी उन्नत थे और अपने को चैकों के मुकाबले बहुत ऊंचा समझते थे। चैक शासन उनकी इस भावना को सम्मान देते हुए हमेशा उन्हें सन्तुष्ट बनाये रखने का प्रयास करता था। उनके अपने विद्यालय और विश्वविद्यालय थे जहां जर्मन भाषा के माध्यम से उन्हें शिक्षा दी जाती थी। स्वयं चैकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में उनका अपना पृथक विश्वविद्यालय था। स्यूडेटनलैण्ड के शासन-यंत्र पर भी उनका काफी नियंत्रण था। पर इतना होने पर भी वे अनुभव करते थे कि चैक-शासन के अन्तर्गत उनका स्थान बहुत हीन हो गया है। वे चैकों से घृणा करते थे और जर्मन विरोधी चैक-विदेश नीति से काफी क्षुब्ध थे। अतः यह स्वाभाविक था कि जर्मनी में नाजी पार्टी के उत्कर्ष के फलस्वरूप चैकोस्लोवाकिया के जर्मन अल्पसंख्यकों की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर आ धमकी। जर्मनी के साथ स्यूडेटनलैण्ड को मिलाने हेतु वहां एक पार्थक्यवादी आन्दोलन चलाने के लिए नाजी पार्टी की एक शाखा चैकोस्लोवाकिया में कायम कर दी गई। इस शाखा का नेता कोनार्ड हैनलीन (Konard Henlein) था जो १९३६ में ओलम्पिक खेल-कूद के *अवसर* पर बर्लिन में हिटलर से मिलने के बाद चैकोस्लोवाकिया में उसका वफादार एजेन्ट हो गया। अब स्यूडेटन जर्मनों का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा और चैकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप का यह एक बड़ा सुन्दर बहाना हिटलर को मिल गया।

पांचवां कारण यह था कि चैकोस्लोवाकिया लोकसभात्मक राष्ट्र था और राष्ट्रसंघ का सदस्य था। अतः यह स्वाभाविक था कि सर्वाधिकारवादी जर्मनी और उसकी नीतियां परस्पर टकरातीं। हिटलर की साम्राज्यवादी आकांक्षा की पूर्ति के लिये यह आवश्यक था कि यूरोप के एक सबसे अधिक सफल इस प्रजातंत्र राष्ट्र को भूलुण्ठित कर दिया जाय।

जर्मनी की उत्तेजनात्मक कार्यवाहियां—अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया के प्रति उत्तेजनात्मक कार्यवाहियों के अपने पुराने नुस्खे का प्रयोग करना शुरू किया। हिटलर के निर्देशानुसार स्यूडेटन जर्मन पूर्ण स्वायत्तता (Complete Autonomy) की मांग करने लगे।[1] २८ मार्च को स्यूडेटन जर्मनों के नेता कोनार्ड हैनलीन को बर्लिन बुलाया गया और उसे चैक सरकार के समक्ष जर्मन लोगों की असम्भव मांगें रखने को कहा गया, ताकि इन मांगों को चैकों द्वारा ठुकरा दिया जाने पर जर्मनी को

1. *Lipson* : Europe in the 19th and 20th Centuries, page 405.

इस विषय में हस्तक्षेप करने का तथा "पीड़ित जर्मनों के संरक्षण" का स्वर्ण अवसर मिल सके।

हिटलर के एजेन्ट के रूप में काम करते हुए २४ अप्रेल को हैनलीन ने चैक सरकार को परेशान करने के लिए अपना आठ सूत्री कार्यक्रम घोषित किया। इस कार्यक्रम की प्रमुख मांगें निम्नलिखित थीं—[१] जर्मनों को चैकों के साथ पूरी समानता का अधिकार दिया जाय; [२] जर्मन क्षेत्रों का सीमा निर्धारण किया जाय; [३] इन क्षेत्रों में पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना की जाय, [४] १९१८ से जर्मनों के साथ हुए अन्यायों का मुआवजा दिया जाय, [५] जर्मन लोगों को जर्मनवाद तथा जर्मन विचारधारा के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता हो, एवम् [६] चैक विदेश नीति में संशोधन हो।

हैनलीन की उपरोक्त मांगें स्पष्टत: चैक सरकार को स्वीकार्य नहीं हो सकती थीं क्योंकि उनको मानने से चैकोस्लोवाकिया की एकता ही छिन्न-भिन्न हो जाती। चैकोस्लोवाकिया द्वारा इन मांगों को अस्वीकार कर देने के प्रतिक्रियास्वरूप स्यूडेटन जर्मनों ने तेजी से उपद्रव मचाना शुरू कर दिया। हैनलीन अपने उद्देश्य में प्रचार और सहायता पाने के लिए लन्दन और बर्लिन गया। हिटलर ने हैनलीन की मांगों का जबरदस्त स्वागत किया।

चैकोस्लोवाकिया पर आधिपत्य के विषय में आगे बढ़ने से पहले हिटलर ने इटली के तानाशाह मुसोलिनी का सहयोग पाना आवश्यक समझा, क्योंकि इस समय ब्रिटेन इटली की एबीसीनिया-विजय को स्वीकार करके उसे अपना मित्र बनाने का प्रयास कर रहा था। इसीलिए २ मई को उसने रोम जाकर मुसोलिनी से मुलाकात की। वहां से लौटकर हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया को डराने-धमकाने के लिए सीमान्तों पर सैनिक अभ्यास करने की आज्ञा जारी कर दी। उसने यह भी घोषणा की कि जर्मन जनता का कर्त्तव्य है कि वह चैकोस्लोवाकिया की परतंत्रता में पड़े अपने भाई जर्मनों की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक कदम उठाये। जर्मनी के समाचार-पत्रों ने भी चैकोस्लोवाकिया के विरुद्ध आग उगलते हुए जर्मन अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता के लिए खूब आन्दोलन किया। हिटलर अपने सैनिक सलाहकारों से विचार-विमर्श करता रहा और विदेशी राजदूतों से मुलाकात करना, उनसे तरह-तरह की वार्ताएं करना आदि प्रतिदिन की साधारण बात हो गयी। २२ मई १९३८ को चैकोस्लोवाकिया में नगरपालिकाओं का चुनाव होने वाला था। जानकार सूत्रों का यह विश्वास था कि चुनाव के अवसर पर हिटलर की प्रेरणा से अवश्य ही कोई गड़बड़ी पैदा होगी और चैकोस्लोवाकिया में एक क्रांति हो जायगी। इस समय जर्मनी की ओर से भी गड़बड़ी की पूरी आशंका

थी क्योंकि जर्मन सेनाएं चैक सीमान्त पर पहले से ही एकत्रित होने लगी थीं। इन सब आशंकाओं से भयभीत होकर चैक सरकार ने २० मई को ४ लाख सैनिकों की आंशिक लामबन्दी (Mobilization) के आदेश जारी कर दिये। युद्ध अवश्यंभावी प्रतीत होने लगा। ब्रिटिश राजदूत सर हैन्डरसन बर्लिन से ब्रिटिश नागरिकों को हटाने का प्रबन्ध करने लगे। २१ मई की एक घटना से तनाव और भी बढ़ गया। उस दिन दो स्यूडेटन जर्मनों को, जो आज्ञा के विरुद्ध सीमा पार करना चाहते थे, गोली से उड़ा दिया गया। इस घटना के बाद तो संकट अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। एक विराट सभा में भाषण देते हुए डा० गोबल्स ने घोषणा की—"हम ३५ लाख जर्मनों के साथ दुर्व्यवहार होते ज्यादा देर तक नहीं देख सकते। हमने आस्ट्रिया में देखा कि एक जाति को दो देशों में विभक्त नहीं किया जा सकता और यह बात भी शीघ्र ही कहीं और भी देखेंगे।" यूरोपीय युद्ध की सम्भावनाएं नजर आने लगीं, क्योंकि ब्रिटेन, फ्रान्स और रूस ने भी जर्मनी को चैकोस्लो-वाकिया पर चढ़ाई करने के विरुद्ध चेतावनी दे दी। चैकोस्लोवाकिया की आंशिक लामबन्दी और ब्रिटिश-फ्रैन्च चेतावनी के फलस्वरूप उस समय संकट किसी तरह टल गया। हिटलर ने अपनी सेनाएं सीमा पार भेजने का साहस नहीं किया। चुनाव शांतिपूर्वक सम्पन्न हो गया। इटली और जर्मनी को छोड़कर सभी देशों में खुशियां मनायी गयीं क्योंकि यूरोप एक बार फिर युद्ध से बच गया। क्रुद्ध हिटलर ने उस समय अपने क्रोध को पी जाना ही उचित समझा और २३ मई को उसने चैकोस्लोवाकिया को अपने शांतिपूर्ण इरादों का विश्वास दिलाया। हिटलर का इशारा पाकर हैनलीन भी चैक सरकार से अपनी मांगों के लिए संधि चर्चा करने लगा।

परन्तु हिटलर ने शांति का यह ढोंग जानबूझ कर रचा था। वह पश्चिमी राष्ट्रों की आंख में धूल झोंकना चाहता था ताकि वे चैकोस्लो-वाकिया में उसका विरोध न करें और गुमराह हो जायं। इसके अतिरिक्त अपने इस कार्य से वह तत्कालीन चैक राष्ट्रपति वेनेस (Dr. Benes) को बद-नाम करना चाहता था। इधर स्यूडेटन जर्मन 'आत्मनिर्णय' के नाम पर अपनी मांगों को निरन्तर बढ़ाते चले जा रहे थे। उनकी मांगों को स्वीकार करने का अर्थ सीमान्त के सब किले जर्मनों को सौंप देना था, इसके बाद चैकोस्लोवाकिया की रक्षा असम्भव थी। राष्ट्रपति वेनेस, प्रधानमन्त्री मीलान-होजा (Milan Hodza) एवं विदेशमन्त्री कामिल क्रोपटा जर्मनों की इन मांगों के आगे झुककर आत्मघात करने की अपेक्षा लड़ मरना श्रेयस्कर सम-झते थे। उन्हें यह विश्वास था कि ब्रिटेन, फ्रान्स, रूस, रूमानिया और यूगोस्लाविया के पीठ पर होते हुए चैकोस्लोवाकिया हिटलर से डटकर लोहा ले सकेगा।

हिटलर में उस समय इतनी हिम्मत नहीं थी कि यह इस विशाल गुट की उपेक्षा करके चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर दे। परन्तु उसे तुरन्त ही ज्ञात हो गया कि वास्तव में सोवियत संघ को छोड़कर कोई भी देश चैकोस्लोवाकिया की सक्रिय मदद करने को तैयार नहीं है। फ्रांस में ब्लूम की सरकार का पतन होने के बाद अप्रेल १९३८ में दलादीयर (Daladier) का मन्त्रिमण्डल बन चुका था और बोने इस मन्त्रिमण्डल में परराष्ट्र मन्त्री था। ये दोनों ही व्यक्ति "संतुष्टिकरण की नीति" के बहुत बड़े समर्थक थे और जर्मनी के विरुद्ध उग्र नीति का अवलम्बन नहीं करना चाहते थे। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन तथा लॉर्ड हैलीफेक्स का भी यही रुख था। चेम्बरलेन ने तो एक अवसर पर कह भी दिया था—"जरा नक्शा उठाकर देखिये—चैकोस्लोवाकिया तीन तरफ से जर्मनी द्वारा घिरा हुआ है। ऐसी स्थिति में उसको बचाना कैसे सम्भव होगा?" महान् चेम्बरलेन के अनुसार चैकोस्लोवाकिया को जर्मन आक्रमण से बचाना असम्भव था, लेकिन उस समय चेम्बरलेन सहित सभी यह भी जानते थे कि चैकोस्लोवाकिया को बड़ी सुगमता के साथ बचाया जा सकता है यदि सोवियत संघ की "संयुक्त सुरक्षा" के प्रस्ताव को मान लिया जाय। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस तो न केवल लड़ना न चाहते थे, अपितु रूस की सहायता भी नहीं लेना चाहते थे। वे तो इस अनुमान में थे कि चैकोस्लोवाकिया के बाद हिटलर रूपी बाघ का तीसरा शिकार साम्यवादी रूस होगा और उस "शुभ घड़ी" को देखने के लिए वे चैकोस्लोवाकिया रूपी मेमने की कुर्बानी करने को तैयार थे। हिटलर यह भली प्रकार जानता था कि राइन प्रदेश के सैन्यीकरण और आस्ट्रिया के विलय की भांति इस अवसर पर भी ब्रिटेन और फ्रांस सिवाय निष्क्रिय प्रतिरोध के और कुछ नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में उसने १८ जून को चैकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करने का अन्तिम आदेश दे दिया। इस अवसर पर जर्मन सेनापति उसकी इस योजना के घोर विरोधी थे।[1] उन्होंने हिटलर को इस कार्य से रोकने के लिए षड़यन्त्र भी किया, परन्तु वह सफल नहीं हो पाया और अन्त में हिटलर की राजनीतिक निर्णय करने की शक्ति की ही विजय हुई।

हिटलर द्वारा आक्रमण की तैयारियां और उसे संतुष्ट करने के ब्रिटिश-फ्रेंच प्रयास—इस समय एक तरफ तो चैकोस्लोवाकिया में स्यूडेटन जर्मनों के साथ समझौता वार्ता चल रही थी और दूसरी तरफ हिटलर के अंतिम आदेशानुसार चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करने की दृष्टि से प्रबल सैनिक तैयारियां हो रही थीं। हिटलर जर्मन-फ्रेंच सीमान्त पर सिगफ्रिड

---

1. *Churchill*: Op. Cit., page 258-59.

सुदृढ़ कर रहा था और हवाई सेना में तेजी से वृद्धि करने में संलग्न था। हिटलर की सारी सैनिक तैयारियां योजनानुसार एक निश्चित अवधि के भीतर चैकोस्लोवाकिया को विनष्ट कर देने की दृष्टि से हो रही थीं। इसके अतिरिक्त हिटलर चैकोस्लोवाकिया के कुछ भागों की मिलने की आशा जगाकर पोलैण्ड और हंगरी को भी अपने पक्ष में कर चुका था।

हिटलर की सैनिक कार्यवाहियों और इरादों से भयभीत चैक सरकार ने जर्मन अल्पसंख्यकों को संतुष्ट करने के लिये २६ जुलाई को राष्ट्रीयता कानून (Nationality Statue) का प्रारूप (Draft) प्रकाशित किया। लेकिन सुरसा के बदन की भांति अपनी मांगों को बढ़ाते चले जाने वाले स्यूडेटन जर्मनों को इससे कोई सन्तोष नहीं हुआ। अंत में, भयानक युद्ध छिड़ जाने की आशंका से ग्रस्त ब्रिटेन ने चैक-जर्मन समस्या को सुलझाने के लिये प्रयास करना उचित समझा। चूंकि ब्रिटेन और चैकोस्लोवाकिया के मध्य किसी प्रकार की संधि या समझौता नहीं था, अतः इस तटस्थ हैसियत से वह स्यूडेटन-प्रश्न में मध्यस्थता कर सकता था। अपनी तटस्थ स्थिति से समस्या सुलझाने की आशा करते हुए ब्रिटिश सरकार ने ३ अगस्त को लार्ड रन्सीमैन (Renciman) को मध्यस्थ बनाकर भेजा। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री का कहना था कि चैक सरकार ने स्वयं ही ब्रिटिश मध्यस्थता की इच्छा प्रकट की थी। प्राग पहुंचकर रन्सीमैन चैक सरकार और हैनलीन के बीच समझौता कराने का प्रयास करने लगा। भीतर ही भीतर कूटनीतिक उपायों से ब्रिटेन और फ्रांस चैक सरकार पर यह दबाव डालने लगे कि वह स्यूडेटन जर्मनों को अधिकाधिक सुविधा देने को तैयार हो जाय। एक महिने के भीतर चैक सरकार रन्सीमैन की सब बातों को मानने को तैयार हो गयी, लेकिन हैनलीन इनसे संतुष्ट नहीं था, क्योंकि हिटलर किसी प्रकार का समझौता करना नहीं चाहता था। इस सम्बन्ध में **सर अल्फ्रेड जिमर्न ने ठीक ही लिखा है कि—"स्यूडेटन प्रश्न कभी मुख्य समस्या नहीं था। जर्मन अल्पसंख्यकों की शिकायतें निरा बहाना थीं। यदि वे न होतीं तो उन्हें किसी तरह पैदा करना पड़ता।"** ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि रन्सीमैन-मिशन असफल हो जाय। परिस्थिति विषमतर होती जा रही थी। इस समय जर्मनी में $7\frac{1}{2}$ लाख सैनिक व्यूह-रचना में लगे हुए थे। अतः यह स्वाभाविक था कि युद्ध की आशंका को ध्यान में रखकर २६ अगस्त को ब्रिटिश सरकार ने अपने समुद्री बेड़े को तैयार रहने का आदेश दे दिया। ७ सितम्बर को फ्रांस ने भी अपने १० लाख सुरक्षित सैनिकों को युद्ध के लिये बुला लिया। सितम्बर का सारा महिना घोर चिन्ता और उद्वेग का बना रहा। सभी को विश्व-युद्ध की संभावनायें दृष्टिगोचर होने लगीं।

७ सितम्वर को "लन्दन टाइम्स" ने एक सम्पादकीय के द्वारा यह सुझाव दिया कि चैकोस्लोवाकिया स्यूडेटन प्रदेश जर्मनी को हस्तान्तरित कर दे। इस सम्पादकीय से हिटलर काफी संतुष्ट हुआ। १० सितम्बर को हैनलीन के समर्थकों ने सैनिक शक्ति के द्वारा अपना लक्ष्य हासिल करना चाहा लेकिन चैक सरकार की सजगता के कारण उन्हें सफलता न मिल सकी। अब जर्मन प्रेस ने चैकोस्लोवाकिया के विरुद्ध बुरी तरह आग उगलना शुरू कर दिया। १२ सितम्वर को हिटलर ने न्यूरैम्बर्ग में भाषण करते हुए पहली बार बड़े स्पष्ट शब्दों में यह मांग की कि स्यूडेटनलैण्ड के जर्मनों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाय। १३ सितम्वर को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन ने हिटलर को एक पत्र लिखा जिसमें उसने चैकोस्लोवाकिया की समस्या के शांतिपूर्ण हल को ढूंढने के लिये उससे मिलने की इच्छा प्रकट की। हिटलर ने मिलना स्वीकार कर लिया और चेम्बरलेन इस नाजी नेता से पहली बार १५ सितम्बर को बर्खटेस गार्डन में मिला। अपनी ३ घटे की वातचीत में फ्यूरर ने ब्रिटिश अतिथि से यह बात साफ-साफ कह दी कि अब जर्मन अल्पसंख्यकों के लिये स्वायत्त शासन देने का कोई प्रश्न नहीं है, प्रत्युत् जर्मनी को स्यूडेटन जर्मनों का प्रदेश फौरन दे दिया जाना चाहिये। हिटलर ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह इस समस्या को अपने ढंग से हल करने के लिये कटिबद्ध है, चाहे उसे इसके लिये युद्ध की ही शरण क्यों न लेनी पड़े। चेम्बरलेन के लिये यह एक अनोखी स्थिति थी। अब तक ब्रिटिश शासन इसे जर्मन अल्पसंख्यकों और चैक सरकार का प्रश्न समझता था तथा लार्ड रन्सीमैन इसी दृष्टि से इस गुत्थी को सुलझा रहा था। लेकिन अब तो यह झगड़ा दो सार्वभौम राष्ट्रों—जर्मनी और चैकोस्लोवाकिया का हो गया था। हिटलर अपनी मांग में कोई रियायत करने को तैयार न था हालांकि उसने इस भेंट में चेम्बरलेन को यह भी विश्वास करा दिया था कि वह एक विश्वास-योग्य व्यक्ति है।[1] हिटलर द्वारा अपनी मांग पर डटे रहने पर अन्त में चेम्बरलेन के पास यह कहकर विदा होने के सिवाय उस समय और कोई चारा न रहा कि वह उसकी मांगों पर अपने मंत्रिमण्डल में विचार करेगा।

लन्दन लौटने पर चेम्बरलेन ने ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को सूचित किया कि हिटलर युद्ध करने पर उतारू है और फ्रांस युद्ध से विमुख रहना चाहता है, अत: "आत्मनिर्णय" के सिद्धान्त का विचार करते हुए हिटलर की मांग को स्वीकार कर लेना उपयुक्त है। १८ सितम्बर को फ्रेंच प्रधानमंत्री दलादियर (Daladier) और विदेश मंत्री बोनेट (Bonnet) भी ब्रिटिश सरकार से परामर्श करने के लिये लन्दन आ पहुंचे। पारस्परिक विचार-विमर्श के बाद

1. *Churchill :* Op. Cit , page 280-81.

१६ सितम्बर को दोनों सरकारों ने अपने एक नोट में चैक सरकार से शान्ति एवं सुरक्षा के नाम पर यह अपील की कि वह ५० प्रतिशत से अधिक जर्मन आबादी वाले प्रदेश जर्मनी को दे दे। इस स्वीकृति के बदले में इन दोनों राष्ट्रों ने चेकोस्लोवाकिया को यह आश्वासन दिया कि वे उसकी नई सीमाओं की रक्षा करेंगे। चैक सरकार ने इस योजना पर आपत्ति उठाते हुए फ्रेंच प्रधान मंत्री से यह स्पष्टीकरण मांगा कि क्या जर्मन आक्रमण की स्थिति में फ्रेंच-चैक सन्धि के अन्तर्गत फ्रांस चेकोस्लोवाकिया की सहायता करेगा। किन्तु फ्रेंच प्रधानमंत्री ने इस प्रश्न का कोई प्रत्युत्तर नहीं भेजा। २१ सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को उपरोक्त योजना स्वीकार करने का पुनः आवेदन करते हुए यह धमकी भी दी कि यदि इस बार चेकोस्लोवाकिया प्रस्ताव को ३ दिनों के अन्दर मंजूर नहीं करेगा तो जर्मन-आक्रमण की दशा में ब्रिटेन और फ्रांस उसकी कोई मदद नहीं करेंगे। रात को २ बजे चैक राष्ट्रपति बेनेस को सोते से जगाकर ब्रिटिश फ्रेंच अल्टीमेटम सौंपा गया और सुबह होने से पहले ही मंत्रिमण्डल की बैठक बुलायी गई। ब्रिटिश-फ्रेंच प्रस्ताव को मानने का अर्थ जर्मनी को न केवल विशाल प्रदेश अपितु ८ लाख चैक नागरिक और संपूर्ण सीमान्त रक्षक किलेबन्दी सौंप देना था। अपने मित्रों के विश्वासघात के कारण चैक मंत्रिमण्डल के समक्ष ब्रिटिश-फ्रेंच प्रस्ताव स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा न रह गया। इसके बाद योजना के विरोध में चैक प्रधानमंत्री डॉ० होजा (Hodza) ने त्याग-पत्र दे दिया और उसके स्थान पर जनरल सिरोवी प्रधानमंत्री बना। इधर चैक सरकार की स्वीकृति लेकर चेम्बरलेन २२ सितम्बर को दूसरी बार हिटलर से मिलने के लिये राइन नदी के बांये तट पर गोडेसबर्ग (Godesberg) गया। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया के साथ उसके मित्रराज्यों का इस तरह का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से कोसों दूर था। परन्तु, शान्ति कायम रखने के लिये चेम्बरलेन ने इसे "आवश्यक शल्यक्रिया" बतलाया और फ्रांसीसी लोकमत ने इसे एक लज्जा-जनक आवश्यकता बतला कर स्वीकार कर लिया।"[1] इस समय अकेले सोवियत संघ ने चेकोस्लोवाकिया को मदद देने की इच्छा प्रकट की किन्तु विरोधी नेता रूडोल्फ बेरान द्वारा राष्ट्रपति बेनेस को, यह धमकी देदी गई कि सोवियत मदद को स्वीकार करने का अर्थ चेकोस्लोवाकिया में गृह-युद्ध का समारम्भ होगा। लाचार होकर बेनेस को सोवियत प्रस्ताव ठुकराना पड़ा।

गोडेसबर्ग के प्रस्ताव—चेम्बरलेन चैक सरकार द्वारा स्वीकृत ब्रिटिश फ्रेंच योजना लेकर हिटलर से दूसरी बार मिलने के लिये गोडेसबर्ग पहुंचा जहां २२ सितम्बर की अपनी इस मुलाकात में हिटलर ने चेम्बरलेन के सामने

---

1. *Andrew Rothesten :* The Munich Conspiracy, page 372.

पहले से भी अधिक बढ़ी-चढ़ी मांगे रखीं। उसने न केवल स्यूडेटन जर्मन प्रदेश जर्मनी को दिये जाने पर बल्कि आत्मनिर्णय के आधार पर पोलैण्ड और हंगरी को भी कुछ प्रदेश देने का आग्रह किया। वास्तव में हिटलर को कतई यह आशा न थी कि चैक सरकार स्यूडेटनलैण्ड जर्मनी को हस्तान्तरित करने को तैयार हो जायगी। वह इस स्थिति का सामना करने के लिये तैयार न था अतः उसने चेम्बरलेन से कहा कि अब चैक प्रस्ताव से वह संतुष्ट नहीं हो सकता क्योंकि १५ सितम्बर के बाद से परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन पैदा हो चुके हैं। २३ सितम्बर को जर्मन अधिनायक ने चेम्बरलेन के सामने इतनी आश्चर्यजनक मागें रखी कि बेचारा ब्रिटिश प्रधानमंत्री स्तब्ध रह गया। ये मांगें निम्नलिखित थीं—

(१) पहली अक्टूबर तक साथ के नक्शे में दिखाया गया सम्पूर्ण स्यूडेटन प्रदेश जर्मनी को दे दिया जाय और यहां से चैक फौजें व पुलिस हटा-ली जायं।

(२) हस्तान्तरित होने वाले प्रदेश की सब किलेबन्दियाँ, रेलें, कारखानें आदि अक्षत रखे जायं, इस प्रदेश से कोई भी खाद्य-सामग्री, पशु या कच्चा माल न हटाया जाय।

(३) समस्त जर्मन बन्दियों की रिहाई की जाय।

(४) अन्तिम सीमा-निर्धारण एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की देख-रेख में एक जनमत संग्रह के द्वारा हो।

चेम्बरलेन हिटलर की इन शर्तों को सुनकर दंग रह गया। वह इस मांग पर विचार करने से लाचार था। उधर हिटलर ने यह धमकी दी कि चैक प्रदेश में सैनिक कार्यवाही २ दिन के भीतर शुरू हो जानी चाहिये और "इस प्रदेश से एक भी गौ बाहर नहीं ले जाई जानी चाहिये।" चेम्बरलेन ने यह मत प्रकट किया कि एकदम सैनिक अधिकार का प्रस्ताव और चैक प्रदेश से चैक फौजों को हटाने की योजना एवं सैनिक अधिकार के बाद मत-संग्रह की व्यवस्था स्वीकार करना निश्चित रूप से कठिन है और साथ ही जर्मन प्रस्ताव की भाषा और उसका ढंग इस तरह का है जिसे तटस्थ देशों का लोकमत स्वीकार नहीं करेगा। बूढ़े ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने हिटलर से विनम्रतापूर्वक कहा कि उसके शान्ति-प्रयत्नों का उसे कुछ तो आदर करना चाहिये, इस पर फ्यूरर ने उत्तर दिया कि केवल वही (चेम्बरलेन) एक ऐसा व्यक्ति है जिसे उसने (हिटलर ने) कभी कोई रियायत प्रदान की है, अन्त में निराश होकर २४ सितम्बर को चेम्बरलेन लन्दन लौट आया। २४ सितम्बर को ही चैक सरकार ने जर्मन मांगों को "सर्वथा और विना शर्त अस्वीकार्य" (Absolutely and unconditionally unacceptable) कह कर ठुकरा

दिया। इसी दिन चैक सरकार ने सीमांत पर अपनी सेनायें भेज दीं। २५ सितम्बर को ब्रिटिश मंत्रिपरिषद ने भी जर्मन मांगों को अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने चैकोस्लोवाकिया की रक्षा करने की घोषणा की। ब्रिटेन ने युद्ध की तैयारियां करते हुए समुद्री बेड़ों को इकट्ठा किया। लन्दन के पार्कों में खाइयां खुदने लगीं। हवाई हमले के विरुद्ध जल्दी-जल्दी कदम उठाये गये। फ्रांस ने आंशिक लामबन्दी घोषित कर दी। सारे यूरोप में सनसनी फैल गई। सम्पूर्ण विश्व बड़ी चिन्ता से हिटलर के चैकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करने के लिए निश्चित दिन २८ सितम्बर की प्रतीक्षा करने लगा।

इस बीच शान्ति प्रयत्न भी जारी रहे। २७ सितम्बर को चेम्बरलेन ने रेडियो पर कहा कि यदि समझौता होने की संभावना हो तो मैं तीसरी बार जर्मनी जाने को तैयार हूं। यही नहीं, बल्कि उसने हिटलर के पास होरेस विलसन को अपने वैयक्तिक पत्र के साथ यह प्रार्थना करने के लिये भेजा कि शांतिपूर्ण रीति से इस विवाद को हल किया जाय। २७ सितम्बर को ही अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी इस झगड़े को वार्ता द्वारा हल करने की अपील की। लेकिन, हिटलर समझौता करने के पक्ष में नहीं था। वह आग उगल रहा था—"यदि इस समस्या का समाधान हो जाता है तो जर्मनी के लिये यूरोप में कोई प्रादेशिक दावा नहीं रह जायगा। किन्तु यह ऐसा दावा है जिसे हम लोग छोड़ नहीं सकते। हम लोग किसी चैक को नहीं चाहते, और जहां तक स्यूडेटनलैण्ड का प्रश्न है, यह असह्य हो चुका है। हम लोग कृत-संकल्प हैं। डॉ० बेनेस अपना निर्णय स्वयं कर लें। यूरोप में यह मेरा अन्तिम दावा है।"

फ्रांस, ब्रिटेन और सम्पूर्ण यूरोप समझ रहा था कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करके रहेगा। चेम्बरलेन की सारी योजना धूल में मिल रही थी, वह चाहता था कि किसी भी प्रकार यह मामला समझौते के द्वारा तय हो जाय। चेम्बरलेन ने मुसोलिनी से आग्रह किया कि वह अपने दोस्त हिटलर को एक सम्मेलन के लिए राजी करले और कम से कम २४ घण्टों के लिये जर्मन आक्रमण को स्थगित करा दे। मुसोलिनी स्वयं भी इस समय लड़ाई नहीं चाहता था। उसने टेलीफोन पर हिटलर से वार्तालाप किया। मुसोलिनी की मध्यस्थता और मित्रराष्ट्रों की दृढ़ता के परिणामस्वरूप हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया के विषय में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। २८ सितम्बर को ब्रिटिश लोकसभा के अधिवेशन के समय चेम्बरलेन को सूचना मिली कि दूसरे दिन सुबह हिटलर ने सम्मेलन के लिये उसे म्यूनिख बुलाया है। इटली एवं फ्रांस को भी इसी प्रकार सूचना भेज दी गई। संसार के लोगों को यह सुखद आशा होने लगी कि अन्तिम क्षणों में युद्ध होने से बच गया।

म्यूनिख समझौते का स्वरूप—२९ सितम्बर १९३८ को म्यूनिख में ४ देशों—जर्मनी (हिटलर, रिब्बन ट्रॉप), इटली (मुसोलिनी, चिआनो), ग्रेट ब्रिटेन (चेम्बरलेन) तथा फ्रांस (दलादियर) के प्रतिनिधि एकत्र हुए। रूस को इसमें निमंत्रित नहीं किया गया और चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि को इसमें बैठने नहीं दिया गया। उसके प्रतिनिधि बगल के एक दूसरे कमरे में बैठे रहे। रात को 1½ बजे तक विचार करने के बाद सम्मेलन में एक समझौता तैयार किया गया। इस समझौते की शर्तें गोडेसबर्ग के आवेदन-पत्र की शर्तों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थीं, यद्यपि उनमें नाममात्र को परिवर्तन कर दिया गया था। म्यूनिख के इस समझौते की प्रमुख व्यवस्थायें ये थीं:—

(१) जर्मन सेनाओं द्वारा स्यूडेटन प्रदेश पर अधिकार करने की अवधि १ अक्टूबर से १० अक्टूबर कर दी गई। प्रदेश खाली करते हुए खाद्य पदार्थ अथवा पशुओं को न हटाने का प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया गया, परन्तु इस शर्त को ज्यों-का-त्यों रखा गया कि वहां किसी भी प्रकार की किलेबन्दी को नष्ट नहीं किया जा सकता।

(२) यह भी निश्चित हुआ कि स्यूडेटन प्रदेश खाली करने की शर्तें एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के द्वारा निश्चित होंगी जिसमें जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और चैकोस्लावाकिया के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जायेगा।

(३) जनमत-संग्रह किन प्रदेशों में किया जाय, इसका निर्णय ५ व्यक्तियों के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग को सौंपा गया। आयोग को ही जनमत-संग्रह की तिथि भी निर्धारित करनी थी परन्तु यह तिथि नवम्बर के अंत से पहले निश्चित होनी थी।

(४) चैक सरकार ४ सप्ताह में सब जर्मन बंदियों को रिहा कर देगी।

(५) जनता को ६ महिने के अन्दर दिये गये प्रदेशों को छोड़ने या उनमें बसने की स्वतंत्रता होगी। जनसंख्या के इस हस्तान्तरण से सम्बन्धित बातों का निर्धारण एक जर्मन-चैकोस्लावाक आयोग करेगा।

(६) ब्रिटेन और फ्रांस ने चैकोस्लावाकिया की नई सीमाओं की सुरक्षा की गारंटी दी और जर्मनी तथा इटली ने पोल एवं हंगेरियन अल्प-संख्यकों का प्रश्न सुलझाने के बाद यह गारंटी देने का वचन दिया। इसके साथ ही म्यूनिख से लौटते समय ३० सितम्बर को चेम्बरलेन ने हिटलर से एक ऐंग्लो-जर्मन घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कराये जिसमें यह कहा गया कि दोनों देश अपने सब विवादों को शांतिपूर्ण रीति से हल करेंगे।

म्यूनिख समझौता चैकोस्लावाकिया के लिये मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी। चैकोस्लावाकिया के दिल को महान् शान्तिवादी चेम्बरलेन की छुरी से

भग्न किया गया। चैक राष्ट्रपति डा० बेनेस ने कहा भी कि उसे ऐसे दबाव के सामने झुकना पड़ा है जिसका इतिहास में कोई उदाहरण नहीं है, और वह भी चेम्बरलेन तथा दलादियर की उपस्थिति के कारण ही। जर्मन विदेश-मंत्री रिब्बन ट्राप ने भी सम्मेलन के बाद चेम्बरलेन के बारे में कहा—"**वृद्ध महोदय ने अपनी मृत्यु के आदेश-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं, अब तारीख निश्चित करना हमारा काम है**"।[1] सचमुच म्यूनिख समझौता पश्चिमी लोकतंत्र का एक शर्मनाक कार्य था। शूमैन (Schuman) के शब्दों में, "**म्यूनिख समझौता तुष्टीकरण की नीति का सर्वोच्च विकास और पश्चिमी लोकतंत्रों का मरणाज्ञा पत्र था। यह सामूहिक सुरक्षा पद्धति के विनाश का प्रतीक था।**"[2] इसमें कोई संदेह नहीं कि म्यूनिख संधि हिटलर की आंतक की रणनीति (Strategy of Terror) की अब तक की सबसे बड़ी विजय थी।[3] गोडेसबर्ग और म्यूनिख की जर्मन-मांगों पर टिप्पणी करते हुए चर्चिल ने बड़े व्यंगात्मक शब्दों में टिप्पणी की थी—"**पहले पिस्तौल तान कर एक पौण्ड मांगा गया, जब यह दे दिया गया तो पिस्तौल दिखाकर दो पौण्ड मांगे गये, अन्त में अधिनायक ने १ पौण्ड 17½ शिलिंग लेना स्वीकार किया।**"

म्यूनिख समझौता अविलम्ब लागू हो गया। उधर इस राष्ट्रीय अपमान को न सह सकने के कारण डा० बेनेस ने चैक-राष्ट्रपति पद से त्याग-पत्र दे दिया और नई सरकार बनी।

ब्रिटेन एवं फ्रांस द्वारा समझौता करने के कारण:—प्रश्न यह उठता है कि फ्रांस और ब्रिटेन क्योंकर इस "सबसे बड़े निर्लज्जतापूर्ण विश्वासघात के लिए तैयार हुए ? निश्चय ही उनके इस विश्वासघात के मूल में अनेक कारण निहित थे। **सर्वप्रथम**, दोनों देशों के लोकमत में यूरोपियन युद्ध से बचने की तीव्र अभिलाषा थी। प्रथम महायुद्ध के भीषण विनाश को लोग अभी तक भूले नहीं थे और वे उसकी पुनरावृत्ति करना नहीं चाहते थे। **दूसरे**, दोनों देश इस समय युद्ध लड़ने की स्थिति में नहीं थे। दोनों की सैन्य शक्ति जर्मनी

---

1. "The old man has signed his death warrant and now it is for us to fill the date."

—*Ribbentrop*

2. "The Munich Pact was the culmination of appeasement and warrant of death for the Western Democracies. It was the symbol of the collapse of the system of collective security."

—*Schuman* : Op. Cit., page 571.

3. *Schuman* : Op. Cit., page 571.

के मुकाबले में क्षीण थी, अत: वे हिटलर को छेड़ना नहीं चाहते थे। जर्मन वायुसेना अत्यधिक सुसंगठित थी और दोनों देशों में इतनी प्रतिरोधात्मक शक्ति न थी कि वे लन्दन और पेरिस पर जर्मन हवाई जहाजों द्वारा बरसाये जाने वाली मौत की वर्षा को रोक सकें। **तीसरे,** दोनों ही देशों में यह विचार धारा भी प्रभाव जमाये हुए थी कि चैकोस्लोवाकिया के लिए एक महायुद्ध जितने बड़े खतरे को मोल ले लेना उचित नहीं है। **चौथे,** कुछ लोग चैक राज्य को एक कृत्रिम उत्पादन मानते थे और उनका विश्वास था कि जब तक इस राज्य का अस्तित्व बना रहेगा, पड़ौसी राष्ट्रवादी देश इसके अंग-भंग के प्रयत्न में लगे रहेंगे। **पांचवें,** पेरिस और लन्दन का यह विश्वास था कि हिटलर का प्रधान लक्ष्य सोवियत संघ का विनाश है। चैकोस्लोवाकिया में संतुष्ट हो जाने के उपरान्त वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति साम्यवाद के विध्वंस में लगायेगा। **छठे,** चेम्बरलेन का विश्वास था कि हिटलर की यह अन्तिम प्रादेशिक मांग है। वास्तव में हिटलर इस शांतिवादी के दिमाग में यह बात बैठा चुका था कि चैकोस्लोवाकिया से की गयी मांग की पूर्ति के बाद वह राज्य-विस्तार के कार्यक्रम को छोड़ देगा।

इन्हीं सब कारणों से ब्रिटिश और फ्रैंच सरकारों ने चैकोस्लोवाकिया का बलिदान कर देने में ही अपने स्वार्थों की पूर्ति देखी। २७ सितम्बर को **चेम्बरलेन ने ब्रिटिश संसद में भाषण देते हुए कहा था—"यह बड़ी भयास्पद, हास्यास्पद और अविश्वसनीय बात है कि हम एक दूरवर्ती देश में होने वाली लड़ाई के लिए खाइयां खोदें और विषैली गैसों से रक्षा करने वाले आवरणों (Gas masks) से सुसज्जित हों।... मुझे यह अवश्य कहना चाहिए कि मैं उसके (हिटलर के) रवैये को अयुक्तियुक्त समझता हूं।...किन्तु यदि हमें लड़ना ही हो तो इससे कहीं अधिक बड़े प्रश्न पर लड़ना चाहिए।"** इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि ब्रिटेन चैकोस्लोवाकिया के प्रश्न पर युद्ध को टालने के लिए हिटलर द्वारा लाई जाने वाली शर्मनाक और अपमानपूर्ण शराब को पीने के लिए तैयार था। इसी का नतीजा म्यूनिख का लज्जाजनक समझौता था और चर्चिल ने चेम्बरलेन को डपटते हुए यह सही भविष्यवाणी की थी कि म्यूनिख समझौता सम्मान के साथ की गई संधि नहीं प्रत्युत उस युद्ध का आह्वान है जो एक साल के लिए स्थगित कर दिया गया है।

म्यूनिख समझौते के परिणाम—म्यूनिख समझौते पर जहां चैकोस्लोवाकिया एवं अन्य गम्भीर आलोचकों ने लज्जा और शोक से आंसू बहाये वहां युद्ध से विरत होने के आल्हाद में ब्रिटिश और फ्रैंच जनता ने अपने २ प्रधानमन्त्रियों का अभूतपूर्व स्वागत किया। बर्लिन स्थित ब्रिटिश राजदूत सर हैन्डरसन ने तो चेम्बरलेन को यहां तक लिख दिया, "संसार की करोड़ माताएँ

आज आपको आशीर्वाद दे रही हैं कि आपने उनके बच्चों को युद्ध के मुख से बचा लिया है। कल से आपकी सफलताओं की प्रशंसा में स्याही का समुद्र उमड़ पड़ेगा।" स्वयं चेम्बरलेन ने म्यूनिख से लौटने पर निर्लज्जतापूर्वक यह उद्‌गार प्रकट किया कि "यह इतिहास में दूसरा अवसर है जब शांति को जर्मनी से डाउनिंग स्ट्रीट में आदर सहित लाया गया है। मैं विश्वास करता हूं कि यह हमारे युग के लिए शांति है।"[1]

लेकिन इस बूढ़े राजनीतिज्ञ को, शांति के झोंके में, बड़ा भारी धोखा हुआ था। **अन्ततः इतिहास को तो चर्चिल के इन्हीं शब्दों को प्रमाणित करना था—"ब्रिटेन और फ्रांस को युद्ध और अपमान के बीच चुनाव करना पड़ा है, उन्होंने अपमान को चुना है और उन्हें शीघ्र ही युद्ध करना पड़ेगा।"**[2] जहां इंगलैंड के अखबारों ने "लन्दन टाइम्स" के इस कीर्तिगान से सहमति प्रकट की—"रणक्षेत्र से विजय करके घर लौटने वाले किसी विजेता ने ऐसी कीर्ति का कार्य नहीं किया जितना कल म्यूनिख से लौटे चेम्बरलेन ने किया है।" वहां ब्रिटेन के महान् और वयोवृद्ध कूटनीतिज्ञ चर्चिल ने ब्रिटिश संसद में म्यूनिख समझौते पर गोले बरसाते हुए कहा—"हम लोगों की बहुत बड़ी हार हुई है, सब काम तमाम हो गया है और चैकोस्लोवाकिया अन्धकार में विलीन हो चुका है। ब्रिटेन तथा फ्रांस के दबाव से चैकोस्लोवाकिया का विभाजन नाजी धमकी के आगे पश्चिमी जनतन्त्र को शर्मनाक ढंग से झुकाने के बराबर है।" लार्ड एमरी ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये—"म्यूनिख समझौता दबाव से हुई जीत का प्रतीक है, ऐसी जीत जो इतिहास में सबसे सस्ती समझी जा सकती है।" इतना ही नहीं, ब्रिटिश नौ-सेना के मन्त्री एलफ्रेड कूपर ने म्यूनिख समझौते के विरोध में अपना त्यागपत्र देते हुए ब्रिटिश संसद में ये मार्मिक शब्द कहे—"१९१४ में हम लोग युद्ध में इसलिए सम्मिलित हुए थे कि भविष्य में कोई एक बड़ा एवं शक्तिशाली राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करते हुए किसी छोटे और कमजोर राष्ट्र पर अपना आधिपत्य न जमा ले। हमने म्यूनिख की शर्तों को निगलने का प्रयास किया है, लेकिन वे मेरे गले में ही अटक गयी हैं। शायद पदत्याग करके मैंने अपने राजनीतिक जीवन को बर्बाद कर लिया है, किन्तु मैं आज

---

1. "This is the second time in our history that there has come back from Germany Downing Street Peace with Honour. I believe it is peace for our time."

—*Chamberlain*

2. "Britain and France had to choose between war and dishonour. They chose dishonour, they will have war."

—*Churchill*

भी संसार में अपना सर ऊंचा करके घूम सकता हूं ।" पर इन सब विरोधी प्रतिक्रियाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और एक विशाल बहुमत से ब्रिटिश लोकसभा ने चेम्बरलेन की सफलताओं का अनुमोदन कर दिया । उधर भारत में भी महात्मा गांधी की विशाल आत्मा चिल्ला पड़ी—"केवल एक सप्ताह के सांसारिक जीवन के लिए यूरोप ने अपनी-अपनी आत्मा बेच डाली है ।" वास्तव में यह सच है कि म्यूनिख समझौता हिटलर के कूटनीतिक जीवन की सबसे बड़ी विजय और चेम्बरलेन की सबसे बड़ी पराजय थी ।[1] चेम्बरलेन की शांति के स्वरूप को १२ अक्टूबर १९३८ के "पंच" (Punch) के एक कार्टून में चित्रित करते हुए इस तरह बताया गया कि रेल्वे स्टेशन पर टंगे हुए सैनिक भर्ती सम्बन्धी पर्चों को दिखाकर एक पुत्र अपने पिता से पूछ रहा था कि "पिताजी, आप इस महान् शांति में कौन सा कार्य करने वाले हैं ?" म्यूनिख समझौता दरअसल में ब्रिटिश तुष्टीकरण की नीति का चरम विन्दु था और, केनथ इनग्राम (Kenneth Ingram) के शब्दों में, **"यह पतन की उस प्रक्रिया की, जिसके साथ अब चेम्बरलेन अपने आपको और अपने देश को बांधता जा रहा था, सर्वाधिक अन्धकारमय घड़ी थी क्योंकि इस दुःखद वास्तविकता से कोई छुटकारा नहीं था कि उस समय ब्रिटेन और फ्रांस हिटलर की मांगों को कार्यान्वित करने वाले अभिकर्त्ताओं के रूप में कार्य कर रहे थे ।**[2]

जो भी हो, म्यूनिख समझौते का यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा और **इसके गम्भीर तथा विनाशकारी परिणाम** निकले **जो संक्षेप में इस प्रकार थे—**

पहला परिणाम यह निकला कि चैकोस्लोवाकिया को अपना ११ हजार वर्गमील का प्रदेश, स्कोडा आदि के विशाल कारखाने, रेलमार्ग एवं औद्योगिक संस्थान जर्मनी को देने पड़े । इस तरह चैकोस्लोवाकिया राज्य घटकर बहुत छोटा रह गया । यही नहीं, जनमत संग्रह भी कहीं नहीं किया गया । अन्तर्राष्ट्रीय आयोग केवल एक ढोंग था जिसमें दो प्रतिनिधि धुरी राष्ट्रों के थे और ब्रिटिश-फ्रेंच प्रतिनिधियों में उनका विरोध करने की सामर्थ्य नहीं थी । म्यूनिख समझौते के फलस्वरूप जर्मनी को गोडेसवर्ग की मांगों से भी अधिक प्रदेश मिल गया । इस समझौते का लाभ उठाते हुए पोलैंड ने १ अक्टूबर १९३८ को टेशेन (Teschen) पर अधिकार कर लिया और १६ मार्च १९३९ को हंगरी ने स्लोवाकिया के मगयार जिलों को हस्तगत

1. *Eugne N. Anderson* : Modern Europe in World Prospective, page 494-95.
2. *Kenneth Ingram* : Years of Crisis, page 169.

किया। म्यूनिख समझौता चैकोस्लोवाकिया के लिए साक्षात् मृत्युदण्ड का आज्ञा-पत्र सिद्ध हुआ जिससे जर्मनी की शक्ति में असाधारण वृद्धि हुई। उसे चैक कोयलेकी खानों का ५०%, धातु उद्योग का ३६%, *शीशा-उद्योग का ५५ प्रतिशत* मिला। साथ ही चैकोस्लोवाकिया के २७ बड़े नगरों में से १४ बड़े नगर उसके हाथ आये और चैक राज्य की औद्योगिक जनसंख्या का १/३ प्राप्त हुआ। इस तरह चैकोस्लोवाकिया को शक्तिहीन और सम्पत्तिहीन बनाकर उसकी लाश पर जर्मनी ने अपनी समृद्धि का महल मजबूत किया।

दूसरा परिणाम यह निकला कि सामरिक एवं सैनिक दृष्टि से जर्मनी को अतिशय लाभ हुआ। पूर्वी यूरोपमें उसके एक बड़े शत्रु का सफाया होगया, अत: अब वह चैक सीमा पर रक्षा के लिए रखे गए सेना के २५ डिवीजनों को अन्यत्र फ्रांस के विरुद्ध पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था।[1] मध्य यूरोप पर पूर्ण स्वामित्व हो जाने के कारण हिटलर के लिए पूर्व की ओर तथा कृष्ण सागर (Black Sea) की तरफ बढ़ने का मार्ग खुल गया। हिटलर के लिए अब बालकान प्रायद्वीप में हावी होना अत्यन्त सुगम हो गया। वस्तुत: यह समझौता जर्मनी के लिए एक वरदान प्रमाणित हुआ।

तीसरा परिणाम भी जर्मनी के पक्ष में अत्यन्त प्रभावकारी निकला। म्यूनिख समझौते के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में ब्रिटेन और फ्रांस की प्रतिष्ठा धूल में *मिल गई। अपने को प्रजातन्त्र का रक्षक कहने वाले* राष्ट्रों ने एक प्रजातांत्रिक और साथी राष्ट्र की हत्या करते हुये जरा भी संकोच नहीं किया। पीछे चलकर इसका फल उन्हें भी भुगतना पड़ा। अब सभी राष्ट्रों को इनके प्रति कोई भरोसा नहीं रहा। इस प्रकार फ्रांस द्वारा निर्मित महाद्वीपीय सुरक्षा पद्धति और सुरक्षा संधियां छिन्न-भिन्न हो गईं। सचमुच में "म्यूनिख समझौता सम्पूर्ण यूरोप के लिए एक महान् कूटनीतिक क्रांति सिद्ध हुआ जिसने वर्साय संधि द्वारा स्थापित व्यवस्था को नष्ट कर दिया, ब्रिटेन व फ्रांस के मित्रदेशों के उन पर विश्वास को मिटा दिया और लघु मैत्री संघ के महत्व को समाप्त कर दिया। श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में—"इस प्रकार यूरोप का एक नया विभाजन प्रारम्भ हुआ—एक यूरोप जिसमें फ्रांस तथा ब्रिटेन द्वितीय श्रेणी की शक्तियां बनते जा रहे थे और हिटलर के अन्तर्गत नाजी जर्मनी प्रभुत्व सम्पन्न था।......म्यूनिख समझौता यूरोप तथा विश्व के इतिहास में एक नया मोड़ था।"[2]

चौथा परिणाम सोवियत रूस का पश्चिमी राष्ट्रों से असन्तुष्ट होना था। म्यूनिख सम्मेलन में रूस को आमन्त्रित नहीं किये जाने से स्टालिन का

1. *Churchill :* Op. Cit., page 273, (301-2).
2. *Nehru :* Glimpses of World History, page 922, 9[illegible]

यह परिणाम निकलना स्वाभाविक था कि यह समझौता पश्चिमी राष्ट्रों की उसके विरुद्ध एक गुटबन्दी है। इस समझौते के कारण हिटलर के दो प्रधान शत्रुओं फ्रांस और रूस में फूट पड़ गई। इस तरह जर्मन-रूस समझौते का मार्ग-प्रशस्त हो गया। सोवियत विदेश नीति में इस समझौते के फलस्वरूप एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ और रूस पश्चिमी मित्रों पर विश्वास खोकर जर्मनी से समझौता करने की सोचने लगा। वास्तव में म्यूनिख समझौता १९३५ की फ्रैंको-सोवियत संधि का स्पष्ट उल्लंघन था। ब्रान्स हूपर (Brance Hooper) के कथनानुसार, "म्यूनिख समझौता एक 'ब्लेक आउट' (Black out) पराजय था, सोवियत संघ की विदेश नीति के दो युगों के मध्य की समय-सीमा था।"

पांचवां परिणाम यह हुआ कि इस समझौते ने पोलैंड पर जर्मन आक्रमण को अनिवार्य बना दिया। एमरी के मतानुसार पोलैंड ने टेशेन की कोयले की खानों के प्रलोभन में इस पर आधिपत्य करके वर्साय-संधि के एक स्तम्भ को भग्न करते हुए अपनी मृत्यु के आदेश-पत्र पर हस्ताक्षर किये। दर-असल में म्यूनिख समझौते ने हिटलर के हृदय में यह विश्वास जमा दिया कि ब्रिटेन और फ्रांस शेर की खाल ओढ़े हुये गीदड़ हैं जो उसके विरुद्ध कुछ भी करने का साहस नहीं करेंगे। अपने इस विचार को उसने इन शब्दों में प्रकट भी कर दिया कि "मैंने म्यूनिख में उन दिनों गरीब कीड़ों (दलादियर और चेम्बरलेन) का अनुभव किया है...वे दोनों आक्रमण करने के लिए अत्य-धिक कायर सिद्ध होंगे।"

छठा परिणाम राष्ट्रसंघ और सामूहिक रक्षा में विश्वास की समाप्ति थी। यह समझौता राष्ट्रसंघ के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ जिसने संघ की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की प्रभावहीनता को सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट कर दिया। डेविड थॉम्पसन के शब्दों में "मित्रराष्ट्रों ने इस मामले में चैकोस्लोवाकिया को सामूहिक सुरक्षा प्रदान करने के बदले में उसके प्रदेश पर सामूहिक डकैती (Collective blackmail) की। उसे जबरदस्ती अपना प्रदेश जर्मनी को सौंपने पर वाध्य किया। इसने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रों के झगड़ों का निपटारा पाशविक बल और तलवार से ही हो सकता है। म्यूनिख समझौते की शर्तें केवल हिटलर द्वारा युद्ध छेड़ने के डर से ही तय हुई थीं।"[1]

सातवां परिणाम तुष्टिकरण की नीति की विफलता थी। चेम्बरलेन का विचार था कि हिटलर की मांगें पूरी कर देने से वह सन्तुष्ट हो जायगा। यह एक आश्चर्य की बात थी कि चेम्बरलेन हिटलर के साथ होने वाली

---

1 *David Thompson* : Europe Since Napoleon, page 706.

नी दो मुलाकातों के बाद भी इस विश्वास का शिकार बन गया। उसे
पनी गलती का वास्तविक अहसास तो तब हुआ जब स्यूडेटन प्रदेश को
नी प्रादेशिक मांग बताने वाले हिटलर ने मार्च १९३९ में शेष चैकोस्लो-
किया को अपना संरक्षित राज्य बना लिया और सितम्बर १९३९ में
लेश गलियारा पाने के लिये बिगुल फूंक दिया। चर्चिल का यह कहना
क ही निकला कि—"एक छोटे राज्य को भेड़िये के आगे फेंककर सुरक्षा
ने की आशा घातक भ्रांति मात्र है।"[1] समझौते के विरोध में मन्त्रीपद त्यागने
ले कूपर ने चेम्बरलेन की तुष्टीकरण की नीति की खिल्ली उड़ाते हुए कहा
—"हमारे प्रधानमन्त्री को हिटलर की सद्भावना और वचन पर तब भी
श्वास है, जब कि हिटलर ने वर्साय की संधि तोड़ते समय लोकार्नो की
धि की रक्षा का आश्वासन दिया था और लोकार्नो संधि तोड़ी तो यह कहा
कि अब यूरोप में उसकी कोई प्रादेशिक मांग नहीं है, और जब वह
स्ट्रिया में बलपूर्वक घुसा तो उसने अपने गुर्गों को यह आश्वासन देने का
धिकार दिया कि वह चैकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा।
ह सिर्फ छः महीने पहिले की बात है। फिर भी हमारे प्रधानमन्त्री का यह
श्वास है कि वह हिटलर पर विश्वास और भरोसा रख सकते हैं।"[2]

वास्तव में म्यूनिख समझौते से निकलने वाले परिणामों ने तुष्टी-
रण की नीति की पूरी पोल खोल कर रख दी और परिस्थितियों ने मित्र-
ष्ट्रों को इस नीति का परित्याग करके हिटलर के प्रति भविष्य में यथार्थ-
ादी नीति अपनाने को बाध्य कर दिया

म्यूनिख के उपरान्त चैकोस्लोवाकिया की अंत्येष्टि—२६ सितम्बर,
९३८ को फ्यूरर ने कहा था—"मैंने चेम्बरलेन को आश्वासन दिया है और
अब भी इस पर जोर देता हूं कि जब यह [स्यूडेटन] समस्या हल हो
ायगी तब यूरोप में जर्मनी की और कोई प्रादेशिक समस्या नहीं रह जायगी।
ब चैक राज्य में मुझे और कोई रुचि नहीं होगी और मैं उसको गारन्टी दे
कता हूं। हम और अधिक चैक नहीं चाहते।" लेकिन कुछ ही दिनों के
न्दर यह पता चलने लगा कि हिटलर का यह "अन्तिम दावा" नहीं
ा, प्रत्युत यह विश्वास भी पहले के विश्वासों की भांति दिखावा मात्र था।
सका ध्यान सम्पूर्ण चैकोस्लोवाकिया को हड़पने की तरफ लगा हुआ था।
ोहीमिया और मोराविया में नवीन हवाई अड्डों की प्राप्ति, चैक सेना के
स्त्र-शस्त्रों की प्राप्ति की अभिलाषा, चैक विदेशी स्वर्ण और मुद्रा का प्रलो-
न, कृषि-भूमि और मानवीय शक्ति को प्राप्त करने तथा सामरिक दृष्टि से

1. *Churchill :* Op. Cit., page 293.
2. Ibid, page 292.

जर्मनी को मजबूत करने की इच्छा से जर्मन तानाशाह ने चैक जनतंत्र को समाप्त करने का निश्चय कर लिया। २१ अक्टूबर १९३८ को उसने अव-शिष्ट चैकोस्लोवाकिया को हड़पने की तैयारी के लिए आदेश जारी किये।

हिटलर ने स्लोवाकिया प्रान्त के लोगों को चैक सरकार से स्वतंत्र होने के लिए उकसाया। जब चैक सरकार ने इस विद्रोह को दबाने के लिए १० मार्च १९३९ को स्लोवाक प्रधानमंत्री फादर टिसो (Tiso) को पदच्युत किया तो हिटलर ने स्लोवाक नेताओं को बर्लिन बुलाकर उन्हें जर्मन संरक्षण दिया। उसकी प्रेरणा से १४ मार्च १९३९ को स्लोवाकिया ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इस पर तत्कालीन चैक राष्ट्रपति एमिल हाशा (Emil Hacha) और विदेश मंत्री शावलकोवस्की (Chavalkovaski) हिटलर से मिलने के लिए बर्लिन गये। वास्तव में हिटलर ने ही उन्हें बात-चीत के लिए आमन्त्रित किया था। १५ मार्च को रात्रि को १॥ बजे वृद्ध और अनुभव शून्य हाशा अपने विदेश मंत्री के साथ फ्यूरर के सम्मुख उपस्थित हुआ। इस मुलाकात के समय रिब्बन-ट्रॉप और दूसरे नाजी नेता भी उपस्थित थे। इस मुलाकात में झूठ, धमकियों और अशिष्टता की एक ऐसी कहानी का निर्माण हुआ जिसकी सभ्य और सुसंस्कृत लोगों से आशा भी नहीं की जा सकती। हाशा पर म्यूनिख समझौते को भंग करने का आरोप लगाया गया और उसके सामने हस्ताक्षर के लिए एक दस्तावेज पेश कर दिया गया जिसमें कहा गया था कि "चैक जनता और चैक भूमि का भाग्य विश्वास के साथ फ्यूरर और जर्मन राइक के हाथों में सौंपा जाता है।" हिटलर और गोरिंग ने हाशा को डराते और धमकाते हुए कठोर शब्दों में यह चेतावनी दी कि यदि जर्मन मांग को स्वीकार नहीं किया गया तो प्रातःकाल छः बजे जर्मन सेनाएं सब ओर से चैक राज्य में प्रविष्ट हो जायेंगी तथा राजधानी प्राग को बम-वर्षा से विध्वस्त कर दिया जायगा। बेचारा अनुभवशून्य और कमजोर-दिल हाशा इस प्रकार की धमकियां सुन कर मूर्छित हो गया। हिटलर के डाक्टर मोरेल ने, जो वहीं उपस्थित था, इन्जेक्शन लगा कर उसे चेतन किया और प्रातः ४॥ बजे उससे बलपूर्वक एक ऐसे दस्तावेज पर हस्ताक्षर करा लिये गये जिसके अनुसार बोहीमिया और मोराविया पर "जर्मन संरक्षण" स्थापित हो गया। इस प्रकार, ७० वर्ष के बूढ़े राष्ट्रपति के सामने ही उसका चैक राष्ट्र वैधानिक रूप से जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। १५ मार्च को सबेरे जर्मन सेनाओं ने चैकोस्लोवाकिया में प्रवेश किया और हिटलर ने विज-योल्लास के साथ यह घोषणा की कि चैकोस्लोवाकिया का अस्तित्व समाप्त हो गया है। दो दिन बाद स्लोवाकिया भी जर्मनी में शामिल कर लिया गया।

[illegible] ंगरी ने रूथेनिया (Ruthenia) के प्रदेश पर हिटलर की सह-

मति से अधिकार कर लिया। २० वर्ष की आयु में ही, जबकि किशोर चैकोस्लोवाकिया ने यौवन–काल में पग रखा ही था, उसकी इहलीला समाप्त हो गयी।

चैकोस्लोवाकिया को निगल कर हिटलर ने निर्विवाद रूप से यह प्रदर्शित किया कि वह जर्मन साम्राज्य में न केवल जर्मन अपितु अन्य जातियों को भी बलपूर्वक सम्मिलित कर रहा है। उसने यह प्रमाणित कर दिया कि जर्मनी की विस्तारवादी नीति की कोई सीमा नहीं है और कोई भी राज्य किसी भी समय उसके आक्रमण का शिकार बन सकता है। इस घटना का यह स्वाभाविक परिणाम निकला कि पश्चिमी राष्ट्र युद्ध की प्रबल तैयारियां करने में जुट गये। चैम्बरलेन ने १७ मार्च के अपने एक भाषण में हिटलर की कठोर शब्दों में भर्त्सना की। अब उसने उसके भावी आक्रमणों को रोकने के लिए सुदृढ़ मोर्चेबन्दी शुरू कर दी। २३ मार्च को लोकसभा में दिये गये अपने भाषण में चैम्बरलेन ने यह विश्वास प्रकट किया कि "जर्मन सरकार का संभावित लक्ष्य सम्पूर्ण यूरोप को अपने अधिकार में करना है।" ३१ मार्च १६३६ को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा कर दी कि यदि जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया तो वह पोलैण्ड की सहायता करेगी। फ्रान्स ने भी इसी प्रकार का वचन दिया। दोनों देशों ने यूनान, रूमानिया और टर्की को भी रक्षा के वचन दिये तथा सोवियत रूस के साथ संधि का प्रयास आरम्भ किया। जहां तक मुसोलिनी का सम्बन्ध था, उसे भी हिटलर के कार्यों से निराशा पैदा हुई, परन्तु अब हिटलर का साथ छोड़ने का समय नहीं था। इसलिए उसने यही उचित समझा कि उसे भी हिटलर का अनुकरण करना चाहिए। अब वह अल्बानिया की ओर गिद्ध—दृष्टि से ताकने लगा और अन्त में ७ अप्रेल १६३६ को उसने आक्रमण द्वारा अल्बानिया को हड़प लिया।

(१०) मेमल पर आधिपत्य—हिटलर का अगला शिकार लिथुआनिया बना। यूरोप चैक स्वतंत्रता की हत्या के आघात से संभल भी न पाया था कि हिटलर ने लिथुआनिया को एक अल्टीमेटम देकर मेमललैण्ड को पुनः जर्मन राइक को सौंप देने की मांग की। २० मार्च को रिब्बन ट्रॉप की लिथुआनिया के विदेश मंत्री से मुलाकात हुई। चूंकि लिथुआनिया फ्यूरर की मांग को ठुकराने की स्थिति में नहीं था और न ही उसे पश्चिमी देशों की सहायता का विश्वास था, अतः उसने तुरन्त ही बर्लिन सरकार के साथ समझौता [२१ मार्च १६३६] कर लिया जिसके द्वारा मेमल प्रान्त जर्मनी को दे दिया गया। २२ मार्च को जर्मन सेनाओं ने मेमल पर अधिकार कर लिया। २३ मार्च को दोनों देशों के मध्य एक व्यापारिक समझौता भी हो गया। इस समझौते के द्वारा लिथुआनिया के आर्थिक जीवन पर जर्मनी ने लगभग पूर्ण

नियंत्रण कायम कर लिया। मेमल आधिपत्य पश्चिमी राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा-नीति की पूर्ण असफलता का एक और ज्वलंत उदाहरण था।

(११) **रूस-जर्मन समझौता (१३ अगस्त १६३६)**—सर्वाधिकारवादी जर्मनी और इटली की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को सुरसा के बदन की भांति बढ़ते हुए देख कर जहां एक ओर ब्रिटेन एवं फ्रान्स ने पोलैण्ड, रूमानिया, यूनान तथा टर्की आदि को रक्षा के वचन दिये वहां अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने हिटलर तथा मुसोलिनी को ३० राष्ट्रों की एक सूची देते हुए अगले दस वर्ष तक इन पर आक्रमण न करने का आश्वासन मांगा [१४ अप्रेल १६३६], परन्तु यह सब भैंस के आगे बीन बजाने जैसा था। युद्ध के लिए मदमत्त सांड की तरह तुले बैठे हिटलर ने इस आश्वासन–निवेदन का उत्तर अपने २८ अप्रेल के भाषण में दिया। इसमें उसने १६३५ के एंग्लो-जर्मन समझौते को तथा ३० सितम्बर १६३८ की सब समस्याओं को शान्तिपूर्वक सुलझाने की एंग्लो-जर्मन घोषणा को रद्द करते हुए कहा कि ६ अप्रेल के एंग्लो-पोलिश समझौते ने १६३४ के जर्मन-पोलिश अनाक्रमण समझौते को निरर्थक बना दिया है। २३ मई को हिटलर ने अपने सेनापतियों के साथ गोपनीय मंत्रणा की और उन्हें सम्पूर्ण पोलैण्ड को जीतने की योजना बनाने का आदेश दिया।

परन्तु पोलैण्ड पर हमला बोलने से पहले हिटलर ने तीन प्रकार की कूटनीति का सहारा लिया। **प्रथम**, उसने पोलैण्ड के विरुद्ध विषवमन करते हुए उस पर जर्मन अल्पसंख्यकों के साथ घोर अत्याचार करने का दोषारोपण किया। उसने पोलैण्डवासी जर्मनों को "स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उकसाने की नीति अपनायी। परिणामतः डैन्जिग में तनाव बढ़ने लगा, पोल-जर्मन सीमान्त पूर्वापेक्षा अधिक अशांत हो गया, वहां अधिक संख्या में दुर्घटनाएं घटित होने लगीं। नाजी पत्र पोलैण्ड पर विभिन्न आरोपों के कपोल कल्पित, अतिरंजित वाक्-बाण छोड़ने लगे। **द्वितीय**, हिटलर ने मुसोलिनी को सैनिक कार्यवाहियों में अपना घनिष्ठ साथी बनाने के प्रयास शुरू कर दिये। हिटलर की मन्शा थी कि युद्ध छिड़ने पर दोनों फासिस्ट राज्य साथी बनकर शत्रुओं का मुकाबला करें। इसी नीति के फलस्वरूप २२ मई को दोनों के मध्य फौलादी समझौता (Steel Pact) हुआ। **तृतीय**, हिटलर ने रूस के साथ समझौता करके उसे पाश्चात्य राष्ट्रों से विमुख कर देने की चाल खेली। इस समय मास्को की मैत्री पाने के लिए मित्रराष्ट्रों और धुरी राष्ट्रों के मध्य बड़ी तीव्र होड़ हुई जिसमें जर्मनी पहले १६ अगस्त को रूस के साथ एक व्यापारिक संधि और बाद में २३ अगस्त को एक अनाक्रमण संधि करने में सफल हुआ। इससे पूर्व जर्मनी और रूस परस्पर कट्टर विरोधी थे। हिटलर अपने मान्यवार [illegible]

प्रचार के बल पर पाश्चात्य शक्तियों की आंखों में धूल झोंककर अनेक रियायतें पाने और अपना साम्राज्य-विस्तार करने में सफल हुआ था। लेकिन वास्तव में हिटलर का असली उद्देश्य तो एक ही था—किसी भी रूप में जर्मन साम्राज्य का विस्तार। इसीलिए उसने अपने तथा कथित शत्रु साम्यवाद रूस से हाथ मिलाकर पश्चिमी राष्ट्रों को स्तब्ध कर देने की महान् कूटनीतिक चाल खेली। दूसरी ओर रूस को यह विश्वास हो गया था कि फ्रान्स और ब्रिटेन का उद्देश्य उसे और जर्मनी को लड़ाकर अपनी प्रभुता को सुरक्षित रखना था। म्यूनिख-काण्ड से यह स्पष्ट हो चुका था कि उसे जर्मन आक्रमण की दशा में पश्चिमी राष्ट्रों से कोई आशा नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इस समय जर्मनी ने रूस के सामने विशेष प्रलोभन रूपी थाली परोसी थी। वह रूस को उन प्रदेशों पर अधिकार करने में बाधा न पहुंचाने का वचन देने को तैयार था जिन्हें रूस अपनी सुरक्षा पंक्ति सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक समझता था। ये प्रदेश थे—फिनलैण्ड, स्टोनिया, लेटविया, पोलैण्ड का पूर्वी भाग तथा रूमानिया का बेसारबिया प्रदेश। स्पष्ट ही स्वार्थों की इस अनुकूलता ने दो कट्टर शत्रुओं को मिलाने की आधारभूमि तैयार कर दी। चूंकि पश्चिमी राष्ट्र स्टालिन को इस प्रकार का कोई ठोस प्रादेशिक लाभ देने को सहमत न थे, अतः उनके साथ रूस का समझौता नहीं हो सका। जर्मनी रूस के साथ समझौता करने में पहल इसलिए भी कर गया कि जहां हिटलर के साथ समझौता करने के लिए स्वय ब्रिटिश प्रधानमंत्री चेम्बरलेन तीन बार उड़कर गया था वहां स्टालिन से समझौते के लिए ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का एक व्यक्ति भी नहीं गया जबकि दूसरी ओर जर्मनी का विदेश मंत्री रिबनट्रॉप स्वयमेव स्टालिन को जीतने के लिए रूस पहुंचा।

सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि का स्वरूप—२३ अगस्त १९३९ को होने वाले क्रांतिकारी रूस जर्मन अनाक्रमण समझौते में केवल सात धाराएं थीं—

(१) संधि करने वाले दोनों पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध न तो अकेले और न किसी के साथ मिलकर शक्ति का प्रयोग करेंगे।

(२) यदि दोनों पक्षों में से कोई एक किसी तीसरी शक्ति के आक्रमण का शिकार बन जायगा तो दूसरा तीसरी शक्ति को किसी भी प्रकार की सहायता नहीं देगा।

(३) समान हितों से सम्बद्ध समस्याओं पर दोनों पक्षों की सरकारें परस्पर परामर्श करती रहेंगी और उनके सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएं भी एक दूसरे को प्रदान करती रहेंगी।

(४) दोनों में से कोई भी पक्ष किसी ऐसी गुटबन्दी को स्वीकार नहीं करेगा जिसका संगठन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे के विरुद्ध किया गया हो।

(५) यदि कभी दोनों पक्षों के मध्य विवाद की स्थिति पैदा हो जाय तो वे उस विवाद अथवा उन विवादों को या तो पारस्परिक मैत्रीपूर्ण वार्तालाप द्वारा सुलझायेंगे या आवश्यकता पड़ने पर उन विवादों को किसी पंच के सुपुर्द कर देंगे।

(६) यह संधि १० वर्ष की अवधि के लिए है और यदि दोनों में से कोई भी पक्ष अवधि समाप्त होने से १ वर्ष पूर्व उसे अस्वीकार नहीं करेगा तो संधि की अवधि स्वतः ५ वर्ष के लिए बढ़ जायगी।

(७) इस संधि की सम्पुष्टि (Ratification) कम से कम समय में की जायगी। सम्पुष्टियों का विनिमय बर्लिन में होगा और ज्योंही इस समझौते पर हस्ताक्षर हो जायंगे त्योंही अविलम्ब इसे कार्यान्वित कर दिया जायगा।

रूस और जर्मनी में मैत्री संधि का हो जाना ब्रिटिश फ्रेंच कूटनीति की निश्चित पराजय थी। रूस को अपने विश्वास में ले लेने के फलस्वरूप जर्मनी को कार्य करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी। इस संधि के साथ ही साथ होने वाली एक दूसरी गोपनीय उपसंधि के द्वारा जर्मनी और रूस ने अपने-अपने प्रभावक्षेत्रों को पूर्वी यूरोप में बांट लिया था और रूस ने जर्मनी को खाद्यान्न, पेट्रोल तथा अन्य युद्ध-सामग्रियां देने का वचन दिया था। दोनों राष्ट्रों के समझौते ने जर्मन-पोलैण्ड युद्ध को हिटलर के लिए बड़ा सुगम और अनिवार्य बना दिया। पूर्वी मोर्चे पर रूस का भय समाप्त हो जाने के कारण वह अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध पश्चिमी मोर्चे पर लगा सकता था और इस युद्ध के लिए अपरिमित मात्रा में आवश्यक सामग्री प्राप्त कर सकता था। वास्तव में रूस का सहयोग खो देने के कारण ही ब्रिटेन और फ्रान्स का पोलैण्ड की रक्षा का कार्य अत्यन्त कठिन हो गया।

(१२) **पोलैण्ड पर आक्रमण और विश्व युद्ध का प्रारम्भ**—चैकोस्लोवाकिया और मेमल पर हिटलर के आधिपत्य के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी कुशल प्रेक्षकों को यह विश्वास हो गया था कि हिटलर का अगला शिकार अब निश्चित रूप से पोलैण्ड ही बनेगा। वास्तव में जर्मन-पोलिश संघर्ष के बीज तो वर्साय संधि के द्वारा ही बोये जा चुके थे। इस संधि के अन्तर्गत पूर्वी साइलीशिया और पश्चिमी प्रशा का अधिकांश भाग पोलैण्ड को मिला था। युद्धकाल में पोलैण्ड वालों ने अनेक ऐसे प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था जिनके बहुसंख्यक निवासी जर्मन थे। समुद्र तक ... पोलैण्ड को जर्मनी के भू-भाग से मार्ग भी दिया गया था।

पोलिश हितों की रक्षा के लिये ही डैन्जिग के प्रसिद्ध जर्मन बन्दरगाह को अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में एक स्वतंत्र नगर का रूप दिया गया था। यही नहीं, डैन्जिग तक पहुंचने के लिये पोलैण्ड को जर्मनी के बीच से एक गलियारा मिला था जिसकी वजह से पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से बिल्कुल पृथक हो गया था। इस तरह पोलैण्ड के कारण वर्साय संधि के माध्यम से जर्मनी का अंग-भंग हुआ था। पराजित जर्मनी १९१९ में किये गये राष्ट्रीय अपमान को कभी नहीं भूल सकता था और नाजी परराष्ट्र-नीति का मुख्य उद्देश्य वर्साय संधि का जनाजा निकालकर सम्पूर्ण जर्मन जाति को एक सूत्र में पिरोना था। इस पृष्ठभूमि में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि दोनों राष्ट्रों के सम्बन्ध बिगड़े रहें। यद्यपि, परिस्थितियों वश, १९३४ में पोलैण्ड और जर्मनी के मध्य एक १० वर्षीय अनाक्रमण संधि हो गई थी, किन्तु पोलैण्ड जर्मनी से अपने आपको निरापद नहीं समझता था और आने वाले समय ने उसकी शंका को सत्य प्रमाणित कर दिया।

सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि के बाद हिटलर ने पोलैण्ड में अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सैनिक कदम उठाने का उपयुक्त अवसर समझा। उसे संभवतः यह विश्वास था कि सोवियत-जर्मन मैत्री के समाचारों से स्तब्ध होकर पश्चिमी राष्ट्र म्यूनिख जैसा कोई समझौता कर लेंगे और पोलैण्ड को नाजी विस्तारवादियों की दया पर छोड़ देंगे। किन्तु इस बार हिटलर का अनुमान गलत बैठा। २२ अगस्त १९३९ को चेम्बरलेन ने किसी रूसी जर्मन समझौते के सम्पन्न होने सम्बन्धी समाचार पाकर भी पोलैण्ड को दिये गये रक्षा के वचन को पूरा करने का दृढ़ संकल्प प्रकट किया। इस पर हिटलर ने अपनी पुरानी नीति के अनुसार अगले ही दिन यह घोषणा की कि 'जर्मनी ने कभी इंगलैण्ड के साथ संघर्ष की इच्छा नहीं रखी, उसने कभी ब्रिटिश स्वार्थों में हस्तक्षेप नहीं किया, इसके विपरीत वह उसकी मैत्री को पाने के लिये उत्सुक है। किन्तु इसके साथ ही जर्मन राइक के कुछ निश्चित स्वार्थ हैं, वह इन्हें नहीं छोड़ सकता, इनमें डैन्जिग और पोलिश गलियारा उल्लेखनीय हैं। इनके लिये जर्मन सेना को लामबंदी की आज्ञा दी जायगी।" यद्यपि यह इंगलैण्ड को एक खुली चुनौती थी किन्तु फिर भी हिटलर लन्दन को युद्ध से दूर रखना चाहता था। इसके लिये उसने २५ से ३१ अगस्त तक पूरा प्रयत्न भी किया।

इंगलैंड को युद्ध से विरत रखने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उसने एक स्वेडिश व्यापारी बर्जर डालरस (Birger Dahlerus) को लन्दन तथा बर्लिन स्थित ब्रिटिश राजदूत हैन्डरसन द्वारा कुछ शांति प्रस्ताव भी रखे। किन्तु इन प्रयत्नों का कोई वांछित परिणाम नहीं निकला। ब्रिटेन

एक बार फिर तुष्टीकरण की नीति अपनाना चाहता था, लेकिन साथ ही पुरानी गल्तियों को दोहराना भी नहीं चाहता था। चेम्बरलेन के आदेश पर हैन्डरसन ने हिटलर के समक्ष यही प्रस्ताव किया कि डैन्जिग के प्रश्न को पोलैण्ड और जर्मनी सीधी वार्ता द्वारा हल कर लें। लेकिन हिटलर ने यह स्पष्ट कर दिया कि डैन्जिग को लेकर वह युद्ध करने को भी तैयार है। उसने हैन्डरसन से कहा—**"मेरी उम्र ५० साल की हो गई है। हम आज ही युद्ध का हो जाना पसन्द करेंगे न कि ५ या १० साल के बाद जबकि मैं ५५ या ६० वर्ष का हो जाऊंगा। मैं एक कलाकार हूं और सम्पूर्ण जर्मन जाति को एक सूत्र में बांधने के बाद अवकाश ग्रहण कर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूं।"**[1] वास्तव में सच्ची बात यही थी कि हिटलर इस प्रश्न पर कोई समझौता करना नहीं चाहता था। डैन्जिग का उसके लिये विशेष महत्व था और उसे प्राप्त कर लेने का अर्थ यूरोप में उसकी एक दूसरी महान् कूटनीतिक विजय थी। वह युद्ध के लिये तैयार बैठा था।[2] फिर भी अपनी तरफ से युद्ध छेड़ने की बदनामी को कुटिल कूटनीतिक ढंग से टालने के लिये २९ अगस्त को सायंकाल ७। बजे उसने हैन्डरसन को सूचित किया कि उसे ब्रिटिश प्रस्ताव इस शर्त पर स्वीकार है कि पोल प्रतिनिधि पूर्ण अधिकारों के साथ ३० अगस्त को प्रातः बर्लिन पहुंच जाय। यह हिटलर का बड़ा चातुर्य-

---

1. British Blue Book, page 98-100.
2. २२ अगस्त को हिटलरने अपने साथियोंके समक्ष भाषण देते हुए कहा था—"Everything depends on me, on my existence. No one will ever again have the confidence of the whole German people as I have. There will probably never be a man in the future with more authority. My existence is, therefore, a factor of great value.....For us it is easy to make decision. We have nothing to lose......Our enemies have men who are below average. no personalities, no masters, no men of action......All these fortunate circumstances will no longer last in two or three years. Therefore conflict is better now. I am only afraid that at the last moment some scoundrel will make a proposal for mediation......I shall give a propagandist cause for starting the war, never mind whether it is plausible or not. The victor will not be asked later on, whether we told the truth or not. In starting and making a war, it is *not the Right* that matters, but *Victory*."—*Trail of the Major War Criminals Nuremberg*—1947-49 Vol. II, page 286-291.

पूर्ण कूटनीतिक दांव था। यदि पोलैन्ड उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता तो शुशनिग और हाशा की कहानी की पुनरावृत्ति करते हुये पोल प्रतिनिधि पर बल डालकर उससे जर्मन प्रस्ताव पर हस्ताक्षर कराये जा सकते थे, और यदि वह प्रतिनिधि नहीं आता तो उसे ब्रिटेन और फ्रांस को यह कहने का मौका था कि "मैं तो समझौते के लिये तैयार था, पोलैण्ड तैयार नहीं हुआ, इसलिये मुझे युद्ध छेड़ना पड़ रहा है।" एक संभावना यह भी थी कि पोलिश प्रतिनिधि द्वारा आकर भी प्रस्ताव स्वीकार न करने पर यह आशा की जा सकती थी कि कदाचित ब्रिटेन और फ्रांस अन्तिम समय पर पोलैन्ड को उसके भाग्य पर छोड़ दें।

३० अगस्त को रात्रि के १२ बजे ब्रिटिश सरकार ने प्रत्युत्तर में जर्मनी को सूचित किया कि पोलैन्ड को जर्मन-प्रस्ताव के सम्बन्ध में सूचना दी जा रही है। वास्तव में स्थिति यह थी कि ३० अगस्त को कोई भी पोलिश प्रतिनिधि बर्लिन आ नहीं सकता था और बेक को शुशनिग तथा हाशा की याद आने लगी थी, अतः उसने बर्लिन जाने से इन्कार कर दिया था। उसी रात्रि को हैन्डरसन ने जर्मन पर‍राष्ट्र मंत्री रिब्बन ट्राप से मुलाकात की, किन्तु उसने हैन्डरसन को बताया कि अब कुछ करना बेकार है क्योंकि निर्धारित समय तक पोलिश प्रतिनिधि बर्लिन नहीं पहुंचा है। फिर भी, जर्मनी की नेकनीयती जता देने के लिये रिब्बन ट्राप ने अपनी जेब से एक दस्तावेज निकाल कर हैन्डरसन को पढ़ कर सुनाया। इसमें वे १६ प्रस्ताव थे जिन्हें जर्मन सरकार ने पोलिश प्रतिनिधि के सामने रखने के लिये तैयार किया था। इसकी शर्तें बहुत ही संतोषजनक थीं। इसमें कहा गया था कि डैन्जिग शीघ्र ही जर्मनी को वापिस लौटा दिया जाय, पोलिश गलियारे को एक वर्ष के लिये अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में रखा जाय, इस अवधि के समाप्त होने पर वहां जनमत संग्रह हो और यदि जनमत जर्मनी के पक्ष में आये तो गलियारे-क्षेत्र में जर्मनी पोलैण्ड को सुविधा प्रदान करे, अन्यथा पोलैन्ड द्वारा जर्मनी को इस क्षेत्र में सुविधा दी जाय। वास्तव में यह दस्तावेज केवल प्रदर्शनी हुंडी थी क्योंकि जब हैन्डरसन ने इसकी एक प्रतिलिपि की मांग की तो रिब्बन ट्राप ने इसलिये प्रतिलिपि देने से इन्कार कर दिया कि पोल प्रतिनिधि रात्रि के १२ बजे तक बर्लिन नहीं पहुंचा था। हैन्डरसन ने प्रश्न किया कि पोलिश राजदूत लिप्सकी को बुलाकर उनके सामने इन प्रस्तावों को क्यों नहीं रखा गया था? इस पर रिब्बन ट्राप ने उत्तर दिया—"मैं पोलिश राजदूत को नहीं बुला सकता। हां, अगर राजदूत मिलने के लिये स्वयं अनुरोध करे तो यह दूसरी बात होगी।"

निराश हैण्डरसन् ने दूतावास लौट कर प्रातःकाल टेलीफोन पर लिप्सकी को गत रात की घटनाओं को बताते हुये अनुरोध किया कि वह

जर्मन परराष्ट्र मंत्री से मिलने का प्रयास करे। ३१ अगस्त को सुबह ८ बजे ही लिप्सकी ने रिब्बन ट्राप से प्रार्थना की कि वह उससे मिलना चाहता है। लेकिन उसे शाम को ६॥ बजे जाकर जर्मन परराष्ट्र मंत्री से मुलाकात का अवसर मिल पाया। लिप्सकी ने उसे सूचित किया कि पोलिश सरकार ने ब्रिटिश सुझाव को स्वीकार करके जर्मनी के साथ प्रत्यक्ष रूप से बात करने का निश्चय किया है। रिब्बन ट्राप ने अपने प्रस्तावों की एक प्रति लिप्सकी को दे दी, लेकिन उस समय वस्तुस्थिति यह थी कि हिटलर युद्ध के लिये अन्तिम आदेश दे चुका था और बर्लिन तथा वारसा के मध्य टेलीफोन-लाइन कट चुकी थी। बेचारा पोलिश राजदूत जर्मन दस्तावेज की प्रतिलिपि को जेब में रखे रहा, उसे अपनी सरकार के साथ सम्पर्क स्थापित करने का कोई अवसर भी नहीं मिला। उधर नौ बजे रात को जर्मन रेडियो ने जर्मनी की नेकनीयती जताने के लिये हिटलर के १६ सूत्री प्रस्ताव को प्रसारित कर दिया। इसके साथ ही १ सितम्बर को प्रातःकाल बिना विधिवत युद्ध की घोषणा किये ही जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। इसी दिन १० बजे हिटलर ने राइकस्टॉग में भाषण देते हुये यह आरोप लगाया कि वे जर्मनी के विरुद्ध आक्रमण कर रहे हैं, अतः जर्मनी को आत्मरक्षा के लिये युद्ध करना पड़ रहा है।

पोलैन्ड पर जर्मन आक्रमण होते ही मित्रराष्ट्र एकदम सक्रिय हो उठे। १ सितम्बर को ही हैन्डरसन ने जर्मन सरकार को ब्रिटिश सरकार की यह चेतावनी दी कि यदि जर्मन सेनायें पोलैन्ड के प्रदेश से वापिस न बुलाई गयीं तो ब्रिटेन को पोलैन्ड को दिये गये वचन का पालन करने के लिये उसकी रक्षा करनी पड़ेगी। जर्मनी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। ३ सितम्बर को ९ बजे प्रातः ब्रिटेन ने जर्मन सरकार को अन्तिम अल्टीमेटम दिया कि यदि ११ बजे तक जर्मनी ने पोलिश प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दिया तो दोनों देशों के बीच युद्ध की स्थिति पैदा हो जायगी। कुछ संकोच और टालमटोल के बाद उसी दिन १२॥ बजे फ्रेंच राजदूत रोबर्ट कूलन्द्रे (Robert Coulondre) ने जर्मन परराष्ट्र मंत्री रिब्बन ट्राप से भेंट करके उसे यह अल्टीमेटम दिया कि यदि शाम के ५ बजे तक जर्मन सेनायें पोल प्रदेश से न हटीं तो फ्रांस और जर्मनी के मध्य भी युद्ध-स्थिति पैदा हो जायगी। जर्मनी ने दोनों ही अल्टीमेटमों को रद्द कर दिया, अतः जहां ३ सितम्बर को ११ बजे ब्रिटेन ने युद्ध की घोषणा कर दी, वहां थोड़े ही घंटों बाद संसार ने फ्रांस की रणभेरी भी सुनाई दी और इस तरह हिटलर की विदेश नीति से द्वितीय महायुद्ध का दावानल प्रज्वलित हो गया।

EXERCISES

1. Trace the circumstances which led to the rise of Hitler in Germany. Do you think the Versailles Treaty was mainly responsible for it ?
   उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिये जिनसे हिटलर का जर्मनी में उदय हुआ। क्या आप वर्साय की संधि को इस उदय के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी मानते हैं ?

2. Discuss the causes of success of the Nazi Revolution in Germany under the leadership of Hitler.
   हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में नाजी क्रान्ति की सफलता के कारणों की विवेचना कीजिये।

3. "The Nazi Revolution was a big diplomatic revolution." Do you agree with this view ? State reasons.
   "नाजी क्रांति एक बड़ी कूटनीतिक क्रांति थी।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? कारण बताइये।

4. Discuss the impact of the Nazi Revolution on World politics.
   विश्व राजनीति पर नाजी क्रांति के प्रभाव की विवेचना कीजिये।

5. "The emergence of Nazi Germany caused a marked re-orientation of continental affiliations."—Discuss.
   "नाजी जर्मनी के अभ्युत्थान ने यूरोपीय सम्बन्धों को आश्चर्यजनक ढंग से प्रभावित किया।" विवेचना कीजिये।

6. "European history, and to some extent that of entire world has been dominated (since 1933) by one fact—the revival of German power under the dictatorship of Adolf Hitler."
   How far this statement of Hardy gives the correct description of international relations between the years 1933 and 1945 ?
   "एलोल्फ हिटलर के अधिनायकत्व में जर्मन शक्ति का पुनरुत्थान यूरोप तथा कुछ सीमा तक समस्त विश्व के इतिहास को अत्यधिक प्रभावित करता रहा है।"
   हार्डी का यह कथन १६३३ तथा १६४५ के मध्य के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कहां तक सही विवरण प्रस्तुत करता है ?

7. How far did the rise of Nazi Germany change the attitude of Nations of Europe and of the world ?

यूरोप तथा विश्व के राष्ट्रों के दृष्टिकोण में नाजी जर्मनी के उत्थान ने कहाँ तक परिवर्तन किया है ?

8. Examine the salient features of Hitler's foreign policy and trace the successive steps by which he destroyed the Treaty of Versailles.

हिटलर की विदेश नीति की विशेषताओं का परीक्षण कीजिये तथा उन क्रमिक पगों का विवरण दीजिये जिनके द्वारा उसने वर्साय की संधि को नष्ट किया ।

9. "To forge a mighty sword is the task of internal political leadership, to protect the forging and seek allies in arms is the task of foreign policy."

Discuss in the light of the above statement, the fereign policy of Nazi Germany between 1933 and 1939.

"एक समर्थ एवं शक्तिशाली तलवार का निर्माण करना आन्तरिक राजनैतिक नेतृत्व का काम है,इसके निर्माण–कार्य की रक्षा करना और युद्ध कार्य में मित्रों की खोज करना विदेश नीति का कार्य है ।"

उपरोक्त कथन के प्रकाश में १९३३ से १९३९ के मध्य की नाजी जर्मनी की विदेश नीति की विवेचना कीजिये ।

10. Do you agree with the statement that "Hitler's decision to make Austria the first object of his fareign policy proved in many respects unfortunate ?"

क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि, "हिटलर का अपनी विदेश नीति का प्रथम लक्ष्य आस्ट्रिया का बनाने को निर्णय कई अर्थों में दुर्भाग्य–पूर्ण था ?"

11. Examine the diplomatic trends which led to the formation of the Rome Berlin Axis.

उन कूटनीतिक घटनाओं की परीक्षा कीजिये जिनके कारण रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हुआ ।

12. Describe the main stages in the Dismemberment of Czechoslovakia.

चैकोस्लोवाकिया के छिन्न–भिन्न होने की विभिन्न श्रेणियों का वर्णन कीजिये ।

13. Describe the events in Czechoslovakia leading to the Munich Pact of 1938. What consequences followed from it ?

चैकोस्लोवाकिया की उन घटनाओं का वर्णन कीजिये जिनका परिणाम १६३८ का म्यूनिख समझौता था। उसके क्या परिणाम हुये ?

14. Give a background of Munich Settlement. What were its results ?

म्यूनिख संमझौते की पृष्ठभूमि दीजिये। इस समझौते के क्या परिणाम हुये ?

15. How far was Germany responsible for the collapse of the collective security ?
सामूहिक सुरक्षा के पतन के लिये जर्मनी कहाँ तक उत्तरदायी था ?

16. Trace the origin of the Russo-German Non-aggression Pact of 1939. To what extent Britain and France could be held responsible for this pact ?

१६३६ के रूस-जर्मन अनाक्रमण समझौते के उदय के कारण बताईये। इस समझौते के सम्पन्न होने में ब्रिटेन और फ्रांस कहां तक उत्तरदायी थे ?

17. Explain carefully Stalin's decision of 1939 to conclude a Non-Aggression Pact with Germany rather than a defensive alliance with the West.

१६३६ में स्टालिन ने पश्चिम के साथ रक्षात्मक संधि करने की अपेक्षा जर्मनी से अनाक्रमण समझौता किया था। उसके निर्णय का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

18. Discuss how the rape of Czechoslovakia by Germany reacted on World Opinion.
जर्मनी द्वारा चैकोस्लोवाकिया पर जो बलात्कार किया गया उसकी विश्व जनमत पर होने वाली प्रतिक्रियाओं की विवेचना कीजिये।

19. "After Czechoslovakia Hitler did not stop. He had yet to penetrate in the East."
How far this statement is true ? Discuss it with special reference to Poland, Danzig and the Corridor.

'चैकोस्लोवाकिया के पश्चात् हिटलर रुका नहीं। उसे अभी पूर्व में प्रवेश करना था।'

यह कथन कहां तक सत्य है? पोलैण्ड, डैन्जिग तथा गलियारे के विभाजन का विशेष विवरण देते हुए इसकी व्याख्या कीजिये।

20. Write short notes on (a) The Anglo-German Naval Pact; (b) Anschluss; (c) Rome-Berlin-Tokyo Axis.

इन पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये–[अ] एंग्लो-जर्मन नौ-समझौता, [ब] आस्ट्रिया-जर्मन संयुक्तीकरण, [स] रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी।

21. 'The Munich Pact was the culmination appeasement and warrant of death for the Western Democracies. It was the symbol of the collapse of the system of collective security." Discuss.

"म्यूनिख समझौता तुष्टीकरण की नीति का सर्वोच्च विकास और पश्चिमी लोकतंत्रों का मरणाज्ञा पत्र था। यह सामूहिक सुरक्षा पद्धति के विनाश का प्रतीक था।" विवेचना कीजिये।

अध्याय—८

ग्रेट ब्रिटेन की विदेश नीति

[FOREIGN POLICY OF GREAT BRITAIN]

"यूरोपीय शान्ति की, इस समय पहली शर्त यह है कि हम यह निःसंकोच रूप से स्वीकार कर लें कि जर्मनी का शस्त्रीकरण उसका अपना निजी मामला है, अन्य किसी का नहीं। ......(राष्ट्रसंघ) संविदा के इस प्रकार के संशोधन का अब समय आ गया है जिससे कि इस प्रकार के सभी अनुच्छेदों के (विशेषतः १० तथा १६ को) जो राष्ट्रसंघ के अतिराज्य होने के सिद्धान्त को उत्साहित करते हैं, हटा दिया जाए। ....युद्ध के संक्रमण की अनिवार्यता का सिद्धांत वास्तव में शुद्ध बकवास है। ...हम अपने को यूरोप के राष्ट्रों में से एक राष्ट्र नहीं समझते। ....पूर्वी साइबेरिया में जापान के विस्तार के निरोध से ....हमें कोई सरोकार नहीं है।"

—एल.एस. एमरी : दी फारवर्ड व्यू (सन् १९३५)

पृष्ठभूमि—विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्त और लक्ष्य

मध्यकाल से ही ब्रिटिश विदेश नीति दो प्रमुख लक्ष्यों की ओर संचालित की गयी है—(१) अपनी नौ-सेना को पूरी तरह शक्तिशाली बनाना और उसके आधार पर समुद्रों को अपने अधिकार में रखना, तथा (२) यूरोपीय महाद्वीप में शक्ति-संतुलन बनाये रखना। इस शक्ति-संतुलन को बनाये रखने के लिए ब्रिटेन का यह हर सम्भव प्रयास रहता था कि वह किसी भी देश की शक्ति को अधिक ऊंचा न होने दे; यदि ऐसा हो भी जाय तो विभिन्न सैनिक समझौतों एवं संधि-संगठनों द्वारा उसे नीचा दिखा दे।

उपरोक्त दोनों लक्ष्यों की प्रेरणा ब्रिटिश विदेश नीति ने अपने देश की भौगोलिक स्थिति से ग्रहण की। चारों ओर से समुद्रों से घिरा हुआ एक देश जिसका साम्राज्य सारी वसुन्धरा पर फैला हुआ था, यदि अपनी जल-शक्ति के विकास पर अधिक ध्यान देता है तो यह स्वाभाविक ही है। ग्रेट ब्रिटेन यह कभी भी पसन्द नहीं करता था कि कोई उसकी नौ सेना को

कूटनीतियों द्वारा जिस कुशलता से व्यवहार किया गया है उसका मूल लक्ष्य यही सब तत्त्व रहे हैं। आज के युग में यद्यपि अनेक प्रभावशील परिवर्तनों के कारण विश्व राजनीति का स्वरूप बहुत कुछ वदल गया है तथापि यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये परम्परावादी उद्देश्य आज भी ब्रिटिश विदेश नीति के लक्ष्य हैं।

उपरोक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त ब्रिटिश विदेश नीति में गौण लक्ष्य लोकतन्त्रवाद का समर्थन, निरंकुश एवं अवैध शासनों का विरोध, ब्रिटिश चैनल के सामने के यूरोपियन प्रदेश में किसी को हावी न होने देना और इस प्रदेश में अवस्थित बेल्जियम, हौलेण्ड को तटस्थ बनाये रखना भी है। ब्रिटिश विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त उसके पूर्वी साम्राज्य को जाने वाले समुद्री मार्ग के महत्त्वपूर्ण सागरों, इसके नाकों—भूमध्यसागर, जिब्राल्टर, माल्टा, स्वेजनहर एवं मध्यपूर्व के देशों फिलस्तीन तथा मिश्र पर अपनी प्रभुता बनाये रखना भी रहा है।

प्रथम महायुद्ध तक तक तो ग्रेट ब्रिटेन विश्व की महाशक्तियों में प्रथम स्थान बनाये रहा, यद्यपि १८६७ के बाद जापान और १८७१ के बाद जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका उसके साथ प्रतिस्पर्धा करने वाले प्रबल राष्ट्र बन गये थे। अपने विशाल साम्राज्य की महान् जनशक्ति, विशाल औद्योगिक उत्पादन एवं साधन-सामग्री के कारण ही १९१४ तक उसकी यह सर्वोच्च सत्ता स्थापित रह सकी। किन्तु **प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटिश श्रेष्ठता को पहली बार शक्तिशाली आघात पहुंचाया** और एक ओर ब्रिटिश तथा दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के बीच युद्धपूर्व प्रतिद्वन्द्विता को तीव्र किया। युद्धोपरान्त ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति और आन्दोलन बलवती हुए, वाम पक्षी एवं साम्यवादी आन्दोलनों के प्रभाव में वृद्धि हुई और जलवर्ती पोतों तथा हवाई शक्ति के विकास से उसकी नौशक्ति को गंभीर धक्का पहुंचा। युद्ध ने वस्तुतः सभी पश्चिमी देशों, विशेष कर ब्रिटेन की औपनिवेशिक एवं साम्राज्य सम्बन्धी अवस्था को पर्याप्त दुर्बल कर दिया। **विशालतम साम्राज्यवादी देश के रूप में ब्रिटेन राजनीतिक दृष्टि से हिल गया।** आर्थिक दृष्टि से भी वह बड़ा निर्बल हो गया। उसके आर्थिक जीवन में पतन का मुख्य कारण उद्योगों, व्यवसायों तथा विश्व-व्यापार का चौपट होना और उपनिवेशों के साथ सम्बन्धों में परिवर्तन आना था। इसकी

---

interests these have been the traditional bases of British foreign policy, and every British statesman of the past few centuries has been conscious of them."

—*Palmer and Perkins*, International Relations, P. 732

वजह से आर्थिक क्षेत्र में उनका आर्थिक उत्पादन गिर गया, उनकी महत्त्व निर्यात आय काफी कम हो गई और विश्वव्यापी बाजार का एकाधिकार उसके हाथ से निकल कर संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में जाने लगा। उपनिवेशों की ओर से भी आर्थिक प्रतिस्पर्धा विकसित होने लगी। ब्रिटेन और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यों के सम्बन्धों के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन होने लगे, क्योंकि इस समय से कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीका का ब्रिटिश नीति-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण स्थान होता गया।

भय से "प्रसादन या तुष्टीकरण की नीति" का पालन करना नहीं था, प्रत्युत ब्रिटिश शान्तिवादी राजनीतिज्ञों की इच्छा थी कि प्रथम महायुद्ध की भीषण विभीषिका के उपरान्त यूरोप और समग्र विश्व का कल्याण इसी में था कि भविष्य में युद्ध या बल–प्रयोग की धमकी दिये बिना ही आपसी विवादों का व्यवस्थित रीतिसे निपटारा हो जाय। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए और विश्व शान्ति की इसी भावना से प्रेरित होकर सम्भवत: ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री चेम्बरलेन अपने मित्रों से विश्वासघात करने और ऊंची-से-ऊंची कीमत अदा करने को तैयार हो गये, क्योंकि उनका विचार था कि इस प्रकार की कीमत चाहे कितनी ऊंची क्यों न हो, महायुद्ध की तुलना में बहुत कम होगी। महान् शान्तिवादी चेम्बरलेन एक ऐसा व्यक्ति था जो राजनीतिक अवसरवादी नीति के प्रभाव से पूर्णत: मुक्त था और यह विश्वास रखता था कि जो मार्ग उसने अपनाया है, वह सही है तथा इसके द्वारा युद्ध की विभीषिका को टाला जा सकता है। चेम्बरलेन की धारणा थी कि हिटलर और मुसोलिनी की आकांक्षाएं कुछ छोटी–बड़ी शिकायतों तक ही सीमित हैं और यदि इन्हें दूर कर दिया जाय तो न केवल एक महायुद्ध को स्थगित किया जा सकता है अपितु जर्मनी और इटली को परम्परागत रीति से सम्मेलनों में भाग लेने यथा आपसी बातचीत द्वारा विवादों को हल करने के लिये मनाया जा सकता है।

इस प्रकार "तुष्टीकरण की नीति" अपने उद्देश्यों की दृष्टि से भयंकर नहीं थी किन्तु इसका ठीक ढंग से प्रयोग नहीं किया गया–इसीलिये यह आलोचना की घोर पात्र बनी और इसे बहुत हद तक महायुद्ध के लिए एक प्रमुख कारण बताया गया। शूमैन (Schuman) का इस सन्दर्भ में लिखना है कि वर्साय सन्धि के बाद ब्रिटेन के सामने दो मार्ग थे—यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन की नीति का परित्याग करके सामूहिक सुरक्षा के लिये राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन करना या यूरोप में सबल राष्ट्र के विरुद्ध निर्बल राष्ट्रों को सहायता देने की परम्परागत नीति का अवलम्बन करना, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया और बदले में एक आत्मघाती नीति का अनुसरण किया।[1] पर वास्तव में उपरोक्त दोनों मार्गों के अनुसरण में परिस्थिति जन्य विशेष कठिनाइयों के कारण ही ब्रिटेन तुष्टीकरण की इस नीति पर चल पड़ा। दोनों महायुद्धों के बीच के काल के कुछ वर्षों को छोड़ कर सत्ता अधिकांशत: ब्रिटिश अनुदार दल के हाथों में रही जो सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त में कोई विश्वास नहीं रखता था। अनुदार दल के विचार में यदि इस नीति का पालन किया जाता तो ब्रिटेन के कन्धों पर भारी उत्तरदायित्व आ जाता और इसके लिये वह

1. *Schuman* : International Politics, pp. 835–36

तैयार नहीं था। प्रथम महायुद्ध के बाद परिस्थितिवश ब्रिटिश नीति पूर्वापेक्षा उपनिवेशों पर अधिक निर्भर रहने लगी थी और हर बात में ब्रिटिश सरकार को उपनिशों का ख्याल रखता पड़ता था। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका के महत्त्वपूर्ण उपनिवेश यूरोपीय राजनीति की सरगर्मी से बहुत दूर थे तथा सामूहिक सुरक्षा के नाम पर वे ऐसा कोई उत्तरदायित्व लेने को तैयार नहीं थे जिससे उनके देश को कोई क्षति पहुंचने की सम्भावना हो। दूसरे मार्ग के अवलम्बन में ब्रिटेन को ये कठिनाइयां थीं कि यदि वह निर्बल राष्ट्रों को सहायता देने की नीति पर चलता तो उस हालत में उसे वर्साय-सन्धि की सैनिक धाराओं पर अमल करवाने, जर्मनी के शस्त्रीकरण को रोकने तथा ऐसा सम्भव न होने पर फ्रांस एवं अन्य राष्ट्रों को पूर्ण सहायता देने और जर्मनी पर रुकावट डालने के लिए रूस से सहयोग करने हेतु बाध्य होना पड़ता। ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखते हुए उत्तरदायित्वों की सीमाओं का इतता विस्तार कर देना उपयुक्त नहीं था। इन्हीं सब कारणों से वह "तुष्टीकरण की नीति" पर चलने में ही भला समझने लगा।

उपरोक्त प्रारम्भिक एवं आधारभूत चर्चा के बाद अब हम ब्रिटिश "तुष्टीकरण या प्रसादन नीति" के मुख्य आधारों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। **ये प्रमुख आधार निम्नलिखित थे—**

(१) साम्यवाद का तथा साम्यवादी रूस का आतंक—युद्धोत्तर ब्रिटिश परराष्ट्र-नीति में सबसे महत्वपूर्ण प्रेरक तत्व साम्यवाद का खतरा था और द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक इस खतरे को दूर रखना ही ब्रिटिश नीति का मूलमन्त्र बना रहा। बोल्शेविक-क्रांति के समय से ही भयभीत ब्रिटेन के पूंजीपति और शासक साम्यवाद को तथा सोवियत रूस को अपना प्रधान शत्रु समझने लगे थे। ब्रिटिश नीति-निर्धारकों की धारणा थी कि भविष्य में यूरोप में जर्मनी और रूस तथा एशिया में रूस और जापान ही बड़े एवं शक्तिशाली राज्य होंगे। उनका यह समझना निराधार भी नहीं था। प्रथम महायुद्ध के बाद साम्यवाद की नींव मजबूती से जम गई थी और फ्रेंच-क्रांति के सिद्धान्तों की भांति साम्यवादी विचारधारा धीरे-धीरे सम्पूर्ण यूरोप में फैलने लग गई थी। पूर्वी यूरोप उसके प्रभाव-चंगुल में उलझने लग गया था। अतः इंग्लैण्ड को यह स्वाभाविक चिन्ता सताने लगी कि यदि साम्यवाद की प्रगति को अवरुद्ध नहीं किया गया तो वह पश्चिम में भी अपने पैर जमा लेगा। अपने इस ध्येय की पूर्ति के लिये इंग्लैण्ड इतना आगे बढ़ गया कि वह उस प्रत्येक राष्ट्र को, जो साम्यवादियों से संघर्ष करने को तैयार था या उनसे संघर्ष करने की बात करता था, सहायता करने को तैयार हो गया।

साम्यवाद के शत्रु को वह मनमाना कार्य करने की छूट देने को तैयार था चाहे उसकी इन कार्यवाहियों के फलस्वरूप शान्ति-संधियों का —

और प्रादेशिक व्यवस्था की यथास्थिति का अतिक्रमण भी क्यों न हो जाय। रूस के साम्यवाद को ब्रिटिश साम्राज्य के लिये और अपने लिये मौत का फंदा मानते हुए उसकी यही कामना रही कि पश्चिम में जर्मनी और इटली तथा पूर्व में जापान रूस पर आक्रमण करके उसे समाप्त कर दें। जापान, जर्मनी और इटली के कर्णधारों से ब्रिटेन की यह बीमारी छिपी न रही और इसीलिये हिरोहितो, हिटलर तथा मुसोलिनी ने इस रोग के निदान की ओट में अपने राष्ट्रों एवं वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये, अपनी सत्ता की वृद्धि के लिये महान् शक्तियों द्वारा पारित संधियों का अतिक्रमण करना शुरू कर दिया। उन्हें विश्वास था कि उनके वास्तविक अभिप्राय से अनभिज्ञ इंग्लैण्ड उनकी कार्यवाहियों का, जो बाह्य रूप में साम्यवाद-विरोधी आवरण डाले हुए थीं, विरोध नहीं करेगा। और हुआ भी यही। मंचूरिया में जापान के आक्रमण को ब्रिटिश विदेश मंत्री सर जोन साइमन ने इसलिये उपेक्षा की दृष्टि से देखा कि जापान यहां मचूरिया से नहीं बल्कि साम्यवाद से लड़ रहा था, साम्यवादी रूस पर हमले की तैयारी कर रहा था। जर्मनी द्वारा वर्साय-संधि की शस्त्रास्त्रों को नियंत्रित करने, राइन प्रदेश का विसैन्यकरण रखने आदि की व्यवस्थाओं के भंग का विरोध ब्रिटेन ने इस लिये नहीं किया कि हिटलर सदैव साम्यवादियों के विरुद्ध विष-वमन किया करता था। अपने घोर साम्यवादी विरोध के कारण ही ब्रिटेन दो महायुद्धों के मध्यवर्ती काल में जर्मनी और जापान को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता देता रहा तथा पूर्व की ओर उसका मार्ग निष्कंटक बनाने के लिये फ्रांस को पूर्वी यूरोप के उसके मित्रों को सहायता देने से रोकता रहा। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का अन्त तक यह दृढ़ विचार बना रहा कि सोवियत रूस के विनाश के लिये जर्मनी को शक्तिशाली बनना चाहिए और उसे ब्रिटेन का पूरा समर्थन दिया जाना चाहिये। लॉयड जार्ज ने २८ नवम्बर १९३४ को ब्रिटिश लोकसभा में कहा—

"बहुत थोड़े समय में—एक या दो वर्ष के भीतर—इस देश के अनुदार तत्व जर्मनी को यूरोप में साम्यवाद के विरुद्ध रक्षा की दीवार समझेंगे, वह यूरोप के केन्द्र में है और यदि साम्यवादियों के विरुद्ध उसकी रक्षापंक्ति भंग होती है तो सारे यूरोप में साम्यवाद फैलने की आशंका है। दो या तीन वर्ष पहले मुझे एक जर्मन राजनीतिज्ञ ने कहा था—"मुझे नाजीवाद का नहीं, किन्तु साम्यवाद का भय है, यदि जर्मनी पर साम्यवादियों का अधिकार हुआ तो सारा यूरोप इसका अनुसरण करेगा। हमें जर्मनी की निन्दा करने में जल्दी नहीं करनी चाहिये, हमें उसका अपने मित्रों की भांति स्वागत करना चाहिये।"[1]

---

1. *Schuman* : International Politics, P. 606

रूस के विरुद्ध इस असामान्य घृणा और उपेक्षा के कारण ही १९३४ में ब्रिटिश-रूस समझौता नहीं हो सका। जर्मनी, जापान और इटली—इन तीनों शक्तियों को सहायता देते समय ब्रिटेन ने इस सम्भावना को नजरन्दाज कर दिया कि ये तीनों शक्तियां रूस को परास्त करने के बाद ब्रिटेन के लिये खतरनाक बन सकती थीं। उसे तो यह खतरा साम्यवाद के खतरे के सामने नगण्य दिखाई पड़ता था।

(२) **शक्ति-संतुलन का सिद्धान्त**—इस आधार की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए शूमैन ने लिखा है—"महाद्वीपीय शक्तियों के आक्रमण के विरुद्ध ब्रिटेन की सुरक्षा तथा विश्व-व्यापी व्यापार एवं विनियोजनों के द्वारा ब्रिटेन की समृद्धि, शताब्दियों से किसी भी एक शक्ति के यूरोप में सर्वाधिक शक्तिशाली बनने से रोकने पर ही निर्भर रही है।.........इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये नेपोलियन के युग में फ्रांस के विरुद्ध रूस की सहायता, प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध रूस तथा अमेरिका की तथा द्वितीय विश्व युद्ध में फासिस्ट त्रिगुट के विरुद्ध एक बार फिर दोनों की सहायता की आवश्यकता पड़ी। परन्तु १९३० ई० में संभवतः इस ध्येय को भुला दिया गया।" इसका कारण प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की घोर पराजय था जिसके परिणामस्वरूप संतुलन की स्वतः स्थापना हो गई, क्योंकि यूरोप का नेतृत्व फ्रांस के हाथ में आ गया और फ्रांस ब्रिटेन की सहायता पर निर्भर था।

परन्तु १९३० के बाद यूरोप का शक्ति-संतुलन पुनः तेजी से बिगड़ने लगा। साम्यवादी रूस पर्याप्त शक्तिशाली बन गया और हिटलर तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में जर्मनी व इटली भी शक्तिशाली व समर्थ सैनिक-राष्ट्रों की गणना में आने लगे। इस समय परिस्थिति ऐसी थी कि कूटनीति के द्वारा शक्ति-संतुलन की स्थापना की संभावना प्रायः समाप्त हो चुकी थी। अतः ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने जर्मनी, इटली और जापान के त्रिगुट को साम्यवादी रूस के विरुद्ध एक दूसरे के ऊपर नियंत्रक के रूप में रखने का विचार किया। उन्होंने सोचा कि यदि फासिस्ट त्रिगुट संघर्ष में रूस को पराजित कर देगा तो साम्यवादी आतंक से राहत मिल जायगी और साथ ही फासिस्ट शक्तियां भी निर्बल पड़ जायंगी, और यदि परिणाम उल्टा निकला तो फासिस्ट शक्तियों के भय से मुक्ति मिलेगी, जर्मनी ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में आ जायगा और तब इन शक्तियों की सहायता करके संघर्ष के कारण पहले से ही क्षीण पड़े रूस को पराजित करने की योजना बनायी जा सकेगी। इस तरह यूरोप में उत्कर्ष प्राप्त तीनों शक्तियों के परस्पर लड़ कर क्षीण हो जाने से प्रत्येक दशा में ब्रिटेन लाभान्वित होगा।

अपनी उपरोक्त धारणा के आधार पर ही ब्रिटेन ने साम्यवाद-विरोधी शक्तियों का सक्रिय विरोध नहीं किया और इस तरह शक्ति-सन्तुलन का उसका परम्परागत विचार उसकी तुष्टीकरण की नवीन नीति का एक मुख्य प्रेरक हेतु बना। जापान, रूस और जर्मनी को परस्पर नियंत्रण और अन्ततोगत्वा एक दूसरे को श्रान्त करने की अपनी इच्छा के कारण ही ब्रिटेन ने आत्मघाती तुष्टीकरण की नीति का सहारा लिया। उसका यह दृढ़ विचार था कि यदि साम्यवादी रूस के विजय की आंशिक संभावना भी हुई तो वह अपनी सारी शक्ति जर्मनी के पक्ष में लगा देगा। इसी धारणा पर चलते हुए उसने जर्मनी को पुनर्शस्त्रीकरण करने, वर्साय एवं लोकार्नो की संधियों को भंग करने तथा आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया और मेमल को हड़पने दिया; जापान को मंचूरिया तथा इटली को एबीसीनिया जीतने दिया। परन्तु इस नीति का दुर्भाग्य यह था कि इसने अन्त में उस सन्तुलन को ही पूर्णतः विनष्ट कर दिया जिसे स्थापित करना इसका उद्देश्य था। धुरी-राष्ट्रों को दी गई प्रत्येक सुविधा के साथ वे शक्तिशाली होते गये। ब्रिटेन ने उनके विरोध में कोई वैसी प्रबल गुटबन्दी नहीं की, जैसी स्पेन के फिलिप द्वितीय, फ्रांस के लुई चौदहवें, नैपोलियन प्रथम और और जर्मनी के विलियम केसर द्वितीय के विरुद्ध की थी। यह गुटबन्दी रूस को मित्र बना कर की जा सकती थी किन्तु साम्यवाद के होए ने इस मैत्री-सम्बन्ध को कभी स्थापित नहीं होने दिया। इस प्रकार तुष्टीकरण की नीति में सच्चे शक्ति-सन्तुलन का अभाव रहा जबकि ऐसी किसी नीति की सफलता के लिये ठोस शक्ति-सन्तुलन की आवश्यकता होती है। शूमैन (Schuman) ने ठीक ही लिखा है—

" 'सीजरों' को 'सन्तुष्ट' करने की यह नीति, जिसका प्रधानमन्त्रियों स्टेनली वाल्डविन (१९३५-३७) तथा चेम्बरलेन ने बड़े परिश्रम से अनुसरण किया—ब्रिटिश हितों की दृष्टि से केवल इस कल्पना के आधार पर ही कि जर्मनी और रूस या तो एक दूसरे को सन्तुलित करते रहेंगे या लड़ते-लड़ते दोनों निर्बल हो जायगें तथा फ्रांस और इंग्लैण्ड तटस्थ एवं सुरक्षित बने रहेंगे—सार्थक कही जा सकती थी। इस अनुमान के मिथ्या सिद्ध होने की अवस्था में (जैसा कि वह हुआ भी) यह नीति आरम्भ से ही एक आत्मघाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी जिसे इंग्लैण्ड, कामनवैल्थ तथा साम्राज्य के महान् दिवसों के उपयुक्त किसी प्रकार से भी नहीं ठहराया जा सकता था।"

(३) ब्रिटिश-फ्रेन्च मतभेद—ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति का एक मुख्य प्रेरक कारण लन्दन और पेरिस की सरकारों में विद्यमान तीव्र मतभेद था। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, युद्धकाल के इन दो मित्रों में राष्ट्र-संघ, सामूहिक सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण क्षति-पूर्ति आदि सभी विषयों में

विभिन्न मतभेद उत्पन्न हो गये जिससे ये दोनों कभी संयुक्त होकर दृढ़तापूर्वक कार्य नहीं कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उनके पृथक्-पृथक स्वार्थ थे और स्वार्थों की पूर्ति के उनके तरीके उन्हें दो भिन्न दिशाओं में खींचे चले जा रहे थे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ कहते थे कि दुर्बल जर्मनी साम्यवादी विचारों को बल प्रदान करेगा, अत: जर्मनी के साथ यथासंभव कठोर व्यवहार न किया जाय। ब्रिटेन में जर्मनी के लिए इसलिए भी सहानुभूति थी कि उस ो कमजोर बनाने से ब्रिटेन के व्यापारिक स्वार्थों पर आंच आती थी। युद्ध के उपरान्त भी ब्रिटेन अभी यह नहीं भुला पाया था कि युद्ध के पूर्व जर्मनी उसका एक अच्छा ग्राहक था। युद्धोपरान्त विकसिक आर्थिक मन्दी के कारण ब्रिटेन के व्यापार-वाणिज्य को और भी अधिक धक्का लगा था। अत: अपनी व्यापारिक समृद्धि के लिए वह जर्मनी के औद्योगिक पुनर्निर्माण को आवश्यक समझता था। यह तभी संभव था जबकि जर्मनी सशक्त बने, आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो। इसके अतिरिक्त एक सशक्त जर्मनी ही सोवियत रूस के विरुद्ध खड़ा हो सकता था। इन सब बातों के कारण ही ब्रिटेन सदैव वर्साय की संधियों की व्यवस्थाओं को उदार बनाने का, क्षतिपूर्ति की मात्रा को कम करने का, जर्मनी को शस्त्रीकरण का अधिकार देने का, जर्मन सीमान्तों को संधियों द्वारा संशोधित करने का, राष्ट्रसंघ के विधान को उदार बनाने का और पूर्वी यूरोप की सीमाओं की सुरक्षा की गारंटी न देने का पक्षपाती बना रहा। ब्रिटेन के सर्वथा विपरीत फ्रान्स इनमें से प्रत्येक विषय में ब्रिटेन का विरोधी था और प्राय: उसकी १९३३ तक यही नीति चली।

यह दुर्भाग्य की बात थी कि १९१९ से १९९३ तक अन्तर्राष्ट्रीय नीति की बागडोर फ्रांस के हाथ में रही जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी में नाजी शक्ति का उत्कर्ष हुआ और इससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह हुई कि १९३३ के बाद १९३९ तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व ब्रिटेन के हाथों में रहा जिसके फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के दुर्दिन देखने पड़े। आरम्भ में ब्रिटेन ने जर्मनी के प्रति सहानुभूति के कारण तुष्टीकरण की नीति अपनायी, १९३५ में ब्रिटिश-जर्मन नौसैनिक संधि का आधार सामयिक आवश्यकता बतलाया गया, १९३६ में हिटलर द्वारा राइन प्रदेश का सैन्यीकरण करने पर ब्रिटेन ने तुष्टीकरण की नीति को उचित ठहराने के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की दुहाई दी और १९३७ के बाद उसने अपना नीति-औचित्य यह कह कर सिद्ध किया कि वह शांति कायम करने के लिए आवश्यक है। शांति के नाम पर ही आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया आदि का बलिदान कर दिया गया। इस तरह नाजियों के आगे घुटने टेकने वाला ब्रिटेन का शासन दर्ग अपने साथी देशों के साथ विश्वासघात करते हुए विभिन्न देशों की स्वतंत्रता

का अपहरण करवाता रहा और अपनी इस कायरता और नपुंसकता को सिद्धान्तों और नेकी के आवरण में निर्लज्जतापूर्वक छिपाने का प्रयत्न भी करता रहा। यूरोप के दो महान् राष्ट्रों ब्रिटेन और फ्रान्स के पारस्परिक विरोधों के कारण तानाशाहों के विरुद्ध राष्ट्रसंघ कोई कठोर कदम उठाने में असफल रहा। बर्लिन और रोम ने इन विरोधों का खुल कर लाभ उठाया। हिटलर ने बड़ी खूबी के साथ फ्रान्स के विरुद्ध ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयास किया और उसमें उसे पूरी सफलता मिली। वास्तव में यदि इन दोनों महाशक्तियों में ऐक्य होता अथवा यदि शुरू में बागडोर इन्हीं के हाथ में होती या अंतिम काल में फ्रान्स के हाथ में होती तो महायुद्ध के विनाशकारी परिणाम से बचना संभव था।

(४) **ब्रिटेन की आर्थिक एवं आन्तरिक कठिनाइयां**—ब्रिटिश तुष्टी-करण-नीति का एक आधार उसकी आर्थिक और आन्तरिक कठिनाइयां थीं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को काफी प्रभावित किया और उसकी स्थिति शोचनीय हो गयी। परन्तु १९२९-३० के विश्व-व्यापी आर्थिक संकट ने उसकी कमर ही तोड़ दी और एक तरह से यह दिवालिया हो गया। इसी अवधि में उसके उपनिवेशों में स्वतंत्रता आन्दोलन का भीषण तूफान उठ खड़ा हुआ और इस तूफान से बचने के लिए उसे अपनी सम्पूर्ण संचित शक्ति लगानी पड़ी। इन विकट परिस्थितियों में ब्रिटेन अपना धैर्य खो बैठा, उसकी नीति में अस्थिरता आ गयी और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध में ठोस कदम उठाना उसके लिए असंभव हो गया।

(५) **ब्रिटिश नेताओं की अक्षमता**—तुष्टीकरण की नीति का अंतिम आधार ब्रिटेन के कर्णधारों की तत्कालीन वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियों एवं फासिस्ट नायकों के चरित्रों व उनकी नीतियों का सही मूल्यांकन करने की असफलता थी। दोनों महायुद्धों के बीच के काल में ब्रिटिश शासन की बागडोर कुछ अनुभवहीन और कट्टर साम्यवाद-विरोधी व्यक्तियों के हाथ में रही; इसीलिए कूटनीतिक प्रौढ़ता में जगत प्रसिद्ध ब्रिटेन इतिहास के ऐसे युगान्तकारी क्षण में तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण करता रहा। कर्नल क्लिम्प, बाल्डविन, चेम्बरलेन, बैंक ऑफ इंगलैण्ड के गवर्नर मान्टेग्यू नारमन, लार्ड बेमर ब्रूक, जेकोब अस्टर (लन्दन टाइम्स) तथा गारविन (ऑबजर्वर) जैसे पत्रकार, डीन इन्ग-जैसे लेखक, केन्टरबरी के आर्चबिशप तथा अनेक पूंजीपति, सामन्त, जमींदार और प्रतिक्रियावादी इस दल के प्रमुख स्तम्भ थे और इन्हीं लोगों के हाथों में ब्रिटेन के भाग्य-निर्धारण का काम था। साम्य-वाद के भूत से भय-ग्रस्त इन नीति निर्धारकों के दिमाग में यह बात बैठ ही

नहीं सकती थी कि सोवियत संघ से मैत्री ब्रिटेन के लिए कितनी लाभदायक और अमूल्य सिद्ध हो सकती थी। इस दल का नेता चेम्बरलेन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दाव पेचों का अकुशल खिलाड़ी था। एक लम्बे समय तक वह हिटलर के वचनों के प्रति झूठी श्रद्धा रखता रहा और उसे तथा उसके साथियों को यह भ्रान्त विश्वास बना रहा कि "छोटे राष्ट्रों को भेड़ियों के आगे डालने से उनको संतुष्ट किया जा सकता है", पर उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि "एक बार लहू का स्वाद लग जाने से तृष्णा कभी पूर्ण नहीं होती, जितना तुष्टीकरण किया जायगा, उतना ही असन्तोष बढ़ेगा।" शूमैन ने लिखा है कि **"यदि वाटरलू का युद्ध ईटन (Eton) के मैदानों पर जीता गया था तो यह भी कम सत्य नहीं है कि उसके सवा सौ वर्ष बाद मैड्रिड, वियना, प्राग, वारसा, ओसलो, एमियेन्स (Amiens) और डंकर्क की पराजय भी ईटन के मैदान में हुई थी।"**[1] सरल शब्दों में इसका अर्थ यही है कि ईटन हैरो आदि के पब्लिक स्कूलों से शिक्षित होने वाले ब्रिटिश शासक वर्ग का मानसिक विकास और दृष्टिकोण इतना संकीर्ण तथा अनुदार हो चुका था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बारीकियों और वास्तविक परिस्थितियों को समझने की सामर्थ्य नहीं रखता था। हिटलर किसी संधि का अतिक्रमण करते समय हर बार यही आश्वासन देता था कि यह उसका अंतिम संधि भंग है और इसके बाद उसकी कोई प्रादेशिक महत्त्वाकांक्षा नहीं है और ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ हर बार धोखा खाने के बाद भी, साम्यवाद की आशंका से विवेकान्ध होकर, उस पर विश्वास करते जाते थे। स्पष्ट ही ब्रिटिश नेताओं की यह आत्मघाती भयंकर भूल थी। चेम्बरलेन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए सम्मेलनों और समझौतों पर अधिकाधिक बल देते हुए युद्ध को टालते रहने का पक्षपाती था और उसकी यही धारणा म्यूनिख जैसे शर्मनाक समझौते का वास्तविक कारण बनी।[2] ऐसा समझा जाता है कि म्यूनिख समझौता सम्पन्न होने का एक मूल कारण यह भी था कि उस समय ब्रिटेन के पास हिटलर के आक्रमण को रोकने की सैनिक सामर्थ्य नहीं थी।[3]

विभिन्न देशों के प्रति ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति

ब्रिटिश "प्रसाधन अथवा तुष्टीकरण नीति" के आधारों का उल्लेख करने के बाद अब हम विभिन्न देशों के साथ उसकी इस नीति की समीक्षा करेंगे।

---

1. *Schuman* : International Politics, p. 604
2. *G. Hardy* : A Short History of International Affairs, p. 477
3. *David Thomson* : Europe Since Napoleon, p. 709

जापान के साथ तुष्टीकरण की नीति (Appeasement Towards Japan):—जर्मनी और इटली के सम्बन्ध में जिस तुष्टीकरण की नीति का पालन किया गया, ब्रिटेन द्वारा उसका सर्वप्रथम प्रयोग जापान के साथ हुआ। जापान के सम्बन्ध में ब्रिटिश तुष्टीकरण की नीति को लागू करने के निम्न-लिखित एकाधिक कारण थे—

(१) ब्रिटेन का विश्वास था कि सुदूरपूर्व में जापान की पराजय का अर्थ साम्यवादी प्रभाव की प्रगति है, अर्थात् यदि जापान को मंचूरिया में रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो आन्तरिक मंगोलिया मंचूरिया और चीन में साम्यवादी प्रभाव और प्रभुत्व को रोकना कठिन हो जायगा।

(२) जापान एक धनी आबादी वाला राष्ट्र था अतः उसे उपनिवेशों अथवा अन्य प्रान्तों की आवश्यकता थी। यदि जापान को चीन में बढ़ने से रोका जायगा तो वह दक्षिण-पूर्वी एशिया की तरफ अग्रसर होने का प्रयत्न करेगा। जापान के ये प्रयत्न ब्रिटेन को निश्चित ही हानिकारक सिद्ध होते क्योंकि दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटेन के गहरे राजनीतिक और आर्थिक हित विद्यमान थे।

(३) चीन की राष्ट्रीय जागृति के कारण चीन का लोकमत विदेशियों को प्राप्त विशेषाधिकारों को समाप्त करने के पक्ष में था। इन परिस्थितियों में, यदि चीन में शांति रहती तो यह संभावना थी कि चीनी सरकार लोकमत की मांगों को पूर्ण करने की दिशा में अग्रसर हो। यह स्थिति पश्चिमी राष्ट्रों के लिए किसी भी हालत में लाभप्रद न थी। इसीलिए पश्चिमी राष्ट्रों ने यह नीति अपनायी कि जापान को चीन में छूट दे दी जाय ताकि चीनी सरकार और लोकमत का ध्यान दूसरी तरफ बँट जाय और इस तरह विदेशियों के प्रति जारी आन्दोलन समाप्त हो जाय।

(४) जापान इङ्गलैण्ड का एक अच्छा ग्राहक था, अतः ब्रिटिश पूंजी-पति यह नहीं चाहते थे कि जापान को क्रोधित किया जाय और इस प्रकार उन्हें एक अच्छे ग्राहक से वंचित होना पड़े।

(५) अन्तिम कारण यह था कि यदि जापान के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाने की कोई योजना बनायी भी जाती तो इस योजना को मूर्त रूप देने का भार ब्रिटेन पर पड़ता। ब्रिटेन के लिए यह असंभव था कि वह अकेला जबर-दस्त नौ-शक्ति से सम्पन्न सुदूरपूर्व स्थित जापान को पराजित कर सके।[1] ब्रूस (Bruce) के शब्दों में "यदि ब्रिटेन अपनी उन्नति की चरम सीमा पर होता तो भी जापान से संघर्ष करने की जोखिम उठाने को वह कभी तैयार

---

1. *Hardy* : Op. Cit., p. 319

नहीं होता। इस प्रकार की जोखिम तो केवल महायुद्धों के समय पर ही उठायी जा सकती थी।"[1]

उपरोक्त कारणोंवश यह स्वाभाविक था कि जापान साम्राज्यवादी प्रसार योजना की उपेक्षा कर दी जाय। मंचूरिया पर आक्रमण एवं आधिपत्य के समय ऐसा ही किया गया। इस आक्रमण के विरुद्ध चीन ने राष्ट्रसंघ में अपील की, किन्तु ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जॉन साइमन के उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण के कारण संघ ने जापान के विरुद्ध कोई प्रभावशाली पग नहीं उठाया। ब्रिटिश प्रतिनिधि के जापान पक्षपाती–दृष्टिकोण के कारण ही राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा–व्यवस्था की प्रथम कठोर अग्नि–परीक्षा में असफल रहा। राष्ट्रसंघ में केवल मौखिक युद्ध का अभिनय खेला गया और अन्ततोगत्वा मंचूरिया पर जापान की विजय के तुरन्त बाद ही सर फ्रेडरिक लीथरास की अध्यक्षता में जापान के साथ आर्थिक समझौता करने की नीति से एक औद्योगिक शिष्ट मण्डल भेज दिया गया। तुष्टीकरण के इस पहले प्रयोग में इंगलैण्ड को कटु परिणामों का स्वाद चखना पड़ा। ब्रिटेन की इस नीति को जापान ने उसकी दुर्बलता का चिन्ह समझा। इससे उसका साहस बढ़ गया। उसने राष्ट्रसंघ के आदेशों की खुलेआम अवहेलना की और वह चीन के प्रान्तों को एक–एक करके निगलता गया। यहां तक कि चीन में निवास करने वाले अंग्रेज नागरिकों के साथ भी अपमानजनक व्यवहार किया गया, १९३७ में उसने ब्रिटिश राजदूत सर ह्यूग माण्टगोमरी के शरीर को भी चोट पहुंचायी। जापान का यह कार्य "ब्रिटिश संघ की मूछों को मरोड़ना था," परन्तु फिर भी "उसने इस पर अपना पंजा झाड़ना तो क्या दहाड़ भी नहीं मारी।" ब्रिटेन धैर्यपूर्वक सब कुछ सहन करता रहा और उसने जापान को संतुष्ट करने के प्रयत्न जारी रखे। यदि और कोई अवसर होता तो ब्रिटेन अपने नागरिकों का अपमान करने वाली शक्ति को कुचलने में अपनी पूर्णशक्ति लगा देता। परन्तु यहां पर तो स्थिति ही दूसरी थी। ब्रिटेन का व्यापारी वर्ग निर्बल और निर्दोष चीन की हत्या के लिए जापान भेजे जाने वाले हथियारों पर प्रतिबन्ध लगाने का उग्र विरोधी था क्योंकि इससे ब्रिटिश–उद्योग को गम्भीर आर्थिक हानि होने की संभावना थी। इसीलिए ब्रिटिश प्रेस ने सुदूरपूर्व में जापान के कार्यों की दिल खोलकर प्रशंसा की और जापान को यह विश्वास करा दिया कि पश्चिमी

---

1. "The task of checking by force a great power like Japan at the other side of the world, was an experiment and a risk that Britain would very probably have hesitated to undertake, even if she had been at the height of her military and economic security."

—*Bruce*

राष्ट्र केवल बातों के धनी है, तलवार के नहीं। जापान द्वारा मंचूरिया पर अधिकार राष्ट्रसंघ के जीवन-मरण का प्रश्न था, पर जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने से सहमत होने की उपेक्षा उसने राष्ट्रसंघ की कब्र खोदना अधिक अच्छा समझा। ब्रिटेन की यह नीति बहुत खतरनाक थी क्योंकि इसके द्वारा जापान का साहस तो बढ़ा ही, साथ ही साथ जर्मनी और इटली को भी अपने विस्तारवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की प्रेरणा मिली। वस्तुतः यह बड़े आश्चर्य की बात है कि रोम और बर्लिन ने तो टोकियो से साम्राज्य निर्माण का पाठ पढ़ा, पर जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति की इस विफलता से लन्दन और पेरिस ने कोई सबक नहीं सीखा।

इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति (Appeasement Towards Italy)—जिस तरह सर जॉन साइमन और चेम्बरलेन ने जापान को संतुष्ट करने का विफल प्रयास किया, उसी प्रकार ब्रिटिश विदेशमंत्री सर सेमुअलहोर, लॉर्ड हेलीफेक्स और फ्रेंच विदेशमंत्री लेवाल ने इटली को प्रसन्न करने का निष्फल प्रयत्न किया। इटली, महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही मित्रराष्ट्रों से असंतुष्ट था क्योंकि उसे लूट के बंटवारे में उचित हिस्सा नहीं मिला था। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली की शक्ति और महत्त्वाकांक्षाओं का विकास होने लगा। यद्यपि मुसोलिनी आरम्भ में नाजी जर्मनी का विरोधी था, लेकिन मित्रराष्ट्रों के साथ भी उसके मैत्री सम्बन्ध मधुर नहीं थे क्योंकि वह अफ्रीका में विशाल साम्राज्य का निर्माण करके भूमध्य सागर को रोमन झील बनाना चाहता था, एबीसीनिया और अल्बानिया को हड़पना चाहता था तथा बाल्कान प्रायद्वीप में अपने प्रभाव का आकांक्षी था। मुसोलिनी की ये आकांक्षाएं ब्रिटेन और फ्रांस के हितों से टकराती थीं।

परन्तु शीघ्र ही यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियां द्रुत गति से बदलने लगीं। मुसोलिनी के उत्कर्ष के कुछ ही समय बाद जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष ने ब्रिटेन तथा फ्रांस को आशंकित कर दिया। उन्हें यह भय लगने लगा कि कहीं ये दो सर्वाधिकारवादी राष्ट्र परस्पर गठबन्धन न कर बैठें। अतः इटली के प्रति ब्रिटिश तुष्टीकरण-नीति का प्रमुख आधार रोम-बर्लिन धुरी के निर्माण को रोकना बन गया। फ्रांस की इस उत्कंठा का इसी से पता चल जाता है कि सर्वप्रथम फ्रेंच विदेशमंत्री लेवाल ने रोम जाकर मुसोलिनी की अभ्यर्थना की और ७ जनवरी १९३५ को किये गये एक समझौते में गुप्त रूप से इटली को एबीसीनिया में मनमाना कार्य करने की स्वतंत्रता दे दी। यद्यपि सार्वजनिक रूप से लेवाल मुसोलिनी की आलोचना करता रहा और उसने इटली को एबीसीनिया में मनमाने कार्य करने की स्वतंत्रता देने के आरोप का खण्डन किया, तथापि वैयक्तिक वार्तालाप में उसने जूलरोमे (Jules Romains)

नहीं होता। इस प्रकार की जोखिम तो केवल महायुद्धों के समय पर ही उठायी जा सकती थी।''[1]

उपरोक्त कारणोंवश यह स्वाभाविक था कि जापान साम्राज्यवादी प्रसार योजना की उपेक्षा कर दी जाय। मंचूरिया पर आक्रमण एवं आधिपत्य के समय ऐसा ही किया गया। इस आक्रमण के विरुद्ध चीन ने राष्ट्रसंघ में अपील की, किन्तु ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जॉन साइमन के उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण के कारण संघ ने जापान के विरुद्ध कोई प्रभावशाली पग नहीं उठाया। ब्रिटिश प्रतिनिधि के जापान पक्षपाती-दृष्टिकोण के कारण ही राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की प्रथम कठोर अग्नि-परीक्षा में असफल रहा। राष्ट्रसंघ में केवल मौखिक युद्ध का अभिनय खेला गया और अन्ततोगत्वा मंचूरिया पर जापान की विजय के तुरन्त बाद ही सर फ्रेडरिक लीथरास की अध्यक्षता में जापान के साथ आर्थिक समझौता करने की नीति से एक औद्योगिक शिष्ट मण्डल भेज दिया गया। तुष्टीकरण के इस पहले प्रयोग में इंग्लैण्ड को कटु परिणामों का स्वाद चखना पड़ा। ब्रिटेन की इस नीति को जापान ने उसकी दुर्बलता का चिन्ह समझा। इससे उसका साहस बढ़ गया। उसने राष्ट्रसंघ के आदेशों की खुलेआम अवहेलना की और वह चीन के प्रान्तों को एक-एक करके निगलता गया। यहां तक कि चीन में निवास करने वाले अंग्रेज नागरिकों के साथ भी अपमानजनक व्यवहार किया गया, १९३७ में उसने ब्रिटिश राजदूत सर ह्यूग माण्टगोमरी के शरीर को भी चोट पहुंचायी। जापान का यह कार्य "ब्रिटिश संघ की मूछों को मरोड़ना था," परन्तु फिर भी "उसने इस पर अपना पंजा झाड़ना तो क्या दहाड़ भी नहीं मारी।" ब्रिटेन धैर्यपूर्वक सब कुछ सहन करता रहा और उसने जापान को संतुष्ट करने के प्रयत्न जारी रखे। यदि और कोई अवसर होता तो ब्रिटेन अपने नागरिकों का अपमान करने वाली शक्ति को कुचलने में अपनी पूर्णशक्ति लगा देता। परन्तु यहां पर तो स्थिति ही दूसरी थी। ब्रिटेन का व्यापारी वर्ग निर्बल और निर्दोष चीन की हत्या के लिए जापान भेजे जाने वाले हथियारों पर प्रतिबन्ध लगाने का उग्र विरोधी था क्योंकि इससे ब्रिटिश-उद्योग को गम्भीर आर्थिक हानि होने की संभावना थी। इसीलिए ब्रिटिश प्रेस ने सुदूरपूर्व में जापान के कार्यों की दिल खोलकर प्रशंसा की और जापान को यह विश्वास करा दिया कि पश्चिमी

---

1. "The task of checking by force a great power like Japan at the other side of the world, was an experiment and a risk that Britain would very probably have hesitated to undertake, even if she had been at the height of her military and economic security."

—Bruce

राष्ट्र केवल बातों के धनी है, तलवार के नहीं। जापान द्वारा मंचूरिया पर अधिकार राष्ट्रसंघ के जीवन–मरण का प्रश्न था, पर जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने से सहमत होने की अपेक्षा उसने राष्ट्रसंघ की कब्र खोदना अधिक अच्छा समझा। ब्रिटेन की यह नीति बहुत खतरनाक थी क्योंकि इसके द्वारा जापान का साहस तो बढ़ा ही, साथ ही साथ जर्मनी और इटली को भी अपने विस्तारवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की प्रेरणा मिली। वस्तुतः यह बड़े आश्चर्य की बात है कि रोम और बर्लिन ने तो टोकियो से साम्राज्य निर्माण का पाठ पढ़ा, पर जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति की इस विफलता से लन्दन और पेरिस ने कोई सबक नहीं सीखा।

इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति (Appeasement Towards Italy)—जिस तरह सर जॉन साइमन और चेम्बरलेन ने जापान को संतुष्ट करने का विफल प्रयास किया, उसी प्रकार ब्रिटिश विदेशमंत्री सर सेमुअल होर, लॉर्ड हेलीफेक्स और फ्रेंच विदेशमंत्री लेवाल ने इटली को प्रसन्न करने का निष्फल प्रयत्न किया। इटली, महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही मित्रराष्ट्रों से असंतुष्ट था क्योंकि उसे लूट के बंटवारे में उचित हिस्सा नहीं मिला था। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली की शक्ति और महत्त्वाकांक्षाओं का विकास होने लगा। यद्यपि मुसोलिनी आरम्भ में नाजी जर्मनी का विरोधी था, लेकिन मित्रराष्ट्रों के साथ भी उसके मैत्री सम्बन्ध मधुर नहीं थे क्योंकि वह अफ्रीका में विशाल साम्राज्य का निर्माण करके भूमध्य सागर को रोमन झील बनाना चाहता था, एबीसीनिया और अल्बानिया को हड़पना चाहता था तथा बाल्कान प्रायद्वीप में अपने प्रभाव का आकांक्षी था। मुसोलिनी की ये आकांक्षाएं ब्रिटेन और फ्रांस के हितों से टकराती थीं।

परन्तु शीघ्र ही यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियां द्रुत गति से बदलने लगीं। मुसोलिनी के उत्कर्ष के कुछ ही समय बाद जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष ने ब्रिटेन तथा फ्रांस को आशंकित कर दिया। उन्हें यह भय लगने लगा कि कहीं ये दो सर्वाधिकारवादी राष्ट्र परस्पर गठबन्धन न कर बैठें। अतः इटली के प्रति ब्रिटिश तुष्टीकरण–नीति का प्रमुख आधार रोम–बर्लिन धुरी के निर्माण को रोकना बन गया। फ्रांस की इस उत्कंठा का इसी से पता चल जाता है कि सर्वप्रथम फ्रेंच विदेशमंत्री लेवाल ने रोम जाकर मुसोलिनी की अभ्यर्थना की और ७ जनवरी १९३५ को किये गये एक समझौते में गुप्त रूप से इटली को एबीसीनिया में मनमाना कार्य करने की स्वतंत्रता दे दी। यद्यपि सार्वजनिक रूप से लेवाल मुसोलिनी की आलोचना करता रहा और उसने इटली को एबीसीनिया में मनमाने कार्य करने की स्वतंत्रता देने के आरोप का खण्डन किया, तथापि वैयक्तिक वार्तालाप में उसने जलरोमे (Jules Romains)

से कहा, "मैंने मुसोलिनी को इथोपिया दे दिया है।"[1] ७ जून १६३५ को ब्रिटिश विदेशमंत्री सेमुअल होर ने भी लेवाल की नीति का गुप्त रूप से समर्थन कर दिया।

ब्रिटेन यह जानता था कि इटली की एबीसीनिया-विजय से राष्ट्रसंघ की नींव खोखली हो जायगी, विश्वशांति खतरे में पड़ जायगी और भूमध्य सागर में मुसोलिनी का प्रभाव बढ़ने के कारण ब्रिटिश आर्थिक, कूटनीतिक एवं राजनीतिक स्थिति को भारी धक्का लगेगा। परन्तु फिर भी उसने इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण किया। मुसोलिनी को संतुष्ट करने के लिए वह इतना आतुर हो उठा कि स्वयं ईडन ने २४ जून १६३५ को रोम जाकर वहाँ विभिन्न प्रदेशों के विनिमय के कुछ प्रस्ताव रखे। ईडन ने यह प्रस्तावित किया कि एबीसीनिया इटली को अपने कुछ प्रदेश दे दें और फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड एबीसीनिया को कुछ प्रदेश देकर उसकी क्षतिपूर्ति कर दें। परन्तु मुसोलिनी ने उन प्रस्तावों को ठुकरा दिया क्योंकि वह एबीसीनिया को शक्ति से जीतने का निर्णय कर चुका था।

अब, निकट भविष्य में होने वाले आम चुनावों को ध्यान में रखकर, ब्रिटिश लोकमत को संतुष्ट रखने के लिए सेमुअल होर के लिए राष्ट्रसंघ में इटली का विरोध करना और उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो गया। किन्तु यह एक निरा ढोंग था क्योंकि १० सितम्बर १६३५ को होर तथा लेवाल में गुप्त रूप से यह समझौता किया गया कि इटली के विरुद्ध राष्ट्रसंघ द्वारा न तो सैनिक कार्यवाही की जाय, न ही समुद्री जहाजों द्वारा उसकी आर्थिक नाकेबन्दी की जाय और न उसके जहाजों के लिए स्वेज नहर-बन्दी की जाय।[2] व्यक्तिगत रूप से दोनों ने ही मुसोलिनी को इस बात से आश्वस्त कर दिया कि उसे किसी बात से डरने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के आश्वासन के उपरान्त ही डूचे ने निर्भय होकर १ अक्टूबर १६३५ को एबीसीनिया पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। ७ अक्टूबर को राष्ट्रसंघ ने इटली को आक्रांता घोषित किया और ८ अक्टूबर को उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों की घोषणा कर दी गयी। ब्रिटेन ने इन सभी निर्णयों में दिखावटी रूप से भाग लिया। ब्रिटिश नेता सामूहिक सुरक्षा में विश्वास रखने वाले ब्रिटिश मतदाताओं को प्रसन्न रखने के लिए ऊपरी तौर पर इटली की निन्दा तथा राष्ट्रसंघ की कार्यवाहियों का समर्थन करते रहे और इस कारण बाल्डविन का मंत्रिमण्डल चुनाव जीत भी गया। परन्तु ७ दिसम्बर १६३५ को अर्थात् निर्वाचन परिणामों के लगभग तीन सप्ताह बाद ही कुख्यात होर-लेवाल

1. *Schuman*: Op. Cit., p. 426.
2. *Hardy*: Op. Cit., p. 41

समझौता गोपनीय ढंग से सम्पन्न हुआ जिसके अन्तर्गत एबीसीनिया का २/३ भाग इटली को देने तथा इसके बदले में एबीसीनिया को लाल सागर तक पहुंचाने के लिए एरिट्रिया के इटालियन प्रदेश में एक तंग गलियारा देने के प्रस्ताव थे। दुर्भाग्यवश इस समझौते का भण्डा-फोड़ हो गया। ब्रिटिश जनता को यह विचार सर्वथा असह्य प्रतीत हुआ कि आक्रान्ता इटली को इस प्रकार एबीसीनिया राज्य के बड़े भाग की बलि देकर संतुष्ट किया जाय। ब्रिटिश लोकमत के प्रबल विरोध के कारण होर को अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ा और कुछ समय बाद लेवाल को भी होर के पदचिन्हों पर चलना आवश्यक हो गया।

वास्तव में उपरोक्त समझौता इटली के तुष्टीकरण का चरमोत्कर्ष था। ब्रिटेन की इस दुरंगी नीति का परिणाम भी बहुत बुरा रहा। मुसोलिनी इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों को जारी कराने वालों को नहीं भूला, हालांकि बाद में ब्रिटेन ने प्रतिबन्धों को रद्द करवाने का प्रयत्न भी किया। परन्तु अब समय बीत चुका था। मुसोलिनी को ब्रिटिश नीति के प्रति विश्वास न रहा और वह जर्मनी की तरफ झुकने लग गया। ब्रिटिश तुष्टीकरण की नीति का निकृष्टतम रूप भी रोम को बर्लिन की मैत्री से विरत न कर सका और अन्त में रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हो ही गया। अच्छा यही होता कि आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये ही नहीं जाते क्योंकि तब मुसोलिनी का हिटलर-विरोधी बना रहना संभव था। इन निर्बल कदमों को न उठाने से ब्रिटिश तुष्टीकरण नीति कुछ अंशों में सफल हो सकती थी और रोम-बर्लिन धुरी को नष्ट किया जा सकता था। लेकिन इस नीति के गलत प्रयोग के कारण ब्रिटेन की स्थिति "माया मिली न राम" वाली हुई। वह न तो इटली से एबीसीनिया को बचा पाया, न इटली की दोस्ती थामा सका, प्रत्युत उसने राष्ट्र-संघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की हत्या अवश्य कर दी। शूमैन के शब्दों में—**"लेवाल-होर की अपवित्र सौदेबाजी की पहली बलि एबीसीनिया थी, दूसरी और बड़ी बलि राष्ट्रसंघ था और अन्तिम बलि फ्रांस और ब्रिटेन था क्योंकि मुसोलिनी ने हिटलर के विरोध के प्रलोभन द्वारा इनसे एबीसीनिया ले लिया और इसे लेने के बाद इनके शत्रु हिटलर से मैत्री कर ली।"**[1]

स्पष्ट है कि इटली के प्रति ब्रिटिश तुष्टीकरण की नीति सर्वथा विफल रही।

जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति (Appeasement Towards Germany)—यह पहले ही बताया जा चुका है कि १९१९ से ही ग्रेट ब्रिटेन अपने आर्थिक हितों और साम्यवाद विरोधी रुख के कारण जर्मनी के प्रति

---

1. *Schuman* : Op. Cit., p. 426.

ऱ नीति का पक्षपाती था। उदाहरणार्थ क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर अथवा पर आधिपत्य जमाने के मामले में उसने फ्रांस का विरोध करते हुए जर्मनी ुष्ट करने की नीति अपनायी थी। ब्रिटेन के सहानुभूतिपूर्ण रुख और ामस्वरूप ब्रिटिश-फ्रेंच मतभेदों से उत्साहित होकर ही हिटलर के उत्कर्ष ले ही विभिन्न कूटनीतिक दावपेच खेलते हुए जर्मनी ने न केवल क्षतिपूर्ति ाशि में कमी करवा ली और रूर क्षेत्र खाली करवा लिया प्रत्युत गुप्त रूप स्त्रीकरण के बारे में विशेष सुविधाएं प्राप्त करने में सफलता भी अर्जित ी। हिटलर के उत्कर्ष के बाद भी ब्रिटिश नीति में कोई परिवर्तन नहीं और इसी कारण जर्मनी विभिन्न संधि-व्यवस्थाओं को ठुकराते हुए अपने ाज्यविस्तार की नीति की ओर तेजी से उन्मुख होता गया।

ब्रिटिश तुष्टीकरण की नीति की कमजोरियों को आंकने में हिटलर ने भूल नहीं की। १६ मार्च १९३५ को अनिवार्य सैनिक सेवा सम्बन्धी ा जारी करके उसने वर्साय-संधि की धारा का स्पष्ट उल्लंघन किया, ब्रिटेन ने इस उल्लंघन के प्रति उदासीन रुख अपनाया। यह ठीक है कि र के इस कदम के विरोध में मार्च १९३५ में रचे जाने वाले "स्ट्रेसा में ब्रिटेन भी शामिल हुआ, लेकिन यह मोर्चा इतना क्षीण था और ोर्चे के प्रति ब्रिटिश शासक वर्ग में ईमानदारी का इतना अभाव था कि ून १९३५ को ही जर्मनी और इङ्गलैण्ड दोनों राष्ट्रों के मध्य एक निक समझौता सम्पन्न हो गया। इसी प्रकार की नीति उस समय भी ी जाती रही जब जर्मनी ने वर्साय तथा लोकार्नो संधियों का अतिक्रमण ुए राइन प्रदेश का पुनः सैन्यीकरण करना शुरू किया। ब्रिटेन ने जर्मनी कार्यों का कोई विरोध न करके हिटलर को इस बात के लिए पूरी ोत्साहित कर दिया कि वह सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को उठा क पर रख दे। इसके उपरान्त जब स्पेन गृहयुद्ध की ज्वाला में धधकने ौर उसे रूसी प्रभाव में जाने से बचाने की आड़ में जर्मनी और इटली में स्पेनिश गृहयुद्ध में कूद पड़े तो उस समय भी ब्रिटिश शासकों ने न तटस्थता का स्वांग रचा अपितु उन्होंने "अहस्तक्षेप समिति" की करके अप्रत्यक्ष रूप में विद्रोहियों को सहायता भी पहुंचायी। दोनों ़ राष्ट्र फासिस्ट फ्रान्को को धन, जन और अस्त्रशस्त्र की सहायता पेनिश प्रजातंत्र का गला घोंटते रहे, परन्तु अपने को प्रजातंत्र का रक्ष- हने वाला इंग्लैण्ड चुप्पी साधे रहा। स्पेन के गणतंत्र को सहायता तो दूर रहा, उस बेचारे का यह अनुरोध भी "प्रजातंत्र के इन हिमाय- को मान्य न हुआ कि उसे बाहर से शस्त्रास्त्र खरीदने दिये जायें।

आस्ट्रिया के सम्बन्ध में ब्रिटेन की चुप्पी और निष्क्रियता तुष्टीकरण ; इतिहास में एक नया मोड़ था। ४ फरवरी १९३८ को ब्रिटिश [illegible]

रिब्बनट्राप को हिटलर ने अपना विदेशमंत्री नियुक्त किया। ब्रिटिश विदेशमंत्री ईडन ने चेम्बरलेन को सचेत किया, परन्तु उसने उल्टे ईडन को त्यागपत्र देने पर विवश कर दिया। अपनी तुष्टीकरण नीति के लिए चेम्बरलेन को यह पहली कीमत चुकानी पड़ी। इससे पूर्व, १३ जनवरी को रूजवेल्ट ने तटस्थ राष्ट्रों का, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रशासन के बारे में सामान्य नियमों को बनाने की दृष्टि से, एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा परन्तु चेम्बरलेन ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। वास्तव में यदि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाता तो अमेरिका के सहयोग से हिटलर और मुसोलिनी के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा की पद्धति को कदाचित् पुनः जीवन प्राप्त हो जाता। इस प्रस्ताव के द्वारा तुष्टीकरण की नीति के बिना ही जर्मन आक्रमण को सीमित किया जा सकता था। परन्तु चेम्बरलेन तो आत्मघाती नीति की ओर उन्मुख हो रहा था, भला उसे सद्बुद्धि क्यों आती। चेम्बरलेन यहीं पर शान्त रहता तो भी कोई बात न थी, पर वह तब एक कदम और आगे बढ़ गया जब उसने ३ मार्च को ऐसे समय अपने विदेशमंत्री हैन्डरसन को सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण, जर्मन उपनिवेशों आदि की समस्याओं पर विचार करने के लिए बर्लिन भेजा जब कि हिटलर के आस्ट्रियन आक्रमण की प्रतिक्षण प्रतीक्षा की जा रही थी। इसी समय आस्ट्रिया के राष्ट्रपति शुशनिग ने ब्रिटेन से सहायता की याचना भी की परन्तु चेम्बरलेन ने यह कह कर कि यह जर्मन लोगों का घरेलू मामला है, तुष्टीकरण नीति की हद कर दी। चैक राष्ट्रपति को उत्तर दिया गया कि "वह (चेम्बरलेन) चान्सलर को ऐसा कोई कदम उठाने के लिये राय नहीं दे सकता जो उसके देश के सम्मुख ऐसे खतरे उत्पन्न कर दे, जिसके विरुद्ध ब्रिटिश सरकार सुरक्षा की गारन्टी देने में असमर्थ है।" इस घटना के बारे में एमरी ने लिखा है—आस्ट्रियाई संकट ने "हमारी सरकार को सामूहिक सुरक्षा की परित्याग नीति तथा इटली के साथ असफल समझौते के बीच पैर फैला कर खड़ा पाया। चेम्बरलेन मात्र इतना ही कर सकता था कि क्रोध का दिखावा करे तथा इस धृष्ठ प्रत्युत्तर के सम्मुख झुके कि यह जर्मन जनता का अन्दरूनी मामला है, उसकी चिन्ता का विषय नहीं।" हिटलर आस्ट्रिया को हड़प गया और ब्रिटेन तमाशा देखता रहा।

आस्ट्रिया के उपरान्त चेकोस्लोवाकिया नाजी आक्रमण का शिकार बना। चेकोस्लोवाकिया का अंगभंग ब्रिटिश तुष्टीकरण नीति की चरम सीमा कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन ने प्रारम्भ से ही यह निश्चय कर रखा था कि चैक राज्य की सुरक्षा के लिए वह युद्ध का आश्रय नहीं लेगा। उसने इस बात की घोषणा भी कर दी। फलस्वरूप, सोवियत रूस ने जब हिटलर के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन को

बुलाने का प्रस्ताव रखा तो उसे उसी प्रकार ठुकरा दिया गया जिस प्रकार पहले रूजवेल्ट के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया था। इंग्लैण्ड की नीति पूरे समय इस दिशा पर चलती रही कि जर्मनी को समझा-बुझाकर इस बात के लिए राजी किया जाय कि वह स्यूडेटन जर्मनों पर अपनी मांगों को अधिक उदार बनाने के लिए दबाव डाले और चैक सरकार को इस बात के लिए तैयार किया जाय कि वह स्यूडेटन जर्मनों की मांगों को स्वीकार कर ले। चेम्बरलेन के रुख के कारण फ्रान्स का यह प्रयास नाकामयाब रहा कि जर्मनी के साथ कठोर बर्ताव किया जाय। चेम्बरलेन की तुष्टीकरण-नीति की चरम परिणति अन्ततोगत्वा उस शर्मनाक म्यूनिख समझौते में हुई जिसके द्वारा चैक गणतंत्र के हितों को बलि के बकरे की भांति नाजी फ्यूरर के सामने भेंट कर दिया गया। "यह सच है कि ब्रिटेन ने बचे-खुचे चेकोस्लोवाकिया को अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा दिये जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था और यह प्रस्ताव अभी तक की ब्रिटिश नीति में एक मौलिक अन्तर था, किन्तु हिटलर के आगे इतनी बार घुटने टेकने के बाद यह आशा करना कि वह इस सुरक्षा के आश्वासन से डर जायगा, बुद्धिमत्ता की बात न थी।" भावी घटनाओं ने यह प्रमाणित कर दिया कि ब्रिटेन और फ्रांस अविशिष्ट चेकोस्लोवाकिया को भी सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ रहे।

चेकोस्लोवाकिया-काण्ड ने चेम्बरलेन की आंखें खोल दीं। १५ मार्च १९३९ को जर्मन सेनाओं द्वारा चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग पर कब्जा कर लेने के बाद तो ब्रिटेन का यह बूढ़ा राजनीतिज्ञ मार्मिक पीड़ा से व्यथित हो उठा। १७ मार्च को उसने बरमिंघम में कहा "जर्मनी के आश्वासनों पर कैसे विश्वास किया जाय? ......इस सप्ताह प्राग में जो कुछ हुआ है वह उन सभी आदर्शों के विरुद्ध है जिनका प्रतिपादन स्वयं जर्मनी ने किया था। ......यह तथ्यतः संसार पर बल प्रयोग द्वारा अधिकार करने की दिशा में उठाया गया कदम है।" चेम्बरलेन का यह भाषण इस बात का प्रतीक था कि ब्रिटेन ने अन्ततः तुष्टीकरण की आत्मघाती नीति का परित्याग कर दिया है। परन्तु ब्रिटेन की आंखें बहुत देर से खुली थीं। प्राग पर जर्मनी के अधिकार के विरोध में ब्रिटेन और फ्रांस ने बर्लिन स्थित अपने राजदूतों को वापिस बुला लिया। ३१ मार्च १९३९ को चेम्बरलेन ने जर्मन आक्रमण के विरुद्ध पोलैण्ड को गारन्टी देने की घोषणा की। ७ अप्रैल को अल्बानिया पर इटली का कब्जा हो जाने के बाद १३ अप्रैल को यूनान और रूमानिया को और १२ मई को टर्की को भी इसी प्रकार की गारण्टियां दी गयीं। युद्ध-मंत्रालय के साथ दीर्घ विवाद के पश्चात् २६ अप्रैल ने ही ६ माह के अनिवार्य प्रशिक्षण की घोषणा कर दी गयी। परन्तु ब्रिटेन द्वारा निमित कॉन्स्टीन

दैत्य (Frankenstein monster, हिटलर) अब इतना अधिक शक्तिशाली हो चुका था कि वह अपने निर्माता के नियंत्रण को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं था। १९३९ में मार्च से अगस्त तक मास्को से निष्फल वार्ता चलती रही। यही द्वितीय महायुद्ध को रोकने का अथवा प्रारम्भ में हिटलर की पराजय सुनिश्चित करने का एक सुन्दर अवसर था. परन्तु "दोनों पक्षों के पूर्वाग्रहों, मिथ्या अनुमानों एवं शंकाओं ने" ब्रिटेन और रूस के मध्य किसी प्रकार के समझौते की समस्त संभावनाओं को समाप्त कर दिया। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि पोलैण्ड रूस से अच्छा मित्र सिद्ध होगा, ब्रिटेन के साथ समझौते के लिए रूस को चुकाई जानेवाली कीमत बहुत अधिक है और इसका अर्थ पोलैण्ड, रूमानिया एवं बाल्टिक राज्यों के मूल्य पर म्यूनिख से भी बड़ा होगा। ब्रिटेन के तत्कालीन कर्णधारों का यह भी विश्वास था कि रूसी सेना रूसी साधन, रूसी क्षमता और रूसी नेतृत्व अपर्याप्त हैं तथा रूसी सहायता का भरोसा नहीं किया जा सकता। फिर रूसी सेना चेकोस्लोवाकिया की रक्षा करने में उस समय इसलिए भी सक्षम न थी क्योंकि उन दोनों राज्यों के बीच में पोलैण्ड तथा रूमानिया पड़ते थे और ये दोनों अपने प्रदेश से रूसी फौजों के गुजरने की अनुमति देने के विरोधी थे। पोलैण्ड, रूमानिया और यूनान के प्रति ब्रिटिश गारण्टियों का समर्थन करने से रूस की अस्वीकृति यद्यपि इस बात की ओर संकेत करती थी कि रूस किन राज्यों पर आंख लगाये हुये है, तो भी यह सत्य है कि चेम्बरलेन ने सोवियत संघ के साथ ठोस समझौता करने के लिये कोई गम्भीर चेष्टा नहीं की। ऐसे समझौते के अभाव ने ही हिटलर को स्टालिन के निकट आने और २४ अगस्त १९३९ को अनाक्रमण संधि करने का अवसर दिया।

ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति ने निश्चित रूप से फासिस्ट शक्तियों को प्रोत्साहित करके द्वितीय महायुद्ध के विस्फोट को निकट ला दिया। अनियंत्रित हिटलर ने १ सितम्बर १९३९ को पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और ३ सितम्बर को जर्मनों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हुए चेम्बरलेन को तुष्टीकरण की नीति की असफलता स्वीकार करनी पड़ी। उसने एक वक्तव्य में कहा—

"आज का दिन हम सबके लिए दुःख का दिन है और मेरी अपेक्षा अन्य किसी के लिए यह दिन अधिक दुःखपूर्ण नहीं है। आज वे सब वस्तुयें खण्डित हो चुकी हैं जिनके लिए मैंने अपने सार्वजनिक जीवन में प्रयत्न किया है, जिनके लिए मैंने आशा रखी है और जिनमें मैंने विश्वास रखा है। अब मेरे लिए केवल एक ही बात करना शेष रहा है और वह यह है कि मैं अपनी संपूर्ण शक्ति उस कार्य की विजय के लिये लगा दूं जिसके लिए हमें इतना

बलिदान करना पड़ा है। मैं नहीं कह सकता कि मुझे स्वयं को क्या भूमिका अदा करनी पड़ेगी, परन्तु मेरा यह विश्वास अवश्य है कि मैं उस दिन को देखने के लिए जीवित रहूंगा जब हिटलरवाद पूर्णतः नष्ट हो गया हो।"[1]

वास्तव में ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति सर्वथा असफल सिद्ध हुई। वह न केवल अपने किसी भी उद्देश्य को प्राप्त करने से वंचित रही, वरन् उसके अत्यन्त अनिष्टकारी परिणाम निकले। प्रथम, इससे फासिस्ट शक्तियों का तीव्रता से विकास हुआ। यदि ब्रिटेन इस नीति का आश्रय न लेता तो रोम-बर्लिन टोकियो अपनी आक्रामक गतिविधियों में इतनी सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। श्री नेहरू ने ठीक ही लिखा था कि, **"यदि फासिज्म का विकास हुआ है और उसने विश्व पर अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ कर दिया है तो इसका अधिकांश श्रेय ब्रिटेन को है।"**[2] दूसरे, इसने यूरोप में शक्ति-संतुलन को विनष्ट कर दिया। ब्रिटिश नीति के फलस्वरूप नाजी भेड़िये को यूरोप की विजय का अवसर प्राप्त हो गया और स्वयं ब्रिटेन के अस्तित्व को संकट उत्पन्न हुआ। **तीसरे**, तुष्टीकरण की नीति से अन्ततः साम्यवाद के प्रसार में सहायता मिली, क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के बाद विजेता रूस एक महान शक्ति के रूप में प्रकट हुआ तथा पूर्वी यूरोप के अनेक देश उसकी कठ-पुतली बन गए। **चौथे**, इस नीति ने राष्ट्रसंघ को कब्र में दफना दिया। इसने सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की अन्त्येष्टि कर दी। केनेथ इन्गाम के शब्दों में, **"इस नीति का अर्थ था राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का पूर्ण परित्याग क्योंकि इसके अन्तर्गत अधिनायकों के भूत और संभवतः भविष्य के आक्रामक कार्य क्षमा किए जाने थे।"**[3] **पांचवे**, इस नीति ने फासिस्ट और नाजी नेताओं की महत्वाकांक्षाओं और साहस को इतना बढ़ा दिया कि जिससे द्वितीय महायुद्ध

---

1. "This is a sad day for all of us, and to none is it sadder than to me. Everything that I have worked for, everything that I have hoped for....have crashed into ruins. There is only one thing left for me to do, that is to devote what strength and powers I have to forwarding the victory of the cause for which we have to sacrifice so much. I cannot tell what part I may be allowed to play myself: I trust I may live to see the day when Hitlerism has been destroyed ...."

—*Chamberlain*

2. *Nehru* : Glimpses of World History, p. 956.
3. *Kenneth Ingram* : Years of crises, p. 62.

का दावानल प्रज्वलित होकर रहा। यदि ब्रिटेन तुष्टीकरण की नीति पर आचरण नहीं करता तो संभवतः हिटलर द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ करने का दुस्साहस नहीं कर पाता। इसमें कोई संदेह नहीं कि तुष्टीकरण की इस विनाशकारी नीति का युग ब्रिटिश इतिहास का एक अत्यन्त लज्जाजनक इतिहास है। शूमैन ने ठीक ही लिखा है कि, "यह नीति प्रारम्भ से ही एक आत्मघाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी; इसे ब्रिटेन, राष्ट्रमण्डल तथा साम्राज्य के महान दिवसों के उपयुक्त किसी प्रकार से भी नहीं ठहराया जा सकता था।"[1]

EXERCISES

1. Give an account of the policy of appeasement followed by Great Britain during 1930-39. How far was it responsible for the Second World War ?

   १९३० तथा १९३९ के मध्यकाल में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अनुसृत संतुष्टीकरण की नीति का विवरण दीजिए। यह द्वितीय विश्व-युद्ध के लिये कहाँ तक उत्तरदायी थी ?

2. "No Government Liberal or Conservative dared to pledge the English people to continental entanglements." Examine the truth of this statement with reference to the foreign policy of Britain from 1919-1939.

   "उदार या अनुदार दलीय कोई भी सरकार अंग्रेजों द्वारा महाद्वीपीय उत्तरदायित्वों को निभाने का वादा करने का साहस नहीं कर सकती थी"। १९१९ से १९३९ तक की ब्रिटिश विदेश नीति के सन्दर्भ में इस कथन की सत्यता जांचिए।

3. What was the British attitude to the continental affairs between 1919-1939 ? How did it differ from the French approach ?

   महाद्वीपीय मामलों के बारे में १९१९ से १९३९ के मध्य ब्रिटिश दृष्टिकोण क्या था ? फ्रेन्च दृष्टिकोण से वह किस प्रकार भिन्न था ?

4. Explain the successive stages which the system of collective security broke down in Europe. Do you agree with the view that the weak-knead appeasement policy of the British Govt, led to this disaster ? If so, how do you account for such a policy on the part of Britain ?

---

1. [illegible]

उन क्रमिक स्थितियों या घटनाचक्रों का वर्णन करिये जिनके द्वारा यूरोप में सामूहिक सुरक्षा पद्धति का विनाश हुआ। क्या आप इससे सहमत हैं कि ब्रिटेन की दुर्बल तुष्टीकरण की नीति ही इस विनाश की ओर ले गई ? यदि ऐसा ही है तो ऐसी नीति के लिए ब्रिटेन को आप कहां तक उत्तरदायी मानते हैं ?

5. How far did Chamberlain's Policy of appeasement contributed to Second World War ?
चेम्बरलेन की प्रसादन नीति द्वितीय विश्व युद्ध के लिए कहां तक उत्तरदायी थी ?

अध्याय—६

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति

[THE FOREIGN POLICY OF THE UNITED STATES OF AMREICA]

"आवश्यकता (expediency) नहीं, वरन् नैतिकता वह वस्तु है जिसे अन्य राष्ट्रों के साथ हमारे सम्बन्धों में अवश्य ही हमारा पथ-प्रदर्शन करना चाहिए।"

—राष्ट्रपति वुडरो विल्सन

"विदेश सम्बन्धों के मामले में राष्ट्र स्थिर लक्ष्यों के लिए कार्य नहीं कर सकते। यह सम्पूर्ण विषय गतिमय है। विदेश नीति का संचालन एक तरल माध्यम में होता है। कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती जैसे पूर्णता की। कुछ समस्यायें कभी भी स्थायी तौर पर हल नहीं हो सकतीं, हमें उनके बीच जीना सीखना होगा। महत्वपूर्ण बात यह है कि हम अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ते चले जायं।"

—अनाम अमेरिकन राजनीतिज्ञ

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का एक महानतम प्रजातांत्रिक राष्ट्र है जिसकी विदेश-नीति की प्रकृति एवं व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता रहा है। एक प्रजातंत्रात्मक देश होने के नाते यहां की विदेश नीति लोकमत के झुकावों से निरन्तर प्रभावित होती रही है। यहां के लोग अपने देश को स्वतन्त्रता की देवी मानते हैं तथा संसार में स्वतन्त्रता का प्रकाश करना अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं। अमेरिकन विदेश-नीति समाज के स्वरूप और लोगों के चरित्र से वस्तुतः अत्यधिक प्रभावित होती है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती कि एक विशेष परिस्थिति में अमेरिकन किस प्रकार का व्यवहार करेंगे, यह बात बहुत कुछ

उन तत्वों पर निर्भर करती है जो वहां के समाज के वर्तमान एवं भावी रूप का निर्धारण करते हैं।[1] अमेरिका की विदेश नीति पर गृह–नीतियों एवं दबावों का इतना प्रभाव पड़ता है कि कई बार तो उसकी अवहेलना करना असंभव बन जाता है। गृह नीति एवं विदेश नीति दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। कुछ अवसर ऐसे आते हैं जबकि विदेश नीति में किए जाने वाले परिवर्तनों का इस कारण विरोध किया जाता है क्योंकि ऐसा करने से गृह नीति में जिन परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ेगी, वे लोगों को आघात पहुंचाते हैं। इस प्रकार व्यापारिक संस्थायें, धार्मिक एवं अन्य प्रकार के संघ तथा और दूसरे सामाजिक सगठन विदेश नीति को अपने हितों के अनुरूप प्रभावित करते रहते हैं। एक संघात्मक प्रजातन्त्र होने के कारण विविध संवैधानिक बन्धन अमेरिकी विदेश नीति के प्रवाह को एक दिशा प्रदान करते हैं। विदेश नीति का संचालन उस समय बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है जबकि राष्ट्रपति जिस दल का होता है उसका कांग्रेस में बहुमत नहीं होता। अमेरिकन विदेश नीति को प्रभावित करने वाला अन्य प्रमुख तत्व उसकी ऐतिहासिक परम्परायें और उसकी भौगोलिक स्थिति है। यह कहा जा सकता है कि लम्बे समुद्रों से घिरा और यूरोप आदि महाद्वीपों से दूर स्थित होने के कारण ही यह राज्य द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक अपनी पार्थक्यवादी नीति (Policy of Isolation) का पालन करने में समर्थ हो सका था। सार रूप में पामर और परकिन्स (Palmer and Parkins) के शब्दों में कहा जाना चाहिए कि **"किसी भी अन्य राज्य की विदेश नीति के समान, संयुक्त राज्य की विदेश नीति एक बड़ी सीमा तक भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तत्वों, उनकी राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था, उसकी आर्थिक सामर्थ्य और सैनिक शक्ति, उसकी सापेक्षिक शक्ति स्थिति, अन्य राज्यों की नीतियों तथा विश्व-परिस्थितियों के द्वारा निर्मित होती हैं।"[2]**

प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक अमेरिकन विदेश नीति के आधार

संयुक्त राज्य अमेरिका की आरम्भिक विदेश नीति के मुख्य आधार दो थे—पार्थक्य (Isolation) और मुनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine)।

---

1. In foreign affairs as well as in domestic affairs "some clue as to how the American people will behave and should behave must be sought in the total complex of conditions and factors which make American Society what it is or what it is becoming."

   —*Robert K. Carr and Others* : American democracy in theory and practice : The Nation Govt.; p. 951.

2. *Palmer and Parkins* : International Relations, p. 691-92.

पार्थक्य की नीति—संयुक्त राज्य अमेरिका का एक राष्ट्र के रूप में जन्म १७७६ के अमेरिकन स्वातन्त्र्य संग्राम के फलस्वरूप हुआ था। अपने जन्मकाल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से मजबूर होकर अमेरिका इस नये गणतन्त्र को तटस्थता और पार्थक्यवाद की नीति का सहारा लेना पड़ा। १७९७ में प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपने विदाई-भाषण में पार्थक्य-नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'विदेशों के सम्बन्ध में हमारे व्यवहार का महान् नियम यह है कि हम उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखें किन्तु राजनीतिक सम्बन्ध यथासम्भव कम से कम रखें।...हमारी सच्ची नीति यह है कि हम विदेशी जगत के किसी भी अंग के साथ स्थायी संधियाँ न करें।' चूंकि अमेरिका यूरोप के झगड़ों से बिल्कुल पृथक और तटस्थ रहकर अपनी उन्नति करना चाहता था, इसीलिए उसकी नीति को पार्थक्यवादी कह कर सम्बोधित किया गया। इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमेरिका का यह पार्थक्य केवल यूरोप के मामलों तक ही था उसने पश्चिमी गोलार्द्ध के अन्य अमेरिकन राज्यों के बारे में पार्थक्य की नीति का कभी अनुसरण नहीं किया, और न ही एशिया के सम्बन्ध में वह इस नीति को व्यवहार में लाया। उदाहरण के लिए, १८५४ में अमेरिकन नौसेना ने जापान को अपनी परम्परागत पार्थक्यवादी नीति का परित्याग करने को बाध्य किया तो १९०० में चीन के बाक्सर विद्रोह में अमेरिकन सेनाओं का हस्तक्षेप हुआ तथा सामान्य सुदूरपूर्व के मामलों में अमेरिका ने गहरी दिलचस्पी प्रकट की। इस दृष्टि से शूमैन का यह लिखना ठीक ही है कि "वास्तविक राजनीति की परिभाषा में पार्थक्यवाद तथा इस पर आधारित अहस्तक्षेप और संघर्षों में न उलझने द्वारा सुरक्षा पाने की नीति का वस्तुतः कभी अस्तित्व नहीं रहा।"[1]

तटस्थता और पार्थक्य की अमेरिकन नीति को सिद्धान्त रूप में राष्ट्रपति जैफरसन (Jefferson) ने १८०१ में इस प्रकार किया—"शांतिपूर्ण व्यापार सब के साथ, पर झंझट पैदा करने वाली संधियां किसी के साथ भी नहीं।" इसका आशय यही था कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करे लेकिन यूरोपीय राजनीति के फन्दे में नहीं फँसे।

मुनरो सिद्धान्त—१८२३ में मुनरो सिद्धान्त के प्रतिपादन से अमेरिकन विदेश नीति के इतिहास में एक दूसरा अध्याय शुरू हुआ। १८२३ में जब प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस के "पवित्र संघ" ने स्पेन में निरंकुश शासन के विरुद्ध हुई क्रांति को कुचलने के बाद स्पेन के दक्षिण-अफ्रीका के उपनिवेशों में मैड्रिड के विरुद्ध हुए स्वातन्त्र्य आन्दोलनों को दबाना चाहा तो २ दिसम्बर

---

1. *Schuman*; International Politics P. 621

१८२३ को तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति मुनरो ने यूरोपीय राज्यों को अमेरिकन महाद्वीप के मामलों में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी देते हुए यह ऐतिहासिक घोषणा की कि—

१. "हम यह जता देना चाहते हैं कि यूरोपियन शक्तियों के युद्धों में हमने कभी कोई भाग नहीं लिया और न कभी भाग लेने का हमारा विचार है, हम इनसे सर्वथा पृथक रहे हैं,"

२. "हम अपनी शांति और सुख की दृष्टि से अमेरिका के किसी भी भाग में यूरोपीय शक्तियों की राजनीतिक सत्ता का विस्तार नहीं होने देंगे और दक्षिणी अमेरिका के गणराज्यों की स्वतन्त्रता में किसी हस्तक्षेप को सहन नहीं करेंगे," एवं

३. "अमेरिकन महाद्वीप का प्रदेश भविष्य में यूरोपियन शक्तियों द्वारा उपनिवेषन (Colonisation) का क्षेत्र नहीं बनाया जा सकेगा।"

राष्ट्रपति मुनरो ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र द्वारा अपनी प्रणाली को अमेरिकन गोलार्द्ध में फैलाने का प्रयत्न किया गया तो संयुक्त राज्य अमेरिका उसे पूर्णतः अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। स्पष्टतः मुनरो सिद्धांत यूरोपियन राज्यों की एक चेतावनी थी कि वे अमेरिकन महाद्वीपों में साम्राज्यवादी चेष्टाओं से दूर रहें। साथ ही यह एक आश्वासन भी था कि अमेरिका भी यूरोपीय झगड़ों से अलग रहेगा। दूसरे शब्दों में, मुनरो सिद्धांत का अर्थ था "तुम पृथक रहो, हम भी पृथक रहेंगे।"

मुनरो सिद्धान्त १८२३ में अपने प्रतिपादन से लेकर प्रथम महायुद्ध तक पार्थक्यवादी नीति के साथ-साथ सुचारु रूप से चलता रहा। अमेरिका के लिए इन दोनों आधारों पर आश्रित विदेश नीति का लगभग सौ वर्ष तक सुचारु संचालन इसलिए सम्भव हुआ कि इस काल में विश्व में तीन कारणों से शक्ति संतुलन बना रहा—(१) अटलांटिक महासागर में और अन्य समुद्रों में ब्रिटिश नौ-शक्ति की प्रधानता तथा ब्रिटिश–अमेरिकन मित्रता, (२) यूरोपियन महाद्वीप में शक्ति संतुलन बना रहना क्योंकि नैपोलियन के बाद यूरोप में कैसर के अभ्युत्थान से पहले तक कोई ऐसी शक्ति उदित नहीं हुई जो सम्पूर्ण यूरोप में हावी होती अथवा ब्रिटिश साम्राज्य को हानि पहुंचाती, तथा (३) यूरोप या एशिया में किसी शक्ति या शक्तियों के ऐसे गुट का अभाव रहा जो संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा दक्षिणी अमेरिका को हानि पहुंचा सके। शक्ति–संतुलन के इन तीनों कारणों की समीक्षा करते हुए **शूमैन का कथन है कि "जब तक ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति सर्वोच्च बनी रही, तब तक संयुक्त राज्य अमेरिका पार्थक्यवादी नीति पर चलता रहा और इसके अनुकूल तटस्थता (Neutrality), समुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of the**

Seas), तटस्थ देशों के व्यापारिक अधिकारों, सुदूरपूर्व में सब शक्तियों को व्यापार के समान अवसर देने की उन्मुक्त द्वारा नीति (Open Door Policy) का समर्थन करता रहा।"

प्रथम महायुद्ध में पार्थक्यवादी नीति का परित्याग और तत्पश्चात् पार्थक्यवाद का पुनरावर्तन

पृथकतावाद का त्याग—१९१४ में प्रथम महायुद्ध का समारम्भ हो जाने पर संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए परम्परागत पार्थक्यवादी नीति पर चलते रहना सम्भव न रहा। वैसे तो २०वीं सदी के प्रारम्भ से ही विश्व-राजनीति में अमेरिका की दिलचस्पी बढ़ने लगी थी। १९०१ में रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ और उसी के समय से अमेरिका संसार में अपने हाथ-पैर फैलाने लगा। इस समय अमेरिकन सरकार ने एकाएक यह अनुभव किया कि संयुक्त राज्य वास्तव में विश्व की एक महान् शक्ति है जिसे विश्व की समस्याओं से विलग नहीं रहना चाहिए। इस अनुभव की शिकार लैटिन अमेरिका के पड़ौसी देश ही हुए, यद्यपि साथ-साथ अमेरिका अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में भी रुचि प्रदर्शित करता रहा। १९०५ के रूस-जापान युद्ध का अन्त कराने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह हस्तक्षेप युद्ध का अन्त करा कर शांति स्थापित करने के पवित्र उद्देश्य से नहीं बल्कि एशिया के एक देश जापान की विजय की महत्ता कम करने के उद्देश्य से हुआ। १९०६ में मोरक्को के प्रश्न पर फ्रांस-जर्मन संघर्ष शुरू हुआ। अमेरिका ने इस मामले में भी मध्यस्थता की तथा फ्रांस और जर्मनी में बीच-बचाव कराकर यूरोपियन शांति को भंग होने से बचाया। इसके अतिरिक्त रूजवेल्ट ने हेग-पंचायती न्यायालय का समर्थन किया और वहां दो बड़े अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे भेजे, लेकिन इतना होने पर भी अभी तक अमेरिका अपने को यूरोप के झगड़ों से दूर रखकर यथासम्भव तटस्थता की नीति पर ही डटा रहना चाहता था।

१९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूरोपियन युद्धों से पृथक रहने की परम्परागत नीति के अनुसार तटस्थता की घोषणा की। परन्तु आरम्भ से ही यह भी आभास होने लग गया कि अमेरिका के लिए इस युद्ध से पूर्णतः पृथक एवं अप्रभावित रह सकना संभव नहीं होगा। ४ सितम्बर १९१४ को विलसन ने कांग्रेस के समक्ष कहा, "हमारा इस युद्ध में कोई भाग नहीं; किन्तु इसके बिल की अदायगी हमें करनी पड़ेगी।" विलसन का यह वक्तव्य एकदम सत्य और संतों की चेतावनी जैसा प्रमाणित हुआ। अमेरिका महायुद्ध से किसी भी रूप में अप्रभावित नहीं रह सकता था। "अमेरिकन जनसंख्या में प्रत्येक वर्गीय दल के प्रतिनिधि शामिल

थे, उनके देश युद्ध से ग्रस्त थे, अतः उनके उद्देश्य स्वाभाविक रूप से उत्तेजित हुए। इसके अतिरिक्त अमेरिका व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्ध यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र से था और विशेष रूप से वह जर्मनी की अपेक्षा सम्बन्धित था।"

प्रथम महायुद्ध में अमेरिका ने तटस्थता की जो घोषणा की वह राष्ट्रीय सुरक्षा तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक लाभ दोनों ही दृष्टियों से हितकारी थी। अमेरिकन उद्योगपति और व्यापारी युद्धरत दोनों पक्षों को आवश्यक सामान देकर खूब मुनाफा कमाने लगे परन्तु मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी के आर्थिक तटरोध (Blockade) द्वारा इसमें भारी बाधा उत्पन्न हुई। मित्र-राष्ट्रों की इस कार्यवाही के विरोध में जर्मन पनडुब्बियों ने मित्रराष्ट्रीय जहाजों को डुबोना शुरू किया। जर्मनी ने यह घोषणा की कि १८ फरवरी १९१५ के बाद ब्रिटेन के आसपास के समुद्रों में पाये जाने वाले सभी जहाजों को नष्ट कर दिया जायेगा और तटस्थ जहाज भी शिकार बन सकते हैं। अमेरिकन जनता के पास ये अफवाहें निरन्तर पहुंच रही थी कि जर्मनी समुद्र में चलने वाले एक नये और बहुत बड़े पनडुब्बी जहाज का निर्माण कर रहा है जो बड़ी भयानक तबाही कर सकता है। मार्च १९१५ में एक ब्रिटिश स्टीमर को डूबो दिया गया। मई में एक अमेरिकन तेलवाहक जहाज पर आक्रमण हुआ और इसके ६ दिन बाद ही एक निःशस्त्र जहाज जो न्यूयार्क से सैनिक सामग्री ला रहा था, डुबो दिया गया जिसके फलस्वरूप १२८ अमेरिकनों सहित लगभग १२०० व्यक्तियों की हत्या हुई। २४ मार्च १९१६ को एक शस्त्र रहित फ्रेंच-चेनल स्टीमर पर बिना चेतावनी के जर्मन पनडुब्बी द्वारा प्रहार किया गया और कितने ही अमेरिकनों के जीवन को क्षति पहुँचाई गई। इस काल में अमेरिका समुद्रों की स्वतंत्रता (Freedom of Seas) तथा तटस्थ देशों के अधिकारों (Neutral Rights) पर बड़ा बल देता रहा। विल्सन की १४ शर्तों में दूसरी शर्त समुद्र की स्वाधीनता के सम्बन्ध में थी। जर्मनी द्वारा समुद्री आक्रमण की इन हरकतों ने अमेरिकन राष्ट्र को एकबारगी ही झक-झोर दिया और अमेरिकन सरकार कोई दृढ़ रुख अपनाने के निश्चय की ओर अग्रसर होने लगी। इस समय अमेरिकन पूंजीपति मित्रराष्ट्रों की सरकारों को भारी कर्ज दे रहे थे तथा बहुत बड़े मुनाफे के साथ उन्हें शस्त्रास्त्र एवं अन्य उपयोगी सामग्री बेच रहे थे। मित्रराष्ट्रों की पराजय का अर्थ इनका दिवालिया होना था, अतः इस स्थिति से भी अमेरिकन सरकार और जनता विशेष चिंतित होने लगी। अमेरिका का हित मित्रराष्ट्रों की विजय में सन्निहित था। जर्मनी की विजय से अमेरिका को न केवल भीषण आर्थिक क्षति होती अपितु इससे यूरोप का शक्ति-संतुलन बिगड़ने की तथा यूरोपियन महाद्वीप सहित

सम्पूर्ण विश्व में जर्मनी के हावी होने की ओर अमेरिकन सुरक्षा को संकट उत्पन्न होने की आशंका थी। इन सब राष्ट्रीय स्वार्थों ने अमेरिका में इस निश्चय को परिपक्व किया कि मित्रराष्ट्रों की विजय होनी ही चाहिए। अतः इस पक्ष को न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिए जनता से यह कहा जाने लगा कि जर्मनी में निरंकुश शासन है और मित्रराष्ट्र लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं तथा उनकी सहायता करना अमेरिकन लोकतंत्र का पवित्र कर्त्तव्य है। मित्रराष्ट्र कानून पालन करने वाले हैं जबकि जर्मन कानून भंग करने वाले बर्बर, निष्ठुर और निर्दय हैं।[1]

इधर अमेरिकन सरकार मित्रराष्ट्रों की विजय के लिए अधिकाधिक आतुर होती जा रही थी और इधर उसी समय ३१ जनवरी १९१७ को जर्मनी ने अपने इस संकल्प की घोषणा की कि ब्रिटिश नौशक्ति को समूल नष्ट कर देने के लिये ब्रिटिश द्वीप समूह, फ्रांस और इटली के निकट आने वाले प्रत्येक जहाज को जर्मनी "बिना किसी चेतावनी के" सब उपायों से डुबो देगा। इस घोषणा ने सम्पूर्ण अमेरिकन राष्ट्र को क्षुब्ध कर दिया। १ फरवरी १९१७ को राष्ट्रपति विल्सन ने जर्मनी से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिये। १ अप्रेल १९१७ तक ८ अमेरिकन जहाज डुबो दिये गये। अमेरिकावासियों का क्रोध अपनी सीमा लांघ गया और ६ अप्रेल १९१७ को अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार १७९३ से चलती आ रही पार्थक्यवादी एवं तटस्थतावादी अमेरिकन नीति का पहली बार सम्पूर्ण रूप में परित्याग हुआ।

अमेरिका ने बड़े ही संकटापन्न काल में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध-प्रवेश किया। इससे मित्रराष्ट्रों को न केवल मानवीय शक्ति का असीमित भण्डार ही मिला, बल्कि असीम धन, खाद्य-पदार्थ, खनिज, और हर प्रकार के भौतिक स्रोतों की प्राप्ति भी हुई। अमेरिकन सेना, रण-सामग्री और युद्ध-पोतों ने न केवल लाल रूस द्वारा जर्मनी से पृथक् सन्धि करने से हुई क्षति को पूरा किया प्रत्युत् युद्ध का पासा पलट कर जर्मनी की भीषण पराजय को निश्चित बना दिया। "तटस्थता की नीति अमेरिकन स्वार्थों की रक्षा में असमर्थ सिद्ध हुई थी, अतः पार्थक्य के स्थान पर यूरोपीय महासमर में भाग लेने की नीति अपनाई गई"[2] जिसके फलस्वरूप विजयी जर्मनी पराजित जर्मनी में बदल गया और ११ नवम्बर १९१८ को जर्मनी ने बिना शर्त आत्मसमर्पण करते हुए विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

---

1. *Schuman* : International Politics, Page 626
2. *Schuman* : International Politic, P. [illegible]

पृथकतावादी नीति का पुनरोदय और इसके कारण:—अमेरिकन सहायता के बल पर प्रथम महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों ने विजय श्री वरण की और अमेरिका की प्रतिष्ठा में चार चांद लग गये। राष्ट्रपति विल्सन के उच्च आदर्शों ने यूरोपियन जनता का मन मोह लिया। उसके चौदह सूत्रों को शांति समझौते का आधार माना गया। उसे २०वीं शताब्दी का ईसा मसीह, शांति के मन्दिर का सर्वोच्च पुजारी, संसार के नैतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति का प्रवक्ता, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और न्याय की प्रतिमूर्ति, मानवता का पथ प्रदर्शक और धर्म का अवतार कह कर सम्बोधित किया गया। यूरोप की जनता ने उसका दिल खोल कर स्वागत किया। पेरिस सम्मेलन में एकत्रित राजनीतिज्ञों ने केवल मात्र विल्सन के कारण ही उसकी प्रियतम कल्पना राष्ट्रसंघ को वर्सायकी सन्धि सहित सभी शांति संधियों का अंग बना दिया। परन्तु यह एक दुर्भाग्य और आश्चर्य की बात थी कि स्वयं उसके देशवासियों ने अपने इतने बड़े चरित्रवान और आदर्शवादी राष्ट्रपति के सिद्धान्तों को अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने उसके अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को ठुकरा कर पार्थक्यवाद को पुन: अपनी अर्चना की वस्तु बनाया। सन् १९१८ के निर्वाचनों में विल्सन के विरोधी रिपब्लिकन दल को कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त हुआ और सीनेट में वर्साय संधि को सम्पुष्ट करने से इन्कार कर दिया और इस इन्कारी का प्रधान कारण था राष्ट्रसंघ यानी वह संस्था जो विल्सन की सर्वाधिक प्रिय कृति थी। विल्सन ने लगभग दो वर्ष तक सीनेट से टक्कर ली, लेकिन अन्त में उसे पराजित होना पड़ा और १९ मार्च १९२० को सीनेट ने अन्तिम रूप से वर्साय की संधि को रद्द कर दिया और २ नवम्बर १९२० को रिपब्लिकन दल का उम्मीदवार हार्डिंग राष्ट्रपति चुन लिया गया। अपने ही देशवासियों से परित्यक्त विश्व शांति का पैगम्बर विल्सन एक भग्न हृदय लेकर इस संसार से विदा हो गया। १९२० से लेकर १९३१ तक की १२ वर्ष की अवधि में अमेरिकन राजनीतिक क्षितिज पर रिपब्लिकन दल का प्रभुत्व छाया रहा और अमेरिका में पुन: पार्थक्यवाद (Isolationism) का बोलवाला रहा।

विल्सन के अन्तर्राष्ट्रीयवाद की पराजय और पार्थक्यवाद के इस पुनरावर्तन के मूल में अनेक कारण निहित थे और इनके सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बड़ा मतभेद है।

प्रथम और सबसे बड़ा कारण इस नीति–परिवर्तन का यह बताया जाता है कि पेरिस के शांति सम्मेलन और समझौते से तथा विल्सन की नीति से अमेरिकनवासियों में तीव्र असंतोष था। कुछ लोग इस संधि को जर्मनी के लिए बड़ा कठोर समझते थे तो कुछ व्यक्तियों के मत में युद्ध का अधिकांश लाभ

ग्रेट ब्रिटेन को प्राप्त हो रहा था। अमेरिकन जनता में जर्मन, इटालियन, यूनानी और आयरिश जाति के लोग भी काफी बड़ी संख्या में थे। ये सभी पेरिस समझौते में इनके देशों की मांगें पूरी न होने से असन्तुष्ट थे।

दूसरा कारण यह था कि अमेरिकन विदेश-नीति की परम्परा ही पृथकता की नीति का अवलम्बन करती रही थी। परिस्थितियों से बाध्य होकर ही अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ था; मित्र राष्ट्रों के सशक्त युद्ध-प्रचार तथा जर्मनी की नीति कुशलता की कमी ने अमेरिका को युद्ध में घसीट लिया था। अब एक बार जब युद्ध समाप्त हो गया तो विश्व राजनीति में दिलचस्पी लेना अमेरिका के लिए कोई आवश्यक नहीं रह गया। अमेरिकन जनता की दृष्टि में यूरोपियन राजनीति में दिलचस्पी लेने का अभिप्राय था "तरह-तरह के झंझटों में अमेरिका को फंसाये रखना।" अमेरिकन जनता इस बात के लिए तैयार नहीं थी क्योंकि इससे अमेरिका की प्रगति में बाधा पड़ सकती थी।

तीसरा कारण यह था कि युद्धकाल में राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिका-वासियों को यह कह कर युद्ध के लिए तैयार किया था कि यह युद्ध अत्यावश्यक अमेरिकन स्वार्थ के लिए लड़ा जा रहा था। लेकिन अब अमेरिकावासी उन तर्कों का खोखलापन समझ चुके थे कि पनडुब्बियों द्वारा युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त के विपरीत था, प्रजातंत्र राज्य खतरे में थे, सभ्यता को "युद्ध के थपेड़ों" से बचाने के लिए नयी विश्व-व्यवस्था की आवश्यकता थी आदि। युद्ध समाप्ति के बाद राष्ट्रपति विल्सन के लिए अब यह सिद्ध करना मुश्किल हो गया कि शांति समझौते से उनका (अमेरिकनों का) कोई मुख्य सम्बन्ध है। जितना ही अधिक समय सीनेट ने वर्साय की संधि और उसमें सम्मिलित राष्ट्रसंघ के संविदा पर वाद-विवाद करने में बिताया, उतना ही अधिक अमेरिकनों ने यह अनुभव किया कि उनके अनिवार्य स्वार्थ तथा विल्सन के कार्यक्रम में कोई गहरा सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने देखा कि राष्ट्रसंघ ने अमेरिका पर यूरोपीय शांति की स्थापना में सहायता करने के लिए अपूर्व उत्तरदायित्व थोप दिये थे। संघ के संविदा की धारा १० में कहा गया था कि 'राष्ट्रसंघ के संघ के सदस्य सभी सदस्यों की प्रादेशिक अखण्डता तथा वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता का स्वयं सम्मान करने और वाह्य आक्रमण से रक्षा करने का वचन देते हैं। ऐसे किसी आक्रमण के समय या ऐसे किसी आक्रमण की धमकी अथवा खतरे के समय परिषद् यह परामर्श देगी कि किन उपायों द्वारा यह कर्त्तव्य पूरा किया जा सकता है।' विल्सन के विरोधियों का आक्षेप था कि यह धारा अमेरिका की संप्रभुता पर तथा कांग्रेस के युद्ध-घोषित करने के अधिकार पर कुठाराघात है। उदाहरणार्थ, 'हारवेज वीकली' नामक

पत्र ने लिखा था—"यदि धारा १० का कोई अर्थ है तो वह यही है कि हमने यह वचन दे दिया है कि स्विट्जरलैण्ड में बैठी हुई विदेशियों की ऊँची सरकार (Super Governm nt) जब कभी और जहाँ कहीं हमारी सशस्त्र सेनाएँ भेजने का हमें आदेश दे, हमें वहाँ ये फौजें भेजनी पड़ेंगी।" विल्सन के यह समझाने का प्रयास नगारखाने में तूती की आवाज सिद्ध हुआ कि संघ की परिषद् में सर्वसम्मत मतदान की व्यवस्था है, अतः अमेरिका की सहमति के बिना कोई निर्णय नहीं हो सकता, संघ की सभी बाध्यताएँ नैतिक हैं, कानूनी नहीं। सीनेट के सदस्य विल्सन के तर्कों से संतुष्ट नहीं हुए। सीनेट की वैदेशिक सम्बन्ध समिति के प्रधान हेनरी कैबट लॉज के नेतृत्व में रिपब्लिकन दल पेरिस के समझौते को ठुकराने पर तुला था। वास्तव में मानसिक उद्वेग के उन क्षणों में अधिकांश अमेरिकावासी राष्ट्रसंघ द्वारा निर्देशित उत्तरदायित्वों को वहन करने की आवश्यकता का सही मूल्यांकन नहीं कर सके। वे यह अनुभव नहीं कर पाये कि ब्रिटिश और फ्रान्सीसी शक्ति का सम्पूर्ण संसार में अमेरिका के अनिवार्य स्वार्थों की रक्षा के लिए क्या महत्व था।

चौथा कारण विल्सन के प्रशासन से उत्पन्न व्यापक असंतोष था। विल्सन प्रशासन के अन्तर्गत सरकार को युद्धकाल में एण्टी-ट्रस्ट-कानून, फैडरल रिजर्व कानून, अण्डरवुड टैरिफ कानून आदि के द्वारा व्यापक अधिकार प्रदान किये गये थे। वैयक्तिक स्वाधीनता में आस्था रखने वाली अमेरिकन जनता इन कानूनों का स्वागत नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त युद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न हुई मंहगाई और मुद्रा-स्फीति ने भी इस असंतोष को बढ़ाने में आग में घी का काम किया था। इन सब बातों के परिणामस्वरूप १९१८ के निर्वाचनों में विल्सन विरोधी रिपब्लिकन दल ने कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त कर लिया। रिपब्लिकन दल मंहगाई के कारण बढ़ रहे जीवन-यापन के व्यय का सारा उत्तरदायित्व डेमोक्रेटिक दल के प्रशासन पर डाल रहा था। इसके अतिरिक्त ठेकेदारों, व्यापारियों और भारी मुनाफा कमाने वाले उद्योगपतियों में विल्सन सरकार विरोधी मनोवृत्ति इसलिए पनपती जा रही थी कि युद्ध की समाप्ति पर सरकार ने खरबों रुपयों के सरकारी ठेके रद्द कर दिये थे। मंहगाई बढ़ने तथा डालर की क्रय-शक्ति कम होने से वेतनभोगी और श्रमिक वर्ग सरकार से पहले से ही रुष्ट थे। युद्ध-काल में पूँजीपतियों और श्रमिकों में सौहार्द स्थापित हो गया था किन्तु युद्धोपरान्त सौहार्द की यह विराम-संधि समाप्त हो गयी और आये दिन होने वाली हड़तालों ने अमेरिकन जनमानस को विक्षुब्ध कर दिया। अकेले १९१९ के वर्ष में लगभग तीन हजार हड़तालें हुईं। इस प्रकार के देशव्यापी असंतोष को देखते हुए यह कोई अस्वाभाविक बात न थी कि २ नवम्बर १९२०

को राष्ट्रपति के चुनावों में शांति का मसीहा किन्तु राजनीति की बारीकियों और पेचीदगियों को समझने में अकुशल विल्सन पराजित हुआ।

पांचवां कारण विल्सन द्वारा शान्ति सम्मेलन में स्वयं भाग लेना था। अमेरिका के इतिहास में यह एक अपूर्व बात थी। अमेरिकन राजनीतिक दृश्य से विल्सन की दीर्घ अनुपस्थिति उसके लिए बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुई। उसके विरोधी रूजवेल्ट और लॉज ने देश में उसके विरुद्ध विरोध की एक जबरदस्त लहर दौड़ा दी और कांग्रेस के अन्दर तथा बाहर सब ओर उस पर आक्रमण किये गये। जब १३ दिसम्बर १९१८ को विल्सन फ्रान्स के लिए रवाना हुआ तो रूजवेल्ट ने मित्र राष्ट्रों, शत्रुओं तथा स्वयं विल्सन को यह चेतावनी दी कि—"विल्सन इस समय अमेरिकावासियों की ओर से बोलने का कोई अधिकार नहीं रखता। उन्होंने अभी–अभी उसके नेतृत्व का बलपूर्वक परित्याग कर दिया है।" सीनेटर शर्मन (Sherman) ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें यह मांग की गयी कि राष्ट्रपति के स्थान को रिक्त घोषित कर दिया जाय क्योंकि राष्ट्रपति अमेरिका की भूमि को छोड़कर चले गये हैं। अमेरिकन जनता ने राष्ट्रपति के कार्य को वास्तव में "असम्मानजनक" (Ungraceful) समझा। यदि विल्सन अपने देश से बाहर न होता तो वह रिपब्लिकन दल के विरोधी प्रचार का बहुत कुछ मुकाबला करता, किन्तु उसकी अनुपस्थिति में आलोचकों ने उसको उखाड़ फेंकने की दृढ़ आधारशिला तैयार कर दी।

छठा कारण पेरिस में शान्ति सम्मेलन में जाने वाले प्रतिनिधियों का चयन था। विल्सन ने कर्नल हाउस (Colonel House) जनरल ब्लिस (General Tasker H. Bliss), हेनरी ह्वाइट (Henry White) तथा सेक्रेटरी रोबर्ट लैन्सिंग (Robert Lansing) को अपने प्रतिनिधि मण्डल में स्थान दिया। देश में इस चुनाव को एकदम अनुचित समझा जाकर यह मांग की गयी कि राष्ट्रपति को ऐसे प्रतिनिधि चुनने चाहिए थे जो किसी भी दल से सम्बन्धित न हों क्योंकि आखिरकार केवल डेमोक्रेटिक दल वालों ने नहीं अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र ने युद्ध लड़ा था और विजय प्राप्त की थी। विल्सन ने जिन प्रतिनिधियों को चुना था उनमें से किसी का भी रिपब्लिकन दल पर कोई प्रभाव न था। विल्सन की चयन सम्बन्धी यह गम्भीर भूल थी, क्योंकि अपने प्रतिनिधि मण्डल में वह रूट (Elihu Root), रूजवेल्ट (Thebdore Roosevelt), टैफ्ट (Howart Taft), हेनरी केबट लॉज (Henry Cabot Lodge) आदि प्रभावशाली रिपब्लिकन नेताओं को सम्मिलित करके सीनेट को अपने समर्थन के लिए तैयार कर सकता था। लेकिन जब इन व्यक्तियों की उपेक्षा कर दी गयी तो वे विल्सन और उसके कार्य के कट्टर विरोधी बन

गये तथा रिपब्लिकन बहुमत वाली सीनेट शान्ति समझौते को ठुकराने के लिए कटिबद्ध हो गयी।

सातवां तात्कालिक कारण यह हुआ कि कांग्रेस में जनतन्त्र के नेतृत्व की कड़ी आलोचना हुई और मन्त्रिमण्डल के अनेक सदस्यों से गम्भीर असंतोष पैदा हुआ। डेमोक्रेटिक दल के संसद सदस्यों ने राष्ट्रपति को अनेक निवेदन किये जिनके उत्तर में राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिकन मतदाताओं के लिए विश्वास मत प्रकट करने हेतु एक वक्तव्य जारी किया जिसमें यह भी कहा गया कि कांग्रेस में रिपब्लिकन सदस्यों ने उसके युद्धों के उपायों का तो समर्थन किया किन्तु उनका प्रशासन के प्रति दृष्टिकोण विरोधपूर्ण है जबकि ऐसे संकट के समय देश में इतना भेदभाव होना अच्छा नहीं है। राष्ट्रपति के इस वक्तव्य ने आलोचना का तूफान खड़ा कर दिया और अन्य किसी कार्य की अपेक्षा जनमत इस वक्तव्य के कारण विल्सन के विरोध में हो गया। इस वक्तव्य के दो सप्ताह बाद जो मतदान हुआ उसमें कांग्रेस के दोनों सदनों में रिपब्लिकन दल ने बहुमत प्राप्त किया।

उपरोक्त सभी कारण संयुक्त रूप से विल्सन की पराजय और पार्थक्य-वादी नीति की विजय के लिए उत्तरदायी बने।

अमेरिकन विदेश नीति—स्पर्शहीन सहयोग का युग (१९२०–१९३२)

२ नवम्बर १९२० को अमेरिका का राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाने के बाद हार्डिंग (Harding) ने कांग्रेस को भेजे गये अपने प्रथम संदेश में पार्थक्य-वाद की नीति का अनुसरण करते हुए यह घोषणा की कि राष्ट्रसंघ से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है और "हमारा उद्देश्य उलझने से नहीं है।" सीनेट ने न केवल राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थाई न्यायालय से भी सम्बन्ध रखने की बात स्वीकार नहीं की, जबकि इस विषय में व्यवस्था यह थी कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बने बिना भी न्यायालय से सम्बन्ध रखा जा सकता था। हार्डिंग ने पार्थक्यवाद की नीति पर चलने का ही दृढ़ निश्चय नहीं किया बल्कि एक कदम आगे बढ़ते हुए, और अपनी विदेश नीति को तटस्थता का पूरा जामा पहनाने की चेष्टा करते हुए, विल्सन द्वारा दिये गये वचनों और बाध्यताओं से भी अपने देश को स्वतंत्र किया। जर्मनी द्वारा आक्रमण की दशा में फ्रान्स को ब्रिटेन तथा अमेरिका द्वारा सहायता की गारण्टी देने का प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। अमेरिका इस समय राष्ट्रसंघ का इतना विरोधी था कि उसने संघ के स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यक्रमों में भी सहयोग करने से अस्वीकार कर दिया। हार्डिंग से रूजवेल्ट

तक प्रत्येक राष्ट्रपति द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी सीनेट ने संयुक्त राज्य अमेरिका को राष्ट्रसंघ-प्रवेश की अनुमति नहीं दी। इस समय पृथकता की नीति के अनुपालन में दो कानून पास किये गये। विदेशों से आकर बसने वाले व्यक्तियों की संख्या नियन्त्रित करने के लिये 'आव्रजन कानून' (Immigration Act) बनाया गया और विदेशों से आने वाले माल को रोकने के लिये २७ मई, १९२१ को 'आपातकालीन तटकर कानून' (Emergeney Tarriff Act) पास किया गया। इस प्रकार, तटकर की ऊंची दीवारें खड़ी करके उसे दूसरे देशों से पृथक रखने की नीति अपनाई गई।

किन्तु यह नीति कुछ समय तक ही चली। अमेरिकावासियों को शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि '१९२१' का वर्ष '१८१५' नहीं था। वियना सभा के पश्चात् १०० वर्ष के दौरान में सामान्य रूप से विश्व तथा विशेष रूप से अमेरिका की सामुद्रिक स्थिति में भारी परिवर्तन आ गया था। युद्ध के आगामी वर्षों में अमेरिका ने सुरक्षा की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की, चाहे वह अपने आन्तरिक आर्थिक संकटों के विरुद्ध थी, अथवा विदेशों के आक्रमण के विरुद्ध। "किन्तु युद्ध के फलस्वरूप अपूर्व आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त करके जनता को विदेशियों की धन-लालसा का बड़ा भय था और उनको किसी घटना से अपनी रक्षा करने का अधिक ख्याल था। इतिहास की प्रगति से चित्र बड़ी शीघ्रता से बदलता जा रहा था और अमेरिका उपेक्षापूर्ण एवं एक दर्शक का दृष्टिकोण नहीं अपना सकता था।" जैसा कि प्रो० लिंक ने लिखा है—"**युद्ध विराम तथा महान् आर्थिक मंदी के बीच के वर्षों में अमेरिका की विदेश नीति 'एक ओर तो उत्तरदायित्वों की उलझन से सुलझने की सामान्य अभिलाषा तथा दूसरी ओर सहकारिता के आवश्यक साधनों के अपनाने के मध्य एक अव्यवस्था' प्रस्तुत करती है।**" वस्तुतः पृथकतावाद की अपनी घोषित नीति के बावजूद, अमेरिका की बढ़ती हुई शक्ति, उसके हितों, विश्व राजनीति की परिवर्तित स्थिति तथा अन्य परिस्थितियों ने उसे यूरोपियन एवं गैर-अमेरिकन मामलों में रुचि लेने को विवश कर दिया। १९१९ के बाद अमेरिका ने एक ऐसी नीति का पालन किया जिसे 'स्पर्शहीन सहयोग की नीति' कहा जा सकता है। वह 'सांप मरे, न लाठी टूटे' की कहावत चरितार्थ करना चाहता था। एक तरफ तो वह विश्व-नेता का मुकुट धारण करने का अभिलाषी था और दूसरी तरफ उसके धारण करने की चिन्ताओं से मुक्त भी रहना चाहता था। इस तरह यह एक ऐसी नीति थी जिसका उद्देश्य 'उत्तरदायित्व को वहन किये बिना शक्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति' था। पार्थक्यवाद के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करते हुए भी संयुक्त राज्य अमेरिका एक सीमा तक विश्व-राजनीति में भाग लेता रहा।

राष्ट्रसंघ के प्रति सहयोगी नीति—यद्यपि अमेरिकन सीनेट राष्ट्रसंघ को अस्वीकार कर चुकी थी, तथापि एक वर्ष से भी अल्पावधि में अमेरिका ने संघ की बैठकों में प्रेक्षकों (Observers) को भेजना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में शूमैन ने यह ठीक ही कहा है कि, "पहले इसकी उपेक्षा की गई, बाद में इसे *अनिवार्य तथ्य* के रूप में स्वीकार किया गया और अन्त में इसका उपयोग किया गया।" संघ के प्रति कुछ मृदु नीति पर चलते हुए न केवल जेनेवा में गैर-सरकारी निरीक्षक भेजे गये अपितु बाद में शस्त्रास्त्रों के, स्त्रियों के तथा अफीम के व्यापार का नियन्त्रण करने वाले संघ के सम्मेलनों में और स्वास्थ्य-सम्बन्धी योजनाओं में भी वाशिंगटन ने सहयोग दिया। वास्तव में १९२४ के बाद ही अमेरिका ने संघ की सभाओं में पूर्ण रूप से भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजना प्रारम्भ कर दिया जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थों की रक्षा के लिए सदैव सजग रहते थे। मार्च १९३० तक अमेरिकन प्रतिनिधियों ने ऐसे २२ सम्मेलनों में भाग लिया। १९३१ की समाप्ति से पूर्व अमेरिका संघ के संरक्षण में १३ समझौतों से संलग्न था और जेनेवा में ५ स्थाई अधिकारी रखता था। मंचूरिया संकट के समय तो अमेरिका ने स्वयं राष्ट्रसंघ की कार्यवाही में भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि—प्रेंटिस बी० गिल्बर्ट को भेजा। १९३४ में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का सदस्य भी बना।

निःशस्त्रीकरण, क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋणों की समस्या तथा अमेरिका—अमेरिकन सहयोग का दूसरा क्षेत्र निःशस्त्रीकरण, क्षतिपूर्ति और युद्ध ऋणों की समस्याओं को सुलझाने में भाग लेना था। निःशस्त्रीकरण तथा सुदूर पूर्व की समस्याओं पर विचार करने के लिए अमेरिका ने वाशिंगटन सम्मेलन आयोजित किया जिसके फलस्वरूप एक पंच-शक्ति नौ-सैनिक संधि पर हस्ताक्षर हुए। यह संधि निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों की एक उल्लेखनीय सफलता मानी जाती है जिसके द्वारा अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के बड़े युद्ध-पोतों का अनुपात ५:५:३:१.६७:१.६७ निर्धारित किया गया। १९२७ में राष्ट्रपति कूलिज (Coolidge) ने जेनेवा में एक दूसरी सभा आयोजित की जिसका उद्देश्य छोटे जहाजों, क्रूजरों, विध्वंसकों और पनडुब्बियों की सेना को निश्चित करना था। हूवर (Hoover) के आग्रह पर ब्रिटिश सरकार ने १९३० में लन्दन में एक निःशस्त्रीकरण नौ सम्मेलन बुलाया। फरवरी १९३२ में वाशिंगटन ने जेनेवा में राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित विश्व-निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भी सक्रिय भाग लिया।

अमेरिका ने विभिन्न आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में भी सक्रिय भाग लिया। क्षतिपूर्ति और युद्ध ऋणों की समस्याओं को हल करने के लिए

नियुक्त किए गए महत्वपूर्ण दावेस तथा यंग आयोगों के अध्यक्ष अमेरिकन वित्त विशारद ही थे। इन आयोगों द्वारा जर्मनी के लिए क्षतिपूर्ति की राशि पर्याप्त घटा दी गई तथा अदायगी की शर्तें भी आसान कर दी गयीं। १६३१ में, विश्व आर्थिक संकट के समय राष्ट्रपति हूवर ने ऋण तथा क्षतिपूर्ति दोनों की अदायगी के लिए एक वर्ष का स्थगन प्रदान किया। जून १६३३ के विश्व-आर्थिक सम्मेलन में भी अमेरिका ने सक्रिय योग दिया।

अमेरिका ने अपने आपको यूरोपीय राजनीति से पृथक बताते हुए भी अनिवार्य रूप से यूरोपियन आर्थिक प्रबन्धों में विशेष दिलचस्पी ली। नवम्बर १६१८ के युद्ध-विराम से पूर्व अमेरिका मित्र-राष्ट्रों को लगभग ७ खरब से अधिक डालर उधार दे चुका था और युद्ध निवृत्ति के बाद भी उसने अपने यूरोपियन मित्रों, तथा पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, इस्टोनिया, लेटविया, फिनलैण्ड, लिथुआनिया, आस्ट्रिया, हंगरी आदि राज्यों ३। खरब डालर का ऋण दिया। ये सब ऋण पुनर्निर्माण के कार्यों में दिये गये और 'युद्ध ऋण' के बजाय 'शांति ऋण' थे। अमेरिका ने अदायगी की व्यवस्था करते समय ऋण लेने वाले देशों की आर्थिक स्थिति का ख्याल रखा। जून १६२३ से मई १६३० के बीच के काल में अमेरिका ने रूस, निकारगुआ के अतिरिक्त १७ सरकारों से ऋण चुकाने के लिए समझौते किये। इन दायित्वों को पूरा करने के साधनों के लिये ऋणी राष्ट्र जर्मनी से क्षति-पूर्ति की राशि की प्राप्ति पर निर्भर थे। किन्तु क्षति-पूर्ति की यह राशि विभिन्न प्रयत्नों द्वारा निरन्तर कम होती चली गई और बाद में १६३२ में तो जर्मनी ने घोषणा ही कर दी कि वह क्षति-पूर्ति की शेष रकम नहीं चुकायेगा। दिसम्बर १६३२ में फ्रांस, बेल्जियम एव अन्य ४ सरकारों ने और बाद में फिनलैण्ड के अतिरिक्त अन्य सरकारों ने भी अमेरिका को अपनी अदायगी बंद कर दी। अन्त में, अप्रेल १६३४ में कांग्रेस ने जॉन्सन एक्ट (Johnson Act) पास किया जिसके अन्तर्गत अमेरिकन धनदाताओं को किसी ऐसी विदेशी सरकार के लिये ऋण देना निषेध कर दिया जिसने अमेरिका के ऋण चुकाने में कमी की हो।

केलाग ब्रियां पैक्ट—अमेरिकन सहयोग का एक अन्य क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान तथा पंचायती निर्णय से सम्बन्धित था। अमेरिका ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए साधनों की खोज में यूरोपियन शक्तियों का साथ दिया और हेग न्यायालय के कार्य से सहयोग किया। राष्ट्रपति टैफ्ट तथा विल्सन ने पंचायत के क्षेत्र को विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया था जिसमें हर प्रकार के प्रश्न, यहां तक कि राष्ट्रीय सम्मान के प्रश्न

राष्ट्रीय संधि की वार्ता चलाई थी जिसमें पंचायत से सम्बन्ध न रखने वाले प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य सभी विवादों के अन्वेषण के लिये एक कमीशन की तथा १ वर्ष के शान्तिपूर्ण काल की, जिसमें कोई दल शक्ति का सहारा न ले, व्यवस्था थी। महायुद्ध छिड़ जाने से इन प्रयासों में विघ्न पड़ गया, लेकिन युद्धोपरान्त ये प्रयास पुनः प्रारम्भ हो गये। इन प्रयासों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति २९ अगस्त १९२८ के केलांग-ब्रियां समझौते में हुई। युद्धों को रोकने का अमेरिका का यह एक सराहनीय प्रयास था। युद्ध को अवैधानिक घोषित करने वाले इस पैक्ट पर अमेरिका ने केवल हस्ताक्षर ही नहीं किये बल्कि इसकी पुष्टि के लिये प्रधानमंत्री मेकडोनेल्ड ने अक्टूबर १९२९ में घोषणा की—"हमारी दोनों सरकारें (ब्रिटिश व अमेरिकन) शान्ति पैक्ट को केवल अपनी सद्भावनाओं की घोषणाओं के रूप में स्वीकार करने का वचन ही नहीं देती बल्कि इसको प्रतिज्ञा के अनुसार अपनी राष्ट्रीय नीति का संचालन करने के लिये एक ठोस दायित्व के रूप में इसे स्वीकार करती हैं।" केलांग-ब्रियां समझौते का उद्देश्य विश्व के राष्ट्रों को राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का परित्याग करने और अपने विवादों का शान्तिपूर्ण साधनों से समाधान करने के लिये बांधना था। यद्यपि इस समझौते की यह कह कर आलोचना की गई कि यह ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा नियन्त्रित राष्ट्रसंघ के स्थान पर अमेरिकन नेतृत्व में एक वैकल्पिक विश्व-व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न था, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समझौते ने अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सहयोग की नीति को पुनर्जीवित कर दिया।

रूजवैल्ट युग (१९३३–१९४५): पार्थक्य से अन्तर्राष्ट्रीयवाद की ओर

४ मार्च, १९३३ को फ्रैंकलिन डी० रूजवैल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर आरूढ़ हुए और अमेरिकन विदेश नीति पार्थक्यवाद से शनैः शनैः अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर उन्मुख होने लगी। सितम्बर, १९३९ में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध की चिंगारी फूट पड़ने पर मित्र राष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए भी अधिकांश अमेरिकन जनता युद्ध से विलग रहना चाहती थी, किन्तु ७ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर पर आक्रमण ने अमेरिका को एक बार फिर यूरोप के महायुद्ध में कूद पड़ने के लिये विवश कर दिया।

राष्ट्रपति रूजवैल्ट अपनी प्रथम अवधि (१९३३–३७) में प्रायः अमेरिका की विषम आर्थिक समस्याओं को विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नये कानूनों (New Deal) द्वारा हल करने में लगे रहे। इस समय अनेक कारणों वश अमेरिका में युद्ध से पृथक रहने की नीति का ही प्राधान्य था। एरिक

रेमार्क के युद्ध विरोधी उपन्यासों से अमेरिकन शस्त्रास्त्र निर्माताओं के कामों की सीनेट द्वारा की गई जांच से हुए भंडाफोड़ से, मित्र राष्ट्रों द्वारा युद्ध ऋणों की अदायगी न करने से अमेरिका में युद्ध से विलग रहने की पृथकतावादी भावना को ही बल मिला। १९३७ में लिये गये 'गैलप पोल' (Gallup Poll) से मालूम हुआ कि ६४ प्रतिशत अमेरिकन जनता प्रथम महायुद्ध में अमेरिका के प्रवेश को एक गंभीर भूल समझती थी। इस समय सीनेट की विदेश समिति के २३ सदस्यों में से अधिकांश पार्थक्यवाद (Isolationism) के समर्थक थे। इसलिए, घरेलू कार्यों तथा वातावरण के दबाव से, कुछ काल के लिये रूजवेल्ट सरकार का अधिकांश ध्यान देश के आन्तरिक मामलों में ही लगा रहा और साथ ही अमेरिका को भावी यूरोपियन युद्धों में सम्मिलित होने से रोकने के लिये तटस्थता–कानून (Neutrality Law) बनाये जाने लगे।

तटस्थता–कानून—रूजवेल्ट जैसे प्रतिभावान राजनीतिज्ञ को यह समझते देर नहीं लगी कि जापान की आक्रामक-प्रवृत्तियां और यूरोप में हिटलर का उत्थान विश्वशांति के लिए कितना सांघातिक हो सकता था। उसे यह भी स्पष्ट हो गया कि फासिस्ट शक्तियों की आक्रामक गतिविधियां अमेरिका की सुरक्षा के लिये भी उतना ही बड़ा खतरा है जितना कि यूरोपियन जनतंत्रों के लिए। इसीलिये थ्योडोर रूजवेल्ट और वूडरो विल्सन के इस महान् उत्तराधिकारी ने विश्व के राजनीतिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण अभिनय करना चाहा और इसके लिए एक ऐसी नीति का अवलम्बन करना उचित समझा जिसके द्वारा आक्रामक राष्ट्रों का प्रतिरोध कर विश्व की स्वतन्त्रता और सुरक्षा की रक्षा की जा सके। रूजवेल्ट ने चाहा कि विदेश नीति को ऐसा रूप दिया जाये जिससे फासिस्ट आक्रमण की प्रगति को रोकने के लिए प्रयत्नशील सभी राष्ट्रों को हर सम्भव सहायता प्राप्त हो सके। परन्तु अमेरिकन जनता अपने राष्ट्रपति की इस भावना के अनुकूल नहीं थी। जैसा कि कहा जा चुका है सीनेट की विदेश समिति के अधिकांश सदस्य भी पार्थक्यवादी थे। अमेरिकन जनता में यह धारणा प्रबल हो चुकी थी कि अमेरिकन लोग एक अकुशल नेतृत्व तथा चातुर्यपूर्ण मित्र राष्ट्रीय प्रचार द्वारा प्रथम महायुद्ध में घसीट ले गये थे। वे ऐसी किसी भी घटना की पुनरावृत्ति को रोकने के हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ थे और इसी लिये उन्होंने विभिन्न तटस्थता-कानूनों का निर्माण किया।

पहला तटस्थता कानून ३१ अगस्त, १९३५ को पारित किया गया। इस कानून द्वारा किसी भी युद्धरत राष्ट्र को शस्त्रों और युद्ध सामग्री के निर्यात पर रोक लगा दी गई।

दूसरा तटस्थता कानून १९३७ में पारित हुआ जिसमें प्रसिद्ध "नकद दाम दो और माल ले जाओ" (Cash and Carry) के सिद्धांत का प्रति-

पादन किया गया और यह व्यवस्था की गई कि युद्धरत राष्ट्रों को निषिद्ध युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त अन्य सामग्री का निर्यात भी केवल तभी हो सकता है जब वे उस सामग्री का नकद मूल्य अदा करें और गैर-अमेरिकन जहाजों में उस सामग्री को ले जाय।

तीसरा और अन्तिम तटस्थता कानून नवम्बर १९३९ पास किया गया जिसमें तटस्थता व्यवस्थाओं को कुछ ढीला किया गया। योद्धा राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र बेचने का प्रतिबध "हटाकर नकद दाम दो और ले जाओ"। (Cash and Carry) की नीति लागू कर दी गई।

३१ अगस्त १९३५ से लेकर १९३९ तक जो विभिन्न तटस्थता विधियां पारित की गईं उनमें राष्ट्रपति पर यह बाध्यता डाली गई कि जब वह दो विदेशी राज्यों में युद्ध छिड़ने की स्थिति समझे तो इसकी घोषणा करदे और इसके बाद उपर्युक्त बातों की व्यवस्था करे अर्थात्, दूसरे शब्दों में, इन बातों को अवैध घोषित करदे—(१) योद्धा राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र सामग्री का बेचना, (२) ऐसी सामग्री का अमेरिकन जहाजों में योद्धा राष्ट्रों को भेजना, (३) अमेरिकन नागरिकों का योद्धा राष्ट्रों के जहाजों में यात्रा करना, (४) योद्धा राष्ट्रों की सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदना, (५) योद्धा राष्ट्रों के युद्ध-पोतों, पनडुब्बियों तथा सशस्त्र व्यापारिक जहाजों द्वारा अमेरिकन बन्दरगाहों का उपयोग करना। 'Cash and Carry' व्यवस्था का उद्देश्य सब उपायों से अमेरिका को युद्ध से अलग रखना था।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट और विदेश मंत्री कार्डेलहल को इन कानूनों की विवेकशीलता में सन्देह था क्योंकि इनमें आक्रामक और आक्रान्त दोनों ही देशों पर समान रूप से शस्त्रास्त्र भेजने पर प्रतिबंध लगाकर आक्रान्त देशों के प्रति अन्याय किया गया था, तथापि अपने राष्ट्रपतित्व के प्रारम्भिक चार वर्षों में रूजवेल्ट ने अपने देश की युद्ध-ग्रस्त न होने की नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया था तथा जनमत को बदलने की कोई चेष्टा नहीं की। जनवरी १९३७ के द्वितीय उद्घाटन-भाषण में भी राष्ट्रपति द्वारा वैदेशिक मामलों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया, उल्टे इसमें 'अभी अव्यवस्थित घरेलू समस्याओं का समाधान करने का इरादा प्रकट किया गया क्योंकि अभी तक देश के १/३ लोग निवासस्थल (घर), वस्त्र और भोजन से वंचित थे।"

कांग्रेस ने तटस्थता कानून की व्यवस्था जानबूझ कर की थी क्योंकि उसे इस बात का कोई भरोसा नहीं था कि रूजवैल्ट पार्थक्यवादी नीति का कठोरतापूर्वक पालन करेगा। फिर भी २९ फरवरी १९३७ को पारित किये गये दूसरे तटस्थता कानून में राष्ट्रपति को युद्ध की स्थिति घोषित करने में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक स्वतंत्रता दी गई। जब जुलाई १९३७ में स्पेन

का गृह-युद्ध छिड़ गया तो तटस्थता कानून में गृह-युद्ध सम्बन्धी कोई व्यवस्था न होने पर भी, अपनी उपरोक्त स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने स्वयंमेव दोनों पक्षों को शस्त्रास्त्र भेजने पर प्रतिबंध लगा दिया।

पृथकता का त्याग—यद्यपि प्रशासन ने अपने आपको यूरोपियन उलझनों से दूर रखा और राष्ट्रपति रूजवेल्ट भी अपने विवेक के विरुद्ध तटस्थतावाद पर आचरण करने के लिये बाध्य हुए, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को देखते हुए राष्ट्रपति ने कुछ ऐसे कदम उठाना आरम्भ किये जिनसे यह संकेत मिलने लगा कि मानों वे विदेशी उलझनों के पक्ष में अपनी तटस्थता त्यागने का विचार कर रहे हों। यूरोप में हिटलर की आक्रामक गतिविधियों ने, स्पेनिश गृह-युद्ध में हिटलर और मुसोलिनी के खुले हस्तक्षेप ने तथा चीन पर जापान के आक्रमण ने रूजवेल्ट को यह विश्वास दिला दिया कि पृथकतावाद के विरुद्ध जनमत को जागृत करने का समय आ गया था। फलस्वरूप, बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को दूर करने के लिये, ५ अक्टूबर १९३७ को राष्ट्रपति ने शिकागो में अपनी सुप्रसिद्ध "क्वारण्टीन वक्तृता" (Quarantine Speech) दी। यह वक्तृता सामान्य रूप से अमेरिकन विदेश नीति में परिवर्तन लाने वाली कही जाती है। वास्तव में यह विश्व की अवस्था पर एक ऐसा भाषण था जिसमें रूजवेल्ट ने अमेरिका के लिये तटस्थता के सिद्धान्त को अस्वीकृत किया और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की प्रशंसा की। अपने इस भाषण में रूजवेल्ट ने कहा—**"लुटेरे राज्यों ने आतंक का राज्य स्थापित कर लिया है। इनके आक्रमणों को पृथकत्ववाद या तटस्थता से नहीं रोका जा सकता है। अन्ततोगत्वा वे संयुक्त राज्य को चुनौती देंगे। जब कोई संक्रामक महामारी फैलती है तो समाज यह चाहता है कि इसके बीमारों को पृथक स्थान में रखने की क्वारण्टीन व्यवस्था द्वारा महामारी को रोका जाय। आक्रान्ता राष्ट्रों को भी इसी प्रकार रोकना चाहिए।"** वास्तव में अपनी इस वक्तृता में रूजवेल्ट ने "वर्तमान आतंक के शासन और अन्तर्राष्ट्रीय अवैधानिकता के विषय में अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं, अत्यधिक भयानक दृश्यों की भविष्यवाणी की और यह घोषित किया कि इन अव्यवस्थाओं में अमेरिका आक्रमण से 'दया या बचाव' की आशा नहीं कर सकता था तथा विश्व की जनसंख्या के ९० प्रतिशत भाग पर, जो शान्ति, स्वाधीनता और सुरक्षा की इच्छा करती थी, आक्रान्ता के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही की माँग की।"

राष्ट्रपति रूजवेल्ट के उपरोक्त भाषण का अन्तर्राष्ट्रीयवादियों ने बड़ा स्वागत किया और यह निष्कर्ष निकाला कि राष्ट्रपति ने आखिरकार अहस्तक्षेप और तटस्थता की नीति से हटने का निश्चय किया है और शान्तिप्रिय राष्ट्रों

के साथ सहयोग करते हुए आक्रामक जर्मनी, जापान और इटली के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही का समर्थन किया है।[1]

जहां अन्तर्राष्ट्रीयवादियों ने राष्ट्रपति के भाषण का स्वागत किया वहां बहुसंख्यक पृथकतावादियों ने राष्ट्रपति की बड़ी असभ्य भाषा में आलोचना की। पार्थक्यवादी शिकागो ट्रिब्यून आदि पत्रों ने इस वक्तृता का घोर विरोध किया और बड़े शान्तिवादी संगठनों में से छः ने यह घोषणा प्रकाशित की कि रूजवैल्ट "अमेरिकन जनता को उस मार्ग की ओर ले जा रहा है जिसका अन्त युद्ध में होगा।" यही नहीं "अमेरिका को युद्ध से अलग रखो" के एक विरोध पत्र पर २ करोड़ ५० लाख हस्ताक्षर कराने का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः इस समय तक लगभग ६४–६५ प्रतिशत अमेरिकन जनता संयुक्त राज्य अमेरिका के बाहरी किसी युद्ध में सम्मिलित होने की घोर विरोधी थी। अमेरिका की इस पृथकतावादी जनता ने और कांग्रेस ने पृथकता से हटने के राष्ट्रपति के इस आह्वान को ठुकरा दिया और इस तरह एक बार फिर तटस्थता की नीति की ही विजय हुई।

अमेरिकन जनता की इस प्रतिक्रिया से जर्मनी और इटली में फासिस्टवादी तथा जापान में युद्ध प्रिय व्यक्तियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यूरोपियन जनतंत्रों इंगलैण्ड और फ्रांस ने यह संदेह करना आरम्भ कर दिया कि अमेरिकन कभी जनतंत्र के शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध में उनको सहयोग नहीं देंगे। अमेरिकन राष्ट्रपति द्वारा 'क्वारण्टीन भाषण' में किये गये आह्वान की दयनीय असफलता से प्रोत्साहित होकर आक्रान्ता देशों ने अधिक साहसपूर्ण कदम उठाना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रपति के भाषण के दो माह बाद ही एक अमेरिकन 'जन बोट' को जापानी बमवर्षकों ने डुबो दिया, १४ मार्च १९३८ को ऑस्ट्रिया पर जर्मनी द्वारा अधिकार कर लिया गया और तत्पश्चात् हिटलर ने अपनी दृष्टि चेकोस्लोवाकिया पर डालनी प्रारम्भ कर दी। २९ सितम्बर १९३८ को "म्यूनिख पैक्ट" हुआ जिसके द्वारा जर्मन फौजों को १ अक्टूबर

---

1. "Internationalists greeted it with rejoicing as conclusive evidence that President Roosevelt had at last spurned in the name of United States, the principle of non-entanglement and non-intervention in the political and military operations of European and Asiatic powers, and had aligned himself on the side of full co-operation with peace-loving nation in designating and taking collective action against aggressors Germany, Japan and Italy."

—*Beard*

१९३८ को 'सूडेटन प्रदेश' (Sudetan Land) पर अधिकार करने की आज्ञा प्राप्त हो गई।

म्यूनिख समझौते की अमेरिका में तीक्ष्ण प्रतिक्रिया हुई और राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने राजनीतिक नीति में परिवर्तन कर दिया जिसका उद्देश्य आन्तरिक सुधारों की नीति की अपेक्षा संसार में सामूहिक सुरक्षा की नीति पर अधिक बल देना था। वास्तव में राष्ट्रपति रूजवैल्ट की यह पूर्ववर्ती धारणा अब और भी अधिक स्पष्ट और दृढ़ हो गई थी कि साम्राज्यवाद के बढ़ते हुए ज्वार को देखते हुए तटस्थतावादी नीति अमेरिकन हितों के प्रतिकूल थी। रूजवैल्ट को यह विश्वास हो गया था कि म्यूनिख समझौते का अर्थ 'शान्ति' नहीं बल्कि 'युद्ध' था। हिटलर ने भी शीघ्र ही इस बात का प्रमाण प्रस्तुत कर दिया कि शान्ति में विश्वास रखना चेम्बरलेन जैसे लोगों की एक भयंकर भूल थी। ९ अक्टूबर १९३८ को ही उसने जर्मन शस्त्रों के विस्तार की घोषणा करते हुए कह दिया कि उसे चेम्बरलेन के वायदों का विश्वास नहीं है। पहले से ही सचेत राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने हिटलर की इस घोषणा का तुरन्त ही बड़ा प्रभावशाली उत्तर दिया। हिटलर की घोषणा के २ दिन बाद ही उसने अमेरिका के सामुद्रिक व सैनिक शस्त्रों के ३००,०००,००० डालर की धन-राशि तक के विस्तार की घोषणा की और युद्ध-सम्बन्धी कच्चे माल को एकत्रित करने तथा आयात पर बल दिया। कांग्रेस अब भी पृथकतावाद के पक्ष में थी और इसलिये अधिक धन खर्च करने को अनिच्छुक थी। अतः सचिव कार्डेल हल ने गेहूँ और रुई के बदले इंगलैण्ड,हालैण्ड तथा बेल्जियम से रबर तथा टिन लेने के लिए समझौता किया। ४ जनवरी १९३९ को रूजवैल्ट ने कांग्रेस के सम्मुख अपने वार्षिक संदेश में चारों ओर से उमड़ते हुए युद्ध के बादलों का जिक्र किया और कांग्रेस को यह समझाने की कोशिश की कि बढ़ते हुए युद्ध के खतरे और विदेशों के झगड़े अमेरिका की धर्म, प्रजातंत्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास की तीन मुख्य और मौलिक संस्थाओं के लिए एक गंभीर चुनौती है। रूजवैल्ट ने अपने संदेश में कांग्रेस को साग्रह कहा कि तटस्थता कानून बदल दिया जाना चाहिए क्योंकि ऐसी सम्भावना हो सकती है कि इस कानून से आतंक का शिकार राष्ट्र अमेरिका की उचित सहायता से वंचित रह जाय।

अपनी नई गृह और वैदेशिक नीति निश्चित करके राष्ट्रपति ने यह निर्णय कांग्रेस और जनता पर छोड़ दिया कि वह इस नई नीति को प्रारम्भ करे या नहीं और यदि करे तो कब से। तटस्थता कानून को बदलने की दृष्टि से सात बिल प्रतिनिधि सभा में और चार बिल सीनेट में पेश किये गये। लेकिन प्रशासन (Administration) ने न तो उनका समर्थन किया और न ही कोई दूसरा रास्ता कांग्रेस को बताया।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां तेजी से बदलती गईं और महान शांति-वादी ब्रिटिश प्रधान मंत्री चेम्बरलेन तक शांति की नीति को त्यागने पर मजबूर हो गया। अमेरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी शस्त्रों के बंधन को एकदम हटाने के लिए अपने पूरे प्रभाव का प्रयोग किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अन्त में १८ जुलाई १९३९ को सीनेट के नेताओं के समक्ष राष्ट्र-पति ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह देश की रक्षा के लिए अपनी शक्ति-भर प्रयत्न कर चुका है और यदि आवश्यक कदम न उठाने की वजह से अमेरिका की सुरक्षा को कोई खतरा पहुँचता है तो इसका पूर्ण उत्तरदायित्व सीनेट पर होगा। इसी मध्य रूजवैल्ट और कार्डेलहल जर्मनी और इटली को आक्रामक कार्यवाहियों से निरत करने के लिए पूरा प्रयत्न करते रहे। २२ मार्च १९३९ को रूजवैल्ट ने इटली के नये राजदूत को यह स्पष्ट चेतावनी दी कि युद्ध प्रारम्भ होने की स्थिति में अमेरिका ब्रिटेन और फ्रांस को सहायता देगा लेकिन शांति के प्रयासों में मुसोलिनी से सहयोग करेगा। राष्ट्रपति की यह चेतावनी सम्पूर्ण संसार में घोषित की गई। इससे जहाँ ब्रिटेन एव फ्रांस में साहस की अभिवृद्धि हुई वहां हिटलर और मुसोलिनी की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी।

धुरी राष्ट्रों के आक्रामक इरादों के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता बढ़ती गई और अन्त में अमेरिकन कांग्रेस को राष्ट्रपति की युद्ध–सामग्री को बंधन–मुक्त कर देने की बात शांति तथा अमरीकी तटस्थता के हित में स्वीकार करनी पड़ी। इसी के परिणामस्वरूप नवम्बर १९३९ में तटस्थता कानून का संशोधन किया गया जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस नये कानून में यद्यपि अमेरिकन जहाजों का युद्ध–क्षेत्र में जाना निषिद्ध था, किन्तु इसमें योद्धा राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र बेचने का प्रतिबन्ध हटा लिया गया, वे "नकद दाम दो और ले जाओ" के अनुसार शस्त्रास्त्र का दाम चुका कर इन्हें अपने जहाजों में ले जा सकते थे। इस नये कानून का प्रत्यक्ष प्रभाव पश्चिमी जनतंत्रों को धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध सहायता पहुँचाने में परिणित हुआ। ब्रिटेन नौ–सेना का समुद्रों पर प्रभुत्व था, अतः वह इसका लाभ उठा सकता था। किन्तु जर्मनी, नौ–शक्ति में ब्रिटेन के समान सम्पन्न न होने के कारण, यह रण-सामग्री नहीं ले सकता था।

अमेरिका द्वारा तटस्थता कानून में उपरोक्त संशोधन से मित्र राष्ट्रों की सैनिक क्षमता में कोई प्रभावकारी वृद्धि न हो सकी। ज्यों-२ समय व्यतीत होता गया, हिटलर को विजय पर विजय प्राप्त होती गई। १९४० में जर्मनी द्वारा डेन्मार्क, नार्वे, बेल्जियम आदि जीत लिए जाने के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी सुरक्षा के लिए पूर्णरूप से सक्रिय हो उठा और उसने विभिन्न प्रकार की

रण-सामग्री तैयार करने तथा ५० हजार वायुयान प्रतिवर्ष बनाने की योजना बनाई। २४ जून १९४० को फ्रांस का भी पतन हो गया। फ्रांस के पतन तथा ब्रिटेन की मंडराती हुई पराजय से अमेरिकन जनता इतनी आशंकित हो उठी कि सब ओर जर्मन-आक्रमण की ही चर्चा होने लगी। १९४० की ग्रीष्म ऋतु से लेकर आगामी १२ महीनों में अमेरिकन कांग्रेस और प्रशासन ने अनेक ऐसे कदम उठाये जिनका परिणाम यह हुआ कि अमेरिका की तटस्थता का अन्त हो गया और जर्मनी के साथ अघोषित युद्ध प्रारम्भ हुआ। अमेरिकन सरकार की तरफ से उठाये गये कुछ प्रमुख कदम ये थे:—

(१) ब्रिटेन और फ्रांस को अमेरिका ने लड़ाकू जहाज और अन्य युद्ध-सामग्री खरीदने में प्राथमिकता दी।

(२) न्यू फाउन्डलैण्ड से ब्रिटिश गायना तक के आठ अड्डे निनानवें वर्ष के पट्टे पर लेकर उसके बदले ग्रेट-ब्रिटेन को सर्वाधिक आवश्यक ५० विध्वंसक (Des.royers) प्रदान किये गये, जो चर्चिल के शब्दों में एक सर्वथा 'तटस्थता विरोधी' कार्यवाही थी।

(३) अप्रेल १९४० में अमेरिका ने ग्रीनलैण्ड पर तथा जुलाई १९४० में आइसलैण्ड पर अधिकार कर लिया।

(४) सितम्बर १९४० में रूजवेल्ट ने जर्मन पनडुब्बियों के दिखाई पड़ते ही उन्हें डुबो देने का आदेश दिया।

(५) रूजवेल्ट के २९ दिसम्बर १९४० के भाषण में यह घोषणा की गई कि अमेरिका "प्रजातंत्र राज्यों का शस्त्रागार" (Ar.enal of Democracy) रहेगा।

(६) ११ मार्च, १९४१ को 'उधार-पट्टा अधिनियम" (Land-Lease Act) पास हुआ जिसके आधार पर अमेरिका तेजी से मित्रराष्ट्रों को समुद्री-जहाज, वायुयान, टैंक, मशीनें आदि प्रदान करने लगा।

(७) ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में अमेरिका में शस्त्रों के कारखानों का निर्माण किया गया।

(८) जून १९४१ में जर्मनी के रूस पर आक्रमण करने के पश्चात् ७ नवम्बर १९४१ को रूजवेल्ट ने उसे भी उधार पट्टे के अन्तर्गत सहायता प्राप्त करने योग्य घोषित कर दिया।

१९४२ तक अमेरिका ने ब्रिटेन तथा रूस को ८,२५,३०,००,००० डालर की युद्ध सामग्री भेजी।

स्पष्ट है कि वैधानिक रूप से तटस्थ रहते हुए भी अमेरिका वस्तुतः मित्रराष्ट्रों का सहयोगी बन गया था, यद्यपि अभी तक प्रत्यक्षतः वह धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध घोषित युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। नवम्बर १९४१ तक अमेरिकन जनता का केवल २० प्रतिशत भाग ही युद्ध में सम्मिलित होने का पक्षपाती था। किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकी और जापान ने उसे युद्ध के लिए विवश कर दिया। हिटलर द्वारा फ्राँस तथा हॉलैण्ड पर विजय प्राप्ति ने जापान को दक्षिण-पूर्वी एशिया में इनके उपनिवेशों को प्राप्त करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। हिटलर द्वारा रूस पर आक्रमण करने के बाद जापान सुदूरपूर्व में 'रूसी भालू' के भय से भी मुक्त हो गया। 'ब्रिटिश सिंह' अपने टापू की रक्षा करने में संलग्न था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति इस तरह की बन चुकी थी कि जापान के प्रभाव को रोकने वाली एकमात्र बड़ी शक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका थी। अमेरिका को चीन में जापान की आक्रामक कार्यवाहियां पहले से ही नापसंद थी और आर्थिक स्वार्थों का यह उग्र संघर्ष दोनों राष्ट्रों के मध्य मत-भेदों की खाई चौड़ी करता जा रहा था। जापान चीन को अपने साम्राज्य का अंग बनाने का इच्छुक था जबकि अमेरिका इसमें मुक्त-द्वार व्यापार-नीति का समर्थक और जापान के प्रसार का विरोधी था। जुलाई १९४१ में जापान-अमेरिका-सम्बन्धों में और भी अधिक बिगाड़ पैदा हो गया। जापान ने फ्रैंच-हिन्द-चीन में अपना आर्थिक विस्तार करना आरम्भ किया तो अमेरिका ने संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थित सारी जापानी पूंजी जब्त करके उस पर कठोर आर्थिक प्रतिबंध लगा दिया। स्पष्टतः अब ऐसी स्थिति पैदा हो गई जिसमें जापान दो ही मार्ग अपना सकता था—या तो वह अपनी विस्तारवादी योजनाओं का परित्याग कर देता अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका से युद्ध में जूझ जाता। कोनोये (Konoye) के जापानी मन्त्री-मण्डल ने अमेरिका से संधि के असफल प्रयास किये। अक्टूबर के मध्य में युद्ध-पिपासु जनरल हिदेकी तोजो (Tojo) जापान का प्रधान मंत्री बना। अब अमेरिकन प्रशासन को यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध की स्थिति टालना सम्भव नहीं है। फिर भी दोनों देशों के मध्य संधि-वार्ता चलती रही। ६ दिसम्बर को अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने शांति बनाये रखने के लिए जापान के सम्राट हिरोहितो से व्यक्तिगत प्रार्थना की। जापानी राजदूत और अमेरिकन विदेश मंत्री ने उसी दिन संधि प्रस्तावों पर विचार-विमर्श किया।

किन्तु जापान तो शक्ति-मद में चूर होकर युद्ध के लिए तुला बैठा था। अगले ही दिन ७ दिसम्बर को प्रातःकाल ७-५५ पर हवाई द्वीप के पर्ल-हार्बर के अमेरिकन नौसैनिक अड्डे पर जापान ने आकस्मिक और अप्रत्याशित भयानक हमला कर दिया। इस सहसा आक्रमण से न केवल नौसैनिक अड्डे को ही

भीषण क्षति पहुँची वलिक सम्पूर्ण अमेरिका स्तब्ध रह गया। अब तक तो संयुक्त राज्य अमेरिका में युद्ध में सम्मिलित होने अथवा न होने के प्रश्न पर गम्भीर मतभेद था, किन्तु जापान के अप्रत्याशित आक्रमण ने इन मतभेदों को समाप्त कर दिया और ८ दिसम्बर १९४१ को सीनेट ने सर्वसम्मति से जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ११ दिसम्बर को जर्मनी पर इटली ने संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और प्रत्युत्तर में अमेरिका ने भी उनके विरुद्ध युद्ध का जयघोष कर दिया। अब पुरानी दुनियां तक सीमित युद्ध नई दुनियां में आ गया जिसने इसे द्वितीय महायुद्ध का रूप दे दिया।

संयुक्त राज्य अमेरिका और सुदूर पूर्व

यूरोप के सम्बन्ध में अमेरिकन विदेश नीति पर विस्तार से चर्चा करने के बाद अब हम अमेरिकन और सुदूरपूर्व के सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे। **अमेरिका की पृथकतावादी नीति केवल यूरोपियन मामलों तक ही सीमित थी, सुदूर-पूर्व तथा लेटिन अमेरिका के मामलों में उसने प्रारम्भ से ही सक्रिय भाग लिया था।** पश्चिमी राष्ट्रों के साथ उसने भी सुदूर-पूर्व में अपने हितों की वृद्धि की चेष्टा की। जब अफीम-युद्ध (Opium War) के पश्चात् ब्रिटेन ने नानकिंग की संधि द्वारा हांगकांग का द्वीप और ५ अन्य बन्दरगाहों में व्यापारिक-सुविधायें प्राप्त कर लीं तो अमेरिका ने भी ३ जुलाई १८४४ को वांघिया (Wanghia) की संधि द्वारा इन पांचों वन्दरगाहों में व्यापारिक सुविधायें हासिल कर लीं। १८५३ में अमेरिकन नौसेनापति पैरी ने जापान को दो वन्दरगाह विदेशियों के लिए खोलने को बाध्य कर दिया। यद्यपि अमेरिका अपने उपरोक्त कदमों के फलस्वरूप सुदूर पूर्व में अपनी कुछ-कुछ हित-वृद्धि करने को प्रयत्नशील रहा तथापि १८९८ **तक उसने सुदूर-पूर्व में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं ली।** उसकी गतिविधियां उस क्षेत्र में सामान्य सीमाओं के भीतर ही रहीं। १८९८ में अमेरिकन-स्पेनिश युद्ध के फलस्वरूप अमेरिका को प्रशान्त महासागर में गुआम, हवाई तथा फिलीपाइन (Guam, Hawai and Phillipines) द्वीप समूह प्राप्त हुए। जब प्रशान्त महासागर में अमेरिका के हित स्थापित हो गये तो फिर उसके लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह चीन में हो रही घटनाओं पर सजग दृष्टि रखे। चीन में गठित होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव प्रशान्त में अमेरिकन हितों पर पड़ सकता था, अतः अमेरिका के लिए उस पर दृष्टि रखना जरूरी था। उस समय पश्चिमी शक्तियां सम्पूर्ण चीन में सुविधायें प्राप्त करने के लिए वन्दर-बाँट में लगी रहीं। इस 'सुविधाओं के युद्ध' (Battle of Concessions) के फलस्वरूप उन्होंने लगभग सम्पूर्ण चीनी देश को अपने 'प्रभाव क्षेत्रों में'

है। यदि इन मांगों को पूर्णत: स्वीकार कर लिया जाता तो इसका स्पष्ट ही यह अभिप्राय होता कि चीनी गणराज्य जापान का संरक्षित राज्य बन गया है। लेकिन काफी विचार-विमर्श के बाद अन्त में दोनों देशों में २५ मई १९१५ को एक संधि हो गयी।

संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकते थे जब जापान अमेरिका की 'मुक्तद्वार' (Open door) नीति का अनुमोदन करता और उसके अनुकूल आचरण प्रदर्शित करता। लेकिन 'मुक्त द्वार' नीति का अनुसरण करना तो दूर रहा, उसकी 'इक्कीस मांगों' में इसका स्पष्ट खण्डन था। अमेरिकन विदेश मंत्री Bryan ने इस नीति के उल्लंघन का विरोध करते हुए चेतावनी रूप में जापान को कहा कि **"संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार किसी ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं कर सकती, जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका के संधियों द्वारा प्राप्त अधिकारों का और चीन की राजनीतिक या प्रादेशिक अखंडता का अथवा 'मुक्तद्वार' नीति का हनन होता हो।"**[1]

जापान ने कुछ समय तक तो टालम टोल की नीति अपनायी, किन्तु ६ अप्रैल १९१७ को अमेरिका के युद्ध में प्रवेश करने पर और इस प्रकार जापान का युद्ध-साथी बन जाने पर स्थिति में परिवर्तन हुआ। स्वार्थों की एकता के कारण टोकियो और वाशिंगटन निकटतम आये तथा जापानी राजनीतिज्ञ इशी (Ishii) ने वाशिंगटन आकर अमेरिका के विदेश मंत्री लैनसिंग से २ नवम्बर १९१७ को एक समझौता किया। लैनसिंग-इशी समझौते के द्वारा "संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान की सरकारों ने यह स्वीकार किया कि प्रादेशिक समीपता (Territorial propinquity) देशों में विशेष सम्बन्ध उत्पन्न कर देती है। फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार यह स्वीकार करती है कि चीन में जापान के विशेष हित अथवा स्वार्थ हैं और ये विशेषत: उन प्रदेशों में है जो जापानी प्रदेश के साथ लगे हुए हैं।" इस समझौते का यह स्वाभाविक अभिप्राय था कि अमेरिका ने जापान के दृष्टिकोण को मान लिया तथा शाण्टुंग पर जापानी दावा स्वीकार कर लिया। वास्तव में युद्ध की समाप्ति पर अमेरिका और जापान में संबंध अच्छे हो गये किन्तु दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार की स्थिति शीघ्र ही क्षीण हो चली और १९१८ से १९२० तक उनके पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ते चले गए। जापान शाण्टुंग पर और प्रशान्त में स्थित जर्मन टापुओं पर अधिकार करना चाहता था, और अमेरिका ब्रिटेन तथा फ्रांस जापान पर यह आरोप लगाते थे कि उसने जर्मनी को पराजित करने में बहुत कम दिलचस्पी ली है

1. "U. S. cannot recognise any agreement or undertaking which has been entered into or which may be entered into between the Governments of Japan and China impairing the treaty rights of the United States and its citizens in China, the political or territorial integrity of the Republic of China or the international policy relative to China commonly known as the open door policy."

—*Bryan*

जबकि इस अवसर पर चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने का अधिकतम प्रयास किया है। १९१८-१९ में अमेरिका ने साइवेरियन हस्तक्षेप में भाग लिया ताकि जापान साइबेरिया और दक्षिण मंचूरिया में अपने पैर न फैल सके।

स्पर्धा बड़ी तीव्र हो चली। पेरिस की शांति-सभा में अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने गुप्त संधियों का पालन करने से इन्कार कर दिया जिनको जापान ने अपने यूरोपियन मित्रों के साथ किया था, तथा उसने 'लैनसिंग-इशी' [Lansing-Ishii] समझौते के विषय में भी अनभिज्ञता प्रकट की। अमेरिकन प्रतिनिधि मण्डल के विरोध के समक्ष जापान ने शांति-सभा से अलग होने की धमकी दी, ब्रिटेन के लॉयड जॉर्ज तथा फ्रांस के क्लेमेंसो द्वारा काफी दबाव डाले जाने पर और शांति-सभा के भंग होने से डर कर ही विल्सन ने जापानी दावों को मान लिया।

(२) **याप द्वीप का झगड़ा**—जिस तरह पेरिस की संधि के समय अमेरिका और जापान के मध्य अनेक मामलों में उग्र मतभेद प्रकट हुए, उसी तरह प्रशान्त महासागर में विद्यमान 'याप' नामक छोटे से टापू के स्वामित्व के प्रश्न पर दोनों देशों के मध्य तना-तनी बढ़ी। जापान ने इस टापू को जर्मनी से लिया था। यह टापू सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यह गुआम से मनीला जाने वाले और इण्डोनेशिया से संघाई जाने वाले समुद्री तारों का केन्द्र था। पेरिस की शांति-सभा में राष्ट्रपति विल्सन ने इस टापू के अन्तर्राष्ट्रीयकरण पर बहुत बल दिया था ताकि यह जापान के पूर्ण अधिकार में न जा सके। लेकिन विल्सन की मंशा के विपरीत शांति-सभा ने इसका शासनादेश [Mandate] जापान को दे दिया। "फिलीपाइनद्वीप समूह से संयुक्त राज्य अमेरिका को समुद्री तार द्वारा जोड़ने का महत्वपूर्ण केन्द्र" जापान के हाथ में चला गया। अमेरिका के लिये यह घटना बड़ी चिन्ता का विषय बन गई और दोनों ही देशों के मध्य संघर्ष कटुतर हो गया।

(३) **ऐंग्लो-जापानी-संधि**—जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य मतभेदों में वृद्धि करने में १९०२ की ऐंग्लो-जापानी-संधि [Anglo-Japanese-Alliance] भी बड़ी सहायक हो रही थी। इस संधि के अनुसार वाशिंग्टन को यह आशंका थी कि यदि कभी जापान और अमेरिका में युद्ध छिड़ा तो संधि की शर्तों के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन जापान की ओर से लड़ेगा। वाशिंग्टन की इस चिंता और आशंका का निवारण करने के लिये १९११ में उपरोक्त संधि का नवीनीकरण (Renewal) करते समय उसमें एक नई धारा जोड़ी गई। तथापि प्रथम महायुद्ध के बाद पेरिस की शांति-परिषद् में अमेरिका ने यह अनुभव किया कि यह संधि एशिया में जापान के हितों की रक्षा करने के लिये एक जबरदस्त ढ़ाल है। अमेरिका को इस संधि की तरफ से इतना आशंकित देखने के कारण १९२० में संधि के पुनः नवीनीकरण के समय ब्रिटेन ने यह आश्वासन दिया कि वाशिंगटन और टोकियो अमेरिका और जापान में होने की सूरत में इस संधि को लागू नहीं किया जायगा। यह कहा गया कि उपरोक्त संधि तो रूस और जर्मनी के खतरे को रोकने के लिए की गई थी। परन्तु अमेरिका का विचार था कि अब जबकि रूस और अमेरिका दोनों ही की शक्ति समाप्त हो चुकी थी तो यह संधि स्वाभाविक रूप से

उसी के विरुद्ध थी। अमेरिकन लोगों की चिन्ता के विपरीत ग्रेट ब्रिटेन के सामने प्रमुख समस्या यह थी कि नई संधि हो जाने के उपरान्त वह अमेरिका की 'मुक्त द्वार' नीति का समर्थन करे अथवा जापान के 'विशेष स्वार्थों के' सिद्धान्त का पोषण करे।

(४) **नौ-सैनिक होड**—दोनों देशों के मध्य समस्यायें तब और भी उग्र हो गई जब उनमें परस्पर नौ सैनिक शक्ति में अभिवृद्धि की खतरनाक दौड़ शुरू हुई। जापान की तरफ से आशंकित संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अपनी नौ सेना बढ़ाने का निश्चय किया। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जापान ने नौ सेना के क्षेत्र में वाशिंगटन से भी आगे बढ़ने का संकल्प किया। जापान की शंका ने ब्रिटेन और अमेरिका के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में अभिवृद्धि की। जापान के मन में यह धारणा घर कर गई कि दोनों राष्ट्र सयुक्त रूप से उसके विरुद्ध युद्ध करेंगे, अत: उसे अपना नौसैनिक बेड़ा अत्यन्त सुदृढ़ और विशाल बनाना चाहिये। ब्रिटेन भी सबसे बड़ी सामुद्रिक शक्ति होने के कारण इस नौसैनिक होड में पीछे नहीं रहना चाहता था।

यद्यपि तीनों ही देशों ने नौसैनिक प्रतिद्वन्द्विता शुरू कर दी, किन्तु तीनों ही यह अनुभव करते थे कि इस प्रकार की होड़ कर सकना उ के सामर्थ्य से परे की बात है। महायुद्ध के फलस्वरूप ब्रिटेन के आर्थिक स्रोत सूख चुके थे, जापान आर्थिक दृष्टि से अमेरिका जैसे समृद्ध देश का मुकाबला नहीं कर सकता था और अमेरिका की शक्तिशाली रिपब्लिकन तथा डेमोक्रेट दोनों ही पार्टियां शस्त्रों में भारी कटौती के पक्ष में थी।

सम्मेलन आयोजन और उसमें सम्पन्न की गई संधियां—उपरोक्त परिस्थितियों में नौसैनिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के लिये और सुदूर पूर्व की समस्याओं को हल करने के लिये वाशिंगटन में ११ अगस्त को एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। राष्ट्रपति हार्डिंग ने ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, चीन, बेल्जियम, हालैण्ड और पुर्तगाल को निमंत्रित किया। रूस को छोड़कर सुदूर पूर्व रखने वाले अमेरिका सहित नौ राष्ट्र इसमें सम्मिलित हुए। सम्मेलन ने १२ नवम्बर १६२१ से ६ फरवरी १६२२ तक की अवधि में ७ संधियाँ की और १२ प्रस्ताव पास किये। चीन और जापान में शाण्टुंग के सम्बन्ध में तथा संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के मध्य याप तथा अन्य टापुओं बारे में समझौते किये गये। ये विभिन्न समझौते इतने महत्वपूर्ण थे कि आगामी एक दशाब्दी तक इनके द्वारा सुदूर पूर्व की राजनैतिक स्थिति का तथा अमेरिका और जापान की स्थिति का नियंत्रण होता रहा।

वाशिंगटन सम्मेलन में निम्नलिखित संधियां की गई—

(१) **पंच शक्ति नौ सैनिक संधि [The Five Power Neval Treaty]**—इस संधि का विस्तार से उल्लेख निःशस्त्रीकरण वाले अध्याय में किया जा चुका है। इस संधि के अन्तर्गत अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के बड़े युद्धपोतों (Capital Ships) का अनुपात क्रमशः ५ : ५ : ३ : १ : ·७५ : १·७५ निश्चित किया गया। १० वर्ष तक नये युद्ध पोतों का निर्माण बन्द कर दिया गया। बड़े युद्धपोतों (Capital Ships) को ३५ हजार टन तक तथा १६ इंची तोपों तक और विमानवाहकों (Aircraft Carriers) को २७ हजार टन तथा ८ इंची तोपों तक मर्यादित

कर दिया गया। यह संधि ३१ दिसम्वर १६३६ तक के लिये की गई। इसके बाद २ वर्ष का नोटिस देकर हस्ताक्षरकर्ता कोई भी शक्ति उसको समाप्त कर सकती थी।

(२) पहली नव शक्ति मुक्त द्वार संधि [Nine Power open Door Treaty]—इस संधि में सम्मेलन में उपस्थित सभी नौ राष्ट्रों ने यह वचन दिया कि (i) वे चीन की सर्वोच्च सत्ता, प्रादेशिक तथा प्रशासनात्मक अखंडता का सम्मान करेंगे; (ii) चीन में सब देशों को व्यापार का समान अवसर होगा; और (iii) चीन के निश्चित भू भागों में विशेष स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रभाव क्षेत्र सुरक्षित बनाने सम्बन्धी कोई कार्यवाही नहीं होगी।

इस मुक्त द्वार संधि का अमेरिकन लोगों ने बड़ा स्वागत किया क्योंकि उनके मन में यह अमेरिकन 'मुक्त द्वार' नीति की विजय थी। वे इसे 'चीन का मैग्नाकार्टा' मानते थे। परन्तु यह संधि वास्तव में अनेक दृष्टियों से दोष-पूर्ण थी। इसकी क्रियान्विति प्रमुखतः महाशक्तियों की सदभावना पर आधारित थी क्योंकि संधि में इसके पालन कराने सम्बन्धी कोई व्यवस्था नहीं की गई। बस (Buss) के शब्दों में "यह सामूहिक सुरक्षा का समझौता नहीं था अपितु महाशक्तियों द्वार स्वेच्छा से कुछ अधिकार छोड़ने की घोषणा मात्र था।" ग्रिस वोल्ड के अनुसार यह संधि सुदूरपूर्व के विरोधी स्वार्थों में उसी सीमा तक शान्ति स्थापित रख सकती थी जिस सीमा तक स्याही और कागज द्वारा शान्ति बनाये रखना संभव था।"

(३) दूसरी नव शक्ति संधि [Nine Power Treaty]—इस संधि द्वारा चीन को अपने देश में आने वाली वस्तुओं पर कर लगाने के पहले से अधिक अधिकार दिये गये।

(४) चतुं शक्ति शान्ति संधि [Four Power Pacific Treaty]—ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और जापान इन चार शक्तियों के मध्य १३ दिसम्बर १६२१ को एक १० वर्षीय शान्ति संधि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा १६०२ की ऐंग्लो-जापानी संधि समाप्त कर दी गई। चातुर्शक्ति शान्ति संधि की शर्तें इस प्रकार थीं—(i) चारों देश प्रशान्त महासागर में एक दूसरे के टापुओं और वशवर्ती प्रदेशों का सम्मान करेंगे, (ii) प्रशान्त महासागर में यदि अपने अधिकारों के सम्बन्ध कूटनीति द्वारा किन्हीं प्रश्नों का हल न हो तो ऐसे प्रश्नों का निर्णय सम्मेलन द्वारा हल किया जाय, (iii) संधिकर्ता देशों को यह अधिकार होगा कि यदि किसी महाशक्ति की आक्रमणात्मक कार्यवाही द्वारा उनके अधिकारों को क्षति पहुँचने की संभावना हो तो वे इस सम्बन्ध में एक दूसरे के साथ पूरा पत्र व्यवहार कर सकते हैं। इस संधि से अमेरिका की सुदूरपूर्व सम्बन्धी चिन्ता और आशंका बहुत हद तक दूर हो गई।

(५) छः शक्ति संधि (Six Power Treaty)—यह संधि जर्मन के समुद्र तटों को ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रांस, इटली और चीन मे बांटने के लिए सम्पन्न की गई।

(६) चतुर्शक्ति सन्धि (Four Power Treaty)—यह संधि ब्रिटेन अमेरिका, फ्रांस तथा जापान के मध्य हुई जिसके अनुसार इन राष्ट्रों ने प्रशान्त महासागर में स्थित टापुओं में विभिन्न शक्तियों के अधिकारों के सम्मान और उनकी सुरक्षा का निश्चय किया।

चीन-जापान के समझौते (Sino-Japanese Agreement) द्वारा जापान ने सम्पूर्ण जर्मन साम्पत्तिक अधिकार चीन को देने का निश्चय किया। लेकिन जापान को १५ Tsian–Tsingtas की रेलवे पर १५ वर्ष तक नियंत्रण रखने का अधिकार मिला।

(७) **अमरीकी-जापानी संधि—याप (Yap) समझौता**—याप प्रशान्त-महासागर में कैरोलाइन द्वीप समूह के पश्चिम में ८० वर्ग मील का चार टापुओं का समूह है यह उस समय प्रशांत महासागर में से होकर जाने वाले सामुद्रिक तारों का महत्वपूर्ण केन्द्र था। इसके अतिरिक्त इसकी महत्ता इसलिये भी थी कि इन्डोनेशिया के साथ सम्बन्ध का केवल यही मार्ग था तथा चीन के साथ सम्बन्ध के दो तार-मार्गों में से एक यहां से होकर जाता था। जापान इस महत्वपूर्ण तार-केन्द्र पर अपना पूर्ण प्रभुत्व रखना चाहता था तथा संघाई जाने वाले इस तार-मार्ग को एक अन्य टापू नावा (Nawa) पर से जाना चाहता था। अमेरिका याप टापू पर जापान के सर्वाधिकारी प्रभाव को सहन नहीं कर सकता था। पेरिस के शांति सम्मेलन में भी राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिकन पक्ष को स्पष्ट करते हुये इस टापू के अन्तर्राष्ट्रीयकरण (Internationalization) पर बहुत बल दिया था। किन्तु शान्ति-सम्मेलन ने इस टापू को जापान का संरक्षक प्रदेश बना दिया। फिलीपाइन द्वीप-समूह से संयुक्त राज्य अमेरिका को समुद्री तार द्वारा जोड़ने का महत्वपूर्ण केन्द्र जापान के हाथ में चला जाना वाशिंगटन के लिये गहरी चिंता का विषय था और इससे दोनों ही देशों के मध्य तनाव ने गम्भीर रूप ले लिया। वाशिंगटन सम्मेलन में इस याप टापू के बारे में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इस द्वीप समूह में अमेरिका को जापान के तुल्य समानाधिकार और स्वतंत्र प्रवेश का अधिकार मिल गया।

वाशिंगटन सम्मेलन के परिणाम—वाशिंगटन सम्मेलन को अपने समय की एक बड़ी सफलता माना जाता है और कहा जाता है कि प्रथम महायुद्ध के बाद अमरीकी जापानी सम्बन्धों तथा सुदूरपूर्व की समस्याओं की दृष्टि से यह सम्मेलन एक ऐतिहासिक और सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। १९१९ का पेरिस का शांति--सम्मेलन जिस समस्या को सुलझाने में असफल रहा था, उस समस्या को सुलझाने में वाशिंगटन सम्मेलन एक बड़ी सीमा तक सफल हुआ। शांति--सम्मेलन यूरोप के मामलों में अवश्य ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ था लेकिन सुदूरपूर्व में जापान तथा अमेरिका के उग्र-मतभेदों को और खतरनाक नवसैनिक प्रतिद्वन्द्वता को समाप्त नहीं कर पाया था। वाशिंगटन सम्मेलन इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुआ, चाहे अपनी कुछ निश्चित कमियों के कारण भविष्य में वह भले ही निष्प्रभाव हो गया हो। वाशिंगटन सम्मेलन के आयोजन के दो प्रधान लक्ष्य थे—(१) ब्रिटेन, अमेरिका और जापान के नौ सैनिक होड को समाप्त किया जाय तथा (२) जापान की बढ़ती हुई शक्ति पर अंकुश लगाकर चीन की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा की जाय और वहां सब देशों को व्यापार के समान अवसर उपलब्ध हों ऐसी व्यवस्था की जाय। सम्मेलन ने अपने इन दोनों ही प्रमुख लक्ष्यों में उल्लेखनीय सफलता अर्जित की। पंचशक्ति नौसैनिक संधि (Five Power Treaty) ने प्रथम लक्ष्य की तथा चतुर्शक्ति शांति संधि (Four Power Pacific

Treaty) ने द्वितीय लक्ष्य की पूर्ति की। वाशिंगटन सम्मेलन ने जापान की बढ़ती हुई शक्ति को रोका और उसे केवल चीन के एकाधिकारी लाभ से ही वंचित नहीं कर दिया बल्कि ब्रिटेन और अमेरिका के मुकाबले उसे नीचा स्थान भी दिया गया। वाशिंगटन सम्मेलन के प्रभाव को व्यक्त करते हुये मेकनेअर और लाच (MacNair and Lach) ने लिखा है कि, "चतुःशक्ति प्रशान्त संधि और पंचशक्ति नौ-सैनिक ऐंग्लो जापानी संधि को समाप्त करने के अतिरिक्त यह परिणाम भी हुआ कि अमरीका और जापान या ग्रेट ब्रिटेन के मध्य युद्ध की सम्भावना अनिश्चित काल के लिये टल गई।"[1]

वाशिंगटन सम्मेलन की सन्धियों से लगभग १० वर्ष तक सुदूर पूर्व में स्थिरता और शान्ति बनी रही. **तथापि इन सन्धियों में कुछ गम्भीर दोष विद्यमान थे। प्रथम बड़ा दोष** तो यही था कि संधि द्वारा शस्त्रास्त्रों पर नियन्त्रण बहुत सीमित मात्रा में लगाया गया था। प्रतिबन्ध केवल बड़े युद्ध पोतों के निर्माण पर ही लगाया गया था। नौ सेना के अन्य प्रकार के जहाज और स्थानीय सेना प्रतिबन्धों से मुक्त थी। परिणामस्वरूप इस सम्मेलन द्वारा शस्त्रीकरण की प्रवृत्ति का विरोध बहुत अल्प अंश में ही हो सका और व्यवहार में निःशस्त्रीकरण की समस्या लगभग ज्यों की त्यों बनी रही। **दूसरा दोष** यह था कि सम्मेलन में चीन में सब महाशक्तियों को समान अवसर देने की बात तो कही थी लेकिन इसे क्रियान्वित करने की कोई व्यवस्था प्रतिपादित नहीं की। सम्मेलन में शामिल होने वाले राज्यों ने उन संधियों को रद्द नहीं किया था जो पिछले सौ वर्षों से उन्हें चीन में सुविधायें प्रदान कर रही थी। अमेरिका और ब्रिटेन ने चीन की अखंडता सुरक्षित रखने पर इसलिये बल दिया था कि जापान चीन पर हावी न हो सके, परन्तु चीन में प्राप्त अपने विशेषाधिकारों को उन्होंने भी पूर्णतः सुरक्षित ही रखा। अतः स्पष्ट था कि आर्थिक अवसर की समानता एक खोखला आदर्श था जिसका एकमात्र अभिप्रायः अपने स्वार्थों की रक्षा करते हुए जापान को चीन में प्रभुत्व बढ़ाने से रोकना था। सम्मेलन द्वारा की गई व्यवस्था चीन और जापान दोनों ही देशों के लिये समान रूप से असन्तोषजनक थी। **तीसरा बड़ा दोष** यह था कि सम्मेलन की संधियों ने जापान को नाराज कर दिया। जापान युद्ध से ऊबा हुआ था और आर्थिक दृष्टि से अमेरिका के समान समृद्ध न था। अतः नौ-सैनिक प्रतिस्पर्द्धा से बचने के लिये परिस्थितियों वश ही जापान ने सम्मेलन की संधियों को स्वीकार किया था, अन्यथा उसके युद्ध प्रेमी सेनापति इन्हें बड़ी अन्यायपूर्ण और अपमानजनक संधियां मानते थे। पंच शक्ति नौ-सैनिक संधि में नौ-शक्ति का जो अनुपात निश्चित किया गया था उसमें जापान को हीन स्थिति प्रदान की गई थी। चतुर्शक्ति प्रशान्त महासागरीय समझौता (Four Power Pacific Treasy) से भी जापान को पूरा असंतोष था। इसे वह अपने पुराने मित्र इंगलैंड के विश्वासघात के कारण अमेरिका द्वारा अपने पर जबरदस्ती थोपा हुआ समझता था। इसी प्रकार उस नव-शक्ति संधि को भी वह अपने प्रति अन्यायमूलक मानता था जिसके द्वारा चीन में

---

1 *MacNair and Lach* : Modern Far Eastern International Relations, P. 180.

उसकी प्रभुता के प्रसार पर अंकुश लगाने की चेष्टा की गई थी। जापान की इस प्रबल नाराजगी और क्रोधाग्नि का परिणाम ही यह निकला कि बाद में मंचूरिया और पर्लहार्बर पर उसके भीषण आक्रमण हुए।

वाशिंगटन सम्मेलन के प्रभाव का बड़ा विवेकपूर्ण विवेचन करते हुए श्री कार (Carr) ने ठीक ही लिखा है कि—

"वाशिंगटन सम्मेलन को सकारण ही एक महत्वपूर्ण सफलता माना गया था। उसके फलस्वरूप कम से कम ऊपरी तौर पर प्रशान्त महासागर में युद्ध-पूर्व का शक्ति-संतुलन पुनः स्थापित हो गया। दृढ़ ऐंग्लो-अमरीकी मोर्चों से भयभीत होकर और विश्व लोकमत के नैतिक दबाव के कारण, जापान ने यद्यपि प्रकट रूप से अपनी पराजय स्वीकार नहीं की थी, तथापि अपनी महत्वाकांक्षाओं पर बहुत अधिक अंकुश लगाना उसने स्वीकार कर लिया था। चीन की मुख्य भूमि (Mainland) पर युद्ध के समय उसे जो एकमात्र प्राप्ति हुई थी, उसका भी परित्याग कर देने के लिये उसे राजी कर लिया था। अब उसने ब्रिटिश साम्राज्य और अमेरिका के साथ नौ-सैनिक समानता का दावा करने का साहस किया किन्तु ब्रिटिश और अमरीकी बेड़े का ७० प्रतिशत टन बेड़ा रखने की उसकी मांग कम कर ६० प्रतिशत करदी गई। इस प्रकार चीन की अखंडता और प्रशांत महासागर में ऐंग्लो-अमरीकी सामुद्रिक प्रभुत्व को जापानी खतरा दूर किया जा चुका था। किन्तु फिर भी वाशिंगटन सन्धियों से उत्पन्न स्थिति खतरे से खाली नहीं थी क्योंकि एशिया की मुख्य भूमि पर आगे बढ़ने की अपनी नीति को जापान ने अपनी अनिच्छा-पूर्वक ही त्यागा था। कभी न कभी, अपनी शक्ति से परिचित होते ही, जापान वाशिंगटन समझौते से हुई अपनी प्रतिष्ठा-हानि का विरोध करता ही। यह मूल प्रश्न कि सुदूर पूर्व में ऐंग्लो-सैक्सन प्रभुत्व रहेगा या जापान की ही तूती बजेगी, अभी भी अनिर्णीत (Undecided) था। किन्तु यह वाशिंगटन सम्मेलन का ही परिणाम था कि यह प्रश्न ठीक दस वर्षों तक भविष्य के गर्भ में ही पड़ा रहा।"[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका

मेक्सिको, मध्य अमेरिका और दक्षिण अमेरिका के देशों तथा कैरीबियन सागर के द्वीपों को सम्मिलित रूप से लैटिन अमेरिका कहा जाता है। यूरोप के झगड़ों से पृथक रहने की नीति अपनाते हुए भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने लैटिन अमेरिका के प्रति कभी ऐसी नीति नहीं रखी।

संयुक्त राज्य अमेरिका की लैटिन अमेरिका के प्रति नीति को संक्षेप में तीन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—मुनरो सिद्धान्त, डालर कूटनीति तथा अखिल अमेरिकनवाद (Pan Americanism) हम इन तीनों ही पर एक-एक करके विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

मुनरो सिद्धांत (Monroe Doctrine)—इस सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है। इसका प्रतिपादन दिसम्बर १८२३ में प्रत्यक्षतः अमेरिका के देशों को यूरोपियन साम्राज्यवाद

---

1. *E. H. Carr* : International Relations between the Two World Wars. P. 21-22

से रक्षा करने के लिये किया गया था। १९वीं सदी के आरम्भ में वाशिंगटन सरकार ने अमेरिकन देशों के मामलों में यूरोपियन हस्तक्षेप के निवारण की आवश्यकता अनुभव की और यह चाहा कि जिन दिनों में यूरोपियन शक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा अमेरिकन भूमि पर चल रही थी वे दिन अब नहीं रहने चाहिये १८२३ में इस इच्छा पूर्ति का एक अत्युत्तम अवसर आया। स्पेन ने 'पवित्र संघ' (Holy Alliance) की सहायता से अपने दक्षिण अमेरिकन उपनिवेशों और उनकी प्रजातांत्रिक सरकारों के विद्रोहों का दमन करने का प्रयत्न किया। तब, २ दिसम्बर १९२२ को कांग्रेस को दिये गये अपने भाषण में तत्कालीन राष्ट्रपति मुनरो ने घोषणा की कि "अमेरिकन महाद्वीप अब आगे से यूरोपियन शक्तियों द्वारा भावी उपनिवेशन के क्षेत्र नहीं समझे जायेंगे।" इस सिद्धान्त में यह स्पष्ट कर दिया गया कि अमेरिका किसी को भी इस गोलार्द्ध के किसी भाग में अपने विस्तार की अनुमति नहीं देगा। स्पष्टतः 'मुनरो-सिद्धान्त' में 'अमेरिका अमेरिका वासियों के लिये' का सिद्धान्त रखा गया।

प्रारम्भ में मुनरो सिद्धान्त' एक सुरक्षात्मक उपाय था जिसका मूल उद्देश्य दक्षिण अमेरिका के नवीन और निर्बल गणराज्यों को यूरोप की महाशक्तियों के हस्तक्षेप और आर्थिक शोषण से सुरक्षित रखना था। किन्तु यह उद्देश्य पूरा होने के बाद तक संयुक्त राज्य अमेरिका एक अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र बन गया और वह 'मुनरो सिद्धान्त' को दक्षिण अमेरिका के देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिये प्रयोग में लाने लगा। लेकिन यह हस्तक्षेप यूरोपियन देशों के ढगों से भिन्न था। उसने इस क्षेत्र को अपने विस्तार के लिये सीमित रखने का प्रयत्न किया मेक्सिको राज्य पर अपना अधिकार जमाया और अन्य राज्यों की सरकारों की नीति को प्रभावित करने की कोशिश की। शीघ्र ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि 'मुनरो सिद्धान्त यूरोपियन 'हितों और प्रभाव के तेल' (Spheres of Interest) के सिद्धान्त से भिन्न नहीं था और इसका उद्देश्य लैटिन अमेरिका को केवल संयुक्त राज्य अमेरिका के नियंत्रण तथा शोषण के लिये सुरक्षित रखना था। वास्तव में शक्ति-सम्पन्न होने के बाद से ही संयुक्त राज्य अमेरिका लैटिन अमेरिका के देशों पर अपना एकाधिकार समझने लगा और इनके सभी मामलों में हस्तक्षेप करने लगा। २० जून, १८९५ को अमेरिकन विदेश मंत्री ओलनी (Olney) ने 'मुनरो सिद्धान्त' की व्याख्या करते हुये 'ओलनी सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया जिसमें कहा गया कि "आज संयुक्त राज्य व्यावहारिक रूप से इस महाद्वीप पर सम्प्रभु है तथा इसकी आज्ञा उन प्रजाजनों के लिये कानून है जिनके प्रति यह अपनी मध्यस्थता को सीमित रखता है। १९०४ में मुनरो सिद्धान्त की राष्ट्रपति थियोडोर रूजवैल्ट की व्याख्या ने लैटिन अमेरिकन देशों में संयुक्त राज्य विरोधी भावनाओं को बहुत आगे बढ़ा दिया क्योंकि 'मुनरो-सिद्धान्त के आधार पर उसने इस बात का दावा किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका को लैटिन अमेरिका में हस्तक्षेप का एकाधिकार प्राप्त है। उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया, "पश्चिमी गोलार्द्ध में, संयुक्त राज्य की 'मुनरो सिद्धान्त' के प्रति निष्ठा, दुष्कर्म या शासन की अक्षमता के प्रतिवादी मामलों में, संयुक्त राज्य को अनिच्छापूर्वक एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति का कार्य

करने को विवश कर सकती है।" इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका के स्थल-डमरूमध्य के राज्यों पर न केवल अपनी प्रभुता का दावा करता था अपितु उसका पूरा प्रयोग भी करता था। थियोडोर रूजवैल्ट ने १९०० की मुनरो सिद्धान्त की अपनी उपरोक्त व्याख्या का फरवरी १९०५ में और भी अधिक स्पष्टीकरण किया। उसने कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका उचित कारण होने पर अमेरिकन महाद्वीप के राज्यों में हस्तक्षेप कर सकता है। मुनरो सिद्धान्त की इस प्रकार की साम्राज्यवादी व्यवस्था सन् १९०० से ही की जाने लगी और तब से १९२९ तक संयुक्त राज्य अमेरिका ने कैरीबियन सागर के निकटवर्ती मध्य अमेरिका के राज्यों के सम्बन्ध में साम्राज्यवादी नीतिही अपनाई। 'मुनरोसिद्धान्त की इस साम्राज्यवादी व्यवस्था का 'रूजवैल्ट अनुमान'(Roosevelt Corollary) भी कहा जाता है क्योंकि इसका सर्वोत्तम प्रतिपादन थियोडोर रूजवेल्ट ने ही किया था। १९२९ में सीनेट ने 'रूजवेल्ट अनुमान' को अस्वीकार किया और लैटिन राज्यों में हस्तक्षेप की नीति का परित्याग किया।[1]

डालर कूटनीति (Dollar Diplomacy)—डालर कूटनीति अमेरिकन साम्राज्यवाद का दूसरा रूप था। इसे आर्थिक साम्राज्यवाद भी कहा जाता है क्योंकि इसका लक्ष्य किसी देश पर राजनीतिक प्रभुत्व की अपेक्षा आर्थिक शोषण करना होता था। वास्तव में १८९३ के बाद से ही अपने लैटिन अमेरिकन पड़ौसी देशों के प्रति अमेरिका की नीति एक सीमा तक 'डालर कूटनीति' स्पष्ट हो गई थी। इस नीति को स्पष्ट करते हुए राष्ट्रपति विलियम एच० टाफ्ट (William H. Taft) ने कहा था कि "इस नीति (डालर कूटनीति) की विशेषता गोलियों के स्थान पर डालरों का प्रयोग करना रही है।......यह अमेरिकन व्यापार को बढ़ाने के लिए स्पष्ट रूप से निदेशित प्रयत्न है जो स्वयं सिद्ध सिद्धान्त पर आधारित है कि अमेरिकन सरकार विदेशों में स्थित प्रत्येक उचित और हितकारी अमेरिकन व्यवसाय को सभी उचित समर्थन प्रदान करेगी।"

'डालर कूटनीति' से लैटिन अमेरिकन देशों के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्धों में कटुता आ गई और उनको संतुष्ट करने के लिए राष्ट्रपति विल्सन ने 'लैटिन अमेरिका सम्बन्धी नीति की एक घोषणा' प्रकाशित कराई जिसमें लैटिन अमेरिकन देशों के संयुक्त राज्य के प्रति अविश्वास और शंकालू दृष्टिकोण को दूर करने का भरसक प्रयास किया किन्तु कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। महायुद्ध के बाद जब राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो दक्षिण अमेरिकन राज्यों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया क्योंकि उन्हें यह आशा थी कि राष्ट्रसंघ उनकी संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवाद, उसकी संप्रभुता और डालर कूटनीति के जाल से रक्षा करेगा। लेकिन उनकी यह आशा तुरंत सफलीभूत नहीं हुई, हां लगभग एक दशाब्दि में ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने साम्राज्यवाद की नीति का परित्याग करना शुरू कर दिया।

---

1. *Charles Schleicher* : Introduction to International Politics,

अखिल अमेरिकन वाद (Pan Americanism)—संयुक्त राज्य और लैटिन अमेरिका के सम्बन्धों की तीसरी मुख्य बात अखिल अमेरिकनवाद (Pan Americanism) है। यह देखा गया है कि प्राय: प्रगतिशील राष्ट्र अपनी सम्पन्नता में वृद्धि करने के लिए २ प्रकार के प्रयत्न करते हैं—प्रथम, बलपूर्वक नियंत्रण स्थापित करना और द्वितीय भावनाओं को उभारकर अपने स्वार्थों की पूर्ति करना। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी दोनों ही साधनों का प्रयोग किया। एक ओर तो उसने लैटिन अमेरिकन राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर 'अमेरिका अमरीकियों के लिये' का नारा लगाकर अमेरिकावासियों की भावना को जागृत किया। इस तरह उसने 'अखिल अमेरिकनत्व' की भावना को जन्म देकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने का सक्रिय प्रयास किया। वास्तव में 'अखिल अमेरिकनत्व' के आन्दोलन द्वारा वह अपने प्रभाव क्षेत्रों को बढ़ा कर अपनी सुरक्षा में वृद्धि करना चाहता था। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा उभारे गये इस 'अखिल अमेरिकनवाद' की व्याख्या करते हुए **रिप्पी (Rippy) ने लिखा है** "अखिल अमेरिकनवाद का उद्देश्य अमेरिका के स्वतत्र राज्यों में शान्ति, सुरक्षा, व्यापारिक स्मृद्धि की वृद्धि करना था"[1] सेमुअल एफ० बेमिस के कथनानुसार 'अखिल अमेरिकनवाद' (Pan Americansim) नई दुनियां के गणतन्त्रों (कनाड़ा को छोड़कर) की पड़ोसियों के रूप में समान आकांक्षाओं और पारस्परिक विचार-विमर्श और उनकी प्राप्ति के लिए परस्पर सहयोग करने की न्यूनाधिक रूप में निश्चित प्रवृत्ति है।[2]

परन्तु उपरोक्त परिभाषाओं में वास्तविकता का अभाव है। इस आन्दोलन में निश्चित रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवादी स्वार्थ निहित थे जिनकी पूर्ति वह इस आन्दोलन द्वारा ही कर सकता था। अखिल अमेरिकनवाद न केवल एक प्रकार का सहकारिता आन्दोलन था, बल्कि इसका साम्राज्यवादी पक्ष भी था, क्योंकि संयुक्त राज्य ने इसका प्रयोग लैटिन अमेरिका में अपने प्रभाव का विस्तार करने का और अपने प्रभुत्व की स्थापना करने में किया।

प्रथम महायुद्ध और अखिल अमेरिकनवाद—संयुक्त राज्य अमेरिका की स्मृद्धि और शक्ति ने तथा लैटिन अमेरिकन देशों के प्रति आर्थिक शोषण और डालर कूटनीति के आचरण ने लैटिन अमेरिका में संयुक्त राज्य के प्रति गहरा असंतोष पैदा कर दिया। इन परिस्थितियों में अखिल अमेरिकन आन्दोलन का विकास हुआ। १८८९ में वाशिंगटन में हुए प्रथम अखिल अमेरिकन

---

1 "Pan America ism was designed to promote peace, security, trade relations and general prosperity among the independent states of America."

—*Rippy*

2. "It (Pan Americanism) was a tendency, more or less pronounced, of the republics of the New World to associate together in a neighbourly way for the mutual understanding of common aspirations and interests and their realization."

—*Bemis*

सम्मेलन में एक बहिः शुल्क संघ, एक समान मुद्रा तथा अन्तः अमेरिकन विवादों के समाधान के लिए पंच निर्णय की व्यवस्था के सुझाव रखे गये। लेकिन सम्मेलन कोई ठोस अथवा रचनात्मक पग उठाने में असफल रहा। १८९५ के 'कोलनी सिद्धान्त तथा, १९०४ में थियोलो रूजवैल्ट की मुनरो सिद्धान्त की नवीन व्याख्या ने लैटिन अमेरिकन देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका विरोधी भावनाओं को और भी विकसित किया। १८९० से १९१९ के मध्य ३ अखिल अमेरिकन सम्मेलन हुए, किन्तु उल्लेखनीय सफलता किसी भी सम्मेलन को प्राप्त नहीं हुई। लैटिन अमेरिकन देशों के साथ सम्बन्धों में जो कटुता आ गई थी उसे समाप्त करने तथा लैटिन अमेरिकन देशों को संतुष्ट करने के लिए राष्ट्रपति विल्सन ने १९१३ में "लैटिन अमेरिका नीति" की घोषणा प्रकाशित कराई। इस घोषणा में यह कहा गया था कि "मेरे प्रशासन के मुख्य उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह होगा कि हमारे केन्द्रीय और दक्षिणी अमेरिका के गणतन्त्रों से मित्रता स्थापित की जाए और उन्हें हमारे प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न की जाए और उन सब हितों की उचित तथा सम्माननीय तरीकों से वृद्धि की जाए जो दोनों महाद्वीपों के लोगों के लिए सामान्य है।......संयुक्त राज्य को केन्द्रीय अथवा दक्षिणी अमेरिका में से कुछ लेना नहीं है, सिवाय इसके कि दोनों महाद्वीपों के लोगों के हितों में स्थापित्व आये और उनकी सरकारों को, जो प्रजा के हित के लिए बनी है, को सुरक्षा मिले।"[1] इस नीति-वक्तव्य के साथ २७ अक्टूबर १९१३ का (Mobile) भाषण भी संयुक्त है जिसमें स्पष्ट यह कहा गया है कि "अमेरिका कभी भी विजय द्वारा एक पग भी अतिरिक्त प्रदेश प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगा।" विल्सन के प्रयासों के फलस्वरूप दक्षिण महाद्वीप और मध्य-अमेरिका के गणतंत्रों में सद्‌भावना का विकास अवश्य हुआ, किन्तु असंतोष की समाप्ति नहीं हुई। जब संयुक्त राज्य अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ तब केवल ८ लैटिन देशों ने ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। प्रथम महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य और भी अधिक विशाल शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। उसके राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होने से लैटिन अमेरिका में इस धारणा को बल मिला कि वह (संयुक्त राज्य अमेरिका) अपनी गतिविधियों पर किसी प्रकार का बाह्य-नियंत्रण स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है। लैटिन अमेरिकन देशों ने राष्ट्रसंघ के रूप में अमेरिकन साम्राज्यवाद को नियन्त्रित करने के एक नवीनतम साधन की प्राप्ति की आशा की और इसीलिए उनमें से लगभग सभी राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये।

---

1. "One of the chief objects of my administration will be to cultivate the friendship and deserve the confidence of our sister republics and to promote in every proper and honourable way the interests which are common to the peoples of the two continents....The U S. has nothing to seek in Central or South America except the lasting interests of the peoples of the two continents the security of the governments intended for the people and for no special group or interest."

प्रथम महायुद्ध के बाद लैटिन अमेरिकन देशों के प्रति संयुक्त राज्य की नीति—प्रथम महायुद्ध के बाद से ही संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति में शनैः शनैः महत्वपूर्ण परिवर्तन आने लगा और लगभग एक दशाब्दी में ही उस अहस्तक्षेप की नीति अपनाते हुए साम्राज्वाद की नीति का परित्याग कर दिया तथा रूजवेल्ट के समय में लैटिन अमेरिकन देशों के प्रति **"अच्छे पड़ौसी की नीति"** (Good Neighbour Policy) का पालन हुआ।

प्रथम महायुद्ध के बाद से ही लैटिन-अमेरिकन देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति का निम्नलिखित दो भागों में अध्ययन करेंगे–

(क) अहस्तक्षेप तथा प्रत्याहरण का युग (Era of Non-intervention and withdrawal, 1919—1932.)

(ख) रूजवैल्ट युग—"अच्छे पड़ौसी की नीति" (Good neighbour Policy) 1932—1945.

(क) अस्हतक्षेप तथा प्रत्याहरण का युग (Era of Non-intervention withdrawal), १९१९–१९३२:–सेमुअल एफ बेमिस (Samuel F. Bemis) का मत है कि १९१४ से १९१९ के प्रथम विश्वयुद्ध के शुभ परिणाम और सुदूर पूर्व और प्रशान्त महासागर में इसके कूटनीति का उत्तर कार्य (diplomatic aftermath)—फरवरी १९२२ की वाशिंगटन संधियों ने संयुक्त राज्य की लैटिन अमेरिकन नीति में एक नवीन अध्याय को प्रारम्भ किया और यह था साम्राज्यवाद के अपाकरण liquidation of Imperialism) का अध्याय।"[1] अमेरिकन साम्राज्यवादी नीति के परित्याग की दिशा में प्रथम पग जून १९२१ में उठाया गया जबकि डोमिनिकन-गणतंत्र (Dominican Republic) के सैनिक राज्यपाल ने घोषणा की कि ८ मास बाद गणतंत्र को स्वाधीनता प्रदान करदी जायगी। १९२२ की ब्राजील स्वतंत्रता के शत वर्षीय उत्सव के अवसर पर सेक्रेटरी ह्यूगेस (Hughes) ने लैटिन अमेरिका की ओर गणतंत्र शासन की नीति की घोषणा की। उसने कहा, "हम शुद्ध हृदय से लैटिन–अमेरिका के देशों की स्वाधीनता, अक्षुण प्रभु–सत्ता, राजनीतिक सम्पूर्णता तथा निरन्तर प्रगतिवान सम्पन्नता की कामना करते हैं। स्वतत्र राष्ट्र के विस्तृत जीवन के फल स्वरूप हमारी भी अपनी घरेलू समस्याएं होती हैं, किन्तु हमारे अन्दर कोई साम्राज्यवादी भावना नहीं है जो हमारे उन्नति के मार्ग में छाया भी डाल सके। हमें किसी प्रदेश का लालच नहीं, न हम विजय चाहते हैं, जिस स्वाधीनता की हम अपने लिये कामना करते हैं, वही हम दूसरों के लिये भी चाहते हैं; हम इस

---

1. "The auspicious outcome of the World-War 1914-18 and its diplomatic aftermath in the Far East and the Pacific-the Washington treaties of February, 1922-mark d the begining of a new chapter in the Latin America Policy of the United States, the liquidation of imperialism."

—Samuel F. Bemis

सम्मेलन में एक वहिः शुल्क संघ, एक समान मुद्रा तथा अन्तः अमेरिकन विवादों के समाधान के लिए पंच निर्णय की व्यवस्था के सुझाव रखे गये। लेकिन सम्मेलन कोई ठोस अथवा रचनात्मक पग उठाने में असफल रहा। १८९५ के 'कोलनी सिद्धान्त तथा, १९०४ में थियोलो रूजवैल्ट की मुनरो सिद्धान्त की नवीन व्याख्या ने लैटिन अमेरिकन देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका विरोधी भावनाओं को और भी विकसित किया। १८९० से १९१९ के मध्य ३ अखिल अमेरिकन सम्मेलन हुए, किन्तु उल्लेखनीय सफलता किसी भी सम्मेलन को प्राप्त नहीं हुई। लैटिन अमेरिकन देशों के साथ सम्बन्धों में जो कटुता आ गई थी उसे समाप्त करने तथा लैटिन अमेरिकन देशों को संतुष्ट करने के लिए राष्ट्रपति विलसन ने १९१३ में "लैटिन अमेरिका नीति" की घोषणा प्रकाशित कराई। इस घोषणा में यह कहा गया था कि "मेरे प्रशासन के मुख्य उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह होगा कि हमारे केन्द्रीय और दक्षिणी अमेरिका के गणतन्त्रों से मित्रता स्थापित की जाए और उन्हें हमारे प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न की जाए और उन सब हितों की उचित तथा सम्माननीय तरीकों से वृद्धि की जाए जो दोनों महाद्वीपों के लोगों के लिए सामान्य है।......संयुक्त राज्य को केन्द्रीय अथवा दक्षिणी अमेरिका में से कुछ लेना नहीं है, सिवाय इसके कि दोनों महाद्वीपों के लोगों के हितों में स्थापित्व आये और उनकी सरकारों को, जो प्रजा के हित के लिए बनी है, को सुरक्षा मिले।"[1] इस नीति-वक्तव्य के साथ २७ अक्टूबर १९१३ का (Mobile) भाषण भी संयुक्त है जिसमें स्पष्ट यह कहा गया है कि "अमेरिका कभी भी विजय द्वारा एक पग भी अतिरिक्त प्रदेश प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगा।" विलसन के प्रयासों के फलस्वरूप दक्षिण महाद्वीप और मध्य-अमेरिका के गणतंत्रों में सद्भावना का विकास अवश्य हुआ, किन्तु असंतोष की समाप्ति नहीं हुई। जब संयुक्त राज्य अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ तब केवल ८ लैटिन देशों ने ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। प्रथम महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य और भी अधिक विशाल शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। उसके राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होने से लैटिन अमेरिका में इस धारणा को बल मिला कि वह (सयुक्त राज्य अमेरिका) अपनी गतिविधियों पर किसी प्रकार का बाह्य-नियंत्रण स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है। लैटिन अमेरिकन देशों ने राष्ट्रसंघ के रूप में अमेरिकन साम्राज्यवाद को नियंत्रित करने के एक नवीनतम साधन की प्राप्ति की आशा की और इसीलिए उनमें से लगभग सभी राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये।

---

1. "One of the chief objects of my administration will be to cultivate the friendship and deserve the confidence of our sister republics and to promote in every proper and honourable way the interests which are common to the peoples of the two continents....The U S. has nothing to seek in Central or South America except the lasting interests of the peoples of the two continents the security of the governments intended for the people and for no special group or interest."

प्रथम महायुद्ध के बाद लैटिन अमेरिकन देशों के प्रति संयुक्त राज्य की नीति—प्रथम महायुद्ध के बाद से ही संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति में शनैः शनैः महत्वपूर्ण परिवर्तन आने लगा और लगभग एक दशाब्दी में ही उस अहस्तक्षेप की नीति अपनाते हुए साम्राज्वाद की नीति का परित्याग कर दिया तथा रूजवेल्ट के समय में लैटिन अमेरिकन देशों के प्रति **"अच्छे पड़ौसी की नीति" (Good Neighbour Policy)** का पालन हुआ।

प्रथम महायुद्ध के बाद से ही लैटिन-अमेरिकन देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति का निम्नलिखित दो भागों में अध्ययन करेंगे-

(क) अहस्तक्षेप तथा प्रत्याहरण का युग (Era of Non-intervention and withdrawal, 1919—1932.)

(ख) रूजवैल्ट युग—"अच्छे पड़ौसी की नीति" (Good neighbour Policy) 1932—1945.

(क) अस्हतक्षेप तथा प्रत्याहरण का युग (Era of Non-intervention withdrawal), १९१९–१९३२:—सेमुअल एफ बेमिस (Samuel F. Bemis) का मत है कि १९१४ से १९१९ के प्रथम विश्वयुद्ध के शुभ परिणाम और सुदूर पूर्व और प्रशान्त महासागर में इसके कूटनीति का उत्तर कार्य (diplomatic aftermath)—फरवरी १९२२ की वाशिंगटन संधियों ने संयुक्त राज्य की लैटिन अमेरिकन नीति में एक नवीन अध्याय को प्रारम्भ किया और यह था साम्राज़्यवाद के अपाकरण liquidation of Imperialism) का अध्याय।"[1] अमेरिकन साम्राज्यवादी नीति के परित्याग की दिशा में प्रथम पग जून १९२१ में उठाया गया जबकि डोमिनिकन-गणतंत्र (Dominican Republic) के सैनिक राज्यपाल ने घोषणा की कि ८ मास बाद गणतंत्र को स्वाधीनता प्रदान करदी जायगी। १९२२ की ब्राजील स्वतंत्रता के शत वर्षीय उत्सव के अवसर पर सेक्रेटरी ह्यूगेस (Hughes) ने लैटिन अमेरिका की ओर गणतंत्र शासन की नीति की घोषणा की। उसने कहा, "हम शुद्ध हृदय से लैटिन-अमेरिका के देशों की स्वाधीनता, अक्षुण प्रभु-सत्ता, राजनीतिक सम्पूर्णता तथा निरन्तर प्रगतिवान सम्पन्नता की कामना करते हैं। स्वतत्र राष्ट्र के विस्तृत जीवन के फल स्वरूप हमारी भी अपनी घरेलू समस्याएं होती हैं, किन्तु हमारे अन्दर कोई साम्राज्यवादी भावना नहीं है जो हमारे उन्नति के मार्ग में छाया भी डाल सके। हमें किसी प्रदेश का लालच नहीं, न हम विजय चाहते हैं, जिस स्वाधीनता की हम अपने लिये कामना करते हैं, वही हम दूसरों के लिये भी चाहते हैं; हम इस

---

1. "The auspicious outcome of the World War 1914-18 and its diplomatic aftermath in the Far East and the Pacific-the Washington treaties of February, 1922-mark d the begining of a new chapter in the Latin America Policy of the United States, the liquidation of imperialism."

—*Samuel F. Bemis*

सम्पूर्ण गोलाई में एक स्थायी शांति की सच्चे हृदय से कामना करते हैं जो कि न्याय तथा बढ़ते हुए सहयोग का चिन्ह है।"[1]

सन् १९२३ में पांचवां अखिल अमेरिकन सम्मेलन सेन्टियागो डी-चिल्ली (Santiago–De–Chilc) में हुआ जिसमें उरुवे ने राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित एक अमेरिकन राष्ट्रसंघ के निर्माण का प्रस्ताव रखा। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोध के कारण यह पारित न हो सका और सम्मेलन असफल हो गया। हार्डी के कथनानुसार "सम्मेलन को विफलता प्राप्त होने का आधारभूत कारण यह था कि अखिल-अमेरिकनवाद (Pan–Americanism) के बारे में संयुक्त राज्य तथा लैटिन-अमेरिका के गणराज्य एक-दूसरे से मेल नहीं खाते थे। लैटिन अमेरिकन गणराज्य इस आन्दोलन को ऐसा रूप प्रदान करना चाहते थे जिससे उन्हें समानता और स्वतंत्रता प्राप्त हो जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका अपना निर्णायक नियंत्रण कायम रखने पर आमादा था।"[2]

निकारगुआ के प्रति नीति—संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा साम्राज्यवादी नीति के परित्याग अथवा प्रत्याहरण (With drawal) की दिशा में दूसरा पग १९२५ में उठाया गया जब उसने निकार गुआ के प्रति अपनी नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। निकारगुआ (Nicaragua) मध्य अमेरिका का एक छोटा सा गणराज्य है। सन् १९१० ई० तक संयुक्त राज्य अमेरिका की इस राज्य में कोई रुचि न थी, परन्तु बाद में दो प्रमुख कारणों से उसका ध्यान इस राज्य की ओर आकर्षित हुआ। **पहला कारण** कैरिबियन सागरवर्ती अन्य राज्यों के समान गर्म देशों में उत्पन्न होने वाले कच्चे माल की अमेरिका में बढ़ती हुई मांग थी। **दूसरा महत्वपूर्ण कारण** था निकार गुआ की दो प्राकृतिक विशेषताएं—एक तो यह कि इसमें पूर्व से पश्चिम तक निकार गुआ नामक एक सौ मील लम्बी विशाल झील का स्वाभाविक जल मार्ग और दूसरी उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई कम ऊंची पर्वत माला। इन प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण निकार गुआ में पनामा नहर जैसी दूसरी नहर का बनाना सम्भव था। कच्चे माल के उत्पादन में और प्राकृतिक विशेषताओं के उपयुक्त दो प्रमुख कारणों के करण ही संयुक्त राज्य अमेरिका इस प्रदेश पर अपने पूर्ण प्रभुत्व का इच्छुक था। इसीलिये

---

1. 'We sincerely desire the independence, the unimpaired sovereignty and political integrity and the constantly increasing prosperity of the peoples of Latin America. We have our domestic problems incident to the expanding life of a free people, but there is no imperialistic sentiment among us to cast even a shadow across the pathway of our progress. We covet no territory; We seek no conquert; the liberty we cherish for ourselves we desire for others; we sincerely desire to see throughout this Hemisphere an abiding peace, the sign of justice and the diffusion of the blessings of a beneficent co-operation."
2. *Gathorn Hardy* : A Short History of International Affairs Page 175

अमेरिकन तेल कम्पनी के एक कर्मचारी डियाज ने १९०९ में निकार गुआ में एक क्रांति का संगठन किया जो संयुक्त राज्य अमेरिका की नौ सेना की सहायता से सफल हुई। डिमाज पहले नई सरकार का उपराष्ट्रपति बना तथा बाद में राष्ट्रपति। १९१२ में डियाज के विरुद्ध हुई जन-क्रांति को संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा दबा दिया गया। १९१४ में एक संधि द्वारा निकार गुआ में होकर एक नहर का एकाधिकार संयुक्त राज्य को प्राप्त हुआ। प्रशान्त महासागर पर एक नौ सैनिक अड्डा बनाने के लिये ९९ वर्ष की सुविधा मिली। इसके अतिरिक्त और भी अनेक आर्थिक सुविधाएं प्राप्त की गई।

यह उल्लेखनीय है कि डियाज के विरुद्ध हुई १९१२ की स्थानीय क्रांति के बाद से ही "अमेरिकन नागरिकों की तथा सम्पत्ति की रक्षा" के नाम पर अमेरिकन सेनायें निकारगुआ में ही बनी रही। किन्तु १९२५ में संयुक्तराज्य ने निकारगुआ से अपनी सेनायें हटा लीं और आर्थिक नियन्त्रण भी कम कर दिया गया। पर अमेरिकन सेनाओं के जाते ही देश में आन्तरिक उपद्रव होने लगे और डियाज के नेतृत्व में अनुदार दल में तथा उदार दल में संघर्ष शुरू हुआ। अनुदार दल अमेरिका पक्षपाती और उसके द्वारा समर्थन प्राप्त था जबकि दूसरा दल अमेरिका विरोधी था तथा मैक्सिको से उसे सहायता मिल रही थी। इन राजनीतिक उपदवों के होने पर, जो न केवल १९२६ में बल्कि १९२७ में भी हुए, संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति कूलिज ने उन्हें सैनिक हस्तक्षेप कर दिया। उसने ऊपर से तो "विद्यमान अमेरिकन नागरिकों और सम्पत्ति की रक्षा" के नाम पर किन्तु वास्तव में अनुदार दल को सहायता देने के लिए अपने पांच हजार नौसैनिक तथा कुछ हवाई जहाज भेजे। कूलिज के इस कार्य की न केवल लैटिन-अमेरिका में बल्कि कुछ संयुक्त राज्य अमेरिका में भी तीव्र आलोचना हुई। अन्त में समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के लिये १९२८ में कर्नल स्टिमसन (Henry Stimsone) को 'एक ईमानदार दलाल' (An honest broker) के रूप में निकार गुआ के दोनों दलों में समझौता कराने के लिये भेजा गया। स्टिमसन ने दोनों पक्षों में समझौता कराके १९२८ में अमेरिका के निरीक्षण में निकार गुआ में चुनाव कराये तथा उदारदल को भी सरकार में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित किया। अनुदार दल अब तक केवल अमेरिकन फौजों के बल पर १८ वर्ष से शासन करता रहा, अतः शासन की यह नीति उसके लिये सर्वथा नवीन थी। उदार दल में भी नवीन व्यवस्था के प्रति पूर्ण सन्तोष न था और उस दल के एक सेनापति सेण्डिनों (Sandino) ने संयुक्त राज्य अमेरिका की सेनाओं तथा अनुदार दल के विरुद्ध छापामार संघर्ष जारी रखा। अन्त में १९३३ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने नौ सैनिकों को इस घोषणा के साथ वापस बुला लिया कि उपद्रव ग्रस्त इस गणराज्य में वह अपने नागरिकों की सामान्य रक्षा का उत्तरदायित्व नहीं दे सकता। २ जनवरी १९३३ को अमेरिकन नौ सैनिकों के अन्तिम दस्ते ने निकार गुआ से प्रस्थान किया। अमेरिकन सैनाओं के लौट जाने पर सेनापति सेण्डिनों ने निकार गुआ में अपना संघर्ष बन्द कर दिया। अमेरिकन फौजों का लैटिन अमेरिका के किसी गणराज्य से इस प्रकार लौटना संयुक्त राज्य अमेरिका की लैटिन राज्यों के प्रति

परिवर्तित उदार नीति का सूचक था। अमेरिका की (रूजवैल्ट युगीन) इस उदार नीति से निकार गुआ में शांति स्थापित हुई तथा अमेरिकन हस्तक्षेप के समाप्त होने पर 'अच्छे पड़ौसी' की स्थिति उत्पन्न हुई।

मैक्सिको-विवाद:—मैक्सिको-विवाद में भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी साम्राज्यवादी नीति का परित्याग किया, यद्यपि इसमें 'ईमानदार दलाल' की नीति को अधिक कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। मैक्सिको प्रारम्भ में अमेरिका की नीति साम्राज्यवादी थी। पोरफिरिरा डियाज (Porfirio Diaz) के शासन काल में (१८८४-१९११) में मैक्सिको के आर्थिक विकास में अमेरिका तथा यूरोप की बहुत अधिक पूंजी लगी थी। किन्तु १९११ में वहां साम्यवादी क्रांति हुई जिसमें पूंजीवाद का विरोध किया। सन् १९१७ में मैक्सिको का नया संविधान बना जिसके अनुसार देश की सम्पूर्ण भूमि, खनीज पर्दाथ, तेल तथा भूमि के भीतर की समस्त सम्पत्ति को राष्ट्रीय घोषित कर दिया गया। मैक्सिको सरकार ने विदेशी कम्पनियों की रेलों पर कब्जा कर लिया और तेल कम्पनियों का कार्य बन्द कर दिया। मैक्सिको द्वारा राष्ट्रीय करण की इस नीति से अमेरिकन पूंजीपति बड़े विक्षुब्ध हुए और उन्होंने अमेरिकन सरकार से मैक्सिको में हस्तक्षेप करने का आग्रह किया। कुछ समय तक समझौते वार्ता की चली और १९२३ में कुछ समझौते हुए भी, किन्तु १९२६ में मैक्सिको के राष्ट्रपति ने घोषणा की कि १९१७ का संविधान लागू होने से पहले मैक्सिको में भू-सम्पत्ति का अधिकार रखने वाले इनका विनियम ५० वर्ष की नयी रियासतों से करलें। मैक्सिकन राष्ट्रपति की यह घोषणा समझौते की वार्ता असफलता की सूचक थी, अतः अनेक अमेरिकन तेल कम्पनियों ने मैक्सिको में अमेरिकन अधिकारों की रक्षा के लिये एक संघ बनाया तथा मैक्सिको के विरुद्ध प्रबल प्रचार आन्दोलन आरम्भ किया। अमेरिकन विदेशमंत्री केलॉग (Kalloge) ने मैक्सिको पर आरोप लगाया कि यह निकार गुआ के विद्रोहियों का तथा संयुक्त राज्य अमेरिका एव मध्य अमेरिका मे बोलशेविकवाद के प्रसार का पोषक है। दोनों ही देशों के मतभेद इतने उग्र हो गये कि दोनों के मध्य युद्ध की चर्चा होने लगी। इस नाजुक घड़ी में राष्ट्रपति कूलिज ने अत्यन्त बुद्धिमता का परिचय दिया। उसने अनुपम बुद्धि और चातुर्यवाले ड्वाइट मॉरो (Dwright Morrow) को मैक्सिको में राजदूत बनाकर भेजा। इस राजदूत के कुशल प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मैक्सिको के राष्ट्रपति कालास (Callas) के साथ भूमि तथा तेल के प्रश्न पर समझौता सम्पन्न होने में सफलता मिली और मैक्सिको ने १९१७ से पूर्व दी गई तेल सम्बन्धी सुविधाओं की पुष्टि करदी।

पनामा-विवाद—यह विवाद भी अमेरिकन साम्राज्यवादी नीति के परित्याग का एक सुन्दर उदाहरण है। १९०३ में हुई संधि के अनुसार अमेरिका को पनामा के नहर-क्षेत्र में पूर्णतया सर्वोच्च अधिकार (Sovereign Rights) प्राप्त हो गये थे। अमेरिका की साम्राज्यवादी महत्वकांक्षा ने फिर जोर मारा और १९२६ में अमेरिका ने उपर्युक्त संधी में एक शर्त जोड़ने का प्रयत्न किया। शर्त अथवा नई धारा यह थी कि यदि अमेरिका युद्ध में सम्मिलित होता है तो पनामा भी युद्ध रत होगा। निश्चय ही इस प्रकार की शर्त

पनामा के अस्तित्व और उसकी संप्रभुता (Sovereignty) पर आघात थी। यह इस बात की सूचक थी कि संयुक्त राज्य मध्य अमेरिका में अपने नियन्त्रण और प्रभाव क्षेत्र के बढ़ाने में कितना आगे तक जा सकता है। चूंकि पनामा संयुक्त राज्य की तुलना में एक अत्यन्त छोटा और निर्बल राज्य था, अतः बाध्य होकर उसने जुलाई १९२६ में इस नवीन संधि पर भी हस्ताक्षर कर दिये। किन्तु इसके असामयिक प्रकाशन से पनामा में बड़ा क्षोभ और असन्तोष हुआ। असन्तोष की भावना इतनी प्रबल हो गई कि २६ जनवरी १९२७ को पनामा की असेम्बली ने उपर्युक्त संधि को मानने से इन्कार कर दिया। पनामा ने नहर–क्षेत्र की सर्वोच्च सत्ता का निर्णय करने के लिये राष्ट्रसंघ से भी अपील की, परन्तु उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। राष्ट्रपति रूजवैल्ट के शासन रूढ़ होने पर 'अच्छे पड़ौसी की नई नीति' के समारम्भ के फलस्वरूप १७ अक्टूबर १९३३ को दोनों देशों के (पनामा और संयुक्त राज्य) राष्ट्रपतियों ने यह घोषणा की कि नहर-क्षेत्र में पनामा को प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के समस्त व्यापारिक अधिकार प्राप्त हैं और इस क्षेत्र में पनामा को हानि पहुंचाने वाला कोई भी कार्य संयुक्त राज्य नहीं करेगा। २ मार्च १९३६ को दोनों के मध्य एक नवीन संधि हुई जिसमें पनामा के सर्वोच्च अधिकारों को स्वीकार कर लिया गया।

विश्व आर्थिक संकट के समय नीति घोषणा—संयुक्तराज्य अमेरिका की लैटिन अमेरिका के प्रति अहस्तक्षेप की नीति शनैःशनैः निरन्तर विकसित होती गई। १९२८ के बाद जब संसार को भीषण आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा तो लैटिन अमेरिकन देशों में भी भीषण उथल–पुथल हुई। किन्तु उनकी इस अस्त-व्यस्तता से कोई लाभ न उठाते हुए संयुक्त राज्य ने अपनी अहस्तक्षेप की नीति जारी रखी तथा १९३१ में प्रसिद्ध क्लार्क–स्मृतिपत्र (Clark Memorandum) में कहा गया कि "मुनरो–सिद्धान्त आगे से लैटिन अमेरिका के विरुद्ध हिंसक और सैनिक गतिविधि का साधन नहीं समझा जाना है, वरन् जैसा कि राष्ट्रपति मुनरो ने असंदिग्ध रूप से चाहा था, इसे स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता की प्रत्याभूति होना है।"

(ख) रूजवैल्ट युग–'अच्छे पड़ौसी की नीति' (Good Neighbour Policy: 1932–45)—१९३२ में फ्रैन्कलिन रूजवैल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति बनें। उस समय तक लैटिन अमेरिका के प्रति एक अच्छी नीति स्थाई रूप से ग्रहण करने की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। १९२७ के बाद से ही 'डालर कूटनीति' का परित्याग कर दिया गया था और अमेरिकन कूटनीतिज्ञ इस प्रकार के विचार अनेक अवसरों पर व्यक्त कर चुके थे। हवाना में 'American Chamber of Commerce' के सम्मुख एक भाषण में ह्यूगेस (Hughas) ने घोषित किया था कि लैटिन अमेरिका में संयुक्त राज्य का अब तक का हस्तक्षेप केवल स्थिरता लाने के उद्देश्य से था जो कि स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक थी। संयुक्तराज्य अमेरिका ने आवश्यक परन्तु अस्थाई संकटावस्था का सामना करने के लिए लैटिन अमेरिका में प्रवेश किया था और अब शीघ्रातिशीघ्र वह वहां से विदा हो गये। इसी तरह अपने चुनाव और उद्घाटन के बीच राष्ट्रपति हूवर ने दक्षिण अमेरिका के मुख्य देशों का एक दौरा किया था ताकि वह उन राज्यों के साथ अमेरिका के

मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर सके। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि चिल वोलीविया और पैरू के राजनीतिक नेताओं के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों क विकास हुआ और दूसरा परिणाम यह निकला कि साम्राज्यवाद को समाप्त कर देने की दिशा में आगे बढ़ते हुए अमेरिका ने निकारगुहा (Nicaragua तथा हैटी (Haiti) से अपने सैनिकों को अमेरिका ने वापिस बुला लिया ६ फरवरी १९३१ को सचिव स्टिमसन ने कहा, 'मुनरो सिद्धान्त संयुक्तराज्य बनाम यूरोप का घोषणा-पत्र था—संयुक्त राज्य बनाम लैटिन अमेरिका क नहीं।'[1] इसी तरह राज्य उपसचिव विलियम आर० केसल (William R. Castle) ने कहा कि मुनरो सिद्धान्त से अमेरिका को कोई श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार की घोणणाओं द्वारा तथा कुछ व्यवहारिक कार्यवाहियों द्वारा रूजवैल्ट की 'अच्छे पड़ौसी' (Good Neighbour) की नीति के लिये आधारभूमि तैयार हो गई।

राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने अपने प्रथम उद्घाटन भाषण में ही घोषणा की—"**मैं इस राष्ट्र को अच्छे पड़ौसी की नीति के प्रति समर्पित कर दूंगा।**"[2] रूजवैल्ट ने अमेरिकन गणतंत्रों को पारस्परिक सहयोग के लिये आह्वान करते हुए कहा—"आखिरकार, अन्य राष्ट्रों में संवैधानिक व्यवस्था की रक्षा एक ऐसा पवित्र उत्तरदायित्व नहीं है जिसे केवल संयुक्त राज्य को ही वहन करना चाहिये।" राष्ट्रपति के इस प्रकार के वक्तव्यों से पश्चिमी गोलार्द्ध को बड़ी विजय मिली। १४ अप्रेल १९३३ को 'अखिल-अमेरिकन संघ' (Pan-American-Union) के समक्ष भाषण देते हुए रूजवैल्ट ने कहा—"व्यक्तियों की भाँति राष्ट्रों में भी मित्रता रचनात्मक प्रयत्नों के लिये प्रेरणा देती है जिससे राष्ट्रों में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति तथा सहयोग का विकास होता है। इससे एक-दूसरे पर एक-दूसरे के प्रति कुछ उत्तरदायित्व पैदा होते हैं। आपका और मेरा अमेरिकनवाद विश्वास और सहानुभूति पर आधारित होना चाहिये और उसे समानता तथा भातृत्व को मान्यता देनी चाहिये। सभी अमेरिकन राज्यों को एक दूसरे के प्रति सद्भावना उत्पन्न करनी चाहिये, एक-दूसरे के मध्य उपस्थित व्यापारिक और राजनैतिक रुकावटें हटानी चाहिये और हर प्रकार से उन्हें एक दूसरे के निकट आना चाहिये।"[3]

---

1. "The Monroe doctrine was a declaration of the U. S. versus Europe-not of the U. S. versus Latin America"

—*Stimson*

2. "I would dedicate this nation to the policy of good neighbour"

—*Franklin Roosevelt*

3. "Friendship among Nations, as among individuals calls for constructive efforts to muster the forces of humanity in order that an atmosphere of close understanding and co-operation may be cultivated. It involves mutual obligations and responsibilities..your Americanism and mine must be a structure built of confidence, cemented by a sympathy which recognises only equality and fraternity. It is of vital interest to every nation of this continent that the American Governments individually take, without further delay,

राष्ट्रपति रूजवैल्ट की घोषणाओं और विदेश नीति से एक नवीन युग का श्री गणेश हुआ। दिसम्बर १९३३ में मोण्टेवीडियो (Montevideo) में हुए सातवें अखिल अमेरिकन सम्मेलन (Pan-American Conference) में अमेरिका ने अन्य लैटिन अमेरिकन राज्यों के साथ देशों के अधिकार और कर्त्तव्यों के एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। सम्मेलन में रूजवैल्ट ने यह स्पष्ट कर दिया कि सयुक्त राज्य की निश्चित नीति अब से सशस्त्र हस्तक्षेप के विरुद्ध है। संयुक्त राज्य की इस नीति पर आधारित जो उपर्युक्त समझौता हुआ उसे अमेरिकन सीनेट ने १९३४ में सर्व सम्मति से स्वीकार कर लिया।

रूजवैल्ट प्रशासन ने निश्चित रूप से सशस्त्र हस्तक्षेप को त्यागने में अपने शुद्ध-हृदयता और विश्वास दिखाने का प्रयत्न किया। मोण्टेवीडियो के पश्चात् रूजवैल्ट ने धीरे-धीरे समय के साथ हैटी, पनामा, क्यूबा आदि में हस्तक्षेप करने के संधि-अधिकार को समाप्त कर दिया। हैटी (Haiti) से अमेरिकन नौ-सैनिकों की वापसी के सम्बन्ध में एक संधि की गई और १९३४ के अन्त तक सभी अमेरिकन सेनायें लैटिन अमेरिका से हटाली गई। १९३४ में ही १९०२ के 'प्लाट संशोधन (Platt Amendment)', जिसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य को क्यूबा में हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त था, का अन्त कर दिया गया। पनामा के साथ इस तरह संयुक्त राज्य ने अपने सम्बन्धों में सुधार किया, यह हम ऊपर प्रकट कर ही चुके हैं।

३० जनवरी १९३६ को रूजवैल्ट ने एक विशेष अन्त: अमेरिकन सभा का प्रस्ताव रखा जिसका एक उद्देश्य यह था कि अमेरिकन राज्यों में परस्पर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग बढ़े तथा यूरोपियन देशों के बुरे प्रभाव से वह क्षेत्र सुरक्षित रह सके। यह सभा अथवा आठवीं अखिल अमेरिकन परिषद् (Eighth Pan-American Conference) दिसम्बर १९३६ में ब्यूनस आयर्स (Buenos Aires) में प्रारम्भ हुई। और अमेरिका ने 'लैटिन अमेरिकन राज्यों के साथ मैत्री तथा सहयोग प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर किये।" फिर भी इस सम्मेलन से यह स्पष्ट हो गया कि 'उत्तर के महादैत्य' (संयुक्त राज्य अमेरिका) के विरुद्ध अब भी लैटिन अमेरिका में बड़ा अविश्वास और संदेह था।

१९३७-३८ में 'अच्छे पड़ौसी की नीति' के मार्ग में अनेक नई कठिनाईयां उत्पन्न हो गई। मैक्सिको के राष्ट्रपति कार्डेनास (Cardenas) ने १९३७ में रेलों का राष्ट्रीयकरण कर दिया और १३ अमेरिकन तथा ४ ब्राजीलियन ने तेल कम्पनियों को जब्त कर लिया। किन्तु राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने दिसम्बर १९३८ में होने वाले लीमा (Lima) अखिल अमेरिकन सम्मेलन की सफलता की संभावनाओं को कम न करने के विचार से मैक्सिको के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। लीमा (पेरू में) सम्मेलन में प्रतिनिधियों ने एक

---

such action as may be possible to abolish all unnecessary and artificial barriers and restrictions which now hamper the healthy flow of trade between the peoples of the American Republics."

—*Franklin Roosevelt*

घोषणा पर हस्ताक्षर किये जिसमें 'महाद्वीपीय एकता' और 'सहकारिता' पर बल दिया गया तथा विदेश मन्त्रियों में 'सम्मत्ति लेने' की व्यवस्था की गई। दूसरे शब्दों में यह व्यवस्था की गई कि "आक्रमण की सम्भावना अथवा शांति के लिये संकट उत्पन्न हो जाने की स्थिति में किसी भी अमेरिकन राज्य की प्रार्थना पर अमेरिकन राज्यों के विदेश-मन्त्री बारी-बारी से विभिन्न अमेरिकन राज्यों की राजधानी में विचार-विमर्श के लिये एकत्रित होंगे।" इस सम्मेलन में यह भी निश्चित किया गया कि यदि कोई देश किसी दूसरे की स्वतन्त्रता को भंग करने का प्रयत्न करे तो अन्य दूसरे देश भी उसकी सहायता करेंगे। लीमा सम्मेलन वास्तव में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्मेलन सिद्ध हुआ जिसने ब्यूनस आयर्स के सम्मेलन के अधूरे कार्य को पूरा किया। लैंगसम (W. C. Langsam) के शब्दों में, "१६३८ में लीमा- अखिल अमेरिकन सम्मेलन ने अमेरिका की एक घोषणा में इन सिद्धान्तों की पुष्टि की। इस प्रकार न केवल संयुक्त राज्य वरन् २१ राष्ट्र मुनरो सिद्धान्त के व्याख्याता तथा कार्यपालक बन गए।"

यूरोप में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर सितम्बर १६३६ के अन्त ने १०वां अखिल अमेरिकन सम्मेलन पनामा में हुआ जिसमें विदेश-मंत्रियों ने भाग लिया। अमेरिका ने दृढ़तापूर्वक यह कहा कि २१ अमेरिकन गणतंत्र यह कभी सहन नहीं करेंगे कि उनकी सुरक्षा किसी भी प्रकार से खतरे में पड़े अथवा उनके नागरिकों के व्यापारिक अधिकारों पर किसी भी तरह से आक्रमण किया जावे। सम्मेलन ने सम्पूर्ण दक्षिणी और मध्य अमेरिका तथा कनाड़ा के दक्षिण में उत्तरी-अमेरिका सहित एक तटस्थ 'वृत्तखंड' की स्थापना की जो ३०० से लेकर १००० मील तक समुद्र में भी विस्तृत था। यह कहा गया कि युद्धरत राष्ट्र इस 'तटस्थ क्षेत्र' में युद्ध सम्बन्धी कोई कार्य न करें। परन्तु यूरोपियन राष्ट्रों ने इस घोषणा की कोई परवाह नहीं की। सम्मेलन में ३ अक्टूबर १६३६ को एक अन्तिम अधिनियम (Final Act) भी पारित किया गया जिसमें विवादों के शांतिपूर्ण समाधान एवं अमेरिकन गोलार्द्ध में एकता की आवश्यकता से सम्बन्धित १६ घोषणायें एवं प्रस्ताव थे।

११वां अखिल अमेरिकन सम्मेलन १६४० में हवाना में हुआ। इस सम्मेलन में अमेरिका के नेतृत्व में सभी अमेरिकन राष्ट्रों के विदेश मंत्री मिले। सम्मेलन में एक कन्वेन्सन और एक सहायक एक्ट स्वीकार किया गया जिसमें मुनरो सिद्धान्त को महाद्वीपीय बनाया गया और यह घोषणा की गई कि "किसी गैर अमेरिकन राज्य द्वारा किसी अमेरिकन राज्य के क्षेत्र की अखण्डता या पवित्रता, प्रभुसत्ता या राजनैतिक स्वाधीनता के विरुद्ध किया गया कोई भी प्रयत्न इन सभी राज्यों के विरुद्ध, जिन्होंने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किए हैं; एक आक्रामक कार्य माना जायेगा।" इस प्रकार रूजवेल्ट ने 'अच्छे पड़ौसी की नीति' के द्वारा लैटिन अमेरिका और संयुक्त राज्य के मध्य उपस्थित अविश्वास तथा संदेह के वातावरण को धीरे-धीरे एक बड़ी सीमा तक सफलतापूर्वक दूर किया। अमेरिका पर जापानी आक्रमण और युद्ध की घोषणा के बाद लैटिन अमेरिकन राज्यों ने विभिन्न ढंगों से वाशिंगटन के [illegible] अपनी एकता अभिव्यक्त की। मैक्सिको को छोड़कर मध्य अमेरिका तथा केरीबियन

(Caribbean) सागर के सभी राज्यों ने धुरी राष्ट्रों (Axis-Powers) के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। चिली तथा अर्जेन्टाइना के अतिरिक्त समस्त दक्षिण अमेरिकन राज्यों ने धुरी राष्ट्रों से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये। संक्षेप में, द्वितीय महायुद्ध का सामना करने के लिये, अमेरिकन गोलार्द्ध के गणतंत्र 'उत्तर के अच्छे पड़ौसी' (सयुक्त राज्य अमेरिका) के सैनिक पंखों के नीचे एकत्र हो गये। १९४२ में रियो-डी-जेनीरो (Rio-De-Janeiro) में १२वां अखिल अमेरिकन सम्मेलन हुआ जिसमें पारस्परिक एकता की घोषणा करते हुए कहा गया कि "एक अमेरिकन राज्य के विरुद्ध आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण है।" इस सम्मेलन में अपनाये गये एकता के प्रस्तावों में ये व्यवस्थायें थीं—(१) एक अमेरिकन राज्य के विरुद्ध आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण होगा, (२) धुरी राष्ट्रों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये जांय, (३) सरकारों द्वारा युद्ध सामग्री के विनिमय, विनिमय की स्थिरता, और सम्पूर्ण वायु मार्गों की प्राप्ति होनी चाहिये, एवं (४) विध्वसक कार्यवाहियों पर नियन्त्रण हेतु एक समिति की नियुक्ति की जाय।

फरवरी-मार्च १९४२ में मैक्सिको में १३वां अखिल अमेरिकन सम्मेलन हुआ जिसमें यह निश्चय किया गया कि अमेरिकन राज्यों के प्रादेशिक सुरक्षा संगठन को प्रस्तावित संयुक्त राष्ट्र संघ के सुरक्षा संगठन का अंग बना दिया जाय। इसके साथ ही अमेरिकन राज्यों की एकता की बात को एक बार पुन: दोहराया गया। युद्ध की समाप्ति होने से पहले तक सभी अमेरिकन राज्यों में धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके पारस्परिक विश्वास और एकता का प्रदर्शन कर दिया। २६ जून १९४५ को सानफ्रांसिसको में सभी अमेरिकन राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये और तत्पश्चात संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ उनका सहयोग बढ़ता गया।

सयुक्त राज्य अमेरिका और लैटिन अमेरिका के सम्बन्धों की रोचक गाथा १८२३ के सुरक्षात्मक मुनरो सिद्धान्त से आरम्भ होकर ओलनी सिद्धान्त, डालर कूटनीति तथा अखिल अमेरिकनवाद के विभिन्न सागरों और महासागरों को पार करती हुई १९४५ तक 'अच्छे पड़ौसी की नीति' एवं 'अखिल अमेरिकनवाद के सहयोगी आन्दोलन की गाथा' में परिणित हो गई। परन्तु फिर भी संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध अविश्वास और शिकायतों की पूर्ण समाप्ति नहीं हुई। शूमैन के शब्दों में "जहां तक सामूहिक रूप में अमेरिकन गोलार्द्ध का सम्बन्ध है, 'उत्तर की विशाल मूर्ति' के घृणापूर्ण आधिपत्य के स्थान पर समान सत्तात्मक लोगों में साझेदारी की स्थापना हो गई हालांकि उनकी 'समानता' सदा की तरह एक कानूनी और कूटनीतिक कल्पना ही थी, तथा रिओग्रैन्डे के दक्षिण के २० प्रजातन्त्र अपने आर्थिक और सामाजिक ढांचे में उपनिवेश-समुदाय ही बने रहे।"[1]

EXERCISES

1. "Isolationism is a misleading word to use in Charaterising. American foreign policy since 1920." Discuss.
   "१९२० के उपरान्त की अमरीकी विदेशी नीति के लिए "एकान्त सेवी" शब्द का प्रयोग भ्रममूलक शब्द है।" विवेचना कीजिये।

---

1. *Schuman* : International Politics, P. 417

2. "I am happy to inform you that as a result of our conversation the Government of U. S. has decided to establish normal diplomatic relations with the Govt. of Soviet Socialist Republic and to change ambassadors." (Franklin D. Roosevelt). Discuss.
"मुझे आपको यह सूचित करने में हर्ष है कि हमारी वार्तालाप के परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने सोवियत समाजवादी गणतन्त्र के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का और राजदूतों का आदान-प्रदान करने का निश्चय किया है" (फ्रैंकलिन रूजवैल्ट) विवेचना कीजिये।
3. What is 'Pan Americanism' ? Discuss the foreign policy of the U S. A. towards the Latin American Republics since 1922
'अखिल अमरीकनवाद' से क्या तात्पर्य है ? १६२२ से लैटिन अमरीकी गणराज्यों के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति की विवेचना कीजिये।
4. Discuss the role of the U. S in world affairs between the two World Wars.
दो विश्व-युद्धों के दौरान विश्व-मामलों में संयुक्त राज्य अमेरिका की भूमिका की विवेचना कीजिये।
5. Discuss the foreign policy of the U. S towards the Latin American republics between 1920-1937.
१६२० से १६३७ के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका की लैटिन अमेरिकन गणतन्त्रों के प्रति विदेश-नीति की विवेचना कीजिए।
6. What has been the achievements of the Pan American Conferences since the first World War ?
प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अखिल अमेरिकन सम्मेलनों की क्या उपलब्धियाँ रही हैं ?
7. Examine the American-Japanese relations between the two world wars.
दो विश्व युद्धों के मध्य अमेरिका-जापान के सम्बन्धों की परीक्षा कीजिये।
8. Discuss the policy of the U. S. A. in the Caribbean Sea and in Latin America from 1919 to 1945.
केरीबियन सागर और लैटिन अमेरिका में १६१६ से १६४५ तक की संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति की विवेचना कीजिए।
9. Discuss Roosevelts' 'Good Neighbour Policy.'
रूजवेल्ट की 'अच्छे पडौसी की नीति' की विवेचना कीजिये।
10. Discuss 'Monroe Dctroine'.
मुनरो-सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।

१०

साम्यवादी रूस की विदेश-नीति

(FOREIGN POLICY OF COMMUNIST RUSSIA)

"हमारी नीति का लक्ष्य भूतकाल में एवं वर्तमान समय में सोवियत यूनियन के हितों की पूर्ति है, इसके लिए किसी देश से मित्रता आवश्यक है तो हम निःसंकोच भाव से इसे कर लेते हैं।"

—स्टालिन

"हमारी स्थिति शत्रु द्वारा घिरे हुए किले के समान है। इसमें कोई शक नहीं कि यह किला विशाल है, अजेय है, पर यह चारों तरफ से शत्रुओं से घिरा हुआ है।"

—राष्ट्रपति एम० आई० कालिनीन

सोवियत रूस की विदेश नीति
(क्रान्ति से द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक)

किसी भी देश की विदेश नीति कभी मौलिक नहीं होती। सामान्यतः यही देखने में आया है कि विदेश नीति का निर्धारण ऐतिहासिक, प्रथात्मक, आर्थिक और भौगोलिक तथा इसी प्रकार के अन्यान्य तथ्यों द्वारा होता है। लेकिन रूस के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसकी तात्कालिक विदेश-नीति में उसके इतिहास तथा प्रथा आदि का कोई योग न था, "क्योंकि १९१७ के विप्लव के कारण रूस का भूतकाल से ऐसे पूर्ण एवं क्रान्तियुक्त सम्बन्ध विच्छेद हो गये थे कि उसके नये युग का मूल्यांकन उसके स्वयं के सिद्धान्तों, जो मार्क्सवादी श्रम-वर्ग एवम् ऐतिहासिक विकास से सम्बन्धित हैं, को दृष्टि-कोण में रखकर किया जाना चाहिये।"

सोवियत क्रांति वस्तुतः अपने ढंग की एक विलक्षण और स्थायी क्रांति सिद्ध हुई जिसने रूस में जागरूक, पठित और विदेश में घूमने से अनुभव-संपन्न अल्प-संख्यक भूमिपतियों एवम् बहुसंख्यक अशिक्षित कृषकों के बीच एक बहुत बड़ी खाई को सहसा समाप्त कर दिया। वास्तव में विश्व इतिहास में ऐसी विलक्षण क्रांति ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलती। शासक वर्ग के विरोध में विकास-वादी दल ने क्रांतिकारी ढंग से अत्यन्त अल्प अवधि में राज्य पद को समाप्त कर दिया जो अपने आप में अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना थी। युद्ध की स्थिति में, विशेष रूप से साधन-सम्पन्न जर्मनी के विरोध में, पिछड़ा हुआ रूस

टिक न सका और इसी का यह फल हुआ कि समाजवादियों का दाव लगा गया। डेरी और जारमैन (Derry and Jarman) ने ठीक ही लिखा है कि "इस क्रांति की समीक्षा की जा सकती है जिसका आशय यह है कि 'युद्ध ने अवसर दिया और भाग्य ने लेनिन जैसा नेता पैदा किया।' उस नेता की आत्म-शक्ति और बुद्धि ने अवसर को परखकर परिस्थिति पर विजय पा ली।"[1]

क्रान्ति के फलस्वरूप जो सोवियत व्यवस्था स्थापित हुई उसके कुछ ही महिनों बाद संसार के पूंजीवादी राज्यों ने मिलकर रूस के नवीन शासन का गला घोटने और उसका नामोनिशान मिटाने के विपुल प्रयास किये। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में यह एक अद्वितीय घटना थी। यदि यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना पूंजीवादी राज्यों की ओर से नहीं हुई होती तो सम्भवत: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत संघ की नीति आज कुछ दूसरी ही होती। इसमें कोई संदेह नहीं कि सोवियत व्यवस्था की तथा-कथित कठोरता और सोवियत परराष्ट्र नीति में शंका तथा संदेह के तत्वों के लिये पूंजीवादी राष्ट्र ही एक बहुत बड़े अंश तक उत्तरदायी हैं। पर प्रश्न यह उठता है कि आखिर पश्चिमी पूंजीवादी राष्ट्रों ने इस प्रकार की नीति का आश्रय क्यों लिया? इस नीति का आश्रय उन्होंने इसलिये लिया कि १९१७ की क्रांति राज्य-प्रभु-सत्ता के सिद्धान्त को एक शक्तिशाली चुनौती थी, क्योंकि सोवियत रूस की नई व्यवस्था प्रवृत्ति और उद्देश्यों में अन्तर्राष्ट्रीय थी जिसका उद्देश्य समाजवाद के एक ऐसे नये युग का प्रारम्भ करना था जो पूंजीवादी राष्ट्रों की कब्र पर अपना भव्य महल खड़ा कर सके। पश्चिमी राष्ट्रों के लिये इस प्रकार का कोई भी उद्देश्य एक खुली चुनौती थी जिसका मुकाबला करना वे अपने हित के लिए आवश्यक समझते थे।

स्पष्ट है कि नवोदित सोवियत सरकार चारों तरफ से आन्तरिक और बाह्य खतरों से घिरी हुई थी। रूस की तत्कालीन साम्यवादी शासन की सबसे बड़ी कामना यही थी कि संसार के अन्य राज्य सोवियत रूस को अपनी नीति के अनुसार अपने देश का निर्माण करने और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिये स्वच्छन्द छोड़ दें। किन्तु जब साम्यवादी शासकों ने पाया कि पूंजीवादी राज्यों को जब भी मौका मिलेगा वे परस्पर मिलकर या अकेले ही सोवियत संघ का सर्वनाश करने से बाज न आयेंगे तो उन्होंने एक ऐसा मार्ग ग्रहण किया कि रूसी संकटापन्न विकास के पुराने सिद्धान्तों अर्थात् आत्मरक्षा और सुरक्षा की नीति की ओर वापिस लौटा जाए और पश्चिमी प्रभाव से मुक्त देशों के साथ संधियां की जाए।

अपने उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए सोवियत शासन ने इस कहावत को सिद्ध किया कि "राजनीति वैश्या की तरह अनेक रूप बदलने वाली होती है।" सोवियत शासकों ने साम्यवादी क्रांति से लेकर द्वितीय महायुद्ध के अन्त

1. "The war, then, produce the opportunity, Fate produced the Leader in Lenin. His great intellectual and personal powers enable him to dominate the situation, he saw the opportunity when others did not."

—*Derry and Jarman*

तक, अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिये, सोवियत विदेश नीति को अनेक रूप दिये।

७ नवम्बर, १९१७ की बोल्शेविक क्रांति के बाद सोवियत रूस की यह विदेशनीति द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक ६ विभिन्न अवस्थाओं में से होकर गुजरी। **प्रथम अवस्था** [१९१७–२१] पश्चिमी राष्ट्रों के साथ उग्र विरोध और समग्र विश्व में साम्यवादी क्रांति का प्रसार करने की थी। **द्वितीय अवस्था** [१९२१–३४] रक्षात्मक पार्थक्य [Defencive Isolation] की थी। इस काल में रूस ने आत्मरक्षा की दृष्टि से विभिन्न शक्तियों के साथ संधियां सम्पन्न की, उनसे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाये और दूसरे देशों में साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। इस अवस्था में वह सामान्यत: पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और राष्ट्रसघ की सदस्यता भी उसने ग्रहण न की। **तीसरी अवस्था** [१९३४–३८] के काल में वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बना और साथ ही उसने पश्चिम के साथ सहयोग करने की नीति का आश्रय लिया। **चौथी अवस्था** [१९३८-३९] में उसने पश्चिमी राष्ट्रों से पृथक रहने एवम् संकटपूर्ण पार्थक्य [Dangerous Isolation] की नीति अपनाई। **पांचवी अवस्था** [अगस्त १९३९–जून १९४१] में उसने जर्मनी के साथ मित्रता **स्थापित** की। **छठी अवस्था** [जून १९४१–अगस्त १९४५] पश्चिमी राष्ट्रों के साथ घनिष्ट मैत्री की थी।

अब हम सोवियत रूस की विदेश नीति की विभिन्न अवस्थाओं पर एक-एक कर के विचार करेंगे।

(१) प्रथमावस्था (१९१७–२१)—पश्चिमी शक्तियों से विरोध और इसके कारण:—लिखित इतिहास में शायद ही किसी शासन-पद्धति को अपने जन्म के समय इतनी तीव्र और दीर्घ प्रसव वेदना सहनी पड़ी हो जितनी रूस के साम्यवादी सोवियत शासन-पद्धति को सहनी पड़ी थी। सोवियत शासन के प्रारम्भिक ४ वर्ष केवल अपने अस्तित्व को कायम रखने के उस संघर्ष में व्यतीत हुए जो रूसी इतिहास का सम्भवत: समाज से अधिक निराशापूर्ण संघर्ष था जिसमें अन्तत: ट्रॉटस्की (Trotsky) द्वारा संगठित लाल सेना साम्यवादी शासन को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुई।

क्रान्ति के बाद सोवियत रूस के ये आरम्भिक ४ वर्ष विदेश नीति की दृष्टि से पश्चिमी शक्तियों के साथ उग्र संघर्ष के रहे। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—(१) रूसी क्रान्ति को अन्य देशों में फैलाकर पूंजीवादी, बुर्जुआ सरकारों की समाप्ति का ध्येय, (२) रूस द्वारा जर्मनी के साथ पृथक संधि करना, (३) रूस द्वारा मित्र राष्ट्रों से लिये गये सार्वजनिक ऋणों की अदायगी न करने का निश्चय करना, और (४) मित्र राष्ट्रों द्वारा रूसी क्रान्ति को समाप्त करने के लिये सेनाओं का भेजना।

स्पष्टता की दृष्टि से इन सभी कारणों का विस्तार से वर्णन इस प्रकार है:—

पहला कारण:—रूसी साम्यवादी अपनी क्रान्ति को विश्व क्रान्ति का अग्रदूत समझते थे। उन्होंने अपनी क्रान्ति को अन्तर्राष्ट्रीय निम्न वर्ग की विश्व क्रान्ति की ओर एक पग मात्र माना जिसका उद्देश्य पूंजीवाद तथा राष्ट्रवाद के सम्पूर्ण विनाश का मार्ग प्रशस्त करना था। वे राज्य प्रभुसत्ता के सिद्धान्त

को नहीं मानते थे। उनका स्पष्ट मत था कि प्रत्येक सच्चे साम्यवादी का यह कर्त्तव्य है कि सम्पूर्ण विश्व में पूंजीवाद का अन्त करे और साम्यवादी विश्व क्रान्ति के विचार को मूर्त रूप देने के लिये सक्रिय प्रयत्न करे। साम्यवादियों का मूल यन्त्र कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो का यह नारा था—"विश्व के मजदूरों एक हो जाओ। तुम्हें अपनी बन्धन शृंखलाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है।" मार्च १९१९ में मास्को में एक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें विश्व क्रान्ति की योजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिये 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) या 'कोमिन्टर्न' (Comintern) नामक संस्था का रूसी सरकार की सहायता से संगठन हुआ (इस संगठन को तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय इसलिए कहा गया क्योंकि इससे पहिले दो ऐसे ही संगठन और भी बन चुके थे। १८६४ में कार्ल मार्क्स ने प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय [First International] मजदूर संगठन स्थापित किया था। इसके बाद दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन [Second International] १८८९ में बना जो प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर बन्द हो गया)। मास्को में प्रधान कार्यालय रखने वाली इस संस्था का प्रमुख कार्य विभिन्न देशों में साम्यवादी दलों का संगठन करना, उन्हें धन की सहायता देना, साम्यवादी साहित्य और साम्यवादी प्रचारकों को विभिन्न राष्ट्रों में भेजना, श्रमिकों और कृषकों में वर्तमान पूंजीवादी तथा बुर्जुआ सरकारों के विरुद्ध क्रान्ति और विद्रोह की भावनायें भड़काना आदि थे। यह संस्था अपने को विश्व-क्रान्ति का प्रधान सैन्य अधिकारी मण्डल समझती थी। जब इस संस्था के ऐसे क्रान्तिकारी उद्देश्य थे तो विदेशी सरकारों का इससे भयभीत होना सर्वथा स्वाभाविक था। जर्मनी, हंगरी और बाल्टिक राज्यों ने इस संस्था द्वारा इन देशों के क्रान्तिकारी दलों को दी जाने वाली सहायता का घोर विरोध किया। इस संस्था ने संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे पूंजीवादी राष्ट्र में भी 'लाल आतंक [Red Scare] को जन्म दिया, फलतः सैकड़ों संदिग्ध व्यक्तियों को वहां से निर्वासित कर दिया गया। गैर-साम्यवादी देश इस संस्था के कार्य-कलापों से और साम्यवादियों के उद्देश्यों से इतने भय-त्रस्त हो गये कि अनेक देशों में साम्यवादी लाल झंडे का फहराना अपराध बना दिया गया। १९२१ तक सोवियत सरकार की वैदेशिक नीति का ध्येय यही रहा कि विश्व क्रान्तिकारियों तथा विद्रोहियों को प्रोत्साहित किया जाए। इस संस्था में अर्थात् 'कोमिटर्न' में सभी देशों के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि शामिल थे और विशेषकर रूसी साम्यवादियों की प्रधानता थी तथा संसार के प्रायः सभी पूंजीवादी राष्ट्र उसे रूस के वैदेशिक विभाग का ही दफ्तर समझते थे। इस संस्था के कार्य-कलापों और इसकी गति-विधियों को देखते हुए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि साम्यवादी रूस और विभिन्न प्रजातान्त्रिक देशों के मध्य तीव्र विरोध तथा उग्र संघर्ष विधिवत् विद्यमान रहे।

दूसरा कारण—दूसरा कारण यह था कि क्रान्ति के बाद रूस युद्ध से अलग हो गया और उसने मार्च १९१८ में जर्मनी के साथ ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि कर ली जिससे जर्मनी पूर्वी मोर्चे से निश्चित होकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति पश्चिमी और दक्षिणी मोर्चों पर लगा सका। इस सन्धि के द्वारा रूस ने जर्मनी को रूसी, पोलैण्ड, लियुआनिया, कूरलैंड, लिवोनिया, इस्टोनिया

प्रदेश और कुछ टापू प्रदान किये। टर्की को कार्स, बातुम, [Batum], अर्दाहन [Ardahan] के प्रदेश मिले। फिनलैंड, यूक्रेन तथा जार्जिया को रूस द्वारा स्वतंत्र स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त रूस ने १२ करोड़ मार्क का हर्जाना जर्मनी को देना मंजूर किया। ब्रैस्ट लिटोवस्क की इस सन्धि से रूस को ५ लाख वर्गमील प्रदेश, ६,६०,००,००० जनसंख्या, ८६ प्रतिशत कोयले की खानों, ८५ प्रतिशत चुकन्दर, ५४ प्रतिशत औद्योगिक कारखानों और ३२ प्रतिशत कृषि भूमि से वंचित होना पड़ा। इससे जर्मनी को यूक्रेन का पजाऊ प्रदेश और आजरबैजान के तेल कूप प्राप्त हुए। साथ ही ईरान, अफगानिस्तान और भारत में ब्रिटिश विरोधी प्रचार के द्वार खुल गये तथा पूर्वी मोर्चे पर युद्ध की तरफ से निश्चिन्त हो जाने से पश्चिमी मोर्चो पर जर्मन फौजों की शक्ति आशातीत बढ़ गई। मित्र राष्ट्रों ने इस सन्धि को रूस द्वारा जानबूझ कर उन्हें हराने के लिये किया गया विश्वासघात समझा जबकि इस संस्था की अपमानजनक धाराओं को "रूस ने बड़ी शान्तिपूर्वक इस निश्छल विश्वास के साथ सहन किया कि जितने अधिक जर्मन लोग रूस के आन्तरिक प्रदेश में प्रवेश कर जायेंगे उतने ही अधिक अपने देश में रूसी क्रान्ति के संदेशवाहक बनेंगे।

तीसरा कारण—पश्चिमी शक्तियों के साथ साम्यवादी रूस के उग्र संघर्ष का तीसरा कारण यह था कि नवीन साम्यवादी रूस के द्वारा लिये गये सभी विदेशी ऋणों को चुकाने से इन्कार कर दिया। इसके अतिरिक्त विदेशी पूंजी द्वारा स्थापित औद्योगिक संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण, सब ज्योइंट स्टाक कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिपत्य स्थापित करना तथा व्यापारिक जहाजों का राष्ट्रीयकरण आदि ऐसे कार्य साम्यवादी सरकार द्वारा किये गये जिनसे पश्चिम के सम्बन्ध रूस से बहुत कटु एवं शत्रुतापूर्ण हो गये।

चौथा कारण—संघर्ष का चौथा कारण पाश्चात्य राष्ट्रों का रूस के ग्रह-युद्ध में बोलशेविक-विरोधी दलों को युद्ध सामग्री की सहायता और सैनिक हस्तक्षेप तथा रूस के आर्थिक प्रतिरोध (Blocked) की नीति थी। साम्यवादियों की कार्यवाही से क्रोधित होकर मित्र राष्ट्रों ने रूस की सोवियत सरकार को मानने से इन्कार कर दिया। इन राष्ट्रों की सक्रिय सहायता पाकर प्रतिक्रियावादियों ने कई जगह 'श्वेत' सरकारें कायम कर लीं। मित्र राष्ट्र क्रान्तिकारियों को केवल भड़काकर ही संतुष्ट नहीं हुए अपितु सोवियत संघ का अन्त करने के लिए उन्होंने स्वयं उस पर धावा बोल दिया। फिर भी रूस पर आक्रमण करने के लिए कोई न कोई बहाना होना चाहिये था और मित्र राष्ट्रों ने धावा बोलने से पहले ऐसा बहाना खोज निकाला। उस समय आर्केजिल तथा मुरमान्स में युद्ध सामग्रियां प्रचुर मात्रा में पड़ी थीं। मित्र राष्ट्रों को भय था कि यह विशाल युद्ध सामग्री कहीं जर्मनी के हाथ न लग जाए। अतः इस सामग्री को जर्मनी से बचाने का बहाना लेकर मित्र राष्ट्रों ने रूस पर विधिवत् आक्रमण कर दिया। १६ नवम्बर १९१७ को फ्रांस, ब्रिटेन, और संयुक्त राज्य अमेरिका ने बोल्शेविक शासन को सब प्रकार का सामान देना बन्द कर दिया। ३० दिसम्बर १९१७ को जापानी सेनायें ब्लाडी-वोस्टक में उतरी, १९१८ में चैकोस्लोवाक, फ्रैन्च, अमेरिकन और

जापानी फौजों ने बोल्शेविक क्रांति के विरोधी रूसियों से सहयोग करते हुए रूस के विभिन्न प्रदेशों को जीतना शुरू किया। फ्रांस ने ओडेसा, ब्रिटेन ने बाकू, जापान ने पूर्वी फाइबीरिया, अमेरिका ने आर्कजिल तथा ब्लाडीवास्टक तथा रूमानिया ने बेसरेबिया पर अपना अधिकार कायम कर लिया। उधर ऐस्थोनिया, लेटाविया, लिथुआनिया, फिनलैंड तथा काकेशस के पार के प्रान्तों ने भी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इस तरह आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से सोवियत साम्यवादी सरकार की हालत शोचनीय बन गई।

उपरोक्त शोचनीय स्थिति में रूस की रक्षा करने के लिए ट्रॉट्स्की के नेतृत्व में "लाल सेना" युद्ध क्षेत्र में कूद पड़ी। मित्र राष्ट्र अनेक वर्षों से लड़ते-लड़ते इतने परिश्रांत और क्लांत हो चुके थे कि उनमें रूस की इस लाल सेना के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाने की क्षमता नहीं थी। इसके अतिरिक्त रूस एक विशाल देश था, अत: मित्र राष्ट्रों के लिए इस विशाल क्षेत्र में रूसियों का पूरी तरह मुकाबला करना आसान न था। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही उनके पांव उखड़ गये और अन्त में बोलशेविकों की विजय हुई। मित्र राष्ट्रों की सहायता मिलने के बावजूद क्रांति विरोधी प्रतिक्रियावादी अधिक दिनों तक मैदान में नहीं टिक सके। बौलशेविकों ने बहुत क्रूरता के साथ उनका दमन कर दिया। युद्ध अक्टूबर १९२० में समाप्त हुआ और १९२१ तक रूस में सर्वत्र बौलशेविक शासन सुदृढ़ हो गया।

मित्र राष्ट्रों द्वारा क्रांति को कुचलने के सैनिक प्रयत्नों ने तथा आर्थिक प्रतिरोध ने रूस को कट्टर विरोधी अविश्वासी बना दिया। उधर पश्चिमी राष्ट्रों ने भी एक लम्बे अर्से तक रूस की बोल्शेविक सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की।

रूस की नवीन साम्यवादी सरकार को पौलैण्ड के साथ भी संघर्ष में जूझना पड़ा। हुआ यह कि १९२० में पौलैण्ड ने अचानक ही रूस पर हमला बोल दिया। प्रारम्भ में पौलैण्ड को विजय मिली लेकिन बाद में वह पराजित होने लगा और "लाल सेना" (Red Army) पोलिश फौजों का पीछा करते हुए वारसा तक पहुंच गई। यदि पौलैण्ड को फ्रांस और ब्रिटेन की सहायता न मिली होती तो वारसा का निश्चित रूप से पतन हो गया होता। लेकिन मित्र राष्ट्रों की सहायता पाकर युद्ध ने एक बार फिर पल्टा खाया और पौलैण्ड की सेना एक बार फिर आगे बढी। अन्त में दोनों राष्ट्रों में विराम संधि हो गई और 'रिगा' की संधि (१९२१) के अनुसार तथाकथित कर्जन रेखा को दोनों देशों के सीमान्त रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस तरह साम्यवादी सोवियत संघ को विदेशी आक्रमण और आन्तरिक विद्रोह दोनों से ही त्राण मिला।

सोवियत रूस और पश्चिमी राष्ट्रों की इस पहली रस्सा-कशी में दोनों पक्ष बराबर रहे। न तो रूसी साम्यवादी अपने विश्व क्रांति के स्वप्न को साकार करने में सफल हुए और न ही पश्चिमी राज्य साम्यवादी रूस को नष्ट करने की अपनी आकांक्षा में सफलता प्राप्त कर पाये। साम्यवादी रूस की आशा के विपरीत अन्य राज्यों में श्रमिक क्रान्तियां नहीं हुई और पश्चिमी राज्यों ने अपने आप को प्रथम महायुद्ध के तुरन्त बाद थकी हुई अपनी

फौजों द्वारा रूस के नवीन साम्यावदी शासन को विनष्ट करने में असमर्थ पाया। इस तरह पूंजीवादी और साम्यवादी शक्तियों का प्रथम संघर्ष अनिर्णीत अवस्था में समाप्त हुआ।

द्वितीय अवस्था (१६२१-३४)-विदेशों में सम्पर्क और कूटनीतिज्ञ मान्यता की खोज—ट्रोटस्की की कुशलता ने रूस को विदेशी 'हस्तक्षेप' और आंतरिक विद्रोह से मुक्ति मिल गई, लेकिन निर्धन और नि:शक्त होकर उसको अपनी नष्ट प्राय: अपनी अर्थ व्यवस्था को सुधारने के लिए तुरंत ही पश्चिम के साथ व्यापार व सम्पर्क की आवश्यकता पड़ी। किन्तु इसके साथ ही सुरक्षा उसकी विदेश नीति की प्रमुख समस्या बनी रही क्योंकि जहां सदैव की भांति जितनी उसे पाश्चात्य जगत की आवश्यकता थी उतना ही अधिक उसे भय और अविश्वास भी था और उसकी सुरक्षा सम्बन्धी समस्याओं में भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया था। पूर्व में जापान साइबेरिया पर आक्रमण का संकट उत्पन्न कर रहा था तो पश्चिम में शांति संधियों से राज्यों का एक ऐसा चक्र बन गया था जिसके परिणामस्वरूप रूस को यूरोप से एक प्रकार से निष्कासित करके उसे अपनी बलोटिक चोटियों से वंचित कर दिया गया था।

जो भी हो, रूस के तत्कालीन शासकों के लिए अपने देश को आर्थिक प्रभाव से मुक्ति दिलाने के लिए कुछ न कुछ करना आवश्यक था। साम्यवादी रूस के महान् नेता लेनिन ने इस स्थिति का अनुभव करते हुए 'नई आर्थिक नीति' (New Economic Policy–NEP चलाई। इस नीति के अनुसार विदेशी व्यापार, बैंकिंग, बड़े उद्योगों तथा सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं के सम्बन्ध में साम्यवाद के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को मानते हुए भी आन्तरिक व्यापार, कृषि और लघु उद्योगों के क्षेत्र में पूंजीवाद को स्वीकार किया गया। रूस ने गृह-नीति में ही यह महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया बल्कि आर्थिक कारणों से बाध्य होकर पश्चिमी देशों के साथ उग्र संघर्ष और असहयोग की नीति का भी किसी हद तक परित्याग किया। रूस को अपने आर्थिक पुनरुद्धार के लिये बाहर से मशीनों, पक्के माल, कारीगरों और इन्जीनियरों का अयात करना अत्यावश्यक था। इससे वह अनाज, तेल, इमारती लकड़ी और अन्य कच्चा माल विदेशों में भेजकर प्राप्त कर सकता था।

कुल मिलाकर १६२१--३४ **के इस युग में रूसी साम्यवादी नीति के प्रधान लक्ष्य ये थे**—(१) जर्मनी को साम्यवादी विरोधी गुट का सदस्य बनने से रोकना; (२) पश्चिमी देशों से कूटनीतिक मान्यता अथवा अभिज्ञान (Diplomatic Recognition) प्राप्त करना. एवं (३) क्रांति की सफलताओं का पुनर्गठन करना तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु पूंजीवादी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना।

संक्षेप में सार रूप में यह कहना होगा कि यह युग वास्तव में एक अशांत सहअस्तित्व का युग था, क्योंकि अन्य राज्यों ने इस युग में साम्यवादी रूस को तथ्यत: मान्यता (Defacto recognition) तो प्रदान कर दी थी लेकिन वैधानिक मान्यता (De-Jure recognition) बहुत थोड़े राज्यों ने ही प्रदान की थी। चूंकि दूसरे देश भी अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के

लिये रूस के साथ व्यापार बढ़ाने को उत्सुक थे, अतः साम्यवादी रूस और बुर्जुआ देशों में व्यापारिक समझौते होने लगें। साम्यवादी रूस की विदेश नीति की इस दूसरी व्यवस्था का प्रथम परिणाम मार्च १९२१ का ब्रिटिश-रूसी व्यापार समझौता था। १९२१ के अन्त तक ११ अन्य राज्यों के साथ भी इसी प्रकार के समझौते सम्पन्न हो गये, परन्तु फिर भी अधिकांश राज्य साम्यवादी रूस के साथ कूटनीतिज्ञ सम्बन्ध स्थापित करने को उद्यत नहीं थे और इसका प्रमुख कारण यही था कि साम्यवादी रूस ने जारशाही रूस के विदेशी ऋणों को अमान्य घोषित कर दिया था। परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन लाने के लिये रूसी विदेश मंत्री चिचेरिन (Chicherin) ने १९२१ में यह प्रस्ताव रखा कि यद्यपि रूस अपने आप को इन ऋणों से बाधित नहीं समझता फिर भी वह इस समस्या पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में विचार करने के लिये तैयार है। रूस के इस प्रस्ताव के फलस्वरूप १९२२ के जेनेवा सम्मेलन में चिचेरिन पहली बार पूंजीवादी देशों के प्रतिनिधियों से व्यापारिक संधियां करने के लिये मिला, परन्तु कोई समझौता न हो सका। इसमें सबसे बड़ी बाधा पश्चिमी राज्यों द्वारा रूस को दिये गये ऋणों की अदायगी की मांग ही थी जबकि रूस का यह कहना था कि यद्यपि उसे मित्र राष्ट्रों का १३ अरब डालर चुकाना था परन्तु आर्थिक प्रतिरोध और सैनिक हस्तक्षेप द्वारा रूस को पहुँचाई गई हानि के बदले उसे पश्चिमी राज्यों से ६० अरब डालर लेना भी था। स्पष्टता की दृष्टि से यह कहना चाहिये कि चिचेरिन रूसी ऋणों को स्वीकार करने तथा विदेशियों की जप्त की गई सम्पत्ति को वापिस लौटाने या उसका मुआवजा देने को तैयार था किन्तु इनके बदले में तीन बातें चाहता था— (१) मित्र राष्ट्रों के 'हस्तक्षेप' से सोवियत संघ को पहुंची क्षति का मुआवजा दिया जाए; (२) सोवियत सरकार को तुरन्त ही विधिवत मान्यता प्रदान की जाए, और (३) रूस के पुनर्निर्माण के लिये ऋण दिया जाए। स्पष्ट है इस प्रकार के दावों और प्रतिदावों के कारण जेनेवा सम्मेलन असफलता की कहानी दोहराते हुए भंग हो गया।

दोनों पक्षों के अपनी बात पर अड़े रहने से अन्य देशों से तो कोई समझौता न हो सका किन्तु जर्मनी ने रैपेलो की संधि १६ अप्रैल, (१९२२) द्वारा रूस के ऋणों को रद्द करने की बात स्वीकार करके उससे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इस तरह जेनेवा सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दो तत्कालीन अछूतों (जर्मनी और रूस) को निकट आने में सहायता दी।

यद्यपि रैपेलो की संधि के द्वारा जर्मनी ने साम्यवादी रूस को "वैधानिक मान्यता" (De-Jure recognition) प्रदान कर दी किन्तु फिर भी १९२३ के अन्त तक रूस एक अन्तर्राष्ट्रीय अछूत ही बना रहा। इन परिस्थितियों में १९२४ में उसने यह घोषणा की कि जो राज्य उसे सबसे पहले 'वैधानिक मान्यता' प्रदान करेगा उसके साथ वह एक विशेष रूप से लाभप्रद व्यापारिक संधि करेगा। चूंकि दूसरे देश भी रूस की मंडियों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने रूस को मान्यता प्रदान करते हुए उसके साथ आर्थिक संधियां करना आरम्भ कर दिया। सौभाग्यवश १९२४ में ब्रिटेन की परराष्ट्र-नीति में परिवर्तन हुआ और वह रूस के साथ कूटनीतिज्ञ सम्बन्ध

स्थापित करने के पक्ष में हो गया। इसी समय फ्रान्स में भी समाजवादी दल की जीत हुई तथा यूरोपीय देशों और रूस के मध्य अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का अनुकूल वातावरण स्थापित होने लगा। ग्रेट ब्रिटेन ने १ फरवरी १९२४ को रूसी सरकार को मान्यता दी। इटली ने ७ फरवरी को तथा फ्रांस ने २८ फरवरी को इसी प्रकार की मान्यतायें प्रदान कीं। १९२४ के समाप्त होते-होते सोवियत संघ को १५ यूरोपियन राज्यों की मान्यता प्राप्त हो गई। अगले वर्ष संसार के अधिकांश प्रमुख राज्यों की मान्यता भी उसे मिल गई। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका ही एक ऐसा राष्ट्र बचा रहा जिसने १९३३ तक सोवियत संघ को अपनी मान्यता प्रदान नहीं की।

रूस के साथ पश्चिमी देशों के सम्बन्धों में जो उपर्युक्त सुधार हुए उसका एक बड़ा कारण यह था कि रूस विश्व क्रान्ति के विचार का शनैः २ परित्याग करने लगा था। २१ जनवरी, १९२४ को लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन साम्यवादी क्रान्ति को रूस में ही सुदृढ़ करने का पक्षपाती था, यद्यपि उग्रवादी ट्रॉट्स्की पूर्ण रूप से विश्व क्रान्ति का समर्थक था। परन्तु सितारा स्टालिन का ही चमका। अगले दो वर्षों में ट्रॉट्स्की का दल पराभूत हो गया, ट्रॉट्स्की को निष्कासित कर दिया गया, और अपने ही देश में साम्यवाद को दृढ़ करने की नीति का समर्थक स्टालिन रूस का सर्वेसर्वा बन गया। विश्व क्रान्ति की नीति के परित्याग की व्यावहारिक अभिव्यक्ति के रूप में रूस ने अपने पड़ौसी राज्यों के साथ अनेक अनाक्रमण समझौते किये। ये राज्य थे—टर्की (१९२५, १९३५); जर्मनी (१९२६); अफ़गानिस्तान (१९२६); लिथुआनिया (१९२६); ईरान (१९२७); फिनलैंड, इस्टोनिया, पोलैण्ड (१९३१); लैटविया, चैकोस्लोवाकिया (१९३३); यूगोस्लाविया और इटली (१९३३)। हिटलर के उत्कर्ष से भयभीत होकर रूस ने जर्मनी के कट्टर शत्रु फ्रांस के साथ भी १९३२ में तटस्थता की संधि सम्पन्न की।

इस प्रकार १९३४ तक की इस अवधि में रूस ने पूंजीवादी राज्यों से समझौते करने की नीति का अनुसरण किया, परन्तु कोमिन्टर्न द्वारा अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने के प्रयत्नों के कारण पश्चिमी राज्य रूस को अविश्वास और संदेह की दृष्टि से देखते रहे। इसीलिये संयुक्त राज्य अमेरिका १९३३ से पूर्व रूस को वैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिये उद्यत नहीं हुआ। अमेरिका द्वारा रूस को मान्यता न देने के मूल में एक प्रमुख कारण यह भी निहित था कि रूस ने अमेरिका का ८० करोड़ डालर का ऋण नहीं चुकाया था। किन्तु शीघ्र ही ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुईं जिसके वशीभूत होकर अमेरिका साम्यवादी रूस को वैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिये तत्पर हो गया। १९३२ में रूस में अमेरिकन माल की बिक्री का मूल्य घटते हुए १.३० लाख डालर रह गया जो लंदन और जर्मनी के व्यापार का क्रमशः १/३ तथा १/१० था। इसलिये अमेरिकन व्यापारी अपनी सरकार से रूस के साथ सम्बन्ध बढ़ाने पर बल देने लगे। इसके अतिरिक्त सुदूरपूर्व में जापान ने मन्चूरिया पर आक्रमणकारी कार्यवाहियां प्रारम्भ कर दी। जापान अमेरिका के लिये एक शक्तिशाली प्रतिद्वंदी था और रूस का वह कट्टर शत्रु था। अतः जापान के विरुद्ध दोनों राष्ट्रों ने परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना उचित समझा। अमेरिका सोवियत संघ के साथ

मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में इसलिये भी प्रवृत्त हुआ कि स्वयं सोवियत संघ अब कोई सामान्य शक्ति नहीं रह गया था। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में एक महान शक्ति के रूप में उदित हो चुका था। अत: जब रूजवैल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति बना तो उसने सोवियत संघ को मान्यता प्रदान करने की दिशा में प्रयत्न करने शुरू कर दिये। लन्दन में विश्व-अर्थ-सम्मेलन (१९३३) के अवसर पर सर्व प्रथम अमेरिकन प्रतिनिधि विलियम बुलिट और रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव (Litvinov) की मुलाकात हुई। इसके बाद अक्टूबर में राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने सोवियत राष्ट्रपति कालीनिन को पत्र भेजकर दो प्रतिनिधियों को वार्ता करने के लिये वाशिंगटन भेजने का आग्रह किया। सोवियत संघ ने इस निमंत्रण का स्वागत किया और अन्त में लिटविनोव वशिंगटन आ पहुंचा तथा सोवियत संघ और अमेरिका के मध्य कूटनीतिज्ञ सम्बन्ध विधिवत स्थापित हो गये। दोनों देशों के मध्य एक संधि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा दोनों सरकारों ने एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा का और विरोधी प्रचार करने वाले दलों के दमन का वचन दिया। रूस ने अमेरिका की यह बात मान ली कि अपने देश में आने वाले अमेरिकन यात्रियों को वह धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करेगा। इस सन्धि का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि रूस की साम्यवादी सरकार को संसार की सभी महान शक्तियों ने स्वीकार कर लिया।

यद्यपि रूस विश्व शांति और निःशस्त्रीकरण का प्रबल समर्थन करता रहा और १९२७ के पश्चात् उसने अनाक्रमण (Non-aggr ssion) व आक्रान्ता (Aggressor) की परिभाषा सम्बन्धी अनेक समझौतों (Pacts) पर हस्ताक्षर किये, तथापि राष्ट्र संघ को वह शताब्दी की 'सर्वाधिक निर्लज्ज लुटेरा संधि (वर्साय) की उपज' मानता रहा और उसके साथ असहयोग करता रहा।

तृतीय अवस्था–पश्चिम के साथ सहयोग (१९३४–३८)—१९३३ में जर्मनी में हिटलर के उत्थान के साथ रूस की विदेश नीति एवं शान्ति समस्या में एक मौलिक परिवर्तन आया। हिटलर स्पष्ट रूप से पूर्व की विजय तथा बाल्शेविकवाद के विरुद्ध एक सशस्त्र आक्रमण पर कटिबद्ध था। उसने अपने को साम्यवाद का घोर शत्रु घोषित किया था तथा जर्मनी में उस समय रूस से बाहर सबसे बडे साम्यवादी दल को नेस्तनाबूद कर दिया था। इन परिस्थितियों में मास्को का भयभीत होना स्वाभाविक था और बर्लिन के आक्रमण को रोकने के लिये उसे पर्याप्त रूप से शस्त्र-सज्जित होने की आवश्यकता थी। साथ ही उसके लिये यह भी आवश्यक था कि किसी पश्चिमी आक्रान्ता से युद्ध करने की स्थिति में कहीं वह अकेला न फंस जाए। इसलिये, इन सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए ही, रूस ने अपने को पूर्ण रूप से सशस्त्र बनाने का तथा अधिकाधिक राज्यों के साथ मैत्री–सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। हिटलर के विरुद्ध सुरक्षा पाने के लिये पश्चिमी राष्ट्रों से सहयोग करने तथा फासिज्म के विरुद्ध सब पश्चिमी देशों के लोकतन्त्रों की समाजवादी पार्टियों द्वारा **संयुक्त मोर्चा बनाने** की नीति अपनाई गई। जापान द्वारा मंचूरिया की विजय ने भी रूस को ऐसा कदम उठाने के लिए बाध्य किया। रूस ने पाया कि फासिस्ट शक्तियों के उदय से उत्पन्न हुई परिस्थितियों में अना-

क्रमण समझौते की नकारात्मक नीति अपर्याप्त थी। अतः अपने अर्घ-पार्थक्य को दूर करने एवं अपनी सुरक्षा-व्यवस्था को मजबूत बनाने के लिये यह नितान्त आवश्यक था कि रूस पाश्चात्य शक्तियों से निकटतर सम्बन्ध स्थापित करने की ओर प्रवृत्त होता। जापान और जर्मनी के विरुद्ध अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की नीति का आचरण ग्रहण करते हुए सबसे पहले रूस ने १९३३ में चीन के साथ १९२९ में टूट गये अपने कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना की। इसके बाद उसने संयुक्त राज्य अमेरिका से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। वास्तव में जापानी साम्राज्यवाद का विकास अमेरिका के लिए भी उतनी ही चिन्ता का विषय था जितना रूस के लिए। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अमेरिका ने रूस के मैत्री प्रयत्नों का स्वागत किया। सर्व प्रथम लन्दन के विश्व-अर्थ-सम्मेलन (१९३३) के अवसर पर अमेरिकन और रूसी प्रतिनिधियों के मध्य मैत्री वार्ता हुई। तदुपरान्त राष्ट्रपति रूजवैल्ट के आमन्त्रण पर नवम्बर १९३३ में रूस का लिटविनोव (Litvinov) वाशिंगटन पहुंचा और रूस एवं अमेरिका के मध्य विधिवत कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना हो गई।

राष्ट्र-संघ में प्रवेश के पश्चात २ मई, १९३५ को रूस ने अपने पिछले सभी मतभेदों एवं झगड़ों को भुलाते हुए फ्रांस के साथ पारस्परिक सहायता का १८९४ जैसा सैनिक समझौता किया। यद्यपि फ्रांस और साम्यवादी रूस के मध्य अनेक मतभेद थे, किन्तु हिटलर का उदय दोनों ही के लिये विशेष चिन्ता की बात थी और इसीलिये दोनों राष्ट्रों में अनाक्रमण समझौता होना कोई अस्वाभाविक घटना न थी। फ्रांस के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के बाद पोलेण्ड तथा बाल्टिक राज्यों के साथ भी मास्कों ने अनाक्रमण समझौते किये तथा टर्की और ग्रेट ब्रिटेन से घनिष्ठता बढ़ाई। १६ मई १९३५ को चैकोस्लोवाकिया के साथ भी उसकी संधि हुई। इस तरह रूस ने फ्रांस एवं चैकोस्लोवाकिया के सहयोग से नाजी आक्रमण के विरुद्ध संघ का संगठन सुदृढ़ किया। मार्च १९३६ में बाह्य मंगोलिया के साथ एक पारस्परिक सहायता संधि की गई जिसका उद्देश्य आन्तरिक मंगोलिया को जापान के प्रवेश को रोकना था। इस समय तक रूस वस्तुतः एक विशाल शक्ति सम्पन्न देश बन चुका था। अतः २,५०,००० सैनिकों की एक सुदूरपूर्वी सेना जल-तटीय प्रान्त में स्थापित की गई जो जापानी आक्रमणकारियों से लड़ने को निरन्तर तैयार रह सके। जनवरी १९३६ तक इस सेना की संख्या बढ़ाकर १,३०,००,००० कर दी गई। यह सेना एक पूर्णतः आत्मनिर्भर सेना थी जिसके पास ६ हजार टैंक और ७ हजार वायुयान थे।

इन सभी समझौतों और संधियों से रूस की स्थिति पर्याप्त रूप से दृढ़ हो गई। इस समय रूसी साम्यवादी नीति ने एक और भी नया क्रान्तिकारी मोड़ लिया। देश तथा विदेश दोनों में १९३४-३५ में "कोमिन्टर्न" (Comintern) में यकायक एक उबाल उठा विश्व क्रान्ति की नीति के प्रतिकूल रूस ने पाश्चात्य लोकतन्त्रीय राष्ट्रों में साम्यवादियों को फासिस्ट शासन का विरोध करने वाले बुर्जुआ दलों-उदारवादी, समाजवादी आदि के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा (United Front) बनाने को कहा। फलस्वरूप अब प्रत्येक देश के साम्यवादी दलों ने अन्य प्रगतिशील तत्वों के साथ

फासिस्टवाद के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा स्थापित किया। **वास्तव में रूसी विदेश नीति में यह एक बिल्कुल नया परिवर्तन था क्योंकि जो समाजवादी, उदारवादी आदि उपरोक्त सभी दल "पूंजीवाद के पिट्ठू" कहे जाते थे, वे १९३४ के बाद अब "साम्राज्यवाद के विरुद्ध किये जाने वाले अभियान में बहुमूल्य सहयोगी" समझे जाने लगे।** शीघ्र ही अनेक देशों में स्टालिन का उसकी इच्छाओं को कार्यान्वित करने को तत्पर तथा आज्ञाकारी अनुयायियों की एक बड़ी संख्या को नियंत्रित करने में सफलता मिल गई। स्पेन और फ्रांस में १९३५-३६ में उपरोक्त प्रकार के संयुक्त तथा लोकप्रिय मोर्चों (Popular fronts) की सरकारों का निर्माण हुआ। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, चैकोस्लोवाकिया और संयुक्त राज्य अमेरिका में संयुक्त मोर्चे को लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी। साम्यवादी रूस के इस प्रयत्न की फासिस्ट देशों में गम्भीर प्रतिक्रिया हुई और इसीलिए फासिस्ट शक्तियों ने संयुक्त मोर्चे का मुकाबला "Anti-Comintern Pact" के निर्माण द्वारा किया। ६ नवम्बर १९३७ को इटली ने भी 'एन्टी-कोमिन्टर्न पैक्ट' पर हस्ताक्षर कर दिये और इस प्रकार प्रत्यक्षतः रूस और अन्ततः पश्चिमी राज्यों के विरुद्ध रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी (Rome-Barlin-Tokiyo-Axis) का निर्माण हुआ। बाद में हंगरी, मंचूरिया एवम् फ्रैंको-शासित स्पेन भी इस पैक्ट में शामिल हो गये।

फासिस्टवादी शक्तियां यद्यपि साम्यवादी रूस के विरुद्ध एक-जुट हो गई, परन्तु उन्होंने उसे एक लौह-प्राचीर के समान पाया। नूरेम्बर्ग में हिटलर के साम्यवाद-विरोधी भाषण के प्रत्युत्तर में सोवियत रक्षा मन्त्री वोरोशिलोव (Voroshilov) ने १७ सितम्बर १९३६ को स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि, "जब शत्रु सोवियत यूक्रेन, या सोवियत बाईलोराशिया या संयुक्त संघ के किसी भी अन्य भाग पर आक्रमण करेगा, तब हम न केवल उसके अपने देश पर आक्रमण का प्रतिरोध करेंगे, वरन् उसे उस प्रदेश में हरायेंगे जहां से वह आता है।" रूस की इस दृढ़ प्रतिक्रिया को अनुभव करके जर्मनी ने यही निश्चय किया कि पहले रूस को न छेड़कर पश्चिम को नष्ट करने की दिशा में अग्रसर हुआ जाए।

१९३४ से १९३८ तक सोवियत रूस ने पाश्चात्य देशों के साथ सहयोग और मैत्री की नीति तो अपनाई, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से रूस और पश्चिम के मध्य कोई वास्तविक मित्रता स्थापित न हो सकी। हां, पश्चिमी जनतंत्र अवश्य ही फासिज्म को साम्यवाद के विरुद्ध तथा साम्यवाद को फासिज्म के विरुद्ध करने की अपनी युक्तियों में सफल हुआ और फासिज्म का हर स्थान पर विरोध करना रूसी नीति का एक मुख्य विषय बन गया। रूस एवम् पश्चिमी देशों के मैत्री सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए शूमैन (Schuman) ने ठीक ही लिखा है कि **"इस उद्वेग-पूर्ण मैत्री-भाव में पारस्परिक विश्वास का अभाव था।"** वास्तव में पश्चिमी राष्ट्रों का विश्वास था कि रूस का उद्देश्य अन्तिम रूप में पूंजीवाद का विनाश करना है इसलिये उसकी मित्रता केवल एक दिखावा मात्र है। परिणामतः वे फासिस्ट शक्तियों को साम्यवादी विरोधी तत्व

---

1. *Schuman* : International Politics, Page 530

समझकर बढ़ावा देने की नीति पर चलते रहे। ऐसे तीन प्रमुख अवसर आये जब पश्चिमी राष्ट्रों की नीति से स्पष्ट हो गया कि वे आड़े वक्त में रूस का साथ देने को तैयार नहीं है, उन्हें रूस पर विश्वास नहीं है और फासिस्ट आक्रमणों को रोकने की अपेक्षा उन्हें रूसी साम्यवाद को रोकने में अधिक दिलचस्पी है। पहला अवसर इटली-एबीसीनिया युद्ध था। इसमें रूस ने राष्ट्रसंघ के माध्यम से मुसोलिनी के बर्बर आक्रमणों से आदिस अबावा की रक्षा का भरसक प्रयास किया लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस ने एबीसीनिया तथा राष्ट्रसंघ की बलि देकर भी मुसोलिनी की रक्षा की। **दूसरा अवसर स्पेनिश गृहयुद्ध का था।** इस अवसर पर रूस ने स्पेन की जनतंत्रीय सरकार को सहायता भेजी और ऐंग्लो-फ्रेंच सरकारों से भी फासिस्टवादी फ्रैंकों ने सहायता ली।

इस सम्बन्ध में स्टालिन का यह कथन उद्धारणीय है—

"अनाक्रमणकारी देशों के बहुमत ने, विशेषतया इंगलैण्ड और फ्रांस ने, सामूहिक सुरक्षा की नीति को, आक्रमणकारियों के विरुद्ध सामूहिक प्रतिरोध की नीति को अस्वीकार कर दिया है और अहस्तक्षेप की स्थिति ग्रहण करली है जो कि 'तटस्थता' की स्थिति है..... अहस्तक्षेप की नीति इस बात की इच्छा और उत्सुकता को प्रकट करती है कि आक्रमणकारियों के अनुचित और हीन कार्य में बाधा न डाली जाय। जापान को चीन के साथ युद्ध में उलझने से न रोका जाय, अथवा सोवियत रूस से झगड़ने के उसके मार्ग में बाधा न डाली जाय। जर्मनी को यूरोपियन मामलों में दखल डालने से न रोका जाय, उसे सोवियत संघ से शत्रुता करके युद्ध करने से न रोका जाय। उनकी यह नीति बड़ी सामान्य और सस्ती है। उदाहरण के लिये जर्मनी को ही ले लीजिये। उन्होंने जर्मनी को यह जानते हुए भी आस्ट्रिया ले लेने दिया कि उन्होंने उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व ले रखा है, उन्होंने जर्मनी को सूडेटन प्रदेश पर अधिकार कर लेने दिया, उन्होंने चैकोस्लोवाकिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया और इस तरह अपने सभी उत्तरदायित्वों से मुख मोड़ लिया और इस तरह के सब कार्य करने के पश्चात उन्होंने बड़े जोर शोर से प्रेस में झूठमूठ 'रशियन सेना की कमजोरी' के बारे में प्रचार करना शुरू कर दिया, उन्होंने 'रूसी हवाई सेना' के उत्साहहीन होने और 'सोवियत संघ में विद्रोह होने तथा रूसियों द्वारा जर्मनों को पूर्व में आगे बढ़ आने का निमंत्रण देने तथा उनको रूस पर सरल विजय का वादा दिलाने और जर्मनों को यह लालच देने का कि "बाल्शेविकों से युद्ध शुरू कर दो और तब सब ठीक हो जायगा", भ्रामक प्रचार किया।"[1]

---

1. The majority of the non-aggressive, particularly England and France, have rejected the policy of collective security, the policy of collective resistance to the aggressors and have taken up a position of non-intervention, a position of 'neutrality'....The policy of non-intervention reveals an eagerness, a desire, not to hinder the aggressors in their nefarious work : not to hinder Japan, say from embroiling herself in a war with China, or, better still, with the Soviet

पाश्चात्य जनतन्त्रवादी देश रूस के साथ असहयोग करने की नीति से ही संतुष्ट नहीं हुए बल्कि ब्रिटिश, फ्रेंच और अमेरिकन प्रेस ने सोवियत यूक्रेन (Ukrain) के प्रश्न को लेकर बड़े उग्र रूप से झूठा प्रचार किया। उनका प्रचार था कि बसन्त ऋतु के पूर्व ही जर्मनी "सोवियत यूक्रेन" पर अधिकार कर लेगा जिसकी जन-संख्या ३ करोड़ से भी अधिक है। इस प्रचार का मूल उद्देश्य सम्भवतः रूस एवम् जर्मनी के मध्य तनातनी के वातावरण को अधिक उग्र करना था। स्टालिन ने पश्चिमी देशों के इस प्रकार के विचार का डटकर विरोध किया और विदेशी नीति के इन आधारों की घोषणा की—

(१) हम शांति चाहते हैं तथा समस्त देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हम स्थिति को उस समय तक बनाये रखेंगे जब तक अन्य देश भी सोवियत रूस के साथ इसी प्रकार का सम्बन्ध रखेंगे।

(२) हम उन सभी पड़ोसी देशों के साथ शांतिपूर्ण, निकटतम और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं जिनकी सीमायें सोवियत संघ से लगी हुई हैं। हम इस स्थिति को उस समय तक बनाये रखेंगे जब तक ये देश भी सोवियत संघ के साथ इसी प्रकार का सम्बन्ध रखेंगे और सोवियत संघ की सीमाओं का उलंघन नहीं करेंगे।

(३) हम उन राष्ट्रों की सहायता करेंगे जो आक्रमण का शिकार हैं और अपने देश की स्वाधीनता के लिए संघर्षरत हैं।

(४) हम आक्रमणकारियों की धमकियों से भयभीत नहीं है। जो देश सोवियत संघ की सीमाओं का उलंघन करने का प्रयास करेगा, उसकी लात का उत्तर मुक्के से दिया जाएगा।

स्टालिन ने अपने वक्तव्यों से इस बात का स्पष्ट आभास दे दिया कि रूस को पश्चिमी शक्तियों से सहयोग की आशा करना पूरी मृग-मरीचिका थी। **चतुर्थावस्था (१९३८-३९)**—म्यूनिख समझौते को सोवियत विदेश नीति के दो युगों का विभाजन कहा जाता है, क्योंकि इस समझौते से पूर्व मास्को की नीति पश्चिम के साथ सहयोग और मैत्री स्थापना की थी। लेकिन इसने फ्रांस और ब्रिटेन में रूस के विश्वास को कठोर आघात पहुंचाया, फलतः रूस

Union; not to hinder Germany, say, from enmeshing herself in European affairs, from embroiding herself in a war with the Soviet Union...cheap and easy. Take Germany for instance. They let her have Austria. despite the undertaking to defend her independence; they let her have the Sudeten region; they abandoned Czechoslovakia to her fate, thereby violating all their obligations, and then they began to lie vociferously in the press about "the weakness of the Russian Army," "the demoralization of the Russian Air-force" and "riots in the Soviet Union, egging the Germans on to march farther east, promising them easy pickings and prompting them; "Just start war on the Bolsheviks, and everything will be all right."

—*Stalin*

पश्चिम से विमुख होकर धुरी राष्ट्रों की मैत्री के लिये लालायित हो उठा। ब्रान्स हूपर (Brancc Hooper) के शब्दों में, "म्युनिख समझौता एक 'ब्लेक आउट' (Black out) पराजय थी–सोवियत यूनियन की विदेश नीति के दो युगों के मध्य की समय–सीमा थी। चारों पश्चिमी शक्तियों के राजनीतिज्ञों ने रूस को न केवल क्लब से निकाल बाहर किया बल्कि पश्चिम की ओर की सोवियत कूटनीतिक सुरक्षा–व्यवस्थाओं को बारूद से उडा दिया।"

सितम्बर १९३८ के म्यूनिख समझौते के पश्चात रूस ने अपने आप को एक पूर्णतया संकटापन्न स्थिति में पाया। रूस का कोई विश्वासपात्र मित्र न था। फ्रान्स पर अब कोई विश्वास नहीं किया जा सकता था, ब्रिटेन का मास्को की अपेक्षा बर्लिन की ओर अधिक झुकाव था। रूस इन स्थितियों में कुछ भी करने में स्वयं को असमर्थ पा रहा था। दिसम्बर १९३८ में रूस ने पोलेण्ड के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन पोलैण्ड ने एकदम बेरुखी दिखाते हुए रूस से मैत्री के लिये बढाये गये हाथ को ठुकरा दिया। जनवरी १९३९ में बर्लिन से सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये गये, लेकिन वहां भी निराशा ही हाथ लगी। इस प्रकार साम्यवादी सोवियत संघ की अवस्था अत्यन्त शोचनीय बन गई। विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति दिन–प्रतिदिन बिगडती जा रही थी और मास्को दिन-प्रतिदिन हतोत्साहित होता जा रहा था।

रूस जानता था कि पश्चिमी शक्तियां जर्मनी को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रही हैं। इसी बात से चिढ़कर १० मार्च १९३९ को स्टालिन ने साम्यवादी दल की १८वीं कांग्रेस के समक्ष स्पष्ट रूप से अपनी वह प्रसिद्ध वक्तृता दी जिसका उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी, अपनी मित्र–विहीन स्थिति से चिंतित होकर उसने पाश्चात्य देशों से एकदम विमुख होने की चेष्टा नहीं की प्रत्युत एक बार पुनः ब्रिटेन से मैत्री का प्रयास किया। मार्च १९३९ में हिटलर द्वारा चेकोस्लोवाकिया के शेष भाग के अपहरण ने ब्रिटिश प्रधानमत्री चैम्बरलेन की आंखें खोल दी थी। उसे इस बात का पूरा पता लग चुका था कि हिटलर पर विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु दुर्भाग्यवश चैम्बरलेन अब भी अपने सोवियत विरोधी दृष्टिकोण को नहीं त्याग सका था, अत: ऐंग्लो–सोवियत वार्ता का कोई वांछित परिणाम नहीं निकल सका। मास्को ने फासिस्ट आक्रमण के विरुद्ध रूस, ब्रिटेन और फ्रांस इन तीनों शक्तियों ने एक पैक्ट का सुझाव रखा, किन्तु लंदन और पेरिस दोनों ने इन्कार कर दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि जहां रूस चाहता था कि ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के मध्य एक ऐसी निश्चित संधि हो जिसके द्वारा तीनों शक्तियां पोलैण्ड और रूमानिया के साथ ही बाल्टिक सागर से लेकर कृष्ण–सागर तक रूस के पश्चिमी सीमान्त पर स्थित सभी राज्यों को जर्मन आक्रमण के विरुद्ध रक्षा का वचन दे, वहां फ्रांस और ब्रिटेन केवल पोलैण्ड तथा रूमा–निया के विरुद्ध जर्मन–आक्रमण की स्थिति में ही सैनिक कार्यवाही की घोषणा करना चाहता था। रूस के पश्चिमी सीमान्त पर स्थित अन्य राज्यों की रक्षा का वचन देना उन्हें स्वीकार न था। चर्चिल और लायड जार्ज ने रूस के प्रस्तावों को स्वीकार करने पर बल दिया पर चैम्बरलेन और हैली फैक्स ने उनकी इस तर्क–सम्मत बात पर ध्यान देना अनावश्यक समझा। अब रूस

पश्चिम की तरफ से एकदम निराश हो गया। ३ मई, १९३९ को पश्चिम पक्षपाती यहूदी लिट-विनोव को विदेशमन्त्री पद से हटाना पश्चिम के साथ सहयोग की नीति समाप्त करने की सूचना थी। नये विदेशमंत्री मोलोटोव ने जर्मनी के साथ मैत्री बढ़ाई जिसका परिणाम २३ अगस्त १९३९ का जर्मन-सोवियत अनाक्रमण समझौता था। संसार यह सुनकर स्तब्ध रह गया कि अब तक के दो कट्टर शत्रुओं ने परस्पर एक अनाक्रमण समझौता कर लिया है।

पश्चिमी राष्ट्रों के लिये सोवियत-जर्मन समझौता एक वज्रपात के समान था। पश्चिम ने यह आरोप लगाया कि "यह समझौता पाश्चात्य लोकतन्त्रों के साथ उनके मैत्री का विश्वासघात, शांति के मोर्चे का विघटक और सोवियत कूटनीति के दुरंगेपन का परिचायक है। उसने यह समझौता इसलिये किया है कि इसके परिणामस्वरूप पश्चिम और जर्मनी प्राणान्तक संघर्ष में जूझकर क्षीण हो जाए तथा ससार में साम्यवाद की प्रभुता स्थापित हो सके, रूस को पोलैण्ड के तथा बाल्टिक राज्यों के प्रदेश प्राप्त हो सकें।" परन्तु इस प्रकार के आरोप लगाते समय पश्चिमी राष्ट्र यह भूल गये थे कि वास्तव में ऐसे किसी भी समझौते के लिए वे स्वयं उत्तरदायी थे। वे बारबार जर्मनी को एक साम्यवाद विरोधी शक्ति मानकर प्रोत्साहित कर रहे थे और उसे सोवियत रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। विश्वासघात का आरम्भ उन्हीं के द्वारा हुआ था। म्यूनिख समझौते के समय रूस के साथ एक सर्वथा बुद्धिहीन विश्वासघात किया गया था। यही नहीं, अगस्त १९३९ में एक ऐसा ब्रिटिश-फ्रैंच सैनिक शिष्टमंडल रूस भेजा गया था जिसमें न तो ब्रिटिश या फ्रैंच मंत्रिमंडल का कोई सदस्य था और न ही उसे सैनिक संधि करने की शक्ति प्राप्त थी। इन सब बातों से रूस का जर्मनी की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक था। यदि सचमुच देखा जाए तो वास्तव में जिस प्रकार म्यूनिख समझौता सोवियत विदेशनीति की एक महान पराजय थी उसी प्रकार सोवियत-जर्मन अनाक्रमण समझौता सोवियत विदेशनीति की एक महान विजय तथा स्टालिन के तूफानी राजनीतिक जीवन की एक महान सफलता थी।

इस समझौते ने रूस पर जर्मन-आक्रमण की सम्भावनाओं को निश्चित काल के लिये टाल दिया। इस तरह रूस कुछ समय के लिये तो मित्रविहीन स्थिति से उत्पन्न संकट से निश्चित रूप से दूर हो गया। इसके अतिरिक्त इस संधि के साथ एक गुप्त समझौता भी हुआ जिसके द्वारा जर्मनी ने फिनलैंड, इस्टोनिया, लैटविया, पोलैंड के पूर्वी भाग और रूमानिया के बेसारबिया प्रदेश को रूस-प्रभावी क्षेत्र मान लिया। इस संधि का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि रूस विरोधी एन्टी-कोमिन्टर्न पैक्ट निष्फल हो गया। परिणामस्वरूप जब रूस पर जर्मनी द्वारा आक्रमण किया गया तब रूस को उसके विरुद्ध पश्चिमी राज्यों से पूरी-पूरी सहायता मिली।

पाश्चात्य देशों ने रूस पर यह आरोप लगाया कि उसकी नीति दुरंगी थी, जबकि वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। रूस तो पश्चिम राष्ट्रों को अपनी पूरी स्थिति पहिले ही स्पष्ट कर चुका था। जब उन्होंने रूस की शर्तें स्वीकार नहीं की तब ही जर्मनी से समझौता किया गया।

पंचमावस्था [अगस्त १६३६ से जून १६४१]—सितम्बर १६३६ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर सोवियत रूस पूर्ण रूप से तटस्थ बना रहा, परन्तु जर्मनी के विरुद्ध अपने को सशक्त बनाने के लिये वह निरन्तर प्रयत्न करता रहा। युद्ध में रूस की तात्कालिक सुरक्षा-समस्यायें सुलझी, क्योंकि उस समय कोई भी यूरोपियन शक्ति उस पर आक्रमण करने की स्थिति में न थी और पश्चिमी देशों की ओर से इस तरह अस्थायी सुरक्षा मिलना रूस को स्थायी सुरक्षा तथा उसे प्राप्त करने के साधनों पर विचार करने का अवसर मिला। जब जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण करके उसको जीत लिया तो अपनी किलेबंदी को और अधिक दृढ़ करने के उद्देश्य से मास्को ने भी पोलैंड के उन क्षेत्रों को, जो पहिले रूस के अधिकार में थे, अपने अधीन कर लिया। तत्पश्चात् उसने पोलैण्ड के बटवारे के लिए जर्मनी के साथ एक नया समझौता किया। २८ सितम्बर १६३६ के इस नये सोवियत-जर्मन समझौते के अनुसार पोलैंड को जातीय आधार पर विभाजित कर दिया गया। रूस ने इसका ७७,६२० वर्गमील का पूर्वी भाग प्राप्त किया जिसमें मुख्य रूप से 'श्वेत रूसी' और 'यूक्रेनियन' रहते थे। इसके परिणामस्वरूप रूस की सीमायें २५० मील पश्चिम की ओर बढ़ गई। रूस को तटस्थ रहने का यह मूल्य प्राप्त हुआ।

रूस पर प्राय: आरोप लगाया जाता है कि उसका उपर्युक्त कार्य पोलैण्ड की पीठ में छुरा भोंकना था। परन्तु ऐसा इसलिये नहीं कहा जा सकता कि पोलैण्ड को जर्मनी पहले ही समाप्त कर चुका था। यदि रूस उसका पूर्वी प्रदेश न लेता तो भी जर्मनी उस प्रदेश को अपने अधिकार में कर लेता। पोलैण्ड ने रूसी क्रांति का लाभ उठाते हुए १६२२ में यह प्रदेश बल-पूर्वक 'रीगा की संधि' द्वारा रूस से छीना था। अत: अब मौका पाकर यदि रूस ने बलपूर्वक वापिस ले लिया तो इसमें रूस का कोई दोष न था। इस प्रदेश पर रूसियों का ही वास्तविक रूप में अधिकार होना चाहिये था। इसके अतिरिक्त आत्मरक्षा की दृष्टि से भी रूस ने इस प्रदेश को हस्तगत किया था क्योंकि अब भावी जर्मन-रूस संघर्ष में जर्मनी के लिये पहिले २५० मील के इस प्रदेश को जीतना आवश्यक हो गया था।

इसके बाद रूस ने बाल्टिक राज्यों पर अपना संरक्षण लादने का प्रयत्न किया। हिटलर ने सोवियत रूस के इस दावों को मान लिया कि वह ट्यूटोनिक सरदारों (Teutonic Knights) के पुराने शासन पर अधिकार कर ले। उसने इस बात को भी स्वीकार कर लिया कि जो जर्मन्स बाल्टिक समुद्र के किनारों पर ७०० वर्षों से रह रहे थे वे यदि अपनी इच्छा से चाहें तो जर्मनी वापिस आ सकते हैं। निमन्त्रण और आक्रमण के साधनों द्वारा रूस सितम्बर–अक्टूबर १६३६ में इस्टोनिया, लैटविया और लिथुआनिया के मध्य यह समझौता कराने में सफल हो गया कि यदि किसी भी यूरोपियन महा-शक्ति का आक्रमण हुआ अथवा उनके आक्रमण का भय पैदा हुआ तो ऐसे मौके पर सामान्य रक्षा के लिये वे एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करेंगे। इतना ही नहीं, रूस ने बाल्टिक क्षेत्रों में अनेक स्थलों पर सैनिक छावनियां स्थापित करने तथा समुद्री एवम् हवाई अड्डों की स्थापना करने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया। रूस को पोलीतिस्की (Politiski), ओजेल (Oesel), डागो (Dago),

लीबौ (Libau), विन्दव (Windau) के नौ-सैनिक एवम् हवाई अड्डे स्थापित करने का अधिकार मिला।

१९३९ में रूस ने टर्की के साथ भी पारस्परिक सहायता के समझौते का प्रयत्न किया, परन्तु इस उद्देश्य में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि टर्की ने इस की शर्तों को स्वीकार नहीं किया। तब रूस द्वारा इस तरफ आगे प्रयत्न नहीं किये गये।

उपर्युक्त कार्यवाहियों के बाद जब रूस ने फिनलैण्ड के कुछ ऐसे सामूहिक प्रदेशों को अपने अधिकार में लेना चाहा जो जर्मनी के हाथ में पड़कर उसकी सुरक्षा के लिये संकट पैदा कर सकते थे। लेनिनग्राड के महत्वपूर्ण नगर के निकट उत्तर में करेलिया (Karelia) का स्थल-डमरूमध्य और इसके पास की खाड़ी के टापू तथा आर्कटिक सागर के तट पर पैटसामो (Petsamo) बन्दरगाह के समीप के प्रदेश इसी प्रकार के थे। अक्टूबर १९३९ में मोलोटोव ने मास्को में फिनलैण्ड के दूत-मण्डल से ३० वर्ष के पट्टे पर 'हाँको' का बन्दरगाह तथा उपर्युक्त प्रदेश मांगे। इन प्रदेशों के बदले में उसने लडोगा झील तथा आर्कटिक के मध्य में मध्य करेलिया का प्रदेश फिनलैण्ड को देने का प्रस्ताव किया परन्तु फिनलैण्ड अपने प्रदेशों को देने के लिये उद्यत नहीं हुआ क्योंकि इससे उसकी करेलिया स्थल डमरूमध्य की मैनरहाइम दुर्ग-पंक्ति बेकार हो जाती। रूस के प्रस्ताव फिनलैण्ड की सुरक्षा, तटस्था और स्वतन्त्रता के सर्वथा प्रतिकूल थे। लेकिन रूस तो लेनिनग्राड की रक्षा के लिये हांको और फिनलैण्ड खाड़ी के टापू लेने पर तुला हुआ था। इस हठवादिता का स्पष्टतः यह परिणाम हुआ कि रूस ने १९३२ के अनाक्रमण समझौते का उलंघन करते हुए फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड ने डटकर मुकाबला किया। उसने विदेशी देशों से सहायता की प्रार्थना की, परन्तु उसको कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई। अन्त में १/४ महिने के विस्तारपूर्ण प्रतिरोध के बाद मार्च १९४० में फिनलैण्ड को रूसी शर्तों को स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा। १२ मार्च १९४० को रूस से हुई संधि के अन्तर्गत विवश होकर फिनलैण्ड रूस को बिना किसी मुआवजे के पूरा "केरेलियन स्थल डमरूमध्य (Karelian I-hmu), लडोगा झील के किनारे, खाड़ी के अनेक टापूओं (Gulf Islands) और पेटसामो Petsamo) के समीप उत्तरी क्षेत्र की एक पट्टी देने के लिये सहमत हो गया। रूस को उत्तर में एक रेल्वे-निर्माण का अधिकार भी प्राप्त हुआ। उसको नार्वे तथा स्वीडन में स्वतन्त्रता-पूर्वक जाने का अधिकार भी मिला। फिनलैण्ड ने रूस को ३० साल के लिये ३ लाख ३० हजार डालर पर हांकों का वन्दरगाह भी प्रदान किया।

१९४० में जर्मनी द्वारा नार्वे, डेनमार्क, होलैण्ड, बैल्जियम, फ्रान्स आदि की विजयों से मास्को भयभीत हो गया और अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिये जून १९४० में सोवियत सेनाओं ने अचानक लिथूआनिया, लेटविया और इस्टोनिया पर अधिकार कर लिया। अगस्त में इनमें स्थानीय चुनाव कराके ये देश सोवियत संघ के अंग बना लिये गये। २- जून को रूस की लाल सेना (Red Army) ने बेसारबिया और उत्तरी बुकोविना (North-Bucovnia) को भी अपने अधीन कर लिया। रूस ने बल्गेरिया और टर्की को छुनी [illegible]

के साथ न मिलने में सहयोग दिया। जापान के साथ अनाक्रमण समझौता करने से उसने इन्कार कर दिया।

द्वितीय महायुद्ध की अब तक की इस पूरी अवधि में रूस को ब्रिटेन की हार का भय नहीं था। उसे विश्वास था कि संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन को हारने नहीं देगा। इस आधार पर स्टालिन तटस्थता की नीति पर जमा रहा। जनवरी १९४१ में रूस ने जर्मनी के साथ एक नया व्यापार-समझौता किया तथा तटस्थता और सोवियत-जर्मन-मित्रता का फिर से वचन दिया। वस्तुत: इस समय रूस की विदेश-नीति तटस्थ रहते हुए भावी नाजी-आक्रमण से अपने को अधिकाधिक सुरक्षित और सुदृढ़ बनाने की थी। इसीलिये उसने हिटलर को कोई बड़ा लाभ नहीं पहुंचाते हुए भी अपनी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ली।

अगस्त १९३९ से १९४१ के प्रारम्भ तक रूस और जर्मनी एक दूसरे से सहयोग करते रहे लेकिन वास्तविकता यह थी कि उस समय तक हिटलर रूस पर आक्रमण करने का निश्चय कर चुका था। हिटलर के लिये इस की शक्ति में वृद्धि भयावह थी और उसका लक्ष्य यूक्रेन के विशाल अन्न भण्डार और काकशश के तेल-कूपों पर अधिकार करना था। परन्तु उसके इस निश्चय ने जापान को चिन्तित कर दिया, क्योंकि वह रूस से युद्ध नहीं करना चाहता था। फलस्वरूप जर्मनी की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध १३ अप्रेल १९४१ को **जापान ने रूस के साथ एक अनाक्रमण और तटस्थता का पंचवर्षीय समझौता** कर लिया।

षष्टमावस्था (जून १९४१-१९४५) – परन्तु उपर्युक्त समझौता अधिक समय तक जर्मनी को रूस पर अपने आक्रमण के निश्चय से विचलित न रख सका और २२ जून १९४१ को नाजी सेनाओं ने सहसा सोवियत संघ पर हमला कर ही दिया। ब्रिटेन को जीतने से पहिले रूस को जीतने के इस निश्चय में हिटलर ने **अनेक लाभ सोचे थे**—मास्को पर विजय से जर्मनी को यूक्रेन का विशाल अन्न भण्डार और काकेशश के तेल कूप प्राप्त हो सकते थे, मित्र राष्ट्रों के साथ दीर्घकाल तक लड़ने के लिये सब प्रकार की सामग्री के विशाल स्रोत मिल सकते थे। इसके अतिरिक्त साम्यवादी रूस के विरुद्ध छेड़ा गया यह युद्ध ब्रिटेन और अमेरीका के साम्यवाद विरोधी तत्वों को प्रसन्न कर सकता था, उनमें फूट पैदा कर सकता था, और नाजीवाद को विनष्ट करके उनके निश्चय को निर्बल बना सकता था। हिटलर तथा उसके साथी नाजी नेताओं का यह विश्वास था कि इसका रुख अनिश्चित होने के कारण वे उसकी तरफ से निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकते थे और फलस्वरूप ब्रिटेन के विरुद्ध सम्पूर्ण शक्ति नहीं लगा सकते थे अत: उन्हें पहिले इसको नष्ट करके फिर ब्रिटेन को जीतने की नीति अपनानी चाहिए।

हिटलर की सम्भावित किन्तु एकदम अप्रत्याशित आक्रमण के अवसर पर रूस के **विदेश मन्त्री मोलोटोव** (Molotov) ने रूस की जनता के नाम निम्नलिखित रेडियो सन्देश प्रसारित किया—

"यह युद्ध हम पर जर्मनी जनता, जर्मन श्रमिकों, कृषकों और बुद्धि-जीवियों के द्वारा नहीं थोपा गया है वल्कि जर्मनी के उन युद्ध पिपासू फासिस्ट शासकों द्वारा थोपा गया है जिन्होंने फ्रांसीसियों, चैकों, पोलों, सर्वियनों,

नार्वे, बैल्जियम, डेनमार्क, होलैण्ड, ग्रीस और अन्य राष्ट्रों को गुलाम बनाया है......यह पहला मौका नहीं है जबकि हमारी राष्ट्र की जनता को एक जिद्दी और हठी दुश्मन के आक्रमण का सामना करना पड़ा है। रूस पर नैपोलियन के आक्रमण के समय हमारी जनता का जवाब हमारी मित्र-भूमि के लिए युद्ध में जूझना था और नैपोलियन पराजित हुआ तथा उसे अपनी अन्तिम अवस्था को प्राप्त होना पड़ा। यही बात हिटलर के लिए भी होगी जिसने अपने घमण्ड और अपनी जिद्द में आकर हमारे देश के विरुद्ध एक नया ज़िहाद छेड़ा है। रुस की लाल फौज और हमारी समग्र जनता अपनी पित्र-भूमि के लिए, हमारे देश के लिए, हमारे सम्मान और हमारी स्वतन्त्रता के लिए विजय का युद्ध लड़ेगी......।"

"मैं सोवियत संघ के समस्त नागरिकों को आह्वान करता हूं कि वे हमारी शानदार बोल्शेविक पार्टी के और भी निकट आयें, सोवियत शासन से सहयोग करें और हमारे महान् कोमरेड स्टालिन के साथ इस संकटापन्न अवस्था में हाथ बढ़ायें। हमारा यह पवित्र कार्य है। दुश्मन पराजित होगा, विजय हमें मिलेगी।"[1]

रूस पर जर्मन आक्रमण के साथ सोवियत विदेश नीति का छठा युग प्रारम्भ हुआ--साम्यवादी और पूंजीवादी देशों की विचित्र मैत्री का युग। रूस पर जर्मनी की विजय हिटलर को सम्पूर्ण यूरोप का सर्वेसर्वा बना देती, अतः चर्चिल और रूजवैल्ट ने क्रेमलिन (रूस) को पूरी सहायता का आश्वासन दिया और मास्को ने भी अपने पुराने कट्टर शत्रु ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ घनिष्ट मैत्री स्थापित कर हिटलर से घनघोर युद्ध करने की

---

1. "This war has been forced upon us not by the German people, not by German workers, peasants and intellectuals whose sufferings we will understand, but by the clique of blood thirsty Fascist rulers of Germany who have enslaved Frenchmen Czechs, Poles, Serbians, Norway, Belgium, Denmark, Holland, Greece and other nations..This is not the first time that our people have had to deal with an attack of an arrogant foe At the time of Nepolean's invasion of Russia our people's reply was war for the Father land and Napolean suffered defeat and met his doom. It will be the same with Hitler, who in his arrogance has proclaimed a new crusade against our country. The Red Army and our whole people will again wage victorious war for the Fatherland, for our country, for honour, for liberty..."

"The Government calls upon you, citizens of the Union, to really still more closely around our glorious Bolshevist party, around our Soviet Government, around our great leader and comrade, Stalin. Ours is a righteous cause. The enemy shall be defeated, the victory will be ours."

—Molotov

ठान ली। वास्तव में रूसी साम्यवादियों के लिये अब तक का 'साम्राज्यवादी युद्ध' [Imperialish war] 'लोक युद्ध' [People's war] में परिवर्तित हो गया। जुलाई १९४१ में क्रिप्स (Cripps) ने ब्रिटेन की ओर से तथा मोलोटोव ने रूस की ओर से एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। नवम्बर १९४१ में राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने रूस की शुभ कामना की और कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका १,०००,०००,००० डालर की सहायता रूस को देगा। रूस को सयुक्त राज्य अमेरिका से ६ हजार ८०० टैंक, १३,३०० वायुयान, १,००० रेल के एंजिन, ४०६,००० मोटरकार, ७२० लाख टन लोहा और ११,०००,००० जूतों के जोडे प्राप्त हुए। तीन वर्ष तक रूसी जर्मनों से अकेले लड़े। उनकी सहायता करने के लिये कोई दूसरा मोर्चा न था, केवल मित्र राष्ट्रों की अल्प सहायता थी। रूसियों की वीरता की सम्पूर्ण विश्व ने सराहना की। जिस वीरता के साथ उन्होंने स्टालिनग्राड की रक्षा की वह विश्व के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है। वहां की जनता प्रत्येक खण्ड, प्रत्येक गली, प्रत्येक मकान और प्रत्येक कमरे में लड़ी। रूस की जनता ने अन्तिम विजय के लिए अपने खून की वाजी लगा दी और उसने अन्तिम विजय प्राप्त भी की। विजय के पश्चात् स्टालिन ने ये शब्द कहे—"गुलाम राष्ट्रों द्वारा अपने अस्तित्व और अपनी स्वाधीनता के लिये लड़ा जाने वाला दीर्घकालीन युद्ध जर्मन आक्रमणकारियों और जर्मन निर्दयता पर विजय में समाप्त हुआ है। अब से आगे के लिये राष्ट्रों की स्वतंत्रता और शांति का महान ध्वज यूरोप में ऊंचा फहरायेगा...दुश्मन के खिलाफ लड़े जाने वाले युद्धों में जिन वीर पुरुषों ने अपने प्राणों का बलिदान दिया है और जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए तथा हमारी खुशहाली के लिए अपने प्राणों की आहुति दी है उनके शाश्वत यश के रूप में यह ध्वज उड़ता रहेगा।"

युद्ध काल में सोवियत रूस ने फ्रान्स (१९४४) और संयुक्त राज्य अमेरिका (११ जून, १९४२) के साथ भी संधियां सम्पन्न की। क्रेमलिन ने युद्ध के समय होने वाले राष्ट्रों के विविध सम्मेलनों–मास्को (अक्टूबर १९४३), तेहरान (नवम्बर–दिसम्बर १९४३) तथा याल्टा (फरवरी १९४५) में भाग लिया। यद्यपि जून १९४१ से सितम्बर १९४५ तक रूस और पश्चिमी राज्य कन्धे से कन्धा मिलाकर फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध लड़े, किन्तु उनकी यह मित्रता किसी स्थायी धरातल पर प्रतिष्ठित न थी अपितु अन्दर से एक खोखली वस्तु थी। रूस ब्रिटेन और अमेरिका के सह-युद्धरत होते हुए भी उनके मध्य पारस्परिक अविश्वास और सदेह का वातावरण बना रहा था। पश्चिमी राष्ट्र यह समझते थे कि यद्यपि उनके द्वारा रूस को भारी सैनिक सहायता दी जा रही है तो भी रूस उनके साथ मिलकर जर्मनी पर संयुक्त आक्रमण की योजनायें नहीं बनाता है, उन्हें अपने सैनिक रहस्य नहीं बताता है और उन्हें अपने सैनिक अड्डों का उपयोग नहीं करने देता है। इसके विपरीत रूस का यह कहना था कि मित्र राष्ट्रों द्वारा दी गई युद्ध-सामग्री की सहायता, रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध सामग्री का केवल ४ प्रतिशत है। रूस को पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति यह शिकायत भी बनी रही कि रूस के युद्ध के प्रारम्भ होने के ३ वर्ष वाद तक भी मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के विरुद्ध "दूसरा मोर्चा"

[Second Front] नहीं खोला और इस कारण जर्मन आक्रमण की सम्पूर्ण तीव्रता का सामना प्रधानतः अकेले रूस को ही करना पड़ा।

दरअसल में न केवल युद्ध के दौरान अपितु युद्ध के बाद भी रूस और मित्रराष्ट्रों द्वारा एक दूसरे पर अनेक आरोप प्रत्यारोप लगाये जाते रहे। रूस के आरोपों में निःसन्देह बल और सत्यता का बड़ा अंश था। रूस ने कहा कि मित्र राष्ट्रों की आंतरिक इच्छा तो यही थी कि जर्मनी के साथ संघर्ष में रूस एकदम निर्बल हो जाए ताकि बाद में वे उस पर पूर्णतः हावी हो सकें, और इसीलिए उन्होंने रूस को सहायता व विलम्ब से तथा बड़ी थोड़ी मात्रा में केवल दिखावे के लिए दी। रूस ने आरोप लगाया कि ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं को सोवियत विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही। इतना ही नहीं लन्दन की 'पोल' सरकार ने १६४२ में रूस से एक लाख पोल सेना हटा ली। स्टालिन ग्राड की रूस की विजय (२ फरवरी १६४३) ने मित्र राष्ट्रों को रूसी शूरवीरता के प्रति ईर्ष्यालू बना दिया। मित्र राष्ट्र यहीं तक शांत नहीं रहे बल्कि अगस्त १६४३ से ही उन्होंने अणु-बम्ब की वार्ता भी रूस से बिलकुल गुप्त रखी, तथा नवम्बर १६४३ में ब्रिटिश मंत्री मण्डल के सदस्य जान स्मट्स ने सोवियत संघ को यूरोप का "नया महादैत्य" [New Colossus] बताया। युद्ध काल में पश्चिमी जनतन्त्रों और संयुक्त राज्य अमेरिका ने अनेक ऐसे कार्य किये जिनसे मास्को के हृदय में उनके प्रति सशंकित रहना स्वाभाविक था। तेहरान सम्मेलन में प्रस्तावित बाल्कन प्रदेश पर हमले की एंग्लो-अमेरिकन योजना का उद्देश्य रूस की दृष्टि में यूरोप का दूसरा मोर्चा खोलने के टालने का बहाना था। इसके अतिरिक्त फ्रैंको के स्पेन के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा १४ जुलाई १६४४ को किये जाने वाला समझौता, बल्गेरियन सरकार के साथ ब्रिटिश अमेरिकन सरकारों द्वारा की गई पृथक संधि वार्ता तथा यूनान में ब्रिटिश मोर्चे आदि ने दोनों पक्षों के मध्य कटुता, मतभेदों तथा शंकाओं में वृद्धि की। याल्टा, सानफ्रान्सिसको तथा पोट्सडैम सम्मेलनों ने इन मतभेदों को और भी अधिक उग्र बनाया। जापान में अणु बम्ब के विस्फोट ने रूस को पश्चिम के प्रति बहुत ही शंकाशील बना दिया। युद्ध की समाप्ति तक तो, युद्ध कालीन परिस्थितियों के कारण, ये मतभेद दबे रहे, परन्तु उसके बाद ये उग्र रूप में प्रकट हुए और इसने उस महान शीत युद्ध [Cold war] को जन्म दिया जो द्वितीय महायुद्ध से लेकर आज तक विभिन्न कणों में चला आ रहा है।

सोवियत विदेश नीति का मूल्यांकन—उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि १६१७ को बोल्शेविक क्रान्ति से लेकर द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक की अवधि साम्यवादी रूस की वैदेशिक नीति अनेक चोले बदलती हुई इस कहावत को चरितार्थ करती रही कि "राजनीति वेश्या की तरह अनेक रूप बदलने वाली होती है।" इस अवधि में रूस कभी पश्चिम का समर्थक बना तो कभी उसका उग्र विरोधी। इसी तरह वह कभी हिटलर का शत्रु बना तो कभी उसका मित्र भी। उसकी वैदेशिक नीति में कई बार परिवर्तन इतने आकस्मिक और अप्रत्याशित रूप से हुए कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुशल प्रेक्षक तक स्तब्ध हो गये।

प्रत्येक देश की विदेश नीति के समान ही सोवियत रूस की वैदेशिक नीति भी गम्भीर आलोचना और उन्मुक्त प्रशंसा का पात्र रही। विरोधी पक्ष ने आरोप लगाया कि क्रान्ति के बाद की सोवियत नीति अवसरवादी तथा जारशाही की साम्राज्यवादी नीति का विकास मात्र थी। पुराने जारों ने पश्चिम, दक्षिण और पूर्व में रूसी साम्राज्य का विस्तार किया था, उसी तरह साम्यवादी रूस ने बाल्टिक राज्यों को हड़पकर तथा फिनलैण्ड के विरुद्ध युद्ध छेड़ कर साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। जारों के समान ही क्रान्ति के बाद के रूस ने पोलैण्ड, बाल्कन, मंचूरिया और मंगोलिया में अभिरुचि प्रदर्शित की। १९३९ के बाद स्टालिन ने तो एकदम जारशाही का अनुसरण किया। उसने तानाशाही मार्ग पर चलते हुए फिनलैण्ड के कुछ प्रदेशों और टापुओं को, इस्टोनिया, लिथुआनिया, लैटविया, पूर्वी पोलैण्ड, बुकोविनतिया तथा बेसारेबिया आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। आलोचकों के इस प्रकार के आरोपों के प्रत्युत्तर में साम्यवादी रूस के समर्थकों का प्रत्युत्तर है कि जारशाही और साम्यवादी शासन को एक रूप देखना पूर्णतः भ्रमात्मक है। जारशाही शासन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का पोषक था जबकि साम्यवादी शासन इन दोनों का विध्वंसक है। अपनी साम्राज्यवाद-विरोधी नीति के कारण ही लेनिन ने बाल्टिक राज्यों और पूर्वी पोलैण्ड के स्वतंत्र होने में बाधा नहीं डाली। यदि बाद में इन प्रदेशों पर साम्यवादी रूस ने अधिकार कर लिया तो यह उसकी भौगोलिक परिस्थितियों तथा राजनीतिक-अस्तित्व के रक्षा-प्रयासों का परिणाम था। जर्मनों में फासिस्टवादी शक्तियों ने सम्पूर्ण रूस के अस्तित्व तक को ही संकटापन्न कर दिया था। फिनलैण्ड के टापुओं और बन्दरगाहों पर अधिपत्य जमा कर हिटलर लेनिनग्राड को नेस्तनाबूद कर सकता था और बाल्टिक राज्यों व पोलैण्ड के अड्डों से मास्को पर सरलतापूर्वक आक्रमण कर सकता था। इन परिस्थितियों में रूस के लिये यह आवश्यक था कि वह इन पर अपना आधिपत्य जमा ले। यदि रूस ने यह न किया होता तो यह प्रदेश नाजियों के पैरों तले रौंदे जाता। जारशाही का मुख्य उद्देश्य रूसी माल के निर्यात के लिये बाल्टिक सागर पर खिडकियां प्राप्त करना था, उसके लिये इन पर अधिकार करना निश्चित रूप से साम्राज्यवादी पग था। परन्तु साम्यवादी रूस के लिये यह जीवन-मरण और आत्मरक्षा का प्रश्न था और संसार का कोई भी देश इन परिस्थितियों में वही क़दम उठाता जो उसने उठाया। अतः साम्यवादी रूस के विस्तार की तुलना जारशाही के साम्राज्यवादी विस्तार से नहीं की जा सकती।

विरोधियों के सर्वथा विपरीत साम्यवादी रूस के पक्षपातियों का कथन है कि उसकी नीति तो शान्तिवादी तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की समर्थक है। वह साम्राज्यवाद का नहीं बल्कि साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार करने वाली है। परन्तु समर्थकों का यह पक्ष भी अतिरंजित है। साम्यवाद और मार्क्सवाद का एक मूल सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-क्रान्ति और पूंजीवादी शासनों का उन्मूलन है। लेनिन की मृत्यु के बाद अवश्य ही स्टालिन ने विश्व क्रान्ति के विचार का परित्याग कर दिया। वर्तमान युग में रूस की विदेश नीति का सर्वोपरि उद्देश्य अपने हितों की सुरक्षा, और इसमें कोई संदेह नहीं

[Second Front] नहीं खोला और इस कारण जर्मन आक्रमण की सम्पूर्ण तीव्रता का सामना प्रधानतः अकेले रूस को ही करना पड़ा।

दरअसल में न केवल युद्ध के दौरान अपितु युद्ध के बाद भी रूस और मित्रराष्ट्रों द्वारा एक दूसरे पर अनेक आरोप प्रत्यारोप लगाये जाते रहे। रूस के आरोपों में निःसन्देह बल और सत्यता का बड़ा अंश था। रूस ने कहा कि मित्र राष्ट्रों की आंतरिक इच्छा तो यही थी कि जर्मनी के साथ संघर्ष में रूस एकदम निर्बल हो जाए ताकि बाद में वे उस पर पूर्णतः हावी हो सकें, और इसीलिए उन्होंने रूस को सहायता ब े विलम्ब से तथा बड़ी थोड़ी मात्रा में केवल दिखावे के लिए दी। रूस ने आरोप लगाया कि ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं को सोवियत विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही। इतना ही नहीं लन्दन की 'पोल' सरकार ने १९४२ में रूस से एक लाख पोल सेना हटा ली। स्टालिन ग्राड की रूस की विजय (२ फरवरी १९४३) ने मित्र राष्ट्रों को रूसी शूरवीरता के प्रति ईर्ष्यालू बना दिया। मित्र राष्ट्र यहीं तक शांत नहीं रहे बल्कि अगस्त १९४३ से ही उन्होंने अणु-बम्ब की वार्ता भी रूस से बिल्कुल गुप्त रखी, तथा नवम्बर १९४३ में ब्रिटिश मंत्री मण्डल के सदस्य जान स्मट्स ने सोवियत संघ को यूरोप का "नया महादैत्य" [New Colossus] बताया। युद्ध काल में पश्चिमी जनतन्त्रों और संयुक्त राज्य अमेरिका ने अनेक ऐसे कार्य किये जिनसे मास्को के हृदय में उनके प्रति सशंकित रहना स्वाभाविक था। तेहरान सम्मेलन में प्रस्तावित बाल्कन प्रदेश पर हमले की एंग्लो-अमेरिकन योजना का उद्देश्य रूस की दृष्टि में यूरोप का दूसरा मोर्चा खोलने के टालने का बहाना था। इसके अतिरिक्त फ्रेंको के स्पेन के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा १४ जुलाई १९४४ को किये जाने वाला समझौता, बल्गेरियन सरकार के साथ ब्रिटिश अमेरिकन सरकारों द्वारा की गई पृथक संधि वार्ता तथा यूनान में ब्रिटिश मोर्चे आदि ने दोनों पक्षों के मध्य कटुता, मतभेदों तथा शंकाओं में वृद्धि की। याल्टा, सानफ्रान्सिसको तथा पोट्सडैम सम्मेलनों ने इन मतभेदों को और भी अधिक उग्र बनाया। जापान में अणु बम्ब के विस्फोट ने रूस को पश्चिम के प्रति बहुत ही शंकाशील बना दिया। युद्ध की समाप्ति तक तो, युद्ध कालीन परिस्थितियों के कारण, ये मतभेद दबे रहे, परन्तु उसके बाद ये उग्र रूप में प्रकट हुए और इसने उस महान शीत युद्ध [Cold war] को जन्म दिया जो द्वितीय महायुद्ध से लेकर आज तक विभिन्न रूपों में चला आ रहा है।

सोवियत विदेश नीति का मूल्यांकन—उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि १९१७ को बोल्शेविक क्रान्ति से लेकर द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक की अवधि साम्यवादी रूस की वैदेशिक नीति अनेक चोले बदलती हुई इस कहावत को चरितार्थ करती रही कि "राजनीति वेश्या की तरह अनेक रूप बदलने वाली होती है।" इस अवधि में रूस कभी पश्चिम का समर्थक बना तो कभी उसका उग्र विरोधी। इसी तरह वह कभी हिटलर का शत्रु बना तो कभी उसका मित्र भी। उसकी वैदेशिक नीति में कई बार परिवर्तन इतने आकस्मिक और अप्रत्याशित रूप से हुए कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुशल प्रेक्षक तक स्तब्ध हो गये।

प्रत्येक देश की विदेश नीति के समान ही सोवियत रूस की वैदेशिक नीति भी गम्भीर आलोचना और उन्मुक्त प्रशंसा का पात्र रही। विरोधी पक्ष ने आरोप लगाया कि क्रान्ति के बाद की सोवियत नीति अवसरवादी तथा जारशाही की साम्राज्यवादी नीति का विकास मात्र थी। पुराने जारों ने पश्चिम, दक्षिण और पूर्व में रूसी साम्राज्य का विस्तार किया था, उसी तरह साम्यवादी रूस ने बाल्टिक राज्यों को हड़पकर तथा फिनलैण्ड के विरुद्ध युद्ध छेड़ कर साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। जारों के समान ही क्रान्ति के बाद के रूस ने पोलैण्ड, बालकन, मंचूरिया और मंगोलिया में अभिरुचि प्रदर्शित की। १६३६ के बाद स्टालिन ने तो एकदम जारशाही का अनुसरण किया। उसने तानाशाही मार्ग पर चलते हुए फिनलैण्ड के कुछ प्रदेशों और टापुओं को, इस्टोनिया, लिथुआनिया, लैटविया, पूर्वी पोलैण्ड, बुकोविनतिया तथा बेसारेविया आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। आलोचकों के इस प्रकार के आरोपों के प्रत्युत्तर में साम्यवादी रूस के समर्थकों का प्रत्युत्तर है कि जारशाही और साम्यवादी शासन को एक रूप देखना पूर्णत: भ्रमात्मक है। जारशाही शासन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का पोषक था जबकि साम्यवादी शासन इन दोनों का विध्वंसक है। अपनी साम्राज्यवाद-विरोधी नीति के कारण ही लेनिन ने बाल्टिक राज्यों और पूर्वी पोलैण्ड के स्वतंत्र होने में बाधा नहीं डाली। यदि बाद में इन प्रदेशों पर साम्यवादी रूस ने अधिकार कर लिया तो यह उसकी भौगोलिक परिस्थितियों तथा राजनीतिक-अस्तित्व के रक्षा-प्रयासों का परिणाम था। जर्मनों में फासिस्टवादी शक्तियों ने सम्पूर्ण रूस के अस्तित्व तक को ही संकटापन्न कर दिया था। फिनलैण्ड के टापुओं और बन्दरगाहों पर अधिपत्य जमा कर हिटलर लेनिनग्राड को नेस्तनाबूद कर सकता था और बाल्टिक राज्यों व पोलैण्ड के अड्डों से मास्को पर सरलतापूर्वक आक्रमण कर सकता था। इन परिस्थितियों में रूस के लिये यह आवश्यक था कि वह इन पर अपना आधिपत्य जमा ले। यदि रूस ने यह न किया होता तो यह प्रदेश नाजियों के पैरों तले रौंदे जाता। जारशाही का मुख्य उद्देश्य रूसी माल के निर्यात के लिये बाल्टिक सागर पर खिडकियां प्राप्त करना था, उसके लिये इन पर अधिकार करना निश्चित रूप से साम्राज्यवादी पग था। परन्तु साम्यवादी रूस के लिये यह जीवन-मरण और आत्मरक्षा का प्रश्न था और संसार का कोई भी देश इन परिस्थितियों में वही कदम उठाता जो उसने उठाया। अत: साम्यवादी रूस के विस्तार की तुलना जारशाही के साम्राज्यवादी विस्तार से नहीं की जा सकती।

विरोधियों के सर्वथा विपरीत साम्यवादी रूस के पक्षपातियों का कथन है कि उसकी नीति तो शान्तिवादी तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की समर्थक है। वह साम्राज्यवाद का नहीं बल्कि साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार करने वाली है। परन्तु समर्थकों का यह पक्ष भी अतिरंजित है। साम्यवाद और मार्क्सवाद का एक मूल सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-क्रान्ति और पूंजीवादी शासनों का उन्मूलन है। लेनिन की मृत्यु के बाद अवश्य ही स्टालिन ने विश्व क्रान्ति के विचार का परित्याग कर दिया। वर्तमान युग में रूस की विदेश नीति का सर्वोपरि उद्देश्य अपने हितों की सुरक्षा, और इसमें कोई संदेह नहीं

कि पहले भी रूस की समस्त गतिविधियां इसी मूल बिन्दु के चारों ओर चक्कर काटती रहीं। इस सम्बन्ध में स्टालिन ने सन् १६३४ में ठीक ही कहा था—

"हमारी नीति का लक्ष्य भूतकाल में एवं वर्तमान समय में सोवियत संघ के हितों की पूर्ति है। इसके लिये यदि किसी देश की मित्रता आवश्यक है तो हम निःसंकोच भाव से उसे कर लेते है।"

स्टालिन के उपर्युक्त शब्द सोवियत विदेश नीति के रहस्यों और मर्मों का उद्‌घाटन करते हैं। यदि रूस ने अगस्त १६३६ में अपने प्रबल शत्रु जर्मनी से, अप्रैल १६४ में जापान से, जुलाई १६४१ में ग्रेट ब्रिटेन से परस्पर विरोधी संधियां की तो इनके मूल में उसका प्रमुख उद्देश्य यही निहित था कि एन-केन-प्रकारेण रूस के हितों की रक्षा की जाय। सोवियत विदेश नीति में जो आकस्मिक और अप्रत्याशित परिवर्तन आते रहे, इनके मूल में भी अपने देश के हितों की भावना ही निहित थी। जब तक जर्मनी दुर्बल और क्षीण बना रहा तब तक रूस ने पूंजीवादी पश्चिमी देशों से मैत्री करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी किन्तु हिटलर के उत्थान के बाद जर्मनी एक महान् शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विकसित हुआ और अपनी कुचेष्टाओं से रूस को संकटापन्न अवस्था में डालने लगा तो उसने (रूस ने) पाश्चात्य देशों के साथ सहयोग तथा मैत्री का अनुसरण किया। इसी तरह जब रूस को अनुभव हो गया कि पश्चिमी देशों की मित्रता खोखली है और उनका मूल लक्ष्य साम्यवाद का अन्त है तथा फासिस्ट शक्तियों से लड़ा कर वे रूस को एकदम निर्बल बना देना चाहते हैं, तो उसने तुरन्त ही अपनी नीति में परिवर्तन करते हुए हिटलर से मैत्री स्थापित कर ली तथा सोवियत-जर्मन अनाक्रमण समझौते से एकबारगी ही विश्व को स्तब्ध कर दिया। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर, रूस हिटलर की मित्रता के खोखलेपन में विश्वास रखते हुए उससे लड़ने की तैयारियां करता रहा और जब हिटलर ने आक्रमण कर दिया तो उसने पुनः पश्चिम के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इस तरह स्पष्ट है कि रूस की वैदेशिक नीति का संचालन देश के हितों की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए ही होता रहा है।

EXERCISES

1. "The foreign policy of Communist Russia is but that of Tsarist Russia writ large." Discuss.
   साम्यवादी रूस की विदेश नीति जारकालीन रूस की विदेश नीति का विस्तृत रूप ही है।" विवेचना कीजिये।
2. Give a critical account of Russian foreign policy during the two World Wars
   दो विश्व-युद्धों के मध्य रूस की विदेश-नीति की विवेचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. Examine carefully Stalin's decision of 1939 to conclud a non-aggression pact with Germany rather than a de ensive alliance with Britain and France.
   १६३६ में स्टालिन के निर्णय की, कि फ्रांस तथा ब्रिटेन से रक्षात्मक संधि करने की अपेक्षा जर्मनी से अनाक्रमण समझौता करना अधिक श्रेयस्कर समझा, विवेचना कीजिए।

4. Describe the foreign policy of U.S,S.R. towards Europe from 1936 to 1942 and examine critically the factors which moulded it.
यूरोप के प्रति १९३७ से १९४२ तक की सोवियत विदेश-नीति का वर्णन कीजिए और उन तथ्यों की समीक्षा कीजिए जिन्होंने इस नीति को ढाला।

5. What were the main trends in the Soviet Foreign Policy between 1933 and 1945 ?
१९३३ से १९४५ के मध्य सोवियत विदेश-नीति की मुख्य प्रवृत्तियां क्या थीं ?

6. Trace the circumstances which led to the Russo-German non-aggression pact of 1939.
उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनके परिणामस्वरूप १९३९ का रूस-जर्मन अनाक्रमण समझौता हुआ।

7. "This step (Russo-German Non-Aggression Pact of 1939) has; in Communist eyes, the double advantage of giving Russia added time to perfect her military preparations and at the same time of weakening Germany by leading her to become embroiled in a war with Great Britain and France." (Benns)—Discuss.
साम्यवादियों की दृष्टि में इस सन्धि (रूस-जर्मन अनाक्रमण सन्धि १९३९) के दो उपयोग थे। एक तो यह कि इससे रूस को अपनी युद्धोपयोगी तैयारी करने का समय मिल गया और दूसरे इंगलैण्ड और फ्राँस के साथ उलझकर जर्मनी के कमजोर होने की सम्भावना बन गयी।" (बेन्स) विवेचना कीजिए।

8. Trace Soviet Russia's foreign relations between 1917 and 1921. How far was she successful against the Western powers ?
सोवियत रूस के १९१७ और १९२१ के मध्य के वैदेशिक सम्बन्ध बताइए। पाश्चात्य शक्तियों के प्रति रूस कहां तक सफल रहा ?

११

मध्य पूर्व [पश्चिमी एशिया], १९१४-४५

(THE MIDDLE EAST, 1914--1945)

"सीमित अर्थ के अनुसार मध्य-पूर्व में केवल मिश्र तथा एशिया के अरब राज्य की गणना की जाती है, परन्तु उसमें ईरान, तुर्की और भूमध्य सागर के तट पर स्थित लीबिया, ट्यूनीसिया, अल्जीरिया और मोरक्को का भी समावेश होता है।"

—गाई विण्ट

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन करते समय हमें अपनी दृष्टि यूरोप और अमेरिकन महाद्वीपों से हटाकर एशिया और अफ्रीका की ओर ले जानी होगी। इतिहासकारों ने इन महाद्वीपों के महत्वपूर्ण देशों को 'मध्य पूर्व' (Middle East) और 'सुदूर पूर्व' (Far East) दो वर्गों में विभाजित किया।[1]

'मध्य पूर्व' एक प्रकार की राजनीतिक अभिव्यक्ति (Political Expression) है। यह एशिया, अफ्रीका और यूरोप—इन तीन महाद्वीपों का संगम स्थल होने से इतिहास के ऊषाकाल से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। मध्यपूर्व के इस रंगमंच पर ही मिस्री, हिट्टाइट, ईजियन, फिनिशियन, यूनानी, सुमेरियन, असीरियन, बेबीलोनियन, खाल्दियन, हखामनी, सासानियन, अरब और तुर्क साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन हुआ, और विश्व के तीन बड़े धर्मों—यहूदी मत, ईसाई मत तथा ईस्लाम का जन्म हुआ। सामान्यत: मध्यपूर्व में पश्चिम दिशा में मिस्र से लेकर पूर्व दिशा में अफगानिस्तान तक का प्रदेश समझा जाता है। कई बार इसमें अफ्रीका के उत्तरी समुद्र तट के अरब राज्य भी सम्मिलित कर लिए जाते हैं। वास्तव

---

1. यह वर्गीकरण पाश्चात्य दृष्टिकोण से किया गया है, इसीलिए १९५५ में भारत सरकार ने एक घोषणा द्वारा यह तय किया है कि सुदूर पूर्व (Far East) और मध्यपूर्व (Middle East) को क्रमश: पूर्वी एशिया (East Asia) और पश्चिमी एशिया (West Asia) कहा जाय।

में मध्यपूर्व के इस क्षेत्र को एकदम निश्चित तथा सुस्पष्ट भौगोलिक सीमाओं में प्रकट नहीं किया जा सकता क्योंकि इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने अपने अलग अलग मत प्रकट किये हैं। गाई विण्ट ने लिखा है कि "सीमित अर्थ के अनुसार मध्यपर्व में केवल मिश्र तथा एशिया के अरब-राज्य की गणना की जाती है, परन्तु उसमें ईरान, तुर्की और भूमध्य सागर के तट पर स्थित लीबिया, ट्यूनीसिया अल्जीरिया और मोरक्को का भी समावेश होता है।"[1] कार (Carr) का कहना है कि "पूर्वी भूमध्य सागर से लेकर भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त तक देशों का जो जाल फैला हुआ है उसे सुविधा की दष्टि से मध्यपूर्व कहा जाता है।"[2] श्लीचर के मतानुसार यदि इसमें केवल मिश्र से अफगानिस्तान के प्रदेश को ही सम्मिलित करें तो इसका क्षेत्र २७ लाख वर्गमील है।[3] इस तरह यह क्षेत्र रूस रहित यूरोप के बराबर और भारत के दुगने से कुछ अधिक है, यद्यपि इसकी आबादी केवल ७।। करोड़ ही है। इतने विशाल क्षेत्र में इतनी कम आबादी प्रमुखत: इसीलिए है क्योंकि इसमें सऊदी अरब, मिश्र और ईरान के विशाल मरुस्थल हैं। इस क्षेत्र में उल्लेखनीय राज्य टर्की (Turkey), मिश्र (Egypt), फिलिस्तीन (Palestine), पर्शिया (Persia), साऊदी अरब (Saudi Arabia), ईराक (Iraq), जोर्डन (Jordan) आदि थे।

मध्यपूर्वीय राजनीति का महत्व और उसकी विशेषताएं (Importance and Features of the Middle Eastern Politics)—एशिया, अफ्रीका और यूरोप—इन तीन महाद्वीपों की संगम-स्थली होने के कारण मध्य-पूर्व का राजनीतिक और यौद्धिक महत्त्व बहुत अधिक है क्योंकि जो भी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति इस क्षेत्र को अपने नियंत्रण में रख सकती है वह संसार के अनेक महत्वपूर्ण देशों की सुरक्षा के लिए संकट पैदा कर सकती है और अपने व्यापारिक एवं व्यावसायिक हितों की पूर्ति कर सकती है। मध्य-पूर्व अथवा पश्चिमी एशिया का यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही विश्व राजनीति का तूफानी केन्द्र रहा जिसने अनेक सभ्यताओं के उत्थान और पतन के, अनेक धर्मों के विकास और अन्त के तथा विभिन्न ऐतिहासिक युद्धों के दर्शन किये हैं आधुनिक युग में नेपोलियन पहला व्यक्ति था जिसने इस भूमाग के सामरिक महत्व को समझा और अपने मिश्री अभियान के समय स्वेज नहर की योजना बनाई जिसे ५० साल बाद लेस्पस ने पूरा किया। स्वेज नहर के निर्माण के बाद से ही मध्यपूर्व की राजनीति ने एक नया मोड़ ले लिया और इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि मध्य पूर्व अथवा पश्चिम एशिया का इतिहास इस महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्ग एवं इसके इर्द-गिर्द के भूमागों पर अपना अधिकार या प्रभाव क्षेत्र कायम करने का यूरोप के महान् राष्ट्रों के बीच आपसी प्रतिद्वन्द्वता का इतिहास है। यह स्मरणीय है कि प्रस्तुत पुस्तक में हमारा आशय मध्य-पूर्व की सम्पूर्ण गौरव-गाथा का अथवा इस क्षेत्र के आद्योपान्त इतिहास का दिग्दर्शन कराना नहीं है। हमारा अभिप्राय सामान्य

1. Middle East Crisis, P. 16.
2. *Carr* : International Relations Between the two World Wars, P. 252
3. *Schleicher* : Introduction to International Relations, p. 435.

पृष्ठभूमि का अवलोकन करते हुए, १६१६ से १६४५ तक की अवधि के मध्य पूर्वीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रकाश डालना है। अतः आगे का सम्पूर्ण आवश्यक विवरण इसी दृष्टि से किया जाना समुचित है।

मध्य-पूर्व के प्रमुख देशों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अवलोकन करने से पहले हम इस क्षेत्र की उन राजनीतिक विशेषताओं का और उन कारणों का वर्णन करेंगे जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इसे एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

(१) **स्वेज नहर एवं भौगोलिक स्थिति**—मध्य-पूर्व की असाधारण अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता का प्रधान कारण इसकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति और इसमें स्वेज जैसे अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग का होना है। मध्य-पूर्व एशिया, अफ्रीका और यूरोप इन तीन महाद्वीपों का संगम-स्थल है तथा अन्ध महासागर, भूमध्य सागर, कृष्ण महासागर और स्वेज नहर को परस्पर जोड़ता है। इस क्षेत्र के जल मार्ग यूरोप को दक्षिणी और पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, अमेरिका एवं अफ्रीका से जोड़ते हैं। १८६६ में निर्मित स्वेज नहर ने मध्यपूर्व को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिला दिया क्योंकि उसने भूमध्य सागर को लाल सागर के साथ जोड़कर एट्लांटिक महासागर और हिन्द महासागर के बीच एक ऐसे नये संचार पथ का निर्माण किया जो शांतिकालीन व्यापार और सामरिक संचार दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक कारखानों में तैयार होने वाला माल दक्षिण-पूर्वी एशिया को मध्य-पूर्व के जल मार्गो से होकर जाता है और उसे अपने उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए पैट्रोल भी इसी मार्ग से प्राप्त होता है। स्वेज नहर के बन्द होने से पूर्व और पश्चिम का व्यापार ठप्प हो सकता है। पश्चिमी यूरोप के लिए यह नहर जीवन-मरण का प्रश्न है। यदि साम्यवादी प्रभाव के बढ़ने से मध्य-पूर्व का यह अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग पश्चिमी यूरोप के लिए बन्द हो जाता है तो पैट्रोल के सरलता से उपलब्ध न होने एवं पूर्व में औद्योगिक माल की निकासी बन्द होने तथा वहां से कच्चा माल न मिल सकने के कारण उसका (पश्चिमी यूरोप का) सम्पूर्ण आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो सकता है। इसके फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक स्थिति को भी गम्भीर खतरा पहुंच सकता है। स्वेज की भांति ही दर्रे दनियाल और वास्फोरस जलडमरूमध्य भी सामरिक दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं जिन पर इस समय टर्की का अधिकार है। पाश्चात्य शक्तियां रूस को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में लाने का शुरू से ही प्रयत्न करते आ रहे हैं। रूस द्वारा क्रीमिया का युद्ध (१८५४-५६) इसी उद्देश्य से लड़ा गया था और द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर भी उसने टर्की पर इसके लिए बल डाला था। पाश्चात्य शक्तियों के विरोध के कारण ही रूस इन्हें हस्तगत करने में अभी तक असफल रहा है। इन जलडमरूमध्यों पर रूस का नियंत्रण स्थापित हो जाने से वह अपनी नौ-सेना शक्ति के बल पर पूर्वी भूमध्य सागर में से होकर एशिया और आस्ट्रेलिया को जाने वाले मार्ग की सुरक्षा को संकट में डाल सकता है। मध्य पूर्व के देश इसलिए भी महत्वपूर्ण नहीं कि ये इस समय टर्की से अफगानिस्तान तक सोवियत संघ की दक्षिणी सीमा बनाते हैं और इनमें अपने

सैनिक अड्डे स्थापित करके अमेरिका युद्ध की स्थिति में सोवियत संघ पर प्रभावशाली आक्रमण करने की स्थिति में रह सकता है।

(२) **विशाल तेल भण्डार**—मध्य पूर्व तेल का विशाल भण्डार है और यह तेल इस क्षेत्र की राजनीति में एक निर्णायक तत्व सिद्ध हुआ है। विश्व से प्राप्त तेल का लगभग ६६% तेल ईरान की खाड़ी के आस-पास के प्रदेशों मुख्यत: कुवैत, ईरान, इराक तथा सऊदी अरब में पाया जाता है। मध्य -पूर्व का यह तेल यूरोप के आर्थिक जीवन का प्राण है, सोवियत संघ के लिये प्रवल आकर्षण है और मध्य पूर्व के उद्योगहीन देशों की आय का एक मात्र स्रोत है। इस क्षेत्र का विशाल तेल भण्डार विदेशी शक्तियों को प्रारम्भ से अपनी ओर खींचता रहा है। १६०१ में ईरान के शाह ने एक ब्रिटिश नागरिक को ईरान में तेल की खोज और उसका व्यापार करने की आज्ञा दी। १६०६ में एंग्लो-इरारियन तेल कम्पनी का निर्माण हुआ जिसने ईरान के सम्पूर्ण तेल पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया। ब्रिटिश सरकार एक ही तेल के महत्व को समझ गयी, उसने कम्पनी की पूंजी के हिस्सों का एक बड़ा भाग खरीद लिया और कम्पनी सरकारी प्रभुत्व में आ गयी। शीघ्र ही रूस भी ईरानी तेल की ओर आकर्षित हुआ। उसने ब्रिटेन से संधि करके ईरान के उत्तरी क्षेत्र पर अपना प्रभाव जमा लिया। जर्मनी भी मध्य पूर्व के तेल की ओर दौड़ा और उसे १६ जून १६२१ के पोट्सडम समझौते के अनुसार ईराक का शोषण करने का अधिकार प्राप्त हो गया। प्रथम महायुद्ध में मध्यपूर्व के तेल ने बहुत महत्व प्राप्त कर लिया। युद्ध के अनुभवों के परिणाम स्वरूप फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका मध्य पूर्व के तेल क्षेत्रों की ओर आकर्षित हुआ। ब्रिटेन और फ्रान्स को ये क्षेत्र सरक्षण व्यवस्था के अन्तंगत मिल गये, रूस ने १६२० की सेनरीमों संधि के अन्तर-गत तेल व्यापार में अपना हिस्सा प्राप्त कर लिया और संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी ४ मार्च १६२५ को तेल व्यापार में लगभग २४ प्रतिशत भाग प्राप्त कर लिया। यद्यपि क्रांति के बाद रूस ने ईरान में अपने साम्राज्यवादी हितों का परित्याग कर दिया लेकिन १६२१ की ईरानी-रूसी संधि में यह स्पष्ट कर दिया गया कि ईरान अपने को रूस विरोधी मोर्चे का केन्द्र नहीं बनने देगा।

१६२८ तक लगभग सम्पूर्ण मध्य पूर्व तेल क्षेत्र (Oil Region) बन गया। इस समय तक ईरान के अलावा टर्की, बहरीन, सऊदी अरब और मिश्र में भी तेल की खोज करली गयी थी। द्वितीय महायुद्ध ने तेल के महत्व को और भी अधिक बढ़ा दिया और आज मध्यपूर्व का यह तेल विश्व-राजनीति का विस्फोटक केन्द्र बना हुआ है।

(३) **आदर्शों की होड़**—बोल्शेविक क्रांति के बाद रूस में साम्यवाद की स्थापना होने से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आदर्शों के संघर्ष के नये तत्व का उदय हुआ और उसने सबसे पहले मध्य पूर्व के देशों की राजनीति को प्रभावित किया। मध्य पूर्व साम्यवादी और लोकतंत्रात्मक आदर्शों का प्रतियोगी क्षेत्र बन गया। ईरान में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रान्स अपने अपने आधारों को सुदृढ़ करने लगे तो सोवियत संघ ईरान के उत्तर में अजरबेजान और समवर्ती प्रदेशों में अपने प्रभावों को स्थायी बनाने

में जुट गया। रूस ने ईराक में सैनिक हस्तक्षेप भी आरम्भ कर दिया जो द्वितीय महायुद्ध के बाद ही समाप्त हुआ।

(४) **राष्ट्रवाद का उदय**—प्रथम महायुद्ध के बाद मध्य पूर्व की राजनीति में राष्ट्रवाद के उदय ने नवीन दशा को जन्म दिया। बेहतर जीवन-स्तर के लिये आन्दोलन शुरू हो गया। प्रथम महायुद्ध के बाद मध्य पूर्वीय राजनीति की मुख्य विशेषता यही रही कि इस क्षेत्र के लोगों ने विदेशी शक्तियों के राजनीतिक और व्यापारिक प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और जगह-जगह सामाजिक आर्थिक और शैक्षणिक सुधार आन्दोलन आरम्भ हुए। मध्य पूर्वीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य राजनीति से धर्म को निष्कासित करके आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था का समारम्भ करना था। इस आन्दोलन में टर्की, और पर्शिया (Turkey & persia) ने आशातीत सफलता प्राप्त की। टर्की ने इस्लाम को राज्य का आधार मानना स्वीकार करके धर्म निरपेक्ष राज्य (Secular State) स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, ईरान ने इस्लाम का क्षेत्र राजनीतिक जीवन मे अत्यन्त सीमित कर दिया और ईराक तथा मिश्र ने परम्परागत धर्म की आवश्यकता की अपेक्षा राष्ट्र-कल्याण पर बल देकर इस्लाम के मूल्यों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। इस तरह मध्य पूर्वीय राष्ट्रवाद राजनीतिक परिवर्तन और विदेशी शासन से मुक्ति मात्र का प्रतीक नहीं बना बल्कि उसने सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के पूर्ण पुनर्गठन की मांग भी की। इस आन्दोलन में मध्य पूर्व के इतिहास में एक नये युग का श्री गणेश किया। दूसरी ओर विदेशी शक्तियां इस क्षेत्र की राष्ट्रवादी भावनाओं के मार्ग में बाधाएं डालती रहीं। फलस्वरूप मध्य पूर्वीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का अखाड़ा बन गयी।

(५) **विदेशी शक्तियों की स्वार्थ-नीतियां:**—विद्रोह और पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि में पाश्चात्य देशों ने टर्की की पराजय और उसके साम्राज्य के पतन से लाभ उठाने का प्रयास किया। प्रथम महायुद्ध में प्राप्त विजय के मद में तथा बोल्शेविक क्रांति की अराजकता के फलस्वरूप मध्य पूर्व मे रूसी ध्यान हट जाने के कारण ब्रिटेन और फ्रान्स को मध्य पूर्व में अपने स्वार्थों का विस्तार करने की प्रेरणा मिली। ब्रिटेन ने मिश्र पर अपने संरक्षणत्व (Protectorate) को स्थायी बनाने की चेष्टा की। फ्रान्स और ब्रिटेन दोनों ही ने टर्की साम्राज्य के भागों पर तथा कथित मेण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकार जमाने की कोशिश की। अप्रेल १९२० में सीरिया तथा लेबनान फ्रेन्च मेन्डेट के अन्तर्गत और ईराक, फिलिस्तीन एवं ट्रान्स-जोर्डन ब्रिटेन के अन्तर्गत कर दिये गये। १९२१ में ब्रिटेन ने मध्य पूर्व के मामलों में सीधा हस्तक्षेप किया और सीरिया के अपदस्थ (Deposed) शाह फैजल और उसके भाई अब्दुल्ला को क्रमशः ईराक तथा ट्रान्सजोर्डन की गद्दी पर बैठा दिया। वास्तव में, अमेरिकन प्रतिरोध की पूर्ण उपेक्षा करते हुए ब्रिटेन और फ्रान्स ने वर्साय की संधि एवं अन्य सम्बन्धित संधियों की व्यवस्थाओं अथवा शर्तों का अतिक्रमण करने में कोई हिचकिचाहट प्रदर्शित नहीं की। सोवियत संघ ने भी मध्यपूर्व में प्रविष्ट होने और ब्रिटेन तथा फ्रान्स को स्थान च्युत करने के प्रयत्न में अपने कूटनीतिक और सैद्धान्तिक

अस्त्रों का प्रयोग करने की चेष्टा की। उदाहरणार्थ, सितम्बर १९२० में 'कोमिन्टर्न' ने बाकू में पूर्व की जनता की एक कांग्रेस का आयोजन किया और उपनिवेशों में निवास करने वाली जनता की मुक्ति का नारा प्रसारित किया; १९२१ में टर्की, अफगानिस्तान और ईरान से मैत्री संधियां स्थापित की; १९२० में गिलन (Gilan) पर कब्जा कर लिया और बाद में टूर्किश भाषी-समूहों में पृथकतावादी प्रवृतियों को प्रोत्साहन दिया; १९२६-२८ में सऊदी अरब (Saudi Arabia) तथा यमन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये एवं विभिन्न अरब राजधानियों में कूटनीतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक कार्य कलापों में पर्याप्त वृद्धि की। अमेरिका भी मध्य-पूर्व में चुप न रहा। मध्य-पूर्व के तेल क्षेत्रों पर अपना पर्याप्त प्रभुत्व जमाने में उसने सफलता अर्जित की। द्वितीय महायुद्ध के समय रूस में सामान भेजने के मार्ग निश्चित करने के लिये ईरान में तथा ब्रिटिश सेना को अमेरिकन शस्त्रों से सज्जित करने के लिये मिश्र तथा फिलिस्तीन में अमेरिकन सैनिक उतारे गये। इसके अतिरिक्त मध्य पूर्व के अनेक देशों को आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया गया। १९४५ तक मध्य-पूर्व में अमेरिकन अभिरूचि तीन तत्वों पर केन्द्रित होने लगी—तेल स्रौत (Oil resources) फिलिस्तीन (Palestine) और सोवियत घुसपैठ (Russian infiltration)।

(९) **जातिगत संघर्ष, मध्यपूर्वीय राज्यों में एकता-आन्दोलन तथा अरब लीग की स्थापना**—१९१९ के बाद से मध्य पूर्वीय राजनीति की अन्य विशेषताएं अरब-यहूदी जातीय संघर्ष (The Arab–Jew antagonism), मध्यपूर्वीय राज्यों में एकता-आन्दोलन (Movement for unity among the middle East states) और अरब-लीग की स्थापना (Establishment of the Arab–League) थीं। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही अरबों और यहूदियों में जातिगत संघर्ष मध्यपूर्वीय राजनीति को प्रभावित करता रहा। इसमें फिलिस्तीन की पूरी समस्या निहित है जिस पर इस अध्याय में विस्तार से विचार किया जायगा। दोनों महायुद्धों के बीच की अवधि में ही मध्यपूर्वीय देशों ने शनैः शनैः एकता की भावना विकसित करली। मध्यपूर्वीय राज्यों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद और यहूदियों के आक्रामक व्यवहार के विरुद्ध जिस राजनीतिक एकता की आवश्यकता का अनुभव किया उसकी सबसे पहली अभिव्यक्ति 'सदाबाद समझौते (Saadabad Pact) में प्रकट हुई। यह समझौता १९३७ में पार्शिया, ईराक, टर्की और अफगानिस्तान में सम्पन्न हुआ। इस समझौते के अनुसार हस्ताक्षर-कर्ता राज्यों ने यह वायदा किया कि वे एक दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और न ही एक दूसरे के प्रति युद्धरत होंगे। हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र इस बात पर भी सहमत हुए कि वे पारस्परिक विवादों का शांतिपूर्ण उपायों से समाधान करेंगे। पहले-पहल इस समझौते की अवधि ५ वर्ष निश्चित की गई किन्तु बाद में इसे १९४८ तक बढ़ा दिया गया। मध्य पूर्व के देशों में एकता लाने के उद्देश्य से ही १९४५ में अरब-लीग की स्थापना की गयी। मिश्र की राजधानी काहिरा (Cairo) में आयोजित एक सम्मेलन में सीरिया (Syria), मिश्र (Egypt), ईराक (Iraq), सऊदी अरब (Saudi Arabia) और ट्रान्सजोर्डन (Trans-

Jo dan) के प्रतिनिधियों ने अरब-लीग के संविदा (Covenant) पर अपनी सहमति प्रदान की । अरब-लीग की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य ये थे—अरब देशों में पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार करना, शत्रु के विरुद्ध एक दूसरे की सहायता करना, एक दूसरे की स्वतंत्रता और संप्रभुता का सम्मान करना तथा अरब राज्यों के आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में सहायक होना। अरब राज्यों के प्रतिनिधियों की एक परिषद भी स्थापित की गयी।

मध्य-पूर्व की राजनीति की विशेषताओं और महत्ता का आवश्यक परिचय देने के उपरान्त अब हम मध्य पूर्व के प्रमुख देशों की १६१६ से १६४५ तक की प्रवधि की वैदेशिक नीतियों का उल्लेख करेंगे।

टर्की (Turkey)

टर्की मध्य-पूर्व का होते हुए भी अनेक दृष्टियों से इस क्षेत्र के देशों से भिन्न है और यूरोपियन सभ्यता की साम्यता रखता है। यूरोप से लगा होने के कारण टर्की एक लम्बे समय तक यूरोप के महान राज्यों में से एक गिना जाता रहा था। आज भी टर्की यूरोप के विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इसलिये टर्की को अंशतः यूरोपियन और अंशतः मध्यपूर्वीय राज्य (Partly European and partly middle Estern) कहना अनुचित न होगा। सामाजिक और राजनीतिक एकता तथा सैनिक शक्ति की दृष्टि से टर्की आजभी मध्य-पूर्व की महानतम शक्तियों में से एक है। **टर्की में राष्ट्रवादी आन्दोलन** (Nationalist Movement) का प्रारम्भ–एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में टर्की का इतिहास प्रथम महायुद्ध के बाद से प्रारम्भ होता है। मध्य-पूर्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ सर्व प्रथम टर्की में ही हुआ। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर टर्की एक दुर्बल और पतनोन्मुख देश था। १६११ से चलने वाले अनवरत युद्ध ने उसे विनाश के कगार पर ला खड़ा किया था। प्रथम महायुद्ध में समस्त केन्द्रीय यूरोपियन देशों में टर्की की पराजय सर्वाधिक रूप से हुई और उसकी राजधानी तक पर मित्र राष्ट्रीय सेनाओं का कब्जा हो गया। युद्ध में इस पूर्ण पराजय ने टर्की को सेव्र की **अपमानजनक सन्धि** (The humiliating Treaty of Sevres) पर हस्ताक्षर करने को विवश कर दिया। यह सन्धि १० अगस्त १६२० को की गई जिसके अनुसार टर्की ने लगभग अपनी सम्पूर्ण गैर-तुर्की जनसंख्या की प्रभुसत्ता समर्पित की और मिश्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलीटानियां, मोरक्को, ट्यूनिसिया, अरब, फिलस्तिन, मेसोपोटामिया और सीरिया पर अपने सब अधिकारों का परित्याग किया। इस सन्धि द्वारा यूनान को पूर्वी थ्रेस का कुछ भाग, ईजियन सागर के कुछ तुर्क टापू तथा स्मर्ना (Smyrna) और दक्षिण-पूर्वी लघु एशिया का अस्थायी शासन प्राप्त हुआ। इटली को रोडस् तथा डोडेकनीज टापू मिले, और दर्रे दानियाल के जलडमरू मध्य का प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय तथा किलेबन्दी रहित बना दिया गया। टर्की द्वारा शासित पहले वाले अरब राज्य ब्रिटेन और फ्रांस के संरक्षण में रख दिये गये और टर्की को युद्ध में जर्मनी के साथ सहयोग करने के दण्डस्वरूप क्षतिपूर्ति की एक विशाल राशि देने को वाध्य किया गया। टर्की ने आर्मीनिया (Armenia) को स्वतन्त्र राज्य स्वीकार किया और कुर्दिस्तान को भी स्वतन्त्रता देने का वचन दिया। इस प्रकार सेव्र की इस सन्धि से टर्की के विशाल साम्राज्य में केवल अनातोलिया

का पहाड़ी भाग और कुस्तुन्तुनिया (Custantinpole) के आस-पास कुछ प्रदेश ही रह गया

सेव्र की उपर्युक्त सन्धि पर सुल्तान को प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर अवश्य कर दिये किन्तु यह सन्धि सम्पुष्ट और क्रियान्वित कभी नहीं हुई। सन्धि की शर्तों के प्रकाशन से टर्की में एक गम्भीर उथल पुथल हुई। सन्धि के कार्यान्वित होने से पूर्व ही टर्की के राष्ट्रवादियों के एक दल ने मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में इसको पलट देने का प्रयत्न किया। कमालपाशा ने सेव्र की सन्धि को मित्र राष्ट्रों की सहायता से बलपूर्वक लागू करने वाली यू.ानी फौजों को अपनी मातृभूमि से खदेड़ना शुरू किया। इसी मध्य इटली, फ्रांस और इंगलैण्ड ने यूनान को सहयोग देना छोड़ दिया। इससे राष्ट्रवादी और भी प्रवल हो गये और सितम्बर १६२२ तक उन्होंने यूनानियों को बुरी तरह परास्त कर उन्हें लघु एशिया (Asia Minor) से निकाल दिया। १ नवम्बर १६२२ से टर्की में सुल्तान के पद को भग कर दिया गया और २६ अक्टूबर १६२३ को टर्की गणतत्र घोषित किया गया जिसका प्रथम राष्ट्रपति कमालपाशा बना।

जब राष्ट्रवादियों ने यूनानियों को एशिया माइनर से खदेड़ कर बाहर कर दिया और सेव्र की सन्धि की कब्र खोद ली, तभी मित्र राष्ट्रों ने यूनान और टर्की की सन्धि के लिये लोसाने (Lausanne) में एक सम्मेलन बुलाया। २० नवम्बर १६२२ को शांति के लिये लोसाने में वार्ता आरम्भ हुई जिसमें एक ओर राष्ट्रवादी टर्की और दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों की सरकारें थीं। वास्तव में टर्की के राष्ट्रवादियों के सामने बैठकर समझौता वार्ता चलाने के लिये ब्रिटेन और फ्रांस तभी तैयार हुए थे जब उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि टर्की के साथ झगड़ा जारी रखना बेकार है और उससे समझौता करके कुछ ऐसी आर्थिक सुविधायें प्राप्त कर लेनी चाहिए जिससे फ्रांस और ब्रिटेन के पूंजीपतियों को टर्की का आर्थिक शोषण करने का मौका प्राप्त होता रहे।

टर्की की नई सरकार के साथ विवादग्रस्त मामलों का नये सिरे से निबटारा करने के लिए २० नवम्बर १६२२ को स्विटजरलैंड के अन्यतम नगर लोसाने (Lausanna) में जो सम्मेलन प्रारम्भ हुआ उसमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, यूनान, जापान, अमेरिका, रूस रूमानिया, यूगोस्लाविया और टर्की थे। फरवरी १६२३ में यह वार्ता असफल हो गई, किन्तु अप्रेल में जब पुन: वार्ता प्रारम्भ हुई तो टर्की को अपनी मांग का अधिकांश भाग प्राप्त हुआ और ४ जुलाई १६२३ को **लोसाने की सन्धि (Treaty of Lausanna)** सम्पन्न हुई जिसके अन्तर्गत संक्षेप में निम्नलिखित व्यवस्थायें की गईं—

[१] टर्की के पूर्वी क्षेत्र, ईजियन सागर के कुछ टापू, स्मर्ना और पूरा अनातोलिया (Anatolia) पुन: प्राप्त हुआ।

[२] दर्रे दनियाल (Durdanelles) और बास्फोरस के जलडमरूमध्यों के प्रदेश को पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय और निःशस्त्र बना रहने दिया।

[३] टर्की ने अपनी सीमाओं से बाहर अपने पुराने प्रदेशों मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, मिश्र, फिलस्तीन, सूडान तथा साइप्रस पर अपने सब अधिकार छोड दिये।

[४] टर्की ने अपने प्रदेश में रहने वाले अल्पसंख्यकों की रक्षा का वचन दिया।

[५] रोड्स तथा डोडेकनीज के टापू इटली को प्रदान किये गये।

[६] टर्की की जल, थल और वायु सेनाओं पर से पहले लगाये गये सभी प्रतिबंध उठा लिये गये, टर्की की भूमि से सब विदेशी फौजों को हटाने लग गये और टर्की से किसी प्रकार की हरजाने की रकम नहीं मांगी गई।

[७] गैलीपोली (Gaillipoli) प्राय: द्वीप का एक छोटा सा (Anzac) क्षेत्र स्थाई रूप से ब्रिटेन, फ्रांस और इटली को प्रदान किया गया जहां पर तीनों देश युद्ध में मारे गये सैनिकों की कब्रों की रखवाली के लिये संरक्षक नियुक्त कर सकते थे परन्तु जहां किसी प्रकार की किलेबन्दी नहीं की जा सकती थी।

लोसाने की संधि पारस्परिक समझदारी और शांतिपूर्ण ले–दे की भावना का प्रतीक थी। इस संधि की विशेषता यह थी कि यह आरोपित संधि नहीं थी बल्कि खुले विचार-विमर्श द्वारा तय की गई थी और इसीलिये युद्ध के बाद होने वाली अन्य संधियों की अपेक्षा अधिक दृढ़ तथा स्थाई थी। लोसाने की संधि की भावना और उदारता यदि युद्ध के बाद की जाने वाली अन्य संधियों में भी रखी जाती तो सम्भवत: विश्व की अनेक समस्याएं शांतिपूर्वक सुलझ जाती। इस संधि ने टर्की की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि की। इसमें कोई संदेह नहीं कि "**सेव्र की संधि को पूर्णतया नष्ट करके उसके स्थान पर लोसाने की संधि करना कमालपाशा की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारी विजय थी।**" दो सौ सालों से टर्की यूरोप का 'रोगी' कहलाता था और पश्चिमी राष्ट्र इस युग में उसे लूटते रहने का निरन्तर प्रयास करते आ रहे थे, परन्तु अब उस युग की समाप्ति होकर टर्की के जीवन में आत्म–सम्मान और ख्याति के एक नये युग का समारम्भ हुआ था।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि टर्की ने पश्चिमी शक्तियों की सफलतापूर्वक अवहेलना करदी तो भी उसने पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का स्वागत करने में कोई हिचक प्रदर्शित नहीं की। अपने देश को विदेशी प्रभाव से मुक्त करने के उपरान्त मुस्तफा कमाल ने टर्की का आधुनिकीकरण किया। कमालपाशा के योग्य निर्देशन में टर्की ने पश्चिमीकरण (Westernisation) की योजना पर अमल किया। कमाल ने अपने देश के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तनों का सूत्रपात किया। सुल्तान और खलीफा के पद समाप्त कर दिये गये और टर्की को गणतंत्र (Republic) घोषित कर दिया गया। राज्य में सभी धर्मों की समानता को मान्यता प्रदान की गई और स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया गया। टर्की के आर्थिक ढांचे का भी पुनर्गठन किया गया। कृषि और उद्योग के विकास के लिये कुछ विशेष विभाग गठित किये गये। इसके अतिरिक्त अनेक उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया और अनेक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। उद्योगों के विकास के लिए १९३४ में एक पंचवर्षीय योजना भी लागू की गई।

टर्की के वैदेशिक सम्बन्ध १६२३-१६४५
[Foreign Relations of Turkey 1923-1945]

वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्रों में लोसाने की संधि कमालपाशा की पहली शानदार सफलता थी। पराजित देशों में टर्की ही ऐसा प्रथम देश था जिसने पहले सम्पन्न की गयी अपमानजनक संधि को ठुकराकर मित्र राष्ट्रों को एक ऐसी संधि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जो उसके स्वयं की इच्छा पर आधारित थी। परन्तु कई पक्षों में टर्की की आकांक्षाओं की पूर्ति करने पर भी लोसाने की सन्धि टर्की की सभी वैदेशिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकी थी और टर्की तथा ईराक की सीमा एवं मोसल (Mosul) की समस्या और सीरिया के साथ सीमा एवं जिले की स्वायत्तता के प्रश्न अनिश्चित ही छोड़ दिये गये थे। इसी तरह टर्की और यूनान के मध्य आबादी की अदला-बदली का प्रश्न भी नहीं सुलझा था जो यह सुनिश्चित करने के लिए निर्धारित था कि दोनों देशों में से कोई भी जातिगत अल्पसंख्यकों के आधार पर एक दूसरे से किसी प्रकार की मांग नहीं करेगा। ओटोमनकाल के ऋण के विभाजन और भुगतान का प्रश्न भी अभी तक उलझन में ही पड़ा हुआ था। अतः टर्की के नये शासन की वैदेशिक नीति का मूल उद्देश्य अपनी सार्वभौमिक एकता एवं स्वाधीनता की रक्षा करना, पाश्चात्य देशों के स्वार्थ-पूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति न होने देना, साम्यवादी रूस के साथ मित्रवत् सम्बन्धों की स्थापना करना, मध्यपूर्वीय देशों के साथ मैत्रीपूर्ण एवं सामान्य सम्बन्ध कायम करना, इटली को निष्फल करने के लिए बालकान राज्यों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करना और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तूफानों से पृथक रहना था। अग्रिम पंक्तियों में हमें यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि १६२३ से १६४५ तक की अवधि में टर्की के सोवियत रूस, पश्चिमी शक्तियों, मध्यपूर्वीय और बालकान राज्यों तथा इटली और जर्मनी आदि के साथ कैसे वैदेशिक सम्बन्ध रहे।

(१) टर्की के सोवियत रूस के साथ सम्बन्ध (Relations with Soviet Russia)—सोवियत रूस और टर्की दोनों ही ऐसे देश थे जिनके हृदय में पाश्चात्य शक्तियों के प्रति सामान्य सन्देह और शत्रुता के भाव विद्यमान थे, अतः दोनों में मैत्री सम्बन्धों के स्थापित होने के मार्ग में कोई दिक्कत न थी। मुस्तफा कमालपाशा के शक्ति में आने से पूर्व ही १६२१ में टर्की रूस के साथ **मास्को की संधि (Treaty of Moscow)** सम्पन्न कर चुका था। इस संधि में हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने पूर्व में सामाजिक और राष्ट्रीय क्रांतियों के अस्तित्व को स्वीकार किया और यह माना कि इन आन्दोलनों को नवीन सामाजिक व्यवस्था बनाने के लिए रूसी श्रमिक वर्ग के संघर्ष के साथ सादृश्य ताल-मेल है। संधि में "इन जनसमूहों के लिए स्वतन्त्रता, स्वाधीनता तथा जैसी सरकार वे चाहें उसे निर्बाध ढंग से चुनने के अधिकारों" का जिक्र किया गया। टर्की और साम्यवादी रूस परस्पर इसलिये भी निकट आये कि लोसाने सम्मेलन (Lausanne Conference) में रूस ने टर्की के दृष्टिकोण को अपना समर्थन प्रदान किया था।

१६२२-२३ में दोनों देशों के राजनीतिज्ञों और सैनिक कमाण्डरों की यात्राओं ने पारस्परिक सम्बन्धों में और भी सुधार किया। दोनों देशों की

मित्रता में तब और भी अभिवृद्धि हुई जब उनमें ऐसे समय मैत्री और तटस्थता की एक संधि पर हस्ताक्षर हुए जबकि १९२५ में ब्रिटेन और टर्की मोसल (Mosul) के प्रश्न पर एक-दूसरे से विवाद में उलझे हुए थे। १९२५ में की गई मैत्री और तटस्थता सम्बन्धी इस सन्धि के अन्तर्गत टर्की और रूस में से प्रत्येक पक्ष ने यह वायदा किया कि वे एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे, एक दूसरे के विरुद्ध शत्रुवत कार्य से विरक्त रहेंगे तथा ऐसे किन्हीं भी कार्यों में सम्मिलित नहीं होंगे जिनसे उनकी मैत्री व मेल-जोल को क्षति पहुंचती हो। इसके अलावा दोनों राष्ट्र इस बात पर भी सहमत हुए कि किसी भी तृतीय शक्ति से वार्ता करते समय वे पहले परस्पर विचार-विमर्श करेंगे। परन्तु इस संबंध में यह स्मरणीय है कि दोनों देश वैदेशिक संबधों की दृष्टि से और राजनीतिक दृष्टिकोण से ही परस्पर मैत्री संधियों से आबद्ध हुए थे, अन्यथा आन्तरिक दृष्टि से टर्की साम्यवाद का घोर विरोधी था और उसने साम्यवादियों को कभी क्षमा नहीं किया।

यूरोपियन स्थिति में बिगाड़ आने के साथ-साथ टर्की और रूस की मैत्री का महत्व बढ़ता गया। यद्यपि टर्की ने साम्यवादियों के दमन की अपनी नीति जारी रखी, किन्तु सोवियत रूस ने उससे अपने मैत्री सम्बन्ध नहीं तोड़े। १९३४ में टर्की ने आक्रमण की परिभाषा सम्बन्धी सोवियत समझौते पर हस्ताक्षर किये और १९३६ में रूस ने **मौन्ट्रो सम्मेलन** (**Montreux Convention**) में जलडमरूमध्य (Straits) के बारे में लोसाने संधि की शर्तों को संशोधित करने के मामले में टर्की को समर्थन प्रदान किया। जुलाई १९३६ में **मौन्ट्रो** (Montrewx) में ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जापान, बल्गेरिया, ग्रीस, रूमानिया और युगोस्लाविया ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसमें जलडमरूमध्य (Strait of Dardanelles) पर टर्की को किलेबंदी करने की अनुमति दे दी गई और उसे यह अधिकार भी दिया गया कि वह किसी भी पक्ष के जंगी जहाजों को इस जल-मार्ग से आने-जाने से रोक सके। जलडमरूमध्य पर अपने इस अधिकार की मांग टर्की लम्बे समय से बराबर करता आ रहा था। लोसाने संधि द्वारा यह तय किया गया था कि टर्की जलडमरूमध्य के आस-पास किलेबंदी नहीं करेगा। टर्की की राष्ट्रीय भावना तभी से इस व्यवस्था में संशोधन करने की आवाज उठा रही थी। **मौन्ट्रो समझौते** (**Montreux Convention**) के फलस्वरूप टर्की की इस मांग की पूर्ति हो गई। मौन्ट्रो समझौते का खुलासा विवरण हम टर्की के पश्चिमी देशों के साथ वैदेशिक संबंधों की चर्चा करते समय देंगे।

आने वाले वर्षों में टर्की और रूस के सम्बन्धों ने एक नया मोड़ लिया और वे पहले की भांति मधुर नहीं रहे। टर्की की भावनाओं को उस समय बड़ी ठेस पहुँची जब अगस्त १९३९ में जर्मनी और रूस के मध्य एक अनाक्रमण समझौता सम्पन्न हो गया। तत्पश्चात् १ सितम्बर को पोलैण्ड पर जर्मन-आक्रमण ने और १७ सितम्बर को सोवियत आक्रमण ने अंकारा (टर्की की राजधानी) में आतंक उत्पन्न कर दिया। सितम्बर १९३९ के अन्त में टर्की का विदेशमंत्री बाल्कन क्षेत्र में शक्ति संतुलन बनाये रखने के उद्देश्य से अनाक्रमण संधि पर बातचीत करने के लिये मास्को गया। परन्तु जर्मन दबाव के कारण रूस ने इस नई संधि के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। अपने इस निरन्तर

असफल होने पर अक्टूबर १९३९ में टर्की ने ब्रिटेन और फ्रांस से मैत्री संधि करली।

जून १९४१ में जर्मनी ने रूस पर हमला कर दिया। इस समय टर्की ने तटस्थ रहना ही उचित समझा। महायुद्ध के दौरान रूस और टर्की के सम्बन्धों में और भी बिगाड़ आ गया। उदाहरणार्थ टर्की ने रूसी पूर्तियों के निमित्त जलडमरूमध्य को बंद कर दिया और १९४५ में मास्को ने १९२५ की टर्की सोवियत मैत्री संधि को समाप्त घोषित कर दिया। युद्ध की समाप्ति के समय तक दोनों देशों के सम्बन्धों में पूरा तनाव आ गया और टर्की पूरी तरह पश्चिमी खेमे का सदस्य बन गया।

(२) टर्की के पश्चिमी शक्तियों के साथ सम्बन्ध (Relations with the Western Powers)—प्रथम महायुद्ध में टर्की मित्र राष्ट्रों के विरोधी खेमे में था और पश्चिमी शक्तियों ने उसे इतनी बुरी तरह पराजित किया कि उसकी राजधानी तक पर इनका कब्जा हो गया। युद्ध के उपरान्त टर्की को सेव्र की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य होना पड़ा, यद्यपि इस संधि की क्रियान्विति कभी नहीं हो सकी। युद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने टर्की में उठ रहे राष्ट्रवादी आन्दोलन को पूरी तरह कुचल देने के सभी प्रयत्न किये, परन्तु उन्हें इसमें असफलता ही हाथ लगी। पश्चिमी शक्तियों के ऐसे व्यवहार के कारण टर्की के मन में उनके प्रति गहरा विक्षोभ छा गया जिसकी परिणति टर्की-रूस मैत्री-सम्बन्धों में अभिव्यक्त हुई।

सेव्र की संधि ने तो टर्की और पाश्चात्य शक्तियों के सम्बन्धों में कटुता पैदा की ही, मोसल, एलेक्जेन्ड्रेटा, जलडमरूमध्य आदि के प्रश्नों ने भी उनके पारस्परिक मतभेदों को अधिक उग्र बनाया। राष्ट्र संघ द्वारा मोसल समस्या के निबटारे के बाद ५ जून १९२९ को ब्रिटेन और टर्की के मध्य एक संधि (Anglo-Turkey-Treaty) सम्पन्न हुई जिसके द्वारा टर्की मोसल से अपने सारे दावे इस आश्वासन पर उठा लेनेको सहमत होगया कि "मोसल का दस प्रतिशत तेल उसके उपयोग के लिये उपलब्ध रहेगा।" इसके बाद सम्बन्धों में और भी सुधार हुआ। अलेक्जेन्ड्रेटा (Alexandretta) के प्रश्न पर यह कहा जा सकता है कि १९३१ के फ्रेन्कलिन-ब्रोलिन समझौते में इस जिले के लिये विशिष्ट शासन की व्यवस्था थी, जहां ४० प्रतिशत जनसंख्या तुर्की थी।

सितम्बर १९३६ में जब फ्रांस ने अलेक्जेन्ड्रेटा और सीरिया की स्वतंत्रता की घोषणा की तब टर्की ने राष्ट्र संघ परिषद में इसका तीव्र विरोध किया। १९३७ में राष्ट्र संघ ने यह वचन दिया कि अलेक्जेन्ड्रेटा में तुर्कों के अधिकारों की रक्षा की जायेगी। १९३८ में टर्की और फ्रांस में सुलह हो गई जिसके अनुसार अलेक्जेन्ड्रेटा में फ्रांस और टर्की का संयुक्त शासन तब तक के लिये स्थापित कर दिया गया जब तक कि वहां आम चुनाव हो जाये। शीघ्र ही चुनाव भी हुए जिनमें बहुमत टर्की को मिला। परिणामस्वरूप अलेक्जेन्ड्रेटा को गणतंत्र घोषित किया गया। १९३९ में ब्रिटेन और फ्रांस के साथ टर्की की मैत्री संधि हुई और फ्रांस इस गणतंत्र को टर्की द्वारा ले लिये जाने के लिये सहमत हो गया।

जहां तक जलडमरूमध्य (Strait of Dardanelles) का प्रश्न था, टर्की पश्चिमी शक्तियों से १९३० के बाद से ही विशेष रूप से यह आग्रह करता

रहा कि लोसाने की संधि की असैन्यीकरण की धारायें समाप्त कर देनी चाहिये और टर्की को जलडमरूमध्य की किलेबन्दी करने का अधिकार मिलना चाहिये। लोसाने की सधि ने जलडमरूमध्य का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया था और इस क्षेत्र का निरीक्षण (Supervision) एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग (International Commission) को सौंप दिया गया था जिसकी अध्यक्षता टर्की के प्रतिनिधि द्वारा की जा रही थी। परन्तु धुरी राष्ट्रों इटली, जापान और जर्मनी की आक्रमणकारी नीति ने टर्की की चिन्ता को बढ़ा दिया और उसे इस बात से आश्वस्त कर दिया कि यदि जलडमरूमध्य की किले बंदी न की गई तो टर्की की सुरक्षा को विशेष खतरा पैदा हो जायेगा। जलडमरूमध्य का विश्वसनीय नियंत्रण रूस के लिये भी आवश्यक था क्योंकि इसकी सुरक्षा काले सागर के क्षेत्र की सुरक्षा के लिये आवश्यक थी। टर्की की उपर्युक्त मांग पर पश्चिमी शक्तियों ने तब तक कोई ध्यान न दिया जब तक कि हिटलर ने राइनलैण्ड पर अधिकार न कर लिया और इटली एक आक्रामक सामुद्रिक शक्ति के रूप में उनके लिये सिरदर्द न बन गया। धुरी राष्ट्रों की आक्रामक नीति ने जब भूमध्यसागर की यथास्थिति को संकट में डाल दियातो पश्चिमी शक्ति टर्की की मांग को उचित समझने लगी। महाशक्तियों के इस प्रकार के परिवर्तित दृष्टिकोण से मौण्ट्रो (Montre aux) सम्मेलन ने सुप्रसिद्ध जल-डमरू समझौते (Straits Convention) का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जुलाई १९३६ में होने वाले इस सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियतसंघ, आयरलैण्ड और विभिन्न अधिराज्यों, बलोरिया, यूनान,रूमानिया, टर्की और यूगोस्लाविया ने भाग लिया। इस समझौते के अन्तर्गत टर्की को जलडमरूमध्य की किलेबंदी करने तथा कालेसागर के अतिरिक्त अन्य देशों के युद्धपोतों को वहां से गुजरने पर नियंत्रण लगाने का पूरा अधिकार दिया गया। युद्धकाल में वह कालेसागरीय देशों (Black Sea Powers) के जहाजों के लिये भी जलडमरूमध्य को बंद कर सकता था, जब तक कि वे समझौते (Convention) की शर्तों के अनुसार ऐसा न कर रहे हों। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि यदि टर्की स्वयं युद्धरत हो तो जल डमरूमध्य में आने जाने का प्रश्न पूर्णत: उसकी इच्छा पर निर्भर होगा। शान्तिकाल में कालेसागरीय देशों के व्यापारिक और सामरिक जहाजों को निर्बन्ध आवागमन का अधिकार था। यह समझौता २० वर्षों तक लागू रहने वाला था।

मौण्ट्रो समझौता लोसाने की संधि (Treaty of Lausanne) के बाद टर्की की विदेश नीति की दूसरी महत्वपूर्ण और गौरवशाली सफलता थी। इस संधि ने टर्की और पश्चिमी शक्तियों के मध्य मैत्री के एक नये युग का आरम्भ किया। इसके बाद सोवियत रूस एवं पाश्चात्य राष्ट्रों के साथ टर्की के सम्बन्ध शनैः शनैः सामान्य होते गये और टर्की सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) के सिद्धान्त का समर्थक बन गया। १९३२ में टर्की ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी ग्रहण कर ली। १९३३ के बाद से ही यूरोपियन राजनीतिक परिस्थितियां तेजी से बिगड़ती गयीं और टर्की तथा पश्चिमी शक्तियां एक दूसरे के अधिक निकट आती गयीं। १९३७ में ब्रिटेन एवं टर्की के मध्य तीन आर्थिक समझौते हुये। मई १९३९ में पारस्परिक सुरक्षा पैक्ट बनाने के लिए ब्रिटेन और टर्की द्वारा घोषणा की गई। यूरोप

में मंडराते हुए युद्ध के बादलों को दृष्टिगत करके यूरोप के दोनों ही शक्ति-दल टर्की के महत्व को समझने लगे और उसे अपने खेमे में लाने को प्रयत्न-शील हुए। किन्तु जब जर्मनी ने २३ अगस्त १९३९ को रुस के साथ अना-क्रमण समझौता कर लिया तो टर्की ने ब्रिटेन और फ्रांस के साथ सुरक्षा की एक त्रिपक्षीय संधि अक्टूबर १९३९ में की। इस संधि के अन्तर्गत युद्ध के भू-मध्य सागर तक फैलने की स्थिति में टर्की द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस को सहायता दिये जाने के बदले टर्की पर किसी यूरोपियन देश द्वारा आक्रमण की स्थिति में उसे सहायता और अनुदान का आश्वासन दिया गया। इसी समझौते से संलग्न एक आर्थिक समझौते द्वारा टर्की को २५०,००,००० पौंड का ऋण दिया गया। उधर जर्मनी ने भी टर्की को प्रसन्न रखना जारी रखा। द्वितीय महायुद्ध के दौरान प्रारम्भ में टर्की ने तटस्थ रहने का प्रयत्न किया। १९४१ **में टर्की और जर्मनी में मैत्री का दसवर्षीय पैक्ट हुआ**। इसके बाद टर्की पर दोनों ही पक्षों द्वारा दबाव पड़ने लगा, लेकिन उसने किसी न किसी प्रकार अपनी तटस्थता बनाये रखी। जर्मनी के दबाव का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करते हुए भी टर्की को क्रोम (Chrome) की विशाल राशि विवश होकर जर्मनी को निर्यात करनी पड़ी। दिसम्बर १९४१ में टर्की को अमेरिका की उधार-सहायता (**American Lend-Lease Assistance**) प्राप्त हुई। १९४२ के प्रारम्भ से मित्र राष्ट्रों ने टर्की पर धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने के लिए बहुत अधिक दबाव डालना आरम्भ किया, परन्तु जनवरी १९४४ तक टर्की तटस्थता की नीति पर अटल रहा। १९४५ के आरम्भ में मित्र-राष्ट्रों ने यह घोषित किया कि केवल धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध एक मार्च तक युद्ध घोषित करने वाले देश ही सानफ्रान्सिसको सम्मेलन (**San-Francisco Conference**) के लिए आमन्त्रित किये जायेंगे जो कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना करेगी। इस समय तक यह भी स्पष्ट हो चला था कि जर्मनी की पराजय अब कुछ सप्ताहों का सवाल है। इन अनुकूल परिस्थितियों में २८ फरवरी १९४५ को टर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करदी और इस तरह सान फ्रांसिसको सम्मेलन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त कर लिया।

(३) **टर्की के इटली और जर्मनी के साथ सम्बन्ध Relations with Italy and Germany)**—दो महायुद्धों की मध्यावधि में टर्की के जर्मनी के साथ सम्बन्ध लगभग सामान्य से रहे। इन दोनों ही देशों ने प्रथम महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध किया था, दोनों ही युद्ध में पराजित हुए थे और दोनों ही को मित्रराष्ट्रों के हाथों अपमान एवं क्षेत्रीय नुकसान सहना पड़ा था। अत: १९१९ से १९३९ तक दोनों ही देश एक दूसरे के प्रति मैत्रीपूर्ण रहे और उनमें आर्थिक सहयोग स्थापित रहा। जर्मन विशेषज्ञों और निर्माण कार्य करने वाली फर्मों को टर्की में तुरन्त काम मिला। १९३० के व्यापारिक समझौते ने टर्की से जर्मनी में निर्यात की मात्रा को काफी बढ़ा दिया। इस समझौते ने टर्की को इतना आर्थिक लाभ पहुंचाया कि १९३९ तक उसके कुल निर्यात का ५०% जर्मनी में जाता था।

जर्मनी के विपरीत इटली के साथ टर्की के सम्बन्ध दूसरी तरह के थे। टर्की इटली के अनातोलिया (**Anatolia**) पर दावे की तरफ से सदैव चौकन्ना रहता था और इटली के वास्तविक उद्देश्य के प्रति उसके मन में

सदा शंका ग्रह किये होती थी। इसके अतिरिक्त टर्की के तट पर स्थित द्वीपों पर इटली का कब्जा था, इसलिए भी टर्की की सरकार इटली की तरफ से भयमुक्त न थी। फिर भी टर्की ने इटली के प्रति मित्रता की नीति ही जारी रखी, क्योंकि वह इटली को क्रुद्ध करके उसकी शत्रुता मोल नहीं लेना चाहता था। जब मुसोलिनी शक्ति में आया तो उसने भी टर्की के सम्मुख मैत्री का हाथ बढ़ाया क्योंकि प्रथम तो अभी तक वह सत्ता पर अपना पूर्ण अधिकार नहीं जमा पाया था और दूसरे अपनी शक्ति में उसे अभी तक पूर्ण विश्वास नहीं था। सन् १९२८ में मिलान (Milan) में टर्की के विदेशमन्त्री का हार्दिक स्वागत किया गया और बाद में इसी वर्ष दोनों देशों के मध्य तटस्थता, शांति और न्यायिक समझौता सम्बन्धी संधि हुई। साथ ही साथ इटली ने यूनान के साथ भी एक संधि की और यूनान एवं टर्की के सम्बन्धों में सुधार लाने के लिए अपने प्रभाव का प्रयोग किया।

१९३३ में जर्मनी में नाजी शक्ति का उदय हुआ और अगले ही वर्ष इटली तथा एबीसीनिया अथवा इथोपिया के मध्य सम्बन्ध बिगड़ गये। जर्मनी में नाजियों की सफलता से टर्की में कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई और जर्मनी के साथ आर्थिक सहयोग की नीति जारी रही। जब इटली ने भूमध्य-सागरीय क्षेत्र में अपनी विस्तारवादी नीति का समारम्भ किया तो टर्की और इटली के सम्बन्धों में बिगाड़ शुरू हो गया और टर्की ने इटली के विरुद्ध एबीसीनिया के मामले में राष्ट्रसंघ में लगातार विरोध प्रकट किया। इसी बीच में इटली और जर्मनी एक दूसरे की तरफ तेजी से निकट आये और रोम-बर्लिन धुरी (Rome-Berlin Axis) का निर्माण हो गया। अब टर्की की आशंकाओं में वृद्धि हो गयी। १९३७ में स्पेन के गृहयुद्ध में इटली-जर्मन हस्तक्षेप (Italo-German intervention) ने तो टर्की में फासिस्ट शक्ति के प्रति एक भयपूर्ण प्रतिक्रिया पैदा करदी। इसीलिए जब १९३९ में इटली ने अल्बानिया पर हमला किया, तो टर्की ने तुरन्त ही ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर दिया। १९४१ में, ब्रिटेन पर हमला करने की दृष्टि से, जर्मनी ने टर्की को इस बात के लिए बड़ा उकसाया कि वह ब्रिटेन और फ्रांस से अपने मैत्री सम्बन्धों का परित्याग कर दे। जर्मनी के निरन्तर दबाव के फल-स्वरूप ही अन्त में जून १९४१ में टर्की और जर्मनी के मध्य एक अनाक्रमण समझौता हुआ। टर्की द्वारा जर्मन से इस तरह मैत्री सम्बन्ध कर लेने के परिणामस्वरूप रूस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अकेला पड़ गया। ठीक इसी वर्ष २२ जून को जर्मनी का रूस पर आक्रमण भी शुरू हो गया।

रूस पर जर्मनी के आक्रमण ने और उसकी रूस में अप्रत्याशित सफ-लता ने टर्की को प्रोत्साहित ही किया, क्योंकि इससे जलडमरूमध्य पर [illegible] जर्मन आक्रमण की संभावना समाप्त हो गयी। ९ अक्टूबर १९४[illegible] को जर्मनी और टर्की के मध्य एक नया व्यापारिक समझौता हुआ जिसमें १९४३-४४ में टर्की द्वारा जर्मनी को ९०,००० टन क्रोम बेचने की व्यवस्था थी। जर्मनी ने जलडमरूमध्य पर सैनिक अधिकार करने की [illegible] आकांक्षा को टर्की पर प्रकट कर के और अन्य विभिन्न तरीकों से टर्की तथा सोवियत संघ के मध्य फूट पैदा करने की भरपूर कोशिश की। टर्की और जर्मनी के मध्य अप्रेल १९४३ में और भी व्यापारिक समझौता हुआ।

जब १९४३ के बाद युद्ध में जर्मनी का सूर्य अस्त होने लगा तो टर्की जर्मनी के प्रति अधिकाधिक उदासीन होता गया और रूस के प्रति अधिक मैत्रीपूर्ण बनने का प्रयत्न करने लगा। अप्रैल १९४४ में जर्मनी को क्रोम का निर्यात रोक लिया गया और जून में जलडमरुमध्य से जर्मन युद्ध पोतों का गुप्त आवागमन बन्द कर दिया गया। अगस्त में जर्मनी से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये गये और २८ फरवरी १९४५ को टर्की द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी गयी।

(४) **टर्की के मध्य-पूर्वीय राज्यों और बालकन प्रदेश के साथ सम्बन्ध (Relations with the Middle Eastern and the Balkan States)**—प्रथम महायुद्ध के बाद से ही टर्की ने 'अखिल इस्लामवाद' (Pan-Islamism) के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप इसके लिए मध्य-पूर्व में राष्ट्रीय आन्दोलनों का नेतृत्व करना बड़ा सरल हो गया। १२२ में टर्की और अफगानिस्तान के मध्य मास्को में एक मैत्री संधि हुई जिसमें दोनों ही देशों ने किसी 'साम्राज्यवादी देश' द्वारा आक्रमण की स्थिति में एक दूसरे की सहायता करने का वायदा किया। इस संधि ने टर्की को मध्य-पूर्व अर्थात् पश्चिमी एशिया के जनता के राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनों के नेता के रूप में मान्यता प्रदान की। इसी वर्ष टर्की ईरान और अफगानिस्तान के मध्य एक त्रिपक्षीय समझौता (Triple Alliance) हुआ। १९२६ में टर्की और ईरान (Persia) के मध्य मैत्री और सुरक्षा संधि हुई। १९३३ के बाद से ही टर्की की विदेश नीति का प्रधान लक्ष्य मध्य-पूर्व में प्रादेशिक सुरक्षा पद्धति (The Regional Security) का निर्माण करना रहा और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर १९३७ में टर्की ने ईरान, ईराक और अफगानिस्तान के साथ **सादाबाद समझौता (Saadabad Pact)** सम्पन्न किया।

बालकन प्रायद्वीप की राजनीति में रुचि लेना टर्की के लिए बिल्कुल स्वाभाविक था। बालकन प्रदेश में १९२३ में हंगरी के साथ और १९२४ में आस्ट्रिया के साथ टर्की ने मैत्री संधि की। यूनान, यूगोस्लाविया और बल्गेरिया के साथ टर्की का कुछ विरोध था। १९२५ में यूगोस्लाविया और बल्गेरिया के साथ मैत्री संधि पर हस्ताक्षर करके कुछ कठिनाइयों को दूर किया गया। १९२८ में इटली और १९२९ में यूनान के साथ टर्की की संधि हुई जिसके अन्तर्गत हस्ताक्षरकर्ताओं ने यह वचन दिया कि वे पारस्परिक विवादों का फैसला शांतिपूर्ण तरीकों से करेंगे। १९३३ में यूनान और टर्की के मध्य एक दस वर्षीय मैत्री संधि हुई जिसमें सीमाओं की पारस्परिक सुरक्षा और समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में संयुक्त रूप से दोनों ही राज्यों का एक ही व्यक्ति के द्वारा प्रतिनिधित्व कराने की व्यवस्था की गयी। इसके पहले १९३० में ही यूनान और टर्की के मध्य अल्पसंख्यकों की अदला-बदली की समस्या हल हो चुकी थी और इससे दोनों देशों के मध्य मैत्री सम्बन्धों का उत्साहवर्धक वातावरण बन चुका था।

१९२१ में अंकारा (Ankara) में पहला बालकन सम्मेलन (The First Balkan Conference) हुआ। टर्की ने ऐसे अवसरों का प्रयोग रूमानिया और यूगोस्लाविया के साथ सम्बन्धों में अनुकूल सुधार लाने के लिए

किया। फरवरी १९३४ में टर्की के प्रयासों के फलस्वरूप बाल्कन समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके द्वारा, बाल्कन प्रदेशीय सुरक्षा पद्धति (Collective Security System of the Balkan Region) विकसित हुई।

मिश्र [Egypt]

मिश्र मध्यपूर्व का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देश है। इसके पश्चिम में लीबिया (Libya) और दक्षिण में सूडान (Sudan) है। उत्तर में यह भूमध्यसागर (Mediterranean) से व पूर्व में लाल सागर (Red Sea) से घिरा हुआ है। नील नदी मिश्र को दो भागों में विभाजित करती है—पश्चिमी रेगिस्तान और पूर्वी रेगिस्तान। मिश्र की लगभग ९५% जनता नील नदी की उपजाऊ घाटी में निवास करती है। इस्लाम इस देश का धर्म है और अरबी (Arabic) यहां की भाषा है। स्वेज नहर और नील नदी, इन दोनों ने मिश्र को मध्य-पूर्व में ऐतिहासिक और सामरिक महत्व प्रदान किया है। मिश्र को, हेरोडोटस के शब्दों में, "नील का उपहार" (*The Gift of the Nile*) कहा गया है। मिश्र आज मध्य पूर्व अथवा पश्चिमी एशिया का एक तूफानी केन्द्र बना हुआ है। अरब संघ के सक्रिय सदस्य के रूप में यह अरब जगत का केन्द्र बिन्दु और आज के अरब राष्ट्रवाद का अग्रदूत है। एशिया, अफ्रीका और अरब-संसार का संगम-स्थल यह देश स्वेज के जलमार्ग के कारण सामरिक महत्व की दृष्टि से संसार के दोनों शक्तिशाली खेमों (पूंजीवादी राष्ट्र और साम्यवादी रूस) की राजनीति का शिकार बना हुआ है। सभी इस बात को समझते हैं किन्तु युद्ध के समय इस देश का महत्व किसी भी रूप में विजय के लिये आवश्यक है।

१६वीं शताब्दी से पूर्व मिश्र टर्की साम्राज्य का अंग था। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में मिश्र के तुर्की पाशा मोहम्मद अली ने 'खेदिव' की उपाधि लेकर स्वतंत्र मिश्र की स्थापना की, यद्यपि उस समय भी टर्की का प्रभाव कायम रहा। १८८१ ई० में अंग्रेजों ने अपना प्रभुत्व जमाया और इस तरह उनका प्रभाव क्षेत्र सूडान तक फैला। सूडान पर १८९९ ई० में मिश्र और ब्रिटेन का संयुक्त प्रभुत्व स्थापित हुआ। १९१४ में जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ तो ब्रिटेन ने टर्की का पक्षपात करने वाले खेदीव अब्बास हिल्मी द्वितीय को हटा दिया और हिल्मी वंश के हुसैन कामिल को सुल्तान बनाया। १९१७ में कामिल के मरने पर उसका भाई फुआद मिश्र का सुल्तान बना। इस तरह प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने तक मिश्र की स्थिति ब्रिटिश-रक्षित राज्य जैसी रही।

प्रथम महायुद्ध के बाद मिश्रों में जग्लुल पाशा के नेतृत्व में राष्ट्र-प्रेमियों ने ब्रिटेन से पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की। जब ब्रिटिश सरकार ने इस मांग को ठुकरा दिया तो दंगे-फसाद शुरू हो गये। यह संघर्ष प्रचंड होता गया। जग्लुल पाशा की गिरफ्तारी से उपद्रव और भड़क उठे। अन्त में ब्रिटिश सरकार द्वारा मिश्र की समस्या पर विचार करने के लिये लार्ड मिल्नर की अध्यक्षता में नियुक्त किये गये आयोग ने यह सुझाव दिया कि मिश्र में ब्रिटेन के संरक्षण को समाप्त कर दिया जाय और मिश्र की स्वाधीनता स्वीकार करते हुए एक संधि द्वारा ब्रिटेन के तथा दूसरे देशों के हितों की सुरक्षा की गारण्टी दी जाय। २८ फरवरी १९२२ को ब्रिटिश सरकार ने मिश्र

आयोग के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए मिश्र की नीति के सम्बन्ध में एक घोषणा की। इस घोषणा द्वारा मिश्र पर ब्रिटेन के संरक्षण का अन्त कर दिया गया, उसे सर्वोच्च प्रभुता-सम्पन्न स्वतंत्र राज्य मान लिया गया और निम्न-लिखित विषयों में उस समय तक ब्रिटिश सरकार का पूरा अधिकार माना गया जब तक कि एक स्वतंत्र एवं मैत्रीपूर्ण सन्धि द्वारा ब्रिटेन तथा मिश्र में उपयुक्त समझौता नहीं हो जाता—(क) मिश्र में ब्रिटिश साम्राज्य के संचार-साधनों की सुरक्षा, (ख) परोक्ष या अपरोक्ष विदेशी आक्रमण अथवा हस्तक्षेप से मिश्र की प्रतिरक्षा, (ग) विदेशी हितों तथा मिश्र में बसने वाले विदेशियों की रक्षा, एवं (घ) सूडान पर नियंत्रण। इन प्रतिबंधों द्वारा मिश्र को दी गई स्वतंत्रता इतनी सीमित हो गई थी कि वास्तव में यह अधिराज्यों (Dominion States) से भी कम रह गई थी। चूंकि यह घोषणा मिश्रियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सतुष्ट न कर सकी, अतः मिश्र ने इस घोषणा को स्वीकार नहीं किया।

१६२४ से १६२६ तक दोनों पक्षों के मध्य कोई समझौता न हो सका। जग्लुलपाशा और उसकी राष्ट्रवादी वफ्द पार्टी ने ब्रिटेन द्वारा लगाये गये चारों प्रतिबन्धों को मानने से इन्कार करते हुए पूर्ण स्वतन्त्रता का आन्दोलन छेड़ दिया। मिश्रवासियों ने ब्रिटिश घोषणा के प्रति कोई कृतज्ञता प्रकाशित नहीं की और उसे पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने में केवल एक कदम समझा। इसी मध्य १६२२ की ब्रिटिश घोषणा पर आधारित नवीन सविधान मिश्र में लागू कर दिया गया। इसके फलस्वरूप अनेक छोटे-छोटे अल्पसंख्यक दलों, राजमहल, राष्ट्रवादियों और ब्रिटिश रैजीडेन्ट के मध्य मिश्र के राजनीतिक जीवन में विभिन्न संघर्ष उत्पन्न हो गये। २३ अप्रैल १६२३ को नया संविधान लागू हुआ और जनवरी १६२४ में मिश्र में प्रथम संसदीय चुनाव किये गये। चुनाव में **वाफद पार्टी (Wafd Party) की विजय हुई और जग्लुल (Zughlul) प्रधानमंत्री बना।** प्रधानमन्त्री पद पर आसीन होते ही जग्लुल ने १६२२ की "स्वतंत्रता" की एक पक्षीय उद्घोषणा को समाप्त करने और उसके बदले में समानता के स्तर पर दूसरी सन्धि करने की मांग की। उस समय ब्रिटेन में रैम्जे मैकडोनेल्ड के नेतृत्व में श्रमदलीय सरकार काम कर रही थी। जग्लुल को आशा थी कि श्रमिक दल को मिश्र की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति होगी। लेकिन यह केवल उसका भ्रम था। अपनी इच्छा पूर्ति के लिए १६२४ में वह लंदन भी गया, लेकिन उसे निराश लौटना पड़ा।

यह एक तथ्य है कि जब शांतिमय उपायों से विदेशी सत्ता का अन्त असंभव हो जाता है तो देश में हिंसात्मक कार्यवाहियों का तूफान उठ खड़ा होता है। अतः मिश्र के साथ भी यही बात हुई। ब्रिटेन द्वारा जब मिश्र की सम्मानीय समझौते की मांग ठुकरा दी गयी तो वहां हिंसात्मक घटनाएं आरम्भ हो गयीं और अनेक ब्रिटिश अफसर मौत को घाट उतार दिये गये। नवम्बर १६२४ में मिश्र के गवर्नर जनरल सर ली स्टैक (Sir Lee Stack) की और मिश्री सेनाओं के सेनापति की हत्या कर दी गयी। इस घटना के फलस्वरूप परिस्थितियां इतनी विषम हो गयी कि ब्रिटेन और मिश्र के मध्य युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगा। राजा और प्रधानमन्त्री जग्लुल ने इस

दुर्भाग्यपूर्ण घटना पर दुख प्रकट करते हुए ब्रिटेन से वायदा किया कि हत्यारे को ऐसी सजा दी जायगी जो दूसरों के लिए एक सबक सिद्ध होगी। परन्तु **ब्रिटेन इस आश्वासन से संतुष्ट नहीं हुआ और उसने मिश्री सरकार को एक अल्टीमेटम भेजते हुए यह मांग की कि—[१] सरकारी रूप में क्षमायाचना हो, [२] अपराधियों को दण्ड मिले, [३] सब प्रकार के राजनीतिक प्रदर्शनों का निषेध हो, [४] उचित क्षतिपूर्ति दी जाय और [५] सूडान से मिश्री सैनिकों और अफसरों को हटा लिये जांय**। प्रधानमन्त्री जग्लुल सूडान से सम्बन्धित मांग को छोडकर और अन्य सब मांगों को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया। किन्तु ब्रिटेन अपनी जिद पर अड़ा रहा और उसने अपनी सब मांगों को पूरा करने के लिए मिश्र पर दबाव डालने हेतु सिकन्दरिया [Alexandria] पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन के इस कदम के विरोध में ज़ग्लुल ने प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया और राजा फुआद [King Fuad] ने शासन की बागडोर अपने हाथ में सम्भाल ली।

सन् १९२६ के आम चुनावों में उदारवादी नेता अब्दुल खालिक सरवत पाशा [Abdul Khalik Sarwat Pasha] और उसकी पार्टी ने बहुमत प्राप्त किया तथा वफ्द पार्टी के साथ मिलकर सरकार बनाई। जुलाई १९२७ में ब्रिटेन और मिश्र के मध्य वार्ता का दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ। सरवत पाशा ने इंगलैण्ड जाकर ब्रिटिश विदेशमन्त्री चेम्बरलेन के साथ यह समझौता किया कि ब्रिटिश फौजें केवल स्वेज की रक्षा के लिए रहें और मिश्र की विदेश नीति ब्रिटिश हितों के अनुकूल हो। यह भी तय किया गया कि ब्रिटेन मिश्र को राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिये अपना समर्थन प्रदान करेगा। १९२७ में जग्लुल की मृत्यु हो जाने से सरवत पाशा के हाथ कमजोर हो गये और उधर वफ्द पार्टी के उग्रवादी नेता **नहस पाशा** [Nahas Pasha] ने उपरोक्त समझौते का तीव्र विरोध किया, फलस्वरूप अब्दुल खालिक को त्यागपत्र देने को बाधित होना पड़ा। नहस पाशा ने विशुद्ध वफ्द पार्टी का मन्त्रिमण्डल बनाया। इसी मध्य ब्रिटेन में श्रमिक दल सत्तारूढ़ हुआ और उसने मिश्र के सामने एक सन्धि का मसविदा रखा। चूंकि इस मसविदे में मिश्र की पूर्ण स्वाधीनता के बारे में कोई संकेत न था, अतः नहसपाशा ने इसे मानने से अस्वीकार कर दिया। वास्तव में दोनो राष्ट्रों के मध्य किसी भी समझौते में सबसे बड़ी बाधा पारस्परिक अविश्वास की भावना थी। ब्रिटेन मिश्रवासियों के भरोसे पर अपने हितों को छोड़ने को उद्यत नहीं था और दूसरी तरफ मिश्री लोग भी उनकी पूर्ण स्वाधीनता की मांग के बारे में ब्रिटेन के वास्तविक उद्देश्य के प्रति शंकालु थे।

दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में बिगाड़ आता गया, १९२९-३० में मिश्र में विद्रोह पुनः भडक उठे और दोनों देशों के मध्य चलने वाली वार्ता भंग हो गयी। मिश्र के शाह [The King] ने संसद को भंग कर दिया और नहस पाशा को पदच्युत कर दिया गया। उसके स्थान पर प्रतिक्रियावादी **सिदकी पाशा** [Sidky Pasha] प्रधानमन्त्री बना। उसने सन् १९३० में एक नया सविधान तैयार किया। लेकिन वफ्द दल और उदार दल ने संयुक्त रूप से इस संविधान के विरुद्ध प्रबल प्रतिरोध खड़ा कर दिया। उन्होंने १९२३ के संविधान की वापसी [Restoration] की मांग की। सिदकी पाशा ने इस्त-

कारी उपायों का आश्रय लिया, फलस्वरूप १९३४ तक मिश्र में राजनीतिक अराजकता की सी स्थिति रही। सिदकी पाशा तीन वर्ष तक मिश्र का ताना-शाह बना रहा। इस बीच ब्रिटेन के साथ कोई समझौता न हो सका। १९३३ में पोर्ट सईद में एक ब्रिटिश अध्यापिका द्वारा एक मुस्लिम लड़की को ईसाई बनाने का प्रयत्न करने पर देश भर में ईसाई विरोधी उपद्रवों की बाढ़ आ गयी। राष्ट्रवादियों ने ईसाईयों पर हमले बोले और सिदकी पाशा के नेतृत्व को खतरे में डाल दिया। अन्त में मिश्र के शाह से मतभेद हो जाने पर, स्वास्थ्य बिगड़ने का बहाना लेकर, सिदकी पाशा ने त्यागपत्र दे दिया। अब नहस पाशा पुनः प्रधानमन्त्री बना और उसकी सलाह पर [फुआद] ने सिदकी पाशा द्वारा बनाये गये १९३० के संविधान को समाप्त कर दिया।

मिश्र और ब्रिटेन में गतिरोध तब समाप्त हुआ जब १९३५-३६ में मुसोलिनी ने एबीसीनिया पर आक्रमण शुरू किया। उस समय, कुछ ऐसी बातें परिस्थि . कि मिश्र ब्रिटेन पर शीघ्र ही राजनीतिक समझौता कर लेने के लिए प्रभावकारी दबाव डाल सका। इनमें से कुछ बातें ये थीं— (१) एबीसीनिया पर इटली के आक्रमण ने ब्रिटेन को राजनीतिक दृष्टि से बड़े उलझन में डाल दिया और मिश्र ने ब्रिटेन की इस उलझनभरी स्थिति का लाभ उठाया, (२) ब्रिटेन और इटली में संघर्ष होने की स्थिति में इटली द्वारा मिश्र से शत्रुता ठान लेने की काफी संभावना थी, अतः मिश्र ने ऐसी किसी घटना के घटित होने के पहले ही ब्रिटेन से अपनी समस्याएं सुलझा लेना उचित समझा, (३) एबीसीनिया के प्रति मिश्र में सभी जगह सहानुभूति अनुभव की गयी और सभी ओर ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन उठ खड़े हुए। मिश्र की तेजी से बिगड़ती हुई राजनीतिक परिस्थिति ने ब्रिटेन को चिंतित बना दिया और (४) एबीसीनिया पर इटालियन आक्रमण होने से ब्रिटेनने जब स्वेज नहर की रक्षा के लिये विशेष सैनिक तैयारियां आरम्भ की तो मिश्री राष्ट्रवादियों ने मिश्री सरकार की सलाह के बिना इन्हें करने का विरोध किया और इस तरह इससे ब्रिटिश हितों को खतरा हो गया। मिश्र की सरकार भी समानता के आधार पर नयी संधि की मांग करने लगी। इन परिस्थितियों में ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने यह घोषणा की कि मिश्र में सब दलों की सरकार बनने पर उसके साथ संधि-चर्चा करने के लिए ब्रिटेन तैयार है। १९३६ में १९२३ के संविधान के अनुसार आम चुनाव हुए जिसमें ८० प्रतिशत के बहुमत से वफ्द पार्टी की विजय हुई और नहसपाशा पुनः प्रधान मंत्री बना। इसी समय शाह फुआद की मृत्यु होने पर उसका १६ वर्षीय पुत्र फारूक (Farouk) गद्दी पर बैठा।

नहस पाशा ने २ मार्च १९३६ को सब मिश्री दलों के प्रतिनिधियों के साथ ब्रिटेन से संधी-चर्चा आरंभ की। संधि वार्ता अनेक महीनों तक चलती रही और कई बार उसके भंग होने की नौबत आयी। अन्त में २६ अगस्त १९३६ को एक आंग्ल मिश्री सन्धि (Anglo Egyptian Treaty) पर हस्ताक्षर हो गये। इस संधि की शर्तों के अनुसार - (१) संधि को २० वर्ष तक के लिए लागू किया गया, (२) ब्रिटेन मिश्र से अपनी फौजें हटाने को सहमत हो गया किन्तु २० वर्ष तक स्वेज नहर के उत्तरी सिरे पर अंग्रेजी फौजों के बने रहने के अधिकार को स्वीकार किया गया। यह निश्चय किया गया कि शांतिकाल

में इनकी संख्या १०,००० सैनिकों और ४०० चालकों (Pilots) से अधिक नहीं होगी, (३) दोनों ही देशों में किसी भी आक्रमण के विरुद्ध एक दूसरे की सहायता करने की बात तय हुई, (४) सूडान पर दोनों का संयुक्त शासन स्वीकार किया गया, ब्रिटेन ने मिश्र को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने में सहायता देने का वचन दिया, (५) ब्रिटेन मिश्र में अपना राजदूत भेजने को सहमत हो गया और (६) ब्रिटेन ने यह भी वचन दिया कि मिश्र में जिन यूरोपियन राज्यों को विशेषाधिकार तथा अतिरिक्त प्रादेशिक अधिकार (Extra Territorial Rights) प्राप्त हैं, उन्हें वह यह अधिकार छोड़ने को कहेगा। मिश्री सरकार ने यह वायदा किया कि वह विदेशियों के जान-माल की पूरी जिम्मेवारी वहन करेगी।

यद्यपि उपरोक्त संधि ने मिश्र के राष्ट्रीय हितों को पूर्णतः संतुष्ट नहीं किया, फिर भी इसने तत्कालीन परिस्थितियों में मिश्र की समस्याओं का आंशिक समाधान कर दिया। संधि में दिये गये वचन के अनुसार १९३७ में विशेषाधिकार रखने वाली शक्तियों का सम्मेलन मौण्ट्रो (Montreaux) में बुलाया गया जिसमें १९४९ तक इन्हें पूर्णतः समाप्त करने का निश्चय किया। १९३७ में ही मिश्र राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया और फारूक का मिश्र के पहले स्वतन्त्र राजाके रूप में राज्याभिषेक किया गया।

सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर मिश्र ने फरवरी १९४५ तक युद्ध-घोषणा नहीं की, यद्यपि जर्मनी के साथ ब्रिटेन का युद्ध घोषित होने से ४८ घंटे के भीतर ही उसने जर्मनी के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद करके मिश्र के जर्मनों को वन्दी बना लिया। इटली द्वारा युद्ध में कूदने पर उसके विरुद्ध ऐसी कार्यवाही नहीं की गयी। १९४०-४१ में मिश्र पर इटली और जर्मनी का संयुक्त आक्रमण अनिवार्य दिखाई देने लगा तो मिश्र ब्रिटिश फौजों की सहायता लेने के लिए बाध्य हुआ। मिश्र में तब एक नयी स्थिति पैदा हो गयी जब १९४२ में ब्रिटेन ने अल-अलामीन का युद्ध (The Battle of Alamein) जीत लिया। मिश्र वालों ने इस युद्ध को कोई महत्व नहीं दिया, प्रत्युत फासिस्टों के प्रति उनकी सहानुभूति में शनैः शनैः वृद्धि होने लगी। मिश्र ने इटली से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद करने से उस समय भी इन्कार कर दिया जब इटली युद्ध में जर्मनी की ओर से शामिल हो गया। वास्तव में १९४० और उसके बाद अंग्रेजों का मिश्रियों के प्रति व्यवहार इतना युक्तिहीन और असाधारण रूप से अनुचित था कि मिश्री के सभी वर्गों में इससे विरोध उत्पन्न हो गया। जनरल नगीब ने अपने संस्मरण में लिखा है—"युद्ध के दौरान में अंग्रेजों के हाथों हमने अनगिनत अपमान सहे। उनकी टुकड़ियां काहिरा की सड़कों पर हमारे बादशाहों के प्रति अश्लील गाने गाते हुए कवायद करती थीं, जो ऐसा व्यक्ति था, जिसके प्रति हम में से कम ही लोगों के मन में आदर था, जो फिर भी राष्ट्रध्वज की भांति ही हमारा प्रतीक था। उन्होंने हमारी औरतों के साथ दुर्व्यवहार किया, हमारे आदमियों को मारा पीटा और सार्वजनिक स्थानों पर रहन-सहन के काम किये।[1]

1. "During the war we suffered countless humiliations at the hands of British, who failed and still fail to understand

ब्रिटेन के असद् व्यवहार के कारण ब्रिटिश-विरोधी धुरी शक्तियों के प्रति मिश्र में इतनी सद भावना व्याप्त थी कि १६४२ में अंग्रेजों ने शाह फारुक को बाध्य किया कि वह अंग्रेजों को सहयोग देने वाले मंत्रि-मण्डल बनाये। ब्रिटिश दबाव के फलस्वरूप फारुक ने नहस पाशा को प्रधान मंत्री बनाया जो अब ब्रिटिश सरकार का विश्वासपात्र था। ५ फरवरी को नहस ने इस शर्त पर सरकार बनायी कि मिश्र के आन्तरिक मामलों में ब्रिटेन हस्तक्षेप नहीं करेगा। नहस ने निष्ठा और ईमानदारी के साथ सहयोग किया, किन्तु जब उसने अपने सर्वाधिक योग्य सहयोगी अबीद पाशा (Ebeid Pasha) को बरखास्त कर दिया तो धीरे-धीरे देश में उसका सम्मान गिरता गया। १६४४ के अन्त तक नहस पाशा अंग्रेजों के लिये निरर्थक हो चुका था, अतः उन्होंने उसे अपना सहयोग व समर्थन देना बन्द कर दिया। अब शाह फारुक को भी उसे हटाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। १६४५ के प्रारम्भ में चुनाव हुए जिनमें वफ्द पार्टी के अतिरिक्त अन्य दलों ने बहुमत प्राप्त कर लिया और अहमद मेहर पाशा प्रधानमंत्री हुआ। २४ फरवरी १६४५ को मिश्र ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। थोड़े ही समय बाद किसी राष्ट्रवादी द्वारा मेहर पाशा की हत्या करदी गयी और उसके स्थान पर नुकरशी पाशा प्रधान मंत्री बना।

इस तरह १६१६ से १६४५ तक मिश्र पर ब्रिटिश नियंत्रण किसी न किसी रूप में बना रहा और उसके साधनों का ब्रिटेन ने पूरी तरह उपयोग किया।

फिलिस्तीन की समस्या
(The Palestine Problem)

इसाईयों, यहूदियों एवं कुछ अरबों का प्राचीन पवित्र देश फिलिस्तीन एशिया के पश्चिमी नोक पर भूमध्य सागर के तट पर है। उसकी राजधानी जेरुसलम (Jerusalem) है। सुदीर्घ काल तक फिलस्तीन की सीमाएं सही प्रकार निश्चित नहीं थीं। १६४६ में लेबनान सीरिया, मिश्र और जोरडन के मध्य एक संधि हुई जिसके अनुसार फिलिस्तीन की सीमाएं मोटे रूप में सुनिश्चित की गई।

फिलिस्तीन मध्य पूर्व के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में लगभग ६००० वर्षों से एक महत्वपूर्ण स्थिति रखे हुए है। पहले यह ६५ ई० पू० से ६३४ ई० तक रोमन साम्राज्य का अंग रहा और बाद में लगभग १०० वर्षों (१०६८-११८७) तक इसाईयों के प्रभुत्व में रहकर यह टर्की साम्राज्य के अधीन हो गया। इस प्रकार फिलस्तीन विभिन्न समयों में विभिन्न विदेशी शासकों के अन्तर्गत रहा। किन्तु १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फिलस्तीन में स्वतंत्र यहूदी राज्य (Independent Jewish State) के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इस आन्दोलन को यहूदीवाद (Zioni-

---

that our national interest are not and can never be the same as theirs............They molested our women, assaulted our men and committed acts of vandalism in public places." —*Naguib:* Egypt's Destiny. P. 84.

में इनकी संख्या १०,००० सैनिकों और ४०० चालकों (Pilots) से अधिक नहीं होगी, (३) दोनों ही देशों में किसी भी आक्रमण के विरुद्ध एक दूसरे की सहायता करने की बात तय हुई, (४) सूडान पर दोनों का संयुक्त शासन स्वीकार किया गया, ब्रिटेन ने मिश्र को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने में सहायता देने का वचन दिया, (५) ब्रिटेन मिश्र में अपना राजदूत भेजने को सहमत हो गया और (६) ब्रिटेन ने यह भी वचन दिया कि मिश्र में जिन यूरोपियन राज्यों को विशेषाधिकार तथा अतिरिक्त प्रादेशिक अधिकार (Extra Territorial Rights) प्राप्त हैं, उन्हें वह यह अधिकार छोड़ने को कहेगा। मिश्री सरकार ने यह वायदा किया कि वह विदेशियों के जान-माल की पूरी जिम्मेवारी वहन करेगी।

यद्यपि उपरोक्त संधि ने मिश्र के राष्ट्रीय हितों को पूर्णतः संतुष्ट नहीं किया, फिर भी इसने तत्कालीन परिस्थितियों में मिश्र की समस्याओं का आंशिक समाधान कर दिया। संधि में दिये गये वचन के अनुसार १९३७ में विशेषाधिकार रखने वाली शक्तियों का सम्मेलन मौण्ट्रो (Montreaux) में बुलाया गया जिसमें १९४९ तक इन्हें पूर्णतः समाप्त करने का निश्चय किया। १९३७ में ही मिश्र राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया और फारूक का मिश्र के पहले स्वतन्त्र राजा के रूप में राज्याभिषेक किया गया।

सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर मिश्र ने फरवरी १९४५ तक युद्ध-घोषणा नहीं की, यद्यपि जर्मनी के साथ ब्रिटेन का युद्ध घोषित होने से ४८ घंटे के भीतर ही उसने जर्मनी के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद करके मिश्र के जर्मनों को बन्दी बना लिया। इटली द्वारा युद्ध में कूदने पर उसके विरुद्ध ऐसी कार्यवाही नहीं की गयी। १९४०–४१ में मिश्र पर इटली और जर्मनी का संयुक्त आक्रमण अनिवार्य दिखाई देने लगा तो मिश्र ब्रिटिश फौजों की सहायता लेने के लिए बाध्य हुआ। मिश्र में तब एक नयी स्थिति पैदा हो गयी जब १९४२ में ब्रिटेन ने अल-अलामीन का युद्ध (The Battle of Alamein) जीत लिया। मिश्र वालों ने इस युद्ध को कोई महत्व नहीं दिया, प्रत्युत फासिस्टों के प्रति उनकी सहानुभूति में शनैः शनैः वृद्धि होने लगी। मिश्र ने इटली से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद करने से उस समय भी इन्कार कर दिया जब इटली युद्ध में जर्मनी की ओर से शामिल हो गया। वास्तव में १९४० और उसके बाद अंग्रेजों का मिश्रियों के प्रति व्यवहार इतना युक्तिहीन और असाधारण रूप से अनुचित था कि मिश्री के सभी वर्गों में इससे विरोध उत्पन्न हो गया। जनरल नगीब ने अपने संस्मरण में लिखा है—"युद्ध के दौरान में अंग्रेजों के हाथों हमने अनगिनत अपमान सहे। उनकी टुकड़ियां काहिरा की सड़कों पर हमारे बादशाहों के प्रति अश्लील गाने गाते हुए कवायद करती थीं, जो ऐसा व्यक्ति था, जिसके प्रति हम में से कम ही लोगों के मन में आदर था, जो फिर भी राष्ट्रध्वज की भांति ही हमारा प्रतीक था। उन्होंने हमारी औरतों के साथ दुर्व्यवहार किया, हमारे आदमियों को मारा पीटा और सार्वजनिक स्थानों पर तहस-नहस के काम किये।[1]

---

1. "During the war we suffered countless humiliations at the hands of British, who failed and still fail to understand

ब्रिटेन के असद् व्यवहार के कारण ब्रिटिश-विरोधी धुरी शक्तियों के प्रति मिश्र में इतनी सद भावना व्याप्त थी कि १९४२ में अंग्रेजों ने शाह फारुक को बाध्य किया कि वह अंग्रेजों को सहयोग देने वाले मंत्रि-मण्डल बनाये। ब्रिटिश दबाव के फलस्वरूप फारूक ने नहस पाशा को प्रधान मंत्री बनाया जो अब ब्रिटिश सरकार का विश्वासपात्र था। ५ फरवरी को नहस ने इस शर्त पर सरकार बनायी कि मिश्र के आन्तरिक मामलों में ब्रिटेन हस्तक्षेप नहीं करेगा। नहस ने निष्ठा और ईमानदारी के साथ सहयोग किया, किन्तु जब उसने अपने सर्वाधिक योग्य सहयोगी अबीद पाशा (Ebeid Pasha) को बरखास्त कर दिया तो धीरे-धीरे देश में उसका सम्मान गिरता गया। १९४४ के अन्त तक नहस पाशा अंग्रेजों के लिये निरर्थक हो चुका था, अतः उन्होंने उसे अपना सहयोग व समर्थन देना बन्द कर दिया। अब शाह फारुक को भी उसे हटाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। १९४५ के प्रारम्भ में चुनाव हुए जिनमें वफ्द पार्टी के अतिरिक्त अन्य दलों ने बहुमत प्राप्त कर लिया और अहमद मेहर पाशा प्रधानमंत्री हुआ। २४ फरवरी १९४५ को मिश्र ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। थोड़े ही समय बाद किसी राष्ट्रवादी द्वारा मेहर पाशा की हत्या करदी गयी और उसके स्थान पर नुकरैशी पाशा प्रधान मंत्री बना।

इस तरह १९१९ से १९४५ तक मिश्र पर ब्रिटिश नियंत्रण किसी न किसी रूप में बना रहा और उसके साधनों का ब्रिटेन ने पूरी तरह उपयोग किया।

फिलिस्तीन की समस्या
(The Palestine Problem)

इसाईयों, यहूदियों एवं कुछ अरबों का प्राचीन पवित्र देश फिलिस्तीन एशिया के पश्चिमी नोक पर भू-मध्य सागर के तट पर है। उसकी राजधानी जेरुसलम (Jerusalem) है। सुदीर्घ काल तक फिलस्तीन की सीमाएं भली प्रकार निश्चित नहीं थीं। १९४९ में लेबनान सीरिया, मिश्र और जोरडन के मध्य एक संधि हुई जिसके अनुसार फिलिस्तीन की सीमाएं मोटे रूप में सुनिश्चित की गई।

फिलिस्तीन मध्य पूर्व के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में लगभग ६००० वर्षों से एक महत्वपूर्ण स्थिति रखे हुए है। पहले यह ६५ ई० पू० से ६३४ ई० तक रोमन साम्राज्य का अंग रहा और बाद में लगभग १०० वर्षों (१०९८-११८७) तक इसाईयों के प्रभुत्व में रहकर यह टर्की साम्राज्य के अधीन हो गया। इस प्रकार फिलस्तीन विभिन्न समयों में विभिन्न विदेशी शासकों के अन्तर्गत रहा। किन्तु १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फिलस्तीन में स्वतंत्र यहूदी राज्य (Independent Jewish State) के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इस आन्दोलन को 'यहूदीवाद (Zioni-

---

that our national interest are not and can never be the same as theirs............They molested our women, assaulted our men and committed acts of vandalism in public places."
—*Naguib:* Egypt's Destiny. P. 84.

sm) कहा जाता है। 'यहूदीवाद' आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य फिलस्तीन में यहूदियों को पुनर्स्थापित (Rehabilitate) करना और उनके लिये एक स्वतन्त्र तथा प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का निर्माण करना था। इस आन्दोलन का संगठन कर्ता **लियो पायेन्सकर (Leon Piansker)** था जो कि रूस में एक यहूदी चिकित्सक था। यहूदी लोग पिछली शताब्दी में यूरोप के विभिन्न राज्यों में और अमेरिका में बसे हुए थे। रूस और रुमानिया में १८८१ में इन पर भीषण अत्याचार हुए थे और इन्हें वहां से भागना पड़ा था। इस तरह इनका न कोई अपना देश था, न राज्य। चूंकि फिलस्तीन यहूदियों का मूल निवास स्थान था अत: उन्होंने विभिन्न देशों के अत्याचारों से पीड़ित होकर, अब पुन: इसे पाने के लिये और वहाँ अपना राज्य स्थापित करने के लिये आन्दोलन शुरू किया। यह आन्दोलन 'जायनवाद' (Zionism) या यहूदीवाद इसलिये कहलाया क्योंकि बाइबल के वर्णानुसार 'जिओन' (Zion) जेरुसेलम की उस पहाड़ी का नाम है जहां यहूदियों के प्रसिद्ध राजा दाऊद और इसके उत्तराधिकारियों का राजकीय निवास स्थान था। लियोन पाइन्सकर ही वह प्रथम यहूदी था जिसने १८८२ में पहली बार एक स्वतंत्र और संप्रभुत्व सम्पन्न यहूदी राज्य के निर्माण के लिये यहूदीवादी आन्दोलन को गठित किया। उसके बाद आस्ट्रिया के यहूदी पत्रकार थियोडोर **हार्ज्ल (Theodor Harzl)** ने यहूदियों के राजनीतिक आन्दोलन का समारम्भ किया और १८९७ में बाजेल (अथवा बेसेल, Basel) में पहली '**विश्व जियोनवादी कांग्रेस' (World Zionist Congress)** आमंत्रित की। इस आन्दोलन के फलस्वरूप यहूदियों में अपने पृथक राज्य के लिये प्रबल प्रेरणा जाग्रत हो गई। थियोडोर हार्ज्ल ने अपनी "एक यहूदी राज्य' नामक पुस्तक में बड़े ही सन्तुलित, दृढ और आत्मविश्वासपूर्ण शब्दों में लिखा ,इतिहास साक्षी है कि हम लोगों के चरित्र का स्तर बहुत ही ऊंचा रहा है। दय - यिता को बर्बाद नहीं किया जा सकता। यहूदियों की समस्या एक राष्ट्रीय समस्या हैं और विश्वव्यापी समस्या बनाकर ही इसका समाधान किया जा सकता है।

थियोडोर हार्ज्ले जैसे नेताओं द्वारा यहूदियों के आन्दोलन ने इतना प्रभावकारी रूप धारण कर लिया कि १८९४-१९१४ तक फिलस्तीन में लगभग एक लाख यहूदी बस गये। ब्रिटेन को, अपने राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से, यहूदी आन्दोलन के प्रति काफी सहानुभूति थी। वह अरबों के बीच में ऐसे देश का सृजन कर देना चाहता था जो सुगमता से ब्रिटेन के प्रभाव में रह सके। इसके अतिरिक्त एक और भी घटना ने यहूदियों के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण को सहयोगी बनाने में मदद दी। ब्रिटेन में प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री **डा० वाइन्समान (Weizmann)** यहूदी राष्ट्र के आन्दोलन के प्रबल पक्षपाती थे। प्रथम महायुद्ध में उन्होंने टी० एन० टी० के प्रसिद्ध विस्फोटक के निर्माण की नई प्रक्रिया के आविष्कार द्वारा ब्रिटिश सरकार को बहुमूल्य सहायता पहुंचाई। जब पुरस्कारस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कुछ मांगने को कहा तो उन्होंने यही प्रार्थना की कि फिलस्तीन में यहूदियों का राज्य स्थापित कर दिया जाय। लॉयडजॉर्ज ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। महायुद्ध के समय फिलस्तीन का विस्तृत भू-भाग अंग्रेजों के कब्जे में आ चुका था, अत: २ नवम्बर

१६१७ को ब्रिटिश विदेश मंत्री लॉर्ड बॉल्फोर ने ब्रिटिश संसद में यह घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकार फिलस्तीन में यहूदी जाति के लिये एक राष्ट्रीय निवास स्थान की स्थापना के पक्ष में है और इस उद्देश्य की सिद्धि सरलता से कराने के लिये वह भरसक प्रयत्न करेगी। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि फिलस्तीन में विद्यमान वर्तमान गैर-यहूदी जनसमूहों के दीवानी और धार्मिक अधिकारों को हानि पहुँचाने वाला कार्य नहीं किया जायेगा।" लॉर्ड बॉल्फोर का यह कथन ही सुप्रसिद्ध 'बॉल्फोर घोषणा' (Balfour Declaration) कहलाता है। इस घोषणा के मूल में एक और भी उद्देश्य निहित था—संयुक्त राज्य अमेरिका की सैनिक और आर्थिक सहायता लेना और साथ ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में अमेरिका के प्रवेश को निश्चित करा लेना। बॉल्फोर घोषणा से यहूदियों को बहुत ही प्रसन्नता हुई और उन्हें इस विचार से बड़ा सन्तोष मिला कि अब उनकी चिर वांछित मनोकामना पूरी होगी।

परन्तु यहूदी राज्य की स्थापना का मार्ग इतना सरल न था। फिलस्तीन १६१७ में टर्की साम्राज्य का एक भाग था और उसकी लगभग ६० प्रतिशत जनसंख्या अरब थी। प्रथम महायुद्ध में टर्की ने मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध जर्मनी की ओर से युद्ध किया था। ब्रिटेन टर्की के विरुद्ध अरबों के समर्थन का आकांक्षी था, अत: उनका समर्थन पाने के लिये २४ अक्टूबर १६१५ को मिश्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर हेनरी मैकमेहोन (Mc Mahon) ने अरब स्वातन्त्र्य आन्दोलन के नेता मक्का के शरीफ हुसेन (Sheriff Hussein) को एक पत्र में "फिलस्तीन को एक स्वतन्त्र अरब राज्य का भाग" बनाने का वचन दे दिया। **इस प्रकार ब्रिटेन ने एक ही वस्तु को दो भिन्न-भिन्न खरीददारों को बेचकर अपने लिये एक सिरदर्द मोल ले लिया।** ब्रिटिश सरकार ने युद्ध में विजय पाने के लिये यहूदियों और अरबों की सहायता चाही और इसीलिये एक ही क्षेत्र के लिये दोनों को परस्पर विरोधी आश्वासन दे दिये। परिणाम यह हुआ कि दोनों फिलस्तीन को अपना विशेष प्रदेश समझने लगे।

ब्रिटेन ने न केवल यहूदियों और अरबों को परस्पर विरोधी आश्वासन दिये थे बल्कि फ्रांस से भी एक पृथक वादा किया। १६१६ के 'साइक्स-पिकोट' (Sykes-Picot) समझौते में उसने फ्रांस को यह संकेत दिया था कि अरबों को दिए गये आश्वासन को दिखावे के बराबर समझा जावे। ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही ने सीरिया तथा ईराक को अपने प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया था। फिलस्तीन यद्यपि सीरिया का एक भाग था लेकिन इसे अपनी स्वयं की विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत रखा गया। इस प्रकार की विशिष्ट शासन-व्यवस्था मित्रराष्ट्रों के बीच परस्पर विरोधी स्वार्थों में एक प्रकार का समझौता था।

'साइक्स-पिकोट समझौता' अरबों को दिये गये आश्वासन के विरुद्ध था। 'बाल्फोर घोषणा' से अरब पहले ही सशंकित थे और जब रूसियों द्वारा साइक्स-पिकोट समझौते' का रहस्योद्घाटन कर दिया गया तो अरब ब्रिटिश इरादों के प्रति विशेष रूप से सशंकित हो गए। फलत: मक्का के हुसैन शरीफ ने ब्रिटेन से 'बाल्फोर घोषणा' का स्पष्टीकरण मांगा। इसके प्रत्युत्तर में ८ फरवरी १६१८ को ब्रिटिश सरकार द्वारा यह सूचित किया गया कि बाल्फोर घोषणा द्वारा यहूदियों को दिया गया समर्थन "केवल उसी हद तक मान्य

होगा जिस हद तक यह वर्तमान जनसाधारण की आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों ही स्वतन्त्रताओं के अनुकूल होगा।"

ब्रिटिश संरक्षकता और यहूदी आन्दोलन (British Mandate and the Zionist Movement)—प्रथम महायुद्ध के बाद होने वाले पेरिस-शांति-सम्मेलन में अरबों को यह पता लगा कि फिलस्तीन ब्रिटिश संरक्षण (British Mandate) के अन्तर्गत रखा जा रहा है। शान्ति-सम्मेलन में, विरोधों के बावजूद, फिलस्तीन संरक्षित-प्रदेश (Mandate) के रूप में ब्रिटेन को सौंप दिया गया और उस पर यह उत्तरदायित्व डाला गया कि वह देश का प्रशासन इस प्रकार से करे कि "यहूदी राष्ट्रीय देश की स्थापना हो सके और साथ ही फिलस्तीन के सभी निवासियों के नागरिक और धार्मिक अधिकारों की रक्षा भी हो।" स्पष्ट ही इस निर्णय में 'बालफोर घोषणा' को अक्षरश: मान लिया गया।

फिलस्तीन पर ब्रिटिश-संरक्षण कायम होने से ब्रिटेन को काफी लाभ हुआ। प्रथम, सामरिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र का बड़ा महत्व है। इस समय मिश्र में राष्ट्रीय आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था और ब्रिटेन को यह भरोसा नहीं था कि मिश्र में सेना रखना उसके लिये सुरक्षित है। लेकिन फिलस्तीन पर संरक्षकता कायम हो जाने के बाद ब्रिटेन वहां अपनी सेनायें निश्चिन्त होकर रख सकता था। फिलस्तीन में स्थित अपनी सैनिक शक्ति के बल पर उसके लिये न केवल स्वेज नहर पर ही कब्जा कायम रखना सुगम हो गया। दूसरे, यहूदी सोवियत रूस के घोर विरोधी थे, अत: यहूदियों को अपने पक्ष में रखकर वह रूसी हितों के विरुद्ध मध्यपूर्व में एक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी बनाए रख सकता था।

शान्ति-सम्मेलन द्वारा फिलस्तीन को ब्रिटिश संरक्षित राज्य बना देने से फिलस्तीन समस्या का हल नहीं हुआ। यहूदी नेता वाइत्समान (Weizmann) ने स्पष्टरूप से घोषणा की कि "**यहूदी आन्दोलन का उद्देश्य फिलस्तीन को उसी प्रकार यहूदियों का बना देना है जिस प्रकार इंगलैण्ड अंग्रेजों का है।**" इस तरह यदि "यहूदी राष्ट्रीय देश" की स्थापना होनी थी, तब अरब अधिकारों की रक्षा असम्भव थी। ब्रिटेन यहूदियों के प्रति पहले से ही सहानुभूतिपूर्ण था और उसका प्रोत्साहन पाकर लाखों की संख्या में यहूदी फिलस्तीन आकर बसने लगे। यद्यपि ब्रिटेन ने यहूदियों और अरबों की विरोधी अभिलाषाओं के समन्वय का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें वह नितान्त असफल रहा क्योंकि अरब लोग यहूदी आव्रजन के पूर्ण विरोधी थे और यहूदी आव्रजन पर लगाई जाने वाली किन्हीं भी सीमाओं को बर्दाश्त करने को तैयार न थे। यहूदियों का आव्रजन फिलस्तीन के बहुसंख्यक निवासी अरबों को इसलिये पसन्द न था कि यहूदी प्रत्येक दृष्टि से उनसे बढ़े-चढ़े थे और इन्हें भय था कि कहीं आगे चलकर वे पिछड़े हुए अरबों पर अपना आधिपत्य न कायम करलें। इन परिस्थितियों में फिलस्तीन शीघ्र ही जातिगत विरोध की अग्नि ज्वालाओं का केन्द्र बन गया। यहूदियों और अरबों ने अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आतंकवादी साधनों को अपनाया और ब्रिटेन के शान्ति-स्थापना सम्बन्धी सभी प्रयत्नों के बावजूद फिलस्तीन संघर्ष, उपद्रव तथा हिंसात्मक कार्यवाहियों का रंगमंच बना रहा। १६१६ से १६३३ तक के

जातिगत विद्रोह होते रहे और दोनों पक्षों के—विशेषकर यहूदी पक्ष के बहुत से लोगों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

१९१९ के बाद से ही फिलस्तीन सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के अनेक प्रयत्न किये गये। १९१९ में राष्ट्रपति विल्सन के कहने पर **'किंग-क्रेन आयोग'** (The King-Crane Commission) फिलस्तीन की समस्या की जांच करने के लिए नियुक्त किया गया। यह आयोग एक आंग्ल अमेरिकन संयुक्त प्रयास था। इस आयोग की सिफारिशों को प्रकाशित नहीं किया गया क्योंकि वे यहूदियों के हितों के विरुद्ध पड़ती थीं। जब फिलस्तीन को ब्रिटेन के संरक्षण में दे देने के बाद भयानक जातिगत विद्रोह उठ खड़े हुए तो इनके कारणों की जांच करने के लिए १९२१ में **'हे-क्राफ्ट आयोग'** (Hay-Craft Commission) नियुक्त किया गया जिसने यह घोषणा की कि अरबों का घोर यहूदी विरोधी आचरण ही संघर्षों का मुख्य कारण है। सन् १९२२ में फिलस्तीन के प्रथम ब्रिटिश हाई कमीशनर हर्बर्ट सेमुअल (Herbert Samual) ने फिलस्तीन के लिए एक नया संविधान घोषित किया। इस संविधान के अन्तर्गत एक हाई कमिशनर, एक आंशिक रूप में निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा (A Partly Elected Legislative Assembly) और एक नामांकित कार्यकारिणी कमेटी (A Nominated Executive Committee) की व्यवस्था की गयी। जब अरबों ने चुनावों में भाग लेने से इन्कार कर दिया तो सेमुअल ने नामांकित कार्यकारिणी कमेटी के साथ शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। लेकिन इस व्यवस्था से न तो यहूदी ही खुश हुए और न अरब ही। यहूदी इसलिए खुश नहीं हुए कि उन्हें तथाकथित यहूदी राज्य नहीं मिल सका था और दूसरी तरफ यहूदी राज्य-स्थापना की कोई भी योजना अरबों को पसन्द न थी। तत्पश्चात् ३ जून १९२२ को **चर्चिल-श्वेत-पत्र** (Churchill white Paper) प्रकाशित हुआ जिसने इस बात की पुष्टि की कि फिलस्तीन में यहूदियों का स्थान साधिकार है, कृपा के कारण नहीं। चर्चिल-श्वेत-पत्र ने तीन बातें रखीं—(१) ब्रिटेन का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि वह पूर्णत: यहूदी फिलस्तीन का निर्माण करे अथवा वहां अरब जनता की संस्कृति व भाषा को विनष्ट करे, (२) फिलस्तीन में यहूदियों को कानून और अधिकार के द्वारा विशेष स्थान प्राप्त होगा एवं (३) यहूदी जाति को इस देश की आर्थिक क्षमता के अनुकूल देशान्तर के द्वारा (By Immigration) अपनी संख्या बढ़ाने की अनुमति दी जायगी। अरबों द्वारा उस संविधान का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया जिसमें २२ सदस्यों की उस धारा सभा की व्यवस्था की गयी थी जिसमें १० सरकारी सदस्यों और दो निर्वाचित यहूदी प्रतिनिधियों के कारण अरबों का बहुमत होता।

फिलस्तीन समस्या के समाधान के लिए एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार द्वारा विभिन्न प्रयास किये जाते रहे और दूसरी तरफ यहूदीवादी आन्दोलन जोर पकड़ता गया तथा ब्रिटेन के प्रच्छन्न और प्रकट प्रोत्साहन के कारण फिल-स्तीन में यहूदी बाहर से आते चले गये। १९२३ से लेकर १९२८ तक यहूदियों और अरबों के बीच इतनी अधिक प्रतिक्रियाएं हुईं कि यहूदी राष्ट्र-वाद और अरब राष्ट्रवाद संघर्ष की स्थिति में पहुंच गये। १९२९ में वेल-

वाल (Wailing Wall) विवाद में प्रदर्शन, हत्याएं, लूट-खसोट आदि की घटनाएं भी हो गयी। ब्रिटिश सरकार ने अपनी परम्परागत नीति के अनुसार इन दंगों की जांच करने के लिए **शॉ आयोग (Shaw Commission)** नियुक्त कर दिया। आयोग ने यही निष्कर्ष निकाला कि "दोनों पक्षों में से किसी ने भी जातिगत सम्बन्धों में सुधार करने के निमित्त गम्भीर चेष्टा नहीं की है।" आयोग ने अपने प्रतिवेदन में फिलस्तीन में आने वाले यहूदी प्रवासियों की संख्या पर नियंत्रण रखने की सिफारिश की।

शॉ आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन की कृषि सम्बन्धी समस्या की विशेषज्ञ-स्तर पर जांच करने के लिए **होप-सिम्पसन आयोग (HopeSimpson Commission)** की नियुक्ति की। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहाकि यद्यपि फिलस्तीन में कृषि के विकास और अधिक यहूदियों के पुनर्वास के लिए पर्याप्त स्थान है, किन्तु जब तक यह विकास पूर्ण न हो जाय तब तक यहूदी प्रवासियों के आव्रजन पर रोक लगायी जानी चाहिये। शॉ आयोग और होपसिम्पसन आयोग की रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया जिसमें यहूदियों के आव्रजन पर नियंत्रण की व्यवस्था की गयी, यहूदियों और अरबों के प्रति ब्रिटिश सरकार के कर्तव्यों पर बल दिया गया और यहूदियों द्वारा भूमि-क्रय पर नियत्रण रखने के लिए विकास विभाग की व्यवस्था की गयी। इस श्वेतपत्र में यह भी सुझाव दिया गया कि सारी उपलब्ध भूमि को भूमिहीन अरब खेतिहरों को बसाने के लिए अलग कर दिया जाय। यह श्वेत पत्र स्पष्टतः यहूदी हितों के प्रतिकूल था, अतः यहूदियों ने इसके प्रति घोर असंतोष व्यक्त किया। यहूदियों ने इंगलैंड के कुछ यहूदी समर्थक नेताओं की सहानुभूति का पूरा लाभ उठाया। बाल्डविन और चर्चिल ने रेम्ज मेकडोनेल्ड पर काफी दबाव डाला। अन्त में मेकडोनेल्ड ने यहूदी नेता वाइत्समान (Weizmann) को लिखे गये पत्र में अपनी नीति में परिवर्तन का संकेत दिया। इस पत्र में उपरोक्त श्वेत-पत्र की सरकारी व्याख्या करते हुए यह कहा गया कि ब्रिटिश सरकार की ऐसी कोई मंशा नहीं है कि यहूदियों द्वारा भूमि-क्रय पर प्रतिबन्ध लगाया जाय अथवा यहूदियों के आव्रजन को सीमित किया जाय। ब्रिटिश प्रधानमंत्री मेकडोनेल्ड ने इस प्रकार यहूदियों को फिलस्तीन में बसने के संबंध में किए गये वायदों की पुष्टि की। वाइत्समान को उसके द्वारा लिखा गया उपरोक्त पत्र 'काले पत्र' (Black Letter) के नाम से विख्यात है।

इसी मध्य यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तेजी से बिगड़ने लगी और यूरोप में आर्थिक संकट के प्रारम्भ होने के कारण फिलस्तीन में यहूदियों का आक्रमण और भी बढ़ चुका था। यूरोप के विभिन्न देशों में बसे हुए यहूदी धन, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए थे। अतः जर्मनी, पोलैंड, हंगरी आदि देशों के लोग उनकी ऊंची स्थिति को एशिया के दृष्टि से देखते थे और उन्हें भगाने का यथासंभव प्रयास करते रहते थे। जर्मनी में नाजी क्रांति के बाद तो यहूदियों में अभूतपूर्व भगदड़ मच गयी। हिटलर यहूदियों का घोर शत्रु था और उसकी मान्यता थी कि यहूदियों की गतिविधि प्रथम महायुद्ध में जर्मन-पराजय का एक प्रमुख कारण थी। नाजी यहूदियों पर तरह-तरह के अत्याचार करना अपना परम कर्तव्य समझते

थे। ऐसी स्थिति में यहूदियों के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे जर्मनी छोड़कर तेजी से भागे और फिलस्तीन में जाकर बसें। यहूदियों का फिलस्तीन में आव्रजन इतनी तेजी से हुआ कि १९३० में जो आव्रजन ९ हजार प्रतिवर्ष था वह १९३३ में बढ़कर ३० हजार, १९३४ में ४२ हजार प्रतिवर्ष तक पहुंच गया। जहां १९१९ में फिलस्तीन में यहूदियों की संख्या केवल ८३ हजार थी, वहां १९३४ के अन्त तक यह संख्या ३ लाख ७० हजार तक पहुंच गई। यहूदी प्रवासियों के विशाल संख्या में इस निरन्तर आगमन से अरब लोग भयभीत हो गए। **प्रतिक्रियास्वरूप १९३५ से ही अरबों का राष्ट्रीय आंदोलन फिर से जोर पकड़ने लगा।** इस आन्दोलन पर तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। उस समय एबीसीनिया युद्ध की घटनाओं से ऐसा प्रतीत होने लगा कि ब्रिटिश प्रभाव और शक्ति दोनों घट रहे हैं तथा अरबों के लिए ब्रिटिश शासन पर दबाव डालने का यह उपयुक्त समय है। इसके अतिरिक्त फिलस्तीन के अरब आन्दोलन को इस बात से भी प्रेरणा मिली कि इस समय मिश्र और सीरिया में राष्ट्रवादी आंदोलन को सफलता मिल रही थी। इन सब घटनाओं ने फिलस्तीन के अरबों के दिमाग पर असर डाला और नवम्बर १९३५ में **उनके विविध राजनीतिक दलों ने मिलकर एक संयुक्त मोर्चा कायम किया तथा ब्रिटिश सरकार के सामने निम्नलिखित मांगे पेश की**—(१) फिलस्तीन में अविलम्ब प्रजातांत्रिक शासन स्थापित किया जाय, (२) ऐसा कानून बनाया जाय जिससे भविष्य में कोई यहूदी फिलस्तीन में जमीन नहीं खरीद सके एवं (३) फिलस्तीन में यहूदियों के प्रवेश या आव्रजन पर पूर्णतः रोक लगा दी जाय। ब्रिटिश सरकार ने, जो स्पष्ट ही यहूदियों के प्रति उदार और सहानुभूति पूर्ण थी, इन मांगों को अस्वीकार कर दिया।

शांतिमय उपायों से फिलस्तीन की समस्या हल करने के जब सारे उपाय समाप्त हो गए तो अरबों ने पुनः शस्त्रपूर्ण दंगों का आश्रय लिया। हड़तालों ने उग्ररूप ले लिया और अंग्रेज अफसरों तथा यहूदियों पर हमले शुरू हो गए। यहूदियों की फसलें और उनके पेड़ नष्ट कर दिए गए तथा आम हड़तालों ने सम्पूर्ण फिलस्तीन में ब्रिटिश शासन की हालत खराब कर दी। सैकड़ों यहूदी और अरब तथा अनेक अंग्रेज दंगों के शिकार हो गये। फलतः एक बहुत बड़ी अंग्रेज फौज अराजक तत्वों पर नियंत्रण के लिए फिलस्तीन भेजी गयी। दूसरी ओर ईराक, ट्रान्सजोर्डन, सऊदी अरब, यमन आदि के शासकों ने फिलस्तीन की "अरब-उच्च समिति" को, जो हड़तालों आदि का संचालन कर रही थी, शांति का मार्ग अपनाने की सलाह दी। इन विभिन्न दबावों के फलस्वरूप अरब लोग शांति व्यवस्था को मानने को तैयार हो गए और नवम्बर के अन्त तक फिलस्तीन में शांति स्थापित हो गयी। सदा की भांति ब्रिटिश सरकार ने समस्या की जांच के लिए लार्ड पील की अध्यक्षता में २९ जुलाई १९३६ को 'पील आयोग' (Peel Commission) नियुक्त किया। ८ महीनों की जांच पड़ताल और दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों की बातें सुनने के बाद आयोग ने ब्रिटेन लौटकर जुलाई १९३७ में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट में आयोग ने स्पष्ट कर दिया कि फिलस्तीन के अरबों और यहूदियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं में किसी प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित करना असंभव है। अतः इसने फिलस्तीन को अरबों और यहूदियों के बीच बांटकर उनके

अलग-अलग दो राज्य कायम करने की योजना प्रस्तुत की। इसके साथ ही एक ब्रिटिश क्षेत्र भी रहना था। इस प्रकार आयोग की योजना के अनुसार फिलस्तीन को तीन भागों में विभाजित किया जाना था—एक यहूदी राज्य, एक अरब राज्य और जाफा से जेरुसलम तक के क्षेत्र को मिलाकर एक ब्रिटिश क्षेत्र। यह ब्रिटिश क्षेत्र वह था जहाँ अरब और यहूदी दोनों अच्छी बड़ी संख्या में निवास करना चाहते थे। इसीलिए इस क्षेत्र को स्थायी रूप से ब्रिटेन के अधिकार में रखने की व्यवस्था की गयी थी और समुद्र तट से इसका सम्बन्ध रखने के लिए जाफा बन्दरगाह तक एक गलियारे का प्रबन्ध किया गया। यहूदी सार्वभौम राज्य पर निर्माण गेलिलो तथा समुद्रतटीय मैदानों को मिलाकर किया जाना था और शेष भाग को ट्रान्स जोर्डन के साथ मिलाकर एक अरब राज्य बना देने की चर्चा थी। पील आयोग ने यह भी प्रस्ताव रखा कि सम्पूर्ण योजना को संरक्षक राज्य, ट्रान्स जोर्डन, फिलस्तीन के अरबों और यहूदियों के बीच मैत्री संधियों द्वारा पक्का कर दिया जाय, फिलस्तीन के यहूदी और अरब राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र माने जाये तथा इन दोनों राज्यों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने का प्रयत्न किया जाय।

फिलस्तीन के विभाजन की चर्चा प्रथम बार पील आयोग के प्रतिवेदन में ही हुई थी। यहूदियों ने विभाजन की योजना को स्वीकार कर लिया क्योंकि इससे उनका एक राज्य तो बनता था। बाकी भागों पर वे बाद में कब्जा कर सकते थे। उनका विश्वास था कि जब एक बार यहूदी राज्य की स्थापना हो जायगी तो शेष फिलस्तीन पर भी कब्जा कर लिया जायगा। लेकिन अरबों को फिलस्तीन के विभाजन की यह योजना पूर्णतः अमान्य थी, अतः उन्होंने इसे ठुकरा दिया और संपूर्ण फिलस्तीन पर अपने अधिकार का प्रतिज्ञापन किया। राष्ट्रसंघ के संरक्षण-राज्य-आयोग, जिसके सामने पील आयोग की योजना रखी गयी, ने भी इसे नापसन्द किया। यहूदी विभाजन की इस योजना को अपना राज्य बनने की आशा से ही स्वीकार करने को उद्यत थे। अन्यथा उन्हें भी योजना के प्रति विशेष आपत्तियां थीं। उनकी एक प्रमुख आपत्ति यह थी कि प्रस्तावित यहूदी राज्य में औद्योगिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण केन्द्र, जैसे जोर्डन नदी पर जल विद्युत स्टेशन और मृतसागर (Dead Sea) पर पोटाश का कारखाना सम्मिलित नहीं थे। उन्होंने हलका और गैलिली के अन्य नगरों पर ब्रिटिश शासन को अनिश्चित काल तक बनाये रखने पर भी आपत्ति थी। अरबों का सम्पूर्ण फिलस्तीन पर तो दावा था ही, किन्तु उनका एक प्रहार यह भी था कि योजना को स्वीकार करने का अर्थ गैलिली के अपने अन्य भाइयों से बिछुड़ जाना और भू-मध्यसागर के बंदरगाहों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाना था। पील आयोग रिपोर्ट गंभीर आलोचना का शिकार बनी। यहूदी कांग्रेस के अधिवेशन में योजना की तीव्र आलोचना हुई, अरबों ने रिपोर्ट की आलोचना की और यहां तक कि ईराक सरकार ने इसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ में विरोध पत्र भेजा। पील आयोग की रिपोर्ट ने अरब आंदोलन को पुनः गम्भीर रूप से भड़का दिया। स्थान-स्थान पर दंगे हुए और न केवल यहूदी तथा अंग्रेज भी उनके क्रोध के शिकार बने बल्कि उन अरबों की भी हत्याएं की गयी जो प्रस्तावित योजना के पक्ष में थे। १९३८

तक फिलस्तीन की यही दशा बनी रही। अंग्रेजों द्वारा बदला लेने के लिए यहूदियों को उकसाया गया, अतः फिलस्तीन के उपद्रवों ने भयंकर रूप धारण कर लिया। १९३८ तक लगभग ३ हजार ७०० व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये। १९३९ के मई मास तक छोटे-मोटे बलवे और विद्रोह होते रहे।

पील रिपोर्ट यद्यपि ब्रिटिश सरकार द्वारा मन्जूर करली गयी लेकिन ब्रिटिश संसद सदस्य उस समय इसे स्वीकार करने को तैयार न थी। शीघ्र ही पील योजना की व्यावहारिकता पर विचार करने के लिए एक और आयोग की नियुक्ति की गयी जिसके अध्यक्ष सर जॉन वुडहैड थे। १९३८ में नियुक्त इस वुडहैड आयोग (Woodhead Commission) ने अक्टूबर १९३८ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। आयोग ने निर्णय दिया कि विभाजन योजना को कार्यान्वित करना सम्पूर्ण देश में यहूदियों और अरबों के व्यापक बिखराव के कारण असंभव है। आयोग का निष्कर्ष था कि यदि विभाजन सम्बन्धी कोई भी योजना लागू की गयी तो दोनों भागों में अल्पसंख्यकों की जटिल समस्या उत्पन्न हो जायगी। आयोग ने आर्थिक संघवाद (Economics Federation) की योजना की सिफारिश की "जिसमें अरबों और यहूदियों के लिए वित्तीय नीति संरक्षक राज्य (The Mandatory) द्वारा निर्धारित की जाय, अन्यथा अरब एवं यहूदी दोनों ही स्वायत्त शासन (Autonomous) रहें।"

वुडहैड रिपोर्ट के बाद ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन विभाजन की योजना का परित्याग कर दिया। अब ब्रिटिश सरकार यह यत्न करने लगी कि यहूदियों और अरबों में कोई ऐसा समझौता हो जाय जो दोनों पक्षों को स्वीकार हो। इसके लिए लन्दन में एक **गोलमेज-परिषद्** का आयोजन किया गया जिसमें यहूदियों और अरबों को ब्रिटेन के सामने अपना मामला पृथक रूप से रखने के लिए आमंत्रित किया गया। पड़ौस के अन्य अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया गया। फरवरी मार्च १९३९ में इस गोलमेज परिषद का अधिवेशन हुआ। सम्मेलन अत्यन्त कटु वातावरण में हुआ क्योंकि अरब-प्रतिनिधियों ने यहूदी-प्रतिनिधियों के साथ बैठने से इन्कार कर दिया। दोनों ने सम्मेलन में अलग-अलग वार्ताएं की। उस समय ऐसा लगता था कि मानों एक ही जगह दो सम्मेलन हो रहे हों। अरबों और यहूदियों में इतना तीव्र मतभेद था कि वे किसी भी बात पर परस्पर सहमत ही नहीं होते थे। अरबों की मांग थी कि उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय और फिलस्तीन में यहूदी आव्रजन पर रोक लगा दी जाय। इसके विपरीत यहूदियों की मांग थी 'बाल्फोर घोषणा' (Balfour Declaration) क्रियान्वित की जाय। ब्रिटिश सरकार के समझौता कराने के सारे प्रयास निष्फल हुए और कुछ सप्ताहों के बाद सम्मेलन भंग हो गया। फिलस्तीन की समस्या बनी रही और अरबों तथा यहूदियों में संघर्ष होते रहे।

उपरोक्त दशाओं में ब्रिटिश सरकार ने अपना ही निर्णय थोपने का निश्चय किया। भावी युद्ध संकट में अरबों का समर्थन पाने की आशा करते हुए १७ मई १९३९ को ब्रिटेन ने एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया। जिसमें कहा गया कि दस वर्षों बाद फिलस्तीन को एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया जायगा। इस स्वतन्त्र राज्य के बारे में बताया गया कि (१) यह नया फिलस्तीन राज्य यहूदियों के राष्ट्रीय भूमि के अधिकार की रक्षा सुनिश्चित करने के लिए ब्रिटेन

अलग-अलग दो राज्य कायम करने की योजना प्रस्तुत की। इसके साथ ही एक ब्रिटिश क्षेत्र भी रहना था। इस प्रकार आयोग की योजना के अनुसार फिलस्तीन को तीन भागों में विभाजित किया जाना था—एक यहूदी राज्य, एक अरब राज्य और जाफा से जेरुसलम तक के क्षेत्र को मिलाकर एक ब्रिटिश क्षेत्र। यह ब्रिटिश क्षेत्र वह था जहाँ अरब और यहूदी दोनों अच्छी बड़ी संख्या में निवास करना चाहते थे। इसीलिए इस क्षेत्र को स्थायी रूप से ब्रिटेन के अधिकार में रखने की व्यवस्था की गयी थी और समुद्र तट से इसका सम्बन्ध रखने के लिए जाफा बन्दरगाह तक एक गलियारे का प्रबन्ध किया गया। यहूदी सार्वभौम राज्य पर निर्माण गेलिलो तथा समुद्रतटीय मैदानों को मिलाकर किया जाना था और शेष भाग को ट्रान्स जोर्डन के साथ मिलाकर एक अरब राज्य बना देने की चर्चा थी। पील आयोग ने यह भी प्रस्ताव रखा कि सम्पूर्ण योजना को संरक्षक राज्य, ट्रान्स जोर्डन, फिलस्तीन के अरबों और यहूदियों के बीच मैत्री संधियों द्वारा पक्का कर दिया जाय, फिलस्तीन के यहूदी और अरब राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र माने जाये तथा इन दोनों राज्यों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने का प्रयत्न किया जाय।

फिलस्तीन के विभाजन की चर्चा प्रथम बार पील आयोग के प्रतिवेदन में ही हुई थी। यहूदियों ने विभाजन की योजना को स्वीकार कर लिया क्योंकि इससे उनका एक राज्य तो बनता था। बाकी भागों पर वे बाद में कब्जा कर सकते थे। उनका विश्वास था कि जब एक बार यहूदी राज्य की स्थापना हो जायगी तो शेष फिलस्तीन पर भी कब्जा कर लिया जायगा। लेकिन अरबों को फिलस्तीन के विभाजन की यह योजना पूर्णतः अमान्य थी, अतः उन्होंने इसे ठुकरा दिया और संपूर्ण फिलस्तीन पर अपने अधिकार का प्रतिज्ञापन किया। राष्ट्रसंघ के संरक्षण-राज्य-आयोग, जिसके सामने पील आयोग की योजना रखी गयी, ने भी इसे नापसन्द किया। यहूदी विभाजन की इस योजना को अपना राज्य बनने की आशा से ही स्वीकार करने को उद्यत थे। अन्यथा उन्हें भी योजना के प्रति विशेष आपत्तियां थी। उनकी एक प्रमुख आपत्ति यह थी कि प्रस्तावित यहूदी राज्य में औद्योगिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण केन्द्र, जैसे जोर्डन नदी पर जल विद्युत स्टेशन और मृतसागर (Dead Sea) पर पोटाश का कारखाना सम्मिलित नहीं थे। उन्होंने हल्फा और गैलिली के अन्य नगरों पर ब्रिटिश शासन को अनिश्चित काल तक बनाये रखने पर भी आपत्ति थी। अरबों का सम्पूर्ण फिलस्तीन पर तो दावा था ही, किन्तु उनका एक प्रहार यह भी था कि योजना को स्वीकार करने का अर्थ गैलिली के अपने अन्य भाइयों से बिछुड़ जाना और भू-मध्यसागर के बंदरगाहों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाना था। पील आयोग रिपोर्ट गंभीर आलोचना का शिकार बनी। यहूदी कांग्रेस के अधिवेशन में योजना की तीव्र आलोचना हुई, अरबों ने रिपोर्ट की आलोचना की और यहां तक कि ईराक सरकार ने इसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ में विरोध पत्र भेजा। पील आयोग की रिपोर्ट ने अरब आंदोलन को पुनः गम्भीर रूप से भड़का दिया। स्थान-स्थान पर दंगे हुए और न केवल यहूदी तथा अंग्रेज भी उनके क्रोध के शिकार बने बल्कि उन अरबों की भी हत्याएं की गयी जो प्रस्तावित योजना के पक्ष में थे। १९३८

तक फिलस्तीन की यही दशा बनी रही। अंग्रेजों द्वारा बदला लेने के लिए यहूदियों को उकसाया गया, अतः फिलस्तीन के उपद्रवों ने भयंकर रूप धारण कर लिया। १९३८ तक लगभग ३ हजार ७०० व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये। १९३९ के मई मास तक छोटे-मोटे मलवे और विद्रोह होते रहे।

पील रिपोर्ट यद्यपि ब्रिटिश सरकार द्वारा मन्जूर करली गयी लेकिन ब्रिटिश संसद सदस्य उस समय इसे स्वीकार करने को तैयार न थी। शीघ्र ही पील योजना की व्यावहारिकता पर विचार करने के लिए एक और आयोग की नियुक्ति की गयी जिसके अध्यक्ष सर जॉन वुडहैड थे। १९३८ में नियुक्त इस वुडहैड आयोग (Woodhead Commission) ने अक्टूबर १९३८ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। आयोग ने निर्णय दिया कि विभाजन योजना को कार्यान्वित करना सम्पूर्ण देश में यहूदियों और अरबों के व्यापक बिखराव के कारण असंभव है। आयोग का निष्कर्ष था कि यदि विभाजन सम्बन्धी कोई भी योजना लागू की गयी तो दोनों भागों में अल्पसंख्यकों की जटिल समस्या उत्पन्न हो जायगी। आयोग ने आर्थिक संघवाद (Economics Federation) की योजना की सिफारिश की "जिसमें अरबों और यहूदियों के लिए वित्तीय नीति संरक्षक राज्य (The Mandatory) द्वारा निर्धारित की जाय, अन्यथा अरब एवं यहूदी दोनों ही स्वायत्त शासन (Autonomous) रहें।"

वुडहैड रिपोर्ट के बाद ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन विभाजन की योजना का परित्याग कर दिया। अब ब्रिटिश सरकार यह यत्न करने लगी कि यहूदियों और अरबों में कोई ऐसा समझौता हो जाय जो दोनों पक्षों को स्वीकार हो। इसके लिए लन्दन में एक **गोलमेज-परिषद्** का आयोजन किया गया जिसमें यहूदियों और अरबों को ब्रिटेन के सामने अपना मामला पृथक रूप से रखने के लिए आमंत्रित किया गया। पड़ौस के अन्य अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया गया। फरवरी मार्च १९३९ में इस गोलमेज परिषद का अधिवेशन हुआ। सम्मेलन अत्यन्त कटु वातावरण में हुआ क्योंकि अरब-प्रतिनिधियों ने यहूदी-प्रतिनिधियों के साथ बैठने से इन्कार कर दिया। दोनों ने सम्मेलन में अलग-अलग वार्ताएं की। उस समय ऐसा लगता था कि मानों एक ही जगह दो सम्मेलन हो रहे हों। अरबों और यहूदियों में इतना तीव्र मतभेद था कि वे किसी भी बात पर परस्पर सहमत ही नहीं होते थे। अरबों की माँग थी कि उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय और फिलस्तीन में यहूदी आव्रजन पर रोक लगा दी जाय। इसके विपरीत यहूदियों की माँग थीं 'बालफोर घोषणा' (Balfour Declaration) क्रियान्वित की जाय। ब्रिटिश सरकार के समझौता कराने के सारे प्रयास निष्फल हुए और कुछ सप्ताहों के बाद सम्मेलन भंग हो गया। फिलस्तीन की समस्या बनी रही और अरबों तथा यहूदियों में संघर्ष होते रहे।

उपरोक्त दशाओं में ब्रिटिश सरकार ने अपना ही निर्णय थोपने का निश्चय किया। भावी युद्ध संकट में अरबों का समर्थन पाने की आशा करते हुए **१७ मई १९३९ को ब्रिटेन ने एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया।** जिसमें कहा गया कि दस वर्षों बाद फिलस्तीन को एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया जायगा। इस स्वतन्त्र राज्य के बारे में बताया गया कि (१) यह नया फिलस्तीन राज्य यहूदियों के राष्ट्रीय भूमि के अधिकार की रक्षा सुनिश्चित करने के लिए ब्रिटेन

के साथ संधि करेगा, (२) इस नये राज्य के प्रशासन में अरब और यहूदी दोनों भाग लेंगे, (३) नवीन राज्य स्थापित होने के मध्यवर्ती काल में फिलस्तीन में यहूदी आव्रजन सीमित रहेगा। इस विषय में यह व्यवस्था की गयी कि आगामी पांच वर्षों में कुल ७५ हजार यहूदियों को फिलस्तीन में देशान्तरण वा आव्रजन (Immigration) करने दिया जायगा और अरबों की सहमति के बिना इससे अधिक आव्रजन की अनुमति नहीं दी जायगी, एवं (४) जब यहूदी और अरब दोनों आपसी समझौते की स्थिति में पहुंच जायेंगे तो फिलस्तीन के स्वतन्त्र राज्य का संविधान तैयार किया जायगा। इस श्वेतपत्र ने ब्रिटेन की इस सहानुभूति को भली प्रकार व्यक्त किया कि जर्मनी से युद्ध छिड़ने की स्थिति में अरबों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा होगी। यह स्पष्ट था कि यहूदी इस श्वेत पत्र का स्वागत न करते। किन्तु उन्होंने ही केवल इसकी निन्दा नहीं की बल्कि स्वयं राष्ट्रसंघ के संरक्षा-आयोग (Mandate Commission) ने इसे संरक्षण (Mandate) का उल्लंघन कहा। चर्चिल ने इसे "बालफोर घोषणा का भंग और खंडन" बताया तथा १९३९ के श्रमिक दल सम्मेलन ने यह घोषणा की कि श्वेतपत्र "बालफोर घोषणा और मेनडेट में दिये गये गंभीर वचनों का उल्लंघन करता है।" अरब लोग भी श्वेतपत्र से संतुष्ट न थे। इस अनिश्चय की और विरोध की अवस्था के मध्य ही द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन के मामले को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। फिलस्तीन में बहुत बड़ी संख्या में अंग्रेजी फौज लाकर रख दी गयी ताकि वहां कोई विद्रोह न हो सके।

द्वितीय महायुद्ध के प्रथम चरण में अरबों और यहूदियों के बीच तनाव वढता ही गया। अरब मुख्यतः धुरी राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति पूर्ण थे तो यहूदी पूर्णतः फासिस्ट विरोधी। चूंकि युद्धकाल में अरबों को धुरी राष्ट्रों के विमुख करना और उनको ब्रिटेन के प्रति सहयोगी बनाना अत्यन्त आवश्यक था, अतः फरवरी १९४० में ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने फिलस्तीन के अनेक भागों में यहूदियों द्वारा भूमि प्राप्त करने पर निषेध लगाते हुए भूमि हस्तांतरण अधिनियम जारी किये। युद्ध के दबाव में ब्रिटेन के लिए अरबों को प्रसन्न करने की नीति का अनुसरण करना स्वाभाविक था। इसी मध्य ब्रिटिश सरकार को कठिनाई में डालने के लिए और उसकी युद्ध सम्बन्धी तैयारियों को क्षीण करने के लिए जर्मनी फिलस्तीन में बड़ी संख्या में यहूदियों को भरने लगा। जर्मन अत्याचार से पीड़ित होकर फिलस्तीन भाग आने के सिवाय यहूदियों के पास और कोई चारा भी न था। इस तरह गैर कानूनी तौर पर यहूदी प्रवासी फिलस्तीन में भरते गये और उनमें से अधिकांश की अरबों ने हत्या करदी। फलतः दोनों जातियों के बीच घृणा और शत्रुता के बीज और भी गहरे हो गये।

ब्रिटेन ने युद्ध काल में यहूदियों की अप्रसन्नता की विशेष चिन्ता नहीं की, किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका ने अवसर को हाथ से न जाने दिया और यहूदियों के प्रति अपना समर्थन प्रदान किया। संयुक्त राज्य अमेरिका में यहूदियों का पहिले से ही काफी प्रभाव था। वहां का यहूदी सम्प्रदाय सदैव से अत्यन्त धनाढच तथा प्रभावशाली रहा। युद्धकाल में ११ मई १९४२ को न्यूयार्क में यहूदीवासियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें फिलस्तीन के मामलों में

एक नया मोड़ ला दिया। इस सम्मेलन में यहूदियों को अमेरिका की तरफ आकर्षित किया। सम्मेलन में बिल्ट मोर (Biltmore) योजना तैयार की गयी जिसमें फिलस्तीन में यहूदियों के आव्रजन को सीमित करने वाले ब्रिटिश श्वेतपत्र की निन्दा की गई और फिलस्तीन में यहूदी राज्य, यहूदी सेना के निर्माण तथा एक यहूदी एजेन्सी की देखरेख में यहूदियों के अनियंत्रित आव्रजन की मांग की गयी। इस सम्मेलन में फिलस्तीन समस्या में संयुक्त राज्य अमेरिका की गंभीर अभिरुचि जागृत करदी। इधर युद्ध की पूरी अवधि में यहूदियों ने फिलस्तीन स्थित ब्रिटिश एवं मित्र राष्ट्रीय फौजों के बीच अपना घोर प्रचार जारी रखा। अमेरिकन प्रशासन पर भी इस बात के लिए पर्याप्त प्रभाव डाला गया कि वह ब्रिटिश सरकार को यहूदियों के प्रति न्यायसंगत दृष्टिकोण अपनाने के लिए समझाये। संयुक्त राज्य अमेरिका की अनेक राज्य व्यवस्थापिका सभाओं में यहूदीवादियों का समर्थन करने वाले विभिन्न प्रस्ताव प्रस्तुत हुए। कांग्रेस का प्रस्ताव सैनिक कारणों से बच पाया। स्वयं राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यहूदियों के पक्ष में अपना अभिमत घोषित किया। सन् १९४५ तक मध्यपूर्वीय राजनीति में अमेरिकन प्रशासन की पूर्ण रुचि जागृत हो गयी और अमेरिकन वैदेशिक नीति में फिलस्तीन की समस्या एक प्रमुख तत्व बन गया। अक्टूबर १९४५ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ब्रिटेन की एटली से यूरोप में विस्थापित एक लाख यहूदियों को फिलस्तीन में देशान्तरण करने की अनुमति दे देने का अनुरोध किया। १३ नवम्बर १९४५ को बेविन ने घोषणा की कि फिलस्तीन समस्या का सर्वांगीण निरीक्षण करना आवश्यक है, अतः इसके लिए एक ब्रिटिश-अमेरिकन जांच समिति नियुक्त की जा रही है। इस घोषणा ने फिलस्तीन की सारी समस्या को ही एक नया रूप दे दिया।

ईरान (Iran)

पहले फारस के नाम से पुकारा जाने वाला ईरान भौगोलिक दृष्टि से उत्तर में कैस्पियन सागर व रूस, दक्षिण में फारस की व उमान की खाड़ी, पूर्व में रूस, अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान तथा पश्चिम में ईराक और टर्की से घिरा हुआ है। इस देश की राजधानी तेहरान और यहां का प्रमुख धर्म इस्लाम है।

१९०६ तक ईरान में निरंकुश राजतंत्र था जिसमें काजर (Qajar) वंश का शासन था। जनता राजतंत्र शासन से सुखी न थी, अतः आंतरिक कलह के कारण १९०६ में वहां क्रांति हो गयी और सुल्तान मुजफ्फर शाह एक नवीन विधान बनाने को विवश हुआ।

१९०७ से १९२० तक—ईरान में एक तरफ तो आंतरिक अशांति का बोलबाला था और दूसरी तरफ विदेशी षड्यंत्रों का कुचक्र अपना जाल फैलाये हुए था। भारत के निकट होने के कारण रूस और ब्रिटेन बराबर ईरान पर अपनी आंखें गड़ाये हुए थे। अन्त में ३१ अगस्त १९०७ को रूस और ब्रिटेन ने परस्पर एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इस **आंग्ल-रूसी-संधि [Anglo-Russian Treaty, 1907]** के द्वारा रूस और ब्रिटेन ने ईरान को दो प्रभाव क्षेत्रों में विभाजित कर लिया—रूस के पाले उत्तरी ईरान पड़ा और ब्रिटेन के दक्षिणी। दोनों प्रभाव क्षेत्रों के बीच एक तटस्थ क्षेत्र छोड़ा गया। दोनों ही पक्षों ने एक दूसरे के क्षेत्र में कोई राजनीतिक और व्याव-

सायिक अनुमतियों की प्राप्ति का प्रयत्न न करने का वचन दिया। तथापि दोनों ही देशों का यह प्रयत्न रहा कि वे अपने-अपने प्रभाव खण्ड को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लें। इसी नीति पर चलते हुए, यूरोप में बढ़ते हुए तनावों का लाभ उठा कर, रूस ने उत्तरी ईरान पर १९११ में अधिकार कर लिया। जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ तो ईरान ने अपनी तटस्थता घोषित की। किन्तु मार्च १९१५ में ब्रिटेन ने रूस के साथ एक गुप्त समझौता किया जिसके अनुसार रूस को इस्तम्बूल एवं जलडमरूमध्य पर अधिकार करने की अनुमति मिल गयी और ईरान के उत्तरी खण्ड में मनमानी कार्यवाही करने की उसे स्वतंत्रता प्राप्त हुई। इसके बदले में ब्रिटेन को दक्षिणी ईरान के और तटस्थ खण्डों को संयुक्त कर देने के लिए मुक्त कर दिया गया। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि यद्यपि विश्व युद्ध में ईरान तटस्थ रहा किन्तु उसके विभिन्न प्रदेशों पर ब्रिटिश, रूसी, टर्की और जर्मन सेनाओं पर कब्जा बना रहा। ईरान इन सेनाओं के लिए एक युद्ध क्षेत्र बन गया।

मार्च १९१७ में रूस में साम्यवादी क्राँति हुई और ट्रोट्स्की ने १९०७ की सन्धि के समझौते को रद्द करके ईरान में सभी रूसी अधिकारों का परित्याग कर दिया। रूसी फौजें उत्तरी ईरान से हटा ली गयीं। रूस के इस कदम के फलस्वरूप ब्रिटेन को भी १९१८ में वहां से अपनी सेना हटानी पड़ी। किन्तु अब ब्रिटेन को ईरान की अखण्डता की रक्षा करना उपयुक्त प्रतीत हुआ क्योंकि देश में राजनीतिक अव्यवस्था और आर्थिक पतन की दशा थी तथा सम्पूर्ण ईरान साम्यवाद के विस्तार के लिए बड़ा उपयुक्त अवसर प्रदान कर रहा था। अतः प्रथम महायुद्ध के बाद, **अगस्त १९१९ में ब्रिटेन ने ईरान के साथ एक संधि सम्पन्न** की जिसके अनुसार उसने ईरान को विभिन्न क्षेत्रों में सहायता देना स्वीकार किया। इस सन्धि के फलस्वरूप ब्रिटेन का ईरान पर एक प्रकार से सैनिक प्रभुत्व स्थापित हो गया और व्यवहारतः ईरान की स्थिति एक ब्रिटिश उपनिवेष जैसी हो गयी। परन्तु ईरान की संसद (मजलिस, Majlis) ने १९१९ के इस आंग्ल-ईरानी संधि की पुष्टि नहीं की।

ईरान में सैनिक क्रान्ति और रूस के साथ संधि—महायुद्ध के बाद ईरान में राजनीतिक स्थिरता स्थापित नहीं होने पायी। ऐसे अस्थिर वातावरण में ईरानी सेना का एक अफसर **रिजाखां पहलवी** (**Riza Khan Pahlevi**) ईरान के रंगमंच पर अवतीर्ण हुआ। राष्ट्रवादी आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए उसने फरवरी १९२१ में तेहरान पर चढ़ाई कर दी और मंत्रिमण्डल को गिरफ्तार करके वह स्वयं युद्ध मंत्री एवं सर्वोच्च सेनापति बन गया। शक्ति ग्रहण करने के तुरन्त बाद उसने ब्रिटिश सन्धि को ठुकरा कर २५ फरवरी **१९२१ को रूस द्वारा प्रस्तावित विनम्र शर्तों पर हस्ताक्षर कर** दिये। इस सन्धि के अन्तर्गत रूस ने ईरान की पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार किया और बदले में ईरान से किसी प्रकार की सुविधाओं की मांग नहीं की। रूसी देशवासियों के लिए अतिरिक्त प्रदेश सम्बन्धी विशेषाधिकारों को त्याग दिया गया और ईरान की प्रभुसत्ता तथा प्रादेशिक सम्पूर्णता का सम्मान करने का वचन दिया गया। बदले में ईरान ने भी रूस को यह आश्वासन दिया कि वह अपनी भूमि को रूस के विरुद्ध वाले किसी भी अभियान के लिए प्रयोग में नहीं लाने

देगा। इस सन्धि की ईरान की राष्ट्रीय सभा ने पुष्टि कर दी। दिसम्बर १९२५ में ईरान की नवगठित संविधान सभा ने रिजाखां को सम्राट बना दिया और नये सम्राट ने देश को शांति तथा सुव्यवस्था प्रदान की।

रिजाखां के समय में ईरान के वैदेशिक सम्बन्ध (१९२५–१९३९)— नये शाह रिजाखां ने अपने देश में कानून और व्यवस्था की स्थापना करने पर पूरा ध्यान दिया और शासन पर इतना प्रभाव जमा लिया कि संसद धीरे-धीरे होती गयी तथा १९४२ में उसके पुत्र के गद्दी पर बैठने के समय तक बिल्कुल निष्क्रिय बनी रही।

नये शाह ने संसार के सब देशों को सूचित कर दिया कि ईरान अपनी भूमि पर किसी भी देश के विशेषाधिकार को स्वीकार नहीं करेगा। १९२७ में विदेशी शक्तियों को भेजे गये रुक्कों (Notes) में उसने स्पष्ट कर दिया कि अतिरिक्त प्रदेश सम्बन्धी सभी समझौते एक वर्ष पश्चात् समाप्त हो जावेंगे तथा नयी संधियाँ की जायंगी। इसी वर्ष ईरान और ब्रिटेन के बीच बहराइन के प्रश्न पर मनमुटाव हो गया, क्योंकि रिजाखां ने ब्रिटेन से मांग की कि बहराइन ईरान को वापस दिया जाय जबकि ब्रिटेन ने उस मांग को अस्वीकार कर दिया। इसी समय से ईरान और ब्रिटेन के सम्बन्ध तेजी से बिगड़ते गये। १९३२ में ईरान के शाह ने यह घोषणा कर दी कि एंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनी (The Anglo Oil Company) को दी गयी समस्त सुविधाएं समाप्त की जाती हैं। ये सुविधाएं १९६१ तक के लिये तय हुई थीं (रिजाखां जो शाह बनने के बाद रजाशाह पहलवी के नाम से विख्यात हुआ) इस कार्यवाही से ब्रिटेन में बड़ी खलबली मच गयी और ब्रिटिश सरकार ने ईरान की खाड़ी के लिये सामुद्रिक सेना दल भेजे। आखिरकार पारस्परिक चर्चा के परिणामस्वरूप मामला अन्तिम रूप से समाप्त हो गया और कम्पनी को कुछ शर्तों पर सीमित सुविधाएं देना स्वीकार कर लिया गया। कम्पनी का सुविधा क्षेत्र (Concession-area) एक लाख वर्गमील सीमित कर दिया गया जिसे कम्पनी को पांच वर्ष के अन्दर छांटना था तथा ब्रिटेन को युवक ईरानियों को तेल सम्बन्धी कला-विज्ञान में प्रशिक्षण भी प्रदान करना था।

ईरान और रूस के मध्य भी सम्बन्धों में अधिक सुधार नहीं हुआ। शाह की नीति राष्ट्रवादी थी और वह विदेश विरोधी नीति का अनुगमन कर रहा था जो समान रूप से रूस के भी विरोध में थी और जिसे समय-समय पर बन्धनों तथा बहिष्कारों के रूप में व्यक्त किया गया। फिर भी रूस से ईरान से तकनीकी सहायता मिलती रही और रूस ने उसे ब्रिटेन के साथ संघर्ष में भी सहायता दी। दोनों के बीच के व्यापारिक सम्बन्ध भी काफी अच्छे रहे क्योंकि १९३६ तक रूस ईरान से २८% निर्यात प्राप्त कर रहा था और ३० प्रतिशत अपना आयात प्रदान कर रहा था।

शाह ने मुस्तफा कमाल पाशा की तरह ही ईरान में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन किये। उसके शासन काल मे १९३५ ई० में वैधानिक ढंग से फारस का नाम ईरान पड़ा। उसके शासन में ईरान का चतुर्दिक विकास इस प्रकार हुआ कि ईरान का राष्ट्रीय जीवन आरम्भ हो गया।

इस समय जहां एक ओर ईरान और ब्रिटेन के सम्बन्धों में तनाव बढ़ा हुआ था और रूस तथा ईरान के सम्बन्ध लगभग सामान्य चल रहे थे वहां दूसरी ओर व्यावसायिक स्वार्थों के कारण ईरान तथा जर्मनी अधिक निकट आते जा रहे थे। व्यापार में ईरान और जर्मनी एक दूसरे के पूरक थे। एक के पास कच्चा माल और कुछ खाद्य पदार्थ तो दूसरा सामान का उत्पादन करता था। जर्मन व्यावसायिक क्षेत्र में अत्यन्त निपुण था। उसने शीघ्र ही अपना व्यावसायिक सिक्का जमा लिया और राजनीतिक उद्देश्यों के लिये इसका उपयोग किया। शाह ईरान में औद्योगिकरण का तीव्र अभिलाषी था अतः उत्पन्न व्यापार का अधिकांश भाग जर्मनी को प्राप्त हुआ। जर्मन सरकार ने ईरान में कारखानों की स्थापना की और ईरानी युवकों को प्रशिक्षण देने के लिये काफी संख्या में जर्मन विशेषज्ञों को भेजा। ईरान, इन परिस्थितियों में, पूर्ण रूप से जर्मन समर्थक रुख अपनाता गया। जर्मनी से उसकी यह नयी दोस्ती रूस को हमेशा खटकती रही।

जर्मनी के साथ ईरान की मैत्री इसलिये विकसित होती गयी क्योंकि प्रथम तो शाह ईरान के व्यापार को विकसित देखना चाहता था और दूसरे ब्रिटेन तथा रूस के साथ ईरान के सम्बन्ध सुमधुर नहीं थे। १९३९ में जब रूस जर्मन अनाक्रमण संधि सम्पन्न हुई तो भी ईरान जर्मनी को रूस का स्थायी शत्रु और इसीलिए अपना स्वाभाविक मित्र समझता रहा। ब्रिटेन भी कुछ सीमा तक ईरान के द्वेष का अधिकारी बना हुआ था क्योंकि उसने १९०७ में ईरान के विभाजन में रूस की मदद की थी।

द्वितीय महायुद्ध और ईरान—द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर यद्यपि ईरान ने तटस्थता की घोषणा करदी, परन्तु जर्मनी के प्रति उसके मन में कोमल भाव बना रहा। रूस और ब्रिटेन की सरकारों ने शाह के पास अपने-अपने दूत भेंजे और फिर लिखित रूप में भी यह मांग की कि शाह ईरान से नाजी –समर्थकों को निकाल दे, परन्तु सब कुछ निष्फल रहा। शाह का विश्वास-पूर्वक कहना था कि उसके देश में नाजी समर्थक लोग नहीं हैं। ऐसी स्थिति में फासिस्टों के प्रति हमदर्दी की आशका से, ब्रिटेन और रूस ने संयुक्त रूप में अगस्त १९४१ में ईरान पर आक्रमण कर दिया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। सितम्बर १९४१ में उन्होंने रिजाशाह को हटाकर उसके पुत्र मोहम्मद रिजाशाह पहलवी को गद्दी पर बैठाया। मोहम्मद रिजा ने मित्र राष्ट्रों से वार्ता आरम्भ की जिसके फलस्वरूप २९ जनवरी १९४२ को एक **त्रिपक्षीय सहायता संधि (Tripartite Treaty of Alliance)** सम्पन्न हुई। इस संधि के अन्तर्गत ईरान ने मित्रराष्ट्रों से प्रतिज्ञा की कि वह उनको निम्नलिखित रूप में सहायता देगा।

(१) उनकी सेनाओं को ईरान में होकर जाने की अनुमति होगी।
(२) ईरान उन्हें खाद्य-सामग्री, मजदूर और अन्य सामान देगा।
(३) मित्र राष्ट्रों की ईरान में अपनी सेनाएं रखने का अधिकार होगा, परन्तु युद्ध समाप्ति के बाद छः माह के भीतर ये सेनाएं वहां से हटाली जायेंगी।

संधि के अन्तर्गत ब्रिटेन और रूस ने इस बात का वचन दिया कि ईरान की प्रादेशिक अखण्डता, प्रभुसत्ता तथा राजनीतिक स्वाधीनता का

सम्मान किया जायगा। इस संधि के बाद ईरान ने सितम्बर १९४३ में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

ईरान द्वारा मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर १ दिसम्बर १९४३ को रूजवैल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने सुप्रसिद्ध तेहरान घोषणा Teheran Declaration, 1943) प्रसारित की जिसमें "उन्होंने प्रत्येक सम्भव आर्थिक सहायता ईरान को प्रदान करते रहने का उत्तरदायित्व लिया और ईरान की स्वाधीनता प्रभुसत्ता तथा प्रादेशिक अखण्डता कायम रखने की इच्छा व्यक्त की" थोड़े दिनों में इरान विदेशी सेनाओं का अड्डा बन गया। अजर बेजान, कैस्पियन प्रान्तों और खुरासान के भागों में रूसी फौजें, तथा ईरान के दक्षिणी भागों में ब्रिटेन, अमेरिकन फौजें आ गयीं। महायुद्ध के समाप्त होने पर ब्रिटिश-अमेरिकन फौजें तो ईरानी क्षेत्र से हटाली गयी परन्तु रूस ने ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप आरम्भ किया और उसकी फौजें मई १९४६ में जाकर ईरानी भूमि से तभी हटीं जब ईरान ने सयुक्त राष्ट्र संघ से शिकायत की और संघ ने रूस को सेना हटाने के लिये बाध्य किया।

(५) ईराक (Iraq)

ईराक के उत्तर में टर्की, पश्चिम में सीरिया और जोर्डन, दक्षिण में सऊदी अरब, दक्षिण-पूर्व में कुवैत और फारस की खाडी के तट का एक छोटा सा भाग तथा पूर्व में ईरान है। बगदाद उसकी राजधानी, इस्लाम सरकारी धर्म और अरबी सरकारी भाषा।

सन् १९२७ में ईराक ओटोमन अथवा टर्की साम्राज्य का एक भाग बन गया था, परन्तु प्रथम महायुद्ध के समय जब टर्की ने धुरी राष्ट्रों का साथ दिया तो ब्रिटिश सेनाओं ने ईराक पर आधिपत्य जमा लिया। १९१५ में ईराक पर आधिपत्य जमा लेने के उपरान्त १९१६ में ब्रिटेन और फ्रान्स के मध्य एक गुप्त समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार उन्होंने टर्की को आपस में दो भागों में बांट लिया। फ्रान्स को सीरिया, लेबनान और ईराक के कुछ भाग मिलने थे और बगदाद सहित ईराक का शेष भाग ब्रिटेन के कब्जे में रहना था। नवम्बर १९१८ में ब्रिटेन और फ्रान्स ने सम्मिलित रूप से यह घोषणा की कि वे युद्ध की समाप्ति पर ईराक को स्वतन्त्रता प्रदान कर देंगे। किन्तु हुआ यह कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्रों ने अपना रंग बदल लिया और ईराकियों को स्वतंत्र करने के बदले उन्हें गुलामी की जंजीरों में जकडने की कोशिशें की जाने लगीं। राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसार १९२० में ईराक को ब्रिटिश संरक्षता (Under British Mandate) रख दिया गया। ईराक को ब्रिटिश संरक्षण में रखने की घोषणा सेनरिमो सम्मेलन (San Remo Conference) में की गयी।

ब्रिटिश संरक्षण से ईराक के लोगों को बडा असंतोष हुआ और विरोध स्वरूप ईराकी राष्ट्रवादियों ने बडे उग्र रूप से यह मांग की कि ईराक को तुरन्त स्वतन्त्रता प्रदान की जाय और उसे सीरिया में सम्मिलित होने दिया जाय। इस मांग के साथ ही ईराक में राष्ट्रवादी आन्दोलन का प्रारम्भ हो गया। लगभग ६ महीनों तक ईराक में तीव्र विद्रोह चलता रहा और अनेक ब्रिटिश अफसर मार डाले गये। ६ महीनों की अवधि में घायलों तथा मृतकों की

संख्या हजारों तक पहुंच गयी । परन्तु ब्रिटेन ईराक में हर कीमत पर अपने स्वार्थों की रक्षा करना चाहता था । उसके लिए ईराक की महत्ता उसके समृद्ध तेल कूपों तथा भारत और यूरोप के बीच वायु-पथ को लेकर थी ।

ईराक की विगडती हुई राजनीतिक स्थिति को देखकर ब्रिटिश सरकार ने शरीफ हुसैन के पुत्र फैजल को ईराक की गद्दी पर बैठने के लिए आमंत्रित किया जिसको कि १९२० में फ्रान्सीसियों ने सीरिया से निकाल दिया था । फजल २३ अगस्त १९२१ को विधिवत ईराक की गद्दी पर बैठा दिया गया ।

फैजल के सिंहासनारूढ़ होने के बाद ईराक के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ । ईराक में सरक्षित पद्धति के बढ़ते हुए विरोध को देख कर ब्रिटेन ने उसके साथ एक ऐसी सन्धि कर लेना श्रेयस्कर समझा जिसके द्वारा यथासम्भव सम्माननीय ढंग से ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा हो सके । फैजल ब्रिटेन के प्रति अनुग्रहीत पहले से ही था । अत: १० अक्टूबर १९२२ को दोनों देशों के मध्य एक सन्धि सम्पन्न हुई । इस **'आंग्ल-ईराकी सन्धि'** के अनुसार ईराक स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर शाह फैजल का सलाहकार हो गया। इस सलाहकार का काम ईराक के आर्थिक सैनिक और वैदेशिक मामलों में परामर्श देना था । इस सन्धि में "संरक्षण की व्यवस्थाएं, शत्रु के समर्पण की शर्तों के उन्मूलन की पूर्ति के लिए न्यायालय सम्बन्धी मामलों की गारन्टी और ईराक में ब्रिटेन के विशेष स्वार्थों की गारन्टी" समाविष्ट थीं । इस तरह सन्धि में प्राय: उन सभी अधिकारों का समावेश कर दिया गया जो बिटेन को एक संरक्षक राज्य की हैसियत से मिल सकते थे । प्रारम्भ में यह सन्धि २० वर्ष के लिए की गयी थी, परन्तु आगे चलकर इसकी अवधि घटाकर ४ वर्ष करदी गयी इस सन्धि द्वारा ईराक में अपने हितों को सुरक्षित बना लेने के बाद ब्रिटेन ने ईराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनवा देने में अपने प्रभाव का उपयोग किया ।

यह स्पष्ट था कि ईराकियों को उपरोक्त सन्धि से सन्तोष नहीं हुआ । वे तो ब्रिटिश गुलामी से शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होना चाहते थे । परन्तु ब्रिटिश सरकार भी अपने हितों के प्रति पूर्ण सजग थी । अत: मार्च १९२३ में ईराक में **एक संविधान सभा (Constituent Assembly) की रचना की गयी** जिसने जून में अक्टूबर १९२२ की सन्धि स्वीकार कर ली । २१ मार्च १९२५ को ईराक में नया संविधान लागू होना घोषित कर दिया गया ।

परन्तु इस तरह की किसी भी व्यवस्था से ईराकियों को संतोष नहीं हुआ और राष्ट्रवादियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए अपना आन्दोलन जारी रखा । परिणामस्वरूप **१९३० में एक नयी आंग्ल-ईराकी सन्धि** उत्पन्न हुई जिसके द्वारा ब्रिटेन ईराक में अपना संरक्षण समाप्त करने को और साथ ही ईराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने में पूरा समर्थन देने को सहमत हो गया । परन्तु इस सन्धि के द्वारा ब्रिटेन ने ईराक में अनेक व्यापक अधिकार बनाये रखें । इसमें विदेशी मामलों में सहयोग तथा युद्ध की अवस्था में पारस्परिक सहायता की व्यवस्था की गयी जिसमें ब्रिटिश सेनाओं के यातायात सम्बन्धी एवं सभी सुविधाओं सम्बन्धी, सहायता और मार्ग सम्बन्धी अधिकार भी शामिल थे । ब्रिटेन को बसरा नगर के निकट और यूफ्रेटस (Euphrates) नदी के पश्चिम में हवाई अड्डे बनाने का अधिकार मिला तथा हेवानिया

(Havvaniyah) और साहिबाह (Sahibah) में ब्रिटिश सेनाएं रखने का अधिकार भी मिला। इतने व्यापक अधिकारों को प्राप्त कर लेने के उपरान्त ब्रिटेन के प्रयासों के फलस्वरूप ३ अक्टूबर, १९३२ को ईराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। राष्ट्रसंघ की परिषद् (Council) ईराक के प्रवेश के लिए इस शर्त पर सहमत हो गयी कि वह "अल्पसंख्यकों के अधिकारों न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्य सुरक्षाओं की गारन्टी करे। राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने के उपरान्त संरक्षण व्यवस्था को विधिवत समाप्त कर दिया गया। इस तरह सैनरिमो सम्मेलन द्वारा प्रदत्त तीन संरक्षित प्रदेशों में से एक का अन्त हो गया।

जून १९३० की उपरोक्त सन्धि में ईराक पर इतनी शर्तें लाद दी गयी थी कि एक स्वतन्त्र राज्य बन जाने पर भी वास्तव में प्रत्येक दृष्टिकोण से वह पूर्णतया ब्रिटेन के संरक्षण में ही रहा। फलस्वरूप ईराक में राष्ट्रवादियों ने इस सन्धि का विरोध करना निरन्तर जारी रखा। सितम्बर १९३३ में शाह फैजल की मृत्यु हो गयी और उसका युवक पुत्र गाजी गद्दी पर बैठा जो अनुभव शून्य होने के कारण शासन करने में विफल रहा। परिणाम यह हुआ कि १९३६ में सेना ने सत्ता अपने हाथ में ले ली। कुछ काल के लिए जनरल बक्र सिदिकी के हाथ में शक्ति आ गयी। परन्तु ब्रिटेन और ईराक के मध्य हार्दिक सम्बन्ध फिर भी स्थापित नहीं हुए। इसके साथ ही ईराक में कुछ अन्य समस्याएं भी उठ खड़ी हुई जिनमें सबसे कठिन थी उसके गैर-परबी अल्पसंख्यकों की। एक तरफ तो ईराक अपने बीच असीरियन अल्पसख्यकों को सहन नहीं कर पा रहा था तो दूसरी ओर कुछ अल्पसंख्यक अपने लिए कुर्दिस्तान की मांग कर रहे थे। असंतोष के वातावरण में ईराकी सेनाओं ने लगभग ५०० असीरियनों की हत्या कर दी जिसके लिए बाद में जेनेवा में ईराकी प्रतिनिधि ने अत्यन्त दु:ख प्रकट किया और विनीत शब्दों में यह वचन दिया कि ईराक उन असीरियनों को सहायता देगा जो ईराक छोड़कर अन्यत्र बसने की इच्छा प्रकट करेंगे। कुर्दों के लिए ब्रिटेन ने ईराक को फुसलाने की कोशिश की कि वह कुर्दिस्तान प्रान्तों को एक विशेष शासन प्रदान करे। परन्तु ये प्रयत्न विफल रहे क्योंकि कुर्दों ने खुले आम विद्रोह प्रारम्भ कर दिया और उन्हें बलपूर्वक कुचल दिया गया।

अमैत्री के वातावरण में ब्रिटेन और ईराक के सम्बन्ध बिगड़ते चले गये। १९३६ में सेना द्वारा शक्ति-अपहरण के पश्चात ईराक में नाजीवाद की भावनाएं उभर आयीं। जर्मन सरकार ने अवसर का लाभ उठाते हुए ईराकी राष्ट्रवादियों में 'ब्रिटेन के विरुद्ध शत्रुता' और 'तानाशाही राज्यो की प्रशंसा' का तीव्र प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। अप्रैल १९३९ में सम्राट गाजी एक मोटर दुर्घटना में मर गया और ईराकियों ने यह सन्देह किया कि इसमें ब्रिटेन का हाथ है। गाजी के बाद बालक फैजल द्वितीय ईराक की गद्दी पर बैठा।

सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर १९३० की आंग्ल ईराकी सन्धि के अनुसार ईराक ने धुरी राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध समाप्त कर लिये। परन्तु ईराक में ब्रिटेन को दी जाने वाली सहायता के प्रश्न पर राजनीतिक मतभेद थे। राष्ट्रवादियों की मांग थी कि युद्ध न किया जाय और जर्मनी के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये जांय। अप्रैल

१९४१ में ईराक में दूसरी बार सैनिक क्रान्ति हुई और सैनिक अधिकारी रशीद अली किलानी ने सम्राट से सत्ता छीन ली। नयी सरकार ने अपनी युद्ध-अप्रियता घोषित कर दी, किन्तु धुरी राष्ट्रों का पक्ष लिया। इस घटना से ईराक और ब्रिटेन के सम्बन्ध विशेष रूप से बिगड़ गये। रशीद अली किलानी फासिस्ट विचारों का व्यक्ति था। मई १९४२ में उसने ब्रिटिश सेनाओं को अपने प्रदेश में से गुजरने की अनुमति नहीं दी। लेकिन ब्रिटिश सरकार बहुत सतर्क थी। उसने स्थिति विशेष बिगड़ने से पहले ही ईराक पर आक्रमण कर दिया, रशीद अली की सरकार को उखाड फैंका और सम्राट फैजल द्वितीय को वापिस गद्दीनशीन करके अपने अनुकूल सरकार का निर्माण कर लिया। बालक फैजल के संरक्षक शासनकर्त्ताओं ने ब्रिटेन के साथ समस्त विरोध समाप्त कर दिये और मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयत्नों में पूरा सहयोग दिया। जनवरी १९४३ में ईराक ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और १९४५ में राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र पर भी हस्ताक्षर किये।

सीरिया और लेबनान
(Syria and Lebanon)

सीरिया के उत्तर में टर्की, पश्चिम में लेबनान और भूमध्य सागर, दक्षिण में फिलस्तीन व ट्रान्सजोर्डन और दक्षिण-पूर्व में ईराक हैं। इसका दक्षिणी भाग एक विस्तृत रेगिस्तान है। लेबनान समकोण चतुर्भुज की शक्ल में है। जिसके उत्तर में सीरिया, पश्चिम में भूमध्य सागर, दक्षिण में जोर्डन और फिलिस्तीन हैं। सीरिया और लेबनान दोनों ही के अधिकांश निवासी अरबी भाषा बोलते हैं और अपने आप को अरब मानते हैं। इन दोनों देशों की लगभग आधी जनसंख्या कृषि-व्यवसाय करती है। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग खानाबदोश है और शेष नगर निवासी।

सीरिया और लेबनान दोनों १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में टर्की साम्राज्य के अंग थे। उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता का आरम्भ प्रथम महा-युद्ध के बाद लोसाने या लासेन की संधि (Treaty of Lausanne) के अनुसार शुरू हुआ। युद्ध के बाद सीरिया और लेबनान फ्रान्स-संरक्षित प्रदेश बने। १९२० में हेजाज के राजा हुसैन के पुत्र अमीर फैजल (Emir Faisal) को सीरिया का सम्राट घोषित किया गया। किन्तु उसे मित्रराष्ट्रों का समर्थन न मिलने के कारण सीरिया का परित्याग करना पड़ा और बाद में वह ईराक में गद्दीनशीन हुआ।

सीरिया और लेबनान दोनों ही फ्रांस के संरक्षण से मुक्ति के आकांक्षी थे और दोनों ही देशों में राष्ट्रवादी इसके लिए फ्रान्सीसियों से संघर्ष करने लगे। सौभाग्यवश लेबनान की आन्तरिक दशा सीरिया से अच्छी थी। लेब-नान में गणतंत्र सरकार थी जो फ्रान्सीसी सहायता से अपना कार्य करती थी। फ्रान्स का भी व्यवहार लेबनान में बहुसंख्यक अरब ईसाइयों से अच्छा था। अतः छोटी-मोटी शिकायत होते हुए भी लेबनान फ्रेन्च संरक्षण से लगभग संतुष्ट था, यद्यपि लेबनान के राष्ट्रवादियों और फ्रान्स में शांति वार्ता चलती रहती और इस दौरान कभी-कभी दंगे और प्रदर्शन भी होते रहते थे। १९२५ लेबनान के लिए विधान बनाया गया जिसके अनुसार वहां संसदीय शासन

की व्यवस्था की गयी। किन्तु इसके बाद लेबनान के अरबों और ईसाइयों में राजनीतिक तनाव शुरू हो गया, अत: १६३४ में लेबनान के लिए पुन: एक नवीन विधान बनाया गया जिसके द्वारा ससद की प्रतिनिधित्व प्रणाली में कुछ हेर-फेर कर दिया गया। धीरे-धीरे लेवनान में यह प्रथा स्थापित हो गई कि लेबनान का राष्ट्रपति ईसाई होगा और प्रधानमंत्री सुन्नी मुसलमान। नवम्बर १६३६ में एक फ्रेन्च-लेबनान संधि हुई जो १६३० की ग्रांग्ल-ईराकी संधि के अनुरूप थी। यह संधि २५ वर्ष तक के लिए हुई जिसमें फ्रान्स ने यह वचन दिया कि संधि की पुष्टि हो जाने के उपरान्त ३ वर्ष के भीतर ही वह लेबनान को राष्ट्रसंघ में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करेगा। बदले में लेबनान इस बात पर सहमत हुआ कि सधि काल में फ्रान्स लेवनान में हर प्रकार के शस्त्रों की स्थलीय सेनाएं रख सकेगा और उन पर स्थान व संख्या सम्बन्धी कोई बधन नहीं होगा। किन्तु सिर पर मंडराते द्वितीय महायुद्ध की आशंका से फ्रान्सीसी संसद ने संधि की पुष्टि नहीं की।

सीरिया की राजनीतिक स्थिति शुरू से ही एकदम अशान्त रही। सीरियाई लोगों ने आरम्भ से ही फ्रान्स के संरक्षण का तीव्र विरोध किया। १६२५ में सीरिया में फ्रेन्च नीतियों के विरोध विद्रोह फूट पड़ा जिसका दमन फ्रेन्च सरकार ने बमवर्षा करके किया और १६२७ में जाकर विद्रोह शान्त हो गया।

राष्ट्रसंघ के संरक्षण आयोग ने फ्रेन्च सरकार के इस दमन कार्य की निन्दा की। जुलाई १६२७ में फ्रांस ने पांसों को सीरिया का नया हाई-कमीशनर बनाकर भेजा जिसने पद ग्रहण करते ही सीरिया के लिए एक संविधान बनाने की दिशा में कर्य करना शुरू किया। १६२८ में एक संविधान सभा का आयोजन किया गया, किन्तु उसमें बहुमत राष्ट्रवादियों का था। जब उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की तथा संविधान के मसविदे में अनेक फ्रेन्च विरोधी उपबन्ध प्रस्तुत किये तो सभा को अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर दिया गया। मई १६३० में पांसों ने स्वयं एक संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसके अनुसार सिरिया में गणतंत्रात्मक शासन की स्थापना की जानी थी। फ्रेन्च दबाव के कारण सीरिया को यह संविधान मंजूर करना पड़ा। १६३२ में इस संविधान के अनुसार चुनाव हुए और सीरियायी राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक मंत्रिमण्डल की स्थापना हुई।

इस समय पड़ौसी राष्ट्रो की राजनीति से प्रभावित होकर सीरिया के राष्ट्रवादी भी फ्रान्स के साथ सम्मानजनक सम्बन्धों की स्थापना करने को सचेष्ट हुए। उनकी मान्यता थी कि सीरिया निवासी स्वायत्त शासन के लिए काफी योग्य हो गये थे। सीरियनों के आक्रोश को संतुष्ट करने के लिए फ्रान्स ने १६३३ में सीरिया की अपनी कठपुतली सरकार के साथ एक संधि वार्ता की जिसके अनुसार सीरिया की सुरक्षा और परराष्ट्र नीति २५ वर्षों तक फ्रान्स के नियन्त्रण में रहने वाली थी। सीरिया के राष्ट्रवादियों ने संधि का घोर विरोध किया और सीरियायी संसद ने इसका अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया। जब संसद का अनुमोदन प्राप्त करना असम्भव समझा तो फ्रेन्च अधिकारियों ने संसद को अनिश्चित काल तक के लिए भंग कर दिया तथा सीरिया के संविधान को विलम्बित कर दिया गया। इस प्रकार

की घटनाओं से सीरिया के राष्ट्रवादियों ने विक्षुब्ध होकर फ्रेन्च साम्राज्यवाद के विरुद्ध मिश्री राष्ट्रवादियों के समान ही विद्रोह करना शुरू कर दिया। फ्रान्सीसियों और सिरिइयों के मध्य मुठभेड़ें होने लगीं और ग्राम हड़तालें शुरू हो गयीं। अन्त में बाध्य होकर फ्रेन्च हाई कमीशनर को राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक सरकार का संगठन करना पड़ा तथा सीरियायी विद्रोह से बचने के लिए फ्रान्स ने एक सीरियायी प्रतिनिधि मण्डल को संधि वार्ता के लिए पेरिस आमंत्रित किया। ९ सितम्बर १९३६ को फ्रान्स और सीरिया के मध्य एक संधि सम्पन्न हो गई जिसके अनुसार तीन वर्ष पश्चात् सीरिया को स्वतन्त्रता प्रदान की जाने वाली थी। संधि के द्वारा सीरिया के राष्ट्रसंघ का सदस्य होने पर लागू होने वाली थी और सीरिया को राष्ट्रसंघ की सदस्यता इस संधि के अनुमोदन के ३ वर्ष के भीतर प्राप्त करायी जानी थी। साध के द्वारा फ्रान्स को सीरिया की भूमि पर सेना तथा सीरियायी परराष्ट्र नीति पर नियंत्रण रखने का अधिकार दिया गया था। इस संधि पर भी, लेबनान के साथ की गई संधि की घटना की पुनरावृत्ति हुई, अर्थात् महायुद्ध की आशंका को सन्निकट फ्रान्स की संसद ने संधि का अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया और दूसरी ओर सिरिया के उग्रराष्ट्रवादियों ने भी पूरी तरह इसका विरोध किया। इसी समय से फ्रान्स और सीरिया के सम्बन्ध और भी तेजी से बिगड़ने लगे जिसका एक अन्य प्रमुख कारण यह था कि फ्रान्स अलेक्जांड्रिया का जिला टर्की को देने की बातचीत कर रहा था। जून १९३९ में फ्रान्स ने टर्की के साथ एक समझौता भी कर लिया जिसके अनुसार यह जिला टर्की को इस शर्त पर सौंप दिया गया कि वह सिरिया पर अपने सभी दावों का परित्याग कर देगा और उस देश में फ्रान्स विरोधी कोई कार्यवाही नहीं करेगा। सीरिया के विखण्डन की नीति के फलस्वरूप सीरियावासियों ने उपद्रव पुनः प्रारम्भ कर दिये तथा ७ जुलाई १९३९ को सीरिया के राष्ट्रपति ने फ्रेन्च नीति के विरोध में परित्याग कर दिया। इसके बाद सीरिया की संसद भंग कर दी गयी और फ्रेन्च हाई कमीशनर का निरंकुश शासन आरम्भ हो गया।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। फ्रान्स के पतन के साथ ही सीरिया और लेबनान का जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण हो गया। १९४१ में सीरियायी सरकार ने जो जर्मनी के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुकी थी, सीरियायी हवाई अड्डे जर्मनी के लिए खोल दिये। परिणामतः एक ब्रिटिश फौज ने भयंकर आक्रमण करके सीरिया और लेबनान पर कब्जा कर लिया, यद्यपि इसी समय ब्रिटेन और 'स्वाधीन फ्रान्स' (Free France) ने यह घोषणा की कि यथाशीघ्र सीरिया और लेबनान का शासन उनके देशवासियों के हाथ में ही सौंप दिया जायगा। १९४१ में फ्रेन्च जनरल कार्ट्रो [Cartraux] ने सीरिया और लेबनान को शीघ्र ही स्वतंत्रता देने की घोषणा की। परन्तु ज्यों-ज्यों युद्ध मित्रराष्ट्रों के अनुकूल होता गया फ्रान्स सीरिया और लेबनान में अपने साम्राज्यवादी पग रोपे रहने का प्रयास करने लगा। परिणामस्वरूप दोनों ही देशों में उपद्रव पुनः भड़क उठा। फ्रान्सीसी वायुसेना ने दमिश्क (Damascus) पर बम वर्षा करके आतंक फैला दिया। इस स्थिति में ब्रिटेन ने मध्यपूर्व में अपने हितों की सुरक्षा का ख्याल करते हुए सीरियायी

मामलों में हस्तक्षेप किया। १९४६ में फ्रान्स और ब्रिटेन ने सीरिया और लेबनान से अपनी फौजें हटालीं और इन देशों को सेन-फ्रान्सिसको (San-Francisco) सम्मेलन में भाग लेने की अनुमति प्रदान की। १९४६ में इनको स्वतंत्रता की मान्यता प्राप्त हुई।

[७] सऊदी अरब (Saudi Arabia)

सऊदी अरब अरब प्रायद्वीप का एक भाग है जिसके उत्तर में जोर्डन तथा ईराक है, पूर्व में फारस की खाड़ी है, पश्चिम में लाल सागर और दक्षिण में रेगिस्तान। यद्यपि यह देश मुख्यत: कृषि प्रधान है परन्तु तेल की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। सऊदीअरब की संस्थापक इब्न सऊद (Ibnsaud) था और दो महायुद्धों के बीच के काल में वह अखिल अरब आन्दोलन (Pan-Arab Movement) का अग्रणी बना रहा।

१९१५ में हुई एक संधि के द्वारा ब्रिटेन ने सऊदी अरब की स्वतंत्रता स्वीकार की और इब्न सऊद ने प्रथम महायुद्ध में अपनी तटस्थता का वचन दिया! जब अमीर हुसैन ने १९१६ में स्वयं को अरबों का शासक घोषित किया तो इब्न सऊद के साथ इसके शत्रुतापूर्ण व्यवहार हो गये। चूंकि ब्रिटेन अरब के अन्य देशों को स्वतंत्रता देने का वायदा कर चुका था अत: वह अमीर हुसैन के स्वयं-आरोपित दावे को स्वीकार न कर सका और उसने यह घोषित किया कि वह अमीर हुसैन को केवल हेजाज का सम्राट मानता है। युद्ध के दौरान मिश्र स्थित ब्रिटिश हाई कमीशन ने हुसैन को यह आश्वासन दिया कि युद्ध की समाप्ति पर उसके शासनान्तर्गत अरब स्वतंत्रता प्रदान की जायगी। इब्न सऊद को अमीर हुसैन के दावे और ब्रिटिश हाई कमीशनर के हुसैन को दिये गये वचन आदि से बड़ा असन्तोष हुआ और उसने पड़ोसी देशों को यह उकसाना चालू किया कि वे हेजाज से अपने सम्बन्ध तोड़ दे। इन कार्यवाहियों के फलस्वरूप हुसैन और इब्न सऊद में १९१९ में खुला संघर्ष छिड़ गया जिसमें इब्न सऊद की विजय हुई। किन्तु चूंकि ब्रिटेन का समर्थन इब्न सऊद और हुसैन दोनों को ही प्राप्त था, अत:, ब्रिटिश समर्थन खो बैठने के भय से, इब्न सऊद ने कुछ समय तक संयमपूर्ण व्यवहार बर्ता।

इसी मध्य हुसैन और ब्रिटेन के मध्य एक विवाद उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश हाई कमीशनर हुसैन से यह वायदा कर चुका था कि युद्ध की समाप्ति के बाद उसके शासन के अन्तर्गत अरब विश्व को स्वतंत्रता प्रदान की जायगी। किन्तु हुसैन की महत्वाकांक्षा को तब बहुत ही ठेस पहुंची जब महायुद्ध के बाद फिलस्तीन और सीरिया में क्रमश: ब्रिटेन और फ्रान्स का संरक्षण स्थापित कर दिया गया। कुपित होकर हुसैन ने वर्साय की संधि की पुष्टि करने से और साथ ही लोसाने या लासेन सम्मेलन (Lausanne Conference) में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। परिणाम स्वरूप मित्र राष्ट्र उससे रुष्ट हो गया। शाह हुसैन ने कुछ और भी अनुचित तथा अमैत्रीपूर्ण कार्यवाहियों की। उसने मक्का जाने वाले मिश्री धर्म यात्रियों (Egyptian pilgrims) पर प्रतिबन्ध लगा दिये और इसी तरह के अन्य शत्रुतापूर्ण कार्यों से मिश्र को भी नाराज कर दिया। उसने एक और भी भयंकर गलती की। सन् १९-२४ में 'खलीफा' (Khalifa) की उपाधि धारण करके सम्पूर्ण मुस्लिम

संसार की भावनाओं को आघात पहुंचाया। हुसैन के विरुद्ध मुस्लिम संसार का प्रतिक्रियाओं का लाभ उठाते हुए इब्न सऊद ने हुसैन पर आक्रमण कर दिया। हुसैन पराजित हुआ और भाग गया। हुसैन को इस तरह राजनीतिक और आध्यात्मिक पद से मुक्ति प्रदान करके १९२६ में इब्न सऊद हेजाज का राजा बन बैठा। अपनी सूझ-बूझ पूर्ण कूट नीति और युद्ध नीति का सहारा लेकर वह अरब राष्ट्रवाद का नेता बन गया और अरब प्रायद्वीप को उसने एक सूत्र में बांध दिया। अब इब्न सऊद ने पड़ौसी राज्यों पर अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया किन्तु शीघ्र ही, सऊदी अरब तथा ट्रान्स जोर्डन के मध्य सीमांकन करने की समस्या को लेकर, इब्न सऊद और ब्रिटेन के मध्य विवाद उठ खड़ा हुआ परन्तु १९२७ में तब दोनों देशों के मध्य शांति पुनर्स्थापित हो गयी जब सऊदी अरब और ब्रिटेन के मध्य 'जिद्दा की संधि' (Treaty of Jidda) पर हस्ताक्षर हो गये, जिसके द्वारा ब्रिटेन ने इब्न सऊद को हेजाज (Hejaz), नेज्द (Nejd) और इसके अधिराज्यों का प्रभुत्व सम्पन्न स्वाधीन शासक स्वीकार किया। ट्रान्स जोर्डन के सरहदी संघर्ष इसी मित्रता पर निर्भर करते थे। जिद्दा की संधि द्वारा इब्न सऊद ने ब्रिटेन के संरक्षण में चलने वाले फारस की खाड़ी के सभी शेख साम्राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने का दायित्व लिया। सितम्बर १९३२ में इब्न सऊद ने अपने आपको सऊदी अरब का सम्राट घोषित किया।

इब्न सऊद के कुशल नेतृत्व में अखिल-अरब आन्दोलन (Pan-Arab Movement) शनैः शनैः प्रगति करता गया। किन्तु शीघ्र ही सऊदी अरब और यमन के मध्य संघर्ष उठ खड़ा हुआ। १९३४ में वह यमन के इमाम के साथ युद्धरत हो गया। युद्ध में परास्त होकर यमन ने इब्न सऊद के साथ एक संधि करली जो 'इस्लामी मैत्री और अरब भ्रातृत्व की संधि' (Treaty of Islamic Friendship and Arab Brotherhood) के नाम से विख्यात है। इस संधि के फलस्वरूप सऊदी अरब की स्थिति दक्षिण में और भी अधिक सुरक्षित हो गयी। अरब समाज में संगठन लाने की दृष्टि से अप्रैल १९३६ में इब्न सऊद ने "अरब भ्रातृत्व और मैत्री (Arab Brotherhood and Alliance) नामक संधि ईराक के साथ सम्पन्न की। इसी वर्ष मई में मिश्र के साथ भी एक मैत्री-संधि सम्पन्न की गयी।

सऊदी अरब का बढ़ता हुआ प्रभाव ब्रिटेन के लिए लाभदायक था, क्योंकि इब्न सऊद ब्रिटेन के प्रति मैत्रीपूर्ण था। इस समय इटली ब्रिटेन का कठोर आलोचक बना हुआ था और अरब विश्व में भी ब्रिटेन के विरुद्ध अपना घृणा पूर्ण प्रचार फैलाने में लगा हुआ था। अन्त में १९३८ में ब्रिटेन और इटली के मध्य एक संधि सम्पन्न हो गयी। इस संधि के द्वारा सऊदी अरब और यमन में क्रमशः ब्रिटेन और इटली के हितों को मान्यता मिली और दोनों ही शक्तियों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे मध्यपूर्वीय देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर, मित्र राष्ट्रों के पक्ष में, सऊदी अरब निष्पक्ष रहा और सम्पूर्ण युद्ध काल में मित्र राष्ट्र भी सऊदी अरब के प्रति सहयोगपूर्ण रहे तथा अमेरिका ने उसे विशाल आर्थिक सहायता दी। तेल का पता लग जाने के कारण सऊदी अरब की राजनीति में अमेरिकन प्रवेश पहले ही आरम्भ हो चुका था और

वहां अमेरिकन तेल कम्पनी को तेल निकालने का अधिकार मिला। १९३३ में स्थापित होने के बाद १९३९ में इस कम्पनी को विशेष सुविधाएं मिल गयी। द्वितीय महायुद्ध के बाद सऊदी अरब में एक अमेरिकन सैनिक अड्डा स्थापित कर दिया गया और इस तरह अमेरिका ने मध्य-पूर्व में एक विश्वस्त मित्र प्राप्त कर लिया। युद्ध में सऊदी अरब तटस्थ रहते हुए भी धुरी राष्ट्र विरोधी बना रहा और याल्टा सम्मेलन (Yalta Conference) के बाद सऊदी अरब ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। फलस्वरूप उसे सान-फ्रान्सिसको सम्मेलन में सम्मिलित होने की अनुमति मिल गयी।

(८) मध्य-पूर्व के अन्य देश
(Other Countries of Middle East)

मध्य पूर्व अथवा पश्चिम एशिया के सभी प्रमुख देशों के १९१९ से १९४५ तक की अवधि के वैदेशिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाल चुकने के उपरान्त अब हम संक्षेप में इस क्षेत्र के कुछ अन्य छोटे और कम महत्वपूर्ण राज्यों की चर्चा करेंगे।

साइप्रस—लगभग ३.५७२ वर्गमील के क्षेत्रफल का यह टापू पूर्वी भूमध्य सागर में स्थित है। १८७८ में इसे टर्की के सुल्तान ने ब्रिटेन को पट्टे पर दिया था। १९१४ तक सुल्तान को पट्टा-किराया नियमित रूप से चुकाया जाता रहा, लेकिन प्रथम महायुद्ध काल में ब्रिटेन ने टापू को अपने में मिला लिया। १९२५ में साइप्रस को 'सम्राट का उपनिवेष' बना लिया गया और शासन के लिए सम्राट की ओर से वहां एक गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। साइप्रस की बहुसंख्यक जनसंख्या ग्रीक यह चाहती थी कि साइप्रस ग्रीस (यूनान) के साथ एकताबद्ध हो जाय। ब्रिटेन द्वारा विरोधी रुख अपनाये जाने पर साइप्रस के ग्रीकों ने अपनी मातृभूमि से पुर्नमिलन के लिए आन्दोलन आरम्भ कर दिया। १९३९ में, महायुद्ध के शुरू होने पर, ग्रीस ने ब्रिटेन का पक्ष लिया और तब साइप्रस के ग्रीक भी, ब्रिटेन से नाराज होने पर भी मित्र राष्ट्रों से मिल गये। साइप्रस की जनता को आशा थी कि युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन उनकी अभिलाषाएं पूर्ण करेगा। लेकिन उनकी यह आशा निराशा में बदल गई और उन्हें अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए फिर से आन्दोलन छेड़ना पड़ा।

कुवैत—फारस की खाड़ी के अरबी तट पर स्थित अनेक शेख राज्यों में से एक कुवैत के शासक मुबारक ने १८९९ में अपने आप को ब्रिटेन के संरक्षण में रख दिया था। १९१४ में ब्रिटेन ने शेख को यह लालच दिया कि अंग्रेजों को बसरा के अपहरण में सहायता देने के बदले में कुवैत को ब्रिटिश संरक्षण में एक स्वतन्त्र राज्य स्वीकार कर लिया जायगा। परन्तु ब्रिटेन की गिद्द-दृष्टि तो कुवैत के तेल भण्डारों पर थी। अतः वचन से मुकरते हुए युद्ध काल में ब्रिटिश फौज़ों ने कुवैत पर कब्जा कर लिया।

प्रथम महायुद्ध के बाद ईराक और सऊदी अरब ने कुवैत को अपने अधिकार में लाने के असफल प्रयत्न किये। शेख ब्रिटिश संरक्षण का लाभ उठाते रहे। जब १९४५ में अरब लीग का निर्माण हुआ तो भी कुवैत उसमें

शामिल नहीं हुआ। कुवैत के शेख ने तेल के निर्यात द्वारा अपनी आर्थिक समृद्धि की नीति जारी रखी।

ट्रान्स जोर्डन—प्रथम महायुद्ध में सुलतान की शक्ति के पतन तक ट्रान्स-जोर्डन टर्की साम्राज्य का एक भाग था जिसके पूर्व में ईराक, दक्षिण में अरबियन प्रायद्वीप, पश्चिम में फिलस्तीन और पूर्व में सीरिया थे। अप्रेल १९२० में सेनरिमो सम्मेलन (San Remo Conference) द्वारा ब्रिटेन को फिलस्तीन पर संरक्षण प्रदान किया गया। ट्रान्सजोर्डन भी यहूदियों की इच्छाओं के अनुकूल इसमें शामिल किया गया लेकिन संरक्षित शक्ति (Man-Latory Power) को यह अधिकार था कि इसमें यहूदियों को बसने की अनुमति न दे। ब्रिटेन के लिए आदेशित या सरक्षित सम्पूर्ण प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से जोर्डन नदी द्वारा विभाजित हुआ। ट्रान्स जोर्डन इसके पूर्व में स्थित था तो फिलस्तीन पश्चिम में। सन् १९२२ में ब्रिटेन ने ट्रान्स जोर्डन को एक अर्द्ध-स्वाधीन अरब राज्य बना दिया। मक्का के शरीफ हुसैन के पुत्र अब्दुल्ला को इसका शासक स्वीकार किया गया। ट्रान्स जोर्डन और ब्रिटेन के मध्य २० फरवरी १९२८ की एक संधि द्वारा अन्तिम रूप से संबंधों का निश्चय हुआ जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार ने ट्रान्स जोर्डन को स्वाधीन मान लिया और अमीर अब्दुल्ला ने वैदेशिक सम्बन्धों में ब्रिटिश सरकार के परामर्श से सचालित होना स्वीकार किया। २ जून १९३४ को ट्रान्स जोर्डन को अरब राज्यों में राजदूत के रूप में प्रतिनिधि नियुक्त करने की अनुमति मिली। मई १९३९ में ट्रान्स जोर्डन के लिए एक मंत्रिमण्डल नियुक्त करने की व्यवस्था हुई। इसके बाद देश पूर्ण स्वायत्त शासन की ओर बढ़ने लगा। मार्च १९४५ में ट्रान्स जोर्डन एक स्वतंत्र राज्य के रूप में सम्मिलित हो गया।

EXERCISES

1. Discuss the main features of the Middle Eastern Politics between the two World Wars.
   दो महायुद्धों के बीच की मध्यपूर्वीय राजनीति के मुख्य लक्षणों की विवेचना कीजिये।
2. Describe the problems that Turkey confronted immediately after the First World War. How were those solved ?
   उन समस्याओं का वर्णन कीजिये जिनका द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद टर्की को सामना करना पड़ा। उन्हें कैसे हल किया गया ?
3. What were the factors that complicated the settlement of the problems connected with the former Ottoman Empire after the First World War ?
   वे कौन से कारण थे जिन्होंने प्रथम महायुद्ध के बाद पूर्ववर्ती ओटोमन साम्राज्य से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान को जटिल बना दिया ?
4. Analyse the basic features of the foreign policy of the Turkish Republic between the two World Wars.
   दो महायुद्धों के बीच के तुर्की गणतन्त्र की विदेश नीति के आधारभूत लक्षणों का विश्लेषण कीजिए।

'. Discuss the International policy of Kamalist Turkey.
कमालपाशाकालीन टर्की की अन्तर्राष्ट्रीय नीति की विवेचना कीजिए।

ƽ. Give a brief history of Palestine between the two World Wars.
दो विश्व-युद्धों के मध्यवर्ती फिलिस्तीन का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

7. How has the Zionist problem influenced the course of International politics in the Middle East ?
यहूदी समस्या ने मध्यपूर्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मार्ग को किस तरह प्रभावित किया ?

8. Discuss the dualism in Britain's Palestine policy.
ब्रिटेन की फिलस्तीन नीति में दुरंगेपन की विवेचना कीजिए।

9. How Turkey replaced the dictated Treaty of Sevres by the negotiated Treaty of Lausanne ?
टर्की में सेव्र की आरोपित संधि के स्थान पर लोसाने की संधि किस प्रकार प्रस्थापित की।

0. Discuss the nature of the Palestine problems. Describe the various attempt that were made to solve these problems between 1919 and 1945.
फिलस्तीन-समस्याओं के स्वरूप अथवा उसकी प्रकृति की विवेचना कीजिए। उन विभिन्न प्रयासों का वर्णन कीजिए जो इन समस्याओं को सुलझाने के लिए १९१९ और १९४५ के मध्य किए गये।

.1. Describe the Palestine problems between the two World Wars.
दो महायुद्धों के बीच की फ़िलस्तीन की समस्याओं की विवेचना कीजिए।

2. Discuss the nature of Anglo-Egyptian relations from the First World War up to the conclusion of the Anglo-Egyptian Treaty of 1936.
प्रथम महायुद्ध से लेकर १९३६ की आंग्ल-मिस्री संधि के सम्पन्न होने तक के आंग्ल-मिस्री सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

.3. "The history of Palestine during the Twenty year's armistice between two Europeon wars were confused, heetic, contradictory" —Discuss.
"दो यूरोपियन युद्धों के बीच की बीस साला विरामसंधि के दौरान फिलस्तीन का इतिहास उलझन भरा, क्षयशील और विरोधाभासपूर्ण था।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

.4. Trace the growth of Pan-Arab Movement after the First World war, What part did Saudi play in it ?
प्रथम महायुद्ध के बाद अखिल अरब आन्दोलन के विकास को बताइये। इसमें सऊदी अरब ने क्या भूमिका अदा की ?

१२

सुदूर-पूर्व

(THE FAR EAST)

"पश्चिम मूलतः इस इच्छा से पूर्व की ओर गया कि
वह पूर्व में उत्पन्न होने वाली चाय, मसाले,
सिल्क जैसी वस्तुएं प्राप्त कर सके।
१९वीं शताब्दी में आकर यह मूल प्रयोजन बदल गया
और एक नयी इच्छा उत्पन्न हुई कि पश्चिमी
देशों के उपभोक्ताओं की आवश्यकता से
अधिक बनने वाला माल बेचने के
लिए पूर्व के देशों को बाजारों
के रूप में प्रयोग
किया जाये।"

—हेराल्ड एम० विनाके

"चीन के साथ उसके सम्बन्धों में जापान की विशेष स्थिति
के कारण, चीन से सम्बन्धित विषयों में उसके विचार तथा
दृष्टिकोण हो सकता है प्रत्येक बात में विदेशी राष्ट्रों के समान
न हों, परन्तु यह बात समझ ली जानी चाहिए कि जापान
पर पूर्वी एशिया में अपने व्रत (Mission) को पूरा
करने और अपने विशेष उत्तरदायित्वों का निर्वहन
करने के लिए अधिकतम प्रयास करने का
उत्तरदायित्व आ पड़ा है।.........अतः हम
चीन द्वारा जापान का विरोध करने के
लिए किसी अन्य देश के प्रभाव का
उपयोग करने के किसी भी प्रयत्न
का विरोध करते हैं।"

—एजी प्रमाट

सुदूर-पूर्व का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व

सुदूर पूर्व में एशिया के पूर्वी देशों और जापान, चीन तथा फिलिपाइन्स द्वीप समूह का समावेश होता है। विभिन्न जातियों से बसा हुआ यह क्षेत्र पर्वतों, घाटियों, मैदानों और रेगिस्तानों से परिपूर्ण है। किसी समय इस क्षेत्र

में एक अत्यधिक विकसित संस्कृति फली-फूली थी। इसके विपुल प्राकृतिक स्रोतों और सामरिक ठिकानों ने १९वीं शताब्दी के बहुत पहले से ही विश्व के विभिन्न राष्ट्रों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों के इतिहास में यह निर्विवाद रूप से एक अतिशय महत्वपूर्ण स्थान रखे हुए है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही, कच्चे माल और बाजार की खोज में, औद्योगिक दृष्टि से उन्नत यूरोप के देशों तथा सयुक्त राज्य अमेरिका ने, सुदूरपूर्व के क्षेत्र में अपना औपनिवेशिक विकास प्रारम्भ कर दिया। इस सम्पूर्ण प्रदेश के कोयला, इस्पात, टिन, जस्ता, तांबा एव अन्य कच्चे माल के भण्डार ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विकट अखाड़ा अथवा संघर्ष स्थल बना दिया।

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विश्व राजनीति का केन्द्र यूरोप से हट कर चीन हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशमन्त्री जॉन हे (John Hay) ने ठीक ही कहा था 'जो कोई उस शक्तिशाली साम्राज्य (चीन) को समझ लेता है, उसी के हाथ में आने वाली ५ शताब्दियों तक विश्व राजनीति की कुंजी रहनी है।"[1] प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोपियन कूटनीति यूरोप से हटकर प्रशान्त सागरीय क्षेत्र (Pacific Region में अपना अखाड़ा जमाने लगी। इस सम्बन्ध में **जनरल स्मट्स** (General Smets) ने कहा था "मेरे विचार से प्रशासन की समस्याएं अगले ५० अथवा अधिक वर्षों के लिए विश्व की समस्याएं हैं।"[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवहारतः १९२१ से १९४५ तक का सुदूर पूर्व का इतिहास तनाव, सघर्ष एवं संकटों का इतिहास रहा है। इस क्षेत्र के ब्रिटेन, फ्रांस और जापान जैसे प्रमुख साम्राज्यवादी राज्य इस अवधि में न केवल पारस्परिक विरोध और शत्रुता में व्यस्त रहे बल्कि उन्होंने अपने आपको साम्यवादी रूस के साथ भी कटु-शत्रुता में लिप्त रखा।

उत्तर-पूर्वी साइबेरिया के छोर से लेकर भारत की सरहद तक फैले हुए यह विशाल क्षेत्र पाश्चात्य प्रभुत्व (Western Domination) के विरुद्ध होने वाले एशियायी लोगों के राष्ट्रवादी और स्वातन्त्र्य आन्दोलनों का भी मुख्य केन्द्र रहा। पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध उत्पन्न हुए इन राष्ट्रवादी संघर्षों ने सुदूरपूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को और भी बढ़ा दिया।

१९१९ से १९४५ के बीच के सुदूरपूर्वीय इतिहास के लक्षण (**Features of the History of the Far East between 1919 and 1945**– दो महायुद्धों के मध्यवर्ती काल सुदूर पूर्व के प्रमुख देशों के वैदेशिक सम्बन्धों और उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर प्रकाश डालने से पहले उचित होगा कि सुदूर पूर्व की इस युग की राजनीति के कुछ प्रमुख लक्षणों का भी उल्लेख कर दिया जाय जो निम्नलिखित थे—

---

1. "Whoever understands that mighty Empire (China) has a key to world politics for the next five centuries."
—*John Hay*

2. "The problems of the pacific are to my mind the world problems of next fifty years or more."
—*General Smets*

प्रथम, इस अवधि में जापान की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इस युग में चीन, भारत और जापान तीनों ही देशों में राष्ट्रवाद का उदय तेजी से होने लगा था, परन्तु जापान इस मामले में विशेष रूप से अग्रणी रहा और उसने सबसे पहले राष्ट्रीय आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थान प्राप्त किया। उसके बाद चीन और भारत ने अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त की। जापान ने १९३१ से ही अन्तर्राष्ट्रीयता की उपेक्षा आरम्भ करदी और वह उग्र राष्ट्रीयता की दिशा में इतनी तेजी से आगे बढ़ा तथा अपने साम्राज्यवादी इरादों की पूर्ति के लिए ऐसा भयंकर राजनीतिक व सैनिक खेल खेलने में संलग्न हुआ कि अन्ततः १९४५ में मित्रराष्ट्रों के समक्ष, आत्मसमर्पण करके सम्पूर्ण विनाश के मुख से बाल-बाल बचा।

दूसरे, प्रथम महायुद्ध के बाद सुदूर पूर्वीय राजनीति में साम्यवाद के तत्व का उदय हुआ। रूस ने यह अनुभव किया कि चीन की आन्तरिक कलह से लाभ उठाया जा सकता है, अतः उसने चीन में साम्यवादी दल का संगठन आरम्भ कर दिया। शनैः शनैः चीन में साम्यवादी तत्व प्रबल होते चले गये और राष्ट्रवादी शक्तियों के साथ सक्रिय रूप में लोहा लेने लगे। १९३० के बाद से ही चीन में साम्यवादी आन्दोलन ने प्रबल रूप धारण कर लिया और द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर इसका स्वरूप आक्रामक हो गया। चीन के इस गृहयुद्ध में अन्ततः राष्ट्रवादियों की पराजय हुई और १९४९ में वहां साम्यवादी शासन स्थापित हो गया तथा चीन को गणतन्त्र घोषित किया गया।

तीसरे, इस अवधि में सुदूर पूर्व में इन्डोनेशिया, लंका, वर्मा, भारत आदि में राष्ट्रीय और स्वातन्त्र्य आन्दोलन विकसित हुए और ब्रिटेन, फ्रांस तथा हालैंड द्वारा उन्हें कुचलने के हर संभव प्रयत्न किए गये।

चौथे, प्रथम महायुद्ध के बाद वाशिंगटन सम्मेलन से ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने सुदूर पूर्व की राजनीति में एकदम सक्रिय रुचि लेना आरम्भ कर दिया। उसने इस क्षेत्र में मुक्तद्वार (Open door) तथा चीन की सीमाओं की सुरक्षा की नीति अपनायी। मुक्तद्वार नीति का अभिप्राय था मित्रराष्ट्रों के लिए व्यापार की खुली छूट और चीन की सीमाओं की सुरक्षा का अर्थ था चीन की भूमि पर जापान अथवा कोई अन्य शक्ति अपना अधिकार न जमाने पाये। वस्तुतः अमेरिका सुदूर पूर्व में रूस एवं जापान को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके शक्ति-संतुलन स्थापित करना चाहता था। वह इस बात के लिए बड़ा इच्छुक था कि मंचूरिया में अपनी पूंजी के विनियोग के लिए क्षेत्र प्राप्त करे, परन्तु इसकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई। उसने ब्रिटेन को भी अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं में सम्मिलित करना चाहा ताकि वह सुदूरपूर्व में सैनिक शक्ति का प्रयोग कर सके। पर ब्रिटेन के इस चाल में न फंसने पर अमेरिका चीन में लगी हुई अपनी विदेशी पूंजी के लगभग ६ प्रतिशत भाग के लिए सैनिक कार्यवाही करने से कतराता रहा। इस प्रकार संक्षेप में, सुदूरपूर्व के बाजारों में दो महायुद्धों के बीच की अवधि में तीन प्रतिद्वन्द्वी थे—(१) ब्रिटेन और यूरोप के अन्य देश, (२) जापान तथा (३) संयुक्त राज्य अमेरिका। अमेरिका, चीन व जापान के संघर्ष से लाभान्वित होना चाहता था, चीन

जापान के माल का बहिष्कार कर रहा था। इस तरह अमेरिका, चीन और जापान दोनों को माल बेचकर अपना खजाना भरने की होड़ में था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप सुदूरपूर्व से जर्मनी के विलुप्त होने के पश्चात् सुदूरपूर्व में सोवियत रूस जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के परस्पर विरोधी स्वार्थों और अधिकार-लिप्सा का महत्वपूर्ण अखाड़ा बन गया।

प्रस्तुत अध्याय में हम सुदूरपूर्व के दोनों महान देशों जापान और चीन के वैदेशिक सम्बन्धों व उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर प्रकाश डालेंगे।

जापान (Japan)

प्रथम महायुद्ध से पूर्व की पृष्ठभूमि : जापान का जागरण—१९वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक चीन और जापान दोनों ही यूरोपियन लोगों को 'बर्बर' और 'शैतान' समझते थे। उन्होंने अपनी पवित्र मातृभूमियों के द्वार उनके लिए बन्द कर दिये थे। लेकिन जहां १८४०-४२ के अफीम युद्ध द्वारा ब्रिटेन ने चीन को अपने द्वार खोलने पर विवश कर दिया वहां १८५३ में **संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के द्वार खटखटा दिये**। इसका कारण उत्तरी प्रशान्त महासागर में व्हेल मछलियों का शिकार करने वाले अमेरिकन जहाजियों के साथ जापानियों द्वारा किया जाने वाला दुर्व्यवहार था। १८५३ में अमेरिकन नौ-सेनापति पेरी अपने जंगी जहाजों के साथ जापान जा पहुंचा और उसने अमेरिकन नाविकों के साथ सद्व्यवहार की माँग की। १८५४ में वह और अधिक जहाज लेकर जापान पहुंचा और अमेरिकन तोपों के गोलों से बाध्य होकर जापान को अपने दो बन्दरगाह अमेरिकनों के लिए खोलने पड़े। बाद में नागासाकी और योकोहोमा भी इनके लिए खोल दिये गये।

जहां चीन विदेशी घुसपैठ के बाद भी अपनी मोह-निद्रा से नहीं जगा वहां जापान के इतिहास में सूर्योदय और जागरण के एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। चीन अपने प्राचीन सामान्तवादी ढांचे से ही चिपका रहा, परिणामतः यूरोपियन साम्राज्यवादी शक्तियों ने उसका इतना अधिक आर्थिक शोषण किया कि १८९८ तक उन्होंने उसे अपने-अपने 'प्रभाव क्षेत्रों' (Sphers of influence) में बांटकर उसे अर्द्ध-परतन्त्रता की स्थिति में पहुँचा दिया। लेकिन जापान ने तुरन्त ही यह अनुभव कर लिया कि यदि पश्चिम के नवागन्तुकों का प्रभावशाली क्रियात्मक प्रतिरोध करना है तो पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को सीखना होगा, अपने देश का पश्चिमीकरण (Westernigation) करना होगा। फलतः १८६७ के बाद नवयुवक सम्राट मत्सूहितों के उत्साहपूर्ण और क्रियाशील नेतृत्व में जापान में नवीन सुधारों का सिलसिला जारी हुआ और जापान का बड़ी तेजी से आधुनिकीकरण होने लगा। रेलों, मशीनों, जहाजों, कारखानों, बैंकों एवं आधुनिकतम शक्तिशाली सैन्य बल के निर्माण का कार्यक्रम अपनाया गया। फ्रेन्च और जर्मन आदर्श पर सम्पूर्ण कानून-पद्धति का पुनर्निर्माण हुआ। १८७१ में सामन्तवाद की समाप्ति की घोषणा की गयी। १८८९ में प्रशिया के नमूने का एक नवीन संविधान बनाया गया।

जापान ने अपने 'पश्चिमीकरण' के कार्यक्रम में असाधारण तीव्रगति से सफलता प्राप्त की। अपनी नवीन शक्ति और नवीन आकांक्षाओं का पहला

प्रयोग उसने चीन पर किया। कोरिया जापान के तट के सामने चीन का एक वशवर्ती राज्य था। जापान ने देखा कि विदेशी शक्तियां चीन, मन्चूरिया और कोरिया में अपने पांव फैलाकर उसकी सुरक्षा को खतरा पैदा कर रही हैं। अत: सबसे पहले उसने चीनी साम्राज्य के अधीन कोरिया पर, जो उस समय विदेशी घुसपैठ के कारण 'जापान के हृदय से सटी हुई कटार' के समान था, अधिकार करने का निश्चय किया। अपने इस निश्चय के अनुरूप १८९४ में **जापान ने कोरिया पर आक्रमण कर दिया।** इस पर चीन-जापान युद्ध (१८९४-९५) आरम्भ हो गया जिसमें चीन बुरी तरह पराजित हुआ। अन्त में १८९५ ई० में **शिमोनोसेकी की संधि [Treaty of Shimonoseki]** द्वारा चीन को कोरिया की स्वतंत्रता स्वीकार करनी पड़ी, फारमूसा और पेसकाडोर (Pescadores) के द्वीप तथा पोर्टआर्थर के बन्दरगाह सहित मन्चूरिया का लियाओतुंग (Liaotung) प्रायद्वीप जापान को दे देने पड़े।

शिमोनोसकी की संधि के पश्चात् सुदूरपूर्व की राजनीति ने एक नयी दिशा ली। सर्वप्रथम तो इसने जापान की प्रतिष्ठा एवं शक्ति में वृद्धि कर दी। जापान के ऊपर जो असमान संधियां लादी गयीं थी, उन्हें फिर से बदल दिया गया। विदेशियों को जो विशेष अधिकार प्राप्त थे, उन्हें समाप्त कर दिया गया और अब वह चुँगीकर अपने मन से नियमित करने को स्वतंत्र हो गया। इतना ही नहीं, इस विजय से जापान को साम्राज्यवादी प्रयास की ओर प्रेरणा मिली। जापान का साम्राज्यवाद सुदूरपूर्व की राजनीति में एक नवीन समस्या बन गया। सैनिक दृष्टि से समृद्ध जापान को अब अपनी ताकत पर पूरा भरोसा हो गया और यूरोपियन शक्तियों को यह पता चल गया कि जापान एक ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र है जो सैनिक प्रयाण में साझीदार बनकर तैयार रहेगा। इस घटना से चीन की दुर्बलता प्रकट हो गयी, वह विदेशियों की क्षुधा-तृप्ति का सहारा बन गया और उसका अंग-भंग होना निश्चित सा हो गया। दुर्बल और क्षीणकाय चीन में विदेशी शक्तियों ने पैर रोप लिये तथा १८९७-९८ में एक शांतिपूर्ण सुविधाओं के युद्ध' (Battle of Concessions) द्वारा चीन के अधिकांश भाग को उन्होंने अपने प्रभाव क्षेत्रों में विभाजित कर लिया।

जापान के नवीन साम्राज्यवाद के पीले खतरे ने रूस, जर्मनी, फ्रान्स आदि राष्ट्रों के हृदय में भय पैदा कर दिया। जापान की बढ़ती हुई शक्ति यूरोपियन राष्ट्रों को सहनीय न थी। इसीलिए काउण्टविटे (Count Witte) ने जार निकोलस द्वितीय से कहा—"हम जापान को अपने द्वीपों को छोड़कर एशिया की मुख्य भूमि पर पैर रखने की अनुमति नहीं दे सकते, क्योंकि यह सुदूरपूर्व में हमारी शांतिपूर्ण घुसपैठ को प्रभावशाली रूप से रोक देगा।" अन्त में हुआ यह कि रूस, जर्मनी और फ्रान्स ने जापान को लियाओतुंग प्रायद्वीप चीन को लौटा देने की सलाह दी। इन तीन शक्तियों से युद्ध करने की अपेक्षा जापान ने यही अधिक श्रेयस्कर समझा कि इनका परामर्श मान लिया जाय। वास्तव में रूस मन्चूरिया को स्वयं प्राप्त करने का इच्छुक था और उसी की प्रेरणा से फ्रान्स तथा जर्मनी ने जापान पर लियाओतुंग प्रायद्वीप चीन को लौटा देने का दबाव डाला था।

अब रूस, जर्मनी और फ्रांस तीनों देशों ने चीन की बन्दरबांट शुरू करदी। जर्मनी ने दो जर्मन मिशनरियों की हत्या का बदला लेने के लिए शांटुंग प्रान्त में कियाओचाओ (Kiaochao) पर अधिकार कर लिया और १८९८ में इसे चीन को ९९ वर्ष के लिए पट्टे पर बर्लिन को देने के लिए बाधित किया गया। इसी वर्ष इसी प्रकार का पट्टा रूस ने पोर्ट आर्थर बन्दरगाह के लिए और मन्चूरिया में रेल बनाने के लिए प्राप्त किया। इससे मन्चूरिया मे रूस की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो गयी और उसने कोरिया के मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। फ्रान्स ने चीन की गागसी–कांग नदी के दक्षिण में कोई प्रदेश किसी अन्य शक्ति को न दिये जाने का वचन दिया। ग्रेट ब्रिटेन भी पीछे न रहा, उसने वेई-हाई-वेई (Wei–Hai–Wei) के बन्दरगाह का पट्टा प्राप्त किया तथा यानसीकांग की उपजाऊ घाटी ो अपने व्यापार के लिए सुरक्षित कराने का निश्चय किया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने ६ सितम्बर १८९९ को चीन की 'प्रादेशिक सुरक्षा और अखण्डता' बनाये रखने के लिए 'मुक्तद्वारा नीति' (Open door policy) का प्रतिपादन किया।

चीन में यूरोपियन शक्तियों और रूस के बढ़ते हुए प्रभावों को देखकर जापान हाथ पर हाथ दिये नहीं बैठा रह सकता था। कोरिया में जापानी हितों की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि मन्चूरिया पर रूस का अधिक प्रभाव न रहे। दूसरी ओर रूस वहां अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए कटिबद्ध था। इस परिस्थिति में भावी रूस–जापानी युद्ध अनिवार्य था और इसके लिए १८९५ से ही जापान ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से युद्ध की तैयारियां आरम्भ कर दी।

जापान इस बात को भली भांति समझता था कि केवल मात्र युद्ध की तैयारियाँ करना ही पर्याप्त न था अपितु ऐसी व्यवस्था का होना भी आवश्यक था जिससे १८९५ के समान रूस, जर्मनी और फ्रान्स के संयुक्त हस्तक्षेप की पुनरावृति न हो सके। अतः जापान ने मित्रों की खोज आरम्भ की और १९०२ में ब्रिटेन के साथ एक सन्धि कर ही ली। **१९०२ की इस एंग्लो–जापानी संधि के** द्वारा जापान ने चीन में ब्रिटेन के विशेष हितों को और ब्रिटेन ने चीन तथा कोरिया में जापान के विशेष हितों को स्वीकार किया। यह व्यवस्था भी की गयी कि यदि वह अपने विशेष हितों के रक्षार्थ दोनों में से किसी भी देश को किसी अन्य देश से युद्ध करना पड़ा तो दूसरा देश तटस्थ रहेगा एवं अन्य देशों को भी तटस्थ रखने का प्रयास करेगा। किन्तु यदि उसके प्रयत्नों के बावजूद भी कोई अन्य देश उसके मित्र के विरुद्ध युद्धरत होगा तो वह तुरन्त अपने मित्र की सहायता के लिए आगे आ जायगा। वास्तव में यह एंग्लो–जापानी सन्धि सुदूरपूर्व के इतिहास की एक निर्णायिक घटना थी और जापान के साम्राज्यवादी अभियान में पहला प्रभावकारी कदम थी। इससे साम्राज्य विस्तार के लिए जापान का रास्ता साफ हो गया। ब्रिटेन को भी इस समझौते से स्पष्ट लाभ था। वह रूसी प्रसार को रोकने के लिए उतना ही चिन्तित था, जितना कि जापान। इसके अतिरिक्त जर्मनी के तीव्र नौसेना निर्माण कार्य ने भी ब्रिटेन को चिन्तित बना दिया था। वह प्रशान्त महासागर से अपनी नौसेना के कुछ भाग को हटा लेना चाहता था लेकिन यह तभी

सम्भव था जब प्रशान्त महासागर की एक महान शक्ति जापान से उसकी मित्रता हो। एंग्लो-जापानी सन्धि से ब्रिटेन की समस्या का समाधान निकल आया। पुनश्चय जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट के विकास ने ब्रिटेन को यह अनुभव करा दिया था कि उसके लिए किसी महाशक्ति से मित्रता स्थापित करना जरूरी है। इस सन्धि के फलस्वरूप ब्रिटेन को जापान जैसा शक्तिशाली मित्र मिल गया। ऐसे शक्ति सम्पन्न देश की मित्रता से ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई।

शिमोनोसेकी की सन्धि के उपरान्त रूस और जापान के बीच संघर्ष के सभी लक्षण एक एक कर जमा होने लग गये थे। **एंग्लो-जापानी संधि ने रूस को खुली चुनौती ही दे दी।** यह सन्धि स्पष्ट रूप में रूस-विरोधी मोर्चा ही थी। अतः रूस ने मन्चूरिया पर अपना प्रभाव और भी सुदृढ़ कर लेने का निश्चय किया। यद्यपि १९०२ की रूसी-चीनी संधि द्वारा वह मन्चूरिया से अपनी फौजें हटा लेने का वचन दे चुका था लेकिन १९०३ में उसने इस सन्धि का उल्लंघन करते हुए चीन को सूचित किया कि वह मन्चूरिया में कुछ और विशेष सुविधाएं प्राप्त करने पर ही अपनी सेनाएं उस क्षेत्र से हटा सकेगा। यही नहीं, रूस ने अपनी सेनाओं को हटाने की स्थिति से बचने के लिए उन्हें इमारती लकड़ी काटने के लाइसेन्स (License) के बहाने कोरिया की सीमा पर यालु नदी के पास एकत्रित करना शुरू कर दिया। शीघ्र ही कोरिया में रूस के अतिक्रमण होने लगे और कोरिया के एक बन्दरगाह को लेकर यह काफी स्पष्ट हो गया कि रूस अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने पर कटिबद्ध है। **जापान ने रूसी कार्यवाहियों का विरोध किया।** १९०३ में उसने रूस के समक्ष कई प्रकार के प्रस्ताव रखे जो दोनों राष्ट्रों के संघर्ष कारी स्वार्थों को समाप्त करने के आधार थे। दूसरी ओर इन प्रस्तावों के विरुद्ध कई विरोधी प्रस्ताव रूस द्वारा उपस्थित किये गये। किन्तु कोई भी समझौता नहीं हो पाया। १३ जनवरी १९०४ को जापान ने रूस को इस आशा का पत्र भेजा कि वह मंचूरिया में रूस के विशेष हितों को स्वीकार करने को तैयार है बशर्ते कि रूस कोरिया में उसके विशेष हितों को स्वीकार कर ले। रूस से अपने पत्र का कोई उतर न पाने पर जापान ने ५ फरवरी १९०४ को रूस से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये। कोरिया दोनों देशों के मध्य युद्ध का मूल कारण बन गया। **जी. एफ. हड्सन** (G.F. Hudson) के शब्दों में, "कोरिया झगड़े की वास्तविक जड़ था। १८९४ का युद्ध यह निश्चय करने के लिए लड़ा गया था कि कोरिया में चीन का प्रभुत्व रहेगा या जापान का तथा १९०४ का युद्ध उसी देश पर जापानी तथा रूसी प्रधानता में निश्चय करने के लिए लड़ा जाना था।[1]

८ फरवरी, १९०४ को जापान ने पोर्टआर्थर में स्थित रूसी जहाजों पर भीषण आक्रमण कर दिया। बौने (जापान) की दैत्य (रूस) से यह एक आश्चर्यजनक लड़ाई थी जिसमें स्थल पर मुकदन में और जल पर कोरिया जलडमरू मध्य में दैत्य को पराजित होना पड़ा। युद्ध का अन्त ५ सितम्बर **१९०५ को पोर्ट्स माउथ की संधि** (Treaty of Ports Mouth) द्वारा हुआ

1. *G.F. Hudson :* The far East in World Politics, p. 132.

जिसके अन्तर्गत रूस ने कोरिया में जापान के विशेष हितों को स्वीकार किया, पोर्टआर्थर सहित लियाओतुंग प्रायद्वीप का पट्टा जापान को हस्तान्तरित कर दिया, सुखालिन द्वीप (Sakhalin Island) का दक्षिणी भाग जापान को दे दिया और मन्चूरिया से अपनी फौजें हटा लेने का वचन दिया।

जापान जैसे छोटे से देश की रूस जैसे महान् देश पर विजय एक आश्चर्यजनक घटना थी। एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) के शब्दों में रूसी–जापानी युद्ध "एशिया के इतिहास में एक युग का यूरोपियन अभिमान के काल के अन्त का परिचायक था।" रूस जैसे महान् राष्ट्र पर विजय प्राप्ति के कारण जापान सूदूर पूर्व की राजनीति में अपना विशिष्ट स्थान समझने लगा। कोरिया से रूस को निकाल कर वह अब कोरिया के मामले में स्वयं हस्तक्षेप करने लगा। १९१० ई० में तो जापान ने कोरिया को अपने साम्राज्य में ही मिला लिया। रूस–जापानी युद्ध का एक क्रान्तिकारी प्रभाव यह हुआ कि इससे एशिया में और विशेष रूप से चीन में राष्ट्रीयता की नवोदित शक्तियों को असीम बल मिला। जापान जैसे छोटे से राष्ट्र द्वारा रूस की प्रबल यूरोपियन शक्ति के पराभव ने चीन और एशिया के देशों में इस नवीन आशा का संचार कर दिया कि पश्चिमी शक्तियाँ अजेय हैं। इस जागरण से प्रभावित होकर चीन में डॉ० सनयात सेन के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का तेजी से विकास हुआ। १९१२ की क्रान्ति द्वारा मांचु राजवंश का अन्त कर गणतन्त्र की स्थापना की गई जिसके प्रथम अस्थाई राष्ट्रपति डॉ० सनयातसेन बने। १९२५ में उनकी मृत्यु के बाद राष्ट्रवादी कुओमितांग दल का नेतृत्व चांगकाई-शेक के हाथ में आ गया।

रूस–जापानी युद्ध से यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो गया कि जापान विश्व की महान् शक्तियों में से एक है। जापान की इस नई स्थिति की प्रथम प्रतिक्रिया अगस्त १९०५ में **एंग्लो–जापानी संधि का नवीनीकरण (Renewal)** तथा पुष्टीकरण थी। संशोधित संधि में यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई भी अन्य शक्ति पूर्वी एशिया अथवा भारत में उनके हितों पर आक्रमण करती है तो वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। इस नवीन संधि ने चीन और कोरिया की स्वतन्त्रता को मान्यता देने के स्थान पर जापान को कोरिया के पथ–प्रदर्शन, नियन्त्रण एवं रक्षण का अधिकार दिया।

जापान और प्रथम महायुद्ध—यूरोप के रंगमंच पर जब प्रथम विश्व युद्ध के बादल घिर आये तो जापान को अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा पूरी करने का स्वर्ण अवसर मिला, क्योंकि उस समय यूरोप के सभी प्रमुख राष्ट्र युद्धरत थे। महायुद्ध प्रारम्भ होने पर जापान ने ब्रिटेन के साथ अपनी मैत्री का प्रदर्शन करने और सूदूर पूर्व में जर्मन-प्रभाव का अन्त करने के दोहरे उद्देश्यों से २३ अगस्त १९१४ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। इसके पहले १५ अगस्त १९१४ को वह जर्मनी को चेतावनी दे चुका था कि वह बिना शर्त और बिना मुआवजे के कियाओचाओ (Kiaochow) का पट्टे पर दिया गया क्षेत्र १५ सितम्बर से पहले अन्ततोगत्वा चीन को लौटा दिया जाने के उद्देश्य से जापान सरकार को दे दे।" जर्मनी का कोई प्रत्युत्तर न मिलने पर जापान ने २३ अगस्त को यह घोषणा करते हुए जर्मनी पर आक्रमण बोल दिया कि "जापान की भूमि प्राप्त करने की कोई आकांक्षा नहीं है, और वह पूर्व में शान्ति के

रक्षक के रूप में स्थित होने की आशा करता है। जापान ने १९१४ के अन्त तक कियाओचाओ तथा अन्य जर्मन द्वीपों पर अधिकार कर लिया। इसने कैरोलीन (Carolines) और मार्शल द्वीप समूह (Marshall Islands) पर भी कब्जा जमा लिया जिससे चीन के साथ उसके सम्बन्ध बिगड़ गये और चीन ने उससे शाण्टुंग प्रदेश से (जिसमें कियाओचाओ प्राय: द्वीप स्थित है) अपनी सेना हटा लेने को कहा। इससे चीन और जापान के मध्य कटुता और भी बढ़ गई और जापान ने चीन को सबक सिखाने का निश्चय किया।

महायुद्ध में यूरोपियन शक्तियों की व्यस्तता का लाभ उठाकर १८ जनवरी, १९१५ को जापानी राजदूत ने पेकिंग में चीनी राष्ट्रपति यूआन (Yuan) के सामने **"कुख्यात २१ मांगें"** (**Notorious Twenty-one Demands**) प्रस्तुत कीं। इन मांगों का उद्देश्य यह था कि जब तक यूरोप के राष्ट्र युद्ध में लीन हैं तब तक वह चीन में अपना स्थान दृढ़ करले। ये सब मांगें ५ भागों में विभक्त थीं। पहला भाग शाण्टुंग से सम्बन्धित था, दूसरा मंचूरिया तथा पूर्वी आन्तरिक मंगोलिया से; तीसरा कोयला तथा लोहा सम्बन्धी कुछ सुविधाओं से; चौथा खाड़ी, बन्दरगाह और किनारों के अ-वैदेशीकरण से और पांचवां जापानी परामर्शदाताओं की नियुक्ति, जापानी शस्त्रों के क्रय, धार्मिक प्रचार, पुलिस-नियन्त्रण और आर्थिक चुनाव से सम्बन्धित था। इन सभी मांगों का उद्देश्य चीन को यूरोपवासियों के लिए बन्द करना तथा एशिया वालों के लिए खोलना था। यही कारण है कि इसे **"एशिया का मुनरो सिद्धान्त"** (**Asiatic Monroe Doctrine**) भी कहा जाता है। सचमुच यदि ये मांगें मान ली जाती तो चीन जापान का एक संरक्षित देश बन जाता। यूरोपियन राष्ट्रों और अमेरिका ने चीन के सामने पेश की गई जापानी मांगों का तीव्र विरोध किया। १३ मार्च १९१५ को अमेरिकन विदेश मन्त्री ब्रियान (Bryan) ने कहा, "अमेरिकन सरकार किसी ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं कर सकती कि जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका के संधियों द्वारा प्राप्त अधिकारों का, चीन की राजनैतिक अथवा प्रादेशिक अखण्डता का या 'मुक्तद्वार' नीति का हनन होता हो।" फिर भी जापान ने युद्ध की धमकी देकर चीन से २५ मई, १९१५ को दो संधियों पर हस्ताक्षर करा ही लिये जिनमें जापान को दक्षिणी मंचूरिया और आन्तरिक मंगोलिया में अनेक सुविधायें देने की व्यवस्थायें थीं। २ नवम्बर, १९१७ को **लैनसिंग-इशी समझौते** (Lansing-Ishii Agreement) द्वारा अमेरिका ने भी यह स्वीकार कर लिया कि "जापान के चीन में विशेष स्वार्थ हैं।"

प्रथम महायुद्ध के बाद का शान्ति-सम्मेलन व वाशिंगटन सम्मेलन और जापान (१९१९-१९२१)

महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् पेरिस में जो शान्ति सम्मेलन हुआ उसमें अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये चीन और जापान भी सम्मिलित हुये। अगस्त १९१७ में चीन ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी, अतः वह भी जापान की तरह ही मित्रराष्ट्रों की मैत्री का दावा करता था।

जापान ने सुदूरपूर्व में चीन और रूस को बारी-बारी से पछाड़कर अपने को शक्तिशाली प्रमाणित कर दिया। साथ ही अब वह उन प्रथम कोटि के औद्योगिक देशों में था जिनकी सर्वत्र अतिरिक्त माल एवं पूंजी की धाक जम गई थी। युद्धकाल में भी वह अपनी सैनिक शक्ति की धाक जमा चुका था। अतः शान्ति-सम्मेलन में उसका यह हर सम्भव प्रयास रहा कि उसे बड़े राष्ट्रों की पंक्ति में गिना जाय और साथ ही सुदूरपूर्व में उसके एकमात्र प्रभाव को मान्यता दी जाये। इसी दृष्टि से **शान्ति-सम्मेलन में जापान ने अपनी निम्नलिखित तीन मांगें प्रस्तुत कीं—**

(१) उत्तरी प्रशान्त महासागर के सभी जर्मन द्वीपसमूह उसे मिल जांय;

(२) शाण्टुंग प्रान्त में जर्मनी को पहले जो अधिकार प्राप्त थे, ये अधिकार अब उसे दिये जांय;

(३) प्रस्तावित राष्ट्रसंघ का आधारभूत सिद्धान्त 'राज्यों के बीच जाति सम्बन्धी समानता' घोषित किया जाय।

जापान की उपरोक्त सभी मांगों का मित्रराष्ट्रों तथा सहयोगियों ने तीव्र विरोध किया। जर्मन द्वीपों पर जापान के अधिकार की मांग विलसन के सिद्धान्त का खण्डन करती थी, शाण्टुंग एवं कियाओचाओ पर अधिकार की मांग चीन की नवोदित राष्ट्रीयता का विरोध करती थी, और जाति-सम्बन्धी समानता की माँग ब्रिटिश डोमिनियन राष्ट्रों को स्वीकार्य न थी। सबसे प्रबल विरोध संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर से हुआ क्योंकि युद्ध की समाप्ति के उपरान्त ही चीन को लेकर अमेरिका एवं जापान में काफी प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गई थी। इस प्रकार शान्ति-सम्मेलन में अब संघर्ष था—जापान के साम्राज्यवादी विस्तार और 'मुक्तद्वार' की अमेरिकन नीति एवं चीन की एकता के मध्य और यही एक प्रमुख कारण था कि शान्ति सम्मेलन में जब गुप्त संधियों की चर्चा की गई तो राष्ट्रपति विलसन ने 'लैनसिंग-समझौते' को मान्यता नहीं दी और उसके प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट की।

चीन, जापान के विस्तार और प्रभुत्व को कभी सहन नहीं कर सकता था, अतः उसके प्रतिनिधियों ने शांति सम्मेलन में अपनी अनेक मांगें पेश कीं जिसमें से प्रमुख निम्नलिखित थीं—

(१) शाण्टुंग प्रदेश चीन को लौटा दिया जाय,

(२) चीन से विदेशी विशेषाधिकार तथा अन्य असमान सुविधाओं एवं संधियों का अन्त कर दिया जाय, एवं

(३) 'प्रभाव-क्षेत्र' में चीन का जो विभाजन हुआ है उसका भी अंत कर दिया जाय।

परन्तु चीन के भाग्य में निराशा ही लिखी हुई थी। जहां तक शाण्टुंग का प्रश्न था, ब्रिटेन, फ्रांस और इटली पहले से ही इस प्रदेश को जापान को हस्तांतरित करने को वचनबद्ध थे। मित्रराष्ट्रों और जापान ने चीन की मांगों को बड़े संशयपूर्वक देखा क्योंकि चीन का मन्तव्य जर्मनी से संधि करने की ओर अधिक न होकर अपनी अर्ध-उपनिवेश की स्थिति को बदलने की ओर था।

शांति-सम्मेलन में यद्यपि चीन और जापान दोनों ही की मांगों का तीव्र विरोध किया गया और चीन को कुछ भी नहीं दिया गया, किन्तु जापानी प्रतिनिधियों ने शाण्टुंग के मामले में अपनी मांग को मनवाने के लिये प्रभावकारी दबाव डाला। जापान का कहना था कि उसने सुदूरपूर्व से जर्मनी को भगाकर न केवल मित्रता के उत्तरदायित्व को ही निभाया, बल्कि प्रशान्त महासागर एवं यूरोप की ओर के कुछ द्वारों की सुरक्षा भी की है। इसके लिये उसे धन और जन दोनों की बलि देनी पड़ी। अतः शाण्टुंग में उसके दावे को मान लिया जाना चाहिए जब जापान ने शांति-सम्मेलन से निकल जाने की और राष्ट्र संघ का बहिष्कार करने की धमकी दी तो अन्त में **शाण्टुंग पर जापान का दावा स्वीकार कर लिया गया** और इस तरह चीन अपनी बाजी हार गया।

पेरिस के शान्ति समझौते के अनुसार १८९८ के समझौते तथा बाद के अन्य समझौतों के आधार पर शाण्टुंग में जर्मन वाले सभी अधिकार जापान को मिले। कियाओचाओ की खाड़ी में उसे लीज का अधिकार मिला और साथ ही इस प्रान्त में उसे आर्थिक अधिकार भी प्राप्त हुए। परन्तु तीन राष्ट्रों की परिषद ने एक शर्त लगवा दी—वह यह कि जापान प्रत्यक्ष समझौते के द्वारा चीन को इन प्रान्तों में राजनीतिक अधिकार वापिस कर देगा और अपने लिए केवल आर्थिक अधिकार एवं सुविधाएं रखेगा। इस सब के विरोध में चीनी प्रतिनिधि मंडल ने वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।

शांति सम्मेलन से न तो जापान ही संतुष्ट हुआ और न अमेरिका ही, परन्तु फिर भी दोनों देशों के आपसी मतभेद बढ़ते गये। अमेरिका में वर्साय संधि के शाण्टुंग सम्बन्धी उपकरणों पर भारी प्रतिक्रियाएं हुई, चीन को यह प्रदेश वापिस दे देने की मांगें उठने लगीं और सीनेट में भी इस तरह के प्रस्ताव आये। जापान को जो जर्मनी वाले सभी अधिकार दे दिये गये, उसकी तीव्र भर्त्सना हुई। इस आक्रोष एवं अन्य कारणों से सीनेट ने वर्साय की संधि को अस्वीकार कर दिया। जापान शाण्टुंग को प्राप्त करके भी असंतुष्ट बना रहा क्योंकि उसे वायदे के अनुसार लाभ नहीं हुए। जापान में अमेरिका-विरोधी भावनाएं भड़क उठीं क्योंकि जापान की मांगों की पूर्ति में सबसे बड़ा बाधक अमेरिका ही रहा था। इधर अमेरिका के लिए एक गंभीर सिरदर्द पैदा हो गया क्योंकि जापान सुदूरपूर्व में एक सबल राष्ट्र के रूप में उपस्थित हो गया था जिसका मूल उद्देश्य इस क्षेत्र से अमेरिका को बहिष्कृत करना था। फिर एंग्लो-जापानी संधि भी अमेरिका के लिए चिन्ता का कारण बनी हुई थी।

अतः उपरोक्त बातों की पृष्ठभूमि में, वर्साय की संधि पर पुनर्विचार के लिए और सुदूरपूर्व में जापान के विस्तार को रोकने के लिए अमेरिका ने नवम्बर १९२१ में **वाशिंगटन सम्मेलन** (Washington Conference) बुलाया जिसकी विस्तार से चर्चा पिछले पृष्ठों में यथास्थान की जा चुकी है। यह सम्मेलन ६ फरवरी १९२२ को समाप्त हुआ।

जापान के वैदेशिक सम्बन्ध (१९२२-१९४५)

यद्यपि वाशिंगटन सम्मेलन अपने समय की एक महान् सफलता थी, तथापि "यह मूल प्रश्न अभी भी अनिर्णीत था कि सुदूरपूर्व में एंग्लो-सैक्सन

प्रभुत्व रहेगा अथवा जापान की ही तूती बजेगी।"[1] क्लाड ए० बस (Claude A. Buss) के मतानुसार "१९२१–२२ का वाशिंगटन सम्मेलन कितने ही रूपों में जापान के लिए एक दुःखपूर्ण कूटनीतिक षडयन्त्रोद्घाटन था।"[2] जापानियों की दृष्टि में यह सम्मेलन जापान पर अमेरिकन कूटनीति की विजय थी। इस सम्मेलन के बाद से ही जापान को तीन प्रमुख समस्याओं का सामना करना पड़ा था—**प्रथम**, चीन में एक नवीन एवं उग्र राष्ट्रवाद का विकास, **द्वितीय**, साइबेरिया में रूसी बोल्शेविज्म के अन्त के लिए किये गये मित्रराष्ट्रीय हस्तक्षेप की असफलता एवं **तृतीय**, वाशिंगटन सम्मेलन के बाद से ही प्रशान्त महासागर में ब्रिटिश जापानी सहयोग के स्थान पर ब्रिटिश-अमेरिकन सहयोग का प्रारम्भ।

अतः जापान के समक्ष समस्या यह उत्पन्न हुई कि इन विभिन्न जटिल समस्याओं के समाधान के लिए किस नीति का अवलम्बन किया जाय। इस विषय में जापानी राजनीतिज्ञ एकमत न थे। १९२२ से १९३१ तक जापान एक तरफ सहयोग और समझौते की नीति और दूसरी तरफ दृढ़ कूटनीतिक कार्यवाहियों एवं शक्ति की नीति के मध्य फंसा रहा। १९२४ से १९२७ और १९२९ से १९३१तक तथा उससे पूर्व१९२१ से १९२४ के बीच के तीन वर्षों में जापान मुख्यतः समझौतावादी नीति पर ही चलता रहा, यद्यपि शक्ति प्रयोग पर आधारित नीति भी प्रभावशील रही और १९३१ के बाद की साम्राज्य-वादी नीति का आधार बनी। सहयोग की नीति का झण्डा जापानी प्रधानमंत्री शिदेहारा (Shidehara) ने फहराया जबकि १९२७ के बाद से १९२९ तक की अवधि में प्रधानमंत्री पद पर आसीन रहने वाले बैरन तनाका (Baron Tanaka) ने शक्ति पर आधारित नीति को प्रभावशाली बनाने की चेष्टा की। क्लाड ए. बस ने ठीक ही लिखा है कि १९२२ से १९३१ तक "जापान एक ओर बैरन जनरल तनाका की दृढ़ कूटनीतिक कार्यवाहियों और शक्ति-प्रयोग पर आधारित नीति तथा दूसरी ओर बैरन शिदेहारा की नम्रता और समान व्यवहार की नीति के बीच परेशानी से मंडराता रहा था।"[3]

जापान की विदेश नीति (१९२२–१९२७ और १९२९–१९३१)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; इस काल में जापान ने सहयोग व समझौते की नीति का अनुसरण किया। वाशिंगटन सम्मेलन के उपरान्त जापान और अमेरिका के सम्बन्ध कुछ समय तक अच्छे रहे। १९२२ में अमेरिका ने भूकम्प से पीड़ित जापान को सहायता दी और भूकम्प पीड़ितों के प्रति सहानुभूति अभिव्यक्त की। परन्तु १९२४ में अमेरिकन कांग्रेस ने कुछ भेद–भाव से पूर्ण कानून पास करके जापानी प्रवासियों को अमेरिका में बसने से मना कर दिया, फलस्वरूप दोनों देशों में पुनः तनाव उत्पन्न हो गया तथापि उसने अमेरिका के प्रति अमैत्रीपूर्ण रुख नहीं अपनाया। इस अवधि में जापान सरकार ने उन निर्णयों का पालन करने का पूरा प्रयास किया जो उसने वाशिंगटन सम्मेलन में स्वीकार किये थे। जनवरी १९२३ में, चीन के साथ किये गये इकरारनामें

1. *E. H. Carr* : International Relations Between the Two World Wars, p. 16.
2. *Claude A. Buss* : The Far East, p. 352.
3. Ibid, p. 352.

के अनुसार, जापान ने शाण्टुंग चीन को वापिस लौटा दिया। १९२५ में उसने शंघाई में पुलिस की गोलियों से मारे गये चीनियों के परिवारों को क्षतिपूर्ति देना स्वीकार कर लिया और १९२७ में नानकिंग पर की गई बमवर्षा में ब्रिटेन व अमेरिका का साथ देने से इन्कार कर दिया। वास्तव में १९२२ से ही जापान की विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य चीन के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास था। जापान ने सोवियत रूस के प्रति भी मैत्रीपूर्ण रुख अपनाया। १९२२ में उसने साइबेरिया से अपनी सेनायें हटाली और २० जनवरी १९२५ को रूस के साथ संधि भी कर ली। १९२७ में जापान ने जेनेवा के नौसैनिक सम्मेलन में भाग लिया और १९३० में लंदन नौसैनिक संधि पर हस्ताक्षर किये। उसने राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थाई न्यायालय से भी सहयोग किया। १९२८ में जापान ने केलॉग-ब्रेयां पेक्ट पर भी हस्ताक्षर किये। जापान की इस तरह की उदार नीति का श्रेय प्रधानमंत्री शिदेहारा (Shidehara) को था जो सहयोग की भावना में विश्वास रखता था। शिदेहारा के कारण ही चीन, सोवियत रूस और अमेरिका तीनों के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति पर अमल हुआ।

जापान की विदेश नीति (१९२७–१९२९) और 'तनाका' स्मृति पत्र—अप्रेल १९२७ में बैरन तनाका (Baron Tanaka) जापान का प्रधान मंत्री बना। जहां शिदेहारा जापान के कुटीर औद्योगिक हितों का प्रतिनिधि सहयोग और मैत्री पूर्ण नीति द्वारा निर्यात के लिए विदेशी बाजारों को बढ़ाने का समर्थक था, वहां बैरन जनरल तनाका जापान के तहत उद्योगों का प्रतिनिधि और दृढ़ एवं शक्ति प्रयोग पर आधारित नीति का पोषक था। जून-जुलाई १९२७ में जापानी सेनाध्यक्षों एवं वित्त तथा युद्ध विभाग के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन में प्रसिद्ध **'तनाका स्मरण पत्र' (Tanaka Memorial)** की रचना हुई जिसे २५ जुलाई १९२७ को जापानी सम्राट की सेवा में प्रस्तुत किया गया। इस स्मृतिपत्र में स्पष्ट कहा गया कि जापान के राष्ट्रीय अस्तित्व की नीति न केवल मंचूरिया, मंगोलिया और चीन की विजय की ही आवश्यकता है बल्कि सम्पूर्ण एशिया और दक्षिण सागरीय देशों की विजय की भी आवश्यकता है। इसमें यह भी स्वीकार किया गया था कि प्रादेशिक विस्तार की इस योजना के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका को भी पराजित करना पड़ेगा। तनाका स्मृतिपत्र की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"जापान पूर्वी एशिया में कठिनाइयों को उस समय तक दूर नहीं कर सकता जब तक वह 'रक्त तथा लौह' (Blood and Iron) की नीति स्वीकार नहीं करता। यदि हम चीन पर नियंत्रण करना चाहते हैं, तो हमें पहले संयुक्त राज्य अमेरिका को दबा देना परन्तु चीन को जीतने के लिए, हमें पहले मंचूरिया और मंगोलिया को जीतना आवश्यक है। संसार की विजय के लिए हमें चीन को पहले जीतना चाहिए। ..... चीन के समस्त साधनों को अपने अधिकार में करने के उपरान्त, हम भारत, एशिया माइनर, मध्य एशिया तथा यूरोप तक को जीतने के लिए आगे बढ़ेंगे। यदि यामतो जाति अपनी विशिष्टता सिद्ध करना चाहती है, तो मंचूरिया तथा मंगोलिया का नियंत्रण

प्राप्त करना पहला कदम है ।1' [1]

तनाका स्मरण पत्र को जापान की वैदेशिक नीति में वही स्थान प्राप्त हुआ जो नाजी जर्मनी की विदेश नीति में हिटलर के 'मीन कैम्फ' को प्राप्त हुआ । इसे जापान का मुनरो सिद्धान्त कहा जाता है क्योंकि यह "एशिया' एशिया वालों के लिए" के सिद्धान्त पर आधारित है । इसका घोषित उद्देश्य यूरोपियन साम्राज्यवाद से एशिया की रक्षा करना था किन्तु अन्त में यह साम्राज्यवाद का एक अस्त्र सिद्ध हुआ । प्रमुख अन्तर यही था कि अमेरिका साम्राज्यवाद जापानी साम्राज्यवाद की अपेक्षा अधिक अप्रत्यक्ष एवं उदार था और जहां मुनरो सिद्धान्त यूरोप को अमेरिकन महाद्वीपों से पृथक रख सका वहां तनाका सिद्धान्त एशिया को यूरोपियनों से पृथक रखने में सफल नही हुआ । यद्यपि जापान का मन्त्रिमण्डल तनाका स्मरण पत्र की नीति पर चलने को तैयार नहीं था परन्तु जापान के सेनानायक घटनाओं के प्रवाह को प्रभावित करने की स्थिति में थे क्योंकि जापान में सेना और नौसेना विभाग व्यावहारिक रूप में नागरिक अधिकारियों से स्वतन्त्र था और मंत्रियों की स्वीकृति के विना ही सैनिक अधिकारियों को सम्राट से प्रत्यक्ष वार्ता करने का अधिकार था। सैनिक नेताओं के हृदय में लोकसभात्मकशासनके प्रति बहुत कम सहानुभूति थी और १९३१ के प्रारम्भ से ही अपनी नीति को आरोपित करने में सफल हो गये । वैसे तनाका स्मरण पत्र में निदेशित नीति पर आचरण १९२७ में प्रारम्भ हो गया जबकि मई–जून १९२७ में चीनी राष्ट्रीय सेनाओं के उत्तरी मार्च के तथाकथित खतरे के विरुद्ध जापानी नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के बहाने जापानी फौजें शाण्टुंग भेज दी गईं, बाद में और अधिक जापानी फौजें १९२८ के अप्रैल मास में भेजी गईं और मई १९२८ में जापानी–चीनी सेनाओं में पहली मुठभेड हुई । परन्तु जापानी

1. "For the sake of self protection as well as protection of others Japan cannot remove the difficulties in Eastern Asia unless she adopts a policy of 'blood and iron....' But in carrying out this policy we have to face the United States which has been turned against us by China's policy of fighting poison wi h poison. In the future if we want to control China we must first crush the United States just as in the past we had to fight the Russo-Japanese war. But we must first conquer Manchuria and Mangolia. In order to conquer the world we must first conquerChina.If we succeed in conquering China,the rest of the Asia ic countries and the South Sea countries will fear us and surrender to us. Then the world will realize that Eastern Asia is ours and will not dare to violate our rights. This is the plan..... the success of which is essential for our national existence.... Having China's entire resources at our disposal we shall proceed to conquer India, the Archipelago, Asia Minor, Central Asia and even Europe. But to get control of Manchuria an Mongolia is the first step if the Yamato race wishes to distinguish themselves on continental Asia."

(Reading in World Politics, Vol. II, 1952.)

राजनैतिक क्षेत्रों के तीव्र विरोध के कारण तनाका को अपनी इस सकारात्मक नीति को त्यागना पड़ा और २८ मार्च १९२९ को चीन से सुलह हो गयी। बाद में जुलाई १९२९ में शिदेहारा पुनः प्रधानमंत्री बन गया और २ वर्ष तक जापान पुनः समझौतावादी नीति पर चलता रहा। लेकिन १९३१ के बाद से ही तनाका स्मरण पत्र की नीति हावी हो गयी।

जापान की विदेशी नीति (१९३१-१९४१)—१९३१ से जापान ने तनाका की साम्राज्यवादी नीति पर अनुसरण करना शुरू कर दिया। १० वर्ष तक शांति की नीति का पालन करने के बाद जापान की राजनीति में साम्राज्यवाद का पुनरोद्‌भव अनेक कारणों से हुआ जिनमें से प्रमुख ये थे—**प्रथम,** चीन में कुओमितांग दल के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकता का तेजी से विकास होता जा रहा था और जापानी हितों को तथा उसकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को चीन की संगठित एकता से बड़ा खतरा था। **द्वितीय,** चीन में साम्यवादी रूस का प्रभाव बढ़ने लगा था और जापान के सैन्यवादियों एवं शांतिप्रिय राजनीतिज्ञों तक को यह पसन्द न था। **तृतीय,** १९३० की आर्थिक मन्दी ने जापान को इस बात के लिये विवश कर दिया कि वह अन्य देशों में अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिये बाजार तथा अपनी अतिरिक्त जनसंख्या के लिये प्रदेश खोजे।

(क) **मंचूरिया काण्ड**—कोरिया में अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के बाद जापान का दूसरा स्वाभाविक लक्ष्य मंचूरिया था। तनाका स्मरण-पत्र में स्पष्ट घोषित किया था कि, "चीन पर विजय प्राप्त करने के लिये पहले हमें मन्चूरिया और मंगोलिया जीत लेना चाहिए। संसार जीतने के लिये हमें चीन जीतना पड़ेगा।............यदि यामाटो (Yamato) जाति एशिया महायुद्ध पर अपनी विशिष्टता सिद्ध करना चाहती है तो मंचूरिया और मंगोलिया पर अधिकार प्राप्त करना पहला कदम है।" जापान के सैनिकवादी सत्ताधारी मंचूरिया पर अधिकार करने को तीन कारणों से प्रेरित थे। सबसे पहले तो यह कि मन्चूरिया कच्चे माल के साधन के रूप में जापान के लिए बहुत ही वांछित बन गया था। दूसरे, मंचूरिया जापान के निर्यात के लिए उत्तम बाजार था और साथ ही जापान एवं कोरिया से देश छोड़कर जाने वालों को बसाने के लिए बड़ा उपयोगी स्थान था। तीसरे, सैनिक दृष्टि से जापान के लिए मन्चूरिया का बड़ा महत्व था। जापानी नेताओं की यह मान्यता थी कि यदि मन्चूरिया पर कब्जा कर लिया जाय तो यह रूस के सम्भावित आक्रमण के समय एक बफर (Buffer) राज्य की तरह काम करेगा। जॉन मॉरिसन ने ठीक ही कहा है कि "आधुनिक शताब्दी के २०वीं वर्ष-समूहों में जापान रूस के भय से आक्रान्त था, ठीक उसी तरह जिस तरह पामर्स्टन भी अपने वैदेशिक मन्त्रित्व काल में हुआ करता था।" जापानियों का विश्वास था कि उत्तरी रूस के साम्यवादियों के सिद्धान्त तथा दक्षिण में जापान विरोधी भावनाओं के बीच मेल की सम्भावना थी। जापान चाहता था कि इन दोनों के बीच एक स्वतंत्र मन्चूरिया खड़ा कर दिया जाय।

स्पष्ट है कि जापान ने मन्चूरिया में अपने विशिष्ट स्थान की मान्यता [illegible] आर्थिक और सैनिक विचारों पर [illegible]

था। दूसरी ओर चीनी राष्ट्रवादी भी मन्चूरिया पर अधिकार करना अपनी राष्ट्रीय एकता की पूर्ति और रक्षा के लिये अनिवार्य समझते थे। उन्हें यह सहनीय न था कि मन्चूरिया का ३ लाख ८० हजार वर्गमील का अत्यन्त उपजाऊ भू-भाग और कोयला, लोहा, सोना आदि महत्वपूर्ण खनिजों का क्षेत्र जापानियों के प्रभुत्व में रहे। मन्चूरिया पहले दो बार युद्ध की रणभूमि बन चुका था और इन दोनों युद्धो में जापान को काफी क्षति हुई थी; पर दक्षिणी मन्चूरिया रेलवे कम्पनी पर जापान का नियंत्रण था और रेलवे क्षेत्र की देखभाल जापानी सिपाहियों द्वारा होती थी। इसके साथ ही मन्चूरिया में जापानी नागरिकों की रक्षा जापान के दूतावासी सिपाही करते थे। चूंकि चीन जापान के बढ़ते हुए नियन्त्रण को ना पसन्द करता था, अतः मन्चूरिया में जापान की विशेष सुविधाओं पर खतरा आ गया। चीन में दक्षिणी मन्चूरिया प्रणाली के अन्दर जापान की एकाधिकार की समाप्ति का प्रयास किया जिससे जापान को बड़ा असंतोष हुआ। चीन ने समानान्तर रेल की पटरियां बिछाने की योजना प्रस्तुत की जिसका जापान ने विरोध किया। जापान समझता था कि इससे उस क्षेत्र में उसकी महत्ता को खतरा पैदा हो जायगा। चीन ने विभेद पूर्ण नीति अपनायी। उसने अपनी रेल प्रणाली के सभी भागों के लिये लगातार व्यवस्था की, लेकिन दक्षिणी मन्चूरिया रेलवे के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त चीन ने हुलेनावों में एक प्रथम कोटि का बन्दरगाह बनवाना शुरू किया जो बाद में जाकर डेरियन तथा ब्लाडीवॉस्टक से मुकाबला कर सकता। चीन के इस प्रयास की सफलता का अभिप्राय था दक्षिणी मन्चूरिया रेलवे कम्पनी का विनष्ट हो जाना। जापान यह कभी सहन नहीं कर सकता था। जापान की एक शिकायत यह थी कि दक्षिणी मन्चूरिया रेलवे ने चीन को रेलवे लाइने बिछाने के लिए जो विभिन्न कर्ज दिये थे उनके मूलधन और सूद की वापसी अभी तक नहीं हो पायी थी। दक्षिणी मन्चूरिया रेलवे को जो विभिन्न अधिकार और सुविधाए मिली थीं, उनको लेकर भी झगड़े होते थे।

चीनियों द्वारा जापान के विरुद्ध किये जाने वाले कार्य केवल रेलवे सम्बन्धी राजनीति तक ही सम्बन्धित नहीं थे। १९१५ की संधि के खिलाफ वे जापानियों के जमीन इजारा (Lease) लगाने के मार्ग में बाधा डालने लगे और दक्षिणी मन्चूरिया में जापानी नागरिकों के आवास, भ्रमण और व्यापार के अधिकार पर भी नियन्त्रण लगाने लगे। किन्तु सिक्के का दूसरा पहलू यह भी था कि जहां जापान के नागरिकों की स्थिति नाजुक बना दी गयी थी वहां मन्चूरियावासियों की —जिन्होंने जापानी नियमों के अनुसार नागरिकता प्राप्त की थी—तो हालत और भी बदतर बन गयी थी, और इनकी संख्या ८ लाख के लगभग थी। इन सभी बातों के साथ आग में घी डालने वाली तब और भी हो गयी जब चीनी राष्ट्रवादियों ने मन्चूरिया में जापानी अफसर केप्टन नकमूरा की हत्या करदी। इसकी प्रतिक्रिया जापान में बड़ी तीव्र हुई और जापानी फौजें बदला लेने को बेसब्र हो गयी। अब जापानी साम्राज्यवाद और चीनी राष्ट्रवाद में युद्ध अनिवार्य हो गया। जापान के लिए यह समय भी अनुकूल था, क्योंकि पाश्चात्य शक्तियां उसके चीनी अभियान का "सक्रिय-सैनिक प्रतिरोध" करने की मनोदशा में नहीं

थी और साथ ही चीन में राष्ट्रवादियों तथा साम्यवादियों में एक भीसण गृहयुद्ध चल रहा था तथा जापान चीन की इस असहाय अवस्था से लाभ उठा सकता था।

जापान के लिए आक्रमण का अनुकूल अवसर भी समीप आ गया। १९३१ ई० में १८-१९ सितम्बर की रात में दक्षिणी मन्चूरिया रेलवे के निकटस्थ **मुकदन में, जो जापानी फौजों का प्रधान केंद्र था, बम फूटा।** यद्यपि इसकी सही उत्पत्ति को अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है, परन्तु **इस मुकदन-घटना के बहाने की आड़ में १८ सितम्बर को ही जापानी फौजों ने चीनी सेनाओं पर भयंकर आक्रमण कर दिया।** मुकदन स्थित चीनी फौजों के हथियार छीन लिए गये। जापान ने इतनी तेजी से कार्यवाही की कि शीघ्र ही मुक़दन के उत्तर में दो सौ वर्गमील के क्षेत्र के अन्तर्गत के सभी चीनी शहर जापान के कब्जे में आ गये। ३ जनवरी १९३२ तक जापान ने सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और १९ फरवरी १९३२ को वहां मांचूको या मंचुकुओ (Manchukuo) नामक एक कठपुतली राज्य स्थापित करने का निश्चय किया और ९ मार्च १९३२ को इस नवीन राज्य की स्थापना भी कर दी गयी। १५ सितम्बर १९३२ को जापान ने औपचारिक रूप से इस राज्य को मान्यता प्रदान कर दी।

मंचूरिया काण्ड की गम्भीर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाएं हुई। इस कांड से संसार के शांतिप्रिय राष्ट्रों को बहुत बड़ा धक्का लगा। मंचूरिया के साथ जापान ने जो कुछ किया, वह बहुत ही अत्याचारपूर्ण था। इस घटना से एक ऐसे घटना-चक्र का प्रारम्भ हुआ जिसने न केवल सुदूरपूर्व अपितु सम्पूर्ण विश्व के इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया। सम्पूर्ण विश्व में जापानी साम्राज्यवाद की निंदा की गयी। "यह ठीक है कि यूरोप के राष्ट्रों ने भी १९वीं शताब्दी में अफ्रीका का प्रीतिभोज किया था और संयुक्त राज्य अमेरिका में भी मध्य अमेरिका में क्यूबा बोम के स्वतंत्र गणतंत्र की १८१८ में स्थापना करके और शान्तो डोमिंगो, हैटी तथा पनामा में जबर्दस्ती हस्तक्षेप करके अपनी साम्राज्यवादी नीति का परिचय दिया था। यहां तक कि राष्ट्रपति विल्सन ने भी कमजोर राष्ट्रों के हितों का कोई विशेष ध्यान नहीं रखा जब मैक्सिको पर अमेरिका ने अपना नियंत्रण बढ़ाना चाहा। फिर भी ये सभी साम्राज्यवाद दूसरे प्रकार के थे और सब में अलग-अलग ढंग की समस्याएं भी थीं और उस समय तो राष्ट्रसंघ भी नहीं था।" जापान के मन्चूरिया पर आक्रमण के समय राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था मौजूद थी, किन्तु वह भी जापान को अपने कुकृत्य से न रोक सकी। राष्ट्रसंघ मन्चूरिया काण्ड के समाधान में किस प्रकार असफल हुआ और मन्चूरिया काण्ड ने विस्तार में क्या रूप धारण किया, इसका विस्तृत वर्णन "राष्ट्रसंघ" नामक पूर्ववर्ती अध्याय में किया जा चुका है। यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि २१ सितम्बर १९३१ को चीन ने राष्ट्रसंघ से सहायता मांगी, ३० सितम्बर को राष्ट्रसंघ की परिषद् ने १६ नवम्बर तक मन्चूरिया से जापानी फौजें हटा लेने का आदेश दिया, जापान ने आदेश की कोई परवाह न करते हुए अपना अभियान जारी रखा। इस तरह जापान के व्यवहार से यह स्पष्ट हो गया कि १९१८ के बाद से संसार के महान् राजनीतिज्ञों ने आक्रामक युद्ध के

विरुद्ध जो प्रतिबन्ध लगाये थे वे सभी टूट गये और एक ही धक्के में ताश का सारा भवन छिन्न-भिन्न हो गया । जापान ने राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र, नौ राष्ट्रों की सधि और केलॉग ब्रियां पैक्ट की भावना को बेरहमी से कुचल दिया । इस पर भी तुर्रा यह कि उसने अपने इस कार्य को आक्रामक न बताकर चीनी लुटेरों से जापानियों के जीवन और उनकी सम्पत्ति को बचाने के लिए पुलिस कार्यवाही की संज्ञा दी । राष्ट्रसंघ द्वारा जांच के लिए नियुक्त लिटन-आयोग की रिपोर्ट पेश की जाने के बाद २४ फरवरी १६३३ को राष्ट्र-संघ ने जापान के कार्यों की केवल निन्दा करके संतोष कर लिया और इस तरह निकट भविष्य में आने वाली अपनी मौत की पूर्व सूचना दे दी । **राष्ट्र संघ की निन्दा के विरोध में जापान ने २७ मार्च १६३३ को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया** । जापान के विरुद्ध राष्ट्रसघ प्रधानत: ब्रिटिश तुष्टीकरण की नीति के कारण प्रभावशाली कार्यवाही करने में असमर्थ रहा ।

यह सघर्ष उस समय हुआ जब सम्पूर्ण यूरोप एवं अमेरिका आर्थिक तूफान में जकड़ा हुआ था और जर्मनी में नाजीवाद का जोर फैला हुआ था । सुदूरपूर्व में स्वार्थ रखने वाला अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था और साथ ही अपनी पृथकतावादी नीति के कारण इन झंझटों में उलझना भी नहीं चाहता था । वह खुले आम जापान से युद्ध मोल लेने को तैयार न था । किन्तु चूंकि उसकी दृष्टि में जापानी आक्रमण राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाओं और शांतिप्रिय राज्यों के लिए एक चुनौती था अतः उसने राष्ट्रसंघ के साथ सीमित सहयोग की नीति अपनाई । ७ जनवरी १६३२ को अमेरिकन विदेश मंत्री स्टिमसन ने अपने **"अमान्यता अथवा अनधिज्ञान के सिद्धांत" (Doctrine of Non-recognition)** का प्रतिपादन किया जिसके द्वारा चीन और जापान दोनों को यह सूचित कर दिया गया कि अमेरिका कैलॉग-ब्रियां पैक्ट के विरुद्ध स्थापित किसी स्थिति अथवा समझौते को स्वीकार नहीं करेगा । इसके अनुसार अमेरिका ने 'मान्चूको' को मान्यता देने से इन्कार कर दिया ।

अमेरिका द्वारा जापान के विरुद्ध सैनिक कार्यव ही न करने की स्थिति में इस तरह की कार्यवाही का सारा उत्तरदायित्व ब्रिटेन के मत्थे पड़ता, परन्तु वह भी इतनी बड़ी जिम्मेवारी, जिसका परिणाम भीषण हो सकता था, लेने को तैयार न था । रूस ने भी जापानी आक्रमण की स्पष्ट रूप से निन्दा अवश्य की, परन्तु कोई सैनिक कार्यवाही करने का साहस नहीं किया । हां, वह अपनी सुरक्षा-व्यवस्था को और भी अधिक दृढ़ करने को उत्सुक हो गया और १२ दिसम्बर १६३२ को उसने चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध किये, बाह्य-मगोलिया के साथ संधि-वार्ता की और फ्रांस के साथ तटस्थता की संधि पर हस्ताक्षर किए ।

मंचूरिया-कांड का मूल्यांकन करते हुए इ. एच. कार (**E. H. Carr**) ने लिखा है कि "जापान द्वारा मंचूरिया-विजय प्रथम महायुद्ध के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सीमा-चिन्हों में से एक थी ।" इसने वाशिंगटन सम्मेलन की उपलब्धियों को नष्ट कर दिया और प्रशान्त महासागर में शक्ति-संघर्ष पुनः प्रारम्भ हो गया । मंचूरिया-विजय से न केवल जापानी साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिला बल्कि सर्वाधिकारवादी युद्धप्रिय राष्ट्रों के नेताओं के हृदय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यवस्था के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई ।

जर्मनी और इटली के अधिनायक जापान के इस कदम से सवक लेने में पीछे नहीं रहे। वे लोग तो पहले से ही "बल ही अधिकार है" (Might is Right) के सिद्धान्त को मानने वाले थे जब इस घटना से उन्हें कानून की मर्यादा को भंग करने की प्रेरणा भी मिली। इस तरह मंचूरिया-काण्ड ने उस अन्तर्राष्ट्रीय लूट-खसोट के युग का श्रीगणेश किया कि जो शीघ्र ही यूरोप को अपनी लपटों में निगलने वाला था। अमेरिकन विदेश मन्त्री कार्डेनहल ने ठीक ही कहा था कि इस काण्ड के बाद से ही विश्व की शांति व्यवस्था का क्रमशः खण्डन आरम्भ हो गया। दुनिया पुनः शक्ति-राजनीति के चंगुल में फंसी। प्रथम महायुद्ध के बाद यह पहला अवसर था जब युद्ध लड़ा गया और विजेता द्वारा दूसरे राज्य के एक बड़े भू भाग को अपने राज्य में मिला लिया। मंचूरिया की इस घटना ने जापानियों को यह विश्वास दिला दिया कि संयुक्तवादियों के हाथों में राष्ट्र का हित सुरक्षित रह सकता है। जापान में नरम दल वाले पीछे की पंक्ति में ढकेल दिये गये और युद्ध की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। मंचूरिया काण्ड ने अमेरिका को सुदूरपूर्व की राजनीति में जोरों का धक्का दिया और अब अमेरिकन नेता यह सोचने लगे कि पृथकतावादी नीतियाँ अमेरिकन हितों की रक्षा के लिये उपयोगी नहीं है। यह घटना जापान की मनोदशा का चाप-मापक यंत्र प्रमाणित हुआ और जापान के नेताओं की आवाज में हिटलर की आवाज सुनाई पड़ने लग गई। जापान के जनरल अराकी ने इस घटना को जापानी जनता को जगाने वाली अलार्म घंटी की संज्ञा दी और यह विचार प्रस्तुत किया कि जापानी राष्ट्र का महान् आदर्श सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होना चाहिये तथा उसके मार्ग में आने वाली कोई भी बाधा तलवार के बल पर दूर कर दी जानी चाहिये।[1]

(ख) मंचूरिया के उपरान्त– मंचूरिया-विजय के उपरान्त जापान चुप बैठने वाला नहीं था। उसने शीघ्र ही चीन के अन्य प्रान्तों पर धावा मारना शुरू कर दिया और १९३३ में उत्तरी चीन के ५ प्रान्तों–होपेई (Hopei), चाहार (Chahar), शान्टुंग, शांसी और स्वेयुआन (Suiyuan) में पृथकतावादी आन्दोलन भड़काने का प्रयत्न किया। उसने तेल की दृष्टि से समृद्ध जेहोल (Jehole) प्रदेश को मंचूरिया का भाग बतलाते हुए अपने कब्जे में ले लिया। इसके बाद उसने चीन की दीवार के सब दर्रों पर अधिकार कर लिया। अप्रैल १९३३ में तो जापानियों ने कई स्थानों पर दीवार को पार करके चीनी भूमि पर बढ़ना शुरू किया और पेकिंग के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। अन्त में ३ मई १९३३ को दोनों राष्ट्रों में सैनिक सुलह हो गई और चीनी सेनायें महान् दीवार के आस पास के ५ हजार वर्गमील से हट गईं।

---

1. "It is a veritable measure of providence that Manchurian trouble has arisen It is an alarm bell for the awakening of the Japanese people and the great ideal of Japanese nation should be spread and expanded all over the world and every impediment to it burshed a side even by the sword."

[ग] एशिया के लिये नई व्यवस्था, अथवा जापानी मुनरो सिद्धान्त का स्पष्टीकरण--अप्रेल १६३४ में जापान की विदेश नीति में एक नया मोड़ आया और उसने अपनी मुनरो विचारधारा (JaPanese Monroe-Doctrine) जिसे 'एशिया के लिए नई व्यवस्था' (New Order for Asia) भी कहा जाता है, संसार के सामने रखी। जापान की यह नूतन विचारधारा १८ अप्रेल १६३४ को जापानी विदेश मंत्रालय के एक सरकारी प्रवक्ता अमाओ (Amau) के एक वक्तव्य में प्रकट हुई। **अमाओ वक्तव्य में यह घोषित किया गया कि:—**

"चीन के साथ अपने सम्बन्धों के मामले में अपनी विशेष स्थिति के कारण उन मामलों से सम्बन्धित दृष्टिकोणों में जिनसे कि चीन प्रभावित है, अन्य विदेशी राष्ट्रों के साथ हर बात पर जापान के सहमत होने की संभावना नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि पूर्वी एशिया में अपने मिशन को पूरा करने लिए और अपने विशिष्ट उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए जापान को कठोरतम प्रयास करने हैं।......इसलिए हम चीन द्वारा की गई ऐसी किसी भी चेष्टा का विरोध करते हैं जिसके द्वारा वह जापान का विरोध करने हेतु किसी भी अन्य देश का प्रभाव उपयोग में लाता हो। खास इस समय, मंचूरिया और शंघाई की घटनाओं के बाद, विदेशी शक्तियों द्वारा चीन को टेकनिकल या वित्तीय सहायता के नाम से की जाने वाली संयुक्त कार्यवाही का राजनीतिक अर्थ अवश्य लगाया जायेगा। यदि ऐसे कार्य जारी रहे तो इनसे उलझनें पैदा होगी।.. इसलिए जापान को सिद्धान्ततः ऐसे कार्यों पर आपत्ति उठानी पड़ेगी। चीन को लड़ाकू विमान देना, चीन म हवाई अड्डे बनाना, सैनिक शिक्षक, विशेषज्ञ तथा सलाहकार भेजना, या राजनीतिक उपयोग के लिए धन की व्यवस्था करने की दृष्टि से ऋण देना, स्पष्ट रूप से, जापान एवं चीन तथा अन्य देशों के मैत्री सम्बन्धों में तथा पूर्वी एशिया की शांति और व्यवस्था में बिगाड़ पैदा करने लगेंगे। जापान ऐसी परियोजनाओं का विरोध करेगा।"

वास्तव में, जापान की यह घोषणा पाश्चात्य देशों को एक चेतावनी थी जिसमें उन्हें चीन से पृथक रहने की धमकी दी गई थी। **अमाओ वक्तव्य (Amau Statement)** एक तरह से तनाका स्मरण पत्र' का पूरक था जिसके द्वारा जापान में 'पाश्चात्य राज्यों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध' चीन का रक्षक होने का दावा किया, चीन ने अपने विशेष हितों पर बल दिया और अमेरिका सहित पाश्चात्य शक्तियों को चीन को किसी भी प्रकार की सहायता न देने को आगाह किया। यह वक्तव्य वास्तव में चीन के लिये एक धमकी होने से अधिक यूरोपियनों के लिये चीन छोड़ो नोटिस था। जापान की इस घोषणा कीं तीव्र प्रतिक्रियायें हुईं। ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस में शीघ्र ही पत्र व्यवहार हुआ और पश्चिमी देशों की भावी नीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण वक्तव्य दिये। जापान के कार्यक्रम को पश्चिमी राष्ट्रों ने अनुचित एवं अन्यायपूर्ण बतलाया। उन्होंने चीन को सैनिक सहायता देना बदस्तूरजारी रखा, परन्तु दुर्भाग्य से, चीन को अधिक सहायता प्राप्त नहीं हुई और जो कुछ सहायता मिली, उसका उपयोग उसने साम्यवादियों को कुचलने में किया। अतः चीन और जापान में कुछ समय तक ही चुप्पी रह सकी। २८ दिसम्बर १६३४ को जापान ने

जर्मनी और इटली के अधिनायक जापान के इस उत्तरदायित्वों के अंत
नहीं रहे। वे लोग तो पहले से ही "बल ही अधिकार" में अधिक स्वतंत्रता पूर्वक
के सिद्धान्त को मानने वाले थे जब इस ... २७ मार्च १९३३ को ही कर
भंग करने की प्रेरणा भी मिली।

(घ) एण्टी कोमिंटर्न पैक्ट और चीन से युद्ध का पुनः प्रारम्भ—चीनी जनता जापान के प्रसार को रोकने के लिए बड़ी व्यग्र थी और यह तभी सम्भव था जबकि चीन पहले गृहयुद्ध से मुक्त हो जाय। अतः दिसम्बर १९३६ में मार्शल चांग-शू-येल्यॉग (Chang Hsueh Liang) ने च्यांगकाई शेक का अपहरण करके उसे बंदी बना लिया और तभी मुक्त किया जबकि उसने साम्यवादियों से समझौता कर पूर्ण शक्ति से जापान का प्रतिरोध करने का वचन दिया। कुओमितांग और साम्यवादियों के इस पुनर्मिलन से जापानी प्रसार रुक जाने की संभावना प्रबल हो गई, अतः अपनी स्थिति मजबूत करने और एशिया में 'नवीन व्यवस्था' (New Order) स्थापित करने के अपने उद्देश्य में सफलता पाने के लिए जापान ने जर्मनी के साथ २५ नवम्बर, १९३६ को **एण्टी कोमिंटर्न पैक्ट पर हस्ताक्षर किए।** जापान की विदेश नीति में यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। इस सम्बन्ध में **शूमैन (Schumen)** ने लिखा है:—"जब यह बात स्पष्ट हो गई कि साम्यवाद का विरोध, देशभक्ति उभाड़ने तथा पश्चिमी प्रजातंत्रों को मदोन्मत्त करने के लिए एक लाभदायक प्रतीक था, तो जापान के नीति-निर्माताओं ने २५ नवम्बर सन् १९३६ ई० के एण्टी कोमिंटर्न पैक्ट पर हस्ताक्षर करने में नाजी रीश का साथ दिया, मंचूरिया तथा मंगोलिया में रूस के विरुद्ध सीमा पर युद्ध किया (जिसमें एक भी सफलता प्राप्त नहीं हुई) तथा अन्तिम रूप में, जुलाई सन् १९३७ ई० में चीन को जीतने के लिए अपनी सारी शक्ति लगाकर अपनी समस्या को हल करने की चेष्टा की। वस्तुतः यह जापान का एक नया कदम था। इस कदम से जापान को न केवल जर्मनी और इटली की मित्रता ही प्राप्त हुई बल्कि साम्यवादी विरोधी कार्यों को करने में अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस का मौन समर्थन भी प्राप्त हो गया।"

१९३७ के मध्य में जापान ने एक ओर चीन के विरुद्ध और दूसरी ओर रूस के सुदूरपूर्वी प्रदेशों के विरुद्ध एक नवीन आक्रमण का श्रीगणेश कर दिया। रूसी सेनाओं के समक्ष जापान को हर बार असफलता का मुख देखना पड़ा। १९३७ से १९४० के मध्य चार बार जापानी और रूसी सेनाओं के मध्य उल्लेखनीय मुठभेड़ें हुई और चारों ही बार जापानी फौजें पीछे हटने को बाध्य हुई। जापान यह समझ गया कि रूस से टकराना सरल नहीं होगा अतः उसने अपने आक्रमण का मुख्य शिकार चीन को ही बनाया।

वह घटना जिसके परिणामस्वरूप चीन से जापान ने लड़ाई शुरू कर दी और जो लड़ाई १९३९-४५ के महायुद्ध से जा मिली, अपने मूल में अधिक भयंकर नहीं थी। घटना इस प्रकार बताई जाती है कि ७ जुलाई १९३७ को मध्यरात्रि को, लूकाओचियाओ के पास मार्कोपोलो नामक स्थान पर एक जापानी सैनिक लापता हो गया और उसकी खोज करने वाली जापानी सैनिक टुकड़ी की चीनी सैनिक टुकड़ी से मुठभेड़ हो गयी। जापान ने इस घटना की ओट में चीनी सरकार से तुरन्त ही यह मांग की कि, "उत्तरी चीन

जर्मनी और इटली के अधिनायक ज.प
नहीं रहे। वे लोग तो पहले से ही "शेष अनिर्णायात्मक एवं स्थिर स्थिति के सिद्धान्त को मानने वाले थे, उपस्थित हुआ कि अगला कदम क्या भंग करने की प्रेरणा ग्रहण कर सकता था, पूर्वी एशिया के ब्रिटिश उपनिवेशों के विरुद्ध युद्ध छेड़ सकता था अथवा सुदूरपूर्व में अपने वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी अमेरिका से लोहा बजा सकता था। जर्मनी ने जापान को रूस पर आक्रमण करने की सलाह दी किन्तु जापान इसके लिए तैयार न था। १९३७ से १९४० के बीच वह ४ बार रूस से शक्ति परीक्षण कर चुका था और इसलिए उसने उससे अलग ही रहने का निश्चय किया।

जापान की इच्छा यह थी कि जर्मनी इंगलैण्ड और फ्रांस को पराजित करे ताकि इन देशों के एशियाई प्रान्तों को जापान सुगमतापूर्वक हड़प सके। किन्तु जब जर्मनी ने जापान पर यह दबाव डालना आरम्भ किया कि वह जर्मनी के पक्ष में ब्रिटेन से युद्ध करे तो जापान ने प्रत्युत्तर में मांग की कि जर्मनी स्वय रूस पर आक्रमण करे या फिर भविष्य में धुरी राष्ट्रों और रूस के संघर्ष में जापान की तटस्थता स्वीकार करे। हिटलर ने जापान की अन्तिम मांग को स्वीकार कर लिया। इधर सुनिश्चितता की दृष्टि से, **जापान ने १३ अप्रेल १९४१ को रूस के साथ एक पंचवर्षीय अनाक्रमण समझौता कर लिया।** इस समझौते द्वारा दोनों देशों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया और साथ ही बाह्य मंगोलिया एवं मांचूको की स्वाधीनता एवं सीमान्त–सुरक्षा का भी आश्वासन दिया।

ब्रिटेन और अमेरिका से युद्ध छेड़ने का प्रस्ताव एक अत्यन्त संकटपूर्ण विचार था। पर जापान के लिए चुप बैठना सम्भव न था। उसे विश्वास हो चुका था कि यदि चीन पर विजय प्राप्त करनी है तो उसे अमेरिका को चीन की सहायता करने से रोकना होगा। इसीलिये उसने यही निश्चय किया कि सुदूरपूर्व में ब्रिटिश एवं अमेरिकन शक्ति को समाप्त किया जाय। सबसे पहले उसने अमेरिका से भूझने का संकल्प किया। उसने सोचा कि रूस और ब्रिटेन जब तक जर्मनी के साथ उलझे हुए हैं, वह अमेरिका से निपट लेगा। परन्तु यही जापान की भूल थी। अमेरिका जैसी महान शक्ति से टकराना बच्चों का खेल न था। जो भी हो, जापान ने ७ दिसम्बर १९४१ को पर्लहारबर में स्थित अमेरिकन नौ-सैनिक वेड़े पर भीषण आकस्मिक बमवर्षा की और अनेक जहाजों को डुबो दिया। ८ दिसम्बर को अमेरिका ने जापान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करदी। ९ दिसम्बर को जापानी बमवर्षकों ने ब्रिटिश जहाज 'प्रिन्स ऑफ वेल्स' डुबो दिया और जब ब्रिटेन ने इसके विरुद्ध विरोध–पत्र भेजा तो शक्ति के मद में चूर जापान ने ब्रिटेन के विरुद्ध भी युद्ध का बिगुल बजा दिया। दिसम्बर १९४१ में ही चीन ने मित्र राष्ट्रों की ओर से जापान के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी। ११ दिसम्बर को जर्मनी ने भी जापान का साथ देते हुए अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु युद्ध के अन्तिम समय तक जापान और रूस, परस्पर पर विरोधी गुट होते हुए भी, एक दूसरे के प्रति तटस्थ ही बने रहे। केवल अन्तिम समय में रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा करते हुए मंचूरिया और उत्तरी कोरिया पर अधिकार जमा लिया।

मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में जापान को प्रारम्भ में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। ६ महीने के अन्दर ही जापानी सेनाओं ने हांगकांग, ग्वाम, फिलिपाइन्स, स्याम, बर्मा, मलाया, सिंगापुर, डच ईस्टइन्डीज तथा पश्चिमी एल्–शियन्स तक धावा मार दिया। लेकिन १९४३ के बाद युद्ध की परिस्थितियों में परिवर्तन आया और जापान की स्थिति तेजी से बिगड़नी प्रारम्भ हुई। सभी मोर्चों पर जापान की प्रगति को रोक दिया गया। मोरेल सागर, मिडवे, बिस्मार्क सागर, ग्वादला नहर, तरावा, साइपान, आईयोगिमा तथा ओकिनावा में भीषण नौ-सेनाओं की भिडन्त हुई जिसमें जापान को हार खानी पड़ी। १९४५ के आरम्भ में अमेरिका द्वारा हवाई और समुद्री आक्रमण भयंकर रूप से होने लगे। जुलाई में तो एक–एक दिन में दो हजार से अधिक हवाई जहाजों ने जापान पर हमला किया। उधर जर्मनी की हालत भी पूरी तरह पतली हो चुकी थी। मई १९४५ में जर्मनी पूरी तरह हार चुका था और उसने आत्मसमर्पण कर दिया था। परन्तु जापान अभी तक डटा हुआ था। पोट्सडम सम्मेलन में जापान को यह चेतावनी दी गयी कि वह बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दे अन्यथा उसे बिल्कुल विनष्ट कर दिया जायगा। जापान द्वारा इन चेतावनियों की उपेक्षा कर देने पर अमेरिका ने ६ अगस्त १९४५ को अणुबम के प्रहार से हिरोशिमा नगर को नष्ट कर दिया। इस प्रथम अणु विस्फोट से जो प्रलयकारी दृश्य उपस्थित हुआ, वह संसार के इतिहास की एक अत्यन्त दर्दनाक और सर्वाधिक अमानवीय घटना है। लगभग ८० हजार नागरिक तुरन्त ही मृत्यु की गोद में चले गये और सारा नगर ध्वंस हो गया। उधर रूस ने भी याल्टा सम्मेलन के अन्तर्गत हुए समझौते के अनुसार ८अगस्त को मृतप्राय: जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और मंचूरिया, उत्तरी कोरिया, साखालिन व क्यूराइल द्वीपों पर अधिकार कर लिया। ९ अगस्त को फिर दूसरा अणुबम जापान के दूसरे नगर नागासाकी पर गेरा गया। अणु बमों कीं इस महान संहारिक शक्ति के सामने अन्ततः सूर्योदय के देश जापान ने घुटने टेक दिये और १४ अगस्त १९४५ को ही उसने आत्मसमर्पण कर दिया और साथ ही द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो गया।

युद्ध के फलस्वरूप जापान को अपार क्षति उठानी पड़ी। उसके १२युद्ध-पोत, १९वायुयान वाहक, ३४पोतरक्षक जंगी जहाज, १२६विध्वंसक तथा १२५ पनडुब्बी जहाज नष्ट हो गये, ५० हजार से भी ऊपर हवाई जहाज वर्वाद हुए और ९० लाख टन के व्यापारी जहाज या तो डूब गये या वेकार हो गये। जापान के ४४ नगर विनष्ट हो गये, लाखों नागरिक मारे गये और लाखों गृहविहीन हो गये।

आत्मसमर्पण के बाद जापान मित्र राष्ट्रों के नियंत्रण में चला गया।

(२) चीन (China)

जापान के वैदेशिक सम्बन्धों का अध्ययन करते समय अनेक बार चीन का प्रसंग आया और उससे चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का काफी प्रकाश पड़ चुका है अत: आगे चीन के बारे में हमारा वर्णन यथासम्भव संक्षेप में ही रहेगा।

जर्मनी और इटली के अधिनायक जाप
नहीं रहे। वे लोग तो पहले से ही "पूर्व अनिर्णयात्मक एवं स्थिर स्थिति के सिद्धान्त को मानने वाले थे। उपस्थित हुआ कि अगला कदम क्या भंग करने की प्रेरणा भी..र्ण कर सकता था, पूर्वी एशिया के ब्रिटिश उपनिवेशों के विरुद्ध युद्ध छेड़ सकता था अथवा सुदूरपूर्व में अपने वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी अमेरिका से लोहा बजा सकता था। जर्मनी ने जापान को रूस पर आक्रमण करने की सलाह दी किन्तु जापान इसके लिए तैयार न था। १९३७ से १९४० के बीच वह ४ बार रूस से शक्ति परीक्षण कर चुका था और इसलिए उसने उससे अलग ही रहने का निश्चय किया।

जापान की इच्छा यह थी कि जर्मनी इंगलैण्ड और फ्रांस को पराजित करे ताकि इन देशों के एशियाई प्रान्तों को जापान सुगमतापूर्वक हड़प सके। किन्तु जब जर्मनी ने जापान पर यह दबाव डालना आरम्भ किया कि वह जर्मनी के पक्ष में ब्रिटेन से युद्ध करे तो जापान ने प्रत्युत्तर में मांग की कि जर्मनी स्वय रूस पर आक्रमण करे या फिर भविष्य में धुरी राष्ट्रों और रूस के संघर्ष में जापान की तटस्थता स्वीकार करे। हिटलर ने जापान की अन्तिम मांग को स्वीकार कर लिया। इधर सुनिश्चितता की दृष्टि से **जापान ने १३ अप्रेल १९४१ को रूस के साथ एक पंचवर्षीय अनाक्रमण समझौता कर लिया।** इस समझौते द्वारा दोनों देशों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया और साथ ही बाह्य मंगोलिया एवं मांचूको की स्वाधीनता एवं सीमान्त–सुरक्षा का भी आश्वासन दिया।

ब्रिटेन और अमेरिका से युद्ध छेड़ने का प्रस्ताव एक अत्यन्त संकटपूर्ण विचार था। पर जापान के लिए चुप बैठना सम्भव न था। उसे विश्वास हो चुका था कि यदि चीन पर विजय प्राप्त करनी है तो उसे अमेरिका को चीन की सहायता करने से रोकना होगा। इसीलिये उसने यही निश्चय किया कि सुदूरपूर्व में ब्रिटिश एवं अमेरिकन शक्ति को समाप्त किया जाय। सबसे पहले उसने अमेरिका से भूझने का संकल्प किया। उसने सोचा कि रूस और ब्रिटेन जब तक जर्मनी के साथ उलझे हुए हैं, वह अमेरिका से निपट लेगा। परन्तु यही जापान की भूल थी। अमेरिका जैसी महान शक्ति से टकराना बच्चों का खेल न था। जो भी हो, जापान ने ७ दिसम्बर १९४१ को पर्लहारबर में स्थित अमेरिकन नौ-सैनिक बेड़े पर भीषण आकस्मिक बमवर्षा की और अनेक जहाजों को डुबो दिया। ८ दिसम्बर को अमेरिका ने जापान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करदी। ९ दिसम्बर को जापानी बमवर्षकों ने ब्रिटिश जहाज 'प्रिन्स ऑफ वेल्स' डुबो दिया और जब ब्रिटेन ने इसके विरुद्ध विरोध–पत्र भेजा तो शक्ति के मद में चूर जापान ने ब्रिटेन के विरुद्ध भी युद्ध का बिगुल बजा दिया। दिसम्बर १९४१ में ही चीन ने मित्र राष्ट्रों की ओर से जापान के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी। ११ दिसम्बर को जर्मनी ने भी जापान का साथ देते हुए अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु युद्ध के अन्तिम समय तक जापान और रूस, परस्पर पर विरोधी गुट होते हुए भी, एक दूसरे के प्रति तटस्थ ही बने रहे। केवल अन्तिम समय में रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा करते हुए मंचूरिया और उत्तरी कोरिया पर अधिकार जमा लिया।

मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में जापान को प्रारम्भ में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। ६ महीने के अन्दर ही जापानी सेनाओं ने हांगकांग, स्याम, फिलिपाइन्स, स्याम, बर्मा, मलाया, सिंगापुर, डच ईस्टइन्डीज तथा पश्चिमी एल्शियन्स तक धावा मार दिया। लेकिन १९४३ के बाद युद्ध की परिस्थितियों में परिवर्तन आया और जापान की स्थिति तेजी से बिगड़नी प्रारम्भ हुई। सभी मोर्चों पर जापान की प्रगति को रोक दिया गया। मोरेल सागर, मिडवे, बिस्मार्क सागर, ग्वादला नहर, तरावा, साइपान, आईयोगिमा तथा ओकिनावा में भीषण नौ-सेनाओं की भिडन्त हुई जिसमें जापान को हार खानी पड़ी। १९४५ के आरम्भ में अमेरिका द्वारा हवाई और समुद्री आक्रमण भयंकर रूप से होने लगे। जुलाई में तो एक-एक दिन में दो हजार से अधिक हवाई जहाजों ने जापान पर हमला किया। उधर जर्मनी की हालत भी पूरी तरह पतली हो चुकी थी। मई १९४५ में जर्मनी पूरी तरह हार चुका था और उसने आत्मसमर्पण कर दिया था। परन्तु जापान अभी तक डटा हुआ था। पोट्सडम सम्मेलन में जापान को यह चेतावनी दी गयी कि वह बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दे अन्यथा उसे बिल्कुल विनष्ट कर दिया जायगा। जापान द्वारा इन चेतावनियों की उपेक्षा कर देने पर अमेरिका ने ६ अगस्त १९४५ को अणुबम के प्रहार से हिरोशिमा नगर को नष्ट कर दिया। इस प्रथम अणु विस्फोट से जो प्रलयकारी दृश्य उपस्थित हुआ, वह संसार के इतिहास की एक अत्यन्त दर्दनाक और सर्वाधिक अमानवीय घटना है। लगभग ८० हजार नागरिक तुरन्त ही मृत्यु की गोद में चले गये और सारा नगर ध्वंस हो गया। उधर रूस ने भी याल्टा सम्मेलन के अन्तर्गत हुए समझौते के अनुसार ८अगस्त को मृतप्राय: जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और मंचूरिया, उत्तरी कोरिया, साखालिन व क्यूराइल द्वीपों पर अधिकार कर लिया। ९ अगस्त को फिर दूसरा अणुबम जापान के दूसरे नगर नागासाकी पर गेरा गया। अणु बमों की इस महान संहारिक शक्ति के सामने अन्तत: सूर्योदय के देश जापान ने घुटने टेक दिये और १४ अगस्त १९४५ को ही उसने आत्मसमर्पण कर दिया और साथ ही द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो गया।

युद्ध के फलस्वरूप जापान को अपार क्षति उठानी पड़ी। उसके १२युद्ध-पोत, १९वायुयान वाहक, ३४पोतरक्षक जंगी जहाज, १२६विध्वंसक तथा १२५ पनडुब्बी जहाज नष्ट हो गये, ५० हजार से भी ऊपर हवाई जहाज बर्बाद हुए और ९० लाख टन के व्यापारी जहाज या तो डूब गये या बेकार हो गये। जापान के ४४ नगर विनष्ट हो गये, लाखों नागरिक मारे गये और लाखों गृहविहीन हो गये।

आत्मसमर्पण के बाद जापान मित्र राष्ट्रों के नियंत्रण में चला गया।

(२) चीन (China)

जापान के वैदेशिक सम्बन्धों का अध्ययन करते समय अनेक बार चीन का प्रसंग आया और उससे चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का काफी प्रकाश पड़ चुका है अतः आगे चीन के बारे में हमारा वर्णन यथासम्भव संक्षेप में ही रहेगा।

१९वीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धशतक तक चीन "रमणीय एकान्तबास" (Splendid Isolation) का शांतिपूर्वक उपयोग करता रहा और पाश्चात्य साम्राज्यवादी तत्वों के सम्पर्क से बचा रहा। लेकिन यूरोप के सभ्य राष्ट्रों ने अपने-शक्ति-बल पर चीन के विशाल एवं व्यापक समुद्री तट का द्वार उन्मुक्त करके ही विश्राम लिया। प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक चीन विदेशी शक्तियों का पूरा अखाड़ा बन गया। उस समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका सहित अधिकांश यूरोपियन देश और जापान चीन को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में विभाजित कर चुके थे जिस कारण चीन की केन्द्रीय सरकार का अस्तित्व नाम मात्र को ही रह गया था।

प्रथम महायुद्ध और चीन—प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ होने पर चीन ने तटस्थता की नीति की घोषणा कर दी क्योंकि प्रथम तो उसकी आन्तरिक दशा बड़ी खराब थी और दूसरे जापान नहीं चाहता था कि वह युद्ध में सम्मिलित हो। जापान तो चीन को पूरी तरह अपने ही प्रभाव-क्षेत्र में रखने का आकांक्षी था। युद्ध के दौरान ब्रिटेन, फ्रांस, रूस आदि सभी राष्ट्रों की संघर्ष-रत व्यस्तता का लाभ उठाकर जापान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और चीन में स्थित जर्मन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। शान्टुंग पर कब्जा जमा लेने के बाद जापान ने चीन के सामने अपनी "कुख्यात २१ मांगें" रखीं। इन मांगों को लेकर दोनों राष्ट्रों के बीच लम्बा विवाद चला, परन्तु जापान की शक्ति के आगे चीन को झुकना पड़ा और उसने उपरोक्त मांगों पर आधारित दो सन्धियों पर हस्ताक्षर करके अपना पीछा छुड़ाया। १९१७ में मित्र राष्ट्रों ने चीन पर दबाव डाला कि वह जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदे। अमेरिका ने जापान से भी कहा कि वह चीन को युद्ध घोषणा करने के लिये कहे। परिणामस्वरूप अगस्त १९१७ में चीन जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। फिर भी चीन के युद्ध सम्बन्धी प्रयत्न अत्यन्त सीमित थे और जर्मनी को पराजित करने से अधिक चीनियों की जापानी आक्रमण को रोकने में अभिरुचि थी। प्रथम महायुद्ध ने चीनियों को गहन निद्रा से जगा दिया और उनमें आत्म विश्वास का भाव उत्पन्न किया।

पेरिस का शान्ति सम्मेलन और चीन—महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त चीन को भी पेरिस शांति सम्मेलन में अपना प्रतिनिधिमण्डल भेजने का निमंत्रण मिला। सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधियों ने जापानियों और चीन का शोषण कर रही अन्य विदेशी शक्तियों को चीन से हट जाने की अपील की। इससे विदेशी शक्तियां सतर्क हो गयी। चीनी प्रतिनिधि मण्डल ने शान्टुंग के प्रश्न को सम्मेलन के सामने रखा और उस प्रदेश को जापान से वापस दिलाने की मांग की। उसने जापान की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से दुनियां को अवगत कराने की चेष्टा की। चीन द्वारा शान्टुंग सम्बन्धी युद्धकालीन सन्धियां रद्द कर देने का आग्रह किया गया क्योंकि ये संधियां युद्ध में दबाव के कारण करवाई गई थीं। यद्यपि राष्ट्रपति विल्सन ने चीन की मांग को अपना समर्थन प्रदान किया तथापि जापान की हठधर्मी के कारण इस दिशा में कोई प्रगति न हो सकी। इससे चीन को बड़ा आघात लगा और उसने वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। उसने जर्मनी के साथ १९१९ में अलग से एक सन्धि की।

सेंटजर्मेन की सन्धि पर हस्ताक्षर करके चीन ने अपने लिये राष्ट्रसंघ की सदस्यता अवश्य प्राप्त करली।

शांति सम्मेलन में अपने देश की असफलता की सूचना पाते ही सम्पूर्ण चीन में जापान के प्रति तीव्र विद्रोह उठ खडा हुआ जिसमें छात्र–छात्राओं· व्यापारियों और वेकारों तक ने सक्रिय भाग लिया। जापानी माल का बहिष्कार करने की घोषणा की गई। विद्रोहियों द्वारा पेकिंग सरकार के जापान–समर्थक मन्त्रियों और कर्मचारियों पर घातक हमले किये गये। इन घटनाओं से जापान चिन्तित हो उठा क्योंकि उसके विदेशी व्यापार पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ने लगा। अत: उसने शान्टुंग प्रदेश पुन: चीन को लौटाने के लिये वातचीत शुरू की, लेकिन पेकिंग सरकार ने जापानी प्रस्ताव को ठुकराते हुए विदेशी शक्तियों से आर्थिक सहायता की प्रार्थना की जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। ऐसे समय पर, नवम्बर १९२१ में अमेरिका के राष्ट्रपति ने वाशिंगटन सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया।

वाशिंगटन सम्मेलन और चीन—वाशिंगटन सम्मेलन बुलाने के अनेक महत्वपूर्ण कारणों में से एक चीन और जापान के पारस्परिक विवाद का निपटारा एवं सुदूरपूर्व की अन्य समस्याओं का समाधान करना था। जहां पेरिस शांति–सम्मेलन में चीन की आशाओं पर तुपारापात हुआ था, वहां वाशिंगटन सम्मेलन में चीन की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को मान्यता मिली। संयुक्त राज्य अमेरिका न केवल वर्साय की सन्धि से असन्तुष्ट था वल्कि चीन, साईवेरिया और प्रशान्त क्षेत्र में जापान के विस्तारवाद से भी वडा चिन्तित था। १९०२ में सम्पन्न की गई एंग्लो जापानी सन्धि सुदूरपूर्व में अप्रत्यक्ष रूप से जापानी विस्तारवाद में सहायक थी। अत: सम्मेलन में जापान की विस्तारवादी नीति पर अंकुश लगाने की संयुक्त राज्य की इच्छा प्रबल रही। यह उल्लेखनीय है कि प्रतिनिधित्व करने के लिये उत्तरी चीन के सेनानायकों अथवा युद्ध नेताओं को आमंत्रित किया गया जबकि केण्टन की चीनी राष्ट्रवादी सरकार को सम्मेलन में उपस्थित होने की अनुमति नहीं दी गई (प्रथम महायुद्ध के दौरान चीन उत्तर और दक्षिण की सरकारों में विभाजित हो गया था तथा राष्ट्रवादी ड.० सनयात सेन की अध्यक्षता में केण्टन में संसदीय सरकार की पृथक से स्थापना करली गई थी)।

वाशिंगटन सम्मेलन में अनेक संधियों पर हस्ताक्षर किये गये जिनमें से दो का सम्बन्ध नौ–सैनिक शक्ति से था और शेप का प्रशान्त की एवं सुदूरपूर्वीय समस्याओं से। अमेरिका के दवाव और चीनी प्रतिनिधियों की वारम्वार प्रार्थना के कारण अन्त में चीन की मांगें मंजूर की गयीं और इस सम्वन्ध में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस संधि के अनुसार जापान ने एक भारी मुआवजे की राशि के वदले में शाण्टुंग प्रान्त चीन को लौटाना स्वीकार कर लिया और १९२२ में वह वाकायदा शाण्टुंग से हट गया। इस तरह चीन की कूटनीति ने पहली वार सफलता अर्जित की और जापान की साम्राज्यवादी नीति को पहली वार एक वड़ा आघात लगा। शाण्टुंग की मांग के अतिरिक्त चीनी प्रतिनिधियों ने यह मांग भी प्रस्तुत की कि चीन में विदेशियों के विशेप अधिकारों और अतिरिक्त प्रादेशिक अधिकारों (Special Rights and Extra Territorial Rights) को समाप्त करके चीन की संप्रभुता का सम्मान

किया जाय। सम्मेलन में नौ राष्ट्रों की एक संधि हुई जिसके अनुसार जापान ने अमेरिका के समक्ष चीन में 'मुक्तद्वार' की नीति के सिद्धान्त को कबूल कर लिया। संधि-कर्त्ताओं ने चीन की सार्वभौमिकता, स्वतंत्रता एवं प्रादेशिक एकता के प्रति विश्वास प्रकट किया, चीन में एक स्थिर तथा सुव्यवस्थित सरकार की स्थापना के लिए सुअवसर प्रदान करने का आश्वासन दिया, और चीन में सभी राष्ट्रों के समान व्यापारिक अधिकारों को मान्यता दी। किसी भी राष्ट्र द्वारा चीन से विशेषाधिकार प्राप्त करने की चेष्टा को वर्जित किया गया और युद्ध के समय चीन की तटस्थता के प्रति आस्था प्रकट की गयी। इस तरह इस संधि ने चीन के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को ऊंचा उठा दिया।

राजनीतिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अर्जित करने पर भी, चीन विदेशी सत्ता के शोषण से मुक्ति नहीं पा सका। वाशिंगटन सम्मेलन में पाश्चात्य शक्तियाँ चीन की सार्वभौमिकता की रक्षा की अपेक्षा चीन में अपने आर्थिक एवं व्यापारिक हितों को बनाये रखने को अधिक उत्सुक थी। सबसे अधिक लाभ अमेरिका को हुआ क्योंकि 'मुक्तद्वार' की नीति को मान्यता मिलना चीन के लिए "मैगनाकार्टा" प्राप्त करने के समान था। चीन को असंतोष इसलिए भी रहा क्योंकि मन्चूरिया और पूर्वी मंगोलिया में जापान के प्रभुत्व को कोई आंच नहीं पहुंची। यहां वाशिंगटन सम्मेलन के कार्य का मूल्यांकन करना हमारा उद्देश्य नहीं है, अतः चीन के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि 'कुछ खोई हुई स्वतंत्रता उसे पुनः वापिस कर दी गयी और शाटुंग को फिर से प्राप्त कर लेने से उसे सांस लेने का अवसर प्राप्त हुआ जिससे यदि वह चाहता तो वह अपना पुनर्सङ्गठन कर सकता था।" वाशिंगटन सम्मेलन में संसार के राष्ट्रों के समक्ष चीनी मांगों का विज्ञापन कर दिया और इस तरह विदेशों में उसके प्रति सहानुभूति जागृत कर दी।

चीन की वैदेशिक नीति १९२२ से १९३६ तक—१९२१ में वाशिंगटन सम्मेलन के बाद से लेकर १९३७ के पूर्व तक की चीनी वैदेशिक नीति सम्बन्धों के प्रधान लक्षण ये थे-(१) सोवियत रूस के साथ चीन का कूटनीतिक और आर्थिक सहयोग, (२) चीन की राजनीतिक व्यवस्था को पुनर्गठित करने के चीनी राष्ट्रवादियों के प्रयास, (३) चीनी में साम्यवादी दल की स्थापना, (४) १९२७ से १९३७ तक की अवधि में चलने वाला चीनी राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के मध्य का आन्तरिक संघर्ष, (५) विदेशी शक्तियों के विरुद्ध चीनी कूटनीतिक सफलता, एवं (६) १९३१-३२ में जापान द्वारा मन्चूरिया पर अधिकार।

वाशिंगटन सम्मेलन के बाद चीन में राष्ट्रवादी आन्दोलन का विस्तार हुआ और सोवियत रूस के साथ उसके सम्बन्ध घनिष्ठ हो गये। वास्तव में रूसी क्रांति के बाद से ही रूस की बोल्शेविक सरकार चीन के प्रति सहानुभूति-पूर्ण रही थी और १९१७ में ही उसने चीन में अपने सभी अधिकारों और सुविधाओं का परित्याग कर दिया था। चीन में भी बोल्शेविक क्रांति के प्रति पर्याप्त सहानुभूति रही थी। दोनों ही देशों की आन्तरिक दशाओं में पर्याप्त समानता थी। रूसी क्रांति पुरानी पड़ गयी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं व संस्थाओं (Out-moded Social and Political Systems) राज-तंत्र और साम्राज्यवाद के लिए चुनौती थी और देश से निष्क्रियता एवं भाग्य-

वाद को मिटाने के लिए कटिबद्ध थी। उस समय चीन का जनसाधारण भी रोटी, भूमि, स्थिरता, एकता और आत्मसम्मान का भूखा था तथा एक जन-प्रिय एवं कार्यकुशल सरकार की स्थापना चाहता था। रूसी साम्यवाद उनकी इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो रहा था। रूसी क्रान्ति ने चीन की सामान्य जनता में आत्मविश्वास की एक नवीन भावना पैदा की, उनके सामने सामाजिक और आर्थिक बुराइयों की व्याख्या प्रस्तुत की और उन साम्राज्यवादी राज्यों के विरुद्ध समर्थन प्राप्त करने का नया स्रोत प्रदान किया जो अब भी उनके देश का शोषण करने को कटिबद्ध थे। रूसी क्रांति और साम्यवाद के आदर्शों ने चीनी जनता में प्रेरणादायक भावों का संचार किया। दूसरी ओर रूस के लिए भी राजनीतिक और प्रचारात्मक दृष्टिकोण से चीन उपयोगी क्षेत्र था। **अत: दोनों ही देशों में पारस्परिक सहायता और सहयोग की सक्रिय इच्छाएं जागृत हुई और** दोनों के मध्य विद्वानों का आदान-प्रदान हुआ।

सन् १९२१ में चीन में साम्यवादी दल की स्थापना हुई। १९२२ में पराजय, १९२४ में कैन्टन नगर के बाहर ब्रिटिश, फ्रेन्च, अमेरिकन और पुर्तगाली फौजों के सैनिक प्रदर्शन, चीनी सेना को पुनर्गठित करने बावत पाश्चात्य देशों की इन्कारी आदि के कारण राष्ट्रवादी कुओमितांग (Kuomintang) स्वभावतः सोवियत रूस की ओर झुके। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि पाश्चात्य शक्तियों ने चीनी राष्ट्रवादी नेता डा० सनयातसेन [Dr. Sunyatsen] और उसकी कुओमितांग दल की पूर्ण उपेक्षा की थी। उन्होंने चीन के युद्ध नेताओं [War Lords] को ही अधिक महत्व दिया था, जब कि सोवियत रूस ने इस बात को उचित समझा था कि राष्ट्रवादी क्रांति द्वारा चीन के युद्ध-नेताओं का विनाश किया जाना चाहिए। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण सोवियत रूस ने प्रारम्भ से ही कुओमितांग दल के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना के प्रयत्न किये।

१९२३ में रूसी विशेषज्ञ बोरोदिन राष्ट्रवादी कुओमितांग सरकार के परामर्शदाता के रूप में चीन आया। इसके **बाद ४वर्ष तक चीनी-रूसी सहयोग पूरी तरह से चलता रहा।** कुओमितांग दल का रूस के साम्यवादी दल के नमूने पर पुनर्गठन किया गया। इसी तरह रूसी फौज के आदर्शों पर ही चीनी सेना का पुनर्गठन हुआ और वाम्पोया (Whampoa) में सैनिक कॉलेज की स्थापना हुई। कुओमितांग दल ने साम्यवादियों को व्यक्तिगत हैसियत से अपने दल का सदस्य होने और दल के पद पर चुने जाने की अनुमति प्रदान की और साथ ही साम्यवादी दल अपना पृथक अस्तित्व भी रखे रहा। **किन्तु दोनों ही दलों की यह मैत्री ऊपरी थी क्योंकि कुओमितांग दल के प्रतिक्रियावादी साम्यवादी दल के उग्रवादियों के प्रति सदैव संदेहशील** रहते थे। फिर भी १९२४ में चीन और रूस में कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना के लिए वार्ताएं चली और उसी वर्ष दोनों देशों के मध्य एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। १९२५ में डा० सनयातसेन की मृत्यु होने पर कुओमितांग दल के साम्यवाद विरोधी और साम्यवाद सहयोगी दोनों पक्षों के मतभेद और भी उग्र हो गये। फिर भी डा० सेन के उत्तराधिकारी और रूस व टोकियो में सैनिक-प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त करने वाले च्यांग-काइ-शेक ने साम्यवादियों का विरोध होते हुए

भी प्रधान रूप से रूसी सहायता के आधार पर १६२८ तक सारे देश में एक शासन सत्ता स्थापित की, सम्पूर्ण चीन की राजधानी नानकिंग (दक्षिणी राजधानी) बनायी, पेकिंग (उत्तरी राजधानी) के पुराने शासन को समाप्त कर उसका नाम पेपिंग (Peping) रखा।

१६२४ के बाद ही चीन में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं। १६२५ में शंघाई में विदेशी सेना द्वारा एक छात्र जुलुस पर गोली चला देने के फलस्वरूप वहां भयंकर उपद्रव भड़क उठा और चीनी राष्ट्रवादियों ने ब्रिटेन द्वारा अधिकृत हांगकांग के चारों ओर घेरा डाल दिया तथा ब्रिटिश माल का बहिष्कार कर दिया। **शंघाई काण्ड से उत्पन्न इन परिस्थितियों में ब्रिटेन को चीन के साथ सुलह करनी पड़ी।** शंघाई में आयोजित एक सम्मेलन में यूरोपियनों द्वारा चीन की चुंगी नीति (Tariff Policy) पर पुनर्विचार किया गया। ब्रिटेन चीन को कुल चुंगी (Customs Duties) का ५ प्रतिशत देने को सहमत हो गया। १६२६ में चुंगी के मूल्यांकन और एकत्रीकरण का अधिकार भी चीन को दे दिया गया। इटली, स्पेन और पुर्तगाल भी चीन को चुंगी चुकाने पर सहमत हो गये।

दूसरी महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि **चीन की राष्ट्रवादी सरकार विदेशी प्रभुत्व को समाप्त करने की दिशा में आगे बढ़ी।** १६२६ में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रान्स को एक नोट भेजकर चीन ने यह मांग की कि उसके देश से विदेशी राष्ट्रों के विशेष प्रादेशिक अधिकार समाप्त किए जायें। उसने राष्ट्रसंघ के समक्ष इस प्रश्न को उठाया। राष्ट्रवादी सरकार उन समस्त संधियों को रद्द करना चाहती थी जिनके अन्तर्गत चीन के साथ असमानता का व्यवहार किया जा रहा था। १६३० में पाश्चात्य शक्तियां चीन की मांगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो गई और उन्होंने चीन में रहने वाले विदेशों के ऊपर चीनी सरकार का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। इसी अवधि में ब्रिटेन ने हांको (Hankao), चिन-कियांग (Chin-Kiang) और अमोय (Amoy) में अपने अधिकारों और विशेष हितों का त्याग कर दिया। इस प्रकार १६३० तक चीन ने पाश्चात्य शक्तियों के ऊपर एक महान् कूटनीतिक विजय प्राप्त की। किन्तु जब १६३० में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया तो कुओमितांग सरकार को पुनः पाश्चात्य शक्तियों का कृपाकांक्षी बनना पड़ा। इसके बाद से ही चीन की विदेश नीति ने एक नया मोड़ लिया और उसने यूरोप के साथ सहयोग की नीति का अनुसरण किया।

चीन के वैदेशिक सम्बन्धों में एक क्रांतिकारी मोड़ तब आया जब साम्यवादियों और चीन की राष्ट्रवादी सरकार के मध्य मतभेद भयकर रूप से उग्र हो गये और रूस के प्रति चीनी नीति में अमैत्रीपूर्ण कठोरता ने स्थान लिया। इस बात का आभास बहुत पहले से ही हो चुका था कि राष्ट्रवादी कुओमितांग सरकार रूस के साथ बहुत दिनों तक मित्रता नहीं बनाये रख सकेगी क्योंकि चीन का साम्यवादी दल अपनी अलग सेना और शक्ति का निर्माण कर रहा था। १६२७ में मतभेद इतने उग्र हो गये और रूसी चीनी सम्बन्धों में इतना तनाव आ गया कि राष्ट्रवादी सरकार ने रूसी सलाहकारों को देश से निकाल दिया और शंघाई तथा कैण्टन में अनेक रूसी और चीनी साम्यवादियों को गिरफ्तार कर लिया गया। इतना ही नहीं, चीन की राष्ट्र-

वादी सरकार ने **सोवियत रूस से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये** और वह ब्रिटेन तथा अमेरिका की ओर झुकी। १९२९ में रूस द्वारा सचालित **पूर्वो-चीनी रेलवे के प्रश्न पर चीन और सोवियत रूस में गम्भीर संघर्ष खड़ा हो गया** और दोनों ही देशों ने सीमाओं पर अपनी फौजें भेज दी। फ्रांस और जर्मनी ने दोनों के बीच मध्यस्थता करने की चेष्टा की। जर्मनी ने सलाह दी कि १९२४ में हुई चीनी-रूसी संधि की शर्तों के अनुसार संघर्ष का फैसला किया जाय। परन्तु जर्मन प्रयासों का कोई फल नहीं निकला। अमेरिका के विदेश सचिव स्टिलसन ने भी संघर्ष के शांतिपूर्ण समाधान का एक प्रस्ताव रखा, लेकिन चीन और रूस दोनों ही ने उनके पारस्परिक विवादों में किसी तृतीय पक्ष के हस्तक्षेप को पसद नहीं किया। अन्ततः १९२९ में ही दोनों देशों ने आपस में एक समझौता करके यह निश्चय किया कि इस विषय में यथा पूर्व स्थिति कायम रखी जाय। १९३० में चीनी और रूसी प्रतिनिधि पुनः मिले, परन्तु दोनों देशों के मतभेदों का अन्त करने बावत कोई समझौता नहीं हो सका।

एक तरफ तो रूस के साथ चीन के सम्बन्ध मधुर नहीं थे और दूसरी तरफ १९३० के अन्त तक मंचूरिया के प्रश्न पर जापान और चीन के बीच पूर्ण रूप से गत्यावरोध हो गया। जून १९३२ में कुओमितांग की कार्यकारिणी ने अत्यन्त गुप्त ढंग से यह प्रस्ताव पारित किया कि सोवियत संघ के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये जांय। प्रारम्भिक वार्ता जेनेवा में राष्ट्रसंघ असेम्बली के चीनी प्रतिनिधि और सोवियत प्रतिनिधियों के बीच हुई। दिसम्बर १९३२ में लिटविनोव (Litvinov) स्वयं जेनेवा आया और उसने चीनी प्रतिनिधि से बातचीत की। परिणामस्वरूप **दोनों देशों के मध्य कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना हो गयी।**

चीन की सकटापूर्ण अवस्थाका भरपूर लाभ जापान ने उठाया। चीनी राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के आन्तरिक संघर्ष से फायदा उठाते हुए **जापान ने मंचूरिया की राजधानी मुकदन पर अधिकार कर लिया** और वहाँ अपनी एक कठपुतली सरकार की स्थापना करदी। आरम्भ में अन्य देशों ने जापान द्वारा स्थापित मांचूको या मंचुकाऊ (Manchoukuo) सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया, परन्तु बाद में उन्होंने उसे मान्यता दे दी। चीन ने मंचूरिया के मामले को राष्ट्रसंघ के समक्ष उपस्थित किया और राष्ट्र-संघ ने जापान को आक्रांता घोषित भी कर दिया, परन्तु इससे अधिक और कुछ नहीं किया जा सका। जापान ने मंचूरिया को हड़प लिया और राष्ट्र संघ के निर्णय की पूर्ण उपेक्षा ही नहीं की बल्कि उसकी सदस्यता से त्यागपत्र भी दे दिया। रूसी विदेश मंत्री लिट विनोव ने जापान के विरुद्ध सामूहिक प्रतिरोध का प्रस्ताव किया, किन्तु ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका सहमत न हुए। १९२२ की नौ-शक्ति-संधि (Nine Power Treaty) चीन की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा नहीं कर सकी।

चीन पर संकटों की जैसे बाढ़ ही आयी हुई थी। रूस के साथ दिसम्बर १९३२ में कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना के कुछ ही समय बाद बाह्य मंगोलिया (Outer Mongolia) **को लेकर दोनों देशों के सम्बन्ध फिर से बिगड़ गये।** यद्यपि रूस ने मंगोलिया पर चीन के प्रभुत्व सम्पन्न अधिकार

को स्वीकार कर लिया था, तथापि उसकी रुचि इस प्रदेश में बराबर बनी हुई थी। अगस्त १९३४ में बाह्य मंगोलिया में विद्रोह हो गया और रूस ने उसमें पर्याप्त सहायता दी। इस विद्रोह के द्वारा बाह्य मंगोलिया में साम्यवादी सरकार की स्थापना हो गई, वहाँ सोवियत संविधान के नमूने पर बना नया संविधान लागू किया गया।

जापान के द्वारा मंचूरिया में मंचुकाओ शासन की स्थापना के बाद बाह्य मंगोलिया और मंचुकाओ के मध्य सीमावर्ती झड़पें शुरू हो गईं और इनके कारण रूस तथा जापान के सम्बन्धों में तनाव आ गया। १९३५ में मंगोलिया गणतन्त्र के प्रतिनिधि और स्टॉलिन मास्को के एक सम्मेलन में मिले और तब १९३६ **में एक पारस्परिक सहायता संधि सम्पन्न हो गई जिसके द्वारा सोवियत संघ ने बाह्य मंगोलिया को सुरक्षा का आश्वासन दिया।** चीन ने इस संधि के विरुद्ध पुरजोर आवाज उठाई और कहा कि बाह्य मंगोलिया में किसी भी तृतीय पक्ष का हस्तक्षेप अवैधानिक है। परन्तु सोवियत संघ ने चीनी प्रतिरोध की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अन्ततः १९४५ की चीनी-सोवियत-संधि ने इस स्थिति की पुष्टि कर दी कि बाह्य मंगोलिया सोवियत संघ का अंग है।

१९२२ से १९३७ तक की अवधि में चीन में राजनीतिक व्यवस्था के पुनर्गठन के भी प्रयास किये गये। १९२८ तक तो राष्ट्रवादी नेता च्यांगकाई शेक के नेतृत्व में चीन के एकीकरण का कार्य बहुत ही जोरों से चला। १९२८ में एक कानून बनाया गया जिसके अनुसार सरकार जनता द्वारा न चुनी जाकर कुओमितांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति द्वारा नियुक्त की जाने की थी। इस समय तक करीब-करीब चीन के सम्पूर्ण भू-भाग पर जापान के भय से राष्ट्रवादियों की तूती बोलने लगी थी। च्यांग काई शेक ने यह भी घोषणा कर दी कि चीन का एकमात्र वैधानिक दल कुओमितांग दल है। इसी अवधि में चीन का आर्थिक ढांचा भी बुरी तरह लड़खड़ा गया था, अतः १९३१ में राष्ट्रवादी सरकार द्वारा एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् की स्थापना भी की गई।

१९२२ और १९३७ के मध्य ही चीनी राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के मध्य व्यापक रूप से शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियां चलती रही। यद्यपि १९२७ से ही चीन में गृहयुद्ध की स्थिति हो गई, किन्तु जापान द्वारा चीन पर सम्भावित आक्रमण के भय से यह गृहयुद्ध स्थगित सा हो गया क्योंकि एक सामान्य शत्रु का सामना करना था। हुआ यह कि दिसम्बर १९३६ में च्यांगकाई शेक को उसके दो अधिनस्थ सेनापतियों ने बन्दी बना लिया और उसे साम्यवादियों की सलाह के अनुसार उनके साथ मिलकर जापान के विरुद्ध लड़ने को बाध्य किया। इस समय यदि साम्यवादी चाहते तो च्यांग का बध कर सकते थे, किन्तु स्टॉलिन की परामर्श से उन्होंने ऐसा करना उचित नहीं समझा।[1]

चीनी विदेश नीति १९३७ से १९४५ तक—१९३७ से १९४५ तक के मध्य कुओमितांग और साम्यवादियों के मध्य ऊपरी और अस्थाई मैत्री बनी रही। चीन की आन्तरिक फूट का लाभ उठाकर जापान ने १९३७ में उस

1. *Claude A. Buss* : The Far East, Page 509.

पर नया आक्रमण कर दिया। राष्ट्र के इस संकट के समय चीन के सभी राजनीतिक दलों ने अस्थाई रूप से अपने आप को एकबद्ध कर लिया ताकि विदेशी शत्रु का मुकाबला किया जा सके। साम्यवादियों ने च्यांगकाई शेक के साथ मिल कर जापान के विरुद्ध प्रभावशाली युद्ध छेड़ा। किन्तु उनकी वास्तविक नीति यही थी कि पहले कुओमितांग के साथ समानता का दर्जा प्राप्त किया जाय और बाद में उसका स्थान ग्रहण कर लिया जाय। माओ कुओमितांग के सिद्धान्तों को मानता हुआ भी साम्यवादी आदर्शों को छोड़ने को तैयार न था। उसका कहना था कि मेरी नीति ७०% साम्यवादी, २० प्रतिशत समझौतावादी तथा १० प्रतिशत जापान के विरुद्ध है। साम्यवादियों ने जापानियों के विरुद्ध छापामार रण-नीति के अनुसार प्रबल आक्रमण आरम्भ कर दिये। उन आक्रमणों के सम्बन्ध में एक जापानी सेनापति के ये शब्द थे कि, "यदि हम इनके विरुद्ध छोटे सैनिक दस्ते भेजते हैं तो वे कभी वापस नहीं लौटते; यदि बड़ी सेना भेजते हैं तो उन्हें कभी साम्यवादी नहीं मिलते।" एक अन्य सेनापति ने साम्यवादी सैनिकों की तुलना मधुमक्खियों से करते हुए कहा, "इन्हें जितना हटाओ या इनसे जितना बचो, उतनी ही प्रबलता से ये आक्रमण करते हैं।"

१६३४ से १६३७ के बीच जापान उत्तरी चीन में अपनी राजनीतिक और आर्थिक प्रभुता जमा चुका था और मार्कोपोलो पुल की घटना (Marcopolo Bridge incident) को लेकर जुलाई १६३७ में उसका उपरोक्त नया आक्रमण शुरु हुआ। जापान के विरुद्ध साम्यवादियों और कुओमितांग का संयुक्त मोर्चा १६३७ से १६४० तक चला। उस अस्थाई एकता के परिणाम-स्वरूप चीनी सोवियत सम्बन्धों में भी सुधार हुआ। इसी दौरान जापान और रूस के सम्बन्धों में तेजी से बिगाड़ आया, क्योंकि रूस के शत्रु जर्मनी के साथ जापान ने एण्टीकोमिंटर्न पेक्ट पर १६३६ में हस्ताक्षर कर दिये थे। अतः जापान को नीचा दिखाने और उसकी शक्ति को क्षीण करने की दृष्टि से रूस ने सभी साधनों द्वारा चीन को जापान के विरुद्ध सहायता दी। **अगस्त १६३७ में चीन और सोवियत रूस के मध्य एक अनाक्रमण समझौता** हुआ। उसी वर्ष रूस ने आस्ट्रेलिया के इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि सुदूरपूर्व में अभिरुचि रखने वाले देशों का एक सम्मेलन बुलाया जाय। नवम्बर १६३७ में ब्रुसेल्स सम्मेलन (Brussels Conference) में रूस ने जापान के आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की और चीन का पुरजोर समर्थन किया। १६३७ में चीन और रूस के मध्य एक व्यापारिक समझौते (Sino–Soviet Trade Pact) पर हस्ताक्षर हुए। इस दौरान जापान के साथ रूस के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते चले गये किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने तेजी से मोड़ लिया और अचानक ही **१६३६ में रूसी जापानी अनाक्रमण संधि** सम्पन्न हो गई और इसके बाद **१६४१ में रूसी-जापानी तटस्थता संधि** पर भी हस्ताक्षर हो गए। रूस और जापान के इन अप्रत्याशित मैत्री सम्बन्धों ने चीन और पाश्चात्य शक्तियों को स्तम्भित कर दिया। इन दो समझौतों और संधियों के द्वारा रूस और जापान इस बात पर सहमत हो गए कि वे मन्चूरिया और मंगोलिया गणतन्त्र में परस्पर शत्रुतापूर्ण विरोधी कार्यवाहियां नहीं करेंगे। जापान ने मंगोलिया गणतन्त्र और रूस ने मंचुकाओ (Manchukao) की अनुल्लंघनीयता का वचन

6. Write short notes on:—(a) Russo-Japanese war of 1904-05; (b) Washington Conference 1921-22; (c) Mukden Incident.

इन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—(अ) १६०४-०५ का रूसी-जापानी युद्ध, (ब) वाशिंगटन सम्मेलन १६२१-२२, एवं (स) मुकदन घटना।

7. Describe the circumstances that led to withdrawal of Japan from the League of Nations and state how far that withdrawal influenced Japanese foreign policy in subsequent years

उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनके परिणामस्वरूप जापान ने राष्ट्रसंघ का परित्याग किया तथा इस परित्याग का आगामी वर्षों में जापान की विदेश नीति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

8. Describe the foreign relations of China between the two World Wars.

दो महायुद्धों के बीच की अवधि में चीन के वैदेशिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।

9, Analyse the international importance of the Far East.

सुदूर-पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का विश्लेषण कीजिए।

10. Account for the success of the Japanese foreign policy between the two World Wars.

दो महायुद्धों के बीच में जापानी विदेश नीति की सफलता के कारण बतलाइए।

11, Estimate the Far Eastern Policy of Britain, and the United States of America.

ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की सुदूर-पूर्वीय नीति का मूल्यांकन कीजिए।

12. Give a brief account of Japan's aggression against China in Manchuria. Do you think that the failure of the League of Nations to check it was 'the first serious blow to its prestige as an agency for providing security ?'

मन्चूरिया में चीन के विरुद्ध जापान के आक्रमण का संक्षेप में वर्णन कीजिए। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि इस आक्रमण को रोकने में राष्ट्र संघ की असफलता 'सुरक्षा प्रदान करने वाली एक एजेन्सी के रूप में इसके सम्मान पर पहली गम्भीर चोट थी ?'

१३

द्वितीय महायुद्ध और उस काल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन एवं शान्ति-सन्धियाँ

[THE SECOND WORLD WAR AND WAR-TIME INTERNATIONAL CONFERENCES & PEACE TREATIES]

"मैं आक्रमण करूंगा, आत्मसमर्पण नहीं।......समझौते के प्रति आशा बच्चों जैसी बात है। दो ही चीजें हैं, विजय या पराजय। यह नाजी जर्मनी के भाग्य का प्रश्न है, प्रश्न यह नहीं है कि भविष्य में यूरोप में कौन शासन करेगा।........मैं अपनी सम्पूर्ण उपलब्धियों को जूआ के दाव पर लगा रहा हूं।........मैं कुछ भी करने से नहीं चूकूंगा और प्रत्येक विरोधी को नष्ट कर दूंगा। या तो इस संघर्ष में सफल होऊंगा या नष्ट हो जाऊंगा। मैं अपने देश की हार अपनी आंखों से नहीं देखूंगा। बाहर किसी भी शक्ति के सामने घुटने नहीं टेके जाएंगे और देश के भीतर किसी भी क्रान्ति को सहन नहीं किया जाएगा।"

—एडोल्फ हिटलर

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति १९१८-१९ को हुई थी और ठीक २० वर्ष बाद द्वितीय महायुद्ध १९३९ में प्रारम्भ हुआ। मार्शल फौच ने शांति-सम्मेलन के समय ही जो यह भविष्यवाणी की थी कि यह शांति नहीं, २० साल के लिये युद्ध विराम है, वह सच्ची निकली। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त विश्व शांति के प्रयत्न ही अप्रत्यक्ष रूप से द्वितीय महायुद्ध के कारण परिणित हुए। म्यूनिख उपसंधि जो ब्रिटेन और फ्रांस के सम्मान पर आघात का कारण बनी वही शांति को स्थायी रखने वाली मानी गई। राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय शांति के प्रयास में असफल रहा और उसके लक्ष्य राष्ट्रों द्वारा उपेक्षित किये गये। साम्राज्यवादी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय न्याय तथा संधियों की शर्तों से विमुख रहे।

इसका भीषण परिणाम वह महाविनाशकारी युद्ध हुआ जिसने मानवता को ध्वंस में ढकेल दिया। प्रथम महायुद्ध के लगभग सीमित रंगस्थल थे, किन्तु द्वितीय महायुद्ध ने सम्पूर्ण विश्व को अपनी विकराल लपटों में समेट लिया और इस दृष्टि से यह निश्चयतः एक विश्व संग्राम था—ऐसा विश्व-संग्राम जिसने विख्यात वैज्ञानिक आइन्सटाइन को यह कहने पर बाध्य कर दिया कि "तृतीय विश्वयुद्ध के बारे में तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु चौथा विश्व युद्ध पाषाण अस्त्रों से होगा।" स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता ने राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों के हृदय में इस आतंक की अनुभूति पैदा कर दी कि यदि कहीं तृतीय महायुद्ध हो गया तो सम्पूर्ण मानव सभ्यता ही विनष्ट हो जायगी।

तो फिर ऐसे भयंकर महायुद्ध के कारणों और इतिहास पर संक्षेप में समग्र रूप से दृष्टि डालना उचित होगा। पहले हम कारणों की चर्चा करेंगे और तब संग्राम के इतिहास की।

द्वितीय महायुद्ध के कारण
(Causes of the Second World War)

द्वितीय महायुद्ध के लड़े जाने के अनेक कारण थे जिनमें से उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

(१) **जर्मनी, इटली और जापान का अतिवादी राष्ट्रवाद**—द्वितीय महायुद्ध का सर्वोपरी प्रमुख कारण जर्मनी का घोर उग्रवादी राष्ट्रवाद था। वर्साय की सधि की अपमानजनक शर्तों ने जर्मनी को राजनीतिक सम्मान और राष्ट्रीय मानस को गम्भीर आघात पहुंचाया था। इन शर्तों का उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिए दुर्बल और लगड़ा बना देना था। प्रथम महायुद्ध की अपमानजनक पराजय और ऊपर से थोपी गयी अपमानजनक वर्साय की सन्धि ने जर्मन जनता के हृदय में अभूतपूर्व आत्मचेतना और राष्ट्रवाद का संचार कर दिया था। जर्मनों ने वर्साय की सन्धि को 'अन्तिम' (Final) कभी स्वीकार नहीं किया। वर्साय संधि द्वारा निश्चित सीमाएं जर्मनी की राष्ट्रप्रेमी जनता के लिए निराशाजनक थीं, क्योंकि उनके द्वारा जर्मनी की अखण्डता किसी प्रकार सुरक्षित नहीं रह सकती थी। उत्तरपूर्वी यूरोप में पोलिश-गलियारे का बनाना या डैन्जिग का जर्मनी से विच्छेद करना सतत् शत्रुता का बीज बोना था। जर्मनी का अधिकांश हिस्सा पोलेण्ड में मिलाकर या फ्रान्स में सम्मिलित कर द्वेष की आग को प्रज्वलित रखा गया था। जर्मनी और टर्की से उपनिवेशों का विच्छेद और उन पर मित्रराष्ट्रों की रक्षा-व्यवस्था विद्वेष की भावना को सतत् सजीव रखने वाला कदम था। वर्साय की सन्धि द्वारा एक तरफ तो जर्मनी का अंग-भंग कर दिया गया था और उसे "सोना उगलने वाले प्रदेशों" से वंचित कर दिया गया था। वहां क्षतिपूर्ति की विशाल राशि की मांग अनाचार और शोषण की पराकाष्ठा थी। विनष्ट जर्मनी से, जहां खाने-पीने और जीने-जिलाने के लाले पड़ रहे थे, अरबों और खरबों की संख्या में 'मार्क' की स्वर्ण मुद्रा मांगी जाती थी। 'युद्ध-अपराध' की धारा जर्मन राज्य के लिए एक काला धब्बा था जिसको धो डालना प्रत्येक जर्मनवासी अपना उत्तरदायित्व समझता था।

१९२०–२५ के जर्मनी के आर्थिक संकट ने और जर्मनी की पाश्चात्य राष्ट्रों के प्रति इस अवधि की पूर्व की नीति ने जर्मनों के हृदय में अपनी सरकार के प्रति विश्वास को हिला दिया। फलस्वरूप जर्मनी में उग्रराष्ट्रवादी विचारधारा तेजी से पनपने लगी और अन्त में विश्वव्यापी मन्दी के उपरान्त नाजी पार्टी के नेतृत्व में वहाँ अतिवादी उग्रतम राष्ट्रवाद एवं सैनिकवाद का उदय हुआ। नाजी क्रान्ति ने जर्मनी में एक नयी आशा भर दी, नये प्राणों का संचार कर दिया। शक्ति ग्रहण करते ही हिटलर ने जर्मनी के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार की मांग की और सम्पूर्ण जर्मन राष्ट्र ने 'करो या मरो' का सिद्धान्त इसके वीभत्सरूप में अपनाते हुए दानवी अंगड़ाई ली। हिटलर का नवीन दृष्टिकोण और अभियान युद्ध का प्रमुख कारण बन गया। उसने अपने देशवासियों के हृदय में ये भाव भर दिये कि उसकी सम्पूर्ण योजनाएं राष्ट्रीय विकास के लिए हैं। उसने अनिवार्य सैनिकीकरण कर दिया और नि:शस्त्रीकरण के प्रयासों को ठोकर लगा दी, ऑस्ट्रिया का अपहरण कर लिया, चैकोस्लोवाकिया को निगल लिया और जर्मन जनता को विश्वास दिला दिया कि "उसके समान देश में अधिकार सम्पन्न या विश्वासपात्र अन्य कोई व्यक्ति कभी नहीं होगा। यह समय चूकने का नहीं है। मेरे समय में युद्ध छिड़ जाना चाहिए।"[1] इसी अर्थ में केटेल्वी ने द्वितीय महायुद्ध को हिटलर का युद्ध कहकर सम्बोधित किया है और कहा है कि "यह एक व्यक्ति की स्वत: नीति है जो दलीय शक्ति के विश्वास का महान जुआ है।"[2] हिटलर की नीतियों ने, उग्रजर्मन राष्ट्रवाद ने, पोलैण्ड पर आक्रमण द्वारा अन्त में द्वितीय महायुद्ध का भयंकर विस्फोट कर ही दिया।

जर्मनी की ही भांति इटली और जापान में उग्रतम राष्ट्रवाद और चरमवाद ने द्वितीय महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त किया। मुसोलिनी युद्ध का पुजारी था और युद्ध में ही सम्पूर्ण मानव–शक्तियों के चरमोत्कर्ष का दर्शन करता था। उसके लिये युद्ध जीवन था, शान्ति मृत्यु। जापान, इटली और जर्मनी में से कोई भी देश उपनिवेश छीनने के किसी भी अवसर से वंचित नहीं रहना चाहता था। इसीलिए यदि जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तो इटली ने एबीसीनिया के साथ बलात्कार किया और म्यूनिख–दुर्घटना के बाद तो हिटलर दुनिया के धन के उचित वितरण पर जोर देने लगा। इस प्रकार उपनिवेशों को लेकर इटली, जर्मनी और जापान में सैनिकवाद पर आधारित साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण खुले आम किया जाने लगा। इन तीनों

---

1. "It is a vast programme of national expansion. There will never again be a man with such authority, or who has the confidence of the German people as I have. There is no time to lose.... War must come in my time."

—*Hitler*

2. "The war of 1939-45 is in this sense Hitler's war, the deliberate policy of a man taking time by the forelock, the culminating exercise of the party's power, the great gamble of its faith."

—*Ketelbey.*

धुरी राष्ट्रों के सैनिक राष्ट्रवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक संकट उपस्थित कर दिया और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की शक्तियों को पीछे धकेल दिया। इन सब घटनाओं की चरम परिणति द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में हुई।

(२) **विभिन्न अल्पसंख्यक जातियों का असंतोष**—वर्साय की संधि और उसके साथ ही बाद में होने वाली अन्य संधियों के द्वारा विभिन्न अल्पसंख्यक जातियों का निर्माण हो गया। राष्ट्रपति विल्सन ने शान्ति-संधि का आधार आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को बनाना चाहा, किन्तु आर्थिक, सैनिक, सामाजिक और धार्मिक कारणों की वजह से उस सिद्धान्त को सभी जगह कठोरतापूर्वक लागू करना सम्भव नहीं था। अनेक स्थानों पर एक-दूसरे की विरोधी अल्पसंख्यक जातियां एक ही शासन के अन्तर्गत रह गईं। परिणामस्वरूप अनेक राज्यों में अल्पसंख्यक जातियों के मध्य भयानक असंतोष विकसित होता गया। हिटलर ने इस असंतोष का लाभ उठाया, उसने पश्चिमी शक्तियों से सौदेबाजी की और 'अल्पसंख्यकों पर कुशासन' के बहाने की आड़ में आस्ट्रिया तथा सूडेटन प्रदेश पर लगभग बलपूर्वक कब्जा कर लिया और पोलैण्ड पर हमला बोल दिया।

(३) **दो प्रतिद्वन्द्वी सैनिक खेमों का उदय**—जिस तरह प्रथम महायुद्ध से पहले सम्पूर्ण विश्व दो विरोधी सैनिक खेमों में विभाजित हो गया था, उसी तरह द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से पूर्व तक संपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संसार दो परस्पर शत्रु सैनिक खेमों में बंट गया। १९३७ तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दो शक्तिशाली ग्रुप बन गये। एक तरफ जर्मनी, इटली और जापान जैसे कभी संतुष्ट न होने वाले राष्ट्रों की रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी (Rome-Berlin-Tokyo Axis) बनी तो दूसरी तरफ मित्रराष्ट्रों के सुदृढ़ संगठन का उदय हुआ। फलतः ज्योंही ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैण्ड को समर्थन दिया त्योंही द्वितीय महायुद्ध भड़क उठा।

(४) **ब्रिटेन और फ्रान्स के दृष्टिकोणों का अन्तर**—प्रथम महायुद्ध के बाद से ही ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य मतभेद पैदा हो गये जो दोनों महायुद्धों के बीच की लगभग संपूर्ण अवधि पर्यन्त चलते रहे। ब्रिटेन 'शक्ति-संतुलन' की अपनी परम्परागत नीति में विश्वास करता था। न तो वह जर्मनी को एकदम पंगु बनाना चाहता था और न फ्रांस को एकदम शक्तिशाली। इसके विपरीत फ्रांस अपने को हर तरह से सुरक्षित करके यूरोप पर सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का अभिलाषी था। जर्मनी के सम्बन्ध में दोनों ही राष्ट्रों के मध्य उग्र मतभेद थे। फ्रांस जर्मनी को सदैव के लिए एक क्षीण और मृत प्रायः राष्ट्र देखना चाहता था जब कि ब्रिटेन अपने आर्थिक पुनरुत्थान के लिए जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाना चाहता था। 'दूकानदारों का राष्ट्र' ब्रिटेन १९१४-१८ के युद्ध की कटुताओं को भुलाकर जर्मनी को अपनी अर्थ-व्यवस्था को पुनर्गठित करने का अवसर देना चाहता था। हिटलर के उदय के बाद भी फ्रांस और ब्रिटेन के मतभेद शांत नहीं हुए। हिटलर ने राष्ट्रसंघ को ठुकराया और वर्साय संधि के उपबन्धों की अवहेलना की। फ्रांस ने विरोध ठाना लेकिन ब्रिटिश सहयोग का अभाव रहा। १९ जून १९३५ को ब्रिटिश जर्मन नौ-सेना समझौता फ्रांस का विरोध होते हुए भी सम्पन्न किया गया। जब १९३६ में हिटलर ने लोकार्नो समझौतों को अस्वीकृत किया और राइन प्रदेश का सैन्यी-

करण आरम्भ किया तो भी ब्रिटेन जर्मनी के प्रति उदारवादी तुष्टीकरण की नीति का पोषक बना रहा। फ्रांस को ब्रिटिश नीति के आगे हार खानी पड़ी। जब नाजी आक्रमण म्यूनिख-वार्ता की स्थिति तक पहुंच गया तब भी अनिच्छा होते हुए भी विवशता के कारण फ्रांस को ब्रिटिश-मत के अनुसार कार्य करना पड़ा।

ब्रिटेन यह भी चाहता था कि सोवियत रूस का प्रभाव और क्षेत्र यूरोप में न बढ़े। इसीलिए जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर ब्रिटेन चुप रहा ताकि आवश्यकता पड़ने पर सशक्त जर्मनी सोवियत रूस का सामना करने में सहायक बन सके। फ्रांस जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को सदैव आशंका की दृष्टि से देखता रहा, किन्तु ब्रिटेन के सहयोग के अभाव में वह अकेला कुछ भी कर सकने में असमर्थ था। पुनश्च, ब्रिटेन समुद्री यातायात में स्वतन्त्रता की नीति अपनाने के पक्ष में था। वह समुद्री यातायात को बढ़ाना और सुरक्षित करना चाहता था जो फ्रांस की नीति के साथ मेल नहीं खाते थे। क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में भी दोनों राष्ट्रों में उग्र मतभेद रहे हैं और राष्ट्रसंघ के प्रति भी उनके दृष्टिकोणों में समानता नहीं रही थी।

ब्रिटिश-फ्रेंच मतभेदों ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गम्भीर रूप में प्रभावित किया। राष्ट्रसंघ इनके खेलों का अखाड़ा बन गया और प्रभावशाली रूप में शान्ति स्थापक का कार्य करने में असफल रहा। इन दो महान् राष्ट्रों के मतभेदों का धुरी राष्ट्रों ने पूरा लाभ उठाया। वे अपने को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाते गये, फ्रांस के सुरक्षा-संगठन को क्षीण करते गये, अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों से मुकरते गये और राष्ट्रसंघ की अवहेलना करने में सफल हुए। इन सब बातों का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि विश्व एक बार फिर पहले से भी अधिक भयंकर महायुद्ध की चपेट में आ गया। ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति हिटलर के दुस्साहस को बढ़ाने में बड़ी सहयोगी हुई।

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट**—१९३० में विश्व में एक महान् आर्थिक संकट आया जिसने किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक देश की आर्थिक अवस्था पर बुरा प्रभाव डाला। इस आर्थिक संकट के फलस्वरूप राष्ट्रों में निःशस्त्रीकरण की भावना लुप्त प्रायः हो गई, वे शस्त्रों की होड में एक दूसरे से बाजी मार ले जाने को लालायित हो गये और सभी में यह तीव्र आकांक्षा जागृत हो गई कि उनका देश शस्त्र और सेना की दृष्टि से अन्य देशों से पिछड़ा न रहे। आर्थिक संकट ने जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष में सहायता पहुंचाई, इससे इटली में फ्रांसवाद को बढ़ावा मिला तथा यूरोप के अनेक राष्ट्रों में साम्यवादी दलों का प्रसार और प्रभाव बढ़ने लगा। इस आर्थिक संकट का लाभ उठाकर ही जापान ने १९३१ में मंचूरिया पर चढ़ाई कर दी और १९३५ में एबीसीनिया पर इटली का हमला भी इसी आर्थिक संकट का एक अप्रत्यक्ष परिणाम सिद्ध हुआ।

(६) **राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ**—आर्थिक सम्पन्नता की होड़, नये बाजारों की खोज और कच्चे माल को प्राप्त करने की सुविधा ने जिस पारस्परिक संघर्ष को जन्म दिया था, उस संघर्ष का निवटारा प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर भी न हो पाया और युद्ध में भाग लेने वाले अवसर पाकर

एक दूसरे संघर्ष की खोज में तल्लीन हो गये। वे ऐसे बहाने ढूंढने लग गये जिससे व्यापारिक लाभ केवल उन्हीं के देशों को होता रहे। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी के उपनिवेश ब्रिटेन, बेल्जियम और फ्रांस में बंट गये जिससे जहाँ इन देशों को कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधा बढ़ गई वहाँ जर्मन आदि देशों की अकथनीय हानि होने लगी। इटली को भी प्रथम महायुद्ध से कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचा था, अतः वह भी जर्मनी की भांति कच्चे माल के लिए नए उपनिवेश स्थापित करने और विदेशी बाजारों में अपने माल की खपत करने की फिक्र में लगा। साथ ही वह तेल, लोहा और कोयले की भारी कमी का अनुभव कर रहा था। इन वस्तुओं को सुविधापूर्वक उपलब्ध न कर सकने की सूरत में इटली की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाएं पूरी नहीं हो सकती थीं। इसी प्रकार जापान भी अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के निवास के लिए और औद्योगीकरण के लिए तब तक पर्याप्त साधन नहीं जुटा सकता था जब तक वह अपने पड़ौसी अर्द्धविकसित राज्य चीन में पैर फैलाने की कोशिश न करे।

एक तरफ तो साम्राज्य को प्रसार सम्बन्धी भावनाओं की कशमकश चल रही थी और दूसरी तरफ आन्तरिक व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप अपने तैयार माल की खपत के लिए बाजारों को ढूंढ़ निकालने की तीव्र आवश्यकता विभिन्न राष्ट्रों को उकसा रही थी। १९२५ से १९२९ के मध्य इस दिशा में और साथ ही कच्चे माल को प्राप्त करने में इन राष्ट्रों ने किसी सीमा तक सफलता प्राप्त की। लेकिन १९२९–१९३० के आर्थिक संकट ने एक नयी स्थिति पैदा कर दी जिसके फलस्वरूप प्रत्येक राज्य ने अपने निजी उद्योगों की रक्षा के लिए भारी कर-प्रणाली, व्यापार-कर, समुद्री व्यापार, प्रतिबन्ध आयात-निर्यात सम्बन्धी नियन्त्रण आदि लागू कर दिये। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि सम्पन्न देशों में इतना अधिक माल बढ़ गया कि उसकी खपत की गम्भीर समस्या उठ खड़ी हुई। लेकिन इससे भी अधिक असुविधा उन देशों को हो गयी जिनके पास कच्चे माल और उपनिवेश दोनों का ही अभाव था। उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ और उनके समक्ष यह प्रश्न चिन्ह उपस्थित हो गया कि इसमें कहां तक न्याय है कि कुछ देश तो कच्चे माल के सड़ कर नष्ट हो जाने से भी चिन्तित न हों जबकि दूसरे देश कच्चे माल के लिए तड़पते रहें और दाने-दाने के लिए मोहताज हों। स्वभावतः समृद्ध देशों का सर्वाधिकार और विकसित स्वामित्व अनेक अल्प विकसित एवं महायुद्ध में पराजय के कारण साधनहीन हो गये देशों को चुभने लगे। अब उन्हें स्वयं को समृद्ध बनाने एवं समस्याओं से मुक्त कराने का एकमात्र मार्ग युद्ध ही दिखायी देने लगा। परिणामतः जापान, इटली और जर्मनी आदि धुरी राष्ट्र राजनीतिक बन्धनों से निकट आते चले गये और एक दूसरे के सहयोग से साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु सचेष्ट हो गये। इस तरह विभिन्न राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ द्वितीय महासमर के अग्रदूत बन गये।

(७) राष्ट्रसंघ की निर्बलता—राष्ट्रसंघ की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शांति की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर हुई थी, किन्तु महाशक्तियों के असहयोगी रुख के कारण और जर्मनी, इटली एवं जापान द्वारा घोर उपेक्षा के कारण

यह संस्था अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकी। प्रथम तो संघ की स्थापना ही बदनाम वर्साय संधि के अन्तर्गत हुई थी, दूसरे, इसके उदय के साथ ही अमेरिका द्वारा इसे स्वीकार न करना उस पर तुषारापात था, तीसरे आरम्भ से ही पराजित राष्ट्रों को इसकी सदस्यता न देने और रूस को इसका सदस्य बनने के लिये निमंत्रित न करने से अनेक राज्यों के मन में यह भावना बैठ गई थी कि राष्ट्रसंघ एक विजेताओं का गुट है जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनने का ढोंग है और जिसका केवल मात्र उद्देश्य यही है कि वह पेरिस में किये गये मनमाने समझौते को बनाये रखे। यद्यपि १९२५ से १९२९ के मध्य किये गये राष्ट्रसंघ के आर्थिक और पुनर्निर्माण के कार्यों से प्रभावित होकर ५६ राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार कर ली थी, परन्तु यह रवैया क्षणिक था। जब बड़े-बड़े राज्यों के स्वार्थों के प्रश्न राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों से टकराये तो सिवाय पवित्र प्रस्तावों को पास करने और आयोगों की नियुक्ति करने के राष्ट्रसंघ कुछ भी न कर सका। राष्ट्रसंघ की शक्ति में तब कुछ वृद्धि हो गयी थी जब १९२५ में जर्मनी ने इसकी सदस्यता ग्रहण की। परन्तु जर्मनी द्वारा हिटलर के उदय के बाद सदस्यता त्याग देने के उपरांत संघ निरंतर निर्बल होता गया। राष्ट्रसंघ की नपुंसकता से प्रोत्साहित होकर फासिस्ट और नाजी शक्तियां आक्रामक हो गयीं और उन्होंने द्वितीय महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जापान ने, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा में सहयोग देने संबंधी अपने वचनों को ठुकराते हुए १९३१ में मंचूरिया पर कब्जा कर लिया और १९३७ में चीन पर हमला बोल दिया। लेकिन जापान को रोकने में राष्ट्रसंघ बिल्कुल असमर्थ रहा, और जब चीन पर हमले के लिए राष्ट्रसंघ ने जापान के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाये तो उसने संघ का परित्याग कर दिया। १९३५ और ३६ में इटली ने क्रमशः एबीसीनिया और अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। यद्यपि राष्ट्रसंघ ने इटली पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये, परन्तु संघ के सदस्य प्रतिबन्धों को प्रभावकारी बनाने के लिए कतई उत्सुक न थे। राष्ट्रसंघ की दुर्बलता का भान करके इटली ने भी संघ से अपनी सदस्यता समाप्त कर ली। १९३६ में जर्मनी ने वर्साय की संधि के उपबंधों को तोड़ा और लाकार्नो समझौतों के प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की। उसने राइनलैण्ड का सैन्यीकरण प्रारम्भ कर दिया और आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवाकिया पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। किन्तु तब भी राष्ट्रसंघ मूक दर्शक बना रहा। १९३९ में रूस ने फिनलैण्ड पर हमला किया और राष्ट्रसंघ पुनः असहाय सिद्ध हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति को बनाये रखने में राष्ट्रसंघ की असफलता के फलस्वरूप यूरोपियन देशों ने संघ में अपनी निष्ठा खो दी और शक्ति-संतुलन बनाये रखने के लिए उन्होंने अपने विभिन्न गठबंधन कर लिये। यूरोपियन देशों के मध्य एक दूसरे के विरुद्ध इतने राजनीतिक और सैनिक गठबंधन हुए कि इनसे सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज विषाक्त हो गया और द्वितीय महायुद्ध की आधारभूमि तैयार हो गयी। राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को बिगड़ने से इसीलिए नहीं रोक सका कि प्रथम तो वह संवैधानिक निर्बलता का शिकार था और उसके पास आर्थिक एवं सैनिक शक्ति का अभाव था, दूसरे, महाशक्तियों का असहयोग था, तीसरे राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों के प्रति सदस्यों में निष्ठा का अभाव था, चौथे, संघ के प्रति सदस्य राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण थे और वे

संघ को अपनी स्वार्थ पूर्ति का साधन बनाने पर तुले थे, चौथे, १९३० के आर्थिक संकट ने राष्ट्रवादी शक्तियों को इतना प्रबल कर दिया था कि सामूहिक सुरक्षा और आक्रमण के सामूहिक प्रतिरोध के अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की उपेक्षा होने लगी थी और अन्त में अधिनायकवाद के विकास ने और "लहू और लोहे की" तलवार में तथा पाशविक बल में विश्वास रखने वाले हिटलर और मुसोलिनी के कार्यों ने 'शान्ति' के सभी प्रयासों का जनाजा निकाल दिया था। शूमैन के ये शब्द ठीक ही हैं कि 'संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमता और साहस होता किन्तु इनमें इसका सर्वथा अभाव था; अतएव जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि स्थल बन गया।"

(८) **स्पेन का गृहयुद्ध और धुरी राष्ट्रों द्वारा समर्थन**—जनरल फ्रांको ने १९३६ में स्पेन का गृहयुद्ध प्रारम्भ कर दिया जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस ने तटस्थता अवश्य बरती लेकिन उनकी आन्तरिक सहानुभूति जनरल फ्रान्को के साथ ही रही। हिटलर और मुसोलिनी ने फ्रान्को को खुलकर सक्रिय सहयोग दिया। फलस्वरूप १९३९ में स्पेन की प्रजातांत्रिक सरकार की पूरी तरह से हार हुई और फ्रान्को की तानाशाही सरकार स्थापित हो गयी। फ्रान्को की इस विजय से फासिस्ट राष्ट्रों की शक्ति बढ़ गयी और वे ब्रिटेन तथा फ्रांस की धमकियों को कोरी गीदड़ भभकी समझने लगे।

(९) **जर्मनी का पोलैंड पर आक्रमण**—द्वितीय महायुद्ध के लिए, उपरोक्त सब कारणों के फलस्वरूप, बारूद का महल खड़ा हो चुका था। केवल उसमें चिनगारी लगने की देर थी और यह कार्य पोलैंड पर जर्मन आक्रमण से हो गया। १ सितम्बर १९३९ को हिटलर ने अचानक पोलैण्ड पर आक्रमण किया, ब्रिटेन और फ्रांस ने ३ सितम्बर को जर्मनी को युद्ध बन्द करने की चेतावनी दी और इस चेतावनी की उपेक्षा होने पर उन्होंने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अपनी घोषणा कर दी। थोड़े ही समय में युद्ध ने इतना विस्तृत रूप धारण कर लिया कि उसने महायुद्ध का रूप ले लिया।

द्वितीय महायुद्ध के कारणों पर संक्षेप में विचार करने के उपरान्त अब हम इस युद्ध के इतिहास पर एक सरसरी निगाह डालेंगे।

विश्व संग्राम की गतिविधि

(Course of the Second World War)

द्वितीय महायुद्ध के इतिहास को हम सुविधा की दृष्टि से ५ चरणों में बांट सकते हैं:—

(१) **प्रथम अवस्था**—१ सितम्बर १९३९ से २१ जून १९४१ तक, इसमें जर्मनी ने पोलैंड, नार्वे, डेनमार्क, नीदरलैंड, बेल्जियम, लक्जमबर्ग, फ्रांस, ब्रिटेन, यूनान तथा क्रेट पर आक्रमण किया।

(२) **द्वितीय अवस्था**—२२ जून १९४१ से ६ दिसम्बर १९४१ तक, इसमें धुरी राष्ट्रों का अफ्रीका पर तथा जर्मनी का रूस पर आक्रमण हुआ।

(३) **तृतीय अवस्था**—७ दिसम्बर १९४१ से ७ नवम्बर १९४२ तक,

इसमें जापान का पर्लहारबर पर आक्रमण तथा मित्र राष्ट्रों के सैन्य बल का नीदरलैंड, ईस्ट इंडीज तथा उत्तरी काकेशस पर अधिकार हुआ।

(४) **चतुर्थ अवस्था**—८ नवम्बर १९४२ से ६ मई १९४५ तक, इसमें फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका पर अमेरिका का आक्रमण तथा जर्मनी का आत्म-समर्पण।

(५) **पंचम तथा अन्तिम अवस्था**—७ मई १९४५ से १४ अगस्त १९४५ तक जापान का आत्म-समर्पण।

(१) **प्रथम चरण (First Phase)**—द्वितीय विश्वयुद्ध का **प्रथम चरण १ सितम्बर १९३९ से आरम्भ होता है जब जर्मनी ने पोलेंड पर आक्रमण किया।** हिटलर ने अपनी अदम्य सैनिक शक्ति द्वारा विद्युत गति से पोलैंड को कुचलने की चेष्टा की। कुछ ही दिनों में जर्मन सेना वारसा तक पहुंच गई। ब्रिटेन और फ्रांस पोलैण्ड की रक्षा के लिये पहिले से ही वचनबद्ध हो चुके थे। उन्होने जर्मनी को अल्टीमेटम दिया कि वह पोलैण्ड पर अपना आक्रमण समाप्त करते हुए अपनी फौजों को वापिस लौटा ले, लेकिन इसका वांछित परिणाम न निकलने पर **ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही ने, ३ सितम्बर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।** यह महायुद्ध का आरम्भ था। रणभेरी वज उठी और भीषण नर-मेघ शुरू हो गया। लेकिन पोलैण्ड को हिटलर के पंजों से बचाया न जा सका। ब्रिटेन और फ्रांस की सेना ने जर्मनी का ध्यान बांटने के लिये ठीक पैमाने पर पश्चिमी सीमाओं पर युद्ध नहीं किया। इसी समय सोवियत रूस ने भी पोलैंड पर आक्रमण कर दिया क्योंकि वह यूक्रेनिया को स्वतंत्र करके अपने में मिला लेना चाहता था। यदि पोलैण्ड पूरी तरह जर्मनी के हाथ में चला जाता तो उसके लिये ऐसा करना लगभग असम्भव था। इस घटनाचक्र की स्वाभाविक परिणति वारसा के पतन में हुई और **पोलैंड का चौथा विभाजन** रूस तथा जर्मनी के मध्य सम्पन्न हुआ। उसका पश्चिमी भाग जर्मनी में तथा पूर्वी भाग सोवियत रूस में संयुक्त हो गया। पोलैंड की सरकार का फिर भी फ्रांस में पुनर्सङ्गठन हुआ और युद्ध चलता रहा। हिटलर ने युद्ध बन्द कर देने की अपील की क्योंकि उसके अनुसार उसके उद्देश्य की पूर्ति हो गई थी और अब उसकी ओर कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। हिटलर ब्रिटेन और फ्रांस से इस शर्त पर संधि करने को तत्पर था कि वे उसकी विजयों को मान्यता प्रदान कर दें। लेकिन फ्रांस और ब्रिटेन को अब हिटलर पर विश्वास नहीं रहा था। भयकर युद्ध के दृश्य देखने को अभी बाकी ही थे।

पूर्वी पोलैण्ड पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् सोवियत रूस नाजी शक्ति के भय से अपनी सुरक्षा व्यवस्था को पूर्णतः सुदृढ़ कर लेना चाहता था। उसने इसी दृष्टि से इस्टोनिया, लेटाविया, लियुआनिया और फिनलैंड से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास किये। प्रथम तीनों देशों से उसकी संधियां हो गई, लेकिन **फिनलैंड ने संधि करने से इन्कार कर दिया जिसका प्रत्युत्तर उसे ३० नवम्बर १९३९ को रूसी आक्रमण द्वारा मिला।** घमासान युद्ध में फ़िनलैंड पराजित हुआ और उसके महत्वपूर्ण भाग रूस में मिला लिये गये।

इसी मध्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को अपने अनुकूल पाकर रूस ने रूमानिया को वेसारविया वापिस करने का अल्टीमेटम दिया। विवश होकर बर्लिन और रोम की सलाह पर रूमानिया को सोवियत मांग की पूर्ति करनी पड़ी। इस तरह सोवियत रूस ने सैनिक दृष्टि से उपयोगी सभी क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया।

पोलैण्ड विजय के पश्चात् हिटलर ने लगभग ८ महीनें तक कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की। **९ अप्रेल १९४० तक उसका कोई नया हमला नहीं हुआ**। इस मध्य वह एक तरफ तो शांति के दावे करता रहा और दूसरी ओर घोर सामरिक तैयारियां। **इस काल को कुछ लोग "बनावटी युद्ध काल" (Period of Phony war), चैम्बरलैन "गौधूली–युद्ध" (Twilight war) और जर्मन प्रेस 'Sitting war' कहकर पुकारते थे**। यह वास्तव में ऐसी अवधि थी जिसका जर्मनी और उसके शत्रु पक्ष द्वारा युद्ध की तैयारियां करने में दुरुपयोग किया गया। ब्रिटेन और फ्रान्स ने टर्की के साथ पारस्परिक सहायता करने का समझौता सम्पन्न किया, जापान फासिस्टों के प्रति सहानु–भूति पूर्ण बना, अमेरिका लोकतंत्र की रक्षा करने को उद्यत हुआ और यूरोप के कुछ राष्ट्र ऊपरी तोर पर बिल्कुल तटस्थता की नीति के हिमायती बने।

अन्त में हिटलर का मौन भंग हुआ। **९ अप्रेल १९४० को प्रातः काल डेनमार्क और नार्वे पर जर्मन फौजें चढ़ बैठी**। हिटलर की रण-नीति का एक महत्वपूर्ण विभाग जासूस-व्यवस्था था। दोनों ही देशों में जर्मन जासूसों का भयानक जाल पहिले से ही बिछा दिया गया था। १० जून को हिटलर ने नार्वे के राजा को परास्त करके क्विजलिंग नामक व्यक्ति को जो हिटलर के पक्ष में प्रचार कर रहा था, नार्वे सरकार का अध्यक्ष बना दिया। इसी तरह हिटलर ने डेनमार्क पर भी अपनी पूरी शक्ति से हमला वोला। जर्मन वायु सेना की शक्ति के आगे डेनमार्क परास्त हो गया। अब, स्कैण्डेनेविया के इन दो देशों पर कब्जा कर लेने से जर्मनी को उत्तर की तरफ से खतरे की आशंका जाती रही और साथ ही उसे आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से भी अनेक लाभ हुए। इस मध्य **१० मई १९४० को जर्मनी ने लक्जम-बर्ग, बेल्जियम और होलैण्ड पर धावा बोल दिया**। चन्द घंटों में ही लक्जमवर्ग को ले लिया गया। वायु-युद्ध द्वारा ५ दिन के भीतर ही भीतर होलेण्ड पर कब्जा कर लिया गया और **२८ मई को बेल्जियम भी परास्त कर दिया गया**। बेल्जियम के राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया। बेल्जियम की सहायतार्थ लाखों की संख्या में ब्रिटिश फौजें आई हुई थीं वे पूरी तरह घिर गई। ब्रिटेन ने इससे बचने के लिये अदभुत रण-कौशल का परिचय दिया। डन्कर्क की लड़ाई में साहसपूर्वक युद्ध करते हुए इंग्लैंड ने अपनी अधिकांश सेना को बचा लिया। वास्तव में यह एक अनोखी घटना थी।

उपर्युक्त घटना-क्रम के दौरान ही ब्रिटेन में विक्षोभ से परिपूर्ण जनता की विरोधी भावनाओं के फलस्वरूप १० मई १९४० को ही चेम्बर–लेन की सरकार का पतन हो गया और चर्चिल की राष्ट्रीय सरकार सत्तारूढ़ हुई। चर्चिल शीघ्र ही ब्रिटेन के प्रतिरोध का प्रतीक बन गया।

अपनी सफलताओं से उत्साहित होकर **१० मई को ही हिटलर ने अपने चिर शत्रु और यूरोप-महाद्वीप में अपने एकमात्र प्रतिद्वंदी फ्रांस पर**

आक्रमण कर दिया। चूंकि हिटलर फ्रान्स को ही सबसे पहिले पराजित करना चाहता था, अतः **५ जून १९४० को उसने फ्रान्स के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी।** प्रथम महायुद्ध में विजय प्राप्त करने में फ्रान्स को कठोर परीक्षा का सामना करना पड़ा था लेकिन इस युद्ध में वह अपने को बिल्कुल नहीं सम्हाल सका। जर्मनी के भय से उसने जो "मैजिनोलाइन" बनाई थी वह दुर्बल प्रमाणित हुई। फ्रान्स की दयनीय स्थिति को देखकर **१०जून १९४० को इटली ने भी फ्रान्स के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी।** फ्रान्स ने इटालियन फौजों से डटकर मुकाबला किया लेकिन जर्मन रण-कौशल के आगे उसे बुरी तरह परास्त होना पड़ा। **१४ जून १९४० को पेरिस नगर पर जर्मन सेनाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया और फ्रान्स के तत्कालीन शासक मार्शल पेंता से युद्धबन्दी का प्रस्ताव रखा।** तीन सप्ताह की छोटी सी अवधि में फ्रान्स को जर्मन शक्ति से चारोंखाने चित्त होना पड़ा। २१ जून १९४० को फ्रेन्च सरकार के प्रतिनिधियों ने जर्मन नेताओं से मुलाकात की। यह मुलाकात उसी ट्रेन में हुई जिसमें प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी के नेताओं को मार्शल फौच के समक्ष झुकना पड़ा था। जिस कुर्सी पर मार्शल फौच बैठा था वहीं अब हिटलर बैठा।

युद्ध विराम के पश्चात् जो संधि हुई उसमें फ्रान्स को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। कुछ हिस्से जर्मनी के प्रत्यक्ष शासन में चले गये जबकि शेष पर पेंता की सरकार का शासन स्वीकार किया गया जिसकी राजधानी वीची थी। इटली के साथ भी फ्रान्स ने दो दिन बाद युद्ध विराम समझौता कर लिया।

यद्यपि घोर पराजय ने फ्रान्स को लोकतन्त्र से हटाकर मार्शल पेंता के अधिनायकत्व में डाल दिया, परन्तु फ्रान्स की आत्मा कभी पराजित नहीं हुई थी। इसीलिये वहां के देशभक्तों ने जनरल डिगाल के नेतृत्व में एक फ्रेन्च राष्ट्रीय समिति की स्थापना की और स्वतंत्रता का अभियान आरम्भ कर दिया। डिगोल ने फ्रान्स को पुनः स्वाधीन कराने के लिये आजाद फ्रांसिसी सेना कायम की जिसका संचालन लन्दन से किया जाने लगा।

फ्रान्स के पतन के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि अब ब्रिटेन ही हिटलर के आक्रमण का अगला निशाना बनेगा। नार्वे की हार, डन्कर्क का पतन, फ्रान्स, होलैण्ड तथा बेल्जियम की पराजय—इन सारी घटनाओं से ब्रिटेन पर विपत्ति की बाढ़ आ गई थी। बाल्टिक सागर और एड्रियाटिक सागर के मध्यवर्ती भू—भाग पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर चुकने के बाद हिटलर जैसे व्यक्ति के लिये यह स्वाभाविक था कि यह ब्रिटेन की तरफ दृष्टि उठाता। फ्रान्स के पतन के बाद १८ जून १९४० में चर्चिल ने भी इसकी भविष्यवाणी करदी थी।[1]

---

1. "The Battle of France is over, the Battle of Britain is about to begin. Let us therefore address overselves to our duty, so bear ourselves that if the British Commonwealth and Empire last for a thousand years, men will still say, "this was their finest hour'."

—*Churchill*

यद्यपि ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति सुरक्षा की दृष्टि से बड़ी अनुपम थी और ब्रिटेन के पास सैनिक शक्ति का भी अभाव नहीं था तथा उसकी नव-सेना तो सबसे समृद्ध थी ही, फिर भी हिटलर को आक्रमण करने के उपयोगी आधार मिल चुके थे। इसलिये उसकी वायु सेना ने १८ जून १९४० की रात से इंग्लैण्ड पर घोर आक्रमण करना शुरू कर दिया। हवाई हमले का कार्यक्रम दैनिक कार्यक्रम बना—इस आक्रमण से ब्रिटेन को गहरी क्षति पहुंची, किन्तु चर्चिल के नेतृत्व में उसने अपना साहस नहीं खोया। ब्रिटिश वायु सेना ने जर्मन के हजारों वायुयानों को जमीन पर गिराया और हिटलर को यह अहसास करा दिया कि ब्रिटेन से टक्कर लेना कोई मामूली बात नहीं है। हठी हिटलर फिर भी अपनी हवाई ताकत का प्रदर्शन करता रहा, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकल सका। अब हिटलर धीरे-धीरे आक्रमण को ढीला करता गया और युद्ध को नयी दिशा में संचालित करने लगा।

ब्रिटिश अभियान से निराश होकर हिटलर 'बालकन' की ओर बढ़ा क्योंकि इस पर आधिपत्य स्थापित करके वह ईरान और मिश्र की तरफ बढ़ना चाहता था। जर्मनी ब्रिटिश साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने पर कटिबद्ध था। इसलिये २० अक्टूबर १९४० को ग्रीस को इस आशय का अल्टिमेटम दिया गया कि वह सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रदेश जर्मनी को सौंप दे। अल्टिमेटम की अवधि मात्र ३ घन्टे की थी। इस अल्पकाल के बीतते न बीतते ग्रीस पर आक्रमण कर दिया गया जिसका भार प्रारम्भ में इटली को दिया गया। ग्रीस को अन्य राष्ट्रों की सहायता मिली और इटालियन फौजें विजय पाने में असफल रहीं। अब हिटलर ने हंगरी, रोमानिया और बल्गेरिया को अपने साथ मिलाया। युगोस्लाविया को भी जर्मन पक्ष में लाना जरूरी था, लेकिन वहां की सरकार ने हिटलर की संधि की शर्तों को ठुकरा दिया। और फलस्वरूप ६ अप्रेल १९४१ को युगोस्लाविया के राजा पीटर पर हमला बोल दिया गया और कुछ ही दिनों में वह परास्त हो गया। अब जर्मन सेना ने ग्रीस पर हमला बोला और अप्रेल के अन्त तक उसे अपने आधिपत्य में ले लिया। जर्मन आक्रमण के भय से ग्रीस का राजा और उसकी सरकार क्रीट द्वीप में चली गई थी, अतः २० मई १९४१ को जर्मन फौजें क्रीट में भी उतर आई। ब्रिटिश वायु सेना और नौ सेना के द्वारा डटकर मुकाबला करने पर भी मई के समाप्त होते होते क्रीट जर्मनी के अधीन हो गया।

इन विजयों के उपरान्त हिटलर का ध्यान मध्य पूर्व की ओर गया। जिस समय जर्मनी बालकन प्रायद्वीप में उलझा हुआ था उस समय ब्रिटेन अफ्रीका को इटालियन प्रभाव से मुक्त करने में लगा था। बालकन पर अपने प्रभुत्व की स्थापना के बाद जर्मन फौजें जनरल रोमेल की अध्यक्षता में अफ्रीका की ओर मुड़ी और उसे ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त कर दिया गया। जर्मनी अफ्रिका पर विजय प्राप्त करने को लालायित नहीं था, वह तो सीरिया, ईराक और ईरान पर कब्जा कर ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करना चाहता था। सैनिक दृष्टि से सीरिया पर विजय प्राप्त करना बहुत महत्वपूर्ण था। लेकिन विरोधी पक्ष भी कम चालाक नहीं था। ब्रिटेन ने पेलेस्टाइन की ओर से घुसकर सीरिया पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया। तत्पश्चात ब्रिटिश फौजों ने ईराक पर हमला करके उसे अपने अधीन किया और इस तरह ईरान

यद्यपि ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति सुरक्षा की दृष्टि से बड़ी अनुपम थी और ब्रिटेन के पास सैनिक शक्ति का भी अभाव नहीं था तथा उसकी नव-सेना तो सबसे समृद्ध थी ही, फिर भी हिटलर को आक्रमण करने के उपयोगी आधार मिल चुके थे। इसलिये उसकी वायु सेना ने १८ जून १९४० की रात से इंग्लैण्ड पर घोर आक्रमण करना शुरू कर दिया। हवाई हमले का कार्यक्रम दैनिक कार्यक्रम बना—इस आक्रमण से ब्रिटेन को गहरी क्षति पहुंची, किन्तु चर्चिल के नेतृत्व में उसने अपना साहस नहीं खोया। ब्रिटिश वायु सेना ने जर्मन के हजारों वायुयानों को जमीन पर गिराया और हिटलर को यह अहसास करा दिया कि ब्रिटेन से टक्कर लेना कोई मामूली बात नहीं है। हठी हिटलर फिर भी अपनी हवाई ताकत का प्रदर्शन करता रहा, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकल सका। अब हिटलर धीरे-धीरे आक्रमण को ढीला करता गया और युद्ध को नयी दिशा में संचालित करने लगा।

ब्रिटिश अभियान से निराश होकर हिटलर 'बालकन' की ओर बढ़ा क्योंकि इस पर आधिपत्य स्थापित करके वह ईरान और मिश्र की तरफ बढ़ना चाहता था। जर्मनी ब्रिटिश साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने पर कटिबद्ध था। इसलिये २० अक्टूबर १९४० को ग्रीस को इस आशय का अल्टिमेटम दिया गया कि वह सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रदेश जर्मनी को सौंप दे। अल्टिमेटम की अवधि मात्र ३ घन्टे की थी। इस अल्पकाल के बीतते न बीतते ग्रीस पर आक्रमण कर दिया गया जिसका भार प्रारम्भ में इटली को दिया गया। ग्रीस को अन्य राष्ट्रों की सहायता मिली और इटालियन फौजें विजय पाने में असफल रहीं। अब हिटलर ने हंगरी, रोमानिया और बल्गेरिया को अपने साथ मिलाया। युगोस्लाविया को भी जर्मन पक्ष में लाना जरूरी था, लेकिन वहां की सरकार ने हिटलर की संधि की शर्तों को ठुकरा दिया। और फलस्वरूप ६ अप्रेल १९४१ को युगोस्लाविया के राजा पीटर पर हमला बोल दिया गया और कुछ ही दिनों में वह परास्त हो गया। अब जर्मन सेना ने ग्रीस पर हमला बोला और अप्रेल के अन्त तक उसे अपने आधिपत्य में ले लिया। जर्मन आक्रमण के भय से ग्रीस का राजा और उसकी सरकार क्रीट द्वीप में चली गई थी, अतः २० मई १९४१ को जर्मन फौजें क्रीट में भी उतर आईं। ब्रिटिश वायु सेना और नौ सेना के द्वारा डटकर मुकाबला करने पर भी मई के समाप्त होते होते क्रीट जर्मनी के अधीन हो गया।

इन विजयों के उपरान्त हिटलर का ध्यान मध्य पूर्व की ओर गया। जिस समय जर्मनी बालकन प्रायद्वीप में उलझा हुआ था उस समय ब्रिटेन अफ्रीका को इटालियन प्रभाव से मुक्त करने में लगा था। बालकन पर अपने प्रभुत्व की स्थापना के बाद जर्मन फौजें जनरल रोमेल की अध्यक्षता में अफ्रीका की ओर मुड़ी और उसे ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त कर दिया गया। जर्मनी अफ्रिका पर विजय प्राप्त करने को लालायित नहीं था, वह तो सीरिया, ईराक और ईरान पर कब्जा कर ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करना चाहता था। सैनिक दृष्टि से सीरिया पर विजय प्राप्त करना बहुत महत्वपूर्ण था। लेकिन विरोधी पक्ष भी कम चालाक नहीं था। ब्रिटेन ने पेलेस्टाइन की ओर से घुसकर सीरिया पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया। तत्पश्चात ब्रिटिश फौजों ने ईराक पर हमला करके उसे अपने अधीन किया और इस तरह ईरान

का प्रश्न भी हल किया गया। ईरान में जर्मन प्रभाव बढ़ रहा था और ब्रिटेन व रूस दोनों ही इस बात से सशंकित थे। अतः ईरान पर हमला ब्रिटेन और रूस दोनों ही के द्वारा किया गया। वहां अलफरूकी की नई सरकार बनी जिसने दोनों राष्ट्रों से सन्धि करते हुये यह वचन दिया कि ईरान को नाज़ियों के प्रभाव से मुक्त रखा जाएगा। ब्रिटेन को खनिज तेल देने का भी आश्वासन दिया गया। इस तरह दूसरी बार जर्मनी की प्रगति को ठोकर लगाई गई। पूर्व का रास्ता जर्मनी के लिये एकदम बन्द कर दिया गया। यह कार्य ब्रिटिश साम्राज्य-रक्षा के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

गया। उसकी उत्तरी सेनायें लेनिनग्राड तक पहुंच गई। जो सेना स्मोल की ओर बढ़ रही थी उसके लिये मास्को भी करीब था। इन दोनों ही नग पर बड़ी भयंकरता से आक्रमण हो रहा था। हिटलर चाहता था कि स गिरने से पहिले ही रूस पर कब्जा कर लिया जाए। लेकिन अपने महान ने स्टालिन के अधिनायकत्व में रूसी जनता अदम्य साहस के साथ शत्रु मुकाबला करती रही। रूसी फौजों ने घनघोर और अनथक युद्ध किया लेनिनग्राड और मास्को अजेय रहे। लेनिनग्राड की गलियों में घर-घर दरवाजों पर शत्रु से मोर्चा लिया गया और आखिरकार रूसी सेनाओं ने ना फौजों को पीछे खदेड़ना शुरू कर दिया। इस समय शीत-काल ने रूस की ब रक्षा की। रूसी फौजें युद्ध की प्रथम अवस्था में जो इतना पीछे हट गई उसमें भी गहरी चाल थी। उनकी युद्ध कुशलता ने जर्मन सेना को अन्दर त खींच कर और फिर जाड़े शुरू होते ही उस पर अपना भयंकर प्रहार कर उसे असहाय कर दिया। वास्तव में हिटलर की यह गम्भीर भूल थी कि पश्चिम के शत्रुओं का पूर्ण विनाश किये बिना ही उसने पूर्व की ओर कद बढ़ा लिये थे। इसके अतिरिक्त युद्ध सम्बन्धी उसकी एक गम्भीर गलती य भी थी कि उसने अपनी सेनाओं को केन्द्रित न करके रूस की विस्तृत सरह में चारों ओर फैला दिया था। अतः उसकी शक्ति छितरी हुई और क्षीण ह गई थी। परिणामस्वरूप रूस के भीषण जाड़े से कांपती जर्मन सेनाओं प जब रूसी फौजों ने भयानक प्रत्याक्रमण करना शुरू किया तो विजय की ओ अग्रसर होने वाला जर्मनी अचानक ही बुरी तरह पछाड खा गया और य पछाड ही वास्तव में उसकी अंतिम पराजय का आधार स्थल बनी।

(३) तृतीय चरण (**Third Phase**)—युद्ध का तृतीय चर ७ दिसम्बर १९४१ को आरम्भ हुआ जब जापान ने पर्ल हार्बर पर आक्रम किया। वास्तव में कुछ समय से अमेरिका के जापान से सम्बन्ध शिथिल ह चले थे। १९३९ में जापान का चीन पर आक्रमण अमेरिका की नाराजगी व प्रमुख कारण था। नाराज अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जापान द्वारा ची पर आक्रमण के प्रति फलस्वरूप जापान को निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया अमेरिका के इस कदम की टोकियो में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और २७ दिसम्ब १९४० को जर्मनी के साथ जापान ने १० वर्ष के लिये सैनिक संधि कर ल और तत्पश्चात उसने मास्को के साथ अनाक्रमण एवम् तटस्थता का समझौत भी सम्पन्न किया। इसके बाद फ्रान्स पर दबाव डालकर हिन्द चीन को लेक सैनिक समझौते किये। जापान की इन कार्यवाहियों से अमेरिका को यह भ हो गया कि सुदूर पूर्व में उसके स्वार्थ की सिद्धि के मार्ग में कठिनाइयां व रही हैं। इसलिये ब्रिटेन और अमरीका ने कठोर रुख अपनाते हुए जापान के साथ अपना प्रमुख व्यापार स्थगित कर दिया। अमेरिका और जापान के मध बढ़ रही खाई को पाटने के सभी प्रयत्न असफल हुए और यह स्पष्ट दिखा देने लगा कि निकट भविष्य में दोनों के मध्य संघर्ष होकर रहेगा। इध जापान में भी सैनिकवादियों का जोर बढ़ रहा था।

जापान ने समझौते के सभी प्रस्तावों के प्रति असहयोग का रुख अप नाया और ७ दिसम्बर १९४१ को अचानक ही पर्ल हार्बर पर भयानक हमल कर दिया। जापान के इस आकस्मिक हमले से अमेरिका की लगभग आधे

सामुद्रिक शक्ति नष्ट हो गई अब अमेरिका को भी खुले तौर पर लड़ाई के मैदान में उतर आना पड़ा। जिस दिन पर्ल हार्बर पर आक्रमण किया गया उसी दिन शंघाई, हांगकांग, मलाया और सिंगापुर पर भी बम्ब बरसाए गये। अतः अब युद्ध यूरोप और अफ्रिका तक ही सीमित न रहा प्रत्युत एशिया, अमरीका और प्रशान्त महासागर में भी व्याप्त हो गया।

जापान के आक्रमण की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। लेटिन अमेरिका के नव राष्ट्रों ने भी अमेरिका की ओर से जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा अमेरिका के पक्ष में सम्मिलित हुए और चीन भी धुरी राष्ट्रों के खिलाफ अखाड़े में ताल ठोकने लगा। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी इस युद्ध में शरीक हुए। ग्रीस, युगोस्लाविया और फ्रांस की वनवासी सरकारों ने भी मित्र राष्ट्रों का साथ दिया। ठीक इसी प्रकार धुरी राष्ट्रों के मित्र राज्यों ने भी उनका पक्ष लिया। **११ दिसम्बर को इटली जर्मनी और जापान ये तीनों राष्ट्र युद्ध को सामूहिक ढंग से सचालित करने को वचनबद्ध हो गये।** इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व युद्ध की लपटों में आ गया और युद्ध करने वाले दो दल स्पष्ट हो गये। एक ओर थे धुरी राष्ट्र और दूसरी तरफ थे मित्र राष्ट्र।

जापान ने जिस तीव्र गति से आक्रमण किया, उसी अनुपात में प्रारम्भ में उसे सफलता भी अर्जित हुई। जापान की सेना युद्ध के लिये पूर्ण प्रशिक्षित थी, अतः वह विजय प्राप्त करती रही। ८ महीने तक मित्र राष्ट्रों की किसी न किसी स्थान पर निरन्तर बड़ी-बड़ी पराजयें होती रही। जापान हांगकांग, ग्वाम, फिलिपाइन, स्याम, मलाया, सिंगापुर आदि को रोंदता हुआ आगे बढ़ चला। ब्रिटेन अपनी ७० हजार सेना से भी सिंगापुर की रक्षा न कर सका। जापानियों की युद्ध प्रवीणता तथा दूरदर्शिता ने ब्रिटिश फौजों के छक्के छुड़ा दिये। इसके उपरान्त जापान वर्मा में बढ़ा। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिंद फौज ने भी जापान का साथ दिया। अमेरिका तक जापान ने रंगून पर अधिकार करके चीनियों और अंग्रेजों को पीछे खदेड़ दिया। अंग्रेज भागकर भारत में इकट्ठे होने लगे। कलकत्ते पर भी बम्बवर्षा की गई किन्तु भारत पर जापानियों ने हमला जारी नहीं रखा।

पूर्वी एशिया में जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया। ब्रिटेन और अन्य श्वेतांगों की सेनाओं के बावजूद भी ऐसा हो न सका, यह इस बात का द्योतक था कि इन हिस्सों की जनता पुराने साम्राज्यवादी शासकों से मुक्ति पाने की अभिलाषी थी। सम्भवतः इसीलिये जापान इतनी सुगमता से आगे बढ़ सका।

(४) **चतुर्थ चरण (Fourth Phase)**—यद्यपि यूरोप में जर्मनी फौजों को अभूतपूर्व सफलता मिलती जा रही थी, किन्तु शीघ्र ही उसे मुंह की खानी पड़ी। धुरी राष्ट्र और उनके सहयोगी राष्ट्र हर तरफ से मित्र राष्ट्रों पर कमर तोड प्रहार करने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने दे रहे थे। भूमध्य सागर और पूर्वी अफ्रिका में ब्रिटेन कमज़ोर पड गया था, अतः इटली ने मौका न चूकते हुए ब्रिटिश उपनिवेशों पर हमला बोल दिया। ब्रिटेन और इटली के मध्य जो संघर्ष शुरू हुआ, वह अधिकांशतः वायु आक्रमण तक ही सीमित रहा। इटली ब्रिटेन के पूर्वी अफ्रिकन प्रदेशों पर आधिपत्य करने में

सफल हुआ, लेकिन इससे उसे कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचा। इसलिये उसने भू मध्य सागर में ब्रिटिश प्रभाव को कम करने के निमित्त मिश्र और स्वेज नहर पर दृष्टि दौड़ाई। अफ्रिका से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये भी उसे ऐसा करना आवश्यक था। परिणामस्वरूप इटालियन फौजों ने दिसम्बर १९४० में मिश्र में नियुक्त ब्रिटिश फौजों पर हमला बोल दिया। परन्तु अन्त में मार्च १९४१ में इटली की फौजों को पराजय का सामना करना पड़ा। अप्रैल १९४१ में जर्मन जनरल रोमेल के नेतृत्व में इटालियन सेनाओं ने फिर से मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को पीछे हटा दिया, पर नवम्बर १९४१ में मित्र राष्ट्रीय सेनाओं की पुन: जीत हुई। इस तरह की रस्साकसी अक्टूबर १९४२ तक चलती रही। लेकिन शीघ्र ही माण्टोगोमरी की सेना ने जर्मन फौजों को खदेड़ कर लिबिया से बाहर निकाल दिया और शनैः शनैः रोमेल की सेना को मिश्र भी छोड़ना पड़ा। माण्टोगोमरी की फौजें जब ट्रिपोली पहुंची तो मिश्र की अंतिम लड़ाई लड़ी गई और रोमेल की सेना भगा दी गई। इस तरह इटली का अफ्रिकन साम्राज्य विनष्ट हो गया।

जब मान्टोगोमरी की सेना पूर्वी अफ्रिका से धुरी राष्ट्रों को हटाने में व्यस्त थी उस समय पश्चिम की ओर से अमरिकन सेनाध्यक्ष आइजनहोवर के सेनापतित्व में अमेरिकन फौजें उन्हें दमन करने में लगी थी। फिर भी अभी यह सम्भव न था कि फ्रान्स, वेल्जियम अथवा जर्मनी में मित्र राष्ट्रों की फौजें उतर सकें। हां, उत्तर अफ्रिका में मित्र राष्ट्रीय सेनाओं का उतरना अवश्य सम्भव था, क्योंकि प्रथम तो वहां जर्मन प्रभाव बहुत अधिक न था और दूसरे फ्रैंच सेना की भी वहां कमी न थी। अत: नवम्बर १९४२ को आइजनहावर के नेतृत्व में मित्र राष्ट्रीय फौजें उत्तरी अफ्रिका में उतारी गई और अन्त में अफ्रिका को जर्मनी के चंगुल से मुक्त कर दिया गया।

१४ जनवरी १९४३ को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल और अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कैसाब्लांका (Casablanca) में एक गुप्त सम्मेलन किया जिसमें १९४३ के युद्ध संचालन के लिये योजना बनाई गई।

उत्तरी अफ्रीका पर मित्र राष्ट्रों ने कब्जा विशेषत: इसलिये किया था कि उसको सैनिक आधार बनाकर नाजियों और फासिस्टों के चंगुल से यूरोप के देशों को मुक्त किया जाय। इसी उद्देश्य से १० जुलाई १९४३ को मित्र राष्ट्र की सेनाओं ने सिसली पर आक्रमण किया। शीघ्र ही सिसली पर मित्र राष्ट्रों का आधिपत्य स्थापित हो गया। १८ जुलाई १९४३ को मित्र राष्ट्रों ने संगठित रूप से इटली पर हमला बोला। इस समय हिटलर स्वयं बड़ी कठिनाई में फंसा हुआ था अत: वह मुसोलिनी को तनिक भी सहायता न दे सका। इस समय स्वयं इटली में भी जनमत मुसोलिनी के विरुद्ध हो रहा था क्योंकि युद्ध में अभी तक कहीं भी इटली को संतोषजनक सफलता नहीं मिल सकी थी। २२ जुलाई को फासिस्ट हाई कमाण्ड ने मुसोलिनी से त्याग पत्र मांगा, अगले दिन इटली के सम्राट ने मुसोलिनी को उसके पद से हटा दिया और उसको गिरफ्तार कर लिया गया। नये प्रधान मन्त्री ने आरम्भ में युद्ध जारी रखा परन्तु ३ दिसम्बर १९४३ को उसने आत्म-समर्पण कर दिया। इस पर जर्मनी बीच में कूद पड़ा और मित्र राष्ट्रों की सेना के आने से पूर्व ही जर्मन सेना इटली में प्रविष्ट हो गई। जर्मन फौजों ने मुसो-

लिनी को गिरफ्तारी से छुड़ा लिया। मुसोलिनी जर्मनी पहुंच गया और वहां से उसने फिर इटली को अपने प्रभाव में लाने की चेष्टा की। लेकिन अब यह सब निष्फल प्रयास थे। पासा तेजी से पलटने लगा और मित्र राष्ट्रों की सेनाओं ने शनैः २ इटली पर आधिपत्य जमा लिया तथा ४ जून १९४४ को रोम नाजियों के फन्दे से मुक्त कर दिया गया। इटली की भूमि पर अवशिष्ट जर्मन सेनायें युद्ध करती रहीं, पर अन्त में २ मई १९४५ को उन्होंने हथियार डाल दिये।

सोवियत रूस के साथ होने वाले संघर्ष में भी जर्मन फौजों को निरन्तर पराजय का मुख देखना पड़ रहा था। ज्यों २ रूस की सेना बढ़ती थी, जर्मनी की सेना को उल्टे पांव भागना पड़ता था। १९४३ के समाप्त होते-होते रूसी फौजों ने जर्मन आधिपत्य में गये हुए अधिकांश भू भाग को मुक्त करा लिया। जनवरी १९४४ से रूस का आक्रमण और भी भयानक हो उठा, फलस्वरूप वसन्त के समाप्त होते-होते रूसी फौजें जर्मनी और उसके पिछलगू राष्ट्रों की सरहद के समीप आ गई। जिस साहस के साथ लाल सेना ने जर्मन सेना को पराजित किया, वह विश्व इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

रूस तो जर्मनी पर कहर वर्षा ही रहा था, इसी मध्य दूसरी तरफ अमेरिका और मित्र-राष्ट्र भी हिटलर के मनसूबों पर पानी फेर रहे थे। ब्रिटेन के ४०० बम्बवर्षक वायुयानों ने वर्लिन पर भीषण बम्बवर्षा की थी और ३० मई १९४४ को एक हजार वायुयानों ने जर्मनी के कोलोन नगर को मिट्टी में मिला दिया था। पूरे एक वर्ष तक इसी तरह की भयंकर बम्बवर्षा होती रही। दिन में अमेरिकन बम्बवर्षक जर्मन नगरों को भूमिसात् करते थे और रात में ब्रिटेन के बम्बवर्षक, परन्तु जर्मनी इस सर्वनाश के बीच भी मुस्करा रहा था और उसका युद्ध सामग्री का उत्पादन बढ़ता चला जा रहा था।

अब, रूस की सेना के सामने जर्मन सेना के पराभव को देखकर इटली पर अपना अधिकार जमाकर, मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के विरुद्ध दुबारा मोर्चा कायम करना उचित समझा। फलतः १९४३ के नवम्बर-दिसम्बर में तेहरान में चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन के मध्य एक सम्मेलन हुआ जिसमें हिटलर पर चढ़ाई करने की संयुक्त योजना तैयार की गई।

अब जर्मनी के पतन का काल निकट आ गया था। ८ मार्च १९४४ को दो हजार अमेरिकन बम्बवर्षकों ने वर्लिन पर भयंकर अग्नि वर्षा की। ५ जून १९४४ को अंतिम संघर्ष की चुनौती दे दी गई। फ्रान्स के उत्तर-पश्चिम कोने में समुद्र के किनारे मित्र राष्ट्रों की सेनायें उतार दी गई। दिसम्बर १९४४ तक ३ लाख से भी ऊपर फौजें फ्रांस पहुंच गई। फ्रांस के तट पर जर्मन किलेबन्दी और जर्मन फौजों पर भीषण बम्बवर्षा की गई। उधर स्वतंत्र फ्रांस की सेना भी भीतर से मित्र राष्ट्रों की सेना को प्रत्येक सम्भव सहायता देने लगी। १५ अगस्त १९४४ को फ्रांस के पूर्व भूमध्य सागरीय तट पर मित्र राष्ट्रीय फौजें उतारी गई। तूलो तथा मारसेली के बन्दरगाह पर मित्र राष्ट्रों का कब्जा हो गया। २३ अगस्त १९४४ को फ्रांस स्थित जर्मन सेनापति से सुलह वार्ता शुरू कर दी और २५ अगस्त को जर्मन अधि-

कृत पैरिस का पतन हो गया। जर्मन फौजों ने फ्रांस में आत्मसमर्पण कर दिया। इसी समय जनरल डिगोल अपनी सेना के साथ पैरिस आ पहुँचा। उसका भव्य स्वागत हुआ और उसके नेतृत्व में फ्राँस में सामयिक सरकार स्थापित हो गई। ब्रिटिश, रशियन और अमेरिकन सेनाओं के संयुक्त प्रयास से ही फ्रांस, जर्मन आधिपत्य से मुक्त हो सका। मित्र राष्ट्रों ने उसे 'बड़ी शक्ति' की स्थिति प्रदान की।

फ्रांस को मुक्त कराने के पश्चात् मित्र राष्ट्रीय फौज मध्य यूरोप की ओर बढ़ी। स्कैण्डेनेविया, डेनमार्क, हालेण्ड आदि अभी तक जर्मनी के अधीन थे और उन्हें मुक्त कराना आवश्यक था। मित्र राष्ट्रीय फौजों ने अपना लक्ष्य पूरा किया। इधर रूस भी फिनलैंड और पोलेण्ड को मुक्त कर रहा था। १९४४ के अन्त तक लैंटविया, इस्टोनिया और लिथुआनिया के अधिकांश भाग को जर्मन-नियंत्रण से स्वाधीन करा दिया गया। अब रूस ने बाल्कन प्रायद्वीप की ओर कदम बढ़ाया। इस प्रायद्वीप के राष्ट्र एक एक कर रूस से सुलह करने लग गये। रोमानिया, बल्गेरिया, युगोस्लाविया आदि सभी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में हो गये। हंगरी ने रूस का विरोध किया लेकिन रूसी फौजों ने उसे हराकर आत्म-समर्पण के लिये विवश कर दिया। ग्रीस और चैकोस्लोवाकिया भी रूसी फौजों द्वारा जर्मन आधिपत्य से मुक्त करा दिये गये।

नवम्बर १९४४ में मित्र राष्ट्रीय फौजें हालेण्ड की तरफ से जर्मनी में प्रविष्ट हो गई। जर्मनी के पूर्व और पश्चिम में स्थित प्रबल शत्रु सेना अंतिम धावे के लिये तैयार थी। जब मित्र राष्ट्रों की फौजें राइन पार कर गईं तो जर्मनी की घड़ी समीप आने लगी। उधर जर्मनी में हिटलर के विरुद्ध षडयन्त्र आरम्भ हो गए और उसे मारने की चेष्टायें की जाने लगी परन्तु हिटलर अब भी अपराजेय था। उसने षडयन्त्रों का पता लगा लिया और सैकड़ों षडयंत्रकारियों को मौत के घाट उतार दिया। हिटलर अन्तिम घड़ी तक युद्ध करने के लिये कटिबद्ध था और वही हुआ भी। उसने एक बार फिर जी-जान से टक्कर लेने की चेष्टा की तथा कुछ समय के लिये अमेरिकन सेना की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। लेकिन बुझते हुए दीपक की यह अंतिम लौ थी। हिटलर की यह अंतिम चेष्टा अन्ततः असफल हुई। इसी मध्य पूर्वी रण क्षेत्र में रूस की लाल सेना तेजी से बाढ़ की तरह बढ़ रही थी। जर्मनी के चंगुल से राष्ट्रों को मुक्त करता हुआ रूस बर्लिन-विजय की ओर कूच कर रहा था। २२ अप्रैल १९४५ को मार्शल झुकोव की रूसी सेनाओं ने बर्लिन के माथे पर चोट की। उधर अमेरिकन, ब्रिटिश और फ्रेंच फौजें भी बर्लिन की ओर बढ़ रही थीं। अन्ततः २ मई को बर्लिन का पतन हो गया और ४ मई को यूरोप में समस्त जर्मन सेनाओं ने आत्म-समर्पण कर दिया। इटली के देश-भक्तों ने तो मुसोलिनी और उसकी पत्नी को गोली का निशाना बना दिया था और मिलान में मुसोलिनी की लाश लटका दी थी, किन्तु हिटलर ने अपनी पत्नी इवाब्रांन समेत आत्महत्या कर ली। अन्य जर्मन नेता गिरफ्तार कर लिये गये। हिटलर के बाद एडमिरल डायनिट्ज ने जर्मन सरकार का नेतृत्व ग्रहण किया। ७ मई को जर्मनी ने बाकायदा आत्मसमर्पण पर हस्ताक्षर किये और ८ मई १९४५ को यूरोप में युद्ध बन्द हो गया।

(५) **पंचम चरण (Fifth Phase)**:—यूरोप में जर्मनी को परास्त करने के पश्चात् मित्र राष्ट्रों का ध्यान सुदूर पूर्व में जापान को पराजित करने की ओर गया। ब्रिटिश फौजें बर्मा की ओर बढ़ीं और जापान से बर्मा को मुक्त किया गया; तत्पश्चात मलाया का उद्धार हुआ। फिलिपाइन पर अमेरिकन फौजों ने कब्जा कर लिया और सिंगापुर पुनः ब्रिटिश आधिपत्य में आ गया। अब केवल जापान ही का पराभव शेष रहा। अतः जनरल मेकार्थर के सेनापतित्व में जापान पर भीषण आक्रमण शुरू हुआ। जापान की नौ-सेना को घुटने टेक क्षति पहुंचाई गई। जापानी बन्दरगाह भयानक बम्बवर्षा के शिकार बने। चीन के चांगकाई शेक ने भी जापान के कब्जे से अपने प्रदेशों को मुक्त कराना आरम्भ किया। मित्र राष्ट्रों ने जापान से साम्राज्यवादी नीति का परित्याग करने की अपील की। २६ जुलाई १९४५ को अपने पोट्सडम सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने जापान से बिना शर्त आत्म समर्पण की मांग की। जापान द्वारा यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। परिणामस्वरूप ६ अगस्त १९४५ को जापान के समृद्ध नगर हिरोशिमा पर अमेरिका द्वारा पहला अणुबम्ब डाला गया। परन्तु जापान फिर भी नहीं झुका। उधर रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी लेकिन जापान को सद्बुद्धि नहीं आई। ९ अगस्त १९४५ को अमेरिका ने जापानी नगर नागासाकी पर अपना दूसरा अणुबम्ब गिराया। बस, यही जापान के प्रतिरोध का अन्त था। जापान के सम्राट को यह अनुभव हो गया कि युद्ध करना व्यर्थ है क्योंकि अणुबम्ब से जापान पूर्णतः तहस-नहस हो जाएगा। १४ अगस्त को जापान ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। केवल सम्राट के विशेषाधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने की शर्तें लगाई गई। मित्र राष्ट्रों ने इसे कबूल करते हुए कहा कि जापान को मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष जनरल मेगार्थर के नियंत्रण को स्वीकार करना होगा। जापान के सामने अस्वीकृति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। पूर्व में जापान की इस पराजय के बाद द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका का अन्त हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के परिणाम

द्वितीय महायुद्ध एक सम्पूर्ण युद्ध (Total War) था जिसमें भाग लेने वाले राज्यों को सभी प्रकार के साधनों का उपयोग करना पड़ा और प्रत्येक राज्य ने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर नियंत्रण करके उसको युद्ध-संचालन के आश्रित बना दिया। यह युद्ध इतना व्यापक था कि प्रायः सम्पूर्ण पुराने विश्व में संघर्ष हुआ, संयुक्त राज्य अमेरिका पर भी कुछ बम-वर्षा हुई और यूरोप, अफ्रीका, एशिया, अटलांटिक सागर, प्रशान्त महासागर आदि सभी क्षेत्रों में भीषण नर-संहार हुआ। इस युद्ध की रीति-नीति भी पूर्ववर्ती युद्धों से भिन्न थी। हिटलर के विद्युत-वेगीय (Blitzkrieg) युद्ध ने समग्र संसार को चकित कर दिया। जो विजय मासों और वर्षों में होती थीं, वे सप्ताहों और दिनों में सम्पादित हुई। यह युद्ध राष्ट्रों का ही नहीं अपितु विचारों या सिद्धान्तों का भी युद्ध था। एक ओर हिटलर का नात्सीवाद, मुसोलिनी का फासिस्टवाद और जापान का शिन्तोवाद (शिन्तो धर्म) था तो दूसरी ओर लोकतांत्रिक देश थे जिन्होंने मानव की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये, सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा के लिये इन अधिनायकवादी देशों की

चुनौती को स्वीकार किया था। महायुद्ध के समय उपरोक्त दोनों विचार-धाराओं के प्रतिकूल, किन्तु फिर भी अधिनायक वादी तत्व के अधिक अनुकूल एक तीसरी विचारधारा थी—साम्यवाद। परिस्थितियों ने उसे लोकतांत्रिक देशों के साथ लाकर खड़ा कर दिया। साम्यवादी रूस ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य से कंधे-से-कंधा मिड़ाकर धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ा परन्तु दोनों विचार-धाराओं में जो आकाश-पाताल का अन्तर है, उसने युद्ध की समाप्ति पर दोनों में रस्सा-कशी पुनः प्रारम्भ कर दी।

द्वितीय महायुद्ध के बड़े क्रान्तिकारी परिणाम निकले। प्रमुख परिणाम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किये जा सकते हैं—

प्रथम, द्वितीय महायुद्ध इतना विनाशकारी था कि अभी तक इस विनाश का सही अनुमान नहीं लगाया जा सका है। फिर भी, अनुमानतः २,००० करोड़ रुपये के मूल्य की सम्पत्ति अकेले ब्रिटेन में नष्ट हुई। रूस की राष्ट्रीय सम्पत्ति का १/४ भाग नष्ट हुआ और फ्रांस, जर्मनी, पोलैण्ड आदि देशों की साम्पत्तिक क्षति का तो अनुमान लगाना भी कठिन है। दोनों पक्षों के लगभग २½ करोड़ से अधिक सैनिक मारे गये और १ करोड़ से अधिक घायल हुए। इसके अतिरिक्त करोड़ों असैनिक नागरिकों का जीवन बम-वर्षा आदि कारणों से नष्ट हो गया। १ लाख करोड़ से अधिक रुपयों का व्यय तो केवल मित्र-राष्ट्रों का हुआ और संभवतः इससे कम व्यय धुरी राष्ट्रों का भी नहीं हुआ होगा।

दूसरे, यूरोपीय देशों के साम्राज्यों में स्वतन्त्रता की भावनायें प्रज्ज्व-लित हुईं। परिस्थितियों से बाध्य होकर महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य ने अपनी नीति में परिवर्तन करके भारत, बर्मा, पाकिस्तान, मलाया, मिश्र आदि देशों को स्वतन्त्रता प्रदान की। बाद में अफ्रीकन देशों को भी स्वतन्त्रता मिली, लेकिन कुछ देश स्वतन्त्र नहीं हो सके। फ्रेन्च हिन्द चीन में फ्रेंच साम्राज्य समाप्त हो गया। कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम (दो भागों में) स्वतन्त्र हो गया। हालैण्ड के उपनिवेशों-जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि ने हिन्देशिया (Indonesia) नामक संघ राज्य की स्थापना की। वह भी स्वतंत्र हो गया। जर्मनी, इटली और जापान का साम्राज्य भी क्षत-विक्षत हो गया। जर्मनी दो भागों में विभक्त हुआ—पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी। पश्चिमी जर्मनी मित्रराष्ट्रों के प्रभाव-क्षेत्र में आया तो पूर्वी जर्मनी रूसी प्रभाव-क्षेत्र में। जापान के क्यूराइल द्वीपों और दक्षिणी शाखालिन पर रूस ने अधिकार कर लिया, फारमोसा चीन ने ले लिया और कोरिया पर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस ने अपने-अपने क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और उन्हें उचित समय पर स्वतन्त्रता प्रदान करने का आश्वासन दिया। जापान को महायुद्ध से पहले जो द्वीप प्रादेश या संरक्षण व्यवस्था (Mandate System) के अन्तर्गत दिये गये थे वे संयुक्त राष्ट्र संघ की देख-रेख में न्यास व्यवस्था के अन्तर्गत संयुक्त राज्य को हस्तान्तरित कर दिये गये। इस प्रकार ४ मूल द्वीपों और समीपवर्ती छोटे-छोटे द्वीपों पर ही जापान की संप्रभुता रह गई। किन्तु यह संप्रभुता पूर्ण नहीं थी क्योंकि मित्रराष्ट्रों की ओर से संयुक्त राज्य का मैकार्थर जापान में सर्वोच्च सेना नायक था जो व्यावहारिक दृष्टि से वहां का अधिनायक था। इटली भी अपने औपनिवेशिक साम्राज्य से वंचित कर दिया गया—लीबिया,

इरीटीरिया और इटालवी सोमालीलैण्ड उसके अधिकार में नहीं रहे। उसने एबीसीनिया और अल्बानिया की स्वतंत्रता और संप्रभुता को मान्यता प्रदान कर दी। उत्तर-पश्चिम सीमा पर फ्रांस को तथा यूगोस्लाविया को कुछ भू-क्षेत्र दे दिये गये। एड्रियाटिक क्षेत्र में भी कुछ भाग यूगोस्लाविया को मिल गया।

तीसरे, विश्व का नेतृत्व ग्रेट ब्रिटेन के हाथ से निकलकर संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में चला गया और साथ ही साम्यवादी रूस में विश्व नेतृत्व की महत्वाकांक्षा ने घर कर लिया। युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महानतम शक्तियाँ रह गई हैं—सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। सोवियत संघ साम्यवादी विचार की विजय का प्रतीक बन गया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका लोकतन्त्रवादी आकांक्षाओं का। संयुक्त राज्य अमेरिका ही संसार में एकमात्र ऐसा देश था जिसे युद्ध केवल नगण्य हानि पहुंचा सका था। युद्ध न तो उसकी भू-पर लड़ा गया था और न ही जन-धन की उसे कोई गम्भीर क्षति पहुंची थी। इसके विपरीत युद्ध के परिणामस्वरूप उसके उद्योगों में लगभग ५० प्रतिशत और खेती में ३६ प्रतिशत वृद्धि हुई थी। उसके पास अणु बम का रहस्य था जो उसे संसार में सर्वाधिक शक्ति प्रदान कर रहा था। उसकी मुद्रा स्थिर थी और वह सारे युद्ध-पीड़ित जगत के लिए एक आर्थिक सहारा बन गया था। प्रत्येक देश उसकी सहायता के लिये लालायित था।

चौथे, फ्रांस की स्थिति भी दयनीय थी। जर्मनी के आधिपत्य ने उसे तहस-नहस कर डाला था और उसकी राजनीतिक व आर्थिक स्थिति बहुत चिन्ताजनक थी। पराजय के कलंक और उसकी लज्जा ने फ्रांस की जनता के नैतिक साहस पर गहरा आघात किया था। चीन, इण्डोचाइना, स्याम, वर्मा आदि ने धन-जन की गम्भीर क्षति सही थी और वे मानव जाति के इतिहास में सबसे अधिक भयंकर आर्थिक एवं राजनीतिक संकट में फंस गये थे। रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी, फिनलैण्ड आदि देशों की सीमायें निश्चित कर दी गईं और उन्होंने मानव-अधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं को प्रदान करने की प्रत्याभूति दी। बल्गेरिया की सीमाओं में अभिवृद्धि हो गई क्योंकि उसे रूमानिया से डोबूजा मिल गया। रूमानिया को बैसरेबिया का प्रान्त रूस को देना पड़ा। हंगरी ने ट्रांसिलवानिया रूमानिया को लौटा दिया और स्लावक क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को देना पड़े। फिनलैण्ड ने कैरेलिन डमरूमध्य तथा पैट्समों प्रान्त रूस को दे दिये।

पांचवें, विश्व की अशान्ति को दूर करने के लिये मानव ने अपने हृदय को पुनः टटोला। एक बार फिर लोकतांत्रिक देशों ने शान्ति की खोज के प्रयास किये और २४ अक्टूबर, १९४५ को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कर दी गई।

छठे, युद्ध के फलस्वरूप सर्वाधिक लाभ यदि किसी राज्य को पहुंचा या उसकी भूमि का विस्तार हुआ तो वह रूस था। उसके राज्य में आधा पोलैण्ड, स्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया फिनलैण्ड का भाग, रुथेनिया, पूर्वी प्रशा का भाग आदि मिला दिये गये और रूस को जर्मन क्षेत्र बर्लिन से एल्ब बना दिया गया। रूस अब यूरोप में एक अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र बन गया।

केन्द्रीय यूरोप और बालकन की अभिव्यक्ति रूस के अन्तर्गत विलीन हो गयी। यहां की आन्तरिक और विदेश नीति में रूस का प्रभाव बढ़ गया और मुद्रण तथा भाषण की स्वतन्त्रता इन प्रदेशों में कहने के लिए रह गयी। पूर्वी और केन्द्रीय यूरोप में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था घर न कर सकी क्योंकि प्रथम तो हिटलर ने इन परम्पराओं का मटियामेट कर दिया था और दूसरे रही-सही परम्पराओं का अस्तित्व समाजवादी प्रचार ने समाप्त कर दिया।

सातवें, विभिन्न देशों के साथ, युद्धकालीन समस्याओं के समाधान के लिए, शान्ति संधियां सम्पन्न हुईं। इनका क्रम महायुद्ध समाप्त होने के वर्षों बाद तक चलता रहा। इन संधियों का विस्तार से वर्णन युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इतिहास का विषय है।

महायुद्ध के प्रमुख परिणामों पर प्रकाश डालने के उपरान्त अब हम एक संक्षिप्त चर्चा 'युद्ध-अपराध' (War Crimes) पर करेंगे।

युद्ध अपराध
(War Crimes)

फरवरी १९४५ में सम्पन्न हुए याल्टा सम्मेलन में ब्रिटेन, अमेरिका और सोवियत रूस – इन महाशक्तियों ने यह निश्चय किया था कि युद्ध के बाद युद्ध में क्रूरता करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध मुकदमे चलाने के सम्बन्ध में आवश्यक कार्यवाही की जायगी। इसके पहले अक्टूबर १९४३ के मास्को सम्मेलन में यह घोषणा की गई थी कि जर्मनी के साथ विराम–संधि करते हुए इस बात का ध्यान रखा जायगा कि भीषण और अमानवीय क्रूरताएं करने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाय।

उपरोक्त निश्चयों को क्रियान्वित करने हेतु एक संयुक्त राष्ट्रीय युद्ध अपराध आयोग (The United Nations War Crimes Commission) का निर्माण किया गया जो युद्ध-अपराधियों की सूची तैयार करे। वास्तव में 'अमानवीय अपराध' द्वितीय महायुद्ध का एक सर्वाधिक भयानक पक्ष था। अधिकृत भूभागों में नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार, जमानत के रूप में व्यक्तियों को ले लेना और उनकी हत्या कर देना (The taking and killing of hostages), गुप्त गिरफ्तारियां और निर्वासन, भागे हुए युद्धबन्दियों की हत्याएं, युद्ध–बंदियों में से छांटे हुए अवांछनीय बंदियों की हत्या आदि पूर्णत: अमानवीय एवं अक्षम्य अपराध थे। फासिस्ट और नाजी शक्तियों ने अपने शत्रु पक्ष के सैनिकों के साथ इतना निर्मम अत्याचार किया था कि संभवत: स्वयं अत्याचार का मुंह भी शर्म से झुक गया होगा। सोवियत सैनिकों को "खूंटे पर ठोंक दिया गया था और उनके शरीर में लाल–लाल गर्म छुरियों से काट कर पांच सितारें अंकित कर दिये गये थे" (Nailed to stakes, and on their bodies five pointed stars had been cut with red hot knives.) आक्रामक जर्मन सेनाओं का प्रतिरोध करने वालों के साथ लूटेरों का सा व्यवहार किया गया। युद्ध-बंदियों को जर्मन खानों में और विशाल जर्मन खेतों में उस समय तक काम करते रहने को विवश किया गया जब तक कि वे मर न जायं। गांव के गांव और नगर जला दिये गये। यदि दूसरे पक्ष ने एक जर्मन को गोली मार दी तो जर्मनों ने अमानवीय प्रतिशोध

का प्रदर्शन करते हुए शत्रु पक्ष के सैंकड़ों मनुष्यों को गोली मार दी। फ्रान्स पर कब्जा प्रारम्भ होने के तीन माह बाद क्रूर 'प्रतिभू पद्धति' (Hostages System) लागू की गई और अकेले फ्रान्स में २६,६०० लोगों का प्रतिभू (Hostages) के रूप में कत्ल कर दिया गया। प्रतिभू पद्धति का एक अत्यन्त क्रूर पक्ष सम्पूर्ण परिवार से बदला निकालना था जिसके अनुसार पूरे के पूरे परिवार को गोली मार दी जाती थी। ७ सितम्बर १९४१ को हिटलर ने "रात्रि और कुहासा (Night and fog) सम्बन्धी कुख्यात और निर्मम आज्ञप्ति जारी की जिसके अन्तर्गत स्कूल जाता हुआ लड़का, कारखाने में काम करता हुआ मजदूर, घरेलू काम धन्धों में व्यस्त पत्नी रहस्यात्मक ढग से विलुप्त हो गये और उन्हें फिर कभी न देखा गया और न ही उनके बारे में भविष्य में कुछ सुनाई दिया।" १८ अक्टूबर, १९४२ को हिटलर ने एक अत्यन्त गोपनीय आदेश जारी किया जिसके अनुसार शत्रु पक्ष के सब लोगों को चाहे वे वर्दीधारी सैनिक हों या सशस्त्र हों या निहत्थे हों, या युद्ध-भूमि पर हों या भाग रहे हों, एक-एक करके मार डालना था। जर्मनों ने हजारों युद्ध-बंदियों को गोली से उड़ा दिया और यहूदियों का सामूहिक कत्लेआम किया। जर्मनों द्वारा १९४१ से १९४५ तक की अवधि में अपने 'Extermination Camps' में लगभग २० लाख व्यक्तियों को विभिन्न यत्रणा दे देकर जान से मार दिया गया। इतना ही नहीं मारने के बाद उन लोगों के हाथों से अंगूठियां निकाल ली गईं और दांतों में मढ़ा हुआ सोना हटा लिया गया। जब मित्रराष्ट्रीय सेनाओं की विजय निश्चित होती गई तो युद्धबंदियों की मुक्ति होने से पहले ही हिटलर और हेमलर ने बंदियों को जीवन-मुक्त कर देने का निश्चय कर लिया। २० जुलाई १९४४ को यह आदेश जारी किया गया कि यदि जेलें खाली न हो पायें तो उन्हें आग लगा दी जाय या उड़ा दिया जाय। जर्मनी ने अत्याचार के किसी भी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा। हिटलर ने अधिकृत क्षेत्रों का जर्मनकरण किया। इसके साथ ही विशालस्तर पर लूट-पाट होती रही। जर्मन युद्धतन्त्र को परिचालित रखने के लिए अधिकृत क्षेत्रों से विशाल मात्रा में स्वर्ण, कच्चा माल, अन्न, औद्योगिक यन्त्रों आदि को जर्मनी ले जाया गया। इतना ही नहीं, स्थानीय जनसंख्या को सामूहिक हत्या द्वारा कम कर दिया गया। अधिकृत क्षेत्रों में स्थित कारावासों तथा शिविरों में हीन कोटि के घोर दानवीय तरीके अपनाये गये, जैसे; हाथ-पैर बांध देना और कोड़े लगाना, हाथ पीछे बांधकर उसी के सहारे लटका देना और तब तक लटकाये रहना जब तक कि कन्धे धड़ से अलग न हो जाय, तेज छुरे से पैरों की एड़ियां काट डालना और तब नमक पर चलने के लिए बाध्य करना, बंदियों को लकड़ी के ऐसे बक्सों में बन्द कर देना जिनमें वायु के प्रवेश के लिए केवल एक अथवा दो छेद हों। इसी प्रकार के जघन्य अपराध जापानियों ने अपने अधीनस्थ क्षेत्रों में किये।

जब महायुद्ध समाप्त हुआ तो युद्धापराधियों को कठोरतम दण्ड देने के निश्चय को कार्यान्वित करने हेतु विजेताओं ने अपराधों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया—

(१) **शान्ति के विरुद्ध अपराध** [Crimes against Peace]-आक्रामक युद्ध की योजनाएं बनाना, तैयारी करना अथवा उन्हें प्रारम्भ करना, या

अन्तर्राष्ट्रीय संधियों, समझौतों एवं आश्वासनों का उल्लंघन करते हुए युद्धरत होना।

(२) युद्ध अपराध [War Crimes]-युद्धबंदियों की हत्या करना, उनके साथ बुरा व्यवहार करना अथवा उनका निर्वासन करना, वैयक्तिक सम्पत्ति एवं नगरों का लूटना या नष्ट करना आदि।

(३) मानवता के विरुद्ध अपराध [Crimes against Humanity]-युद्धकाल में अथवा युद्ध से पहले नागरिक जनता की हत्या करना, उनका समूल नाश करना, उन्हें सताना अथवा उनका निर्वासन करना आदि।

युद्धापराधियों पर मुकदमा [Trial of war criminals]—युद्ध-अपराधियों पर मुकदमा चलाने और उन्हें दण्डित करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक अधिकरण (International Military Tribunal) ने कार्यवाही शुरू की। नवम्बर १९४५ और अक्टूबर १९४६ के मध्य इसने २२ व्यक्तियों और ६ संगठनों की, शांति और मानवता के विरुद्ध अपराध करने के लिए, जांच की। यह मुकदमा न्यूरैमबर्ग (Nuremberg) में सर जिओफ्रे लॉरेन्स (Sir Geoffrey Lawrence) की अध्यक्षता में २० नवम्बर १९४५ से प्रारम्भ हुआ और १ अक्तूबर १९४६ को निर्णय सुना दिये गये। ३ के अतिरिक्त सभी अभियुक्तों को फांसी या कारावास का दण्ड मिला। फांसी के लिए नियत समय से कुछ ही पहले गोरिंग (Goring) और ली (Ley) ने जल्लाद को धोखा देकर विष खा लिया। अभियुक्तों को क्षमा के लिए प्रार्थना पत्र देने का चार दिन का समय दिया गया लेकिन १० अक्टूबर को सभी प्रार्थना पत्रों को अस्वीकृत करते हुए पहले के निर्णय को यथापूर्व रखा गया। इसके अतिरिक्त न्यूरैमबर्ग अदालत ने सभी प्रकार के नाजी संगठनों की कटु निंदा की।

न्यूरैमबर्ग अदालत ने युद्ध-अपराधों के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान किया—(१) राज्य के समान ही व्यक्ति पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू किया जा सकता है, एवं (२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार, राज्य के प्रतिनिधियों को भी दण्डित किया जा सकता है यदि युद्ध-अपराधों के अभियोग उनके विरुद्ध सिद्ध हो जाएं। इस तरह न्यूरैमबर्ग अदालत ने यह विचार कायम रखा कि राज्य का कोई पृथक अस्तित्व नहीं है, राज्य व्यक्तियों से मिलकर बना है (State has no separate entity, State is composed of individuals)। न्यूरैमबर्ग अधिकरण (Nuremberg Tribunal) के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराध व्यक्तियों द्वारा किये गये थे न कि अदृश्य सत्ताओं द्वारा, और केवल मात्र अपराधी व्यक्तियों को दण्डित करके ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रावधानों को लागू किया जा सकता है।"[1]

---

1. "Crimes against International Law were committed by men, not by abstract entities and only by punishing individuals who commit such crimes, can the provisions of International Law be enforced."

—*Nuremberg Tribunal*

प्रशान्त महासागर में मित्रराष्ट्रों के सर्वोच्च सेनापति जनरल मैक-ओर्थर की घोषणा द्वारा सुदूरपूर्व में १९ जनवरी, १९४६ को अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक अधिकरण स्थापित हुआ। इस अधिकरण ने मुकदमों की कार्यवाही ४ जून १९४६ से प्रारम्भ की और नवम्बर १९४८ में अपना फैसला सुनाया। अपराधों का विवरण न्यूरैंमवर्ग पद्धति के अनुसार ही किया गया। इन प्रमुख मुकदमों के अतिरिक्त जर्मनी के प्रत्येक अधिकृत क्षेत्र में सैनिक अधिकरणों के सम्मुख मुकदमे चले। १६७२ व्यक्तियों पर मुकदमें चलाये गये जिनमें से ४२६ को फांसी दी गयी।

द्वितीय महायद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन
(War-Time International Conferences)

महायुद्ध काल में जो विभिन्न महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए और जिन्होंने न केवल युद्धकालीन घटनाओं को अपितु युद्धोत्तर विश्व को भी प्रभावित किया, वे निम्नलिखित हैं—

अटलाण्टिक चार्टर (Atlantic Charter) १४ अगस्त १९४१— अगस्त १९४१ में ब्रिटिश प्रधान मंत्री चर्चिल और संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट अटलाण्टिक महासागर में एक युद्धपोत पर मिले और उन्होंने मित्र राष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों (War aims) का एक घोषणा-पत्र तैयार किया। इस घोषणा-पत्र को अटलाण्टिक चार्टर के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस चार्टर का उद्देश्य उस समय तक हिटलर द्वारा पराजित किये गये और आक्रमण का शिकार हुए पोलेण्ड, नार्वे, डेनमार्क, होलेण्ड, बैल्जियम, फ्रांस, रूस तथा बाल्कन प्रदेशों की जनता में नाजियों के साथ लड़ने का उत्साह पैदा करना और हिटलर द्वारा बारम्बार उपस्थित की जाने वाली नवीन यूरोपियन व्यवस्था की तुलना में अपने उद्देश्यों का स्पष्टीकरण करना था। अटलाण्टिक चार्टर विलसन की १४ शर्तों जैसी घोषणा था। इस चार्टर में दोनों देशों के उन सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था जिनके आधार पर भविष्य में उन्हें अपनी राष्ट्रीय नीतियों का संचालन और विश्व की नई श्रेष्ठ व्यवस्था का निर्माण करना था। यह चार्टर एक अष्टसूत्री योजना था जिसमें ८ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया था।

अटलाण्टिक चार्टर की सम्मिलित घोषणा, जिसमें ८ सिद्धान्त पूर्णतः स्पष्ट किये गये थे, इस प्रकार थी :—

"संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति तथा संयुक्त साम्राज्य के सम्राट की सरकार का प्रतिनिधित्व करने वाले चर्चिल, एक स्थान पर मिलते हुए, अपने-२ देशों की राष्ट्रीय नीतियों के कुछ सामान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना उचित समझते हैं; जिन पर उन्होंने संसार के लिये एक अच्छे भविष्य की आशा आधारित की है।

सर्व प्रथम, उनके देश, प्रादेशिक अथवा अन्य प्रकार की शक्ति-वृद्धि नहीं चाहते।

दूसरे, वे ऐसा कोई भी प्रादेशिक परिवर्तन नहीं देखना चाहते, जो उनसे सम्बन्धित लोगों की स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट की गई इच्छाओं के अनुकूल न हो।

तीसरे, वे प्रत्येक राष्ट्र के, अपनी सरकार के, जिसके अन्तर्गत वे रहेंगे रूप को चुनने के अधिकार का सम्मान करते हैं; तथा वे यह देखना चाहते हैं कि जिन राज्यों में सत्तात्मक अधिकारों और स्वशासन को बलपूर्वक लिया गया है, वे उन्हें पुनः प्राप्त हो जाएं।

चौथे, वे अपने वर्तमान कर्त्तव्यों का पूर्ण ध्यान रखते हुए, सभी राज्यों के लिये, चाहे वे छोटे हों अथवा बड़े, विजेता हों अथवा विजित, इस बात की चेष्टा करेंगे कि उन्हें समान रूप में संसार के व्यापार एवम् कच्चे माल की प्राप्ति के साधन प्राप्त हो सकें जो उनकी आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक हों।

पांचवें, वे सभी के लिये मजदूरी के उन्नत स्तरों आर्थिक उन्नति एवम् सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति की दृष्टि से, आर्थिक क्षेत्र में, सभी राष्ट्रों के मध्य पूर्ण सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं।

छठे, नाजी अत्याचार को अंतिम रूप से नष्ट करने के उपरान्त वे एक ऐसी शांति स्थापना करने की आशा करते हैं जो सभी राष्ट्रों को अपनी-२ सीमाओं के भीतर सुरक्षित रहने के साधन दे सके; तथा जो यह आश्वासन भी दे सके कि सभी मनुष्य सभी देशों में भय तथा युद्ध से स्वतंत्र होकर अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

सातवें, इस प्रकार की शांति बिना रुकावट के बाह्य सागरों एवम् महासागरों को पार करने का अधिकार प्रदान कर सकेगी।

आठवें, उनका विश्वास है कि संसार के सभी राष्ट्रों को, वास्तविक एवम् आध्यात्मिक कारणों की दृष्टि से शक्ति के प्रयोग को छोड देना चाहिये, क्योंकि यदि राज्य स्थल, जल अथवा वायु के शस्त्रों का प्रयोग करते रहेंगे, जो उनकी सीमाओं के बाहर आक्रमण की धमकी देते हैं अथवा दे सकते हैं, तो भविष्य में शांति नहीं रह सकती। अतएव उनका विश्वास है कि सामान्य सुरक्षा की एक विस्तृत एवम् स्थायी व्यवस्था की स्थापना के समय तक ऐसे राज्यों का निःशस्त्रीकरण आवश्यक है।

इस प्रकार से, वे अन्य सभी व्यावहारिक कार्यों में सहायता एवम् प्रोत्साहन देंगे, जो शांति-प्रिय लोगों के शस्त्रों के भारी बोझ को हल्का कर सकेंगे।

उपर्युक्त प्रसंग में यह बात स्मरणीय है कि इस समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका प्रत्यक्ष रूप से महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। ऐसा तो ७ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण के बाद ही सम्भव हो सका। अटलाण्टिक चार्टर की यह घोषणा अमेरिकन राष्ट्रपति द्वारा ६ जून, १९४१ को अंग्रेजों को भेजे गये उस संदेश के अनुरूप थी जिसमें अमेरिका का उद्देश्य **चार स्वतंत्रताओं** (Four Freedoms) की प्राप्ति बताया गया था। ये चार स्वतंत्रताएं इस प्रकार थीं :—(१) भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (२) निजी विश्वास के अनुसार ईश्वर उपासना की स्वतंत्रता, (३) अभाव और दरिद्रता को समाप्त करके गरीबी तथा बेकारी को दूर करना, एवम् (४) निःशस्त्रीकरण के द्वारा आक्रमण के भय से मुक्ति तथा निर्बल राष्ट्रों को अभय दान।

उपरोक्त चार स्वतंत्रताओं के उद्देश्यों को ही विकसित रूप में अटलाण्टिक चार्टर द्वारा स्पष्ट किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने जर्मनी के साथ युद्धरत न होते हुए भी ब्रिटेन के साथ शांति स्थापना के उपरोक्त उद्देश्यों से सहमति प्रकट की। लेकिन वास्तव में यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि युद्ध की समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्र इन उच्च और उद्‌दात्त उद्देश्यों को पूरा न कर सके।

संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा (The United Nations Declaration)–हिटलर के विरुद्ध युद्ध-प्रयत्नों में अधिकाधिक सहयोग प्राप्त कर और सुदृढ़ सगठन का निर्माण करने के लिये संयुक्त राष्ट्रों की यह घोषणा १ जनवरी, १९४२ को की गई। इस बीच में ७ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो चुका था। ११ दिसम्बर १९४१ को जर्मनी, इटली और जापान ने २७ दिसम्बर, १९४० के त्रि-पक्षीय समझौते (Tripartite Pact) को पुष्ट करते हुए यह संकल्प प्रकट किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन से पृथक सन्धि नहीं होगी और युद्ध के बाद "नई न्यायपूर्ण व्यवस्था" की स्थापना की जाएगी। धुरी राष्ट्रों के इस संकल्प का प्रत्युत्तर उपर्युक्त घोषणा में दिया गया था। जर्मनी, इटली और जापान के विरुद्ध संघर्ष करने वाली शक्तियों के गुट का नामकरण अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने "संयुक्त राष्ट्र (United Nations)" किया। इस समय तक इन राष्ट्रों की संख्या २१ हो चुकी थी। ये २१ राष्ट्र निम्नलिखित थे—अमेरिका, इंग्लैंड, रूस, चीन, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाड़ा, क्यूबा, चैकोस्लोवाकिया डेमीनिकन रिपब्लिक, एल सेलवेडर, यूनान, ग्वाटेमाला, हैटी, होण्डूरस, भारत लग्जमबर्ग, होलैण्ड, न्यूजीलैंड, निकारगुआ, नार्वे, पनामा, पोलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और यूगोस्लाविया। इन सभी राष्ट्रों ने एक घोषणापत्र निकाल कर अटलाण्टिक चार्टर के सिद्धान्तों का समर्थन किया और यह प्रतिज्ञा की कि वे धुरी राष्ट्रों के साथ कभी भी पृथक संधि नहीं करेंगे और उनके विरुद्ध संघर्ष में अपनी संपूर्ण शक्ति लगा देंगे। साथ ही यह भी संकल्प प्रकट किया गया था कि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र जर्मनी, जापान और इटली के विरुद्ध आर्थिक साधनों की सहायता से भी संघर्षरत होंगे।

विविध सम्मेलन–कासाब्लांका सम्मेलन (१४–२४ जनवरी, १९४३)–२० मई, १९४२ से जनवरी १९४३ के मध्य मित्र राष्ट्रों के अनेक सम्मेलन हुए। मई के अंतिम पक्ष में मोलोटोव, चर्चिल ईडन, रूजवेल्ट आदि ने एक दूसरे से परामर्श किया और २६ मई, १९४२ को इंग्लैंड और रूस में आगामी २० वर्षों के लिये मैत्री-संधि सम्पन्न की गई। ११ जून, १९४२ को रूस और अमेरिका के मध्य 'लैंड लीज' का समझौता सम्पन्न किया गया। १८ जून, १९४२ को वाशिंगटन में अमेरिका, इंग्लैंड और रूस के प्रतिनिधियों ने सम्मिलित युद्ध की व्यवस्था के बारे में नीति निर्धारित की। इस बैठक में उत्तरी अफ्रीका की सुरक्षा के सम्बन्ध में किये जाने वाले अभियान की भी चर्चा की गई और एक गुप्त समझौता सम्पन्न किया गया।

१४ से २४ जनवरी, १९४३ में मोरक्को के कासाब्लांका में चर्चिल, रूजवेल्ट तथा जनरल डिगोल का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह घोषणा की

गई कि उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण करने से पूर्व इटली पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया जाए।

मास्को सम्मेलन (१६-३० **अक्टूबर**, १६४३)—१६ अक्टूबर, १६४३ को मास्को में मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ जो ३० अक्टूबर तक जारी रहा। इस सम्मेलन में पहली बार युद्ध के सम्बन्ध में आंग्ल-समझौता सम्पन्न किया गया। पहली बार ही मित्र राष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों–आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की और पहली बार सामान्य सुरक्षा के महत्वपूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में कुछ निर्णय लिया। इस सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और रूस के विदेश मंत्री कोर्डल हल, एन्थोनी ईडन और मोलोटोव सम्मिलित हुए।

सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैंड और रूस की तीनों सरकारों में सामन्जस्य स्थापित करने तथा यूरोपियन समस्याओं पर विचार करने के लिये लंदन में यूरोपियन परामर्शदाता आयोग (European Advisory Commission) स्थापित करने का निर्णय लिया गया। १५ मार्च १६३८ को आस्ट्रिया का जर्मनी में सम्मिलित होना अवैध घोषित करते हुए यह व्यवस्था की गई कि युद्धोपरान्त उसे पुन: जर्मनी से पृथक कर दिया जाएगा और एक स्वतंत्र तथा स्वाधीन राष्ट्र का सम्मान दिया जाएगा। इटली के बारे में यह निश्चय किया गया कि फासिस्टवाद को जड़-मूल से समाप्त कर दिया जाए, वहाँ लोकतंत्र की स्थापना की जाए और उस देश के निवासियों को उपासना, भाषण, प्रेस आदि की स्वतंत्रता प्रदान की जाए। जर्मनी के भविष्य के बारे में यह व्यवस्था की गई कि महायुद्ध के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों को कठोर दंड दिया जाए।

इसी सम्मेलन में सुरक्षा और शांति बनाये रखने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का निश्चय हुआ। यही संगठन बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में विकसित हुआ। इस सम्बन्ध में यह निर्णय लिया गया कि यह संगठन सब शांति प्रेमी राज्यों की सर्वोच्च प्रभुता को समान रूप से स्वीकार करने वाले सिद्धान्तों पर आश्रित हो, सभी छोटे-बड़े राष्ट्र इसके सदस्य बन सकें और शांति तथा सुरक्षा स्थापित करने के अलावा युद्धोपरांत शस्त्रों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में भी यह संघ सामान्य समझौता सम्पन्न करवाये।

काहिरा सम्मेलन (२२–२५ **नवम्बर**, १६४३)—मास्को सम्मेलन में यूरोप के शत्रु राष्ट्रों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय किये गये लेकिन सुदूर-पूर्व की समस्याओं का समाधान होना बाकी था। इस क्षेत्र में जापान अभी तक मित्र राष्ट्रों का डटकर मुकाबला कर रहा था। अतः २२-२५ नवम्बर, १६४३ के मध्य मिश्र की राजधानी काहिरा में रूजवेल्ट, चर्चिल और च्यांग-काई शेक का एक सम्मेलन हुआ। ४ दिन के विचार-विमर्श के उपरान्त ये नेता एक निश्चय पर पहुँचने में सफल हुए। यह निश्चय इस प्रकार था:—

( ) जापान के विरुद्ध जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा पूरी कार्यवाही की जाए।

(२) चीन को यह आश्वासन दिया गया कि १६१४ से जापान ने उसके जो प्रदेश मन्चूरिया, फारमोसा तथा पेस्काडोरेज (Pescadores) के

४८ टापू बल-पूर्वक छीने हैं, वे सब उसे वापिस कर दिये जाएंगे। 'तीन महान राष्ट्रों' को अपने लिये किसी नवीन प्रदेश की कोई आकांक्षा नहीं है। लेकिन जापान ने जिन प्रदेशों को बलपूर्वक हस्तगत किया है, उन सबसे उसे बलपूर्वक निष्कासित किया जाएगा।

(३) 'तीन महान शक्तियों' को कोरिया की जनता की दासता का ध्यान है और उनका यह संकल्प है कि कोरिया को स्वतंत्र राष्ट्र बनाया जाए।

काहिरा सम्मेलन के सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि चूंकि रूस और जापान अभी तक एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे, अतः सोवियत रूस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया था। सम्मेलन की सरकारी विज्ञप्ति पर संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और चीन के ही हस्ताक्षर थे।

तेहरान सम्मेलन (२८ नवम्बर-१ दिसम्बर १९४३)—इस सम्मेलन में पहली बार तीन बड़े संयुक्त राष्ट्रों के अध्यक्ष चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन ईरान की राजधानी तेहरान में एकत्र हुए। यहां तीनों मित्र देशों के सेनाध्यक्षों ने जर्मन सेनाओं के विनाश की योजनाएं तैयार कीं। तेहरान सम्मेलन के निर्णयों को तीन भागों में विभाजित किया गया:—

प्रथम भाग में जर्मनी के विरुद्ध लड़ने का दृढ़ निश्चय और अपनी विजय पर ध्रुव विश्वास व्यक्त किया गया। दासता और अत्याचार को मिटाने के लिये अन्य देशों का सहयोग मांगा गया। वक्तव्य के अंत में यह कहा गया कि "हम यहां आशा और विश्वास के साथ आये थे, यहां से प्रस्थान के समय वस्तुतः भावना और उद्देश्य की दृष्टि से मित्र बन कर जा रहे हैं।"

दूसरा भाग ईरान के सम्बन्ध में था। इसमें 'तीन बड़ों' (Three Bigs) ने ईरान की स्वतंत्रता, सर्वोच्च सत्ता और प्रादेशिक अखंडता बनाये रखने की इच्छा अभिव्यक्त की।

समझौते का **तृतीय** भाग एक गुप्त समझौता था। इसमें यह व्यवस्था की गई थी कि नारमंडी में मित्र राष्ट्रों का दूसरा मोर्चा खोलते ही सोवियत संघ जर्मनी पर घोर आक्रमण करे ताकि हिटलर पूर्वी मोर्चे से पश्चिमी मोर्चे पर सेना न ला सके। इसके तुरन्त बाद तुर्की को युद्ध में शामिल करने का यत्न किया गया तथा यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो के नेतृत्व में चलने वाले नाजी-विरोधी जन आंदोलन को सहायता देने का निश्चय किया गया। इस गुप्त समझौते को बाद में २४ मार्च १९४७ को प्रकाशित किया गया।

ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन—२१ जुलाई १९४४ को संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन ब्रिटेन वुड्स में हुआ जिसमें ४४ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें पुनर्निर्माण और विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्थापित करने पर निश्चय किया गया।

डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन (Dumberton Oaks Conference):—२१ अगस्त से ७ दिसम्बर १९४४ तक संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों ने वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान में एकत्र होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय भावी संगठन—संयुक्त

राष्ट्र संघ की रूपरेखा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया और अनौपचारिक वार्ता की। इस सम्मेलन के निर्णय अंतिम न थे, यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का बहुत कुछ आधार यही सम्मेलन बना।

इस सम्मेलन में विभिन्न प्रस्तावों को रखा गया और उन पर विचार किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रस्तावित संघ की सुरक्षा में ब्राजील को स्थायी सदस्य बनाने की मांग रखी, लेकिन ब्रिटेन एवं सोवियत रूस के विरोध के फलस्वरूप यह प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका।

सोवियत संघ ने सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा कि उसके १६ गणराज्यों को स्वतंत्र सदस्यों के रूप में संगठन में सम्मिलित किया जाए किन्तु अमेरिका और ब्रिटेन ने सोवियत रूस के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। रूस ने यह मांग भी प्रस्तुत की कि आर्थिक और सामाजिक विषयों पर विचार-विमर्श के लिये एक पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया जाए पर यह प्रस्ताव भी अन्य राष्ट्रों को मान्य न हुआ। सोवियत संघ का यह प्रस्ताव भी स्वीकृत न हो सका कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के आदेशों द्वारा सचालित होने वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेना का निर्माण हो। हां, ब्रिटेन और अमेरिका का यह प्रस्ताव अवश्य स्वीकार हो गया कि आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा परिषद को पारस्परिक समझौते के आधार पर राष्ट्रीय सेनाओं के दस्ते प्रदान किये जाए।

डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन का सर्वाधिक विवादास्पद विषय था—सुरक्षा परिषद के सदस्यों को निषेधाधिकार (Veto) प्रदान करना। ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका का मत यह था कि निषेधाधिकार इस प्रतिबन्ध के साथ प्रदान किया जाए कि जो राष्ट्र जिस विषय पर निषेधाधिकार का प्रयोग करें वह विषय उस राष्ट्र से संबंधित न हो। सोवियत रूस ने इस प्रतिबन्ध का विरोध किया और यह मांग की कि निषेधाधिकार के प्रयोग पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिये। काफी वाद-विवाद के पश्चात् भी इस विषय पर कोई परिणाम नहीं निकला और यह निर्णय लिया गया कि तीनों राज्यों के शासनाध्यक्ष स्वयं इस प्रश्न का समाधान करें।

क्रीमिया (याल्टा) सम्मेलन (४ फरवरी-११ फरवरी, १९४५)—महायुद्धकालीन अंतिम महत्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा (कृष्ण सागर में क्रीमिया प्रायद्वीप में) नामक स्थान पर ४ फरवरी १९४५ को हुआ और ११ फरवरी १९४५ तक जारी रहा। इस सम्मेलन में अनेक नेताओं ने भाग लिया जिनमें रूजवैल्ट, चर्चिल, स्टालिन, ईडन, मोलोटोव, मार्शल, ब्रुक, एन्टोनोव, हार्फकिस, केडोगन, विशिन्सकी आदि प्रमुख थे। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ के यूरोप के नवीन मानचित्र, सुदूर पूर्व, मध्य पूर्व आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार-विमर्श किये गये। युद्धकालीन सम्मेलनों में याल्टा का यह सम्मेलन सबसे महत्वपूर्ण था क्योंकि इस सम्मेलन ने जिन समस्याओं को जन्म दिया उनका युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस सम्मेलन में व्यक्त विचारों ने जहां एक तरफ अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आधारशिला रखी वहां दूसरी तरफ मित्र राष्ट्रों में आपसी मतभेदों को भी उत्पन्न किया जिसकी चरम सीमा शीत युद्ध (Cold war) मानी जाती है।

याल्टा सम्मेलन के कुछ निर्णय उस समय गुप्त रक्खे गये और पूरा विवरण १९५५ में संयुक्त राज्य अमेरिका के स्टेट डिपार्टमेंट ने प्रकाशित किया। इस सम्मेलन में लिये गये महत्वपूर्ण निर्णय निम्नानुसार थे:—

(१) यह निश्चय किया गया कि विश्व संगठन के सम्बन्ध में २५ अप्रेल १९४५ को सानफ्रांसिस्को (अमेरिका) में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन आमंत्रित किया जाए। १ मार्च १९४५ तक जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने वाले राज्यों को निमन्त्रण भेजे जाए और यूक्रेन तथा श्वेत रूस को मित्र राष्ट्रों द्वारा पृथक रूप में बुलाया जाए। ५ राज्यों, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस, चीन और फ्रांस को इस संघ की सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्य बनाया जाए। सुरक्षा परिषद के प्रत्येक सदस्य को प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न पर निषेधाधिकार हो।

(२) यूरोप में नाजी और फासिस्ट दासता से मुक्त देशों में अटलान्टिक चार्टर के अनुसार प्रजातांत्रिक पद्धति की सरकारें स्थापित की जाएं तथा आक्रमणकारी देशों द्वारा छीने हुए प्रदेश उन राज्यों को वापिस लौटा दिये जाएं जिनसे उन्हें छीन लिया गया था।

(३) सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि यूरोप में शांति और सुरक्षा के लिये जर्मनी का निःशस्त्रीकरण किया जाए। युद्ध में क्रूरता या अत्याचार करने वाले व्यक्तियों के अपराधों की जांच के लिये एक अदालत कायम की जाए और जर्मनी से क्षति-पूर्ति ली जाए। क्षति-पूर्ति की राशि २० अरब डालर निश्चित की गई और यह निर्णय हुआ कि इसका आधा भाग सोवियत संघ को दिया जाए।

(४) यह भी निश्चय हुआ कि पोलैण्ड की पूर्वीय सीमा "कर्जन रेखा" को कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ स्वीकार किया जाए तथा पोलैण्ड में यथाशीघ्र स्वतंत्र सरकार की स्थापना हो।

(५) यूगोस्लाविया में यथाशीघ्र मार्शल टीटो और सुबासिच (Subasitch) के मध्य सम्पन्न समझौते के आधार पर नूतन सरकार बनाने का निश्चय किया गया।

(६) यूरोप में युद्ध की समाप्ति के आगामी ३ महीनों के भीतर रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने तथा मित्र राष्ट्रों को सहयोग देने का आश्वासन दिया।

(७) जापान के विरुद्ध युद्ध छेडने का वचन देने के बदले में स्टालिन ने चर्चिल और रूजवैल्ट से सुदूरपूर्व के सम्बन्ध में विशेष महत्वपूर्ण सुविधायें प्राप्त की। इन दोनों ने बाह्य मंगोलिया में यथापूर्व स्थिति (Status-quo) स्वीकार की। १९०४ में जापान के आक्रमण से छीने हुए निम्नलिखित प्रदेशों को रूस को देने का निश्चय किया गया:— (क) साखालीन द्वीप का दक्षिणी भाग और इनके समीपवर्ती टापू (ख) पोर्ट-आर्थर का नौसैनिक अड्डा रूस को लौटाना तथा डायरेन (Dairen) के बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना, (ग) चीनी-पूर्वी रेल्वे तथा दक्षिणी मंचूरियन रेल्वे पर सोवियत चीनी कम्पनी का संयुक्त स्वामित्व और मंचूरिया में चीन की सर्वोच्च सत्ता की स्वीकृति, एवम् (घ) क्यूराइल द्वीप पुनः रूस को लौटाना।

बाह्य मंगोलिया तथा रेल सम्बन्धी समझौते के सम्बन्ध में चीन की स्वीकृति नहीं ली गई थी, अतः यह निश्चय किया गया कि राष्ट्रपति रूजवैल्ट चीन की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और जापान की पराजय के बाद ही रूस को दी गई सुविधाओं को कार्यान्वित किया जाएगा। रूस, चीन के साथ मैत्री सन्धि करने लगा ताकि चीन को रूस की तरफ से किसी प्रकार का भय न रहे। चूंकि ये सम्पूर्ण व्याधियां जापान के पराजित होने के पश्चात् ही सम्भव हो सकती थी, अतः इन्हें गुप्त रखा गया और १९५५ तक संसार इनके बारे में अनभिज्ञ ही रहा।

सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन (२५ अप्रैल १९४५-२६ जून, १९४५)—२५ अप्रैल, १९४५ से २६ जून १९४५ तक सानफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण से सम्बन्धित था, अतएव यहां इस पर अधिक विचार न करके हम इसे अगले अध्याय में विस्तार से प्रस्तुत करेंगे। यहां मात्र इतना लिखना ही पर्याप्त है कि इस सम्मेलन के आरम्भ होने से १३ दिन पहिले राष्ट्रपति रूजवेल्ट का स्वर्गवास होने से उनके उत्तराधिकारी ट्रूमैन ने इसके उद्घाटन भाषण में कहा था कि—'इस सम्मेलन का उद्देश्य यह नहीं है कि वह पुराने ढर्रे की संधि करे। हमारा यह कार्य नहीं है कि हम प्रदेशों, सीमाओं, नागरिकता और क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित प्रश्नों का निर्णय लें। यह सम्मेलन अपनी सम्पूर्ण शक्ति शांति को सुरक्षित रखने वाले संगठन के निर्माण मे लगाएगा। आपको इसका मौलिक चार्टर बनाना है...हम युद्ध में अकेले नहीं थे अतः शांति में भी अकेले नहीं रह सकते। यदि हम युद्ध में इकट्ठा न मरना चाहते तो हमें शांतिकाल में मिलकर रहना सीखना चाहिये।"

पोट्स्डम (बर्लिन) सम्मेलन (१७ जुलाई—२ अगस्त, १९४५)

७ मई, १९४५ को जर्मनी द्वारा बिना शर्त आत्म-समर्पण और युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया। ५ जुलाई १९४५ को वाशिंगटन, लन्दन, पैरिस तथा मास्को की सरकारों ने घोषणा की कि अब उनका "जर्मनी तथा उसकी सरकार, जर्मन हाई कमाण्ड तथा उसकी राजकीय एवं स्थानीय सरकारी शक्ति पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो चुका है।"

जर्मनी द्वारा बिना शर्त आत्म-समर्पण के पश्चात्, यूरोप के नवीन मानचित्र को तैयार करने तथा शत्रु राष्ट्रों के साथ की जाने वाली संधियों की रूपरेखा तैयार करने की दृष्टि से बर्लिन के निकट पोट्स्डम नामक स्थान पर "तीन बड़ों" का एक सम्मेलन हुआ जो १७ जुलाई १९४५ से २ अगस्त १९४५ तक चलता रहा। इस सम्मेलन में अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली (जो नये चुनावों के बाद चर्चिल के स्थान पर चुने गये), स्टालिन तथा च्यांकाई-शेक सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में न केवल अन्तिम स्थायी संधि होने से पूर्व जर्मनी पर अधिकार और इसके प्रशासन के सम्बन्ध में समझौता किया गया तथा अन्य धुरी राष्ट्रों के साथ संधियों की आरम्भिक तैयारी की गई बल्कि अभी तक युद्ध करने में संलग्न जापान को यह चेतावनी भी दी गई कि यदि उसने बिना शर्त आत्म-समर्पण न किया तो उसका पूर्ण विध्वंस कर दिया जाएगा।

पोट्स्डम सम्मेलन के सम्मुख बहुत सी कठिनाईयां थीं। इसे यूरोप की भावी शांति को स्थायी बनाना था, यूरोप के अधिकांश भू-भाग को जो युद्ध-काल में बर्बाद हो चुका था फिर से आबाद करना था, सुदूर पूर्व के जापान को पराजित करना था, पराजित जर्मनी के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए यह तय करना था। लेकिन इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय था—मित्र राष्ट्रों के युद्धकालीन पारस्परिक सहयोग को बनाये रखना, क्योंकि युद्ध समाप्त होने के बाद उनमें आपसी मतभेदों का सूत्रपात हो चुका था। वास्तव में भावी विश्व के निर्माण के लिये "तीन बड़ों" का पारस्परिक सहयोग नितान्त आवश्यक था।

इस सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ग्रेट ब्रिटेन ने निम्नलिखित निर्णय किये:—

(१) शान्ति समझौते की आवश्यक आरम्भिक तैयारी करने के लिये लंदन में स्थायी सचिवालय रखने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ चीन, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मंत्रियों की एक परिषद (Foreign Ministers Council) स्थापित की जाएगी। इस परिषद की पहली बैठक लन्दन में १ दिसम्बर १९४५ को होगी और तत्पश्चात अन्य बैठकें समझौते के अनुसार अन्य राजधानियों में भी हो सकेंगी। इस परिषद का तात्कालिक एवं महत्वपूर्ण कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्तुत किये जाने के लिये इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी तथा फिनलैंड की संधियां और प्रादेशिक प्रश्नों का निपटारा तथा जर्मनी के साथ की जाने वाली संधि की तैयारी होगा।

(२) सम्मेलन में जर्मनी के साथ अन्तिम संधि करने से पहिले उसके साथ व्यवहार करने के १० राजनीतिक सिद्धान्त, ९ आर्थिक सिद्धान्त, १० क्षतिपूर्ति सिद्धान्त, जर्मन नौ-सेना के विभाजन के ६ सिद्धान्त तथा जर्मनी के व्यापारिक जहाजों के विभाजन के बारे में ५ सिद्धान्तों का निश्चय किया गया:—

(क) **राजनीतिक सिद्धान्तों की दृष्टि से** यह निश्चय किया गया कि जर्मनी को अमेरिकन, ब्रिटिश, रूसी और फ्रेन्च—इन चारों अधिकार क्षेत्रों में बांट लिया जाए। इसके नियंत्रण के लिये चारों महाशक्तियों के प्रतिनिधियों की एक संयुक्त प्रशासकीय समिति भी स्थापित की गई। साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि जहां तक सम्भव होगा सम्पूर्ण जर्मनी में जनता के साथ समान व्यवहार किया जाएगा। जर्मनी को सैनिक शक्ति तथा शस्त्रास्त्रों से रहित कर दिया जाएगा और नाजी दल को अवैध घोषित करके वहां प्रजातांत्रिक शासन की स्थापना की जाएगी। समस्त नाजी कानूनों को भंग करके नागरिकों को धर्म, भाषण तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्रदान की जाएगी। सार्वजनिक पदों से सभी क्रियाशील अनुयायियों को निकाल दिया जाएगा और अपराधियों के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही की जाएगी। समस्त शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद, युद्ध-यन्त्र और उनके उत्पादन की सुविधायें या तो मित्र राष्ट्रों द्वारा नियन्त्रित होंगी या विनष्ट कर दी जायेंगी। जर्मन शिक्षा-व्यवस्था पर ऐसा नियन्त्रण स्थापित किया जाएगा कि जिससे सैनिक और नाजी सिद्धान्तों का पूर्ण उन्मूलन हो सके तथा प्रजातान्त्रिक विचारों के विकास को सम्भव बनाया जा सके। न्याय-व्यवस्था समस्त नागरिकों के लिये जाति, धर्म अथवा राष्ट्री-

मना ने रक्षित समान अधिकारों पर आश्रित होगी। जर्मनी के प्रशासन को विकेन्द्रीकृत करके वहां स्थानीय उत्तरदायित्वों के विकास के प्रयास किये जायेंगे।

(ख) **आर्थिक सिद्धान्तों की दृष्टि से** जर्मनी की युद्ध-क्षमता को नष्ट करने के लिये शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद के उत्पादन और हर प्रकार के वायुयानों व युद्ध तोपों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जर्मन अर्थ-व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण करने का तथा कृषि और शांतिकालीन उद्योगों के प्रोत्साहन का निर्णय किया गया। यह व्यवस्था की गई कि जर्मन अर्थ-व्यवस्था को पुन: संगठित करने में कृषि और शांतिपूर्ण गृह-उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया जाएगा। यह भी निश्चय किया गया कि अधिकार-काल के दौरान जर्मनी को एक ही आर्थिक इकाई माना जाएगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये खानों तथा औद्योगिक उत्पादन, कृषि-वनविकास तथा मछली उद्योग, वेतन, पारिश्रमिक तथा राशनिंग, आयात तथा निर्यात व्यवस्था और यातायात तथा संचार व्यवस्था के सम्बन्ध में समान नीतियों की स्थापना की जाएगी।

(ग) **जर्मनी से क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में** सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि जर्मनी अपने "औद्योगिक कल-कारखानों को उन्मूलित करके युद्ध की क्षति-पूर्ति करेगा। रूस इस क्षतिपूर्ति का भाग अपने अधीन जर्मन प्रदेश तथा उसके विदेशी संस्थानों से प्राप्त करेगा। अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य देश जिनको क्षतिपूर्ति लेने का अधिकार है, जर्मनी के पश्चिम भाग तथा उससे सम्बन्धित विदेशी संस्थानों (Assets) से उसकी प्राप्ति करेंगे।" सोवियत संघ को जर्मनी की शांतिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिये अनावश्यक १० प्रतिशत कारखानों की मशीनें और सामग्री पश्चिमी क्षेत्र से दिये जाने का निश्चय हुआ। इसके अतिरिक्त पश्चिमी क्षेत्र से ली जाने वाली औद्योगिक सामग्री के बदले उसे पूर्वी क्षेत्र से इतने ही मूल्य का अन्न, कोयला, पोटाश, इमारती लकड़ी आदि का सामान प्रदान करना था। सोवियत सरकार ने जर्मनी के मित्रराष्ट्रों की सेनाओं द्वारा हस्तगत किये स्वर्णकोष पर तथा पश्चिमी क्षेत्र के जर्मनी कारखानों पर दावे का परित्याग किया। इसी प्रकार अमेरिका और ब्रिटेन ने पूर्वी क्षेत्र के कारखानों में किसी हिस्से का दावा न करने का निर्णय किया।

(घ) **जर्मन जल-सेना और वाणिज्य सम्बन्धी जल स्थानों के विभाजन के बारे में** यह तय किया गया कि जर्मनी की सम्पूर्ण जल शक्ति (जिसमें निर्मित तथा मरम्मत किये जा रहे जलयान भी सम्मिलित थे) को ब्रिटेन, अमेरिका और रूस में विभाजित किया जाए। इसके अतिरिक्त जर्मनी की अधिकांश पनडुब्बियों को जल समाधि देकर नष्ट करने का निश्चय किया गया। प्रयोगात्मक तथा प्राविधिक (Technical) उद्देश्यों के लिए केवल ३० पनडुब्बियों को बचाकर उन्हें अमेरिका, ब्रिटेन और रूस में बांटने का निर्णय लिया गया। साथ ही जर्मन व्यापारिक जल साधनों को तीन राष्ट्रों को समर्पित करने का निश्चय करके उन्हें रूस, अमेरिका और ब्रिटेन में बांटने का निश्चय हुआ।

(३) सम्मेलन में पोलैंड के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चय किया गया। इसके पश्चिमी सीमांत के बारे में यह तय हुआ कि जर्मनी के साथ अन्तिम

शांति समझौता होने तक तीन क्षेत्रों– ओडर तथा नायशी (Neissee) नदियों के पूर्व में स्थित जर्मन विस्तृत प्रदेश, भूतपूर्व स्वाधीन नगर डेन्जिग का क्षेत्र, तथा पूर्वी प्रशा का दक्षिणी प्रदेश–को पोलिश-प्रशासन के अन्तर्गत रखा जाये। ब्रिटिश एवम् अमेरिकन सरकारों ने राष्ट्रीय एकता के लिये स्थापित पोलैंड की अन्तरिम सरकार (Polish Provisional Government of National Unity) को मान्यता प्रदान करने और उसके साथ कूटनीतिज्ञ सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया। सरकार ने शीघ्रातिशीघ्र पोलैंड के सार्वजनिक मताधिकार पर स्वतन्त्र चुनाव कराने का निश्चय किया जिसमें समस्त प्रजातांत्रिक तथा नाजी विरोधी दलों को भाग लेने का अधिकार दिया गया।

(४) इटली, हंगरी, फिनलैंड तथा बल्गेरिया के सम्बन्ध में यह तय किया गया कि इनके साथ यथाशीघ्र शांति संधियां करली जाएं और इन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया जाए।

(५) ईरान से मित्रराष्ट्रों की सेनायें फौरन हटा ली जाएं।

(६) टैंजियर का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय बना रहे।

(७) आस्ट्रिया से क्षतिपूर्ति की राशि न ली जाए।

(८) सम्मेलन में जापान द्वारा आत्मसमर्पण की शर्तें भी निश्चित की गई जो निम्नानुसार थीं:—

(अ) जापान के उन सैनिक तत्वों को समूल नष्ट किया जाएगा जिन्होंने उसे विश्व-विजय के लिये युद्ध का आश्रय लेने को बाध्य किया।

(आ) इन सैनिक तत्वों के पूर्ण विध्वंस होने तक जापानी प्रदेश पर मित्रराष्ट्रों का सैनिक अधिकार बना रहेगा।

(ई) काहिरा सम्मेलन के निर्णयानुसार जापान की सर्वोच्च प्रभुता केवल होंशू (Honshu), होकाइदो (Hokkaido), क्यूशू, शिकोकू (Shikoku) तथा तीन शक्तियों द्वारा निश्चित किये जाने वाले अन्य ऐसे छोटे टापूओं तक ही मर्यादित रहेगी।

(इ) जापानी सेनाओं को निःशस्त्र कर दिया जाएगा।

(उ) युद्ध अपराधियों को दंडित किया जाएगा।

(ऊ) जापानी सरकार का संगठन लोकतांत्रिक होगा और जापानियों को भाषण, लेखन, धर्म और विचार की स्वतंत्रता तथा मौलिक अधिकार प्रदान किये जायेंगे।

(ए) जापान में स्वतंत्र चुनावों के बाद जापानी जनता की इच्छा से उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जाने के उपरान्त ही मित्र राष्ट्रीय सेनाओं द्वारा जापानी प्रदेश खाली किया जाएगा।

(ऐ) यह चेतावनी दी गई कि यदि जापान शीघ्र ही बिना शर्त आत्मसमर्पण नहीं करेगा तो तुरन्त ही उसका पूर्ण विध्वंस कर दिया जाएगा।

जापान और मित्रराष्ट्रों की उपरोक्त चेतावनी की उपेक्षा करने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसे विनष्ट करने के लिए पहला अणुबम ६ अगस्त को हिरोशिमा नगर पर गिराया। सोवियत संघ ने, जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा परमाणु बम बनाने की कोई जानकारी नहीं थी, ८ अगस्त को जापान पर युद्ध घोषित कर दिया। ९ अगस्त १९४५ को एक और परमाणु

बम जापान के विशाल नगर नागासाकी पर गिराया गया। इन बमों की प्रलयकारी शक्ति से भयभीत होकर १० अगस्त को जापान ने स्विटजरलैंड के माध्यम से युद्धविराम की इस शर्त पर प्रार्थना की कि सम्राट के विशेषाधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। मित्र राष्ट्रों द्वारा यह उत्तर दिये जाने पर कि सम्राट का पद मित्रराष्ट्रीय सर्वोच्च कमाण्ड के अन्तर्गत बना रहेगा, १४ अगस्त को जापान ने आत्म-समर्पण कर दिया। २ सितम्बर को टोकियो की खाड़ी में मिसौरी युद्धपोत पर आत्मसमर्पण सम्बन्धी मसविदे पर हस्ताक्षर हुए और उसके साथ ही द्वितीय महायुद्ध विधिवत समाप्त हो गया।

EXERCISES

1. Give the factors that led to the Second World War.

   द्वितीय महायुद्ध किन परिस्थितियों के कारण घटित हुआ था इसका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

2. "It was not the Versailles system but the success of the Germany in wrecking it in 1938 and 1939 that caused the Second World War." Comment.

   "वर्साय की व्यवस्था नहीं अपितु १९३८ तथा १९३९ में जर्मनी द्वारा उसका सफलतापूर्वक विनाश ही द्वितीय महायुद्ध का कारण बना।" आलोचना कीजिए।

3. Give a brief account of the war time diplomacy of the Great Powers.

   महान् शक्तियों की युद्धकालीन कूटनीति का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

4. Compare and contrast the task of peace making in 1945 with peace making in 1919. Mention the causes which rendered more difficult the signing of peace treaties after the Second World War.

   १९४५ में शान्ति-निर्माण की कठिनाइयों की १९१९ की शान्ति निर्माण कठिनाइयों से तुलना कीजिए। उन कारणों का वर्णन कीजिए जिनके कारण द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् शान्ति संधियों पर हस्ताक्षर न हो सके।

   OR

   "The bright promises of the Atlantic Charter, the Four Freedoms and the United Nations were unfulfilled in the face of quarrels of victors and the revolt of Asia." —(Schuman). Discuss.

   "अटलांटिक चार्टर, चार स्वतन्त्रतायें तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की महान् आशायें विजेताओं के पारस्परिक संघर्ष तथा एशिया विद्रोह के कारण अपूर्ण ही रह गई।" (शूमैन) विवेचना कीजिए।

5. Describe, in short, the war-time conferences of the Allies during the World War.

   द्वितीय महायुद्धकाल में मित्र राष्ट्रों के जो युद्धकालीन सम्मेलन हुए, उनका संक्षिप्त विवरण दीजिये।

   OR

Write short notes on the following :—
(a) Four Freedoms (b) Atlantic Charter (c) Moscow Conference (d) The Tehran conference (e) The Criman (Yalta) conference (f) The Berlin (Potsdam) conference (g) San-Francisco conference.

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—

(अ) चार स्वतन्त्रतायें, (आ) अटलांटिक चार्टर, (इ) मास्को सम्मेलन, (ई) तेहरान-सम्मेलन, (उ) याल्टा-सम्मेलन, (ऊ) पोट्सडम-सम्मेलन (ए) सान-फ्रांसिसको सम्मेलन ।

6. Comment on the Nuremberg and Tokyo trials.
न्यूरेमबर्ग और टोकियो मुकदमों की विवेचना कीजिये ।

OR

Write a short note on "Trial of war criminals."
'युद्धापराधियों पर मुकदमा' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

7. Desribe the results of the Second World War.
द्वितीय महायुद्ध के परिणामों का वर्णन कीजिये ।

परिशिष्ट—१

महत्वपूर्ण घटनाओं की काल-क्रमानुसार तालिका

(क) द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक

१९१४–१९१८

२८ जुलाई, १९१४ : प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ
८ जनवरी, १९१८ : राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्र
११ नवम्बर, १९१८ : जर्मनी से युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर

१९१९–१९२५

२८ जून, १९१९ : जर्मनी के साथ वर्साय की संधि
१० सितम्बर, १९१९ : आस्ट्रिया के साथ सेण्ट-जर्मेन की संधि
२७ नवम्बर, १९१९ : बल्गेरिया के साथ न्यूइली की संधि
१० जनवरी, १९२० : राष्ट्रसंघ का अस्तित्व में आना
४ जून, १९२० : हंगरी के साथ ट्रिपनो की संधि
१० अगस्त, १९२० : टर्की के साथ सेव्र की संधि
१८ फरवरी, १९२१ : फ्रेंच-पोलिश संधि
१६ मार्च, १९२१ : ग्रेट-ब्रिटेन और सोवियत रूस के मध्य व्यापारिक समझौते
२ जुलाई, १९२१ : लघुमैत्री संघ का अस्तित्व में आना
१२ नवम्बर, १९२१ : वाशिंगटन सम्मेलन का समवेत होना
६ फरवरी, १९२२ : नौसैनिक संधि और चीन से सम्बन्धित नौराष्ट्र संधि पर वाशिंगटन के हस्ताक्षर
२८ फरवरी, १९२२ : ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा मिश्र की स्वतंत्रता को मान लेना
१६ अप्रेल, १९२२ : जर्मनी और सोवियत रूस में रैपेलो की संधि
३१ अक्टूबर, १९२२ : मुसोलिनी का इटली का प्रधानमंत्री बनना
२० नवम्बर, १९२२ : लोसाने सम्मेलन का आरम्भ
११ जनवरी, १९२३ : फ्रेंच और बेल्जियम सेनाओं द्वारा रूस में प्रवेश
२४ जुलाई, १९२३ : टर्की के साथ लोसाने की संधि
२१ दिसम्बर, १९२३ : डावेस समिति की नियुक्ति
२७ जनवरी, १९२४ : यूगोस्लाविया के साथ रोम की संधि होना
१ फरवरी, १९२४ : ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा सोवियत सरकार को मान्यता
३० अगस्त, १९२४ : डेविस समझौतों पर लन्दन में हस्ताक्षर
२ अक्टूबर, १९२४ : राष्ट्रसंघ द्वारा जेनेवा प्रोटोकोल स्वीकार किया जाना
१८ नवम्बर, १९२४ : फ्रांस और बेल्जियम का रूर प्रदेश से फौजें हटाना

१० मार्च, १६२५ : ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा जेनेवा उपसंधि स्वीकार करना
१ दिसम्बर, १६२५ : लोकार्नो संधियों पर लन्दन में हस्ताक्षर

१६२६–१६३०

१० सितम्बर, १६२६ : राष्ट्रसंघ में जर्मनी का प्रवेश
२७ नवम्बर, १६२६ : इटली तथा अलबानिया के मध्य तिराना की संधि
२० जून, १६२७ : जेनेवा सम्मेलन का समवेत होना
२५ जुलाई, १६२७ : तनाका स्मरणपत्र जापानी सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना
१७ दिसम्बर, १६२७ : रूसी साम्यवादी पार्टी से ट्राट्स्की का निष्कासन
२७ अगस्त, १६२८ : पेरिस समझौते (केलॉग-ब्रीयाँ पैक्ट) पर हस्ताक्षर
११ फरवरी, १६२६ : यंग समिति द्वारा क्षति-पूर्ति समस्या पर काम आरम्भ
३१ अगस्त, १६२६ : हेग सम्मेलन द्वारा यंग योजना का अनुमोदन
अक्टूबर, १६२६ : न्यूयार्क में वॉलस्ट्रीट संकट उत्पन्न होना
२१ जनवरी, १६३० : लन्दन नौसैनिक सम्मेलन का आरम्भ होना
२२ अप्रैल, १६३० : नौसैनिक संधि पर लन्दन में हस्ताक्षर
३० जून, १६३० : मित्रराष्ट्रीय सेनाओं द्वारा राइनलैण्ड खाली करना
३० अक्टूबर, १६३० : यूनान में टर्की द्वारा अंगोरा प्रोटेकोल पर हस्ताक्षर

१६३१–१६३५

१ जनवरी, १६३१ : लन्दन नौसैनिक संधि का लागू होना
२१ मार्च, १६३१ : जर्मनी और आस्ट्रिया में चुंगी संघ समझौता
१० जून, १६३१ : अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर द्वारा भुगतान विलम्ब काल का प्रस्ताव
२४ अगस्त, १६३१ : ब्रिटेन में मेकडोनेल्ड द्वारा राष्ट्रीय सरकार की स्थापना
१६ सितम्बर, १६३१ : जापान द्वारा मचूरिया में सैनिक कार्यवाही का प्रारम्भ
२१ सितम्बर, १६३१ : ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान का परित्याग
६ जनवरी, १६३२ : जर्मन चांसलर ब्रूनिंग द्वारा जर्मनी की क्षति-पूर्ति की अदायगी न करने की घोषणा
२ फरवरी, १६३२ : निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का प्रारम्भ
१६ जून, १६३२ : लोसाने सम्मेलन का आयोजन
६ जुलाई, १६३२ : लोसाने में क्षतिपूर्ति समझौते पर हस्ताक्षर
२० अगस्त, १६३२ : ग्रेट-ब्रिटेन और अधिराज्यों में व्यापारिक समझौतों पर ओटावा में हस्ताक्षर
३ अक्टूबर, १६३२ : ईराक से ब्रिटिश-संरक्षण शासन की समाप्ति और ईराक का राष्ट्रसंघ में प्रवेश
३० जनवरी, १६३३ : हिटलर का जर्मनी का प्रधानमंत्री बनना
२७ मार्च, १६३३ : जापान द्वारा राष्ट्रसंघ का त्याग

१२ जून, १९३३	: विश्व अर्थ-सम्मेलन का प्रारम्भ
१५ जुलाई, १९३३	: फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी और इटली के मध्य चतुः-शक्ति समझौता होना
१४ अक्टूबर, १९३३	: जर्मनी द्वारा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन और राष्ट्रसंघ के बहिष्कार की घोषणा
२६ जनवरी, १९३४	: जर्मन-पोलिश अनाक्रमण समझौते पर हस्ताक्षर
१८ अप्रेल, १९३४	: अमाओ वक्तव्य—जापानी मुनरो सिद्धान्त का स्पष्टीकरण
२५ जुलाई, १९३४	: आस्ट्रिया को हड़पने का जर्मनी द्वारा विफल प्रयास
१४ अगस्त, १९३४	: जर्मनी में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के पदों का मिला दिया जाना तथा हिटलर का जर्मन-भाग्य विधाता 'राइक्स-फ्यूरर' बन जाना
१८ सितम्बर, १९३४	: सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाना
७ जनवरी, १९३५	: मुसोलिनी और लेवाल द्वारा रोम में फ्रांस-इटली समझौते पर हस्ताक्षर
१ मार्च, १९३५	: राष्ट्रसंघ द्वारा सार का प्रशासन जर्मनी को सौंपना
१६ मार्च, १९३५	: जर्मनी द्वारा वर्साय संधि के सैनिक उपबंधों का परित्याग
२ मई, १९३५	: रूस-अमेरिका पारस्परिक सहायता समझौता
१६ मई, १९३५	: रूस-चेकोस्लोवाकिया अनाक्रमण समझौता
७ जून, १९३५	: फ्रेन्को इटालियन समझौता
१८ जून, १९३५	: एंग्लो-जर्मन नाविक समझौता
२ अक्टूबर, १९३५	: इटालियन सेनाओं द्वारा एबीसीनिया पर आक्रमण
७ अक्टूबर, १९३५	: राष्ट्रसंघ द्वारा इटली को एबीसीनिया पर आक्रान्ता घोषित करना
१८ नवम्बर, १९३५	: इटली के विरुद्ध राष्ट्रसंघ द्वारा आर्थिक प्रतिबन्ध लगाया जाना
७ दिसम्बर, १९३५	: इटली से लेवाल तथा सेमुअलहोर का गुप्त समझौता
९ दिसम्बर, १९३५	: द्वितीय लन्दन नौसैनिक सम्मेलन का आरम्भ होना

१९३६–१९३९

७ मार्च, १९३६	: जर्मन असैनीकृत क्षेत्र पर पुनः अधिकार
९ मार्च, १९३६	: इटली द्वारा सम्पूर्ण एबीसीनिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया जाना
४ जुलाई, १९३६	: इटली पर से आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिया जाना
११ जुलाई, १९३६	: आस्ट्रो-जर्मन समझौता
१७ जुलाई, १९३६	: स्पेनिश गृहयुद्ध का आरम्भ

२४ अक्टूबर, १९३६ : इटालियन विदेशमंत्री सियानो और जर्मन विदेश मंत्री न्यूरथ के मध्य गुप्त समझौता
२५ नवम्बर, १९३६ : जर्मन-जापान संधि (एण्टी-कोमिण्टर्न पेक्ट) होना व रोम बर्लिन धुरी बनना
२ जनवरी, १९३७ : एंग्लो-इटालियन शरीफाना समझौता
८ जुलाई, १९३७ : जापान द्वारा चीन में अघोषित युद्ध का आरम्भ
६ नवम्बर, १९३७ : इटली द्वारा एण्टी-कोमिण्टर्न पेक्ट पर हस्ताक्षर करना और रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का पूर्ण होना
१२ मार्च, १९३८ : जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को अपने राज्य में मिला लिया जाना
२९ सितम्बर, १९३८ : चेकोस्लोवाकिया सम्बन्धी म्यूनिख समझौता
१५ मार्च, १९३९ : बोहेनिया तथा मोरेवियां पर जर्मनी द्वारा अधिकार, चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग पर कब्जा
२२ मार्च, १९३९ : जर्मन सेनाओं द्वारा मेमल पर अधिकार
२८ मार्च, १९३९ : स्पेनिश गृहयुद्ध की समाप्ति और फ्रान्को सरकार की स्थापना
७ अप्रेल, १९३९ : इटली का अल्बानिया पर अधिकार
२३ अगस्त, १९३९ : जर्मन-सोवियत अनाक्रमण समझौता

(ख) द्वितीय महायुद्ध काल के मध्य की तिथियां

१९३९

१ सितम्बर — जर्मनी द्वारा पोलैंड पर आक्रमण–युद्ध प्रारम्भ
३ सितम्बर — इंगलैंड और फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा
२९ सितम्बर — रूस–जर्मन संधि, पोलैंड के विभाजन पर रूस की सहमति
३० नवम्बर — फिनलैण्ड पर रूस का आक्रमण
१४ दिसम्बर — रूस ने फिनलैंड के युद्ध में राष्ट्रसंघ की मध्यस्थता अस्वीकार कर दी। रूस को राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया

१९४०

९ अप्रैल — जर्मनी का नार्वे और डेनमार्क पर आक्रमण
१० मई — हालैंड, बेल्जियम और लक्षेम्बर्ग पर जर्मन–आक्रमण
२७-२८ मई — बेल्जियम का आत्म–समर्पण, डनकर्क से अंग्रेजी सेना का वापस आना
१० मई — जर्मनी का फ्रांस पर आक्रमण
५ जून — जर्मनी का फ्रांस के विरुद्ध सम्पूर्ण शक्ति लगा देना
१० जून — इटली का युद्ध–प्रवेश
१४ जून — पेरिस का पतन
१८ जून — इंगलैंड पर रात्रि में जर्मन वायुसेना का आक्रमण
१ जुलाई — आंग्ल समुद्र बंक के कुछ द्वीपों पर जर्ममी का अधिकार

१५ अगस्त	—	लन्दन पर जर्मनी के हवाई आक्रमणों की बहुलता का श्रीगणेश
७ सितम्बर	—	दिन में लन्दन पर आक्रमण प्रारम्भ हुये
१३ सितम्बर	—	मिश्र पर इटालवी सेना का आक्रमण
२७ सितम्बर	—	जर्मनी, इटली और जापान के मध्य नवीन संधि
२४ अक्टूबर	—	इटली का यूनान पर आक्रमण

१९४१

६ अप्रैल	—	यूनान तथा यूगोस्लाविया पर जर्मन आक्रमण
५ मई	—	हेली-सेलासी का पुनः आदिसअबाबा में प्रवेश
२२ जून	—	जर्मनी का रूस पर आक्रमण
६ अक्टूबर	—	मास्को पर जर्मन आक्रमण
७ दिसम्बर	—	जापान का पर्लहार्बर पर आक्रमण और इंगलैंड तथा संयुक्त राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा
१० दिसम्बर	—	चीन की धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा
११ दिसम्बर	—	इटली और जर्मनी की संयुक्त राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा

१९४२

७ फरवरी	—	सिंगापुर में जापानी सेना का उतरना
१५ फरवरी	—	नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा आजाद हिन्द की घोषणा
२७ फरवरी	—	ब्रह्मा से आंग्ल सेना का पलायन
१ मार्च	—	जावा में जापानी सेना का आगमन
९ मार्च	—	जावा का आत्म-समर्पण
२५ मार्च	—	अण्डमान निकोबार पर जापान का अधिकार
२८ अप्रैल	—	संयुक्त राज्य का टोकियो पर हवाई आक्रमण
२३ अक्टूबर	—	मित्र राष्ट्रों का मिश्री अभियान
१९ नवम्बर	—	रूसी सेनाओं के सामने जर्मन सेना का पीछे हटना।

१९४३

२ फरवरी	—	जर्मन सेना का स्टालिनग्राड में आत्म-समर्पण
२५ जुलाई	—	मुसोलिनी का पदत्याग
३ सितम्बर	—	इटली पर मित्रराष्ट्रों का अतिक्रमण
८ सितम्बर	—	इटली का आत्म-समर्पण

१९४४

५ जून	—	रोम का पतन
६ जून	—	मुक्ति-दिवस, जनरल आइजनहोवर की अध्यक्षता में मित्र सेनायें यूरोप में नारमण्डी में उतरीं
२१ सितम्बर	—	अमरीकी सेनाओं ने जर्मनी में प्रवेश किया
३ अक्टूबर	—	सीजफ्रीड पंक्ति का अमरीकी सेना द्वारा तोड़ा जाना
१५ अक्टूबर	—	हंगरी से युद्ध विराम के लिये अनुरोध

१९४५

३ फरवरी	—	१००० हवाई जहाजों द्वारा बर्लिन पर बमवर्षा
२३ फरवरी	—	तुर्की द्वारा राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा

५ अप्रैल — रूसी जापानी तटस्थता की संधि की रूस द्वारा अवमानना
१२ अप्रैल — राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु
२७ अप्रैल — रूसी-अमरीकी सेनाओं का जर्मन मोर्चो पर मिलना
२ मई — बर्लिन का पतन
४ मई — यूरोप में समस्त जर्मन सेना का आत्म-समर्पण
७ मई — जर्मनी द्वारा विधिवत् आत्म-समर्पण पर हस्ताक्षर
८ मई — यूरोप में युद्ध का अन्त, वी. डे. (विजय दिवस)
६ अगस्त — हिरोशिमा पर अणुबम का गिराया जाना
१४ अगस्त — जापान का आत्म-समर्पण
२४ अक्टूबर — संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना

(ग) द्वितीय महायुद्धकालीन प्रमुख सम्मेलन

१४ अगस्त १९४१ — अटलांटिक चार्टर की घोषणा
१ जनवरी १९४२ — संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा
१४-२४ जनवरी १९४३ — कासॉब्लॉका सम्मेलन
१९-३० अक्टूबर १९४३ — मास्को सम्मेलन
२२-२५ नवम्बर १९४३ — काहिरा सम्मेलन
२८ नवम्बर–१ दिसम्बर १९४३ — तेहरान सम्मेलन
२१ जुलाई १९४४ — ब्रिटेन गुड्स सम्मेलन
२१ अगस्त–७ दिसम्बर १९४४ — डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन
४ फरवरी–११ फरवरी १९४५ — क्रीमियां (याल्टा) सम्मेलन
२५ अप्रैल–२६ जून १९४५ — सान-फ्रासिस्को सम्मेलन
१७ जुलाई–२ अगस्त १९४५ — पोट्स्डम (बर्लिन) सम्मेलन

परिशिष्ट—२

SUGGESTED READINGS

1. Alberj and Alberj : Europe from 1914 to the Present.
2. Abel, T. : Why Hitler came into Power, 1938.
3. Amery, L. S. : My Political Life, 3 Vols., 1955.
4. Attllee C. R. : As it happened, 1954.
5. Akel, Theodore, : Why Hitler Came into Power !
6. Alexander, F. : From Paris to Locarno.
7. Andre Tardien, : The Truth About the Treaty, London, 1921.
8. Angell, J.W. : The Recovery of Germany.
9. Armstrong, G. G. : Another World War;How We Missed Collective Security.
10. Armstrong, H. F. : When There is no Peace ; the Sudeten Crisis, 1939.
11. Antonious, G., : The Arab Awakening.
12. Ashton, E. B., : The Fascist : His State and His mind.
13. Bailey, Thomas A. : America Faces Russia, Russian American Relations From Early Times to our Day.

14. Bailey, T. A., : Woodrow Wilson and the Lost Peace.
15. Birdsall, P., : Versailles Twenty Years After.
16. Backer, R. S. : Woodrow Wilson and the Peace Settlement.
17. Baker, R. S. : World War and the Peace Settlement, London, 1923.
18. Bassett, J. S. ; The League of Nations, London, Longmans, 1928.
19. Baynes, N. : Hitler's Speeches.
20. Badoglio, P. : Italy in the Second World War, 1948
21. Basch, A. : The Danube Basin and the German Economic Sphere, 1944.
22. Bassett, R. : Democracy and the Foreign Policy 1952.
23. Beard, C. A. : American Foreign Policy in the Making, 1932-1940 Yale University Press, 1946.
24. Belloff, M. : The Foreign Policy of Soviet Russia, 1929-1941, 2 Vols., New York, Oxford, 1947.
25. Bemis S. F. : A Diplomatic History of the United States, New York, Henry Holt, 1936.
26. Bemis S. F. : The Latin American Policy of the United States, New York, Harcourt, Brace 1949.
27. Bennett, W. Soviet Policy in the Far East. 1952.
28. Bennett, W. Munich : Prologue to Tragedy, 1948.
29. Bennett, W Forgotten Peace : Brest-Litovsk March 1919, 1938.
30. Bisson, T. A. : American Policy in the Far-East, 1931-1940, 1945.
31. Bisson, T. A. : Japan in China.
32. Bennas, F. L. : European History since 1870.
33. Berdahl, C. A. : The Policy of the U.S With Respect to the League of Nations.
34. Blake and Barck : The United States in its World Relations, 1960.
35. Borsky, G. : The Great Swindle in the World, 1942
36. Brogan, D. W. : France under the Republic : The Development of Modern France, 1870-1939, 1940.
37. Bruce, M. : British Foreign Policy : Isolation or Intervention, 1938.
38. Buell, R. L : The Washington Conference, 1922
39. Black, C.E. and Helmreich, E. C. : Twentieth Century Europe.

40. Brecht, A. : Prelude to Silence : The End of the German Republic.

41. Bullard, R. : Britain and the Middle East.

42. Buss, C. A. : The Far East, New York, Macmillan, 1955.

43. Butler, G. A. : A Handbook of the League of Nations, London, Longmans, 1928.

44. Benns, L. : Europe Since 1914.

45. Bergmann, Karl : The History of Reparation.

46. Carman, H. J. and Syrett, H C. : A History of the American People Vols. 2.

47. Carr, E. H. : The Soviet Impact on the Western World, London, Macmillan, 1947.

48. Cameron, E. R. : Prologue to Appeasement, 1942.

49. Carter, G. M. : The British Commonwealth and International Security, 1947.

50. Charles, K. Webster and Others : U. K. Policy, Foreign, Strategic and Economic, 19'0.

51. Coats, W. P. : The History of Anglo-Soviet Relations, 1950.

52. Coon, C. S. : The Races of Europe, 1939.

53. Chamberlain, N. : In Search of Peace, New York, Putnam, 1939

54. Churchill, W. S. : The Second World War; The Gathering Storm, U. K , Houghton Mifflin, 1948.

55. Churchill, W S : Blood, Sweat and Tears, U.K. Putnam, 1941.

56. Commager, H. S. : The Story of the Second World War, Boston, Little Brown, 1945.

57. Crane, J. O. : The Little Entente, 1931.

58. Cremona and Macartney : Italy's Foreign and Colonial Policy, 1938.

59. Clemencean, G : Grandeur and Misery of Victory.

60. Chambers, Harris and Bayley : This Age of Conflict.

61. Churchill, W. The Aftermath : 1918—1928.

62. Dillon, E J. : The Inside Story of the Peace Conference.

63. Dolivet, L. : The United Nations.

64. Dunitroff, G. : The United Front of the Struggle Against Fascism.

65. Davies, E. : Mission to Moscow, 1944.

66. Davis, C. G. : A Journal of Reparations 1939.

67. Davis, W. K. : The Soviets at Geneva, 1919-1933. 1934.

68. Dawes R. C. : The Dawes Plan in Making.
69. Eagleton, C. : International Government, New York, Ronald, 1947.
70. Einzig, P. : The World Economic Crisis, 1929-32.
71. Eisenhower, D. D. : Crusade in Europe, Doubleday, 1948.
72. Ebenstein, W. : Fascist Italy, 1939.
73. Ennis, T. E. : Eastern Asia.
74. Fleming, D. F. : United S ates and World Organisation, 1920-32, 1938.
75. Fortune, G. : Hitler Divided France, 1943.
76. Fuller, J.F.C. : Armaments and History, 1945.
77. Ferrel, R.H. : American Diplomacy.
78. Finer, Herman: Mussolini's Italy, London 1935.
79. Fischer, L. : The Soviets in World Affairs, 2 Vols. New York, Cape and Smith, 1930.
80. Fool, M R.D. : Britain and the Tide of World Affairs.
81. Franks, O. S. : Britain and the Tide of World Affairs.
82. Frasure, C. M. : British Policy on War-Debts and Rreparations.
83. Furniss, Jr. E. S. and Synder, R. C. : American Foreign Policy.
84. Fisk, H. E. : The Inter-Allied War Debts.
85. Fraure, C. M. : British Policy on War Debt and Reparation.
86. Garratt, G. T. : Mussolini's Roman Empire, 1938.
87. Gathorne Hardy : A Short History of International Affairs 1920-39.
88. Gathorn Hardy, G. M. : The Fourteen Points and the Treaty of Versailles.
89. Gunther, John : Inside Europe (Harish Hamilton Ltd., London, 1955.)
90. Gerig, B. : The Open Door and the Mandate Systems, 1930.
91. Gibberd, K. : The League in Our Times.
92. Grigg, E. : British Foreign Policy.
93. Griswold, A. W. : The Far East in World Politics.
94. Griswold, A. W. : The Far Eastern Policy of the United States, New York, Harcourt, Brace, 1938.
95. Guerard, Albert, France : A Short History.
96. Gunther, John : Inside U.S.A. New York Harper, 1947.

97. House E. M. and Seymour : What Really Happened At Paris.
98. Huddeston : Peace Making At Paris.
99. Howard Ellis, C. : The Origin, Structure and Working of the League of Nations.
100. Hill, Norman : International Organisation.
101. Hudson, J. : A History of the League of Nations.
102. Hardy, G. : A Short History of International Affairs.
103. Harris, H. W. : Naval Disarmament.
104. Holborn, H. : History of Modern Germany.
105. Hamilton, T. J. : Appeasement's Child.
106. Haines and Hoffman : Origin and Background of the Second World War.
107. Hall and Devis : The Course of European History since Waterloo.
108. Hartmann, Federick H. (Ed.) : Basic Documents of International Relations (McGraw Hill Book Co., New York, 1951).
109. Hass, Ernst B. and Whiting, A.S : Dynamics of International Relations (McGraw Hill Co., New York, 1956)
110. Jessop, T. F. : The Treaty of Versailles : Was it Just ?
111. Jones, R. and Shermann, S.I. : The League of Nations : From Idea to Reality, London, Sir Issaac Pitman and Sons, Ltd., 1929.
112. Jordan, H. M. : Great Britain, France and the German Problem 1918-39.
113. Keynes, J. M. : The Economic Consequences of the Peace Treaty.
114. Killough, Ball : International Relations, 1956.
115. Kirk, G. E. : A Short History of the Middle East, 1951.
116. Langsam : World Since 1914.
117. Lansing : The Big Four and Others of the Peace Conference.
118. Lee Benns : Europe since 1914.
119. Lloyd George : Truth About the Peace Treaties (I-II)
120. League of Nations : The Aims and Organs of the League of Nations Geneva, League Secretariat, 1931.

121. League of Nations, Ten Years of World Co-operation, Geneva, League Secretariat, 1930.
122. Lischer, L. : The Soviet in World Affairs.
123. Martson, J. M. : The Peace Conference of 1919.
124. Macanlay, N. Mandates, 1937.
125. Miller, D.H. : The Peace Pact of Paris 1928.
126. Madariaga, S. : De Disarmament.
127. Medlicott, W. N. : British Foreign Policy Since Versailles.
128. Mower, E.C. : International Government.
129. Nicholson, H. : Peace Making of 1919.
130. Nehru, Jawahar Lal : Discovery of India, 1945.
131. Nicholson, H. : Diplomacy, 1950.
132. Nehru, Jawahar Lal : Glimpses of World History (Lindsay Drummond London, 1919).
133. Palmer and Perkins : International Relations, 1954.
134. Pollock, Sir Frederick : League of Nations.
135. Potter, P.B. : An Introduction of the Study of International Organization, New York, Appleton-Century-Crafts, 1951.
136. Pratt, J.W. : A History of United States Foreign Policy.
137. Rappard, W. E. : The Quest for Peace Since the World War, Cambridge, Mass,Harvard University Press, 1950.
138. Reynolds, P. A. : British Foreign Policy in the Inter-War Years, 1954.
139. Riddell, Lord : The Treaty or Versailles and After, 1935.
140. Rivlin, Benjamin : Self-determination and Dependent Areas, 1955.
141. Robbins, L. : The Great Depression, 1934.
142. Schuman, F.L. : International Politics (3rd, 4th, 5th, & 6th Eds.)
143. Shotwell, J. T. : At the Peace Conference.
144. Sontag, R. James : European Deplomatic History, 1933.
145. Stemberg, S. H. : A Short History of Germany.
146. Stone, J. : International Guarantees and Minority Rights, 1932.
147. Taylor, A.J.P. : Origin of the Second World War.
148. Temperlay, H.W.V. : A History of the Peace Conference of Paris (6 Vols.)
149. Thomson, D. : French Foreign Policy, 1944.

150. Toynbee, A. J. : The World after the Peace Conference, 1924.
151. Tansill, C.C. : Back-Door to War : The Roosevelt Foreign Policy, 1933-1941, Chicago, Regnery, 1952.
152. Vaucher, Paul : Post-War France, 1934.
153. Walters, F. P. : A History of the League of Nations, 2 Vols., 1952.
154. Ward, B.: Russian Foreign Policy, 1942.
155. Wright, Q. : Mandate Under the League of Nations.
156. Webster, C.K. : The League of Nations in Theory and Practice.
157. Wolfers, A. : Britain and France Between Two Wars, 1940.
158. Wilson, Harris : The Peace in the Making, London, 1919.
159. Wright, Q. : The Study of International Relations, New York, Appleton-Century-Crafts, 1955.
160. Zimmernn, A.E. : The League of Nations and the Rule of Law.
161. Zilliacus, K. I. : Choose Peace, 1949.
do : Between Two Wars, 1939.
162. Banerjee J. K. : The Middle East in World Politics.
163. Hoskins, Halford L. : The Middle East.
164. Lenezowski, George : Tne Middle East in World Affairs.
165. Longrigg, Stephen Hemsley : Oil in the Middle East.
166. Guy Wint and Peter Calvocrass. : The Middle East in Crisis
167. Bowles, Chester : The New Dimensions of Peace.
168. Crankshaw, Edward : The New Cold War — Moscow vs. Peking.
169. Edward, Michael : Asia in the European Age.
170. Pannikar, K. H. : Asia and Western Dominance.
171. Poplai, S.L. : Asia and Africa in the Modern World
172. Vinaoke, Harold M. : A History of the Far-East in Modern Times.
173. Cole, G.D.H. : The Intelligent Man's Guide through World Chaos.
174. Hacker, Louis U. : Major Documents in American Economic History—2 Vols.
175. Thomson, David : Europe Since Napoleon.
176. Bullock, Allan : Hitler, A Study of Tyranny.
177. Shirer, William L. : The Rise and Fall of the Third Reich.

178. Lipson, E. : Europe (1914-1939).

179. Sharp, Walter R. and Kirk : Contemporary International Politics.

180. Hartmann, Fredrick, L : The Relations of Nations.

181. Strachey, John : The Coming Struggle for Power.

182. Davis, Joseph E. : Mission to Moscow,

183. Pope, Arthur Upham : Maxim Litvinoff.

184. Ludvig, Emil : Stolin,

185. Carr, E. H. : Nationalism and After.

186. Jackson, J. Hampden : The Post-War World.

187. Shotwell, J. T. : What Germany Forgot.

188. Seton—Watson, R. W : Britain and the Dictators.

178. Lipson, E. : Europe (1914-1939).
179. Sharp, Walter R. and Kirk : Contemporary International Politics.
180. Hartmann, Fredrick, L : The Relations of Nations.
181. Strachey, John : The Coming Struggle for Power.
182. Davis, Joseph E. : Mission to Moscow,
183. Pope, Arthur Upham : Maxim Litvinoff.
184. Ludvig, Emil : Stolin,
185. Carr, E. H. : Nationalism and After.
186. Jackson, J. Hampden : The Post-War World.
187. Shotwell, J. T. : What Germany Forgot.
188. Seton—Watson, R. W : Britain and the Dictators.